हरिः ॐ तत्सत्

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।

ॐ वन्दे विश्वेश्वरं विभुम् ।

(ऋग्वेदशतकम्)

ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् ॥

हरिद्वारकनखलवास्तव्य–श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य–

श्रोत्रिय–ब्रह्मनिष्ठ–सकलनिगमागमशास्त्रनिष्णात–

स्वामि–महेश्वरानन्दगिरिमण्डलेश्वरप्रणीता-

ध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्त्याख्यया प्राकृत-

भाषानुवादसहितया व्याख्यया

संवलितम् ।

तदिदं गुर्जरप्रान्तीय-स्तम्भतीर्थ(खंभात)नगरवास्तव्यश्रीमच्छ्रेष्ठि-

प्रवर 'श्रीप्राणलालभाई वखारिआ' इति शुभाभिधेयस्य

द्रव्यसाहाय्येन स्वपितुः स्वर्गीयश्रीमच्छ्रेष्ठिप्रवर-

'मगनलालभाई' इति शुभाभिधेयस्य

पुण्यस्मृतये

मुम्बय्यां निर्णयसागराख्यमुद्रणालये

मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

विक्रम संवत् २००१ खिस्ताब्दः १९४५

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम् ।

वेदे वेदाङ्गराशौ स्मृतिवरनिचये दर्शने चेतिहासे।
व्यासोक्ते सत्पुराणे सुकृतिकृतिचये सर्वराद्धान्तसिन्धौ ॥
स्नाता धीर्यस्य सारग्रहणपरवशा शुद्धसत्त्वाभिरामा।
सोऽयं राराजते श्रीयतिवरतिलको मण्डलेशो महेशः ॥ १ ॥

काशीहरिद्वारनिवासी-ब्रह्मनिष्ट-श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-दार्शनिक
सार्वभौम-विद्यावारिधि-न्यायमार्तण्ड-वेदान्तवागीश

श्री १०८ स्वामी महेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर

ठि.-स्वा० सुरतगिरिजी महाराजका बंगला कनखल (हरिद्वार) जि० सहारनपुर यू. पी.

हरिः ॐतत्सत्

धन्यवाद एवं शुभाशीर्वाद ।

भारतवर्ष वैदिक धर्म का प्रधान केन्द्रस्थान है । इसलिए भारतवासी आर्यों के हृदय, वैदिक धर्मग्रन्थों के प्रति परम-श्रद्धा एवं सम्मान से भरे हुए हैं । उनका दृढ विश्वास है कि–वेद जगदीश्वर-भगवान् की लोककल्याणकारिणी-अमरवाणी है । वह सत्य उपदेशों का खजाना है । अत एव भारतवासी ही क्या ? संसार के सभी मनुष्य वेद के समक्ष नतमस्तक हो जाते हैं । इस समय में भी वेदों का प्रभाव सर्वत्र फैला हुआ है । इसलिए प्रायः सभी मनुष्य थोडा-बहुत वेद जानने के लिए लालायित रहते हैं । जिस समय 'अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तिसहित-ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक' ग्रन्थ उमरेठ-प्रेस में छप रहा था, उस समय **खंभात (स्तम्भतीर्थ) निवासी श्रीमान् सेठ प्राणलाल भाई वखारियाजी ने** कहा कि–स्वामी जी ! यह ग्रन्थ-जो संस्कृतज्ञ हैं, उनके लिए तो अच्छा है, परन्तु संस्कृत नहीं जानने वाले–सौ में निन्यानवे हैं–उनके लिए आप इसका हिन्दी-अनुवाद करें तो बड़ा अच्छा हो । इसके छपवाने का भी प्रबन्ध मैं बम्बई–निर्णयसागर में कर देता हूँ । श्रीमान् सेठ प्राणलाल भाई की इस शुभ प्रेरणा से वह कार्य प्रारम्भ कर दिया, एवं कुछ समय के बाद वह निर्विघ्न समाप्त हो गया । **श्रीमान् सेठ प्राणलालभाई ने इस ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक–अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्ति नाम की संस्कृत व्याख्या एवं हिन्दी-अनुवाद सहित-ग्रन्थ का प्रकाशन–अपने पूज्य पिता श्रीमान् सेठ मगनलालभाई वखारियाजी की पुनीत-स्मृति के लिए एवं उनके स्वर्गीय आत्मा की शाश्वत–संतुष्टि के लिये किया है** । इस विकराल-युद्ध के भीषण समय में-जहाँ एक की दशगुणी मोंघवारी नग्न नृत्य कर रही है–उदर पूर्ति के लिए अन्न-लाभका भी जहाँ संशय हो रहा है–करीब आठ नव हजार रुपैयों का त्याग कर के उस उदार आत्मा धर्मवीर ने अपनी पितृ-भक्ति का भगवान् श्रीराम की भाँति बड़ा अच्छा–प्रशंसनीय परिचय दिया है । एक-योग्य सत्पुत्र का अपने पिता की संतृप्ति के लिए जो कर्तव्य था-वह इस वेद विद्या का प्रचाररूप-अत्युत्तम सत्कार्य करके दिखाया है । आप के अन्य चार अनुज-लघु भाई हैं । श्रीमान् सेठ निधिलाल भाई, श्रीमान् सेठ चन्दुलालभाई, श्रीमान् सेठ जयन्तीलालभाई, एवं श्रीमान् सेठ रमणलालभाई ये उनके शुभ नाम हैं, वे भी बड़े उदार-धार्मिक एवं सज्जन हैं । **'रामं दशरथं विद्धि'** की तरह अपने ज्येष्ठ भ्राता का पिता के समान बड़ा आदर-सम्मान करते हुए उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं । इन पाँचो भ्राताओं का पांच पाण्डवों की भाँति, परस्पर बडा स्नेह एवं सद्भाव है । **'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षीत्'** (अथर्ववेद) भाई भाई से द्वेष न करे, किन्तु निःस्वार्थ प्रेम करे, वेद के इस श्रद्धेय-उपदेश को अपने शुभाचरणों से चरितार्थ करके दिखा दिया है । **'जहाँ सुमति तहाँ सम्पत्ति नाना'** यह प्रसिद्ध है । इन पाँचो भाईयों की सुमति ने ही इतने बडे धर्म कार्य के लिए प्रेरित किया ।

'पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥'
'पितरो यस्य तृप्यन्ति सेवया च गुणेन च ।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते ॥'

पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है, और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है, पिता के प्रसन्न होने पर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं, जिसकी सेवा से एवं सद्गुणों से पिता माता सन्तुष्ट रहते हैं, उस पुत्र को प्रतिदिन गंगास्नान का फल मिलता है।

'नास्ति मातृसमं दैवं नास्ति पितृसमो गुरुः ।
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यात् कर्मणा मनसा गिरा ॥'
तयोः प्रत्युपकारोऽपि न कथंचन विद्यते ।
'पिता माता च सुप्रीतौ स्यातां पुत्रगुणैर्यदि ।
स पुत्रः सकलं धर्मं प्राप्नुयात् तेन कर्मणा ॥'

माता के समान देवता और पिता के समान गुरु दूसरा नहीं है, उनके किए हुए उपकारों का बदला किसी भी तरह नहीं हो सकता। अतः मन वाणी और क्रिया द्वारा सदा उन दोनों का प्रिय करना चाहिए। पिता माता यदि पुत्र के गुणों से भली भाँति प्रसन्न हों तो वह पुत्र उनकी सेवारूप कर्म से ही सम्पूर्ण धर्मों का फल प्राप्त कर लेता है।

सभी प्रकार के दानों में विद्यादान-सर्वोत्तम दान है। **'अन्नेन क्षणिका तृप्तिः यावज्जीवं तु विद्यया।'** अन्न से क्षण भरके लिए तृप्ति होती है, परन्तु विद्या से जीवन पर्यन्त की महान् तृप्ति प्राप्त होती है। हमारे शास्त्रों में विद्यादान की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की गई है, इसमें भी वेद-विद्या का दान सर्वश्रेष्ठ है। इस स्तुत्य कार्य के लिए उन सज्जन-धर्मप्रिय-उदार-पांचो भाइयों को जितना धन्यवाद दिया जाय, उतना थोडा ही है। लोकलीलासूत्रधार-विश्वान्तर्यामी भगवान् श्री विश्वनाथजी से मैं प्रार्थना करता हूं कि—वे उनके पिताके स्वर्गीय-आत्मा को शाश्वत-शान्ति-सुख प्रदान करें, और उन पांचों भाइयों को ऐहलौकिक एवं पारलौकिक सुख-सन्मति-सम्पत्ति-ऐश्वर्य-वैभवरूप सर्वप्रकार का अभ्युदय प्रदान करें, एवं पारमार्थिक निःश्रेयस कल्याण समर्पण करें। शुभं भूयात् सर्वेषाम्।

वेदस्याध्यात्मविद्यायाः, स्तुत्यायाः संप्रचारणे।
श्रद्धयाऽर्पितवित्तास्ते, जयन्तु श्रेष्ठिनोऽनिशम् ॥ १ ॥
एतस्य शुभकार्यस्य, कर्तृषु श्रेष्ठिबन्धुषु।
महद्भिरर्पिताः सन्तु, धन्यवादाः पराः शतात् ॥ २ ॥
प्राणलालप्रधानानां, पञ्चानां भ्रातॄणामिह।
सर्वथाऽभ्युदयो भूयात्, परत्र च शुभा गतिः ॥ ३ ॥

हरिः ॐ तत्सत्।

महेश्वरानन्द मण्डलेश्वर.

સ્વ. પૂજ્ય શ્રીમાન્ સેઠ મગનલાલ નથ્થુભાઈ વખારીઆ.

જન્મ તીથી સંવત ૧૯૦૮ ભાદ્રપદ શુદ ૧૫

સ્વર્ગવાસ તીથી સંવત ૨૦૦૦ ના ફાગણ વદ ૭

પ્રાણલાલ મગનલાલ વખારીઆ.

ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकमन्त्राणामनुक्रमणिका ।

सेतु–साम–गानम् ।

हाउ ३ सेतूंस्तर दुस्तरान् ३ दानेनादानं हाउ ३ ।
अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्या ३ ।
हाउ ३ सेतूंस्तर दुस्तरान् ३ अक्रोधेन क्रोधं हाउ ३ ।
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभा इ हाउ ३ ।
सेतूंस्तर दुस्तरान् हाउ ३ श्रद्धया अश्रद्धां हाउ ३ ।
यो मा ददाति स ३ देवमावाः हाउ ३ ।
सेतूंस्तर दुस्तरान् हाउ ३ सत्येनानृतं हाउ ३ ।
अहमन्नमहमन्नमदन्तमाद्मि ३ हाउ ३ ।
वा एषा गतिः एतदमृतं स्वर्गच्छ ज्योतिर्गच्छ,
*सेतूंस्तीर्त्वा चतुरः । (सामवेदगानसंहिता)

'हाउ ३' यह गान के लिए है, इसके द्वारा-कल्याणकामी मनुष्य का जोर से सम्बोधन किया जाता है, अरे ! हे भाई ! तू, ये चार दुस्तर-सेतु-जो लोभ, क्रोध, नास्तिकता तथा झूठ-रूप हैं, एवं दुस्तर यानी उल्लङ्घन करने के लिए बड़े कठिन हैं एवं जो आत्मकल्याण-मोक्ष में प्रतिबन्धकरूप हैं—उन अनर्थकारी सेतुओं का उल्लङ्घन-अतिक्रमण कर । दान-उदारता-त्यागरूप साधन के द्वारा अदान-यानी दानधर्म-का विरोधी-लोभ-तृष्णा-कृपणतारूप सेतु का अतिक्रमण कर । और तू दान-धर्म की प्राप्ति के लिए—एवं अदान की निवृत्ति के लिए—'मैं ऋत-सत्य ब्रह्म का प्रथमजन्मा-परम-ऐश्वर्य से सम्पन्न-साक्षात् हिरण्यगर्भ ही हूँ' ऐसी भावना कर । ऐसे महान्-हिरण्य-गर्भरूप-तुझ को अदान-कृपणता-लोभ, शोभा नहीं देता, अतः तू इस तुच्छ-लोभ का परित्याग कर । अरे ! तू पुनः इन चार दुस्तर-प्रतिबन्धक सेतुओं का अतिक्रमण कर । अक्रोध यानी क्रोध का विरोधी-क्षमा-एवं प्रेम से क्रोध का अतिक्रमण कर । और तू अक्रोधरूप-क्षमा-एवं प्रेम की

---

* टिप्पणी—सेतून्=तद्धरप्रतिरोधहेतून् । अदानं=लोभमित्यर्थः । ऋतस्य=सत्यस्य ब्रह्मणः, प्रथमजः=हिरण्यगर्भः । तद्रूपस्य परमैश्वर्यसम्पन्नस्य मम लोभेन किम् ? । अक्रोधेन=क्षमालक्षणेन प्रेम्णा । देवेभ्यः=मनश्चक्षुरादिभ्यः सकाशात् पूर्वं, अमृतस्य=ब्रह्मणो नाभिः=मध्यस्थः । मनःपर्यन्तमेव क्रोधः, ततोऽग्रे निर्विकारं शुद्धं ब्रह्मैवास्मीति विभावयामि, अनेन क्रोधनिरासः । यः=पुरुषः, मा=मह्यं, ददाति=सर्वं निवेदयति, स एवं, देवं मां, आवाः=प्राप्तवान्, इत्यास्तिक्यलक्षणया श्रद्धया, अश्रद्धां=नास्तिक्यलक्षणं तृतीयसेतुं तर=अतिक्राम । सत्येन=सत्यब्रह्मभावनया, अनृतं=प्रातिभासिकं मिथ्याभूतं नामरूपसंसारम् । तत्रोपायमाह—अहं अदन्तं=भक्षयन्तं-अन्याद्युपाधिभूतं सर्वं, अद्मि=जुहोमि-'योऽवशिष्यते सोऽस्म्यहमिति' भावयेदित्यर्थः । एषा=उक्तप्रकारा, गतिः=उद्धारप्रकारः ।

प्राप्ति के लिए एवं क्रोध की निवृत्ति के लिए—'मैं विषयद्योतक-मनःचक्षुरादि-इन्द्रियों से भी प्रथम विद्यमान हूँ, उनसे पृथक् हूँ, एवं मैं आनन्दनिधि निर्विकार-निर्भय-अमृत की नाभि-केन्द्र हूँ, अर्थात् मैं अखण्ड-एकरस-विशुद्ध-अमृत ब्रह्म ही हूँ।' इस प्रकार की भावना कर। ऐसे निर्विकार-ब्रह्मरूप-तेरे समीप क्रोध कैसे आ सकता है? नहीं आ सकता। मनःपर्यन्त क्रोध पहुँच जा सकता है, परन्तु उससे पर जो शुद्ध-असंग-आत्मा है, वही तू है, वहाँ क्रोध की गति नहीं है। इसलिए तू सर्वात्म-भावना के बल से क्षमा एवं प्रेम को धारण कर, क्रोध का परित्याग कर। अरे! पुनः तू इन चार दुस्तर-प्रतिबन्धक-सेतुओं का अतिक्रमण कर। ये चार सेतु बड़े अनर्थकारी हैं, इसलिए अवश्य ही इनका तुझे उल्लङ्घन करना ही चाहिए। श्रद्धा से तू अश्रद्धा-नास्तिकता का अतिक्रमण कर। 'मैं वही सत्यसनातन-पूर्ण पुरुष हूँ, जो कोई साधक, मुझ को अपने सर्वस्व का दान करता है—आत्मनिवेदन कर देता है, वही मुझ सर्वात्म-देव को प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार अपने-आत्मा के विपुल-महत्त्व के अस्तित्व की भावनारूप-श्रद्धा से तू अश्रद्धा का विध्वंस कर। अपने आप के अस्तित्व में तो अवश्य ही तुझे श्रद्धा रखनी चाहिये एवं उसके अस्तित्व के महत्त्व के साक्षात्कार के लिए भी प्रबल-प्रयत्न करना चाहिए। श्रद्धा एवं प्रयत्न से निखिल-प्रतिबन्धों की निवृत्ति एवं समस्त-इष्ट की सिद्धियों का लाभ प्राप्त हो जाता है। अरे! पुनः मैं कहता हूँ—बार बार चिल्ला करके कहता हूँ कि—तू इन चार दुस्तर प्रतिबन्धक सेतुओं का इन साधनों से अतिक्रमण कर। सत्य से अनृत का अतिक्रमण कर। सत्य तो एकमात्र परब्रह्म ही है, उससे अन्य नामरूपात्मक-दृश्य-जड़-परिच्छिन्न संसार अनृत-मिथ्या है। सत्य-ब्रह्म की भावना से अनृत-संसार का विध्वंस कर। एवं सत्य दर्शन से, सत्य भाषण से, सत्य-श्रवण से, एवं सत्य-आचरण से अनृत-दर्शन का, अनृत-भाषण का, अनृत-श्रवण का, अनृत-आचरण का भी अतिक्रमण कर। 'अहो! मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, अर्थात् समस्त भोग्य-प्रपञ्च भी मैं हूँ, एवं उसका अदन-भक्षण-कर्ता अग्नि आदि भोक्ता भी मैं ही हूँ, अत्ता-भोक्ता अन्न-भोग्य का अपनेमें होम कर देता है, इसलिए मैं विशुद्ध ब्रह्म, उस भोक्ता को अपने में होम कर देता हूँ, भोग्य-एवं भोक्ता का होम हो जाने पर जो विशुद्ध-पूर्ण-एकरस-अखण्ड ब्रह्म परिशिष्ट रहता है, वही मैं हूँ।' इस प्रकार सर्वाधाराधिरूप-निर्विशेष-केवलाद्वैत-सत्य ब्रह्म के सतत-अनुसंधान से अनृतरूप-चतुर्थ प्रतिबन्धक का तू अतिक्रमण कर। बस यही गति यानी उद्धार का-आत्मकल्याण का प्रकार है। यही अमृत है अर्थात् अमृतस्वरूप मोक्षप्राप्ति का यही साधन है। इन साधनों के द्वारा इन चार अनर्थकारी सेतुओं का उल्लङ्घन करके तू स्वः यानी अनन्त-आनन्द को प्राप्त हो जा, एवं स्वयं-प्रकाश भर्ग ज्योति को प्राप्त हो जा। हरिः ॐ तत्सत्, शिवोऽहं शिवः सर्वम्।

हरिः ॐ तत्सत्

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम्

प्रास्ताविकं वक्तव्यम्—

'ॐ इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।'

(ऋ. १०।१४।१५। अथर्व. १८।२।२)

अद्वैतपीठस्थितदेशिकं तं ह्यात्मविद्याविशदान्तरङ्गम्।
नित्यं भजामः शिवसत्स्वरूपं जयेन्द्रयोगीन्द्रगुरुं हृदन्तः॥

इहेदानीमिदं 'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकं' 'अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तिसमलङ्कृतं' पाठकानामध्यात्मतत्त्वबुभुत्सूनां मन्त्रार्थतद्रहस्ययथावदवगमसौकर्याय दृष्टिप्रसूतप्रकाशपथमानीयते। कियत्कालात्पूर्वं केनचिद्यतिनाऽऽर्यसामाजिकेन हिन्दीभाषाटीकया सहितं ऋग्वेदशतकादिकं प्रकाशितं समवलोक्यानेके महात्मानः परिव्राजका असदन्तेवसन्तोऽप्यसन्तोषवशादब्रुवन्। यद्येवं चतुर्णां वेदानां चतुर्णां शतकानां श्रौतस्मार्ताद्वैतशाङ्करसिद्धान्तानुसारिणी सद्रहस्योपदेशसमन्विताऽध्यात्मतत्त्वबोधिनी काचन विवृत्तिः प्राञ्जलया मञ्जुलया संस्कृतभाषया प्रकाशिता भवेत्, यत्र किलाद्वैतवाद-अनिर्वचनीयवाद-जीवब्रह्माभेदवाद-साकारवाद-अवतारवादादयो भक्तियोगादयश्च मन्त्राक्षरैः सम्यङ्निरूपिताः स्युः, तदा ह्यध्येतॄणामल्पायासेन वेदतत्त्वजिज्ञासूनां

हमारे पूर्वज-पुरातन-पथिकृत्-ज्ञानयोगादि-कल्याणमार्ग के बनाने वाले-ऋषियों को यह नमस्कार है।

परमरमणीय-आत्मविद्या से जिसका अन्तःकरण विशद-पावन-सुशोभित है-उस-अद्वैतपीठ में स्थित अद्वैतपीठाधीश्वर-आचार्य-शिव का सत्यस्वरूपभूत-जयेन्द्र योगीन्द्र गुरु-देव का हृदय के मध्य में हम सदा भजन करते हैं।

अत्र यहाँ यह 'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक' जो-'अध्यात्मज्योत्स्ना' नाम की विवृत्ति-टीका से सम्यक्-अलंकृत-है-उसको-अध्यात्मतत्त्व को जानने की इच्छा रखने वाले-पाठकों की-मन्त्रार्थ एवं उसके रहस्य के यथार्थ-बोध के सौकर्य-सुलभत्व के लिए-दृष्टिजन्य प्रकाश के मार्ग में रख दिया जाता है। कुछ समय से प्रथम किसी-आर्यसमाजी-संन्यासी के द्वारा प्रकाशित-हिन्दी भाषाटीका सहित-ऋग्वेदशतक आदि को देख करके अनेक-हमारे अन्तेवासी परिव्राजक महात्मा-असंतोष के वश से कहने लगे कि-यदि इस प्रकार ऋगादि-चार वेदों के चार मन्त्र-शतकों की-श्रौत-स्मार्त-अद्वैत-शाङ्करसिद्धान्त का अनुसरण करने वाली समीचीन रहस्ययुक्त-उपदेश से समन्वित,'अध्यात्मतत्त्व का बोध करने वाली-कोई-विवृत्ति-टीका, स्पष्ट-मधुर-संस्कृत-भाषा के द्वारा प्रकाशित हो-जिसमें अद्वैतवाद-अनिर्वचनीयवाद-जीव ब्रह्म का अभेदवाद, साकारवाद, अवतारवाद आदि-एवं भक्ति-योग आदि-मन्त्रों के अक्षरों के द्वारा सम्यक्-निरूपित हों-तब वेद पढने वाले-थोडे परिश्रम से

सज्जनानां कृते महानुपकारः सम्पद्येत, भवद्भिः कार्यमेतत्पुण्यं कृतं भवेत्तदा तदतिशोभनं स्यादिति तद्विधानाय साग्रहं मामन्वरुन्धन् । तदा मयाऽभिहितं यदि तदनुकूला भगवत्प्रेरणा भविष्यति, तर्ह्यभीप्सितं वः सर्वं सेत्स्यतीति ।

ततः कियत्समयानन्तरं द्वारकायात्राव्याजेन काठियावाडदेशभ्रमणमकार्षम् । तत्र प्राप्तायां सुदामपुर्यां परमेशानशोभनप्रेरणया तावत् शुक्लयजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकस्य विवृत्तिं लेखितुं प्रवृत्तः । तामितस्ततो भ्रमणसमय एव यथाकथञ्चित् समापितवान् । पश्चात् हरिद्वारस्य नेदिष्ठे पावने कनखलतीर्थेऽस्मदीयवंगलाऽऽख्येऽतिरम्ये विविक्ते गङ्गातटविभूषिते मठेऽवस्थाय यथाबुद्धिबलोदयं ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकस्यास्य विवृत्तिं प्राणैषम् । शतकावस्थिततत्तन्मन्त्राणामुद्धरणं सन्निवेशक्रमश्च स्वबुद्ध्या परिकलितो न कस्यचिदनुकरणमावहति । ऋग्वेदस्य वरेण्यत्वात् प्राथम्येन सर्वत्राम्नातत्वाच्च 'अभ्यर्हितं पूर्वमि'ति न्यायेनेदमेव तावत् सुयोग्यपाठकानामानन्दाय मुद्राप्य वयमुपहरामः । यद्यप्यस्य शतकान्तराण्यपि भवितुमर्हन्ति, तथापि तानि सति जिज्ञासावैशिष्ट्येऽवसरान्तरे प्रकाशयिष्यामः । एवमवसरप्राप्तः शुक्लयजुर्वे-

---

वेद के तत्त्व-रहस्य को जानने की इच्छा रखने वाले—सज्जनों के लिए-महान्-उपकार सम्पन्न हो जाय। आपके द्वारा यह पवित्र कार्य किया जाय तब तो यह अति शोभन-अच्छा हो जाय, ऐसा उस के बनाने के लिए आग्रह के साथ वे महात्मा मुझको अनुरोध करने लगे। उस समय हमने कहा कि—यदि उसके अनुकूल भगवान्-श्रीविश्वनाथ की प्रेरणा होगी तब तो तुम्हारा अभीप्सित-सब सिद्ध हो जायगा।

इसके बाद कुछ समय के अनन्तर द्वारका की यात्रा के बहाने से काठियावाड देश का मैं भ्रमण करने लगा। उस भ्रमण में प्राप्त हुई सुदामापुरी-पोरबन्दर में परमेश्वर-श्रीविश्वनाथजी की शोभन-पावन-प्रेरणा के द्वारा मैं शुक्लयजुर्वेदसहितोपनिषच्छतक की विवृत्ति लिखने के लिए प्रवृत्त हुआ। उस विवृत्ति को इधर-उधर के राजकोट-मोरबी-कच्छ-आदि के भ्रमण समय में ही मैं ने जिस किसी भी प्रकार से लिख कर समाप्त किया। पश्चात् हरिद्वार के अत्यन्त-समीप-कनखल तीर्थ में विद्यमान-'स्वा-सुरतगिरि का बगला' नाम के अपने—अतिरमणीय-एकान्त-शान्त-गंगातट से विभूषित-मठ में अवस्थित हो कर बुद्धिबल का उदय के अनुसार मैंने इस 'ऋग्वेदसहितोपनिषच्छतक' की विवृत्ति का प्रणयन किया। इस शतक में अवस्थित उन-उन-मन्त्रों का उद्धरण एवं उनके सन्निवेश का क्रम, अपनी बुद्धि से ही किया गया है, किसी अन्य का अनुकरण नहीं किया गया है। ऋग्वेद वरेण्य-अतिश्रेष्ठ है, एवं प्रथमरूप से उस का सर्वत्र कथन होता है, इसलिए 'जो अत्यन्त-अभीष्ट एवं प्रशस्त होता है, उसका प्रथम ही स्थान होना चाहिए' इस न्याय से सुयोग्य पाठकों के आनन्द के लिए—मुद्रण कराके इसको ही-हम प्रथम उपहार-भेट करते हैं। यद्यपि इस ऋग्वेद के अन्य भी शतक हो सकते हैं, तथापि उन अन्य शतकों का पाठकों की जिज्ञासा का वैशिष्ट्य होने पर अन्य समय में हम प्रकाशन करेंगे। इस प्रकार समय

दादिसंहितोपनिषच्छतकस्यापि साध्यात्मज्योत्स्नाप्रकाशः परमेश्वरकृपया भवितेति सप्रश्रयं विज्ञापयामः ।

ननु-'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्' इत्यस्य ग्रन्थनामधेयस्य कोऽर्थः इति चेदुच्यते-ऋच्यते-स्तूयते देवः प्रत्यगभिन्नः परमात्माऽनया सा ऋक्-नियताक्षर-पादावसानलक्षणो गायत्र्यादिछन्दोविशिष्टो वा मन्त्रविशेषः, स एव, विद्यते-ज्ञायते लभ्यते वाऽनेन धर्मादिपुरुषार्थः इति वेदः, यद्वा इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः, तेषां ऋग्वेदानां संहिता=समुदायः, ऋग्वेदसंहिता, तत्र वर्तमाना उपनिषत्=रहस्यविज्ञानं-ब्रह्मविद्या तस्याः प्रतिपादकं मन्त्राणां शतकम् ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकमित्युच्यते । उपनिषच्छब्दोऽयं ब्रह्मविद्यां बोधयति । यतस्तदवयवार्थस्य तत्रैव पर्यवसानात् । उप इत्यस्योपसर्गस्य सामीप्यमर्थः, तच्च मुख्यं सामीप्यं प्रत्यगात्मन्येव सम्भवति, सामीप्यतारतम्यस्य तत्रैवासति संकोचके विश्रान्तिदर्शनात् । 'नि' इत्युपसर्गस्य निश्चयोऽर्थः । पद्लृधातुः विशरणगत्यवसादनार्थेषु पाणिनिना स्मर्यते । तथा च सदेर्धातोरुपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्योपनिषदिति रूपं निष्पद्यते । तत्सहेतुसंसारनिवर्तकब्रह्मात्मैक्यज्ञानलक्षणां विद्यां फल-

---

प्राप्त होने पर 'शुक्लयजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतक' 'अथर्ववेदसंहितोपनिषच्छतक' आदि शतकों का—अध्यात्मज्योत्स्ना व्याख्या के साथ प्रकाश—परमेश्वर की कृपा से होगा। ऐसा हम प्रेमपूर्वक विज्ञापन करते हैं।

शंका—'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम्' ऐसा इस ग्रन्थ के नाम का क्या अर्थ है?

समाधान—जिसके द्वारा ऋच्यते यानी प्रत्यगात्मा से अभिन्न-परमात्मा देव स्तूयमान होता है, वह ऋक् है। या नियत हैं अक्षर, पाद एवं अवसान जिसका ऐसे लक्षण वाला-गायत्री आदि छन्दों से विशिष्ट जो मन्त्र विशेष है, वह ऋक् है, वही—जाना जाता है, या प्राप्त किया जाता है, धर्मादि पुरुषार्थ जिस से वह—वेद है। यद्वा इष्ट—प्राप्ति का एवं अनिष्ट—परिहार का जो अलौकिक उपाय है, उस का जो वेदन-ज्ञापन करता है, वह वेद है। उन ऋक्-वेदों की संहिता यानी समुदाय, ऋग्वेदसंहिता है, उसमें वर्तमान-उपनिषत्-यानी रहस्यविज्ञान-ब्रह्मविद्या है। उस का प्रतिपादक मन्त्रों का शतक—'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक' है, ऐसा कहा जाता है। यह उपनिषत्-शब्द ब्रह्मविद्या का बोधन करता है। क्योंकि—उसके उप-नि-षत्—अवयवों के अर्थ का उस-ब्रह्मविद्या में ही पर्यवसान हो जाता है। 'उप' इस उपसर्ग का सामीप्य अर्थ है। वह मुख्य सामीप्य प्रत्यगात्मा में ही हो सकता है। सामीप्य के तारतम्य का संकोच करने वाले हेतु का अभाव होने पर उस प्रत्यगात्मा में ही विश्रान्ति देखी जाती है। 'नि' इस उपसर्ग का निश्चय अर्थ है। 'पद्लृ' धातु का विशरण-गति एवं अवसादन अर्थ में पाणिनि-महर्षि ने स्मरण किया है। तथा च उप-नि-पूर्वक-क्विप्-प्रत्ययान्त-सद् धातु का 'उपनिषत्' ऐसा रूप व्याकरण से निष्पन्न होता है। वह कारण-अविद्यासहित संसार का निवर्तक-ब्रह्म-[illegible]त्मा के एकत्व का ज्ञानरूप-फलवती-

वतीमभिदधाति । प्रत्यगात्मनि ब्रह्मणोऽत्यन्ताभेदलक्षणं सामीप्यं शास्त्रनिश्चितं प्रकाश्य सहेतुं संसारं मिथ्याज्ञानलक्षणं सादयतीत्युच्यते । यदाहुः श्रीमन्तो वार्तिककाराः सुरेश्वराचार्य्याः—'उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं स्वतः । निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद्भवेत् ॥ निहत्यानर्थमूलां स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम् । गमयत्यस्तसंभेदमतो वोपनिषद्भवेत् ॥ प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः । यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषन्मता ॥' इति यथोक्तविद्याजनकत्वादुपचारात् ग्रन्थोऽपि 'लांगलं जीवनमिव' उपनिषन्नाम्ना ख्यातो भवति । तत्रास्य ग्रन्थस्य को विषयः ? किं प्रयोजनं–फलं ? कः सम्बन्धः ? कोऽधिकारी ? इत्यनुबन्धचतुष्टयाकांक्षानिवृत्तये विषयादिकमुदीर्यते ।

तत्रानन्यलभ्यो हि विषयो भवति । स च प्रत्यगात्मब्रह्मैक्यलक्षणं पूर्णाद्वैततत्त्वमेव । तच्च वेदोपनिषद्व्यतिरिक्तेन केनचित्प्रमाणेन न लभ्यते । अत एवं तदाम्नातं भवति–'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' (तै. ब्रा. ३।१२।९।७) 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ. ३।९।२६) इति । अवेदवित्=वेदोपनिषज्ज्ञानरहितः

का प्रतिपादन करता है। प्रत्यक्-आत्मा में ब्रह्म का अत्यन्त-अभेदरूप-सामीप्य जो शास्त्र-प्रमाण से निश्चित है—उसका प्रकाशन करके कारण सहित-मिथ्याज्ञानरूप-ससार का जो सादन-विध्वंस करती है, वह उपनिषत् है, ऐसा विद्वानों से कहा जाता है। श्रीमान् वार्तिककार-सुरेश्वराचार्य्य भी यही कहते हैं–'इस आत्मा का अद्वैत-ब्रह्मरूप से उपनयन-विज्ञापन करके जो अविद्या और अविद्या-विलसित-द्वैत प्रपञ्च का सादन-विध्वंस करती है, इसलिए वह ब्रह्मविद्या 'उपनि-षत् होती है। अथवा समस्त-जन्म मरणादि-अनर्थों का मूल-कारण, अपने आत्मा की अविद्या का विध्वंस करके प्रत्यगात्मारूप से भेदरहित-अद्वैत-पूर्ण पर-ब्रह्म का—जो अपरोक्ष-बोध कराती है, इसलिए वह ब्रह्मविद्या उपनिषत् होती है। जो विद्या संसार-प्रवृत्ति के समग्र-रागद्वेषादि-रूप-हेतु-कारणों का, मूल-अविद्या के उच्छेद के द्वारा अवसादन-विध्वंस करती है, इसलिए वह उपनिषत् मानी गई है।' इति। यथोक्त-विद्या का उत्पादक होने से उपचार-गौणीवृत्ति से 'लागल-हल, जीवन है' इसकी भाँति, ग्रन्थ भी उपनिषत् के नाम से ख्यात होता है। ऐसा होने पर इस ग्रन्थ का कौन विषय है ? क्या प्रयोजन-फल है ?, कौन सम्बन्ध है ? कौन अधिकारी है ? इस प्रकार के अनुबन्ध चतुष्टय की आकाक्षा की निवृत्ति के लिए विषय आदि का कथन करते हैं।

उसमें अनन्यलभ्य ही विषय होता है अर्थात् जो अन्य—प्रत्यक्षादि प्रमाणों से लभ्य-प्राप्य नहीं है, वह विषय है। वह प्रत्यगात्मा का ब्रह्म के साथ ऐक्यरूप-पूर्ण-अद्वैत तत्त्व ही है। वह विषय, वेदोपनिषत् से व्यतिरिक्त-किसी भी प्रमाण से लभ्य नहीं होता है, किन्तु वेदोपनिषत् से ही एकमात्र लभ्य होता है। इसलिए श्रुतियों से यही कहा जाता है–'जो वेदवित् नहीं है, वह उस बृहत्-महान्-पूर्ण ब्रह्म को नहीं जान सकता है।' 'एकमात्र जो उपनिषत् से ही ज्ञेय है, उस औपनि-षद-पुरुष को मैं पूछता हूँ।' इति। अवेदवित् यानी वेदोपनिषत् के ज्ञान से रहित पुरुष, उस

पुमान् तं बृहन्तं=अद्वैतं न मनुते=मन्तुं–साक्षात्कर्तुं च न शक्नोतीत्यर्थः। वेदोपनिषत्स्वेवाधिगतोऽयं पुरुषः औपनिषदः, उपनिषदेकवेद्य इत्युच्यते। न तावदुपनिषत्प्रतिपाद्योऽयमद्वैतात्मा बाह्यप्रत्यक्षस्य प्रमाणस्य विषयः–'न तत्र चक्षुर्गच्छति' (के. १।३) इति श्रुतेः। तत्र श्रुत्यन्तरमुपपत्तिं दर्शयति–'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।' (श्वे. ४।२०) इति। अयमर्थः–अस्य=प्रत्यगद्वैतात्मनः, संदृशे=सम्यग्द्रष्टुं, तत्र रूपं=नीलपीतादिकं ह्रस्वदीर्घत्वाद्याकारं वा, न तिष्ठति=न विद्यते। अतः कश्चन=कोऽपि प्राणी, एनं=परमात्मानं चक्षुषा न पश्यति। चक्षुषो रूपैकविषयत्वात्, रूपरहिते तस्मिन् तत्कथं प्रवर्तितुं शक्नुयात्? न कथमपि। यथा रूपराहित्यादात्मा चक्षुर्विषयो नास्ति, तथा शब्दादिराहित्याच्छ्रोत्रादिविषयोऽपि नास्तीति कठश्रुत्याऽऽम्नायते–'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।' (का. १।३।१५) इति। एवं मानसप्रत्यक्षस्याप्ययमात्मा न विषयः। 'न मनो गच्छति' (के. १।३) 'अप्राप्य मनसा सह' (तै. २।४।१) इत्यादिश्रुतेः।

बृहत्-अद्वैत-पूर्ण ब्रह्म का साक्षात्कार करने के लिए समर्थ नहीं होता है। वेद की उपनिषदों में ही यह जाना गया पुरुष-परमात्मा औपनिषद है, अर्थात् वह एकमात्र उपनिषत् से ही वेद्य-ज्ञेय है, ऐसा कहा जाता है। उपनिषत्-प्रतिपाद्य यह अद्वैत-पूर्ण-ब्रह्माभिन्न-आत्मा, बाहर के चक्षुरादि प्रत्यक्ष-प्रमाण का भी विषय नहीं है। 'उस अद्वैतात्मा में चक्षु का गमन नहीं होता है।' इस कठ-श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। उसमें अन्य श्रुति उपपत्ति-युक्ति का प्रदर्शन करती है–'इस आत्मा को सम्यक्-देखने के लिए उसमें नीलपीतादि-रूप नहीं रहता है, इसलिए कोई भी इस आत्मा को चक्षु से नहीं देखता है।' इति। यह अर्थ है–इस प्रत्यक्-अद्वैत-आत्मा का संदृशे यानी सम्यक् दर्शन करने के लिए, उसमें रूप यानी नील-पीत आदि, या रूप यानी ह्रस्वत्व-दीर्घत्व आदि आकार नहीं रहता है। इसलिए कोई भी प्राणी इस परमात्मा को चक्षु से नहीं देखता है। क्योंकि–चक्षु एकमात्र रूप को ही विषय करती है, इसलिए वह चक्षु, रूप रहित-उस अन्तरात्मा में प्रवृत्त होने के लिए कैसे शक्तिमान हो? अर्थात् किसी भी प्रकार से शक्तिमान् नहीं हो सकती। जिस प्रकार रूप से रहित होने के कारण, आत्मा चक्षु का विषय नहीं है, तिस प्रकार शब्द आदि विषयों से रहित होने के कारण, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का भी यह आत्मा विषय नहीं है, ऐसा कठश्रुति के द्वारा कहा जाता है–'यह आत्मा शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित एवं अव्यय-निर्विकार है, तथा जो यह रसरहित, गन्धरहित एवं नित्य-अविनाशी है।' इति। इस प्रकार यह आत्मा मानस प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं है। 'उसमें मन का गमन नहीं होता है।' 'मन के साथ अन्य-इन्द्रियाँ उस आत्मा को प्राप्त न करके खाली ही लौट जाती हैं।' इत्यादि-कठ एवं तैत्तिरीय-श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।

न च 'अहं मनुष्यो ब्राह्मणोऽस्मि द्रष्टा वक्ता चास्मि' इत्यादिप्रत्ययेन मानसप्रत्यक्षविषयत्वमात्मनोऽवगम्यते इति वाच्यम्; तत्प्रत्ययस्य देहगोचरतया मिथ्यात्मविषयत्वेन मुख्यात्मतत्त्वविषयत्वाभावात्। त्रिविधो ह्यात्मा, गौणः, मिथ्या, मुख्यश्चेति। यथा सिंहः त्रिविधः, तद्वत्-तद्यथा-सिंहदेवदत्तयोर्भेदं पश्यन्नेव सिंहगतक्रौर्यशौर्यादिसदृशगुणानां देवदत्ते सद्भावमवलोक्य सिंहोऽयमिति व्यवहरति, सोऽयं गौणः-गुणसद्भावकृतः सिंहः। अरण्ये मन्दान्धकारे धावन्तं हरिणं दृष्ट्वा भ्रान्त्या सिंहोऽयमिति निश्चित्य बिभेति, सोऽयं मिथ्यासिंहः। दिवसे स्फीतालोकमध्यवर्तिनं मृगेन्द्रं विलोक्य सिंहोऽयमिति प्रतिपद्यते, सोऽयं मुख्यः सिंहः। एवं पुत्रमित्रादिगौणात्मा, स्वस्माद्भेदं पश्यन्नेव धनरक्षणादिरूपं तत्सुखदुःखसदृशसुखदुःखादिवत्त्वरूपं स्वकीयं गुणं तस्मिन्नवलोक्य ममात्माऽयं पुत्रो मित्रो यज्ञदत्त इति यः-प्रयुङ्क्ते सोऽयं गौणात्मा। मिथ्यात्मा च देहेन्द्रियाद्यनात्मवर्गः, अविद्यया तत्राहमिति प्ररूढो व्यवहारः सार्वजनीनः, मुख्यात्मा तु नित्यशुद्धबुद्धमुक्ताद्वैतानन्दघनस्वभावः, स एव शास्त्रैकगम्यः। तस्मादात्मदेहयोर्विद्यमानस्यैव भेद-

---

शंका–'मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ, द्रष्टा हूँ, वक्ता हूँ' इत्यादि-प्रत्यय-प्रतीति से आत्मा में मानसप्रत्यक्ष की विषयता जानी जाती है।

समाधान–ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि–वह प्रतीति देह को विषय करती है, इसलिए उसको मिथ्या-आत्म-विषयिणी होने के कारण, उसमें मुख्य-आत्म तत्त्व की विषयता का अभाव है, अर्थात् वह मुख्यात्मा को विषय नहीं करती है। तीन प्रकार का आत्मा है, गौण, मिथ्या एवं मुख्य। जैसे सिंह तीन प्रकार का है–गौण, मिथ्या एवं मुख्य, तद्वत् आत्मा भी। उसको दिखाते हैं–सिंह एवं देवदत्त के भेद-पार्थक्य को देखता हुआ ही कोई मनुष्य, सिंह में वर्तमान-क्रूरत्व-शूरत्व आदि गुणों के सदृश गुणों का देवदत्त में सद्भाव देख कर के 'यह देवदत्त सिंह है' ऐसा व्यवहार करता है, वह यह गौण यानी गुणों के सद्भाव से किया गया-सिंह है। जंगल में मन्द-अन्धकार के समय, हरिण-मृग को देख कर के भ्रान्ति से 'यह सिंह है' ऐसा निश्चय करके जो कोई मनुष्य भयभीत होता है, वही यह भय का कारण मिथ्या-सिंह है। दिवस में स्पष्ट-सूर्य प्रकाश के मध्य में वर्तमान-मृगेन्द्र-वन्यराज-सिंह का विलोकन करके 'यह सिंह है' ऐसा जो कोई जानता है, वही यह मुख्य-यथार्थ सिंह है। इस प्रकार पुत्र, मित्र, कलत्र आदि गौणात्मा हैं। अपने से उनका भेद जानता हुआ ही वह, धनरक्षणादिरूप, एवं उसके सुख दुःख के सदृश सुखदुःखादिमान्त्वरूप-अपने गुण को उसमें देख कर के 'मेरा आत्मा यह मेरा पुत्र है, यह यज्ञदत्त मित्र है' ऐसा जो प्रयोग-कथनरूप व्यवहार करता है, वही यह गौणात्मा है। मिथ्यात्मा देह-इन्द्रियादि-अनात्मसमुदाय है। उसमें अविद्या से 'अहं'–'मैं हूँ' ऐसा प्ररूढ-अभिनिवेशयुक्त व्यवहार सर्व जन में प्रसिद्ध है। मुख्यात्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अद्वैत-आनन्दघन स्वभाव-स्वरूप है, वही एकमात्र-शास्त्रद्वारा ही गम्य है–जाना जाता है। इसलिए-आत्मा एवं देह में

स्याविद्यया प्रतीत्यभावादहंमनुष्यादिप्रत्ययो मिथ्यात्मदेहादिविषय इति सिद्धम्। देहादेरनात्मत्वं मिथ्यात्मत्वं मुख्यात्मपृथक्त्वञ्च 'अपाङ् प्राणेति' मन्त्रव्याख्याने-ऽस्माभिः प्रपञ्चितम्, तत्रैवावगन्तव्यम्। तस्मान्न प्रत्यक्षेण प्रमाणेन ब्रह्मात्माद्वैत-लाभः। नाप्यनुमानेन तल्लाभः संभवति, हेतुदृष्टान्तयोरभावात्। 'निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्।' इत्युपनिषच्छ्रुतेः। निर्धर्मकत्वान्न तत्र हेतुः संभवति, अद्वितीयत्वाच न दृष्टान्तः।

ननु-'श्रोतव्यो मन्तव्यः' (बृ. २।४।५) इत्यादिश्रुत्या युक्त्यनुसन्धान-रूपमननोपलक्षितानुमानस्याभ्युपेतत्वात् कथं तत्प्रतिषिध्यते? इति। नैष दोषः। ब्रह्मात्मनि वेदोपनिषद्वाक्यान्येव प्रमाणम्। अनुमानन्तु पुरुषापराधनिरासद्वारा तद्बुद्धिस्वास्थ्याय प्रवर्तते। अत एव तदारोपितौ हेतुदृष्टान्तावुपजीव्य सामान्यतः तं साधयदपि सत्यज्ञानानन्ताद्वितीयत्वादिलक्षणं विशेषं न साधयितुं शक्नोति। एवं तत्सदृशादेरन्यस्याभावात्, नाप्युपमानादेः प्रमाणान्तरस्यापि विषयः।

ननु-ब्रह्मसिद्धिकाराः शिष्टाः-'सर्वप्रत्ययवेद्ये च ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' इत्यनेन

विद्यमान ही-भेद-पृथक्त्व की अविद्या से प्रतीति न होने से 'मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ' इत्यादि प्रतीति मिथ्या-आत्मा देहादि-विषयणी है, ऐसा सिद्ध हुआ। देहादि में अनात्मत्व है, मिथ्यात्मत्व है, एवं मुख्यात्मा से पृथक्त्व है, ऐसा 'अपाङ्प्राणेति' ११ के मन्त्र के व्याख्यान में विस्तार से हमने प्रतिपादन किया है, वहाँ ही से जानना चाहिए। इसलिए प्रत्यक्ष-प्रमाण से ब्रह्म-आत्मा के अद्वैत का लाभ-अनुभव नहीं होता है। अनुमान-प्रमाण से भी उसके लाभ का सम्भव नहीं है। क्योंकि-हेतु एवं दृष्टान्त का अभाव है। 'वह आत्मा निर्विकल्प, अनन्त, एवं हेतु-लिङ्ग एवं दृष्टान्त-उदाहरण से रहित है।' ऐसी-उपनिषत् की श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। आत्मा धर्मरहित-निर्धर्मक है, इसलिए उसमें हेतु का सम्भव नहीं है, अद्वितीय होने से दृष्टान्त का सम्भव नहीं है।

शंका-'उस-आत्मा का श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए।' इत्यादि श्रुति के द्वारा युक्तियों के अनुसंधानरूप-मनन से उपलक्षित-अनुमान का स्वीकार होने से उसका क्यों प्रतिषेध करते हो? कि-आत्मा अनुमान प्रमाण का भी विषय नहीं है।

समाधान-यह दोष नहीं है। क्योंकि-ब्रह्म-आत्मा में वेदोपनिषत् के वाक्य ही प्रमाण हैं। अनुमान-तो पुरुष के संशय विपर्ययादि-अपराधों के निरास द्वारा उसकी बुद्धि के स्वास्थ्य-जो संशय-विपर्यय रहित-शान्ति-पवित्रतारूप है-उसके लिए प्रवर्तमान होता है। इसलिए यह-उसमें आरोपित-हेतु-एवं दृष्टान्त का उपजीवन करके सामान्यरूप से उस आत्मा को सिद्ध करता हुआ भी-सत्य-ज्ञान-अनन्त-अद्वितीयत्वादिरूप विशेष को सिद्ध करने के लिए समर्थ नहीं होता है। इस प्रकार उसके सदृश आदि-अन्य का अभाव होने से उपमान आदि अन्य प्रमाण का भी वह आत्मा विषय नहीं है।

शंका-ब्रह्मसिद्धिकार शिष्ट-आचार्य-'वह ब्रह्मरूप सर्व-प्रत्यक्षादि-प्रत्ययों से वेद्य है, ऐसा

वचनेन ब्रह्मात्मनः सर्वप्रमाणजन्यप्रत्ययवेद्यत्वमभिदधति, सर्वैः प्रमाणैः प्रमीयमाणेषु सर्वेषु वस्तुषु—अस्तिभातिप्रियरूपं सच्चित्सुखं ब्रह्म, सत्तया स्फूर्त्या आनन्देन च विस्पष्टं प्रमीयते, अतस्ते युक्तियुक्तमेवैतद्वर्णयन्ति। तथा सति प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयत्वं प्रतिषिध्याऽनन्यविषयत्वं कथं प्रतिपाद्यते? इति चेद्बाढम्; परन्तु तत्सप्रपञ्चं विशिष्टमेव ब्रह्म सर्वप्रमाणजैः प्रत्ययैरावेद्यते। न तु निष्प्रपञ्चं निर्विशेषं विशुद्धं पूर्णं ब्रह्म। अन्यथा गुरुशास्त्रनैरपेक्ष्येणैव विवेकादिमन्तरेण सर्वेषां मुक्तिलाभप्रसङ्गात्। मुक्तिलाभस्तु निष्प्रपञ्चविशुद्धब्रह्मसाक्षात्कारादेव सिद्ध्यति, न सप्रपञ्चब्रह्मानुभवात्। स च परमपुरुषार्थरूपनिष्प्रपञ्चब्रह्मसाक्षात्कारः शास्त्रेणैव मानेनाभिव्यज्यते। तदेतत्तैरेवाचार्यप्रवरैरप्युक्तम्—'प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते। प्रविलीनप्रपञ्चेन तद्रूपेण न गोचरः। मानान्तरस्येति मतमाम्नायैकनिबन्धनम्॥' इति।

अत एव भगवान् बादरायणः शारीरके सूत्रयामास—'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र॰ सू॰ १।१।३) इति। शास्त्रयोनित्वात्—शास्त्रैकप्रमाणत्वादित्यर्थः। तस्माद् ब्रह्मात्माद्वैततत्त्वस्य रूपलिङ्गाद्यभावेन मानान्तरविषयत्वाभावात्। वेदोपनिषदेकवेद्यत्व-

---

व्यवस्थित है।' इस वचन से ब्रह्मात्मा में सर्व प्रत्यक्षादि प्रमाण जन्य-प्रत्ययों से वेद्यत्व का प्रतिपादन करते हैं। और समस्त प्रमाणों से विज्ञात होने वाली-समस्त-वस्तुओं में-अस्ति-भाति-प्रियरूप सत्-चित्-सुख ब्रह्म, सत्ता स्फूर्ति एवं आनन्द के द्वारा विस्पष्ट ही जाना जाता है। इसलिए वे ब्रह्मसिद्धिकार-आचार्य्य, ब्रह्म के सर्व प्रमाणवेद्यत्व का युक्तियुक्त ही वर्णन करते हैं। ऐसा होने पर आप प्रत्यक्षादिप्रमाणों की विषयता का प्रतिषेध करके अनन्यविषयत्व का कैसे प्रतिपादन करते हैं?।

समाधान—बाढं—अर्ध-शंका ठीक है। परन्तु वह सप्रपञ्च-विशिष्ट ही ब्रह्म, समस्त प्रमाणों से जायमान-प्रत्ययों से आवेदित-विज्ञात होता है। निष्प्रपञ्च, निर्विशेष-विशुद्ध-ब्रह्म, सर्व प्रमाण जन्य प्रत्ययों से वेद्य-ज्ञेय नहीं है। अन्यथा-ऐसा न माना जाय तो, गुरु-शास्त्र की अपेक्षा बिना ही विवेकादि-साधन के बिना समस्त-जीवों को मुक्ति का लाभ प्राप्त हो जायगा। मुक्ति का लाभ तो निष्प्रपञ्च-विशुद्ध-ब्रह्म के साक्षात्कार से ही सिद्ध होता है, सप्रपञ्च-सोपाधिक विश्वरूप-ब्रह्म के अनुभव से मुक्ति का लाभ सिद्ध नहीं होता है। वह परम पुरुषार्थरूप-निष्प्रपञ्च ब्रह्म का साक्षात्कार शास्त्ररूप प्रमाण से ही अभिव्यक्त होता है। वही यह-उन्हीं आचार्य-प्रवरों ने भी कहा है—'द्वैतप्रपञ्च का प्रविलय शब्द प्रमाण से ही प्रतिपादित होता है, प्रविलीन हो गया है द्वैत-प्रपञ्च जिसमें ऐसे-अद्वैतरूप से वह विशुद्ध ब्रह्म, प्रत्यक्षादि-अन्य प्रमाणों का विषय-गोचर नहीं है, ऐसा एकमात्र-वेद प्रयुक्त-बोधित सिद्धान्त है।' इति।

इसलिए भगवान् बादरायण-व्यास ने शारीरक-ब्रह्म-मीमांसा में सूत्र के द्वारा कहा है—'शास्त्रयोनित्व से' इति। अर्थात् उस ब्रह्म में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, वह शास्त्रैकवेद्य है। इसलिए ब्रह्म आत्मा का अद्वैतस्वरूप-रूप, लिङ्ग आदि का अभाव होने के कारण—प्रमाणान्तर का विषय नहीं है। इसलिए उस ब्रह्म में वेदों की एकमात्र-उपनिषदों से ही वेद्यत्व—लक्षणवाला-

लक्षणमनन्यवेद्यत्वं सिद्धम् । 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' (ऋ. ८।५८।२) 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' (ऋ. १०।९०।२) 'अहमिन्द्रः' (ऋ. १०।४८।५) 'यदग्ने ! स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्' (ऋ. ८।४४।२३) 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' (यजु. ३१।१८) इत्याद्या ऐकात्म्यवस्तुयाथात्म्यप्रकाशनपटीयसः ऋग्वेदादिसंहितोपनिषच्छ्रुतयोऽपि स्पष्टतममनन्यलभ्यमज्ञातं विध्वस्तनिखिलद्वैतमव्ययं ब्रह्मतत्त्वं विषयमेव प्रबोधयन्ति । तदनेन 'को विषयः ?' इत्यस्य प्रश्नस्य समाधानमभिहितं भवति ।

अथ 'किं प्रयोजनं ?' इत्यस्य समाधानमुच्यते—पूर्वोक्तस्यानन्यलभ्यस्याद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वलक्षणस्याज्ञातस्य विषयस्य साक्षात्कार एव त्रिविधदुःखतत्कारणाज्ञाननिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दाभिव्यक्तिरूपतया साक्षात्प्रयोजनम् । स च साक्षात्कारो बृहदारण्यकश्रुत्या स्पष्टः समाम्नातः—'आत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति' (बृ. ४।४।२३) इति । अयमर्थः—देहादिभ्यो व्यतिरिक्ते कूटस्थचिद्रूपे मुख्यात्मन्येव आत्मानं=परमात्मानं वेदोपनिषन्महावाक्येन पश्यति=अभेदेन साक्षात्करोति । आत्मन्यात्मानमित्याधाराधेयभेद आत्मनश्चैतन्यं, राहोः शिरः, इत्यादिवदेकस्मिन्नेवाभिन्ने वस्तुन्यौपचारिको विज्ञेयः । जीवात्मानमेवोपाधिपरित्यागेन परमात्मतयाऽनुभवतीति यावत् । सर्वं=चराचरं विश्वं आत्मानं पश्यति । परमात्मा हि

अनन्यवेद्यत्व सिद्ध हुआ । 'एक ही ब्रह्म यह सर्व विश्वरूप हो गया है ।' 'पुरुष ही यह सर्व जगत् है' 'मैं इन्द्र हूँ' 'हे अग्ने ! जो मैं हूँ, वह तू है, जो तू है, वह मैं हूँ' 'इस प्रत्यगात्मारूप महान्-पुरुष को मैं साक्षात् जानता हूँ ।' इत्यादि-एक ही ब्रह्म-आत्म वस्तु के यथार्थरूप से प्रकाशन करने में अति निपुण—ऋग्वेदादि-संहितोपनिषद् की श्रुतियाँ भी—अतिस्पष्ट-अनन्यलभ्य-अज्ञात-विध्वस्त हो गया है निखिल-द्वैत-प्रपञ्च जिसमें ऐसे-अद्वैत-अव्यय ब्रह्मतत्त्व-विषय का ही प्रबोधन करती हैं । इस कथन से 'कौन विषय है ?' इस प्रश्न का समाधान भी कथित हो गया ।

अथ-अनन्तर 'कौन प्रयोजन है ?' इसका समाधान कहते हैं—पूर्वोक्त-जो अनन्यलभ्य-अद्वितीय-ब्रह्मात्मतत्त्वरूप-अज्ञात-विषय का साक्षात्कार ही-आध्यात्मिकादि-त्रिविध-दुःख और उसका कारण-अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक—परमानन्द की अभिव्यक्तिरूप होने से-साक्षात् प्रयोजन है । वह साक्षात्कार बृहदारण्यक-श्रुति के द्वारा स्पष्ट ही कहा गया है—'अपने आत्मा में ही परमात्मा को अभेदरूप से देखता है, सर्व-विश्व को भी आत्मा से अभिन्न देखता है ।' इति । यह अर्थ है—देहादि से व्यतिरिक्त-कूटस्थ-चिद्रूप-मुख्य आत्मा में ही आत्मा यानी परमात्मा को वेदों की उपनिषदों के महावाक्य से मुमुक्षु देखता है-अभेदरूप से साक्षात्कार करता है । 'आत्मनि आत्मानम्' इस वाक्य में कथित-आधार एवं आधेय का भेद—'आत्मा का चैतन्य' 'राहु का शिर' इत्यादि की भाँति एक ही अभिन्न वस्तु में औपचारिक—गौणीवृत्ति से किया गया है-ऐसा जानना चाहिए, अर्थात् उपाधि के परित्याग से जीवात्मा का ही परमात्मरूप से अपरोक्ष-अनुभव करता है । सर्व यानी चराचर-विश्व को आत्मरूप देखता है । निश्चय से परमात्मा ही समग्र-विश्व का उपादान कारण है ।

सर्वस्य विश्वस्योपादानकारणम् । उपादानव्यतिरेकेणोपादेयं कार्यं निरीक्ष्यमाणे किञ्चिदपि वस्तुतया न सिध्यति, मृत्सुवर्णादिव्यतिरेकेण घटकुण्डलादिवस्तूनामनुपलभ्यमानत्वात् । अतो विश्वकारणं परमात्मानं स्वात्मतया पश्यन् तत्त्ववित् सर्वं जगदपि स्वात्मत्वेनैव पश्यति । अयमेवाद्वितीयब्रह्मात्मवस्तुतत्त्वसाक्षात्कारः । स च साक्षात्कारः स्वसमकालमेव, अविद्यातत्कार्यनिखिलदुःखं सद्यो विध्वंसते, सूर्यप्रकाश इवान्धकारम् ।

तदेतदाम्नातमपि भवति–'एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ! ।' (मु. २।१।१०) इति । अयमर्थः–गुहा=बुद्धिः, तस्यां निहितं=साक्षित्वेनावस्थितं, एतत्=ब्रह्मात्मतत्त्वं, यः=कश्चनाधिकारी, वेद=स्वात्माभेदेन साक्षात्करोति, इह=देहे वर्तमान एव सन् अविद्याग्रन्थिं विकिरति=विश्लेषयति । हे सोम्य ! इत्यङ्गिरा गुरुः शिष्यं शौनकं संबोध्य ब्रूते । यथा लोके साकल्येन राहुग्रस्तश्चन्द्रमाः स्वकीयोज्ज्वलत्वस्याऽऽच्छादिततया स्वयं मलिनोऽम्बरे भासमानो राहुं चावभासयँस्तेन राहुणा तादात्म्यं प्राप्त इवावभासते । एवमयमद्वयानन्दैकरसश्चिदात्मा स्वयमनाद्यविद्यापटलेनाऽऽवृतः सन्नद्वितीयत्वस्याऽऽनन्दै-

---

उपादान-कारण से व्यतिरिक्त उपादेय कार्य का निरीक्षण करने पर वह वस्तुत्वरूप से पृथक् कुछ भी सिद्ध नहीं होता है । क्योंकि-मृत्तिका-सुवर्ण आदि से व्यतिरिक्त घट, कुण्डल आदि वस्तुओं की उपलब्धि नहीं होती है । इसलिए विश्व–कारण-परमात्मा को अपने आत्मरूप से देखता हुआ तत्त्ववेत्ता सर्व जगत् को भी अपने आत्मरूप से अभिन्न ही देखता है । यही अद्वितीय-ब्रह्म-आत्म-वस्तुस्वरूप का साक्षात्कार है । वह साक्षात्कार–सूर्यप्रकाश जैसे अन्धकार को अपने उदय के समान काल में ही विध्वंस कर देता है, तद्वत् अविद्या तत्कार्य निखिल दुःख का शीघ्र ही विध्वंस कर देता है ।

वही यह मुण्डक श्रुति में भी कहा जाता है–'हे सोम्य ! प्रियदर्शन ! यह ब्रह्म जो बुद्धिरूप गुहा में प्रत्यगात्मरूप से अवस्थित है–इसको जो मुमुक्षु जानता है, वह अविद्याग्रन्थि का इस जीवनकाल में ही भेदन करता है ।' इति । इस श्रुति का यह अर्थ है–गुहा यानी बुद्धि, उसमें निहित यानी साक्षीरूप से अवस्थित, इस ब्रह्मात्मतत्त्व को जो कोई अधिकारी वेद यानी अपने आत्मा के अभेद से साक्षात्कार करता है, वह इस देह में रहता हुआ भी अविद्याग्रन्थि का विकिरण-विश्लेषण-विभेदन कर देता है । 'हे सोम्य ! ऐसा सम्बोधन करके अंगिरा नाम का गुरु, शिष्य शौनक के प्रति बोलता है । जिस प्रकार लोक में समग्ररूप से राहु द्वारा ग्रस्त हुआ चन्द्रमा अपने-उज्ज्वलत्व का आच्छादन होने के कारण, स्वयं आकाश में मलिन-भासमान हुआ राहु को भी भासित करता हुआ-उस राहु के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ-सा-अवभासित होता है । इस प्रकार यह-अद्वैत-आनन्दैकरस चिदात्मा स्वयं अनादि-अविद्यारूप पटल-पड़दा से आवृत हुआ-अद्वितीयत्व का एवं अखण्डानन्दैकरसत्व का आच्छादन होने के कारण–बहु प्रकार के द्वैतरूप

करसत्वस्य चाऽऽच्छादितत्वेन बहुविधद्वैतरूपेण जगता युक्तो दुःखी स्वचैतन्येन स्वात्मानमविद्यां चावभासयन्नविद्यया तादात्म्यं प्राप्त इवाहमज्ञ इत्येकीकृत्य व्यवहरति। सोऽयमेकीकारोऽविद्याग्रन्थिः। स च बोधेन विकीर्णो-विच्छिन्नो भवति। यथा राहुणा विमुक्तं चन्द्रमण्डलमुज्ज्वलं भासते, तथा बोधेनाऽऽच्छादिकायामविद्यायां निवृत्तायामद्वितीयत्वमानन्दैकरसत्वं चाऽऽविर्भवति तदिदमविद्याग्रन्थेर्विकीर्णत्वम्।

अयमेवार्थः पुराणेऽपि स्मर्यते-'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते। योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥' इति। एकस्यैवानिर्वचनीयस्य भावरूपानाद्यज्ञानस्य स्वाश्रयं प्रत्यावरकत्वाकारेणाविद्यात्वम्। विचित्रकार्यजनकत्वाकारेण मायात्वम्। अतोऽविद्याया इव मायाया अपि तत्त्वज्ञानं निवर्तकम्। तस्मात्तत्त्वविदो नाद्वितीयानन्दैकरसस्वभावः कदाचिदप्याव्रियते। नापि जन्मान्तरादिकं नूतनकार्यमुत्पद्यते। एवमविद्याग्रन्थौ विकीर्णे सति ततो हृदयग्रन्थ्यादयोऽपि निवर्तन्ते। तदपि तत्रैवाऽऽम्नातम्-'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥' (मुं. २।२।८) इति। अस्यायमर्थः- परं=उत्कृष्टं-जगत्परिणामकारणमव्याकृतमज्ञानमपि, अवरं=अधमं यस्मात्परमा-

---

वाले-जगत् से युक्त-दुःखी हुआ, अपने चैतन्य-प्रकाश से अपने आत्मा का एवं अविद्या का अवभास करता हुआ-अविद्या के साथ तादात्म्य को प्राप्त हुआ-सा 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसा-अज्ञान के साथ अपने आत्मा को एक-अभिन्न करके-व्यवहार करता है। वही यह एकीकार-तादात्म्याध्यास अविद्याग्रन्थि है। वह बोध से ही विकीर्ण यानी विच्छिन्न होती है। जिस प्रकार राहु से विमुक्त-हुआ-चन्द्रमण्डल-उज्ज्वल हो कर भासित होता है, तिस प्रकार बोध से आच्छादन करने वाली-अविद्या की निवृत्ति होने पर, आत्मा के अद्वितीयत्व का एवं अखण्ड-आनन्दैकरसत्व का आविर्भाव-प्राकट्य होता है, वही यह अविद्याग्रन्थि का विकीर्णत्व-विच्छिन्नत्व है।

यही अर्थ पुराण में भी स्मृत हुआ है-'जिस पूर्ण-परमात्मा का हृदय में प्रकट सन्निवेश होने पर योगी, माया-अविद्या-जो सर्वत्र फैली हुई है-उसका अतिक्रमण-विध्वंस करता है। उस-अप्रमेय-विद्यात्मा को नमस्कार है।' इति। एक ही अनिर्वचनीय-भावरूप-अनादि-अज्ञान का-अपने आश्रय के प्रति आवरकत्व के आकार से अविद्यात्व है। और विचित्र कार्य के उत्पादकत्वाकार से मायात्व है। इसलिए अविद्या की भाँति माया का भी तत्त्वज्ञान ही निवर्तक है। इसलिए तत्त्ववेत्ता का अद्वितीय-आनन्दैकरसस्वभाव कदाचित् भी आवृत-आच्छादित नहीं होता है। जन्मान्तर आदि नवीन कार्य भी उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकार अविद्याग्रन्थि का विच्छेद होने पर, उससे ही हृदय की ग्रन्थि आदि भी निवृत्त हो जाती हैं। वह भी उस-मुण्डक श्रुति में ही कहा है-'उस परावर-परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदय की ग्रन्थि का भेद-विच्छेद होता है, और समग्र संशयों का भी उच्छेद हो जाता है, इस-ब्रह्मवित् के समग्र कर्म भी क्षीण हो जाते हैं।' इति। इस श्रुति का यह अर्थ है-पर यानी उत्कृष्ट-जगत्परिणाम का कारण-अव्याकृत-अज्ञान

त्मनः सोऽयं परावरः परमात्मा, यद्वा परश्चासाववरश्चेति परावरः कारणकार्योभयरूपः सर्वात्मक इत्यर्थः । तस्मिन् परावरे परमात्मनि साक्षात्कृते सति हृदयग्रन्थिर्भिद्यते । हृदयं=अन्तःकरणं–लिङ्गशरीरं–तच्चैतन्यच्छायाव्याप्तत्वेन चेतनमिवाहं कर्ता भोक्तेत्यादिसंसारधर्मेण प्रतिभासमानं, तर्कशास्त्रे पूर्वमीमांसायाञ्च मुख्यात्मत्वेनाङ्गीकृतं, वेदान्तदृष्ट्या स्थूलदेहवन्मिथ्यात्मरूपं, तादृशेन तेन हृदयेन सह चिदानन्दैकरसस्याऽऽत्मनो योऽयमेकीभावभ्रमः सोऽयं हृदयग्रन्थिः ।

अज्ञातस्य शुक्तिरूपस्याऽऽरोपितेन रजतेन सह यथैकीभावस्तद्वद्गुरुशास्त्रोपदेशरहितः सर्वोऽपि जन्तुरज्ञानावृत्तचिदानन्दैकरसमात्मतत्त्वं, सूक्ष्मभूतकार्यं कर्तृत्वादिधर्मोपेतं हृदयं च विवेक्तुमशक्नुवन् एकीकृत्याहं कर्ता भोक्ता सुखी दुःखीत्यादिरूपेण व्यवहरति । सोऽयं हृदयग्रन्थिस्तत्त्वदर्शनेन भिद्यते=विविच्यते । हृदयग्रन्थौ भिन्ने सति सर्वे संशयाः छिद्यन्ते । अयमात्मा स्थूलदेहरूपो वा सूक्ष्मदेहरूपो वा ताभ्यामतिरिक्तो वा, अतिरिक्तत्वेऽपि अणुपरिमाणो वा मध्यमपरिमाणो वा सर्वगतो वा, सर्वगतत्वेऽपि जडो वा चिद्रूपो वा, चिद्रूपत्वेऽपि परमेश्वरादन्यो वाऽनन्यो वा, अनन्यत्वेऽपि किमयं द्वैतप्रपञ्चः सत्यो वा मिथ्या वा,

---

मी, अवर यानी अधम है जिस परमात्मा से–वही यह परावर परमात्मा है। यद्वा जो पर है वही अवर है, ऐसा-कारण-कार्य उभयरूप-सर्वात्मा-पुरुष परावर है । उस परावर-परमात्मा का साक्षात्कार होने पर हृदयग्रन्थि का भेदन हो जाता है। हृदय यानी अन्तःकरण-लिङ्गशरीर, वह चैतन्य आत्मा के प्रतिबिम्ब-आभास से व्याप्त होने के कारण चेतन की भाँति 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ' इत्यादि-संसार के धर्म से प्रतिभासमान है । जिसका न्यायशास्त्र में एवं पूर्वमीमांसाशास्त्र में मुख्य-आत्मारूप से अङ्गीकार किया है। वेदान्तशास्त्र की दृष्टि से जो स्थूल देह की भाँति मिथ्या-आत्मारूप है । उस प्रकार के उस हृदय के साथ, चिदानन्द-एकरस-आत्मा का जो यह एकीभाव-तादात्म्य का भ्रम है, वही यह हृदयग्रन्थि है ।

जिस प्रकार अज्ञात-शुक्ति के रूप का आरोपित-रजत के साथ एकीभाव हो जाता है, तद्वत् गुरु-शास्त्र के उपदेश से रहित-सर्व-भी प्राणी–अज्ञान से आवृत है-चिदानन्द-एकरस-पूर्ण स्वरूप जिसका ऐसे आत्मतत्त्व का तथा सूक्ष्म-भूतों का कार्य-कर्तृत्वादि धर्मों से संयुक्त-हृदय का विवेचन -पृथक्करण करने के लिए अशक्त हुआ–आत्मा एवं हृदय का एकीकरण करके 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी दुःखी हूँ' इत्यादिरूप से व्यवहार करता है । वही यह हृदयग्रन्थि तत्त्व के साक्षात्कार से *विभिन्न होती है, अर्थात् आत्मा से अनात्म-हृदय का विवेचन-पृथक्त्व हो जाता है। हृदयग्रन्थि का* विभेदन होने पर समस्त-संशय उच्छिन्न हो जाते हैं । यह आत्मा स्थूल देहरूप है, या सूक्ष्म-देहरूप है, या उन दो देहों से अतिरिक्त है । अतिरिक्त होने पर भी अणुपरिमाण है, या मध्यम-परिमाण है, या सर्वगत-विभु है। सर्वगत होने पर भी यह आत्मा जड है, या चिद्रूप है। चिद्रूप होने पर भी यह परमेश्वर से अन्य-भिन्न है, या अनन्य-अभिन्न है। अनन्य होने पर भी क्या

मिथ्यात्वेऽपि मोक्षसाधनं कर्माणि वा ज्ञानं वेत्यादिकाः अनन्ताः संशयाः सकलैर्बहिर्मुखैरनुभूयमानाः प्रसिद्धाः सन्ति, त इमे सर्वेऽपि हृदयग्रन्थिपूर्वका एव। असति हृदयग्रन्थौ सुषुप्तिमूर्च्छासमाधिष्वदर्शनात्। एवं संशयेषु छिन्नेषु सत्सु आगामिजन्मकारणानि पूर्वानुष्ठितानि पुण्यपापरूपाणि सर्वाण्यपि कर्माणि क्षीयन्ते, यथा गृहस्थे प्रवृत्तानि गृहक्षेत्रविवादादिलक्षणानि कर्माणि पारिव्राज्ये सति निवर्तन्ते तद्वत्।

एवं—'देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (क. १।२।१२) 'पर्याप्तकामस्य कृतात्मनश्च इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।' (मुं. ३।२।२) 'रसो वै सः' रस[१] ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' (तै. २।७) 'यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति।' (परमहंसोपनिषत्) 'आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।' (गी. ३।१७) इत्याद्याः श्रुतिस्मृतिवादाः—सर्वात्मपरब्रह्मसाक्षात्कारः, अविद्याग्रन्थिविकीर्णत्वं, हृदयग्रन्थिभेदः, संशयच्छेदः, कर्मक्षयः, हर्षशोकपरित्यागः,

---

यह द्वैत-प्रपञ्च-संसार सत्य है, या मिथ्या है, मिथ्या होने पर भी मोक्ष के साधन, कर्म हैं, या ज्ञान है, इत्यादिक-अनन्त-संशय, निखिल-बहिर्मुखों के द्वारा अनुभूयमान हुए प्रसिद्ध हैं। वे ये सब भी संशय, हृदयग्रन्थिपूर्वक ही हैं। क्योंकि-हृदयग्रन्थि के न होने पर सुषुप्ति, मूर्छा-एवं समाधि में उन संशयों का दर्शन नहीं होता है। इस प्रकार संशयों का छेदन होने पर—आगामि-भावि-जन्म के कारणरूप—जो प्रथम-अनुष्ठित-पुण्यपापरूप-सर्व कर्म हैं—उनका क्षय-नाश हो जाता है। जिस प्रकार गृहस्थ दशा में प्रवृत्त-गृह-क्षेत्र-विवाद आदि लक्षणवाले-कर्म, पारिव्राज्य-संन्यास प्राप्त होने पर निवृत्त हो जाते हैं, तद्वत्।

इस प्रकार—'देव-परमात्मा का मनन-अनुभव करके धीर-मुमुक्षु हर्ष एवं शोक का परित्याग करता है।' 'पर्याप्त-सम्पूर्ण हो गये हैं काम-कामनाएँ जिसकी एवं कृत-किया है-ब्रह्मरूप आत्मा जिसने, ऐसे पर्याप्तकाम एवं कृतात्मा-ब्रह्मवेत्ता की यहाँ ही सभी कामनाएँ प्रविलीन-विध्वस्त हो जाती हैं।'वह निश्चय से रस-आनन्द है, यह साधक रस को प्राप्त करके सदा आनन्दी हो जाता है।'जो पूर्ण-आनन्दरूप एक-रस बोध है, वह ब्रह्म ही मैं हूँ, ऐसा निश्चय कर विद्वान् कृतकृत्य हो जाता है।' 'जो एकमात्र अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट हो जाता है, उसके लिए कर्तव्य कार्य नहीं रहता है।' इत्यादि-श्रुति-स्मृतियों के वाद-यानी वचन—सर्वात्मा-परब्रह्म का साक्षात्कार, अविद्याग्रन्थि का उच्छेद, हृदयग्रन्थि का विध्वंस, संशयों का छेदन, कर्मों का क्षय, हर्षशोक का परित्याग, कामों

---

[१] स परमात्मा रसो वै=परमानन्दस्वभाव एव। तमेतं रसं लब्ध्वा=साक्षात्कृत्यायं योगी, स्वमनसि सदाऽऽनन्दीभवति-विद्याजन्येन हर्षेण युक्तो भवति। हर्षशोकौ जहातीत्यत्र विषयभोगजन्यो हर्षो निषिद्धः, न तु विद्याजन्यः।

वह परमात्मा रस यानी परमानन्दस्वभाव ही है। उसीही रस का साक्षात्कार कर के यह योगी अपने मन में सदा आनन्दी होता है। विद्याजन्य हर्ष से युक्त होता है। 'हर्षशोकौ जहाति' इस श्रुतिवचन में विषयभोग जन्य हर्ष का निषेध किया जाता है। विद्याजन्य हर्ष का नहीं।

तथा च सत्यो वाऽसत्यो वा; प्रमाणाख्य उपायः स प्रमां जनयत्येव। तस्माद्वेदस्यार्थावबोधकतया भ्रमादिदोषरहिततया प्रतिपत्तेः प्राक् अबाधिततया चक्षुरादिवत् प्रमाणान्तरेणानधिगते ब्रह्मात्मवस्तुनि वेदस्य प्रामाण्यं भवत्येव।

ननु–भो! अध्यात्मज्योत्स्नाऽभिधानमस्या विवृत्तेः कीदृशमर्थमुपहरति? इति चेच्छृणु तावत् 'यन्निर्विशेषाद्वैतपूर्णचित्सदानन्दरूपमक्षरं परं ब्रह्म तदेवात्मानं देहमधिकृत्य वर्तमानत्त्वादत्राध्यात्ममित्युच्यते। तस्य त्वंपदलक्ष्यस्य निष्कृष्टाहंकारशुद्धजीवचैतन्यस्य ब्रह्माभिन्नतया 'यदग्ने! स्यामहं त्वं' (ऋ. ८।४४।२३) 'अहमिन्द्रः' (ऋ. १०।४८।५) 'तत्त्वमसि' (छां. ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १।४।१०) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. २।५।१९) 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ. ३।७।२३) 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।' (गी. १३।२) 'आत्मानं चिन्तयेदेकममेदेन मया मुनिः।' (भा. ११।१८।२१) इत्यादिश्रुतिस्मृत्याचार्यसदुपदेशप्रभवं यद्वेदनं तदेवात्राध्यात्मज्योत्स्नापदेनाभिधीयते। तदुक्तं भगवता गीतासु–'अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।' (गी. ८।३) इति।

तादृशस्य वेदनस्य वैदिकसत्कर्मोपासनानुष्ठानजन्यभगवदनुग्रहायत्तचित्त-

---

तथा च सत्य हो, या असत्य हो, ऐसा प्रमाण नामक-यह उपाय प्रमाज्ञान का उत्पादन करता ही है। इसलिए वेद में अर्थ की अवबोधकता होने के कारण, एवं भ्रमादि-दोषों से रहित होने के कारण ब्रह्मप्रतिपत्ति से प्रथम अबाधित होने से चक्षुरादि की भाँति प्रमाणान्तर से अनधिगत-अज्ञात ब्रह्मात्मवस्तु में वेद का प्रामाण्य होता ही है।

शंका–भो! इस-'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक' ग्रन्थ की-विवृत्ति का 'अध्यात्मज्योत्स्ना' ऐसा नाम किस प्रकार के अर्थ का समर्पण करता है?

समाधान–सुन, तब। जो निर्विशेष-अद्वैत-पूर्ण-चित्-सत्-आनन्दरूप-अक्षर-परब्रह्म है, वही, आत्मा यानी देह को अधिकृत-आश्रय करके वर्तमान होने से यहाँ 'अध्यात्म' ऐसा कहा जाता है। वही त्वं पद का लक्ष्य, निष्कृष्ट-अलग कर दिया है-अहंकार जिससे, ऐसा जो शुद्ध जीव चैतन्य है, उसका ब्रह्म से अभिन्नरूप से–'हे अग्ने! जो मैं हूँ, वह तू है' 'मैं इन्द्र हूँ' 'वह तू है' 'मैं ब्रह्म हूँ' 'यह आत्मा ब्रह्म है' 'इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' 'हे भारत-अर्जुन! समस्त-शरीररूप-क्षेत्रों में साक्षीरूप से रहा हुआ क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ, ऐसा तू जान।' 'मननशील-मुनि मुझ परमात्मा से अभिन्नरूप से एक ही आत्मा का चिन्तन करे।' इत्यादि श्रुति-स्मृति एवं आचार्य-गुरु के सदुपदेश से–उत्पन्न हुआ जो वेदन-ज्ञान है, वही यहाँ 'अध्यात्मज्योत्स्ना' पद से कहा जाता है। वह भगवान् ने गीता में भी कहा है–'जो अक्षर-अविनाशी-व्यापक परम ब्रह्म है, वही आत्मा का स्व-भाव-अपना असाधारण स्वरूप-अध्यात्म है, ऐसा कहा जाता है।' इति।

उस प्रकार का वेदन, वैदिक-सत्कर्म-उपासना के अनुष्ठान से जन्य भगवान् की कृपा के आधीन चित्त की शुद्धि एवं एकाग्रता से ही प्राप्त होता है, इसलिए वैदिक सत्कर्म एवं

शुद्धैकाग्र्यसमधिगम्यत्वेन तयोरप्यध्यात्मज्योत्स्नाशेषत्वेन वेदबोधितत्वस्यावश्यकत्वात्तत्त्वमवगन्तव्यम्। एवंभूतोऽध्यात्मतत्त्वज्ञानयोग एवात्मकल्याणसाधनम्। तथा च कठा आमनन्ति—'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्त्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।' (२।२।१२) इति। आत्मानमधिकृत्य वर्तते इत्यध्यात्मं तथाविधो योगः—विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतसः आत्मनि संस्थापनमध्यात्मयोगः, तस्याधिगमेन=प्राप्त्या देवं स्वयंप्रकाशं परमात्मानं मत्त्वा=साक्षात्कृत्य धीरो हर्षशोकौ जहाति। अत्र धीरो बुद्धिमान्—निर्विकार इति, तस्यैवाऽध्यात्मतत्त्वश्रवणमननसिद्धिरुच्यते। योगाधिगमशब्देन निदिध्यासनसिद्धिरुच्यते। मत्त्वेति साक्षात्कारः कथ्यते। तदुक्तं भागवतेऽपि—'योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।' (३।२५।१३) इति।

अपि चेह वेदशास्त्रं किल अलौकिकपदार्थबोधनार्थमेव प्रवृत्तम्। यदाह ऋग्भाष्ये सायणाचार्यः—'अनधिगताबाधितार्थबोधकः शब्दो वेदः' इति। कुमारिलभट्टोऽपि—'अज्ञाते फलवत्यर्थे विधीनां मानतेष्यते।' इति। तथा च तादृशोऽर्थोऽध्यात्मज्योत्स्नाधिगम्यमद्वैततत्त्वमेव नान्यत्। अत एव द्विजानां स्वाभ्युदयनिःश्रेयसकामुकानां विशेषतो वेदाध्ययनमेव श्रेयस्करम्। यदाहुः—श्रुतिस्मृति-

---

उपासना भी अध्यात्मज्योत्स्ना का शेष-अंगभूत होने के कारण—वेद से बोधित-प्रतिपादित होने आवश्यक हैं, इसलिए कर्म एवं उपासना में भी अध्यात्मज्योत्स्नात्व समझना चाहिए। इस प्रकार का अध्यात्म-तत्त्व-ज्ञानयोग ही आत्मकल्याण का साधन है। तथा च कठशाखावाले-ऋषि प्रतिपादन करते हैं—'अध्यात्मयोग के अधिगम-प्राप्ति द्वारा देव-परमात्मा का साक्षात्कार करके धीर विद्वान् हर्ष एवं शोक का परित्याग कर देता है।' इति। आत्मा को अधिकृत करके जो प्रवृत्त होता है, वह अध्यात्म है, उस प्रकार का योग यानी विषयों से अपने चित्त को हटा करके आत्मा में सम्यक् स्थापन करना ही अध्यात्मयोग है, उसके अधिगम-यानी प्राप्ति के द्वारा देव यानी स्वप्रकाश-परमात्मा का साक्षात्कार करके, धीर हर्षशोक का परित्याग करता है। यहाँ धीर यानी बुद्धिमान्-विकाररहित। ऐसे उत्तमाधिकारी को ही अध्यात्मतत्त्व के श्रवण एवं मनन की सिद्धि होती है, ऐसा कहा जाता है। योगाधिगम शब्द से निदिध्यासन की सिद्धि कही जाती है। 'मत्त्वा' इस पद से साक्षात्कार कहा जाता है। वह भागवत में भी कहा है—'मुझ-परमात्मा का आध्यात्मिक योग, पुरुषों के कल्याण के लिए ही माना गया है।' इति।

और इस धराधाम में वेदशास्त्र, निश्चय से अलौकिक-पदार्थों के बोधन के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। वही सायणाचार्य्य ऋग्भाष्य में कहता है—'अनधिगत यानी प्रत्यक्षादिप्रमाणों से अज्ञात-एवं अबाधित अर्थ का बोधक शब्द ही वेद है।' इति। कुमारिलभट्ट भी श्लोकवार्तिक में कहता है—'अज्ञात एवं सफल अर्थ में ही वेद के विधिवाक्यों की प्रमाणता मानी जाती है।' इति। तथा च उस प्रकार का अर्थ, अध्यात्मज्योत्स्ना से अधिगम्य-प्राप्त करने योग्य अद्वैत तत्त्व ही है, अन्य नहीं। इसलिए अपने अभ्युदय एवं निःश्रेयस की कामना रखने वाले—द्विजातियों

कामप्रविलयः, आत्मसन्तुष्टिः, आनन्दित्वं, कृतकृत्यत्वमित्येवं प्रयोजनपरम्पराः निरूपयन्ति । एवं संहितोपनिषच्छ्रुतयोऽपीमाः–'अहमिन्द्रः' 'न पराजिग्ये धनं' 'न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन' (ऋ. १०।४४।५) 'स उ श्रेयान् भवति' (ऋ. ३।८।४) 'अधः श्येनो जवसा निरदीयम्' (ऋ. ४।२७।१) 'यत्रानन्दाश्च मोदाश्च' 'कामस्य यत्राप्ताः कामाः' (ऋ. ९।११३।११) 'अपाम सोमं अमृता अभूम' 'किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः' (८।४८।३) 'अधि कामा अयंसत' (ऋ. १०।६४।५) इत्याद्याः ब्राह्मणोपनिषच्छ्रुतिप्रदर्शितं पूर्वोक्तं प्रकृष्टतमं प्रयोजनं स्पष्टतो वर्णयन्ति । एवं किं प्रयोजनमित्यस्योत्तरमुक्तम् ।

अथ 'कः सम्बन्धः' इत्यस्योत्तरमुच्यते । ग्रन्थेन साकं विषयस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः । अधिकारिणा मुमुक्षुणाऽध्येत्रा सह विषयस्य ज्ञेयज्ञातृभावः सम्बन्धः । अधिकारिणा सह प्रयोजनस्य लभ्यलब्धृभावः सम्बन्धः । कर्मज्ञानकाण्डयोश्च साध्यसाधनभावः सम्बन्धः । इत्याद्याः सम्बन्धाः स्वयमूह्या गुरुमुखाद्वा विज्ञेयाः । एवं–स्वान्तःशुद्ध्यादिसम्पन्न उपनिषत्तत्त्वबुभुत्सुरत्राधिकारी

का प्रविलय, आत्मा की सन्तुष्टि, आनन्दीत्व, एवं कृतकृत्यत्व, इस प्रकार की प्रयोजन-परम्परा का निरूपण करते हैं। इस प्रकार संहितोपनिषत् की ये श्रुतियाँ भी–'मैं इन्द्र परमात्मा हूँ' 'मैं अपने ब्रह्मानन्द धन का पराजय नहीं होने दे सकता।' 'मेरे समक्ष अविद्यामृत्यु अवस्थित नहीं रह सकता।' 'वह ब्रह्मवेत्ता अतिश्रेष्ठ-कल्याणरूप हो जाता है।' 'श्येनपक्षी की भाँति देहादि-उपाधि का परित्याग करके आत्मज्ञान के-महान् वेग से मैं अविद्या का छेदन करके संसार से बाहर निकल आया हूँ।' 'जहाँ आनन्द ही आनन्द हैं, मोद ही मोद हैं।' 'कामी-मनुष्य के समस्त काम जहाँ समाप्त हो जाते हैं।' 'हमने सोमतत्त्व का पान-आस्वादन किया इसलिए हम अमृत-अभय ब्रह्म हो गये हैं।' 'अविद्यारूप शत्रु या कामशत्रु हम-तत्त्व-दर्शियों को क्या कर सकता है?' 'उस-आत्मा में सब कामों का विलापन हो गया है।' इत्यादि–ब्राह्मणोपनिषद्-की श्रुतियों से प्रदर्शित-पूर्वोक्त-अति-प्रकृष्ट प्रयोजन का स्पष्टरूप से–वर्णन करती हैं। इस प्रकार 'क्या प्रयोजन है?' इसका समाधान किया।

अथ-अनन्तर 'सम्बन्ध क्या है?' इसका उत्तर कहते हैं–ग्रन्थ के साथ ब्रह्मात्मारूप-विषय का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है, ग्रन्थ, विषय का प्रतिपादक है, एवं विषय, ग्रन्थ से प्रतिपाद्य है। अधिकारी मुमुक्षु अध्येता के साथ विषय का ज्ञेय-ज्ञातृ भाव है, अधिकारी ज्ञाता है, एवं विषय ज्ञेय है। अधिकारी के साथ प्रयोजन का लभ्य-लब्धृ भाव सम्बन्ध है, अधिकारी लब्धा-प्रापक है एवं प्रयोजन लभ्य-प्राप्य है। कर्मकाण्ड-एवं ज्ञानकाण्ड का साध्य-साधन भाव सम्बन्ध है, कर्म साधन है एवं ज्ञान साध्य है। इत्यादि सम्बन्धों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिए या वे गुरुमुख से जानने चाहिए। इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि-एकाग्रता-विवेक आदि साधनों से सम्पन्न, उपनिषद्-तत्त्व के ज्ञान की तीव्र-इच्छा वाला यहाँ अधिकारी है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार उपनिषद् के

विज्ञेयः। इत्थमुपनिषदो विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिणो निरूपिताः। अधिकारिण उपनिषद्बुभुत्सोर्ब्रह्मात्मतत्त्वे इमे उपनिषन्मन्त्राः प्रमितिं जनयन्ति। न च तेषां प्रामाण्ये विवदितव्यम्। यतस्तत्प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वाङ्गीकारात्, अप्रामाण्ये कारणाभावाच्च।

ननु–ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्, तद्भिन्नतया वेदस्यापि मिथ्यात्वं सेत्स्यति, तथा च मिथ्याभूतेन वेदेन प्रमितिरूपा तत्त्वधीः कथं प्राप्ता स्यात्? इति चेदत्र प्रष्टव्यो भवान्, कदा भवता वेदस्य मिथ्यात्वमधिगम्यते इति तावद्वक्तव्यम्। ब्रह्माद्वैतप्रतिपत्तेः पूर्वं मिथ्यात्वं ज्ञायते इति न वक्तुं शक्यते, यतस्तदा बाधाभावात् मिथ्यात्वं न ज्ञातं भवेत्; तत्प्रतिपत्तेरूर्ध्वं चेत्तदा पुरुषार्थस्य समाप्तत्वात् वेदेन किं स्यात्?, अत एव यत्र 'वेदा अवेदाः' (बृ. ४।३।२२) भवन्ति इति बृहदारण्यकश्रुतिरपि वेदस्य वेदत्वं तदा निराकरोति। प्रतिपत्तेः प्राक् अज्ञातमपि मिथ्यात्वमस्त्येवेति चेत्? तेन किं? तेन प्रमाणसत्यत्वं प्रमात्वस्य कारणं भवति, तन्मिथ्यात्वं तस्य कारणं न भवतीत्युच्यते; इति न सम्यक्; यतः सत्येनाऽप्यनुपायेन घटेन नाग्निः प्रमीयते, असत्येनाप्युपायेन प्रतिबिम्बेन बिम्बं प्रमीयते।

विषय, प्रयोजन सम्बन्ध, एवं अधिकारी का निरूपण किया। ये उपनिषत् के मन्त्र, उपनिषत्-तत्त्वज्ञान की इच्छा वाले-अधिकारी-मनुष्य में ब्रह्मात्मतत्त्वविषयक-प्रमिति-यथार्थज्ञान को उत्पन्न करते हैं। उनके प्रामाण्य के विषय में विवाद नहीं करना चाहिए। क्योंकि–उपनिषन्मन्त्रों में स्वतःप्रामाण्य का अङ्गीकार है, उनके अप्रामाण्य में कारण भी कोई नहीं है।

शंका–ब्रह्म से भिन्न सर्व को मिथ्या ही स्वीकार किया है, इसलिए-ब्रह्म से भिन्न होने के कारण वेद में भी मिथ्यात्व की सिद्धि हो जायगी, तथा च मिथ्याभूत-वेद से प्रमिति-प्रमारूप-तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त होगा?

समाधान–इस विषय में आपसे पूछना चाहिए। किस समय में आप वेद का मिथ्यात्व समझते हैं? यह प्रथम कहना चाहिए। ब्रह्माद्वैत की प्रतिपत्ति-साक्षात्कार से प्रथम वेद का मिथ्यात्व जाना जाता है, ऐसा आप नहीं कह सकते हैं, क्योंकि-उस समय में–अपरोक्ष ज्ञान न होने के कारण संसार के बाध का अभाव होने से वेद का मिथ्यात्व ज्ञात नहीं होगा। ब्रह्माद्वैत के साक्षात्कार के अनन्तर वेद का मिथ्यात्व हो जाता है, ऐसा यदि आप कहें, तब मोक्षरूप पुरुषार्थ-की समाप्ति होने से वेद से क्या होगा?। इसलिए जहाँ-साक्षात्कारदशा में 'वेद भी अवेद' हो जाते हैं, ऐसी बृहदारण्यक श्रुति भी-उस समय वेद के वेदत्व का निराकरण करती है। प्रतिपत्ति-साक्षात्कार से प्रथम वेद में अज्ञात भी मिथ्यात्व तो है ही, ऐसा यदि आप कहें तो उस से क्या कहना होता है? उस से-प्रमाण का सत्यत्व प्रमात्व का कारण होता है, और उस का मिथ्यात्व प्रमात्व का कारण नहीं होता है–ऐसा कहा जाता है। ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि–सत्य-भी अनुपाय-जो उपाय नहीं है-ऐसे घट से अग्निविषयक-प्रमा-ज्ञान का उदय नहीं होता है, और असत्य भी प्रतिबिम्बरूप-उपाय से बिम्ब-विषयक-प्रमा ज्ञान का उदय होता है।

वादाः—'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (श. ब्रा. ११।५।७) 'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' (तै. उ. १।११।१) इति। स्वाध्यायः=वेदाध्ययनम्। 'वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना।' (मनु. २।१६५) 'वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयस्करः परः।' (याज्ञवल्क्यस्मृ. १।४०) 'न हि वेदात्परं शास्त्रम्' (अत्रिसंहिता. १।१४८) (म. भा. अनु. प. १०६।६५) 'वेद एव सदाऽभ्यस्यो वेदश्चक्षुः सनातनम्। भूतं भव्यं भविष्यश्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥' (मनु. १२।९८) 'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।' (मनु. २।१६६) 'वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः। तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते॥' (मनु. ४।१४७) 'वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः। वेदो नारायणः साक्षात्स्वयंभूरिति शुश्रुमः॥' (भा. ६।१।४०) 'सर्वान् वेदानधीयीत शुश्रूषुर्ब्रह्मचर्यवान्। ऋचो यजूँषि सामानि यो वेद न स वै द्विजः[१]॥' (म. भा. शा. पा. २५१।२)

'सर्वथा वेद एवासौ सर्वधर्मप्रमाणकः। तेनाविरुद्धं यत्किञ्चित्तत्प्रमाणं न चान्यथा॥' (देवी. भा. ११।१।२६) 'श्रेयसे त्रिषु लोकेषु न वेदादधिकं परम्।'

को विशेष करके वेदाध्ययन ही कल्याणकारी है। यही श्रुति एवं स्मृतियों के वाद कहते हैं—'स्वाध्याय यानी वेद का अध्ययन करना चाहिए।' 'स्वाध्याय एवं प्रवचन से कदापि प्रमाद नहीं करना चाहिए।' इति। स्वाध्याय यानी वेदाध्ययन। 'रहस्य—उपनिषत्-विद्यासहित समग्र वेद का ज्ञान द्विजातियों को अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए।' 'वेद ही द्विजाति-त्रैवर्णिकों का श्रेष्ठ-अत्यन्त-कल्याणकारी है।' 'वेद से बढ कर श्रेष्ठ-और कोई शास्त्र नहीं है।' 'वेद का ही सदा अभ्यास करना चाहिए, क्योकि-वेद ही एकमात्र सनातन चक्षु है-यावत्-अर्थों का प्रकाशक है। भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्-तीन काल के समस्त पदार्थ वेद से ही प्रसिद्ध होते हैं।' 'विप्र-ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास ही श्रेष्ठ तप यहाँ कहा जाता है।' 'आलस्य का परित्याग करके समय के अनुसार वेद का ही सदा अभ्यास करना चाहिए। यही इस ब्राह्मण का परम धर्म है, ऐसा विद्वान् कहते हैं, अन्य सब उपधर्म कहा जाता है।' 'वेद में प्रणिहित-कर्तव्यरूप से प्रतिपादित ही धर्म है, उससे विपरीत यानी वेद में अप्रतिपादित-अर्थात् निषिद्ध अधर्म माना गया है, वेद ही साक्षात्-स्वयंभु नारायण है, ऐसा हमने सुना है।' 'गुरु की सेवा परायण-ब्रह्मचर्य-व्रतधारी हुआ द्विज, समग्र वेदों का अध्ययन करे। ऋक्मन्त्र, यजुर्मन्त्र एवं साममन्त्रों को जो नहीं जानता है, वह द्विज नहीं है।'

'सभी प्रकार से यह वेद ही समस्त-धर्मों में प्रमाणरूप है, उस वेद से जो विरुद्ध नहीं है, वह जो कुछ भी हो—वह सब प्रमाण है, जो वेद-विरुद्ध है वह किसी भी प्रकार से प्रमाण

[१] किन्तु द्विजो वेदविदेव विज्ञेयः, यो न वेद वेदान्, नासौ द्विजो भवितुमर्हतीति तात्पर्यम्। किन्तु वेदों का ज्ञाता ही द्विज है, ऐसा जानना चाहिए। जो वेदों को नहीं जानता है, वह द्विज नहीं होसकता है, यह तात्पर्य है।

(सौरपुराण. २।५९) 'सर्वेषामेव भूतानां वेदश्चक्षुः सनातनम् । वेदः श्रेयस्करः पुंसां नान्य इत्यब्रवीद्रविः ॥' (सौरपुराण. १७।३५) 'तस्माद्ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येतव्यो ज्ञेयश्च ।' (व्याकरणमहाभाष्यं. १।१।३) 'वेदितव्यो ब्रह्मराशिः' (व्या. म. भाष्यं. १।१।२) 'इहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः । यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥' (मनु. २।१६७) 'तपस्तप्यति योऽरण्ये मुनिर्मूलफलाशनः । ऋचमेकाञ्च योऽधीते तद्वृत्तेन फलं लभेत् ॥' (यम-स्मृति. ६।४४) 'वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः । तद्दानञ्चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥' (दक्षस्मृति. २।३४) 'न शूद्रो वृषलो नाम वेदो हि वृष उच्यते । यस्य विप्रस्य तेनालं स वै वृषल उच्यते ॥ तस्माद्वृषलभीतेन ब्राह्मणेन प्रयत्नतः । एकदेशोऽप्यध्येतव्यो यदि सर्वो न शक्यते ॥' इति यमस्मृतौ । अत्र ब्राह्मण्योपयुक्तस्नानसंध्यादेवार्चनादिप्रयोजकवेदमन्त्रभाग एकदेशशब्देन गृह्यते । यद्वाऽध्यात्मविचाराद्युपयुक्तसारभूतवेदमन्त्रभागोऽपि ।

नहीं माना जाता है।' तीनो लोकों में कल्याण के लिए वेद से अधिक–श्रेष्ठ प्रमाण नहीं है।' 'समस्त-भूतों का वेद ही सनातन-चक्षु है। वेद ही पुरुषों के लिए कल्याणकारी है, उसके सदृश अन्य कोई नहीं है, ऐसा भगवान् सूर्य नारायण ने कहा है।' 'इसलिए ब्राह्मण को कारण रहित यानी जीविका-निर्वाह आदि की अपेक्षा न करके निष्काम भाव से छः अंग सहित समग्र-वेद का अध्ययन करना चाहिए, एवं उसके अर्थ का ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए।' ऐसा व्याकरण महाभाष्य में महर्षि-पतञ्जलि जी कहते हैं। 'ब्रह्मराशि-यानी ज्ञान का खजाना वेद का ज्ञान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिए।' यह भी व्याकरण-महाभाष्यकार का कथन है। 'यहाँ ही वह नख के अग्र-भागों से लेकर परम तप कर रहा है–जो द्विज माला-धारी होने पर भी प्रतिदिन शक्ति के अनुसार स्वाध्याय-वेद का अध्ययन करता है।' 'जो मुनि अरण्य-जंगल में मूल एवं फल का भक्षण करता हुआ-तप करता है, तथा जो वेद की एक भी ऋचा का अध्ययन करता है, वह उस तपस्वी मुनि के समान फल को प्राप्त करता है।' 'प्रथम वेद का स्वीकरण यानी शुद्धरूप से कण्ठ करना, उसके अर्थ का विचार करना, अभ्यास-पुनः पुनः आवृत्ति करना, एवं मन्त्र जप करना, शिष्यों को दान देना-पढाना, इस प्रकार वेदाभ्यास पंचप्रकार का माना गया है।' शूद्र का नाम वृषल नहीं है, वेद ही वृष कहा जाता है, जिस विप्र को उस से अलं–बस है, वह वेदविमुख-विप्र ही वृषल-शूद्र कहा जाता है।' 'इसलिए वृषलत्व-प्राप्ति से भयभीत हुए ब्राह्मण को प्रयत्न से वेद के एकदेश-स्वल्पभाग का भी अवश्य ही अध्ययन करना चाहिए, यदि समग्र वेद का अध्ययन नहीं कर सकता है, तब।' ऐसा यमस्मृति में कहा है। यहाँ ब्राह्मणत्व के लिए उपयोगी-स्नान-संध्या-देवार्चन-आदि का प्रयोजक-पुरुषसूक्तादि-वेदमन्त्र भाग एकदेश शब्द से गृहीत होता है। यद्वा अध्यात्मविचारादि के लिए उपयुक्त-सारभूत-वेदमन्त्र का भाग भी एकदेश शब्द से परिगृहीत हो सकता है।

'अग्निकार्यपरिभ्रष्टाः संध्योपासनवर्जिताः । वेदाँश्चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः ॥' (पराशरसंहिता. १२।२९।१९) 'वेदाध्ययनाभावे द्विजस्य महती निन्दा स्मर्यते–'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् । स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥' (मनु. २।१६८) एवं परिव्राजकैश्चतुर्थाश्रमिभिः संन्यासिभिरप्यध्यात्मतत्त्वार्थानुसन्धानयुक्तो वेदाभ्यासो विधातव्य एव । तथा च स्मर्यते–'संन्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न संन्यसेत् ।' (मनु· ६।९६) इति । 'अतः स परमो धर्मो यो वेदादवगम्यते ।' (व्यासस्मृ. ६।१४) 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।' (या. स्मृ. १।८) इति । तथा चात्मदर्शनमेव संन्यासिनां मुख्यं साध्यं लक्ष्यम् । तदर्थमेव तेषां संन्यासः । तच्च वेदार्थयथावदालोचनादेव सिद्ध्यतीति ।

ननु–तुरीयाश्रमस्वीकारवेलायां–'वेदानिममम्ं च लोकं परित्यज्य ।' (ना. परि. उ. ३।५) इत्यादिना सकलवेदपरित्यागो बोध्यते, तथा च 'वेदमेकं न संन्यसेदि'ति वचनमस्माद्विरुद्धमिति चेन्न; कर्मकाण्डपरान् वेदान् परित्यजेदर्थाद् ब्रह्मात्मतत्त्वपरान् वेदान् परिचिन्तयेत् न संन्यसेदित्यर्थाभ्युपगमात्, नास्ति विरोधलेशोऽपि । अत एव यतिधर्मप्रकरणे मनुनाऽप्युक्तम्–'आत्मज्ञाने शमे च स्याद् वेदाभ्यासे च यत्नवान् ।' (१२।९२) इति ।

'अग्निहोत्र से परिभ्रष्ट, संध्योपासना से वर्जित, वेदों के अध्ययन से शून्य सब त्रैवर्णिक द्विज वृषल कहे जाते हैं ।' वेदाध्ययन के न होने पर द्विज की बडीभारी निन्दा का स्मरण किया गया है–'जो द्विज-त्रैवर्णिक-मनुष्य वेद का अध्ययन न करके अन्य कार्य में परिश्रम करता है, वह जीता हुआ ही शीघ्र अपने कुटुम्ब-परिवार सहित शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है ।' इस प्रकार चतुर्थाश्रमी-परिव्राजक-संन्यासियों को भी अध्यात्म-तत्त्वार्थ के अनुसंधान से युक्त-वेद का अभ्यास करना ही चाहिए । तथा च स्मरण किया-जाता है–'मुमुक्षु-वीतराग सर्व कर्मों का संन्यास करे, परन्तु एकमात्र वेद का संन्यास-त्याग न करे ।' इति । 'इसलिए वही परम धर्म है–जो एकमात्र वेद से जाना जाता है ।' 'यही निश्चय से परम धर्म है, जिसके योग से आत्मा का दर्शन हो जाता है ।' इति । तथा च आत्मदर्शन ही संन्यासियों का मुख्य साध्य-लक्ष्य है । उसीके लिए ही उन्हों का संन्यास है । यह वेदार्थ के यथावत् आलोचन से ही सिद्ध होता है । इति ।

शंका—चतुर्थ-आश्रम-संन्यास के स्वीकार के समय में–'वेदों का, इसलोक का एवं परलोक का परित्याग करके' इत्यादि नारद-परिव्राजकोपनिषत् के वचन से सकल वेदों का परित्याग बोधित होता है । तथा च 'एकमात्र वेद का संन्यास नहीं करे' यह वचन इस वचन से विरुद्ध है ।

समाधान—कर्मकाण्ड-परक-वेदों का परित्याग करे, अर्थात्-ब्रह्मात्मतत्त्वपरक-वेदों का परिचिन्तन करे, उन का संन्यास न करे, ऐसे अर्थ का स्वीकार होने से विरोध का लेश भी नहीं है । अत एव यति धर्म के प्रकरण में मनु ने भी कहा है–'आत्मज्ञान में एवं मन का निग्रह-रूप-शम में एवं वेदाभ्यास में संन्यासी यत्नशील हो ।' इति ।

केचनात्र प्रत्यवतिष्ठन्ते–ननु–वेदमन्त्राः किल भगवद्वाणीत्वात्स्वरूपेणैव पुण्यमूर्तयो विद्यन्ते, ते चोच्चारणश्रवणाभ्यां श्रद्धाधनान् पवित्रयिष्यन्ति, तेषां खलु स्वरूपमात्रावस्थितेन सामर्थ्यातिशयेनाखिलमभीष्टं सेत्स्यति, अतः कृतमत्यायासकारिणाऽर्थज्ञानेन ? इति चेन्मैवम्; यद्यपि पवित्रीकरणं मन्त्राणां स्वाभाविको धर्मः, अग्नेर्दाहकत्वादिकमिव; नार्थज्ञानैकप्रयोज्य इति सत्यम्, तथापि तावता नाभीष्टं सेद्धुमर्हति। यतो मन्त्राः किल मनुष्याणामखिलाभीष्टसिद्ध्यै सर्गारम्भे प्रादुर्बभूवुः। न चार्थज्ञानं विना कस्यापि कर्मणो वोपासनस्य वा यथावदनुष्ठानं भवितुमर्हति, निर्विचिकित्सवस्तुतत्त्वविज्ञानमपि न च सिद्ध्यति। तदन्तरेण कथमभीष्टं सिद्ध्येत् ? तथा चार्थज्ञानमभीष्टसिद्धये अत्यावश्यकम्। तत्रैतदाम्नातं भवति–'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।' (छां. १।१।१०) इति। विद्यया=मन्त्रार्थज्ञानेन, श्रद्धया=आस्तिक्यबुद्ध्या, उपनिषदा=गुरूपदिष्टरहस्यमार्गेण, वीर्यवत्तरं=फलप्रदाने बलवत्तरं निष्प्रत्यूहं त्वरितफलदमित्यर्थः। तस्माद्वेदाध्ययनमर्थज्ञानसहितमेव कर्तव्यम्। अर्थज्ञानशून्यं कृतं तद्विशिष्टफलशून्यमेव वेदितव्यम्।

कुछ लोग यहाँ पूर्वपक्ष करते हैं–**शंका**—वेद मन्त्र निश्चय से भगवान् की वाणी है, इसलिए वे स्वरूप से ही पुण्य-पावन मूर्तिरूप हैं, अतः वे मन्त्र, उच्चारण से एवं श्रवण से ही श्रद्धारूप धनवाले-आस्तिकों को पवित्र कर देवेंगे। उन मन्त्रों के स्वरूपमात्र में अवस्थित-सामर्थ्य के अतिशय से ही अखिल-अभीष्ट सिद्ध हो जायगा। इसलिए अति-आयास-परिश्रम के कराने वाले-अर्थ ज्ञान से कृतं-यानी-अलं-बस है, अर्थात् अर्थ ज्ञान की कुछ आवश्यकता नहीं है।

समाधान—यह शंका समीचीन-यथार्थ नहीं है। यद्यपि पवित्र करना मन्त्रों का स्वाभाविक धर्म है, अग्नि के दाहकत्व की भाँति, वह एकमात्र अर्थ ज्ञान से प्रयोज्य नहीं है, यह सत्य है, तथापि इतने मात्र से अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि–वेदमन्त्र निश्चय से मनुष्यों के समस्त-अभीष्ट की सिद्धि के लिए सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भूत हुए है। अर्थ ज्ञान के बिना किसी भी कर्म का या उपासना का यथावत् अनुष्ठान नहीं हो सकता है। तथा संशय-विवाद-रहित-वस्तु तत्त्व का विज्ञान भी सिद्ध नहीं होता है। उसके बिना अभीष्ट कैसे सिद्ध हो ? अर्थात् नहीं हो सकता। तथा च अर्थज्ञान अभीष्ट सिद्धि के लिए अति-आवश्यक है। इस विषय में यह कहा गया है छान्दोग्योपनिषत् में–'जो कर्म या उपासना विद्या-के द्वारा श्रद्धा के द्वारा या उपनिषत्-के द्वारा किया जाता है, वही अतिवीर्यवान्-सफल सिद्ध हो जाता है।' इति। विद्या यानी मन्त्रार्थज्ञान, श्रद्धा यानी आस्तिक्यबुद्धि, उपनिषत् यानी गुरु-उपदिष्ट-रहस्य मार्ग, वीर्यवत्तर यानी फल के प्रदान में अति बलवान् प्रत्यूह-विघ्न-रहित, शीघ्र फल-देनेवाला। इसलिए वेदों का अध्ययन अर्थज्ञानसहित ही करना चाहिए। अर्थज्ञान से रहित-किया हुआ-वेदों का अध्ययन, उन के विशिष्ट फलों से शून्य ही जानना चाहिए।

यदाहुः यास्काचार्याः—'स्थाणुरयं भारहरः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा ॥' (नि. १। १८) अस्यायमर्थः—यस्तु वेदमधीत्यार्थं न विजानाति, सोऽयं पुमान् भारमेव हरति=धारयति। स्थाणुरिति दृष्टान्तः, छिन्नशाखं शुष्कं वृक्षमूलं स्थाणुशब्देनोच्यते, स च यथा इन्धनार्थमेवोपयुज्यते, न तु पुष्पफलार्थं, तथा केवलपाठकस्य व्रात्यत्वं न भवतीत्येतावदेव, न ह्यनुष्ठानं स्वर्गादिफलसिद्धिर्वाऽस्ति। किलेत्यनेन लोकप्रसिद्धिर्द्योत्यते। लोकेऽपि पाठकस्य यावती पूजा, प्रतिष्ठा च ततोऽप्यधिका विदुषि दृश्यते इत्यर्थः। यद्वा स्थाणुः=वृक्षः, स यथा पत्रपुष्पफलानामात्मीयानां धारणमात्रेणैव सम्बध्यते, न तज्जैर्गन्धरसरूपस्पर्शोपभोगसुखैः। एवं यो वेदमधीत्यार्थं न जानाति, सोऽसौ वेदाध्ययनभारमात्रमेव बिभर्ति। यद्वा स्थाणुः=गर्दभः, स यथा चन्दनभारं वहति, न तदुपभोगेन सम्बध्यते, एवमर्थानभिज्ञोऽपि खरवन्मूढ एव वेदितव्यः। तदुक्तं—'यथा खरश्चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। एवं हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति ॥' (सुश्रुत—

यही निरुक्त में यास्काचार्य्य भी कहते हैं—'जो वेद का अध्ययन करके अर्थ को नहीं जानता है, वह निश्चय से भार का धारण करने वाला-पुष्पफल रहित-स्थाणु-ठुंठ ही हो जाता है। जो अर्थज्ञ है, वह सकल-भद्र-कल्याण को प्राप्त करता है, ज्ञान से सभी पापों को हटा करके सुखरूप स्वर्ग को प्राप्त हो जाता है।' इति। इसका यह अर्थ है—जो वेद का अध्ययन करके अर्थ को नहीं जानता है, वह-यह-पुरुष भार का ही हरण-धारण करता है, 'स्थाणु' यह दृष्टान्त है, जिसकी शाखाएँ छिन्न होगई हैं, ऐसा सुखा हुआ-वृक्ष का मूल-स्थाणु शब्द से कहा जाता है। वह जिसप्रकार इन्धन-जलाने के लिए ही उपयुक्त होता है, पुष्प एवं फल के लिए उपयुक्त नहीं होता है। तिस प्रकार केवल वेद के पाठक में व्रात्यत्व प्राप्त-नहीं होता है, इतना ही स्वल्प-फल है, परन्तु अर्थज्ञानपूर्वक अनुष्ठान, एवं स्वर्गादि फल की सिद्धि उसको नहीं होती है। 'किल' इस शब्द से लोकप्रसिद्धि का द्योतन किया गया है। लोक में भी पाठक की जितनी पूजा एवं प्रतिष्ठा होती है, उससे भी अधिक अर्थज्ञ-विद्वान् की देखी जाती है। यद्वा स्थाणु यानी वृक्ष, वह जैसे अपने-पत्र-पुष्प-फलो के धारण मात्र से ही संयुक्त होता है, उन-पत्रादियों से उत्पन्न-गन्ध-रस-रूप-स्पर्श के उपभोग-सुखों से संयुक्त नहीं होता है। इसप्रकार जो वेद का अध्ययन करके अर्थ को नहीं जानता है, वह वेद के अध्ययन का भार मात्र को ही धारण करता है। यद्वा स्थाणु यानी गर्दभ, वह जैसे चन्दन के भार को ढोता है, परन्तु उसके उपभोग से संयुक्त नहीं होता है, इस प्रकार अर्थ का अनभिज्ञ भी गधे की भाँति मूढ़ ही है, ऐसा जानना चाहिए। वह कहा है-सुश्रुतसंहिता में—'जिस प्रकार चन्दन के भार का वहन करने वाला खर-गधा, भार को ही जानता है, चन्दन को नहीं जानता है। इसप्रकार बहु-शास्त्रों का अध्ययन करके अर्थ विषय में मूढ़-अज्ञानी गर्दभ की तरह शास्त्रों के भार को ही ढोते हैं।'

संहिता) इति। यो वेदार्थं जानाति, सोऽयमिहलोके सकलं पूज्यत्वादिलक्षणं श्रेयः प्राप्नोति, तथा तेन ज्ञानेन पापक्षये सति मृतः स्वर्गं प्राप्नोतीत्यनेन 'योऽर्थज्ञः' इत्यर्धेन वेदार्थज्ञानं प्रशस्यते।

एवं 'यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ॥' (नि. १।८) इति। अयमर्थः—यद्वेदमन्त्रादिकमाचार्याद्गृहीतं, अविज्ञातं=अर्थज्ञानरहितं, निगदेनैव=पाठरूपेणैव शब्द्यते=पुनः पुनरुच्चार्यते, तत्कदाचिदपि न ज्वलति=न प्रकाशयति—स्वामीष्टं न साधयति, यथाऽनग्नौ=अग्निरहितप्रदेशे प्रक्षिप्तं शुष्कं काष्ठं न ज्वलति, नार्थान् प्रकाशयति—न शैत्यं निवारयतीत्यर्थः। अपि च ज्ञानार्थस्य लाभार्थस्य वा विदधातोरेव रूपं वेद इति, अलौकिकं पुरुषार्थोपायं वेत्त्यनेनेतिवेदशब्दनिर्वचनञ्चेति ज्ञापयति-रहस्यार्थज्ञानयुक्तवेदस्यैव मुख्यवेदत्वम्। तथा चोक्तम्—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते। एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' इतिस्मृतौ। तस्मादर्थज्ञानरहितस्य पाठमात्रस्य वेदस्य वेदत्वमेव मुख्यं न स्यात्। अतो मुख्यवेदत्वसिद्धये ज्ञातव्य एव तदर्थः।

तथा चाम्नायते—'उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।

इति। जो वेदार्थ को जानता है, वही यह इस लोक में पूज्यत्वादिलक्षण-युक्त-सकल-श्रेयः-कल्याण को प्राप्त होता है। तथा उस ज्ञान से पाप का क्षय होने पर मर कर स्वर्ग को प्राप्त होता है। इस प्रकार 'योऽर्थज्ञः' इस अर्ध श्लोक से वेदार्थ ज्ञान की प्रशंसा की जाती है।

इस प्रकार निरुक्त में पुनः भी कहा है—'जो वेदादि शास्त्र, अर्थ-ज्ञान से रहित ही गृहीत होता है, जिसका केवल-पाठरूप से ही उच्चारण किया जाता है, वह 'अग्निरहित-प्रदेश में शुष्क लकडी की भाँति' कहीं भी प्रकाशित नहीं होता है।' इति। इसका यह अर्थ है—जो वेदमन्त्रादिक, अविज्ञात यानी अर्थज्ञान से रहित ही आचार्य्य से गृहीत होता है, निगद यानी पाठरूप से ही जिसका पुनः पुनः उच्चारण किया जाता है, वह कदाचित् भी प्रज्वलित-प्रकाशित नहीं होता है, अपने अभीष्ट को सिद्ध नहीं करता है। जिस प्रकार अनग्नि-यानी अग्निरहित-प्रदेश में डाली हुई शुष्क लकडी नहीं जलती है अर्थात् न घटादि पदार्थों को प्रकाशित करती है, न ठण्डी का ही निवारण करती है। और ज्ञानार्थक एवं लाभार्थक-विदधातु का ही रूप वेद है वह, एवं जिसके द्वारा मनुष्य अलौकिक-पुरुषार्थ के उपाय को जानता है, वह वेद है, ऐसा वेद शब्द का निर्वचन भी ज्ञापन करता है कि—रहस्यभूत-अर्थ के ज्ञान से युक्त-वेद में ही मुख्य वेदत्व है। तथा च स्मृति में भी कहा है—'प्रत्यक्ष प्रमाण से एवं अनुमिति प्रमाण से अभीष्ट पुरुषार्थ के उपाय को मनुष्य नहीं जानते हैं, किन्तु एकमात्र वेद-प्रमाण से ही उसको जानते हैं, इसलिए ही वेद में वेदत्व है।' इसलिए अर्थ ज्ञान रहित-पाठमात्र के वेद में वेदत्व ही मुख्य नहीं है, अतः मुख्यवेदत्व की सिद्धि के लिए उसका अर्थ जानना ही चाहिए।

तथा च ऋग्मन्त्रमें भी कहा जाता है—'वेदरूप-वाणी के सखित्व में स्थित होकर जो

अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥' (ऋ. १०।७१।५) इति । अस्यायमर्थः—उत=अपि च, त्वं=एकं कश्चित्–चतुर्दशविद्यास्थानकुशलं पुरुषं वेदरूपाया वाचः सख्ये स्थित्वा, स्थिरपीतं=स्थैर्येण वेदोक्तार्थामृतपानयुक्तमाहुः= अभिज्ञाः कथयन्ति । 'सखिविदं सखायम्' (तै. आ. २।११) इति मन्त्रेण वेदस्य सखित्वमुदाहृतम् । यद्वा स्वर्गलोके देवानां सख्ये स्थित्वाऽतिशयेन पीतामृतमाहुः । किं कथयन्ति ते ? इत्यत आह—वाचां इनाः=ईश्वराः, सभासु प्रगल्भा वा पण्डिताः वाजिनाः । तेषु मध्येऽप्येनं=वेदार्थकुशलं शास्त्रार्थे पराभवितुं; यद्वा तं 'विधेहि मया साकं शास्त्रार्थमि'त्येवं चोदयितुं न हिन्वन्ति=न केऽपि प्राप्नुवन्ति, तेन सह विवदितुमसमर्थत्वात् । यस्तु अन्यः कश्चित् पाठमात्रपरः पुष्पफलरहितां वाचं शुश्रुवान् भवति । पूर्वकाण्डोक्तस्य धर्मस्य ज्ञानं पुष्पम् । उत्तरकाण्डोक्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानं फलम् । यथा लोके पुष्पं फलस्योत्पादकम् । तथा वेदानुवचनादिजन्यधर्म-ज्ञानमनुष्ठानद्वारा फलात्मकब्रह्मज्ञानेच्छां जनयति । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा

वेदार्थरूप-अमृत का पान करता रहता है, उस अर्थज्ञ-विद्वान्-महापुरुष का शास्त्रार्थ में अन्य वावदूक प्रगल्भ पण्डित-पराजय नहीं कर सकते हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं। जो कोई पुष्प फल रहित अर्थात् धर्म एवं ब्रह्मरूप अर्थ के ज्ञान से रहित-वेदवाणी का श्रवण करता है, वह मानो जैसे माया यानी जादु से बनाई हुई-प्रसिद्ध-धेनु के समान दीखती हुई भी—वस्तुतः जो धेनु नहीं है, उस झुठी गाय से दुग्धप्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।' इति । इसका यह अर्थ है—उत यानी अपि च । त्व यानी कोई एक—जो विद्या के श्रुति-स्मृत्यादि-चतुर्दशस्थान में कुशल-प्रवीण पुरुष है, एवं जो वेदरूप-वाणी के सख्य में स्थित होकर के, स्थिरपीत यानी स्थिरता-एकाग्रता के द्वारा वेदोक्त-अर्थरूप-अमृत के पान से युक्त है—उस को अभिज्ञ-विद्वान् कहते हैं। 'सखारूप वेद को जानने वाला यह विद्वान् भी उसका सखा है।' इस मन्त्र से वेद का सखित्व कहा गया है। यद्वा स्वर्ग-लोक में देवों की मित्रता में स्थित होकर-अतिशय से जिसने अमृत का पान किया है-उसको कहते हैं। क्या वे कहते हैं ? ऐसे प्रश्न का उत्तर कहते हैं—वाक्-वाणियों के इन यानी ईश्वर, या वाजिन यानी सभाओं में प्रगल्भ-पण्डित । उनके मध्य में इस वेदार्थ में कुशल-अर्थात्-विद्वान् का-शास्त्रार्थ में पराभव करने के लिए, यद्वा उसके प्रति—'मेरे साथ शास्त्रार्थ कर' इस प्रकार प्रेरणा करने के लिए भी अन्य कोई भी प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि—उस अर्थज्ञ-विद्वान् के साथ विवाद करने के लिए कोई समर्थ नहीं होता है। जो कोई अन्य वेद का पाठ मात्र ही करता है, वह पुष्प-फल रहित-वाणी का ही श्रवण करता है। पूर्व-काण्ड से उक्त-कथित-धर्म का ज्ञान पुष्प है। उत्तरकाण्ड से उक्त-ब्रह्म का ज्ञान फल है। जिस प्रकार लोक में पुष्प, फल को उत्पन्न करता है। तथा वेदानुवचनादि से जन्य-धर्म का ज्ञान, अनुष्ठान द्वारा फलरूप-ब्रह्मज्ञान की इच्छा-विविदिषा को उत्पन्न करता है। 'उस प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म को—वेदानुवचन, यज्ञ, दान एवं अनाशक-तप के द्वारा—ब्रह्म होने की कामना वाले-उत्तमाधिकारी

विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।' (बृ. ४।४।२२) इति श्रुतेः। यथा च फलं तृप्तिहेतुः—तथा ब्रह्मज्ञानं कृतकृत्यत्वहेतुः। 'यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति।' इति श्रुतेः। तादृशपुष्पफललाभरहितवेदपाठकः स एष पुमान् अधेन्वा मायया सह चरति, तया क्षीरं प्राप्तुं यतते इत्यर्थः; नवप्रसूतिका क्षीरदोग्ध्री गौः प्रीतिहेतुत्वात् धिनोतीतिव्युत्पत्त्या धेनुरित्युच्यते। पाठमात्रपरं प्रति वेदरूपा वाक् धर्मब्रह्मज्ञानरूपं क्षीरं न दोग्धीत्यधेनुः; अत एवासौ माया=कपटरूपा ऐन्द्रजालिकनिर्मितगोसदृशरूपत्वात्, तया मायया सह चरन् प्रयतन्नपि परमपुरुषार्थं न लभते इत्यर्थः।

अथवा उत त्व=एकमपि, सख्ये=विदुषां संसदि या सत्कथा–सद्विद्योपदेशः, सा सखीनां विश्वहितचिन्तकानां कर्मत्वात्सख्यमित्युच्यते, सा च वाचा क्रियते, अतो वाक्सम्बन्धात् वाक्सख्ये स्थिरपीतं=पीतं मधु–मधुरं तत्त्वज्ञानं यस्यैकस्यापि हृदये स्थिरं भवति, यद्वा स्थिरपीतं=स्थिरलाभप्राप्तिमाहुः, यद्वा तस्मिन् ज्ञातार्थमाहुः, लोके यतो ज्ञातार्थं पुरुषं पीतार्थमिति वदन्ति। किञ्च एनं=विज्ञातार्थं पुरुषं,

---

ब्राह्मण–जानने की इच्छा करते हैं।' इस बृहदारण्यक-श्रुति से भी यही पूर्वोक्त अर्थ सिद्ध होता है। जिसप्रकार फल तृप्ति का हेतु है, तथा ब्रह्मज्ञान भी कृतकृत्यता का कारण है। 'जो पूर्ण आनन्द-एकरस-बोधरूप ब्रह्म है, वही मैं हूँ, ऐसा दृढनिश्चय वाला विद्वान् कृतकृत्य हो जाता है।' इस श्रुति से भी यही कहा गया है। उस प्रकार के पुष्प फल के लाभ से रहित हुआ केवल वेद का पाठक वह यह पुरुष, मायानिर्मित-कल्पित-जो वास्तविक धेनु नहीं है-उसके साथ चरता है यानी उसके द्वारा क्षीर-प्राप्त करने के लिए यत्न करता है। नयी ब्याही हुई-दुध देने वाली गाय, प्रीति-प्रसन्नता का कारण होने से 'धिनोति' इस व्युत्पत्ति से धेनु कही जाती है। पाठमात्र करने वाले के प्रति वेदरूपा-वाणी, धर्म-ब्रह्म-ज्ञानरूप-क्षीर का प्रदान नहीं करती है, इसलिए वह अधेनु है, इस लिए वह माया यानी कपटरूपा है, इन्द्र जाल-का-ज्ञाता जादुगर के द्वारा निर्मित-गौ के सदृशरूप वाली होने से। उस मायारूप–अधेनु के साथ यह चरता हुआ-प्रयत्न करता हुआ–परम पुरुषार्थ का लाभ नहीं कर सकता है।

अथवा–उत त्व यानी एक भी। सख्य यानी विद्वानों की सभा में जो सत्कथा-सदुपदेश है–वह सखाओं का-विश्व के हितचिन्तकों का कर्म होने से सख्य कहा जाता है। वह सत्कथा वाणी से की जाती है, इसलिए वाणी के सम्बन्ध से वाक्सख्य में स्थिरपीत यानी पीया हुआ मधु यानी मधुर तत्त्वज्ञान, जिस-एक के भी हृदय में स्थिर हो जाता है। यद्वा स्थिरपीत यानी जिसे स्थिर-लाभ की प्राप्ति हुई है, उसे कहते हैं, यद्वा स्थिरपीत-उस-सख्य में ज्ञातार्थ-विद्वान् को कहते हैं। क्योंकि–लोक में ज्ञातार्थ पुरुष को पीतार्थ कहते हैं। और इस विज्ञातार्थ-विद्वान् पुरुष का वाजिन यानी वाणी से जानने योग्य-अर्थों के विषय में कोई भी अनुगमन करने के लिए समर्थ

वाजिनेषु=वाक्-वेदरूपा वाणी, इना-ईश्वरी येषां ते वाजिनाः-अर्थाः, ते खलु वाच आयत्ता भवन्ति, तेषु-वाक्ज्ञेयेषु अर्थेषु नापि हिन्वन्ति=अपिशब्दोऽत्रान्वर्थे, केचिदपि नानुगच्छन्ति-नानुगन्तुं शक्नुवन्ति, अयमेवातिशयेन विद्वानिति मत्वा। यद्वा वाजिनेषु=सारभूतेषु-निरूपणीयेष्वर्थेषु एनं न हिन्वन्ति=न बहिष्कुर्वन्ति-किन्तु एनं वेदार्थज्ञं महानुभावं पुरस्कृत्यैव सर्वे वेदार्थं विचारयन्तीत्यर्थः । इत्यर्थज्ञः प्रशस्तोऽनेन पूर्वार्धेन प्रतिपादितः। अनन्तरमुत्तरार्धेन -केवलपाठको निन्द्यते-एषः=अविज्ञातार्थः पुरुषः, अधेन्वा=धेनुत्वविवर्जितया कामानामदोग्ध्या वाक्प्रतिरूपया मायया चरति=प्रवर्तते । किं कुर्वन्? अफलामपुष्पां=वाचोऽर्थः-पुष्पफलं, अर्थज्ञानवर्जितां, यद्वा वाचोऽर्थः-याज्ञदैवते-यज्ञे भवं ज्ञानं याज्ञं, देवतासु भवं ज्ञानं दैवतं, तद्वर्जितां-कर्मादिविषयज्ञानरहितां वाचं=शुश्रुवान्=केवलपाठमात्रेणैव श्रुतवान् स चरति; यथा वंध्या पीना गौः किं द्रोणमात्रं क्षीरं दोग्धि? इति मायां भ्रान्तिमुत्पादयन्ती चरति, यथा वन्ध्यो वृक्षः काले पल्लवादियुक्तः सन् पुष्पति फलतीति भ्रान्तिमुत्पादयंस्तिष्ठति, तथा पाठमात्रं प्रब्रुवाणश्चरतीत्यर्थः।

यद्वा सख्ये=देवसख्ये-देवानां समानख्यानतायां देवसायुज्ये इत्यर्थः ।

नहीं होते हैं, यह ही अतिशय करके विद्वान् है, ऐसा मान करके। वाक् यानी वेदरूपा वाणी, इना यानी ईश्वरी है जिन्हों की, वे वाजिन अर्थ हैं, क्योंकि–वे अर्थ, निश्चय से वाणी के आधीन ही होते हैं। 'अपि' शब्द यहाँ 'अनु' अर्थ में है। यद्वा वाजिन यानी सारभूत-निरूपण करने योग्य-अर्थों में इस ज्ञातज्ञेय-विद्वान् का कोई भी बहिष्कार नहीं करते हैं, किन्तु इस वेदार्थ के ज्ञाता महानुभाव को अग्रसर करके ही सभी अन्य वेदार्थ का विचार करते हैं। इस प्रकार इस मन्त्र के पूर्वार्ध से प्रशस्त अर्थज्ञ-विद्वान् का प्रतिपादन किया। अनन्तर उत्तरार्ध से केवल पाठक की निन्दा की जाती है। यह अविज्ञातार्थ-पुरुष, अधेनु यानी धेनुत्व-गोत्व-धर्म से विवर्जित-काम-अभीप्सित-पुरुषार्थों की पूर्ति नहीं करने वाली-वाणी की आभासरूप-माया के द्वारा प्रवृत्त होता है। क्या करता हुआ? अफलां-अपुष्पा यानी वाणी का अर्थ ही पुष्प फल है, अर्थात् अर्थ-ज्ञान वर्जित; यद्वा वाणी का अर्थ याज्ञ एवं दैवत है, यज्ञ-विषयक होने वाला ज्ञान याज्ञ है, एवं देवताविषयक होने वाला ज्ञान दैवत है, उनसे वर्जित यानी कर्मादिविषयक–ज्ञान से रहित-वाणी का केवल पाठमात्र से ही जो श्रवण करता हुआ-प्रवृत्त होता है। जिसप्रकार मोटी ताजी वंध्या गाय, 'क्या यह द्रोणमात्र यानी सोलहशेर-दूध को देती है' इस प्रकार माया-भ्रान्ति को उत्पादन करती हुई चरती है। जिस प्रकार वन्ध्य वृक्ष समय पर पल्लव-आदि से युक्त हुआ 'यह पुष्पित होता है, फलित होता है' ऐसी भ्रान्ति को उत्पादन करता हुआ रहता है. तथा पाठमात्र का बोलने वाला भी वैसे ही भ्रान्ति उत्पादन करता हुआ प्रवृत्त होता है।

यद्वा सख्य यानी देवसख्य-देवों की समान ख्यानता में अर्थात् देवसायुज्य में। यह निरुक्त में यास्क कहता है–'जिस जिस देवता की यह स्तुति-ध्यानादि करता है, वह उस-उस

यदाह यास्कः-'यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति' (१३।१३) इति। अथवा देवसख्ये=यस्मिन् देवानां सखिभावः-प्रेमविशेषः तद्देवसख्यं रमणीयं स्थानं, तस्मिन् देवलोके इत्यर्थः। स्थिरपीतं=आपीतार्थं-गृहीतार्थं स्थिरं-अविचालिनमाहुः। किञ्च एनं=विज्ञातार्थं पुरुषं, वाजिनेषु=वाग्भिः प्रतिपादनीयेषु अर्थेषु न हिन्वन्ति=न तस्यान्ये समत्वं लभन्ते-अर्थात् स एव यथा तानर्थान् व्याकर्तुं शक्नोति, नेतरे मन्दबुद्धयो बहवोऽपि समागताः तथा शक्नुवन्ति तानर्थान् व्याकर्तुं, यानसौ व्याकरोति। एवं तावदत्रार्थज्ञोऽभिष्टुतः। अथेदानीमविद्वानुत्तरेणार्द्धर्चेन निन्द्यते-अधेन्वा हि एष चरति=न हि सा वाक् धिनोति=इष्टं फलं समर्पयति इह-लोके, न च परत्र लोके, यस्या अर्थो न परिज्ञायेत। तया गृहीत इव तामधीयान इतश्चेतश्चरति=पर्य्यटति, परन्तु स एष कपटरूपया माययैव चरति। यथा हि कश्चित् मायया कल्पितं सुवर्णं बिभृयात्, एवमयं वाचमेतामर्थज्ञानवर्जितामेवं बिभर्ति, सा तादृशी भ्रियमाणा वाक् किं करोति? नास्मै कामान् दुग्धे, कतमान्? ये तस्या वाचो दोग्धव्याः सन्ति, तान्। अध्ययनादृते नान्यदस्ति वाचि

देवता के तद्भावता-सायुज्य का अनुभव करता है।' इति। अथवा देवसख्य यानी जिसमें देवों का सखिभाव-प्रेमविशेष है, वह देवसख्य-अर्थात् रमणीयस्थान देवलोक है-उसमें। स्थिरपीत यानी उसके भोग्य पदार्थों का जिसने ग्रहण किया है-जो उस लोक में स्थिर-अचलरूप से रहा है-वह स्थिरपीत है, ऐसा कहते हैं। और इस विज्ञातार्थ यानी ज्ञातज्ञेय-विद्वान्-पुरुष की-वाणी के द्वारा प्रतिपादन करने योग्य-अर्थों में-अन्य लोग-समानता को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अर्थात् जिस प्रकार वह विद्वान् उन अर्थों का व्याकरण-स्पष्टरूप से प्रतिपादन करने के लिए समर्थ होता है, तिस प्रकार-अन्य मन्द बुद्धि वाले-बहु-इकट्ठे हुए भी-उन अर्थों का स्पष्टतः प्रतिपादन करने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं-जिन अर्थों का यह अर्थज्ञ-विद्वान् स्पष्टरूप से कहता है। इस प्रकार यहाँ अर्थज्ञ-विद्वान् की स्तुति-प्रशंसा किया। अनन्तर अब उत्तर की अर्ध-ऋचा के द्वारा अविद्वान् की निन्दा की जाती है-'अधेन्वा हि एष चरति।' अर्थात् जिस वाणी के अर्थ का परिज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता है, वह वाणी इस लोक में एवं परलोक में न धिनोति-यानी अपने इष्ट फल का समर्पण नहीं करती है। उस अविज्ञात-अर्थ वाली-वाणी से गृहीत-सा हुआ उसका केवल अध्ययन करता हुआ-वह अर्थानभिज्ञ इधर-उधर पर्यटन करता है, परन्तु वह कपटरूपा-माया के द्वारा ही विचरण करता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य जादूरूप माया से कल्पित-देखने मात्र के सुवर्ण को धारण करे, इस प्रकार यह अर्थज्ञान से रहित-इस वाणी को भी वैसी ही धारण करता है। उस प्रकार की वह धारण की हुई वाणी क्या करती है? कुछ नहीं, वह इसके अभीष्ट-काम-काम्यमान-पुरुषार्थों को प्राप्त नहीं कराती है, कौन हैं वे काम? जो उस वाणी से पूरण करने योग्य हैं, उनको। अध्ययन-पाठ के विना वेदवाणी में अन्य-कुछ भी अर्थसमुदाय अन्वेषण करने योग्य नहीं है, इस प्रकार दुराग्रह से ग्रहण करके

किञ्चिदर्थजातं मृग्यमिति दुराग्रहेण गृहीत्वा योऽवस्थितो भवति, स खलु अफलामपुष्पामेव वाचं शुश्रुवान्=श्रुतवान् भवति। अर्थो हि वाचः पुष्पफलम्। कः पुनरसावर्थः? इति याज्ञं दैवतमध्यात्ममित्येष वाचः समासतोऽर्थः।

स पुनरेष रूपककल्पनया पुष्पफलविभागेन द्विधा प्रविभज्यते—याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताऽध्यात्मे वा इति। यज्ञपरिज्ञानं याज्ञम्; देवतापरिज्ञानं दैवतम्, आत्मन्यधि यत्तत्त्वपरिज्ञानं वर्तते तदध्यात्ममित्युच्यते। स एष सर्वोऽपि मन्त्रब्राह्मणभागलक्षणवेदराशिरेवं त्रेधा विभक्तः। तत्रैवं सति यदाऽभ्युदयलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते, तदा याज्ञं पुष्पं दैवतं फलम्। किं कारणं? पूर्वं हि पुष्पं भवति फलार्थम्, याज्ञमपि च पूर्वं तन्यते देवतार्थम्, इत्येतस्मात्सामान्यात् याज्ञं पुष्पं, दैवतं फलम्। यदा पुनर्निःश्रेयसलक्षणो धर्मोऽभिप्रेयते, तदोमे अपि याज्ञदैवते पुष्पत्वमेव बिभृतः। दैवते हि याज्ञमन्तर्भूतमेव तदर्थत्वात्, अतो न पृथगुच्यते। यत्पुनरेतदधिदैवतं सर्वमपि अद्वैतज्ञानेनोपासकेन मुमुक्षुणा निरूप्य चेतसा आत्मानमेव प्रत्यभिसम्पाद्यते, कार्यकारणाधिदेवतोपसंहारद्वारा; सोऽयमेवमधिदैवतमधियज्ञं चोच्छिद्याध्यात्ममेवाभिसम्पादयति, यथा पुष्पभावमुच्छिद्य पुष्पं फलभावायेति। एवं सोऽयं श्रेयान्

जो अवस्थित होता है, उसने निश्चय से फलरहित-एवं पुष्परहित-ही वाणी का श्रवण किया है। वाणी का अर्थ ही पुष्प एवं फल है। कौन पुनः वह अर्थ है? याज्ञ, दैवत, एवं अध्यात्म, ये तीन ही संक्षेप से वाणी के अर्थ हैं।

वही पुनः यह अर्थ-रूपक की कल्पना के द्वारा पुष्प एवं फल के विभाग द्वारा दो प्रकार से प्रविभक्त किया जाता है—याज्ञ एवं दैवत, पुष्प एवं फल हैं, या देवता एवं अध्यात्म। यज्ञ का परिज्ञान याज्ञ है, एवं देवता का परिज्ञान दैवत है। आत्मविषयक जो तत्त्वज्ञान है, वह अध्यात्म कहा जाता है। वही यह मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभागरूप समग्र वेदराशि तीन प्रकार से विभक्त किया गया है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर जब अभ्युदयलक्षण वाला धर्म अभिप्रेत होता है, तब याज्ञ पुष्प एवं दैवत फल हो जाता है। क्या कारण है? क्योंकि—प्रथम पुष्प फल के लिए होता है, याज्ञ भी प्रथम देवता के लिए ही किया जाता है, इस प्रकार की समानतारूप कारण से ही याज्ञ पुष्प एवं दैवत फल कहा गया है। जब पुनः निःश्रेयस-कल्याणरूप धर्म अभिप्रेत होता है, तब ये दोनों भी याज्ञ एवं दैवत पुष्पत्व को ही धारण करते हैं, अर्थात् याज्ञ एवं दैवत पुष्प हो जाते हैं। दैवत में याज्ञ अन्तर्भूत ही है, क्योंकि—वह याज्ञ दैवत के लिये है, इसलिए वह पृथक् नहीं कहा जाता है। जो पुनः यह अधिदैवत है, उस सर्व का—अद्वैतज्ञान के द्वारा उपासक-मुमुक्षु चित्त से निरूपण करके—कार्य का कारण में एवं कारण का अधिष्ठातृ-देवता में उपसंहार के द्वारा—उसको आत्मा ही बना देता है। वह यह इस प्रकार अधिदैवत एवं अधियज्ञ का उच्छेद करके अध्यात्म ही बना देता है, जिस प्रकार पुष्पभाव का उच्छेद करके पुष्प, फलभाव को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वह यह आत्मयाजी ही सब से श्रेष्ठ हो जाता है।

...त्मयाज्येवाभिसम्पद्यते। तत्रैवं सति अध्यात्मार्थत्वादधिदैवतस्य, अध्यात्मस्य च ...रुषार्थस्य निष्पन्नत्वादयं तत्त्वज्ञानवान् कृतकृत्यो भवति, अतो दैवतं पुष्पं, अध्यात्मं ...लमित्येवमुक्तम्। इयमृक् निरुक्ते यास्कोऽप्युदाजहार। तेनानयाऽपि ज्ञानस्तुत्य-...ज्ञाननिन्दोदाहरणं प्रपञ्चितम्। तस्मात् वेदाध्ययनवत् 'यत्स्तूयते तद्विधीयते' इति ...यायेनार्थस्यापि विधिरभ्युपगन्तव्यः। अत एव व्याकरणमहाभाष्यकाराः 'वेदोऽध्येयो ...ज्ञेयश्च' इत्यनेन तदर्थविधिं स्पष्टं प्रदर्शयामासुरिति।

इत्थं स्मृतिपुराणादिषु महर्षयोऽप्याहुः—'वेदस्याध्ययनं सर्वं धर्मशास्त्रस्य चापि यत्। अजानतोऽर्थं तत्सर्वं तुषाणां कण्डनं यथा॥' तुषावहननवद्वृथाप्रयास इत्यर्थः। 'पाठमात्ररतान् वेदे द्विजातींश्चार्थवर्जितान्। पशूनिव हि तान् प्राज्ञो वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥' इति वेदार्थानभिज्ञानां तेषां पूजनमपि न कार्यमतोऽर्थज्ञानमावश्यकमित्य-भिप्रायः। 'वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत्। इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥' (मनु. १२।१०२) इत्यर्थज्ञानसम्पन्नस्य महापुरुषस्य महत्फलमाह। वेदा-

---

ऐसा सिद्ध होने पर अधिदैवत, अध्यात्म के लिए है, अध्यात्म पुरुषार्थ को सिद्ध हो जाने पर यह तत्त्वज्ञानवान् कृतकृत्य हो जाता है, इसलिए दैवत पुष्प है एवं अध्यात्म फल है, ऐसा कहा गया है। इस ऋक्मन्त्र का निरुक्त में यास्क ने भी उदाहरण दिया है। उसने भी इस मन्त्र के द्वारा ज्ञान की स्तुति एवं अज्ञान की निन्दा का उदाहरण विस्तार से कहा है। इसलिए वेदा-ध्ययन की भाँति 'जिसकी स्तुति की जाती है, उसका विधान किया जाता है' इस न्याय से अर्थ की भी विधि माननी चाहिए। इस लिए व्याकरण के महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने—'वेद का अध्ययन करना चाहिए एवं उसके अर्थज्ञान को भी सम्पादन करना चाहिए।' इस वचन से उसके अर्थ की विधि को स्पष्ट ही प्रदर्शन किया है।

इस प्रकार स्मृति-पुराण आदि शास्त्रों में महर्षि भी कहते हैं—'जिसने वेद का समग्र अध्ययन किया है एवं जिसने धर्मशास्त्र का भी अध्ययन किया है, परन्तु यदि वह उसके अर्थ को नहीं जानता है, तब उसका वह सब अध्ययन—जिस प्रकार तुष-छिलकों का कूटना—निष्फल हो जाता है—तिस प्रकार निष्फल हो जाता है।' अर्थात् तुष के कूटने की भाँति वृथा ही प्रयास है। 'जो द्विजाति—ब्राह्मणादि, अर्थ-वर्जित—वेद के पाठ करने में ही प्रीति-अभिरुचि रखते हैं, अर्थात् अर्थज्ञान सम्पादन के लिए प्रयत्न नहीं करते हैं उनका—'पशुओं की भाँति' बुद्धिमान् विद्वान् वाणीमात्र से भी सम्मान न करे।' इस प्रकार वेदार्थ को नहीं जानने वालों का पूजन-सम्मान भी नहीं करना चाहिए, इसलिए अर्थज्ञान आवश्यक है, यह इस श्लोक का अभिप्राय है। 'वेद-शास्त्र के अर्थतत्त्व का ज्ञाता जिस किसी आश्रम में निवास करे, परन्तु वह इस लोक में रहता हुआ भी ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के लिए समर्थ होता है।' इस प्रकार मनु महाराज, अर्थज्ञान से सम्पन्न-महापुरुष को महान्-फल का प्रतिपादन करता है। वेदार्थ का परिज्ञान न होने पर

र्थापरिज्ञाने दोषमाह—'न वेदपाठमात्रेण सन्तुष्टः स्यात् द्विजोत्तमः। पाठमात्रावसायी तु पङ्के गौरिव सीदति ॥ योऽधीत्य विधिवद्विप्रो न वेदार्थं विचारयेत्। स सान्वयः शूद्रसमः पात्रतां न प्रपद्यते ॥' (कूर्म. पु. २।८७+८८) इति वेदार्थज्ञानाभावे प्रत्यवायश्रवणात्तत्सत्त्वे चाभ्युदयसंभवादर्थज्ञानमावश्यकमिति सिद्धम्।

तथा च यो वेदमन्त्रानध्येति, तदर्थं च न जानाति, स खलु निन्द्यते। योऽध्येति च तदर्थं जानाति च स प्रशस्यते। 'ब्राह्मणेषु च वेदज्ञो ह्यर्थज्ञो ह्यधिकस्ततः।' (३।२९।३१) इति भागवते स्मरणात्। न च निन्दितस्याचरणं प्रशस्तस्य चानाचरणं युक्तम्। पातित्यप्रसङ्गात्। अतः आस्तिकैः श्रद्धालुभिः सर्वैरपि 'वयमनिन्द्याः प्रशस्याश्च स्याम' इति विभाव्य वेदमन्त्रा यथावदर्थज्ञानपूर्वकमेवोच्चारयितव्याः श्रोतव्याश्चेति।

कश्चिदत्र शङ्कते—ननु—वेदमन्त्रसंहितासु नास्त्यध्यात्मविद्या, तासां कर्मोपासनप्रकाशनपरत्वादध्यात्मविद्याशालित्वेनोपनिषदामेव प्रसिद्धत्वादिति चेन्मैवम्; संहितास्वपि विद्यते मुख्यतयाऽध्यात्मविद्या, परन्तु प्रायः सा निगूढा परोक्षत्वादिना

दोष कहते हैं—'द्विजोत्तम-ब्राह्मण वेदों के पाठमात्र से ही सन्तुष्ट न होवे, पाठमात्र के लिए ही प्रयत्न करने वाला तो 'कीचड में फँसी हुई गाय की भाँति' दुःखी होता है। जो विप्र-ब्राह्मण विधिपूर्वक वेदों का अध्ययन करके वेदार्थ का विचार नहीं करता है, वह अपने कुटुम्बसहित शूद्र के समान हो जाता है, पात्रता-योग्यता को प्राप्त नहीं होता है।' इससे—वेदार्थ का ज्ञान न होने पर प्रत्यवाय-पाप का श्रवण होता है, और वेदार्थ का ज्ञान होने पर अभ्युदय का सम्भव होता है, इसलिए अर्थज्ञान आवश्यक है, ऐसा सिद्ध हुआ।

तथा च जो वेदमन्त्रों का अध्ययन करता है, और अर्थ को नहीं जानता है, उसकी निश्चय से शास्त्रों के द्वारा निन्दा की जाती है। जो अध्ययन करता है, और उसके अर्थ को जानता है, उनकी प्रशंसा की जाती है। 'ब्राह्मणों में वेदज्ञ-वेदपाठी श्रेष्ठ है, और वेदपाठियों में अर्थज्ञ-विद्वान् श्रेष्ठ है।' ऐसा श्रीमद्भागवत में भी स्मरण किया गया है। निन्दित का आचरण एवं प्रशस्त का अनाचरण युक्त-समीचीन नहीं है। क्योंकि—ऐसा करने पर पातित्य की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए—सभी आस्तिक श्रद्धालुओं को—'हम अनिन्दित एवं प्रशंसनीय होवें' ऐसी भावना रख करके वेदमन्त्र यथावत्-अर्थज्ञानपूर्वक ही उच्चारण करने चाहिए एवं श्रवण करने चाहिए। इति।

कोई यहाँ शङ्का करता है—**शंका**—वेदों की मन्त्रसंहिताओं में अध्यात्मविद्या नहीं है, क्योंकि—संहिताएँ तो केवल कर्म एवं उपासना का ही प्रकाशन करती हैं। अध्यात्मविद्या से उपनिषत् ही सुशोभित हैं, यह प्रसिद्ध है।

समाधान—ऐसी शंका समीचीन नहीं है। क्योंकि—संहिताओं में भी मुख्य रूप से अध्यात्मविद्या विद्यमान है। परन्तु बहुत करके वह—परोक्षत्व आदि से प्रतिपादित होने के कारण

प्रतिपादितत्वात्। यदाहुर्निरुक्तकारा यास्काचार्याः—'तास्त्रिविधा ऋचः परोक्षकृता प्रत्यक्षकृता आध्यात्मिक्यश्च। तत्र परोक्षकृता सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते, प्रथमपुरुषैश्चाख्यातस्य। १।......अथ प्रत्यक्षकृता मध्यमपुरुषयोगास्त्वमिति चैतेन सर्वनाम्ना......। अथाध्यात्मिक्य उत्तमपुरुषयोगा अहमिति चैतेन सर्वनाम्ना... ।२। (नि. अ. ७ खं. २। दैवतकाण्डमिति)

तत्र 'इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः' (ऋ. १०।८९।१०) इत्यस्यामृचि परोक्षत्वेन 'त्वमिन्द्र! बलादधि' (ऋ. १०।१५३।२) इत्यस्यां प्रत्यक्षत्वेन 'अहमिन्द्रो न पराजिग्ये' (ऋ. १०।४८।५) इत्यस्यामाध्यात्मिकत्वेन चेन्द्रस्य प्रत्यगभिन्नस्य परात्मनः स्तुत्यस्य निरूपणं द्रष्टव्यम्। एवमन्यत्रापि।

ननु—'परोक्षकृताः प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः अल्पशश्चाऽऽध्यात्मिकाः' (नि. दै. अ. ६।३।२) इति निरुक्तकारेणाध्यात्मिकमन्त्राणामल्पत्वस्य तदन्यमन्त्राणामधिकत्वस्य च प्रतिपादनात्। स्वल्पैवाध्यात्मविद्या तत्र निश्चीयते इति चेन्नैवम्। भावानवबोधात्, यतः संहितासूत्तमपुरुषयोगविशिष्टा मन्त्राः स्वल्पाः सन्तीत्यभिधीयते, तेन नाध्यात्मविद्यायाः स्वल्पत्वं प्रतिपाद्यते, परोक्षत्वादिना तस्या एव वर्ण्यमानत्वात्। अत एव व्याख्यातं दुर्गाचार्येण—'आत्मानमेव स्तोतव्यमधिकृत्य येऽभि-

---

निगूढ-छिपी हुई है। निरुक्तकार-यास्काचार्य्य भी यही कहते हैं—'वे ऋक्‌मन्त्र तीन प्रकार के हैं, परोक्षकृत्, प्रत्यक्षकृत्, एवं आध्यात्मिक। उनमें परोक्षकृत्-मन्त्र, समस्त-नामविभक्तियों से एवं आख्यात-तिङन्त के प्रथम पुरुषों से संयुक्त रहते हैं। प्रत्यक्षकृत् मन्त्र मध्यम पुरुष से एवं 'त्वं' इस सर्वनाम से संयुक्त रहते हैं। तथा आध्यात्मिक मन्त्र, उत्तम पुरुष से एवं 'अहं' इस सर्वनाम से संयुक्त रहते हैं।' इति। उसमें—'इन्द्र स्वर्ग का एवं पृथिवी का ईश्वर-नियन्ता है।' इस ऋक्‌मन्त्र में परोक्षरूप से; 'हे इन्द्र! तू बल से अधिक-श्रेष्ठ है।' इस ऋक्‌मन्त्र में प्रत्यक्षरूप से, 'मैं इन्द्र हूँ, किसी से भी पराजित नहीं हो सकता।' इस ऋक्‌मन्त्र में आध्यात्मिकरूप से—स्तुति करने योग्य-प्रत्यगात्मा से अभिन्न-परमात्मारूप-इन्द्र का निरूपण देखना चाहिए। इस प्रकार अन्य मन्त्रों में भी।

शंका—'परोक्षकृत् एवं प्रत्यक्षकृत् मन्त्र बहुत हैं और आध्यात्मिक मन्त्र अल्प हैं।' इस वचन से निरुक्तकार यास्क ने आध्यात्मिक मन्त्रों की अल्पता का एवं उनसे अन्य-परोक्षकृत् आदि मन्त्रों की अधिकता का प्रतिपादन किया है। इसलिए संहिताओं में स्वल्प ही अध्यात्मविद्या है, ऐसा निश्चित होता है।

समाधान—ऐसा नहीं है। निरुक्तकार के भाव-तात्पर्य का अवबोध न होने से ही यह शंका उत्पन्न हुई है। क्योंकि—निरुक्तकार—'संहिताओ में उत्तम पुरुष के योग से विशिष्ट मन्त्र स्वल्प हैं' ऐसा कहते हैं, इससे अध्यात्मविद्या की स्वल्पता का प्रतिपादन नहीं होता। क्योंकि—परोक्षत्व, प्रत्यक्षत्व आदि से भी उसी ही अध्यात्मविद्या का वर्णन किया गया है। अत एव दुर्गाचार्य ने उस-निरुक्त का ऐसा ही व्याख्यान किया है—'स्तुति-गुणमहिमा के अनुसंधान से

व्यक्तास्त इह शास्त्रे आध्यात्मिका उच्यन्ते । ते च क्वचित् अल्पशो लक्ष्यन्ते । परोक्षकृताश्च प्रत्यक्षकृताश्च मन्त्रा भूयिष्ठाः=शाखान्तरेषु बहवः इत्यर्थः । तथा च स्पष्टमवगम्यते—क्वचिदाध्यात्मिकमन्त्राणां स्वल्पत्वेऽपि न सर्वत्र तत्त्वमिति ।

अत एव तत्र निगूढत्वेनावस्थितायाः अध्यात्मविद्यायाः प्रकटनार्थमेवाखिलेषु वेदमन्त्रेषु यथायोग्यं निखिलैरपि वैयाकरणैः पुरुषलिङ्गविभक्त्यादिव्यत्ययोऽभ्युपगम्यते । यदाहुः—'सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयङाञ्च । व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिद्ध्यति बाहुलकेनेति ॥' निरुक्तलक्षणमप्येतदेव सूचयति—'वर्णागमो वर्णविपर्य्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥' तदुक्तं दुर्गाचार्येण—'ऋच एव हि प्रायेणातितरामपिहितार्थाः ।' (नि. दु. अ. ६।३।२) इति । अत एव सोमेन्द्रवरुणार्यमबृहस्पत्यादिशब्दानां विलक्षणव्युत्पत्त्यादिकमाश्रित्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मपरत्वेनासां विवृत्तौ प्रतिपादनं समुपपन्नमेव । कर्मोपासनान्वितत्वेऽपि मन्त्राणामतिगाम्भीर्याद्वाचोभङ्ग्या समाधिभाषयाऽध्यात्मविद्याप्रकाशकत्वस्याप्यनौचित्यवर्जितत्वात् ।

चिन्तन करने योग्य-आत्मा का ही आश्रय करके जो मन्त्र अभिव्यक्त-प्रकट हुए हैं—वे इस शास्त्र में आध्यात्मिक मन्त्र कहे जाते हैं । वे मन्त्र कहीं अल्परूप से लक्षित होते हैं, परन्तु सर्वत्र नहीं । और परोक्षकृत्-एवं प्रत्यक्षकृत् मन्त्र, भूयिष्ठ है अर्थात् अन्य शाखाओं में बहुत हैं । तथा च स्पष्ट ही जाना जाता है कि—कहीं-शाखाविशेष में आध्यात्मिक-मन्त्र स्वल्प होने पर भी सभी वेदसंहिताओं की शाखाओं में आध्यात्मिक मन्त्र स्वल्प नहीं हैं । इति ।

इसलिए उसमें निगूढ-रूप से अवस्थित-अध्यात्मविद्या के प्रकटन के लिए ही वेदों के अखिल-मन्त्रों में योग्यता के अनुसार सभी वैयाकरणों ने भी पुरुषव्यत्यय, लिङ्गव्यत्यय, विभक्तिव्यत्यय आदि स्वीकार किया है । यह कहते हैं—'सुप्, तिङ्, उपग्रह-उपसर्गादि, पुल्लिङ्गादि लिङ्ग, प्रथमपुरुषादि-पुरुष, भूतादि काल, हल्, अच्, स्वर, कर्ता, एवं यङ् इन सब का वेदमन्त्रों में शास्त्रकार-विद्वान्-व्यत्यय करना चाहते हैं, वह व्यत्यय भी 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र में प्रतिपादित बाहुलक से सिद्ध होता है ।' इति । निरुक्त का लक्षण भी यही सूचित करता है—'वर्णों का आगम-प्राप्ति, एवं वर्णों का विपर्य्यय, और वर्णों का विकार एवं नाश, ये दो और हैं, धातु का उसके विशिष्ट-अर्थ से योग-सम्बन्ध करना, इस प्रकार निरुक्त-पंचप्रकार का कहा जाता है ।' इति । यह निरुक्तव्याख्याकार दुर्गाचार्य्य ने भी कहा है—'ऋक्मन्त्र ही प्रायः अत्यन्त निगूढ-छिपे हुए-अर्थ वाले हैं ।' इति । इसलिए सोम, इन्द्र, वरुण, अर्यमा, बृहस्पति, आदि शब्दों का—विलक्षण-व्युत्पत्ति आदि का आश्रय करके—प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मरूप अर्थपरक इस विवृत्ति में प्रतिपादन करना सम्यक्-युक्तियुक्त ही है । ऋक्मन्त्र—कर्म एव उपासना से अन्वित होने पर भी—अतिगम्भीर होने के कारण—वाणी की भङ्गि-रचनाविशेषरूप-समाधि-भाषा के द्वारा—अध्यात्म-विद्या के प्रकाशक हैं, ऐसा मानने में औचित्य-योग्यता का वर्जन-परित्याग नहीं होता है ।

तथा चाहुः—'तत्रैतदवगन्तव्यं ऋषयः संहितामिमां । नानाविधैरभिप्रायैर्दृष्ट्वा जग्मुः दिवं प्रति ॥ (ऋ. अ. भा. माधवभट्टाः) 'समाधिभाषा प्रथमा लौकिकीति परा मता । तृतीया परकीयेति शास्त्रभाषा त्रिधा मता ॥' (भा. सं.) इति । अतः प्रथमयाऽध्यात्मतत्त्वस्य प्राधान्यतः, द्वितीयया लौकिकार्थकामस्य, तृतीयया पारलौकिकधर्मदेवादेर्विवेचनमस्यां विवृत्तौ यथायोगं विधास्यामः । ननु—'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा' (ऋ. १।३२।१५) 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।' (ऋ. १०।१२१।१) 'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानाम् ।' (तै. ब्रा. २।४।३) इत्यादिश्रुतिषु इन्द्रादीनामनेकेषां देवानां निरङ्कुशैश्वर्यस्य श्रुततयाऽनेकसर्वेश्वरत्ववादः प्रसक्तः स्यादिति, चेन्नैवम् । बहूनां तेषां विकल्पेन न सर्वेश्वरत्वसम्भवः, क्रियायामिव वस्तुनि विकल्पायोगात् । नापि समुच्चयेन परस्परेशितृत्वापत्तेः, नापि कल्पभेदेन, तेषामैश्वर्यस्य कालतः परिच्छिन्नतया निरङ्कुशत्वाभावात्, न कस्यापि सर्वे-

---

तथा च ऋग्वेदानुक्रमणिका नामक ग्रन्थ में माधवभट्ट भी कहते हैं—'इस विषय में यह जानना चाहिए—कि—हमारे पूर्वज ऋषि, इस ऋग्वेदसंहिता को नाना प्रकार के अभिप्रायों से देख करके स्वर्ग के प्रति चले गये हैं ।' इति । 'समाधिभाषा प्रथम-मुख्य है, इसके बाद द्वितीय लौकिकी भाषा है, एवं परकीया यह तृतीय भाषा है, इस प्रकार शास्त्रों की तीन प्रकार की भाषा मानी गई है ।' इति । इसलिए प्रथमा-समाधिभाषा के द्वारा प्रधानरूप से अध्यात्मतत्त्व का एवं द्वितीय-लौकिकी भाषा के द्वारा लोकप्रसिद्ध-अर्थ काम का, एवं तृतीय-परकीय भाषा द्वारा पारलौकिक-धर्म-देव आदि का विवेचन, इस विवृत्ति में योग्यता का अतिक्रमण न करके—करेंगे ।

शंका—'इन्द्र स्थावर-जंगम-चराचर विश्व का राजा है ।' 'हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा इस अखिल विश्व के अग्र-आदि में वर्तमान था, वही उत्पन्न होने वाले समग्र-भूतों का एकमात्र-पति-स्वामी था ।' 'देवताओं के मध्य में एकमात्र अग्नि ही आदि में मुख्य था ।' इत्यादि श्रुतियों में इन्द्र आदि अनेक-देवों का निरङ्कुश-स्वतन्त्र-ऐश्वर्य सुनने में आता है, इसलिए अनेक-सर्वेश्वरत्ववाद की प्रसक्ति हो जाती है ।

समाधान—अनेक सर्वेश्वरत्ववाद समीचीन नहीं है । क्योंकि—उन इन्द्र-हिरण्यगर्भ आदि बहुत-देवों में विकल्प से सर्वेश्वरत्व का सम्भव नहीं है, क्रिया में जिस प्रकार विकल्प होता है, तिस प्रकार वस्तु में विकल्प नहीं हो सकता, अर्थात् जो कोई एक देव सर्वेश्वर है, वह किसी समय उस-सर्वेश्वरत्व के अभाव से युक्त नहीं हो सकता एवं जो कोई एक देव प्रथम सर्वेश्वर नहीं था, वह पीछे से सर्वेश्वर बन जाय, ऐसा नहीं हो सकता । जो यथार्थरूप से जैसा होता है वह वैसा ही रहता है । एवं उन-अनेक देवों के समुच्चय-समुदाय में भी सर्वेश्वरत्व का सम्भव नहीं है, क्योंकि—परस्पर-ईशितृत्व-नियन्तृत्व की प्राप्ति हो जाती है, इसलिए किसी में भी सर्वेश्वरत्व नहीं हो सकता । कल्पों के भेद से भी अर्थात्-किसी कल्प में इन्द्र सर्वेश्वर एवं अन्य कल्प में हिरण्यगर्भ आदि—सर्वेश्वर हो जाय—ऐसा भी नहीं हो सकता है, क्योंकि—उन-देवों के—जो किसीएक कल्पविशेष में सर्वेश्वर बने हैं—उनके—ऐश्वर्य में काल से परिच्छिन्न होने के कारण—निरङ्कुशत्व का अभाव हो जाता है,

श्वरत्वं स्यात् । तस्मात्तादृशेषु श्रुतिवचनेषु मिथो व्याहतिं परिहर्तुं सर्वेश्वरत्वं प्रतिष्ठापयितुञ्च विभिन्ननामभिः प्रतिपादितस्यैकत्वं युक्तमभ्युपगन्तुम् । तथा च यद्यपि वेदमन्त्रेषु तेषु स्थूलबुद्ध्याऽऽपाततोऽनेकसर्वेश्वरत्ववाद उपलभ्यते । तथापि सूक्ष्मेक्षिकया पर्यालोच्यमानेषु तेषु स्पष्टतः समानलक्षणयोगेनान्ततो गत्वा 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. १।१६४।४६) इत्यादिश्रुतिसिद्धव्यवस्थामनुसृत्य कस्मिँश्चित्-एकस्मिन्नेव सर्वानुगते पूर्णलक्षणे तत्त्वे सर्वेश्वरत्वं प्रतिष्ठाप्यते मतिमद्भिः ।

अत एव सर्वासामपि देवतानामन्तर्यामी इन्द्र एवात्मा, इन्द्रः परमात्मैव सर्वा देवता, तत्रैव सर्वा तद्विभूतिरूपेणावस्थिताः । न ततो वस्तुतः पृथग्भूता भवन्तीति वैदिकसिद्धान्तं दर्शयितुं सर्वस्य देवजातस्य सर्वेश्वरत्वप्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वलक्षणमिन्द्रत्वं प्रतिपादयन्ति यजूंषीमानि तेषामेकत्वं द्रढयितुं प्रवर्तन्ते-'अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे सविता च म इन्द्रश्च मे सरस्वती च म इन्द्रश्च मे पूषा च म इन्द्रश्च मे बृहस्पतिश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ पृथिवी च म इन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे

इसलिए किसी भी देव में सर्वेश्वरत्व सिद्ध न होगा। इसलिए उस प्रकार के श्रुति-वचनों में परस्पर व्याघात का परिहार करने के लिए—एवं सर्वेश्वरत्व की प्रतिष्ठा करने के लिए—विभिन्न-नामों से प्रतिपादित—परमेश्वर के एकत्व का स्वीकार करना युक्त-समीचीन है। तथा च यद्यपि उन वेदमन्त्रों में स्थूल-बुद्धि से आपाततः अनेक-सर्वेश्वरत्ववाद उपलब्ध होता है, तथापि—सूक्ष्म-दृष्टि से पर्यालोच्यमान-उन मन्त्रों में स्पष्ट ही समान-लक्षण के सम्बन्ध से अन्त में जा कर—'एक ही उस परमात्मा का तत्त्वदर्शी-विद्वान् बहुनामों से एवं बहुरूपों से प्रतिपादन करते हैं।' इत्यादि श्रुति से सिद्ध-व्यवस्था का अनुसरण करके—किसी-एक ही-सर्वानुगत-पूर्ण लक्षण वाले-तत्त्व-स्वरूप में सर्वेश्वरत्व की मतिमान्-विद्वान्-प्रतिष्ठा करते हैं।

अत एव-सभी उन-देवताओं का भी अन्तर्यामी-इन्द्र ही आत्मा है, इन्द्र परमात्मा ही सर्व देवता है, उसमें ही सब देवता उस-परमात्मा की विभूतिरूप से अवस्थित हैं, उस इन्द्र से वस्तुतः पृथक्रूप नहीं हैं, ऐसे वैदिक-सिद्धान्त का प्रदर्शन करने के लिए—समस्त-देवसमुदाय में—सर्वेश्वरत्व-प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वलक्षणवाले इन्द्रत्व का प्रतिपादन करते हुए-ये यजुर्मन्त्र, उन सब के एकत्व को दृढ कराने के लिए—प्रवृत्त होते हैं—'अग्नि भी इन्द्र है, सोम भी इन्द्र है, सविता भी इन्द्र है, सरस्वती भी इन्द्र है, पूषा भी इन्द्र है, बृहस्पति भी इन्द्र है, वे सब इन्द्र-परमात्म-स्वरूप अग्नि आदि देव, यज्ञ के द्वारा मेरे अनुकूल-सहायक हों। मित्र भी इन्द्र है, वरुण भी इन्द्र है, धाता भी इन्द्र है, त्वष्टा भी इन्द्र है, मरुत् भी इन्द्र है, विश्वदेव भी इन्द्र है, वे सब इन्द्ररूप देव, यज्ञ के द्वारा हमारे अनुकूल हों। पृथिवी भी इन्द्र है, अन्तरिक्ष भी इन्द्र है,

द्यौश्च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥' (शु. य. १८।१६–१७–१८) इति ।

अत्र किलाग्निसोमादिसकलदेवस्येन्द्राभिन्नत्वं दर्शयितुं तदभिन्नाभिन्नस्य तद्भिन्नत्वन्यायेन तेषां मिथो भेदमपि निराकर्तुं एकस्यैव सर्वेश्वरत्वं गमयितुञ्चाग्न्यादि-प्रत्येकपदेन सहेन्द्रपदं प्रयुक्तम् । 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ. ६।४७।१८) इत्यादिश्रुत्या परमात्मैवेन्द्रः समधिगतः । स एव सर्वेश्वर एकोऽखिलदेवतास्वरूपः 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ. १०।११४।५) इत्यादिश्रुत्यन्तरात् । अत्ति-भुङ्क्त इत्यग्निर्भोक्ता जीवः सोऽपीन्द्र एव, मेऽस्त्वितिं सर्वत्र सम्बन्धः । उमया भगवत्या सहितः सोमः=ईश्वरः सोऽपीन्द्रः परमात्मा । तत्रैवेश्वरत्वाध्यवसायात् । 'षूङ् प्राणि-प्रसवे' इति धातोः सविता सृष्टिकृत् ब्रह्माऽऽदित्यो वा सोऽपीन्द्रः । सरस्वती-प्रज्ञा-शक्त्यधिष्ठातृदेवता साऽपीन्द्र एव । 'लोके स्त्रीवाचकं यच्च यच्च पुंशब्दवाचकम् । परमेव हि तत्तत्त्वमवेहि व्यासनन्दन ! ॥' इति स्कान्दोक्तेः । पुष्णाति सकलदेहं सर्वलोकान् चेति पूषाऽहङ्कारोपाधिजीवो वा कश्चित् देवो वा सोऽपीन्द्र एव । स एव

द्यौ-स्वर्ग भी इन्द्र है, समा-संवत्सर की अधिष्ठातृ-देव भी इन्द्र है, नक्षत्र भी इन्द्र हैं, दिशाएँ भी इन्द्र हैं, वे सब इन्द्राभिन्न देव, यज्ञ के द्वारा मेरे रक्षक हों।' इति ।

इस मन्त्र में निश्चय से अग्नि-सोम आदि सकल-देव में इन्द्र-परमात्मा से अभिन्नत्व का प्रदर्शन करने के लिए—'उस से अभिन्न से अभिन्न का भी उससे अभिन्नत्व है' (जिस प्रकार घट से अभिन्न-मृत्तिका से अभिन्न-शराव का घट से भी अभिन्नत्व हो जाता है, तिस प्रकार अग्नि से अभिन्न-इन्द्र-परमात्मा से अभिन्न-सोम का भी अग्नि से अभिन्नत्व हो जाता है) इस न्याय से उन अग्नि-सोमादिकों के परस्पर भेद का भी निराकरण करने के लिए—एवं एक ही में सर्वेश्वरत्व का ज्ञापन करने के लिए—अग्नि आदि प्रत्येक पद के साथ इन्द्रपद का प्रयोग किया गया है। 'इन्द्र-परमात्मा मायाओं के द्वारा बहुरूप-सा हुआ प्रतीत होता है।' इत्यादि श्रुति के द्वारा इन्द्र परमात्मा ही है, ऐसा अच्छी प्रकार से जाना गया है। वही एक सर्वेश्वर है एवं निखिलदेवतास्वरूप है। 'एक ही विद्यमान-परमात्मा की बहुरूप से विद्वान् कल्पना करते हैं।' इत्यादि-अन्य श्रुति से भी यही-अर्थ सिद्ध होता है। अत्ति यानी भोगता है इस व्युत्पत्ति से अग्नि अर्थात् भोक्ता जीव, वह भी इन्द्र ही है 'मेऽस्तु' इस पद का सर्व में सम्बन्ध है। उमा-भगवती के सहित जो सोम-ईश्वर है, वह भी इन्द्र परमात्मा है, क्योंकि-उस सोम-महेश्वर में ही ईश्वरत्व का निश्चय होता है। 'षूङ्'-प्राणियों के प्रसव-उत्पत्ति अर्थ का धातु है, उससे सिद्ध होने वाला सविता पद सृष्टिकर्ता ब्रह्मा या आदित्य का बोधक है, वह भी इन्द्र है। प्रज्ञा-बुद्धि-शक्ति की अधिष्ठात्री-देवता सरस्वती है, वह भी इन्द्र है। 'हे व्यासनन्दन! शुकदेव! लोक में जो जो स्त्रीवाचक पदार्थ है, एवं जो जो पुरुष-वाचक पदार्थ है, वह सब यावत् चराचर पदार्थ परमतत्त्वस्वरूप-परमात्मा ही है, ऐसा तू निश्चय से जान' इस स्कन्दपुराण के कथन से भी पूर्वोक्त ही अर्थ सिद्ध होता है। सकल देह का एवं सर्व लोकों का जो भरण-पोषण करता है, वह पूषा, अहंकार-उपाधिवाला विशिष्ट-जीव या

बुद्ध्यधिष्ठाता लोकविशेषाधिष्ठाता वा बृहस्पतिः। स एव मृत्योस्त्रायत इति मित्रो मनसस्पतिः 'मनो हि भयधैर्याभ्यां रोगारोग्ये प्रसूचयेत्।' इति याज्ञवल्क्योक्तेः। स एव वरुणः, त्वष्टा, धाता इत्यादिः। तत्तदात्मा इन्द्र एव। पृथिव्यादयोऽपि तदंशत्वात् तद्रूपा एव। यज्ञेन-साधनेन इष्टं पुरुषार्थं सम्पादयितुं इन्द्ररूपा त एते कल्पन्तां=समर्था भवन्तु इत्यर्थः।

तदेतदुक्तं शतपथेऽपि-'तस्मादाहुरिन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवा इति' (श. ब्रा. १।६।३।२२) इति। एवमाथर्वणेऽपि-'स एति सविता महेन्द्रः स धाता विधर्ता स वायुः सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः॥ सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः।' (अथर्व. १३।४।१-५) इति। अत एव पञ्चदश्यां सकलविद्यानिधानैर्विद्यारण्यस्वामिभिरप्युक्तं-'ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेन्द्रवह्नयः। विघ्नभैरवमैरालमरिकायक्षराक्षसाः॥ विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः। अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः॥ जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः। ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः॥' (चित्रदीप. १०६-७-८) इति। एतैः-ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं

कोई देव है, वह भी इन्द्र ही है। वह इन्द्र-परमात्मा ही बुद्धि का अधिष्ठाता या लोकविशेष का अधिष्ठाता बृहस्पति है। वह इन्द्र ही जो मृत्यु से त्राण-रक्षण करता है, वह मित्र मन का पति-रक्षक है। 'मन ही भय के द्वारा रोग की, एवं धैर्य के द्वारा आरोग्य की सूचना देता है।' इस याज्ञवल्क्य के कथन से भी यही सिद्ध होता है। वह इन्द्र ही वरुण, त्वष्टा, धाता इत्यादि सर्व देवतारूप है, उन-उन सब देवों का आत्मा इन्द्र ही है। पृथिवी आदि पदार्थ भी उस इन्द्र परमात्मा के अंश-रूप होने से तद्रूप ही हैं। यज्ञ-साधन के द्वारा इष्ट-पुरुषार्थ का सम्पादन कराने के लिए इन्द्ररूप वे सब देव समर्थ हों।

वही यह शतपथब्राह्मण में भी कहा है-'इसलिए इन्द्र ही सर्व देवता है, अतः सब देव इन्द्र श्रेष्ठ हैं, अर्थात् इन्द्र परमात्मा ही उन सब देवों के मध्य में श्रेष्ठ है ऐसा विद्वान् कहते हैं।' इस प्रकार आथर्वण-संहिता में भी कहा है-'वही महान् इन्द्र सविता हो जाता है, वही धाता, विधर्ता है, वही वायु है, वह अर्यमा है, वह वरुण है, वह रुद्र है, वह महादेव है, वह अग्नि है, वही सूर्य है, वही महायम है।' इति। इसलिए पञ्चदशी ग्रन्थ में सकल-विद्याओं के निधान-विद्यारण्यस्वामीजी ने भी कहा है-'मायाविशिष्ट-ईश्वर, अपञ्चीकृत-सूक्ष्मसमष्टि-भूतोपहित-हिरण्य-गर्भ सूत्रात्मा, पञ्चीकृत-स्थूल-समष्टि-भूतोपहित-विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, शङ्कर, इन्द्र, अग्नि, विघ्न-हर्ता-गणेश, भैरव, मैराल, मरिका, यक्ष, राक्षस, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गाय, अश्व, मृग, पक्षी, अश्वत्थ, वट, आम, आदि वृक्ष, यव, व्रीहि, तृण आदि औषधियाँ, जल, पत्थर, मिट्टी, लकडी, बसुला, कुदाला आदि, ये सब ईश्वरस्वरूप ही हैं, ईश्वरभावना से उनको पूजने पर वे इष्ट फल का भी प्रदान करते हैं।' इति। इन श्लोकों के द्वारा 'ब्रह्मा से ले कर स्तम्बपर्यन्त वस्तु-

वस्तुजातं प्रत्येकं चेश्वरत्वेनावलोक्यतां पूज्यताञ्चेति सर्वत्राभेददर्शनलक्षणं तत्त्वज्ञानमुपदिष्टम् ।

एवं तैरप्याचार्य्यप्रवरैः-प्रश्नोत्तराभ्यां परमेश्वरस्यैकत्वमनन्यत्वलक्षणमभिहितं-बृहदारण्यकवार्तिकसारे-'पर एव प्रविष्टश्चेत्प्रविष्टानामनेकता । तदनन्यत्वतः प्राप्ता महेशस्याप्यनेकता ॥ नैष दोषोऽस्य चोद्यस्य विपरीतत्वसम्भवात् । बहूनामेकतादात्म्यादेकत्वं किं न चोद्यते? । नियामकश्चागमोऽत्र स च भेदं निवारयेत् । कल्प्यैः सर्पादिभिर्भेदैर्न च रज्जुर्विभिद्यते । एको देवो निविष्टोऽत्र बहुधेति श्रुतीरणात् । वियद्वदेक एवैष ईश्वरोऽभ्युपगम्यताम् ॥' इति । इदमेवास्ति हि-'सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत्' (शु. य. ४०।७) इति श्रुतिगम्यं-'बहूनां सर्वभूतानां तदुपाधिकानां समेषां देवादीनामपि एकस्मिन्नात्मन्येव तदभिन्नरूपेणोपसंहारविभावनम् ।' एवं-'एकत्वमनुपश्यतः' (शु. य. ४०।७) इति श्रुतिज्ञाप्यं-'अनेकेषु तेषु सर्वेषु मिथो विषमेष्वपि एकत्वस्य समत्वस्यानुदर्शनमेव ।' 'विजानतः' (शु. य. ४०।७) इति श्रुतिगम्यं निश्चितं वैदिकं श्रद्धेयमध्यात्मतत्त्वविज्ञानं, तदेतत्सरहस्यं तत्र तत्र यथायथं वयं प्रदर्शयिष्यामः ।

समुदाय को एवं प्रत्येक वस्तु को भी ईश्वररूप से अवलोकन करो तथा पूजन करो।' ऐसे सर्व में अभेद दर्शन के लक्षण वाले-तत्त्वज्ञान का उपदेश दिया।

इस प्रकार उन्ही आचार्य्यप्रवर विद्यारण्यस्वामी ने प्रश्न एवं उत्तर के द्वारा परमेश्वर के अनन्यत्व लक्षण वाले एकत्व का-बृहदारण्यक-वार्तिकसार ग्रन्थ में कथन किया है-'परमात्मा ही यदि इन सर्वभूतों में प्रविष्ट हुआ है, इसलिए अनेक-भूतोपाधिक-प्रविष्ट-देवादि-जीवों की अनेकता होने से, उनके साथ अनन्यता-अभिन्नता होने के कारण महेश्वर-परमात्मा में भी अनेकता प्राप्त हो जाती है। यह शंकारूप दोष समीचीन नहीं है, क्योंकि-इस शंका में विपरीतत्व का भी सम्भव है। बहुतों का एक-परमात्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण, उनमें एकत्व-प्राप्ति की शंका क्यों नहीं की जाती है? अर्थात् जैसे अनेक से एक का तादात्म्य होने से एक भी अनेक हो जायगा ऐसी तू शंका करता है, वैसे एक से अनेक का तादात्म्य होने से अनेक भी एक क्यों नहीं हो जाँय, ऐसी विपरीत शंका तू क्यों नहीं करता? । इस विषय में नियामक-व्यवस्था करने वाला आगम-शास्त्र है, वह भेद का निवारण करता है । कल्पित-सर्पादि के भेदों से रज्जु विभिन्न नहीं होती है । 'एक ही देव इस विश्व में बहुरूपों से प्रविष्ट है,' इस श्रुति के कथन से आकाश की भाँति एक ही इस ईश्वर का स्वीकार करना चाहिए।' इति । यही निश्चय से है-'सर्व चराचर-भूत आत्मा ही होगए' इस श्रुति से लक्षित-बहु-सर्व भूतों का एवं भूतोपाधिवाले सभी देवादियों का भी एक आत्मा में ही उस के साथ अभिन्नरूप से उपसंहार का विभावन, एवं 'एकत्वमनुपश्यतः' इति श्रुति से ज्ञापनीय-अनेक उन सर्वों में-जो परस्पर विषम भी हैं-एकत्व का-समत्व का अनुदर्शन ही-'विजानतः' इस श्रुति से बोध्य-निश्चित-संशय रहित-श्रद्धेय-वैदिक-अध्यात्म-तत्त्व विज्ञान । वही यह रहस्य सहित-व्याख्येय-उस-उस मन्त्र में यथायोग्य हम प्रदर्शन करेंगे।

ननु–प्रसिद्धमहिमशालिभिर्बृहदारण्यकछान्दोग्याद्युपनिषद्भिरेवाद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वस्य महता समारम्भेण प्रतिपादितत्वात् ताभिरेव कृतकार्यत्वात् ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकादेरस्य किं पृथक् प्रयोजनम्? इति चेत्; बाढम्। पृथक्प्रयोजनाभावेऽपि ये केचनाद्यतना वावदूकाः–ब्राह्मणभागो न वेदः, अपि तु ऋषिप्रणीतं वेदव्याख्यानमेव, तत्रत्या उपनिषदो बृहदारण्यकाद्या इमा न वेदोपनिषदः, वेदस्तु ऋगादिमन्त्रसंहिता एव, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादिमहावाक्यानि न वेदस्यापि तु ब्राह्मणभागस्य, अत एवाचार्यस्य जगद्गुरु-शङ्करस्वामिनोऽद्वैतसिद्धान्तो ब्राह्मणभाग एव प्रतिष्ठितः, न ऋग्वेदादिमन्त्रसंहितासु, इत्यादिकमनर्गलं प्रलपन्ति, तेषामेतादृशं वचनमाकर्ण्य सन्ति ये विशिष्ट-विद्यासामर्थ्यरहिता अद्वैतसिद्धान्तरसिका भक्ताः, तेषां चित्तं संखिद्यते। अत एव तेषां वावदूकानां मुखपिधानाय, अद्वैतभक्तानाञ्च खेदापनयाय मन्त्रसंहितास्वप्यभिवर्णितो विद्यते विमलोऽद्वैतसिद्धान्तः, सन्ति तत्रापि जीवब्रह्मैक्यप्रतिपादकानि महावाक्यानि, इत्यादिनिरूपणपरस्यास्य ऋग्वेदसंहितोपनिषदादेर्विद्यते किमपि विशिष्टं प्रयोजनम्। यद्यप्यस्ति ब्राह्मणभागस्यापि वेदत्वं, प्रतिपादितञ्च विद्वद्भिरनेकप्रमाणयुक्त्यादिभिस्तत्। तथापि ग्रन्थविस्तरभयादिह तन्नास्माभिर्निरूप्यते।

शंका–प्रसिद्ध महिमा वाले-बृहदारण्यक-छांदोग्य-आदि-उपनिषदों ने ही अद्वितीय-ब्रह्मात्मतत्त्व का महान्-समारम्भ के द्वारा प्रतिपादन किया है, इसलिए उनके द्वारा ही अद्वैत ब्रह्म का प्रतिपादनरूप-कार्य, कृत-साधित होने के कारण, 'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक' आदि इस ग्रन्थ का क्या पृथक् प्रयोजन है?

समाधान–ठीक है। इस का पृथक् प्रयोजन न होने पर भी-जो कोई इस वर्तमान-समय के वक्रवादी लोग कहते हैं कि–'ब्राह्मणभाग वेद नहीं है, किन्तु ऋषियों के द्वारा बनाया गया वेदों का व्याख्यान ही है, इसलिए उन ब्राह्मणभागों की बृहदारण्यक आदि ये उपनिषदें, वेद की उपनिषत् नहीं हैं, वेद तो ऋक् आदि मन्त्रसंहिता ही है, इसलिए 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि जीवब्रह्मैक्यबोधक महावाक्य, वेद के नहीं हैं, किन्तु ब्राह्मण-भाग के हैं, अत एव आचार्य-जगद्गुरु-शंकरस्वामी का अद्वैतसिद्धान्त ब्राह्मणभाग में ही प्रतिष्ठित है, ऋग्वेदादिमन्त्रों की संहिताओं में अद्वैतसिद्धान्त प्रतिष्ठित नहीं है।' इत्यादि अनर्गल-जो प्रलाप करते हैं। उन-मिथ्यावावदूकों के इस प्रकार के वचनों को सुन कर–जो विशिष्ट-वेदादिविद्या के सामर्थ्य से रहित-अद्वैत-सिद्धान्त के रसिक-भक्त हैं, उन का चित्त अत्यन्त खिन्न हो जाता है। इसलिए-उन-मिथ्या प्रलापियों के मुख को बंद करने के लिए एवं अद्वैत-भक्तों के खेद का निवारण करने के लिए–मन्त्र-संहिताओं में भी विमल-अद्वैतसिद्धान्त अभिवर्णित है, उनमें भी जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादक महावाक्य विद्यमान हैं, इत्यादि निरूपण करने में परायण-इन-'ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतक' आदि शतकों का कुछ विशिष्ट प्रयोजन है। यद्यपि ब्राह्मणभाग भी वेद ही है, विद्वानों ने अनेक-प्रमाण एवं युक्ति आदि के द्वारा उस विषय का प्रतिपादन भी किया है। तथापि ग्रन्थविस्तार के भय से हम यहाँ उसका निरूपण नहीं करते हैं।

अपि च 'मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।' (वि. चू.) 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी. १८।५५) 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' इत्यादिवचनैरवगम्यते–ब्रह्मात्माद्वैतज्ञानस्य गुरुतरं साधनं भक्तियोग एवेति। स च भक्तियोग उपासनप्रधानः। उपासना च साकारस्य सविशेषस्यैव परमात्मनो भवति, न तु निराकारस्य निर्विशेषस्य परब्रह्मणः। 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।' इति केनश्रुतेः, अतः सविशेषं सगुणं ब्रह्मैवोपास्यं भवति। निर्विशेषं निर्गुणं ब्रह्म तु ज्ञेयमेव नोपास्यम्। इत्यस्ति शास्त्रस्य निश्चितः सिद्धान्तः। तमपि ये नास्ति मन्त्रसंहितासु साकारवादः, अवतारवादः, इत्यादिजल्पनेनाक्षिपन्ति। तदाक्षेपं परिहर्तुं मन्त्रोपनिषच्छतकेषु एषु तत्र तत्र साकारवादादयः, एवमात्मज्ञानानुकूलानि लोकाभ्युदयप्रयोजकानि भगवत्प्रार्थनासुचरितशिक्षणादीनि अपि निरूप्यन्ते।

ननु–यत्र तत्रावस्थितानां मन्त्राणां क्रमविहीनं शतकमेव कथं व्याख्यायते? क्रमशः सर्वे मन्त्रा व्याख्यायन्ताम्, इति चेत्सत्यम्। परमेशानानुग्रहात्तदपि कदाचित् सिद्ध्यतु नाम, तच्छोभनमेव, परन्त्वधुनाऽद्यतनानां जनानां खलु प्रत्यग्रसंस्कारकालविशेषप्रभावात् समग्रवेदार्थपरिशीलनविमुखानामलसानामल्पायासेन सारभूतबह्वर्थबुभुत्सूनां कृतेऽयमस्मदीयः प्रयासो वेदितव्यः। अपि च मन्त्रेषु एषु

और 'मोक्षसम्पादक-कारण सामग्री में भक्ति ही अत्यन्त गुरुभूत साधन है।' 'भक्ति से ही वह मुझको सम्यक् जान जाता है।' 'भगवद्भक्ति ही ज्ञान सम्पादन कराने के लिए समर्थ होती है।' इत्यादि-वचनों के द्वारा जाना जाता है कि–ब्रह्मात्मा के अद्वैतज्ञान का अत्यन्त गुरुभूत-साधन भक्तियोग ही है। वह भक्तियोग उपासना प्रधान है। उपासना साकार-सविशेष परमात्मा की ही होती है, निराकार निर्विशेष-परब्रह्म की उपासना नहीं हो सकती। 'उसी ही निर्विशेष-परब्रह्म को तू जान, इस सविशेष-ब्रह्म को न जान, जिसकी उपासना करते हैं।' इस केनोपनिषत् की श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। इसलिए-सविशेष-सगुण-ब्रह्म ही उपास्य है निर्विशेष-निर्गुण-ब्रह्म तो एक मात्र ज्ञेय है, उपास्य नहीं है, ऐसा शास्त्र का निश्चितसिद्धान्त है। उस सिद्धान्त के उपर भी जो लोग–मन्त्रसंहिताओं में साकारवाद एवं अवतारवाद नहीं है, इत्यादि प्रलाप के द्वारा आक्षेप करते हैं। उस आक्षेप का परिहार करने के लिए इन-मन्त्रोपनिषत् के शतकों में वहाँ-वहाँ-स्थलविशेषों में साकारवाद, अवतारवाद आदि का, एवं आत्मज्ञान के अनुकूल-परम्परया साधक, एवं लोकों के अभ्युदयों के प्रयोजक-भगवान् की प्रार्थना, सुचरित्र की शिक्षा आदि का भी निरूपण किया जाता है।

शंका–जहाँ तहाँ के विभिन्न-मण्डलादियों में अवस्थित-मन्त्रों का शतक-जो क्रम से विहीन है–उसका ही क्यों व्याख्यान करते हैं? क्रम से सभी मन्त्रों का व्याख्यान करें।

समाधान–यह कहना आप का सत्य है। परमेश्वर के अनुग्रह से यह भी कभी सिद्ध हो जाय, वह अच्छा ही है। परन्तु इस समय तो–इस वर्तमान समय के जो लोग-नवीन संस्कारों के प्रभाव से एवं कालविशेष के प्रभाव से समग्र-वेदार्थ के परिशीलन से विमुख हैं, आलसी हैं, अल्पप्रयास से सारभूत-बहु-अर्थों के जानने की इच्छा रखते हैं–उनके लिए ही यह

उपनिषच्छैली अनुक्रियते, अत एव तेषां ऋषिछन्दोदेवतास्वरादयोऽत्र न प्रदर्शिताः। आकरात्ते जिज्ञासुना प्रत्येतव्याः । व्याख्यानेऽपि तत्र तत्र संध्यभावः स्पष्टप्रतिपत्तये बुद्धिपूर्वक एव विहितः । 'वाक्ये सा विवक्षामपेक्षते' इति वचनात् ।

किञ्चात्र यथामति यथाशक्ति च सरलैरेव शब्दैर्विवृत्तिलेखनेऽस्माभिः प्रयतितम् । येनाध्येतॄणां सज्जनानां झटिति स्वच्छः सुबोधः सम्पद्येत । तत्र कियन्नः साफल्यं जातमित्यत्र विचक्षणा मतिमन्तः पाठका एव प्रमाणम् । अपि चास्या लेखने येभ्यः पूज्येभ्यः पूर्वाचार्य्येभ्यो विद्वद्भ्यो बहुमूल्यं साहाय्यमासादितं, तेभ्यः सादरमद्वैतभावनां पुरस्कृत्य सप्रणतिधन्यवादराशीन् सुतरां समर्पयामः । पुनश्चेदमन्ते विदुषाममत्सराणां विनिवेदयामः—

व्याख्यासु यद्भवति रम्यमिदं प्रशस्य, स्याच्चेदवद्यमिह यत्तदिदं विशोध्य ।
कुर्वन्तु मार्मिकबुधाः कृतिनः कृतित्वं, विद्वद्भिरादृतमुपैति हि धन्यभावम् ॥ इति ।

चांदीवली–
कृष्णभुवन, बम्बई ।
वि० सं० २००० फाल्गुन
वदी ११ सोमवार

—सुधीजनवशंवदस्य
स्वामिमहेश्वरानन्दस्य
मण्डलेश्वरस्य

हमारा प्रयास है, ऐसा जानना चाहिए । और भी-इन-मन्त्रों में उपनिषदों की शैली-पद्धति का ही हमने अनुकरण किया है । इसलिए इन मन्त्रों के-ऋषि, छन्द, देवता, स्वर आदि का हमने यहाँ प्रदर्शन नहीं किया है । जिज्ञासु को-सायणभाष्यादि-आकर-ग्रन्थ से जान लेने चाहिए। व्याख्यान में उस-उस-स्थल-विशेष में संधि का अभाव, स्पष्ट-प्रतिपत्ति के लिए बुद्धिपूर्वक ही किया है । 'वाक्य में यह संधि का अभावादि वक्ता की इच्छा की अपेक्षा करता है ।' इस प्रमाणभूत-वचन से भी पूर्वोक्त सिद्ध होता है ।

और यहाँ मति के अनुसार एवं शक्ति के अनुसार सरल-शब्दों से ही अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्ति के लिखने में हमने प्रयत्न किया है कि–जिससे पढने वाले-सज्जनों को शीघ्र ही स्वच्छ-सुबोध-प्राप्त हो जाय ।-इस में हम को कितनी सफलता प्राप्त हुई है, इस विषय में हमारे विचक्षण-मतिमान् पाठक ही प्रमाण हैं । और इसके लिखने में जिन-पूज्य-पूर्वाचार्य्य-विद्वानों के ग्रन्थों से-बहुमूल्य-सहायता प्राप्त की है–उन पूर्वाचार्य्यों के प्रति-सादर-अद्वैत-भावना पूर्वक-प्रणामसहित धन्यवाद के समुदायों को हम अच्छी प्रकार से समर्पण करते हैं । पुनः अन्त में मत्सर दोष रहित विद्वानों को यह निवेदन करते हैं—

'इन मन्त्रों की व्याख्याओं में जो कुछ रमणीय हैं उसकी प्रशंसा करके एवं जो कुछ अवद्य-सदोष प्रतीत हो उसका संशोधन करके—मर्म-रहस्य के ज्ञाता-विद्वान्-इस कृति को कृतित्व करें अर्थात् प्रणेता को-कृतार्थ करें । क्योंकि-विद्वानों के द्वारा जिसका आदर किया जाता है, वह धन्यत्व को प्राप्त हो जाता है ।'

—ऐसा सुधीजनवशंवद-स्वामी-महेश्वरानन्द मण्डलेश्वर का प्रास्ताविक-वक्तव्य है ।

हरिः ॐ तत्सत्

ऋग्वेदशतकम् ।

ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् ।

सानुवाद–अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्त्युद्भासितम् ।

विवृत्तिकृन्मङ्गलम् ।

पूर्णमद्वैतमानन्दं प्रत्यग्रूपमजं शिवम् । चैतन्यं सुन्दरं सत्यं यद्ब्रह्मास्ति तदस्म्यहम् ॥१॥
देवौ कैलासवैकुण्ठ–वासिनौ जगदीश्वरौ । तनुतां लोककल्याण–मुमेश्वररमेश्वरौ ॥ २ ॥[1]

ॐ नमः शिवाय ।

पूर्ण, अद्वैत, आनन्द, प्रत्यग्रूप, अज, शिव, चैतन्य, सुन्दर, सत्य, जो ब्रह्म है वही मैं हूँ । (यह वस्तुनिर्देशरूप मंगल है) ॥ १ ॥

कैलासवासी, एवं वैकुण्ठवासी जगदीश्वर देव, उमेश्वर (उमा–पार्वती के पति) रमेश्वर (रमा–लक्ष्मी के पति) भगवान् शिव तथा भगवान् विष्णु सभी लोक के कल्याण का विस्तार करें । (यह आशीर्वादरूप मंगल है) ॥ २ ॥[2]

---

१ निराकारपक्षे–कैलासवैकुण्ठवासिनौ=कैलासः–के=सुखस्वरूपे स्वस्मिन्नेवाद्वये शुद्धे लासः=उल्लासः–प्रकृष्टमोदो विद्यते यस्य स्वस्य सः केलासः, केलास एव कैलासः, यद्वा–केलीनां–समाधिप्रभवाणामात्मक्रीडाना समूहः–कैलम्, तेन आस्यते यत्र सः कैलासः परमानन्दनिधानं स्वस्वरूपं–तत्र वसति तच्छीलः, कैलासवासी । वैकुण्ठः=विगता कुण्ठा विलुप्तिर्यस्य स विकुण्ठः=अविपरिलुप्तस्वयंप्रभविज्ञानघनस्वरूपम्, विकुण्ठ एव वैकुण्ठः 'स्वार्थिकोऽण्' तत्र–स्वे महिम्नि सदा वसति तच्छीलो–वैकुण्ठवासी 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इति पातञ्जलस्मरणात् । पक्षेऽस्मिन् तयोरैक्यमेव सम्पद्यते, परन्तु साकारपक्षे तयोर्द्वित्वम् । अत्र कैलासवैकुण्ठौ–शास्त्रप्रतिपादितालौकिकस्थानविशेषौ तत्र भक्ताऽभीष्टसाकारस्वरूपेण निवासशीलौ ।

यद्यपि जगतामीश्वर एक एव भवितुमर्हति, तथापि–उमारमोपाधिभेदादेकस्यैव द्विस्वरूपत्वम् । उमा=ॐकारलक्षणा ब्रह्मविद्या ज्ञानशक्तिः, रमा=लक्ष्मी जगत्प्रवृत्तिहेतुभूता क्रियाशक्तिः, 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० उ० ६।८) इति श्रुतेः । आराधनावलम्बभूतौ तच्छक्तिसमर्पकौ तयोरप्रतिमसौन्दर्यमाधुर्यसंयुक्तौ साकारविग्रहावपि वेदितव्यौ । इति ॥

२ निराकारपक्ष में कैलासवासी एवं वैकुण्ठवासी, एक अभिन्न परब्रह्म स्वरूप हैं । कैलास अर्थात् क यानी सुखस्वरूप शुद्ध अद्वैत–अपने में ही लास यानी उल्लास–प्रकृष्ट मोद है, जिस आप का, वह केलास है, केलास ही कैलास है । अथवा समाधि से प्रादुर्भूत आत्मक्रीडा रूप केलियों के समूह का नाम कैल है, उससे जिस में वह स्थित है, वह कैलास परमानन्दनिधान स्वस्वरूप है, उसमें बसने का स्वभाववाला कैलासवासी कहाता है । वैकुण्ठ

वटमूले वसन्तं तं मौनव्याख्यानबोधदम् । दक्षिणामूर्तिमीशान-माद्याचार्य्यं प्रणौम्यहम् ३
शारदाम्बा सदानन्दा सर्वसिद्धिविधायिनी । सर्वार्थस्फूर्तिदा सा च सन्निधर्त्ता सदा मम ४
अनन्तबोधसंपूर्णो नित्योऽभ्रान्तो हितावहः । निःश्वास इव संभूतो वेदो विजयतेतराम् ॥५॥

श्रीमज्जयेन्द्राख्ययतीश्वराणां, श्रीमद्गिरीशाख्ययमीश्वराणाम् ।
पादाब्जयुग्मे नितरां लसन्तु प्रणामपुष्पाञ्जलयो गुरूणाम् ॥ ६ ॥
ऋग्मन्त्रवृन्दविपिने विततं विशुद्ध-मध्यात्ममार्गमपवर्गपदाधिरोहम् ।
विद्वद्गुरूक्तनयगम्यसमस्तभेद-मास्थाय यान्तु पदमुत्तममस्तदोषाः ॥ ७ ॥

वट के मूल में बसने वाले, मौनव्याख्यान से बोध देने वाले, उस आद्याचार्य्य, दक्षिणामूर्ति-ईशान-परमेश्वर जगद्गुरु भगवान् शङ्कर को मैं प्रणाम करता हूँ । (यह नमस्काररूप मगळ है) ॥ ३ ॥

सर्वसिद्धियों का विधान करने वाली, निखिल अर्थों की स्फूर्ति देने वाली, सदा आनन्दरूपा, वह शारदा माता, मेरे समीप में सदा विराजमान रहे । (यही मैं उस कृपानिधाना स्नेहामृतमयी भगवती से प्रार्थना करता हूँ) ॥ ४ ॥

अनन्त बोध (विज्ञान) से सम्पूर्ण, नित्य (अनादिनिधन) भ्रमप्रमादादिसकलदोषरहित, समी लोक के हित-अभ्युदय नि श्रेयस को प्राप्त करने वाला, नि श्वासकी भाँति प्रकट होने वाला भगवान् वेद, अतिशय से विजयी है, अर्थात् भगवान् वेद का सर्वत्र सदा सर्वोपरि अलौकिक महत्त्व प्रकाशित है॥५॥

श्रीमान् स्वामी जयेन्द्रपुरी नाम वाले यतीश्वर गुरुदेव, तथा श्रीमान् स्वामी गिरिशानन्दगिरि नाम वाले यमीश्वर (सयमियों के ईश्वर) गुरुदेव के चरणकमलयुगल में अच्छी प्रकार से श्रद्धाभक्तिपूर्वक समर्पित की हुई मेरी प्रणामरूपी पुष्पों की अञ्जलियाँ सुशोभित होवें ॥ ६ ॥

ऋक् मन्त्रो के समुदाय (ऋग्वेदसहिता) रूप जगल में अपवर्गपद (ब्रह्मनिर्वाणरूप कैवल्य-मोक्ष) पर्यन्त पहुँचा हुआ, विस्तार वाला, अध्यात्मतत्त्वविज्ञानरूप, अत्यन्त शुद्ध मार्ग है । विद्वान्-तत्त्वदर्शी गुरुओं के युक्तियुक्त वचनो से उस मार्ग की समस्त विशेषताएँ जानी जाती हैं । उस मार्ग का अवलम्बन कर, कामादिदोषरहित, श्रेष्ठ अधिकारी मनुष्य, उस उत्तम पद की प्राप्ति के लिए प्रयाण करें ॥ ७ ॥

अर्थात् जिस की कुण्ठा यानी विलुप्ति कदापि नहीं है, वह अविपरिलुप्त-स्वयप्रभ विज्ञानघनस्वरूप, विकुण्ठ है, विकुण्ठ ही वैकुण्ठ है, इसमें स्वार्थिक अण् प्रत्यय होता है । उस वैकुण्ठरूप अपनी महिमा में जो सदा बसने का स्वभाव वाला है, वह वैकुण्ठवासी है । योगशास्त्र में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'समाधिसमय में द्रष्टा आत्मा की स्वस्वरूप में अवस्थिति होती है' । इस पक्ष म कैलासवासी एव वैकुण्ठवासी, शिवतत्त्व एव विष्णुतत्त्व का एकत्व (अभेद) हो जाता है । परन्तु साकारपक्ष में उनमें द्वित्व (दोपना) होजाता है । इस पक्ष मे कैलास एव वैकुण्ठ, शास्त्रप्रतिपादित अलौकिक स्थानविशेष हैं । उस उस स्थान मे भक्त के अभीष्ट साकारस्वरूप से निवासशील शिव एव विष्णु हैं । यद्यपि जगत का ईश्वर एक ही हो सकता है । तथापि उमा एव रमारूप उपाधि के भेदसे एक के ही दो स्वरूप समझने चाहिए । उमा अर्थात् ॐकाररूपा ब्रह्मविद्या ज्ञानशक्ति, रमा अर्थात् लक्ष्मी, जगत्प्रवृत्ति की कारणरूपा क्रियाशक्ति । श्वेताश्वतर श्रुति कहती है-'इस परमेश्वर की पराशक्ति, ज्ञान बल एव क्रिया रूपा स्वाभाविकी है ।' आराधना के अवलम्बनभूत उस ज्ञानादि शक्ति के समर्पक, उन दोनों शक्तियों के तथा शक्तिमानों के उपमारहित, सौन्दर्य माधुर्य सयुक्त साकारविग्रह भी जानने (मानने) चाहिये ।

ऋग्वेदस्यातिविस्तारा-द्वीक्षायामलसाश्च ये। व्याख्यानं कर्मनिष्ठञ्च येषां नैव प्रमोदकृत् ८
तेषामध्यात्मतत्त्वार्थं बोद्धुमिच्छावतां कृते। श्रीमन्महेश्वरानन्द-स्वामिना यतिना मया॥९॥
तत्सारभूतमन्त्राणां शतं संस्कृतया गिरा। व्याख्यायते मुदाऽध्यात्म-ज्ञानज्योत्स्नाभिवृद्धये॥

ऋग्वेदसंहिता अति विस्तार वाली है, इसलिए उसके समग्र मन्त्रों के अवलोकन में जो अलसा जाते हैं। और जिनको उन मन्त्रों के कर्मपरक व्याख्यान प्रमोदकारी प्रतीत नहीं होते हैं, और जो उन मन्त्रों का अध्यात्मतत्त्वार्थ के जानने की इच्छा रखते हैं; उन सज्जनों के लिए मैं स्वामी महेश्वरानन्द यति, उस संहिता के सारभूत-चुने हुए शत (सौ) मन्त्रों का संस्कृत वाणी से अध्यात्मतत्त्वज्ञान-ज्योत्स्ना (चन्द्रिका) की अभिवृद्धि के लिए व्याख्यान करता हूँ॥ ८।९।१०॥

(१)

(भृशं स्तूयमानोऽनन्तकल्याणगुणसम्पन्नो विश्वहितो यज्ञदेवो भगवान् प्रसीदति, ततो वहति चाभ्युदयं निःश्रेयसं स्तुवद्भ्यः)

(अतिशयित श्रद्धाभक्तिद्वारा स्तूयमान--स्तुति किया गया, अनन्तकल्याण गुणों से संयुक्त, विश्व का हित करने वाला, यज्ञदेव भगवान्, प्रसन्न होता है। अपनी प्रसन्नता के द्वारा स्तुति करने वाले अपने भक्तों को अभ्युदय (इस लोक एवं परलोक की सुखसम्पत्ति) एवं निःश्रेयस (आत्मकल्याणपरमपद) प्राप्त करा देता है।)

भगवति प्रसादिते सर्वमिष्टं सुलभं सिद्ध्यति, अतोऽतिदुर्लभं मानवशरीरमवाप्य देवेन्द्रादिभिरप्यभीप्सितं तत्प्रसादमवाप्तुमुपायोऽवश्यं करणीयः। स चोपायस्तत्स्तवनमेवेति महद्भिर्मन्त्रदृग्भिर्महर्षिभिर्विनिर्णीतम्। तद्धि तस्याचिन्त्यदिव्यमहदनन्तकल्याणगुणवत्त्वेन संकीर्तनमेव। सच्छ्रद्धया तोष्टूयमानो भगवान् प्रसीदति, स्तावकान् प्रसादयति च। स्तुत्या हि स्तुत्यस्य महत्त्वं

भगवान् के प्रसन्न होने पर सब कुछ इच्छित पदार्थ सुलभ रीति से सिद्ध हो जाते हैं, इसलिए अतिदुर्लभ मनुष्यशरीर को प्राप्त कर के देवेन्द्रादियों से भी अभीप्सित--(प्राप्त करने की इच्छा का विषयभूत) भगवत्प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए अवश्य ही उपाय करना चाहिए। वह उपाय उस भगवान् का स्तवन (स्तुतिप्रार्थना) ही है, ऐसा मन्त्रद्रष्टा महान् महर्षियों ने निर्णय किया है। उस भगवान् के अचिन्त्य, दिव्य (अलौकिक) महान्, अनन्त, कल्याणकारी गुणों का संकीर्तन (गानकथनस्मरणादि) ही उसका स्तवन कहा जाता है। सात्त्विकी उत्तम श्रद्धाद्वारा अतिशय से स्तूयमान भगवान् प्रसन्न हो जाता है, और स्तुति करने वाले सज्जनो को प्रसन्न कर देता है। स्तुति से स्तुत्य भगवान् का महत्त्व स्तुति करनेवाले

स्तोतरि प्रकटीभवति, महति च तस्मिन् भक्तिस्तस्याविर्भवति, भक्त्याऽनन्यया च स स्तुत्यो महादेवः तत्त्वतो द्रष्टुं प्रवेष्टुञ्च सुलभो भवति । अत एव यथाऽस्मत्पूर्वजैर्गुण्यैः श्रुतिरसिकैर्महर्षिभिरहर्दिवं भृशं स्तुतोऽग्निदेवो भगवान् प्रासदत्, ततस्तेभ्यः समग्रं पुरुषार्थमवाक्षीत्। तथा नवीनैः—सांप्रतिकैरस्मदादिभिर्भृशं स्तूयमानो भगवानवश्यं प्रसन्नो भूत्वाऽस्मभ्यं प्रेप्सितं तत्सर्वं वक्ष्यति इत्यभिप्रेत्य भगवत्स्तवनाय स्वप्रवृत्त्या सर्वजनानभिमुखीकर्तुं मन्त्रदृक् महर्षिः प्राह—

भक्त के हृदय में प्रकट हो जाता है। इससे उस महान् भगवान् में उसकी भक्ति का आविर्भाव हो जाता है। और अनन्यभक्ति से वह स्तुत्य महादेव भगवान् वस्तुतः साक्षात्कार करने के लिए तथा उस में सदा के लिए अभेदभाव से प्रवेश करने के लिए सुलभ हो जाता है, इसलिए जैसे श्रुति-(वेदमन्त्र) रसिक हमारे पूर्वज महर्षिओं से रात्रिदिन आदरपूर्वक स्तुति किया गया अग्निदेव भगवान् उन पर प्रसन्न हुआ था, और उन के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप समग्र पुरुषार्थ प्राप्त करा दिया था। वैसे इस समय में वर्तमान हम नवीन-भावुक-भक्तों से भी आदरपूर्वक स्तुति किया गया भगवान् प्रसन्न हो कर, हमारे लिए भी जो जो हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह सब प्राप्त करा देगा, ऐसा अभिप्राय रख कर, भगवान् की स्तुति के लिए अपनी आदर्श—प्रवृत्तिद्वारा सभी मनुष्यों को अभिमुख बनाने के लिए मन्त्रद्रष्टा महर्षि कहता है—

ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ॥
अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥

(ऋग्वेदसंहितायां प्रथमाष्टके प्रथमाष्टकं, वर्ग. १ मण्डल. १ अनुवाक. १ सूक्त. १ ऋक्. १।२)
(तै. सं. कृष्णयजुः ४।३।१३।३) (निरुक्तं, ७।१५)

मैं यज्ञ के देव, ऋत्विज् (ज्ञानगम्य) पुरोहित (समक्षस्थित) होता (सर्वविश्वविलय के अधिष्ठाता) रत्नधातम (धर्मादिरूप रमणीय सकल पुरुषार्थों के प्रदान करने वाले) अग्निनामा से प्रतिपाद्य भगवान् परब्रह्म की स्तुति करता हूँ। वह अग्निभगवान् प्राचीन—ऋषियों से स्तुत्य हुआ था, तथा नवीनों (अर्वाचीनों) से भी स्तुत्य हुआ वह, यहाँ रहने वाले, उसकी स्तुति करने वाले देवों के समान सात्त्विक आचार विचार वाले सज्जनों को भी अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करा देगा या करा देता है।'

१ प्रसन्नोऽभूत्। २ वहनमकार्षीत्। ३ वहनं करिष्यति।

अहं मन्त्रदृक् ऋषिः अग्निं=अग्निनामकं परमात्मदेवं. ईळे=ईडे=स्तौमि-स्तुतिं करोमि। ईड-स्तुतौ धातुः। डकारस्य ळकारो बह्वृचाध्येतृसम्प्रदायप्राप्तः। कथं परमात्मनोऽग्निनामप्रतिपाद्यता? श्रुतिप्रामाण्यात् 'त्वमग्ने! प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः (यः) शिवः सखा' (ऋ. १।३१।१) 'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानां समानो वा चोत्तमो विष्णुरासीत्' (तै. ब्रा. २।४।३।२) 'अग्निः सर्वा देवताः' (ऐ. ब्रा. ६।३) (मै. सं. १।४।१३) (शत. ब्रा. १।६।२।२०) (तै. सं. ६।२।२) 'दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः (ऋ. ३।२९।२) एतद्वै तत्' (क. उ. २।१।८) 'प्राणोऽग्निः परमात्मा' (मैत्रा. ६।९) इति। सृष्ट्याद्यत्वं सर्वाङ्गसारत्वं ऋषित्वं[1] देवदेवत्वं शिवसखत्वं सर्वदेवप्राथम्यं देवोत्तमविष्णुत्वं सर्वदेवमयत्वमप्रमत्तयोगिहृदयध्येयत्वादिकञ्चाग्नेः परमात्मत्वमन्तरेण न सङ्गच्छते, अतोऽग्निपदाभिधेयस्य प्राणाकाशादिपदा-

मैं मन्त्रद्रष्टा ऋषि, अग्निनाम वाले परमात्मदेव की स्तुति करता हूँ। इड स्तुति अर्थ में धातु है। 'ईळे' में डकार को ळकार करना या बोलना बह्वृच अर्थात् ऋग्वेद के अध्ययन करने वालों की सम्प्रदाय-परम्परा से प्राप्त है। परमात्मा अग्निनाम से प्रतिपाद्य क्यों है? (अर्थात् अग्निशब्द से परमात्मा का क्यों ग्रहण करते हो, अन्य भूताग्नि आदि का क्यों नहीं ग्रहण करते हो?) इस प्रश्न का समाधान श्रुतियोंके प्रामाण्य से किया जाता है-'हे अग्ने! तू प्रथम (मुख्य-अग्रगण्य) है, अंगिरा ऋषि है, देवों का देव है, अभय शिव-कल्याणरूप सखा-मित्र-हितकारी हुआ है या है।' 'अग्निदेव, अग्र में-आदि में, सभी देवताओं में प्रथम अर्थात् मुख्य, समान-अर्थात् समरूप से सर्वत्र वर्तमान, सर्वोत्तम, विष्णुरूप था।' 'अग्नि सर्व देवतारूप है' 'प्रतिदिन वह अग्नि, हविष्मान् (सात्त्विक हविष्यान्न का ही प्राणतुष्टि के लिए ग्रहण करने वाले) सदा योगाभ्यास में सावधान मनुष्यों से स्तुत्य होता है।' 'वह अग्नि ॐमन्त्र से प्रतिपाद्य परब्रह्म ही है' 'प्राण अर्थात् तद्वत् परमप्रिय सर्वाधार परमात्मा अग्नि है अर्थात् अग्निनाम से प्रतिपाद्य है' इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मा के अग्निनाम से प्रतिपाद्यत्व में प्रमाण हैं। क्योंकि-अग्नि में परमात्मत्व माने बिना, उसमें प्रथमपदप्रतिपाद्य-सृष्टि के आद्यत्व, अङ्गिरापदप्रतिपाद्य-सर्वशरीरों के अङ्गों में सारभूतत्व, ऋषित्व अर्थात् अतीन्द्रियार्थद्रष्टृत्व, देवों के देवत्व-महादेवत्व, शिवसखत्व, सर्वदेवों में मुख्यत्व, देवोत्तमविष्णुत्व, सर्वदेवमयत्व, प्रमादरहित योगियों के हृदय में ध्येयत्व, आदि विशेषण सम्यक् उपपन्न नहीं हो सकते हैं। इसलिए अग्निपद से कथित अर्थ में, प्राण आका-

१ 'तं वा एतं अङ्गरसं सन्तं अङ्गिरा इत्याचक्षते' (गो. ब्रा. ५।१७) 'यो रसस्तद्भेषजं तदसृतं...तद्ब्रह्म...' (गो. ब्रा. ५।३।४) इति ॥ २ 'अतीन्द्रियार्थद्रष्टृत्वम्'।

भिधेयवत् तल्लक्षणयोगित्वात् परमात्मत्वमभ्युपेयम्। व्युत्पत्तियोगाच्च। देवादिसर्वविश्वस्याग्रे स्वयमात्मानं तज्जनकत्वेन तद्व्याप्तत्वेन च नयति=प्रापयतीत्यग्रणीरग्नात्तस्याग्नित्वं चराचरविश्वाभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्वलक्षणं परमात्मत्वाविनाभूतमवगतं भवति। यद्वा अगेर्धातोः गत्यर्थस्य ज्ञानार्थस्य च निप्रत्ययान्तस्याग्निरिति रूपम्। तथा चाभितोऽगति—जानाति सर्वशास्त्रप्रतिपाद्यत्वं गच्छतीति, अभितः—सर्वतो गतत्वात् सर्वज्ञातृत्वात् निखिलागमसंचारित्वाच्च परमात्मनोऽग्निनामप्रतिपाद्यत्वं न विरुध्यते। यद्वा अङ्गयति—गमयति—अग्रं कर्मफलं प्रापयतीत्यग्निः, जगतोऽग्रं जन्म अङ्गयतीति वा। 'तदुक्तं निरुक्तव्याख्यात्रा दुर्गाचार्य्येण' कोऽयमग्निरिति? आत्मेत्यात्मविदः 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ॰ १।१६४।४६) इति मन्त्रदर्शनात्। आत्मवित्पक्षे तु सर्वमभिधानमात्मार्थमेवेति

शादि पदों के वाच्यार्थ की भाँति, परमात्मा के लक्षणों का सम्बन्ध होने से परमात्मत्व मानना ही चाहिए। और अग्निपद की व्युत्पत्ति के योग से भी अग्निपद-प्रतिपाद्य परमात्मा है ऐसा निश्चय होना है। देवादि सकलविश्व के अग्र में, जो स्वयं अपने आत्मा को विश्वजनकत्वरूप से तथा विश्व में व्याप्तत्व (अनुगतत्व) रूप से नयति अर्थात् प्राप्त कराता है, इसलिए अग्रणीत्व होने से उसमें चराचर विश्व का अभिन्न-निमित्त-उपादान कारणत्व लक्षण अग्नित्व, परमात्मत्व के विना जो सिद्ध न हो सके, ऐसा जानने में आता है। अर्थात् पूर्वोक्त व्युत्पत्तिगम्य तादृश अग्नित्व, परमात्मपना का साधक होता है।

अथवा गति-अर्थ वाला एवं ज्ञान अर्थ वाला अगि धातु से 'नि' प्रत्यय करने पर 'अग्नि' ऐसा रूप सिद्ध होता है। तथा च सर्व तरफ से जो सर्व को जानता है, एवं सकलशास्त्रों से प्रतिपाद्य होता है, वह सर्वगत अर्थात् सर्व में व्याप्त होने से सर्व का ज्ञाता होने से, सकलशास्त्रों में प्रतिपाद्यत्व सम्बन्ध से संचरणशील होने से, परमात्मा अग्निनाम से प्रतिपाद्य हो सकता है, ऐसा मानने में कुछ विरोध नहीं होता। अथवा अग्र यानी कर्मफल को जो[1] प्राप्त कराता है, अथवा जगत का अग्र—जो उसका जन्म है, उसे सम्पादन कराता है, वह अग्नि है। निरुक्त के व्याख्याता दुर्गाचार्य्य ने भी कहा है—'अग्निमीळे' इस मन्त्रमें अग्निपदप्रतिपाद्य कौन अग्नि है? इस प्रश्न का आत्मवेत्ताओं ने 'वह आत्मा है' ऐसा उत्तर दिया। क्यों कि—'एक ही परमात्मा का तत्त्वदर्शी विद्वान् अग्नि आदि अनेक नामों से प्रतिपादन करते हैं' ऐसा वेदमन्त्र में स्पष्ट देखने में आता है। आत्मवेत्ताओं के पक्ष में—सिद्धान्त में—वेदमन्त्रों में प्रतिपादित सभी, इन्द्र, पूषा,

१ फल के उद्देश्य से मनुष्य कर्म करते हैं, इसलिए उद्देश्य होने से फल, अग्र कहा जाता है, और जगत् की सभी अवस्थाओं में प्रथम जन्म है, इसलिए जन्म भी अग्र नाम से कहा जा सकता है।

सर्वावस्थमात्मानं सर्वाभिधानव्युत्पत्तितो निरुच्य याथात्म्यतः परिज्ञाय सर्वात्मन आत्मनः सर्वावस्थं विभूतिताद्भाव्यमनुभवतीति सर्वपदव्युत्पत्तिप्रयोजनम् । स्मर्यते हि–'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' (म. भा. शां. २९६।२) इति ।

ननु–पृथिवीस्थानो भौतिकोऽग्निर्लोकप्रसिद्धोऽप्यस्ति, तस्य तेन कथं न ग्रहणं क्रियते? तत्रापि कथञ्चिच्छ्रुतिप्रशस्तेर्व्युत्पत्तियोगस्य च सम्भवात्, इति चेन्नैवम्; केवलस्य तस्य जडस्यानुपास्यत्वात्, शालग्रामावच्छेदेन विष्णुरिव तदवच्छेदेन तदन्तरवस्थितपरमात्मोपासनाभिप्रायेण तद्ग्रहणस्याविरुद्धत्वादिति । तदाहुर्निरुक्तकाराः–'न मन्येतायमेवाग्निरिति' (नि. ७।१९) इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति' इति । अत एव 'अग्निर्देवेषु राजति अग्निर्मर्तेष्वाविशन् ।

वरुण, सूर्य, इत्यादि नाम परमात्मरूप अर्थ के ही प्रतिपादक हैं, इसलिए सभी वस्तुओं में अवस्थित आत्मा का सभी नामों की व्युत्पत्ति से प्रतिपादन करके एवं उस के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करके, सर्व चराचर विश्व के आत्मारूप आत्मा की सर्वानुगत विभूति–विश्वरूप से तद्भाव का अर्थात् उसकी सत्ता का आत्मवेत्ता विद्वान् अनुभव करते हैं, यही सभी पदों की परमात्मानुगामिनी व्युत्पत्ति करने का प्रयोजन है । अर्थात् सभी अर्थों में तत्तद्रूप से वही परमात्मा अवस्थित है, इसलिए सभी नामों से वही प्रतिपादित होता है। निश्चय से यह स्मरण किया गया है–'शब्दब्रह्म में निष्णात ही परब्रह्म को प्राप्त होता है ।' इति ।

शंका–पृथिवी में रहने वाला भौतिक अग्नि जो लोकप्रसिद्ध है, उसका इस मन्त्र में अग्निपद से क्यों नहीं ग्रहण करते? क्योंकि–उस में भी किसी भी प्रकार से पूर्वोक्त श्रुतियों की प्रशस्ति का एवं व्युत्पत्तियों का भी सम्भव हो सकता है ।

समाधान–अध्यात्मपक्ष में ऐसा नहीं हो सकता। क्यों कि–वह केवल-जड-भौतिक अग्नि उपास्य नहीं हो सकता। जैसे शालग्राम पाषाण के द्वारा विष्णु भगवान् की उपासना की जाती है, केवल पाषाण की उपासना नहीं की जाती । तैसे भौतिक–अग्नि के द्वारा उस के भीतर अन्तर्यामीरूप से अवस्थित परमात्मा की उपासना की जा सकती है, इस अभिप्राय से अग्निपद से अन्तरात्मा सहित उस भौतिक अग्नि के ग्रहण करने में कुछ विरोध नहीं है । इसलिए निरुक्तकार महर्षि यास्क कहते हैं–'अग्निपद से यही भौतिक जड अग्नि ही नहीं समझना चाहिए' मेधावी विद्वान्, महान् आत्मा एक आत्मारूप इस अग्नि का बहुनामो से प्रतिपादन करते हैं । अत एव–'वह अग्नि देवो में विराजमान है, वही अग्नि मरणधर्म वाले

अग्निर्नो हव्यवाहनोऽग्निं धीभिः सपर्यत ॥' (ऋ. ५।२५।४) 'अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि' (ऋ. ७।८।८) 'अग्ने ! कदा ते आनुषक् भुवत् देवस्य चेतनम् ।' (ऋ. ८।७।२) 'भानुभिः देवेभिः अग्निः विभाति' (ऋ. १०।६।२) इत्याद्याः ऋचः स्पष्टतरमेव चेतनमात्मलक्षणमाध्यात्मिकमग्निमामनन्ति । आसामयमर्थः-अग्निः देवेषु=देवानां शब्दाद्यर्थप्रकाशकानामिन्द्रियलक्षणानां मध्ये राजति=प्रकाशते इन्द्रियेष्वात्मशक्तिरेव प्रकाशते इति हि प्रसिद्धम् । यद्वा देवेषु-सूर्यादिषु अग्निः=परमात्मलक्षणः परमप्रकाश एव राजते=विभाति इत्यर्थः । 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुं. उ. २।२।१०) इति श्रुतेः । मर्तेषु=मरणधर्मकेषु शरीरेषु, आविशन्-जीवात्मरूपेण प्रविष्टो भवति । 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. उ. २।६) इति श्रुतेः । अयमग्निः हव्यवाहनः=हव्यानामन्नरसादीनां वाहनः=वाहको भवति । आत्मसत्तयैवान्नादीनां शरीरस्य तत्तत्स्थानेषु वहनं भवति । अत एव तस्यात्मनोऽग्नेर्वाहकत्वम् । तस्मात् तमेवाग्निं परमात्मानं,धीभिः=ध्यानलक्षणाभिः शोभनबुद्धिभिः यूयं सपर्यत=परिचरत-सततमुपासत । अकविषु=कवित्वप्रयोजकचैतन्यशून्येषु जडेषु मर्तेषु=मरणधर्मकेषु सर्वेषु शरीरेषु, अयं=साक्षाद-

सभी मनुष्यादिओं के शरीरों में चैतन्यसाक्षीरूप से प्रविष्ट हुआ है, इसलिए वही अग्नि हव्यपदार्थ-अन्न जलादिओं का शरीर के तत्तत्स्थानों में वहन करता है, अतः आप लोग उस अग्नितत्त्व की ध्यान करने वाली पवित्र बुद्धि से उपासना करें।' 'यह अकवियों में सर्वज्ञ कवि है, मर्त्यों में अमृत अविनाशी अवस्थित है।' 'हे अग्ने! आप देव का चैतन्य तत्त्व इस जड़ शरीर में कब अनुपक्त हुआ' 'प्रकाशक देवों के द्वारा यह अग्नि ही प्रकाशित होता है' इत्यादि ऋचाएँ स्पष्टतर आत्मारूप चेतन आध्यात्मिक अग्नि का प्रतिपादन करती हैं। इन ऋचाओं का यह अर्थ है-शब्दादिविषयों के प्रकाशक इन्द्रियाँ देव हैं, उनके मध्य में आत्मारूप अग्नि प्रकाशित होता है। इन्द्रियों में इन्द्ररूप आत्मा की शक्ति ही प्रकाशित होती है यह प्रसिद्ध है। अथवा सूर्यादि-देवों में परमात्मरूप परम प्रकाशवान् अग्नि ही भासित होता है। 'उस के भास से ही यह सब सूर्यचन्द्रादि जगत् भासित होता है' ऐसा मुण्डक श्रुति भी कहती है। मर्त अर्थात् मरणधर्म (स्वभाव) वाले शरीर, उनमें वही अग्निपदप्रतिपाद्य परमात्मा आविशन् अर्थात् जीवात्मरूप से प्रविष्ट होता है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है-'कार्य-करण-संघातरूप शरीरों का सर्जन कर वह आप स्रष्टा परमात्मा ही उन में प्रविष्ट हुआ।' यह अग्नि, हव्यवाहन है, अर्थात् अन्नरसादि जो हव्य हैं, उनका वाहन अर्थात् वहन करता है। आत्मा चेतन की सत्ता से ही शरीर के उस उस स्थानों में अन्नादि का वहन होता है। अतएव आत्मा-रूप अग्नि का वाहकपना कहा गया है। इसलिए उस अग्निरूप परमात्मा का ध्यान करने वाली शोभन-पवित्र बुद्धि वृत्तिओं से आप लोग सदा उसीकी ही उपासना करें। कवित्व प्रयोजक चैतन्य से शून्य, जड, मरणधर्म वाले सभी शरीरों में यही साक्षात्

परोक्षः, आत्माग्निः कविः=क्रान्तदृक् अतीतादिसकलार्थद्रष्टा, प्रचेता=प्रकाशकः, अमृतः=मरणधर्मरहितोऽविनाशी, निधायि=निहितो वर्तते । हे अग्ने! परमात्मन्! सर्वान्तर्यामिन्! अतः कारणात्, देवस्य=द्योतमानस्य स्वयंप्रभस्य ते=तव सम्बन्धि चेतनं=चैतन्यं तेजः कार्यकरणसंघातप्रवर्तकम्, कदा=कस्मिन् समये, अस्मिन् जडशरीरे, आनुषक्=अनुषक्तं-अवस्थितं भुवत्=अभवत् इति सर्वे साश्चर्याः सन्तः स्वहृदये परामृशन्ति । अग्निः परमात्मा भानुभिः=प्रकाशकैः, देवेभिः=पिण्डेषु इन्द्रियैः, ब्रह्माण्डे सूर्यादिभिश्च विभाति=प्रकाशते, तृतीयान्तपदाभिधेयदेवेषु तस्यैवात्माग्निदेवस्य दीप्तेर्विद्यमानत्वात् तद्‌द्वारा तस्यैव दीप्तिर्विभाव्यते इति भावः । एवं-'त्वमग्ने! इन्द्रो वृषभः' त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः 'त्वं ब्रह्मा रयिवित्' (ऋ. २।१।३) 'त्वमग्ने! राजा वरुणः' 'त्वं मित्रो भवसि' 'त्वमर्यमा सत्पतिः' (ऋ. २।१।४) 'त्वमग्ने! त्वष्टा' (ऋ. २।१।५) 'त्वमग्ने! रुद्रो असुरः' 'त्वं शर्धो मारुतं' (ऋ. २।१।६) 'त्वं देवः सविता' 'त्वं भगो नृपते!' 'त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती' (ऋ. २।१।११) इत्याद्या ऋचोऽपि सर्वदेवविभूतित्वं प्रदर्शयन्त्यः स्पष्टतममेवाग्निपदाभिधेयस्य परमात्मभावं द्रढयन्ति । तथाच 'रुद्रो वा एष यदग्निः तस्यैते तनुवौ घोराऽन्या शिवाऽन्या' इत्यादिवेदभागेषु, 'वदन्त्यग्निं महादेवं तथा देवं महेश्वरम् । एकाक्षरं त्र्यम्बकञ्च विश्वरूपं

अपरोक्ष आत्माग्नि, कवि, अर्थात् अतीतादि सकल पदार्थों का द्रष्टा, प्रकाशक, अमृत यानी मरणधर्मरहित-अविनाशी हो कर अवस्थित हुआ है। हे अग्ने! परमात्मन्! सर्वान्तर्यामिन्! स्वयंप्रकाश आप का चैतन्य तेज, जो कार्यकरण-संघात का प्रवर्तक है, वह इस जड शरीर में कब अवस्थित हुआ? इसका सभी लोग आश्चर्य के साथ अपने हृदय में विचार करते हैं। अग्नि परमात्मा शरीरो में इन्द्रियरूप, ब्रह्माण्ड में सूर्यादिरूप प्रकाशक-देवों के द्वारा प्रकाशित होता है। 'भानुभिः देवेभिः' इन तृतीयाविभक्ति वाले पदों से प्रतिपाद्य देवों में उसी ही आत्माग्निदेव की दीप्ति विद्यमान है। उनके द्वारा उसीकी दीप्ति-ज्योतिः का ही अनुभव होता है। यह भाव है। इस प्रकार-'हे अग्ने! तू वृषभ-सर्वश्रेष्ठ इन्द्र है' 'तू नमस्कार करने योग्य, अनेक लोकों की स्तुतिओं के द्वारा गाने योग्य विष्णु है' 'तू ही रयि अर्थात् विविध ऐश्वर्यों का ज्ञाता ब्रह्मा है' 'हे अग्ने! तू राजा वरुण है' 'तू मित्र देव है' 'तू ही सत्पति-सज्जनोंका पालक-अर्यमा देव है' 'हे अग्ने! तू ही त्वष्टा-विश्वकर्मा देव है' 'हे अग्ने! तू असुर अर्थात् प्रकृष्टबलशाली रुद्र देव है' 'तू ही मरुत्-पवनों का संघट्टनरूप बल है' 'तू ही सविता देव है' 'तू हे नृपते!-नरों का पालक भगदेव है' 'तू हे वसुपते!-सकल ऐश्वर्यों के स्वामी वृत्र नामक-असुरका विनाशक है तथा तू ही ज्ञानशक्तिरूपा सरस्वती है' इत्यादि ऋचाएँ-सभी देव, उस महान् देव अग्नि की ही विभूतियाँ हैं, ऐसा प्रदर्शन कराती हुई स्पष्टतम 'अग्निपद-प्रतिपाद्य परमात्मा ही है' ऐसा दृढ निश्चय कराती हैं। तथा-'यह अग्नि रुद्र परमात्मा ही है, उसके ये दो विग्रह हैं, एक घोर-भयंकर, तथा द्वितीय शिव-शान्त।' इत्यादि वेद भागों में, तथा 'उस परमेश्वरका, अग्नि-महादेव-देव-महेश्वर-एकाक्षर-त्र्यम्बक-विश्वरूप-एवं शिव

शिवं तथा॥' इति महाभारतानुशासनिके च 'वेदास्त्वामभिदधतीह रुद्रमग्निं त्वामेकं शरणमुपैमि रुद्रमीशमि'ति कौर्मपुराणादौ च शिवस्य परमात्मनोऽग्निशब्देन प्रतिपादनं संगच्छते। अत एव देवतानुक्रमण्यां माधवभट्टेनाप्युक्तम्—'यतः सर्वमिदं भूत्वा महानात्मा व्यवस्थितः। तस्मादग्न्यादिविषयो वेदस्तत्र प्रतिष्ठितः॥' (८।१६) इति। कीदृशमग्निम्? पुरोहितम्=सर्वेषां सदा पुरः=अग्रतो हितं=स्थितं सर्वव्यापकत्वात्। 'ॐ तत्सर्वम्' 'ॐ तत्पुरो नमः' (तै. आ. १०।६८) इति श्रुतेः। यद्वा पुरोहितम्=स्मरणकीर्तनयजनार्चनध्यानादियोगेषु परमेण प्रेम्णा भक्ताः=तत्त्वविदः, पुरः=अग्रे संमुखे एनं दधति=स्थापयन्तीति सन्मुखस्थापनार्हं परमप्रीतिविषयमित्यर्थः। अत एवाम्नायते—'ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।' (ऋ. १०।१४१।६) इति। ऋतावानं=सत्यवन्तं-सत्यं, महिषं=महान्तं-पूज्यं वा, विश्वदर्शतं=विश्वैः=सर्वैः विश्वस्मिन् वा दर्शनीयं, विश्वं दर्शतं-दर्शनं यस्य वा, सर्वज्ञं, ईदृशमग्निं भगवन्तं, सुम्नाय=तद्ध्यानजन्यसुखाय, तं, लब्धुं जनाः=भक्तजनाः, पुरः=पुरस्तात् संमुखे दधिरे=दधते-धारयन्ति-स्थापयन्तीत्यर्थः। यद्वा पुरः हितमिति च

आदि नामों से विद्वान् गण वर्णन करते हैं' यह महाभारत के अनुशासनपर्व में, तथा—'वेद, आप भगवान् को रुद्र-अग्नि नाम से कहते हैं, उस आप एक रुद्र परमेश्वर की मैं शरण प्राप्त करता हूँ' यह कूर्मपुराण आदि में शिव-कल्याणरूप-परमात्मा का अग्नि शब्द से प्रतिपादन सुसंगत हो जाता है। इसलिए देवतानुक्रमणी नामक ग्रन्थ में माधवभट्ट ने भी कहा है—'वही महान् आत्मा यह सर्व विश्वरूप हो कर सर्वत्र अवस्थित है, इसलिये अग्नि आदि नाम घटित सकल वेद, उस परमात्मा में ही प्रतिष्ठित हैं, अर्थात् अग्नि आदि नाम वाले वेदमन्त्रों से, वह एक अद्वय-पूर्ण परमात्मा ही प्रतिपादित होता है।' वह अग्नि परमात्मा कैसा है? वह पुरोहित है, अर्थात् सर्वव्यापक होने से वह सभी समय सब के समक्ष वर्तमान है। 'ॐ वह सर्वरूप है, ॐ वह सब के सामने है, उसे नमस्कार है' ऐसा तैत्तिरीय श्रुति भी कहती है। अथवा स्मरण, कीर्तन, यजन, अर्चन, ध्यान, आदियोगों में तत्त्वदर्शी भक्तगण, परम प्रेम से उस भगवान् को सदा अपने सम्मुख स्थापन करते हैं, इसलिए वह पुरोहित है, अर्थात् सम्मुख स्थापनके योग्य, परमप्रीति का विषय है। अत एव भगवान् वेद कहता है—'उस सत्य, महान्, विश्व से या विश्व में दर्शनीय, सर्वज्ञ अग्नि भगवान् को अलौकिकसुख-प्राप्ति के लिए भक्तजन, अपने सम्मुख स्थापित करते हैं।' इति। ऋतावान् अर्थात् सत्यवान् या सत्यस्वरूप, महिष अर्थात् महान् या पूज्य, विश्वदर्शत अर्थात् सभीसे या सब में देखने के लिए योग्य, अथवा विश्व दर्शन है जिसका, वह विश्वदर्शत यानी सर्वज्ञ—सर्व का द्रष्टा, ऐसे अग्नि-भगवान् को, उसके ध्यान से उत्पन्न, सर्वोत्तम, सुखप्राप्ति के लिए भक्तजन अपने सामने स्थापित करते हैं। यद्वा 'पुरः हितम्' ये दो पृथक् पद

पृथक् पदं, पुरः=दिवसस्याग्रे-ब्राह्ममुहूर्ते-अमृतवेलायामहमग्निं ईळे, तस्य ह्यग्रिमस्य समयस्य परमात्मस्तवनचिन्तनादौ प्रशस्ततमत्वात्, किंभूतम्? हितं=सर्वहितकरम्। तथाहि श्रूयते स्मर्यते च 'प्रातरग्निः पुरुप्रियः' (ऋ. ५।१८।१) 'अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान् वैश्वानरो विश्वकृत् विश्वशंभूः।' (अथर्व. ६।४७।१) 'ब्राह्मे मुहूर्ते ह्युत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्' (याज्ञ. सं. १।१५) इति। यद्यपि ईड्धातोः स्तुत्यर्थत्वं प्रसिद्धम्; तथापि धातूनामनेकार्थत्वमिति न्यायमाश्रित्य प्रार्थनाऽध्येषणापूजाद्यर्थतयाऽत्रोचितत्वाद्व्याख्यानेऽपि नास्ति कश्चिद्विरोधः। तथा चाहमग्निं निराकारमपि भक्तानुग्रहाय दिव्यसाकारविग्रहवन्तमिष्टदेवं प्रार्थये, इहाऽऽगच्छ, इह तिष्ठ, प्रसन्नो भव, वरदो भव, इत्यादिना सत्कारपूर्वकमागमनादावहमग्निं देवं प्रवर्तयामि, अग्निं विविधोपचारैः पूजयामीत्यादिः। यद्वा यज्ञस्य=विविधस्य यजनजपस्वाध्यायादिलक्षणस्य पुरोहितं, यथा राज्ञः पुरोहितस्तदभीष्टं सम्पादयति, तथा अग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं साद्गुण्यमिष्टं फलञ्च सम्पादयति।

हैं, पुरः यानी दिवसका अग्रसमय–जो ब्राह्म मुहूर्त, या अमृतवेला कहा जाता है, उस शान्त, पवित्र, अच्छे समय में मैं अग्नि परमात्मा की स्तुति करता हूँ। वह अग्रिम समय, परमात्मा के स्तवन, चिन्तन आदि, आत्मकल्याण के साधन सम्पादन में अतीव प्रशस्त माना गया है। वह अग्निदेव कैसा है? हितरूप है, अर्थात् सब का हितकारी है। यह इस प्रकार श्रुतियों में सुना गया है, तथा स्मृतिओं में भी स्मृत हुआ है–'वह अग्नि भगवान् प्रातः समय में अतीव प्रिय है' 'वह अग्नि परमात्मा, प्रातः समय में हमारी रक्षा करे, वह वैश्वानर है अर्थात् सर्वात्मा है, विश्व का कर्ता, विश्व को सुखदाता है।' 'ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर अपने हितकर–कल्याणकर्ता परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए।' इति। यद्यपि ईड्-धातुका स्तुतिरूप अर्थ प्रसिद्ध है, तथापि 'धातु अनेक अर्थ वाले होते हैं' इस न्याय का आश्रय कर ईड्-धातु का प्रार्थना, अध्येषणा, पूजा, आदि अनेक अर्थोंमें योग्यता का अनुसरण कर व्याख्यान करने-पर भी कुछ विरोध नहीं है। तथा च उस अग्नि परमेश्वर की–जो निराकार होता हुआ भी भक्त के ऊपर अनुग्रह करने के लिए दिव्य साकार विग्रह वाला होता है–उस इष्ट देव की–मैं प्रार्थना करता हूँ। यहाँ आ, यहाँ बैठ, प्रसन्न हो, वरदाता हो, इत्यादि कह कर उस अग्निदेव भगवान् को सत्कार-पूर्वक आगमन आदि के लिए मैं प्रवृत्त करता हूँ, उस अग्नि देव का मैं विविध-उपचारों के द्वारा पूजन करता हूँ, इत्यादि भी ईड्-धातु के अर्थ हो सकते हैं। अथवा वह यज्ञ का पुरोहित है, यज्ञ भी यजन, जप, स्वाध्याय, आदि विविध हैं, उन सभी यज्ञों का वह पुरोहित है। जैसे राजा का पुरोहित राजा के अभीष्ट कार्य का सम्पादन कराता है, तैसे अग्नि भगवान् भी यज्ञों में अपेक्षित, शोभनगुणवत्ता, एवं इष्ट फल भी सम्पादन करता है।

यद्वा यज्ञस्य सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, तन्मध्ये शान्तितुष्ट्यादिरूपेणावस्थितम् । पुनः-कीदृशम्? देवं=दानद्योतनादिगुणयुक्तम् । अथवा यज्ञस्य देवमिति सम्बन्धः, यज्ञस्य-प्रकाशकमित्यर्थः । पुनः कीदृशम्? ऋत्विजं='ऋ गतौ' औणादिकस्तुप्रत्ययः, ऋतुः=गतिः-अवगतिः विज्ञानं विवक्षितम्; तस्मिन्निमित्ते सति यो यजति=स्वात्मानं ददाति-अभेदेन संगमयति-आवरणनिरासेन ज्ञापयति स्वयमात्मरूपेण संगतो भवतीति वा ऋत्विक् तं=ज्ञानगम्यं-सर्वात्मरूपं परं ब्रह्मतत्त्वमित्यर्थः। यजतेः संगतिकरणदानार्थयोरपि स्मरणात् । अथवा ऋत्विजं=ऋत्विग्वत् सर्वयज्ञनिर्वाहकमित्यर्थः। यद्वा सर्वेषु वसन्तादिषु ऋतुषु अनवरतं यष्टुं योग्यमित्यर्थः । पुनः कीदृशम्? होतारं=यो जुहोति-प्रयच्छति अभ्युदयं निःश्रेयसञ्चापि स्वाराधकेभ्यो भक्तेभ्यः, समादत्ते च तैः समर्पितं पत्रपुष्पादिकमपि स होता, तं, 'हु दानादनयोः' आदाने-चेत्येके, इति

अथवा 'यज्ञस्य' इस पद में षष्ठीविभक्ति, सम्बन्धसामान्य अर्थ में है, इस लिए वह यज्ञ का सम्बन्धी है, अर्थात् इन सभी यज्ञों में वह, शान्ति, तुष्टि आदि स्वरूप से अवस्थित रहता है। पुनः वह अग्नि परमात्मा कैसा है? वह देव है-अर्थात् दान, द्योतन (प्रकाशन) आदि अलौकिक गुणों से विभूषित है। अथवा वह यज्ञ का देव है, यज्ञपद का देवपद के साथ अन्वय करने से वह यज्ञ का प्रकाशक है, ऐसा अर्थ होता है। पुनः वह कैसा है? वह ऋत्विक् है, ऋधातु का गति अर्थ है, उससे उणादि-गण का तु प्रत्यय होता है, इससे ऋतु शब्द बनता है, उसका अर्थ है गति अर्थात् अवगति-विज्ञान, विवक्षित (कहने के लिए अभिप्रेत) है, विज्ञानरूप निमित्त कारण उपस्थित होने पर जो परमात्मा अपने आत्मा का दान करता है, अर्थात् अभेदभाव से भक्त के आत्मा में अपने आत्मा को मिला देता है। अविद्यादि-आवरण निवृत्ति के द्वारा अभेदभाव का ज्ञापन करता है। अपने आत्मस्वरूप से जो प्राप्त होता है वह भगवान् ऋत्विक् यानी ज्ञान से गम्य सर्वात्मरूप परब्रह्मतत्त्व है, यही उसका तात्पर्यार्थ है। यज्-धातु को संगतिकरण एवं दान अर्थ में भी पाणिनि महर्षि ने कहा है। इसलिए पूर्वोक्त अर्थ प्रामाणिक है। अथवा-यज्ञ में प्रसिद्ध ऋत्विक् की तरह जो परमात्मा सभी यज्ञों का निर्वाहक है, इसलिए ऋत्विक् नाम से कहा गया है। अथवा वसन्तादि सभी ऋतुओं में सदा वह परमात्मा यजन करने के लिए योग्य है, इसलिए वह ऋत्विक् है। पुनः वह कैसा है? होता है, जो अपनी आराधना करने वाले भक्तों को अभ्युदय (ऐश्वर्य) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) प्रदान करता है, वह होता कहा जाता है। हु धातु दान, अदन, (भक्षण) एवं आदान (ग्रहण) अर्थ में प्रसिद्ध है। उस

धातोर्होतेति पदं निष्पद्यते। यदाहुः-'तोयं वा पत्रं वा यद्वा किञ्चित् समर्पितं भक्त्या। तदलं मत्वा देवो निःश्रेयसमेव निष्क्रयं मनुते ॥' इति ॥ भगवन्तं भक्त्या पूजयन् स्तुवन् चिन्तयन् हि भक्तः तुलसीबिल्वदलादिद्रव्यं चेतो वा तस्मै प्रयच्छति, तच्च गृह्णन् तुष्टः परमेश्वरः तत्प्रत्तद्रव्यमभ्युदयनिःश्रेयसप्रदानेन निष्क्रीणातीत्यर्थः। यद्वा होतारं=जुहोति-प्रलये उपसंहरति भूतान्यात्मनि, सर्गे समर्पयति भूतेषु चात्मानमिति होता तम्। 'हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति तत्सर्वेषु भूतेष्वात्मानं हुत्वा भूतानि चाऽऽत्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येदिति।' (शत. ब्रा. १५।२।४।९) इति श्रुतेः, सर्वभूतान्तर्यामिणं सर्वभूतलयाधारमिति यावत्। पुनरपि कीदृशम्? रत्नधातमं=रत्नानां-रमणीयानां यज्ञफलरूपाणां धर्मार्थकाममोक्षाणां निखिलपुरुषार्थानामतिशयेन दातारं=धारयितारं पोषयितारं वा। एवं हि तस्याग्निशब्दार्थस्याऽन्तर्यामिणः परमात्मनो देवाधिदेवस्य प्राधान्येन स्तुतिप्रार्थनादिप्रदर्शनायैषा-'अग्निमीळे' इति ऋक् भवति।

धातुसे होता पद बनता है। यह कहते हैं-'जल या पत्ते अथवा अन्य कुछ भी जो भक्ति से समर्पित होता है, उसे अलं (पर्याप्त) मान कर देव भगवान् उसके बदले में देने के लिए निःश्रेयस-आत्मकल्याण ही है, ऐसा मानता है।' भगवान् का भक्ति से पूजन करता हुआ-स्तुति करता हुआ-एवं चिन्तन-ध्यान करता हुआ भक्त, तुलसीदल बिल्वदल आदि वस्तु या चित्त, उस भगवान को समर्पण करता है, यह ग्रहण करता हुआ-उससे सन्तुष्ट हुआ परमेश्वर निःश्रेयस के प्रदानद्वारा उस दी हुई वस्तु का निष्क्रय करता है, अर्थात् दी हुई उन वस्तुओं का बदला कल्याण-मोक्ष दे कर चुकाता है। अथवा होता वह है-जो प्रलयसमय में अपने आत्मा में सभी भूतों का-चराचर पदार्थों का उपसंहार (विलय) करता है, एवं सृष्टि के समय में सभी भूतों में अपने आत्मा को समर्पण करता है। यह शतपथ ब्राह्मण की श्रुति कहती है-'हन्त अर्थात् बड़ा हर्ष का विषय है कि-मैं उन भूतों में आत्मा का तथा आत्मा में सभी भूतों का होम (समर्पण) करूँ, ऐसा विचार कर उसने सभी भूतों में आत्मा का तथा आत्मा में सभी भूतों का होम करके सर्वभूतों का श्रेष्ठ स्वाराज्य एवं आधिपत्य प्राप्त किया।' इससे होता पद का सर्व भूतों का अन्तर्यामी एवं सर्वभूतों के विलय का आधाररूप अर्थ सिद्ध हुआ। पुनः वह कैसा है? रत्नधातम है, अर्थात् विविध यज्ञों के फलरूप, रत्नसदृश-रमणीय-धर्म अर्थ काम मोक्षरूप निखिल पुरुषार्थों का अतिशय करके दान करने वाला-धारण करने वाला-एवं पोषण करने वाला है। इस प्रकार 'अग्निमीळे' यह ऋक् अग्निशब्दार्थ-अन्तर्यामी-देवाधिदेव-परमात्मा की प्रधानरूप से स्तुति-प्रार्थनादि के प्रदर्शन के लिए है।

ननु ऋत्विक्पुरोहितादिशब्दानां लोकप्रसिद्धार्थमुपेक्ष्य व्युत्पत्तिमात्रेण ततो विलक्षणार्थः कथमत्र प्रतिपाद्यते? इति चेन्मैवम्-समाहितमेतन्निरुक्ते 'शब्दगतिविभुत्वाद् ऋचां विविधार्था भवन्ति' (७।२२) इति। तट्टीकाकारैर्दुर्गाचार्यैरप्युक्तम्-'न हि मन्त्रेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाऽश्वारोहवैशेष्यात् अश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते मन्त्रा वक्तृवैशेष्यात् साधून् साधुतरांश्चाऽर्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिँच्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते, क्वचिच्चाध्यात्माधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु मन्त्रेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन्, अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः, नात्रापराधोऽस्तीति। तथा च 'इत्यधिदैवतम्' 'अथाधियज्ञम्' 'अथाध्यात्मम्' (शत. ब्रा. १०।२।६।) इत्यादिब्राह्मणव्याख्यानान्यप्युपपद्यन्ते। अत एव ऋ-

शंका-ऋत्विक्, पुरोहित, आदि शब्दों का लोक में प्रसिद्ध अर्थ की उपेक्षा करके व्युत्पत्ति-मात्र से उससे विलक्षण-अर्थ का यहाँ क्यों प्रतिपादन करते हो?

समाधान-ऐसा मत कहो। इसका समाधान निरुक्त में भी किया है-'वेद के शब्दों की गति (प्रचार) व्यापक (विशाल) है, इसलिए ऋचाओं के विविध अर्थ होते हैं।' निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य्य ने भी कहा है-'वेद के मन्त्रों में अर्थ की इयत्ता (इतनापन) का अवधारण (निश्चय) नहीं है, अर्थात् वेदमन्त्रों के अधियज्ञ या आधिभौतिक ही अर्थ होते हैं, आधिदैविक या आध्यात्मिक अर्थ नहीं हो सकते हैं, ऐसी इयत्ता का निश्चय नहीं करना चाहिए। क्योंकि-वेदमन्त्र महान्-(विविध-व्यापक) अर्थ वाले हैं, उन सभी अर्थों का परिज्ञान सभी के लिए दुर्लभ है। अर्थात् तपस्वी, शुद्धान्तःकरण, मेधावी, महापुरुष को ही उन सभी अर्थों का परिज्ञान होता है, सभी को नहीं। जैसे अश्वारोह (सवार) की विशेषता से अश्व अच्छा एवं उससे भी अच्छा चलता है। इसी प्रकार ये मन्त्र, वक्ता-व्याख्याता की विशेषता के कारण अच्छे एवं उससे भी अच्छे अर्थों का प्रकाश करते हैं। ऐसा होने पर इस निरुक्त शास्त्र में एक-एक पद का निर्वचन-लक्षणों का उद्देश मात्र है, वह कहीं कहीं, अध्यात्म, अधिदैव, अधियज्ञ, आदि अर्थों के प्रदर्शन के लिए किया जाता है। इसलिए इन मन्त्रों में, अधिदैव, अध्यात्म, अधियज्ञ, आदि के आश्रय करने वाले जितने अर्थ उपपन्न (युक्ति-युक्त) हो सकें, उतने वे सब करने चाहिए।' ऐसा मानने पर 'यह अधिदैव (अर्थ) है' 'अब अधियज्ञ तथा अध्यात्म अर्थ किया जाता है' इत्यादि ब्राह्मण-ग्रन्थों के व्याख्यान भी सुसंगत हो जाते हैं।

ग्वेदानुक्रमण्यां माधवभट्टोऽप्याह—'नानाविधैरभिप्रायैर्ऋचो दृष्टा महर्षिभिः ॥' (देवतानुक्रमणी १।१६) इति।

अपि च नायमग्निः परमेश्वरो मयैवैतन्मन्त्रदृशा स्तूयमानो भवत्यपि त्वस्मत्पूर्वजैर्महद्भिः परमाप्तैरपि स्तुत आसीत्। स च तेभ्यः इष्टान् कामान् ददौ, तथेदानींतनानां जनानां युष्मदादीनामपि विधीयमानस्तुतिफलमवश्यं दास्यतीति विश्वासातिशयं तत्स्तुत्यादौ रुच्यतिशयञ्च जनयितुमाह—यथायमग्निः, पूर्वेभिः=पुरातनैरस्मत्पूर्वजैः भृग्वङ्गिरोवसिष्ठव्यासविश्वामित्रप्रभृतिभिः, ऋषिभिः=तत्त्वज्ञानिभिः, ईड्यः=स्तुत्योऽभूदिति शेषः। उत=तथा, नूतनैः=इदानींतनैर्युष्माभिरपि स्तुत्यः सोऽयमग्निः परमेश्वरः स्तुतः सन्, इह=लोके वर्तमानान् देवान्=दैवीसम्पद्भाजः—सात्त्विकाचारान् भगवदाज्ञानुवर्तिनो विदुषः तत्स्तुतिकर्तॄन् युष्मान् प्रत्यपि आवक्षति=आ–समन्ततो–वक्ष्यति–वहनं करिष्यति इष्टं फलमिति शेषः। 'वह प्रापणे' इति धातुः भविष्यदर्थे 'लृट्' तस्य स्यप्रत्ययगतस्य यकारस्य लोपो छान्दसः। एवमेव श्रुत्यन्तरेऽपि आम्नायते—'देवो देवान् स्वेन रसेन पृंचन्' (ऋ. ९।९७।१२) 'देवो देवान् यजत्वग्निरर्हन्' (ऋ. २।३।१) 'देवो देवान् यजसि जातवेदः' (ऋ. १०।११०।१) इति। देवः=परमेश्वरः, रसेन=आनन्देन, देवान् पृंचन्=पुष्टान् करोति। अर्हन्=परमपूज्यो भगवान् देवान् यजतु=

इसलिए ऋग्वेदानुक्रमणी नामक ग्रन्थमें माधवभट्ट भी कहता है—'महर्षियों ने अनेक प्रकार के अभिप्रायों से इन ऋचाओं का दर्शन किया है।' इति।

और यह अग्नि परमेश्वर मुझ मन्त्रद्रष्टा ऋषि से ही स्तूयमान हुआ है ऐसा नहीं है, किन्तु हमारे पूर्वज महान परमाप्त-महर्षिओं से भी स्तुत हुआ था, इसलिए उस स्तुत्य भगवान् ने उनको इष्ट-कामों (धर्मादिपुरुषार्थों) का प्रदान किया था। उसी प्रकार वह इस समय के आप सभी लोकों से की हुई स्तुति का फल भी अवश्य प्रदान करेगा, ऐसा उसकी स्तुति आदि में अतिशय विश्वास, एवं अतिशय रुचि उत्पन्न करने के लिए मन्त्रद्रष्टा कहता है—जैसे यह अग्नि परमेश्वर, पुरातन-हमारे पूर्वज, भृगु, अंगिरा, वसिष्ठ, व्यास, विश्वामित्र, आदि तत्त्वज्ञानी ऋषिओं से प्रथम स्तुत्य हुआ था, तैसे इस वर्तमान समय में रहने वाले नवीन, आप लोगों से भी स्तुति किया हुआ—वही यह स्तुत्य अग्नि-परमेश्वर इस लोक में वर्तमान-दैवीसम्पत्ति को धारण करने वाले—सात्त्विक आचार वाले भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलने वाले—भगवान् की स्तुति करने वाले देव-सदृश आप विद्वानों के लिए भी वह सभी प्रकार से इष्टफल का वहन (प्रापण) करेगा। 'वक्षति' यह पद प्रापण अर्थ वाली 'वह' धातु से बना है, भविष्यकाल में प्रयुक्त हुआ है। उसके स्यप्रत्यय के यकार का लोप छान्दस है। इस प्रकार अन्य श्रुतिओंमें भी कहा गया है—'देव भगवान् देवों को अपने रस यानी अलौकिक आनन्दसे पुष्ट करता है।' 'परम पूज्य अग्निदेव, देवों का यजन अर्थात् इष्टफल प्रदान द्वारा पूजन करता है' 'देव! जातवेद! तू देवों का यजन करता है, अर्थात् उन को इष्ट फल का सम्बन्ध कराता है।' इन श्रुतिओं के पर्यालोचन से देवशब्द का दैवी गुण वाले विद्वान् भी अर्थ होता

यजति–पूजयति इष्टफलप्रदानेनेति शेषः । यजति=इष्टं फलं सङ्गमयतीत्यर्थः । अस्ति हि देवशब्दो दैवीसम्पद्वद्विद्वद्बोधकोऽपि । अत्रार्थे–'विद्वांसो वै देवाः' (शत. ब्रा. ३।७।३।१०) 'एते वै देवाः प्रत्यक्षं यद्ब्राह्मणाः' (तै. सं. १।७।३।१) इति, शतपथब्राह्मणतैत्तिरीयसंहितासम्मतिरप्यस्ति । महाभारतेऽप्युक्तम्–'सर्वे देवा मर्त्यसंज्ञाविशिष्टाः सर्वे मर्त्या देवसंज्ञाविशिष्टाः ॥' (शान्तिपर्व. मोक्षधर्म २२८।४१) इति; इन्द्रादयः सर्वे देवा यदि अभयसत्त्वसंशुद्ध्यादिदैवीसम्पद्विरहिता ब्रह्मात्मज्ञानशून्याश्चेत्, तर्हि ते मर्त्यसंज्ञाविशिष्टा वेदितव्याः, सर्वे मर्त्याः=मनुष्या यदि दैवीसंपद्युक्ता आत्मज्ञानिनः स्युश्चेत्, ते इमे सर्वे देवसंज्ञावन्तो विज्ञेया इत्यर्थः । यद्वा प्राचीनार्वाचीनैः सकलैः ऋषिभिः स्तूयमानः प्रशंसनीयतरोऽयं परमात्माग्निः, इह=सर्वेषु शरीरेषु, तदङ्गेषु वा, देवान्=सूर्यादीन् आवक्षति आवहति–समन्ततः प्रापयति–वासयतीति यावत् । 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' (ऐ. उ. १।२।४) इत्यादिश्रुतेः । तथा चाऽखिलशरीराङ्गेषु तत्तद्देववासयितुस्तस्य भगवतः सर्वजनहितकरत्वेन स्तुत्यत्वमुक्तं समर्थ्यते । अधियज्ञपक्षेऽयमग्निः, इह=यज्ञे, देवान्=हविर्भुजः आवहति=आनयति । अत्र लडर्थे छान्दसो लट् ।–

है, ऐसा निश्चय होता है । देव यानी परमेश्वर, रस अर्थात् आनन्द, उससे वह देवों को पुष्ट–तृप्त करता है । अर्हन् यानी परम पूज्य भगवान् । देवों का पूजन करता है अर्थात् उनको इष्ट फल का प्रदान करता है, यही उनका पूजन है । इष्ट फल का संगमन कराना भी यज धातु का अर्थ है । देवशब्द दैवी सम्पत्ति वाले विद्वानों का भी बोधक है, इस विषय में 'विद्वान् भी देव हैं' 'ये ब्राह्मण ही प्रत्यक्ष देव हैं' यह शतपथ ब्राह्मण एवं तैत्तिरीयसंहिता की भी सम्मति है । महाभारत में भी कहा है–'सभी देव मर्त्यनाम वाले हैं, और सभी मर्त्य (मनुष्य) देवनाम वाले हैं, अर्थात् इन्द्रादि सभी देव, यदि अभयसत्त्वसंशुद्ध्यादि दैवी-सम्पत्ति से रहित, तथा ब्रह्मात्मज्ञान से शून्य हैं तो वे मर्त्यनाम वाले हैं, ऐसा जानना चाहिए, यानी वे मुख्य देव नहीं हो सकते, देवों में मुख्य देवपना, दैवी सम्पत्ति से एवं परमात्मदेव के साक्षात्कार से ही सिद्ध होता है । एवं यदि सभी मनुष्य दैवीसम्पत्ति से युक्त, आत्मज्ञानी हों तो वे देवनाम वाले हैं, अर्थात् देवशब्द से कहे जा सकते हैं । ऐसा जानना चाहिए । अथवा प्राचीन एवं अर्वाचीन सकल ऋषियों से स्तूयमान, अत्यन्त-प्रशंसनीय-यह परमात्मा-अग्नि, इन सभी शरीरों में या उनके सभी अंगों में सूर्यादि देवों का वहन (प्रापण) करता है अर्थात् बसाता है । ऐतरेय श्रुति भी कहती है–'आदित्य, चक्षु इन्द्रिय हो कर अक्षि-गोलक में प्रविष्ट हुआ' इत्यादि । तथा च अखिल शरीर के अंगों में उस उस देवों का बसाने वाला भगवान् सर्वजन का हितकारी होने से स्तुत्य है, यह पूर्वोक्त अर्थ समर्थित होता है । अधियज्ञपक्ष में यह अग्नि, इस यज्ञ में, हवि के ग्रहण करने वाले-इन्द्रादि देवों को प्राप्त कराता है । इस पक्ष में लट् लकार के वर्तमान-अर्थ में छान्दस लट्

इदमत्र विज्ञेयम्—आध्यात्मिकव्याख्याने-ऽस्मिन् प्रायः सर्वत्राग्निशब्दो मुख्यया वृत्त्या चेतनात्मस्वरूपस्यैव बोधकः, गौण्या तु भौतिकाऽग्निदेवतादेरपि । तस्मादग्निपदेन हठबुद्ध्या सर्वत्र भूताग्निरेव न ग्रहीतव्यः। चेतनबोधकपुरोहितत्वादिधर्माणां मुख्यतस्तत्रासंभवात् । इत्येवं बहुतरमपक्षपातया धिया समालोचनीयम् । अपि चैतन्मन्त्रस्थपदैः तात्पर्यतोऽवगम्यमानः सदुपदेश एवमूहनीयः। तथा हि 'मनुजैः सर्वैः परमात्मदेवस्याहरहः स्तवनं श्रद्धया विधातव्यम्' 'इत्यग्निमीळे' इतिपदमुपदिशति । 'अग्रतोऽवस्थाय सर्वेषां हितमेवाचरणीयम्' इति पुरोहितपदम् । 'सत्कर्मलक्षणं यज्ञमनुष्ठाय देवानुग्रहोऽवश्यं सम्पादनीयः' इति यज्ञदेवपदम् । 'समयानुकूलः प्रशस्तव्यवहारः कर्तव्यः' इति ऋत्विक्पदम् । 'दानहोमादिकमनुष्ठेयम्, इति होतृपदम् । 'अतिप्रयत्नतोऽपि रमणीयपुरुषार्थसार्थं धृत्वा स्वकीया अपि यथा तं धारयेयुः तथा प्रयतनीयम्' इति रत्नधातमपदम् । 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' इति न्यायेन 'पूर्वोक्तान् उपास्यदेवसद्गुणान् धृत्वा स्वयं देवो भूत्वा देवो यष्टव्यः ।' एवं 'देवगुणवानेव सर्वैः प्रशंसनीयो भवति, तस्यैव प्रशंसा कर्तव्या, न तु कदापि तद्गुणशून्यस्य मनुजाधमस्य लोभादिना प्रशंसा कर्तव्या' इतीज्यपदं विज्ञापयति । 'अस्मिन्

प्रकार हुआ है । यहाँ यह समझना चाहिए—इस आध्यात्मिक व्याख्यान में प्रायः (बहुत करके) सर्वत्र (सभी मन्त्रों में) अग्नि शब्द मुख्यवृत्ति से चेतन-आत्मस्वरूप का ही बोधक है । गौणीवृत्ति से भौतिकाग्नि-देवता का भी बोधक है । इसलिए सर्वत्र हठ-(दुराग्रह)बुद्धि से अग्निपद से भूताग्नि ही नहीं ग्रहण करनी चाहिए । क्यों कि-चेतन अर्थ के बोधक पुरोहित आदि पूर्वोक्त धर्मों का मुख्यता से उसमें संभव नहीं हो सकता । इस प्रकार बहुत कुछ पक्षपातरहित बुद्धि से तथ्य अर्थ की समालोचना करनी चाहिए । और इस मन्त्र में अवस्थित पदों के द्वारा तात्पर्य-वृत्ति से ज्ञात हुए सदुपदेशों की इस प्रकार कल्पना करनी चाहिए । यह बतलाते हैं—'अग्निमीळे' यह पद—'सभी मनुष्यों को प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक परमात्मदेव का स्तवन करना चाहिए ।' यह उपदेश देता है । पुरोहितपद—'अग्रभाग में खड़े हो कर सभी प्राणियोंका हित करना चाहिए' । यज्ञदेवपद—'सत्कर्मलक्षण वाले यज्ञ का अनुष्ठान करके परमात्मदेव का अनुग्रह अवश्य सम्पादन करना चाहिए ।' ऋत्विक्पद—'समय के अनुकूल प्रशस्त व्यवहार करना चाहिए ।' होतापद—'दान होम आदि सत्कार्य करने चाहिए ।' रत्नधातमपद—'अतिप्रयत्न से भी रमणीय-धर्मादि पुरुषार्थ समुदाय को धारण कर अपने सम्बन्धी मनुष्य भी जिस प्रकार इस पुरुषार्थ समूह को धारण करें वैसे प्रयत्न करना चाहिए ।' ईड्यपद—'देव हो कर देव का यजन करना चाहिए' इस न्याय से पूर्वोक्त 'उपास्य देव के सद्गुणों को धारण कर के स्वयं देवस्वरूप बनकर देवका यजन करना चाहिए ।' एवं 'देवगुणवान् ही सभी से प्रशंसनीय होता है, सभी को उसी की ही प्रशंसा करनी चाहिए, देवगुणशून्य-मनुजाधम की लोभादि के निमित्त से कदापि प्रशंसा (खुशामद) नहीं करनी चाहिए ।' ऐसे उपदेश विज्ञापन करते हैं । 'देवान् एह

धराधाम्नि सर्वे मनुजा देवगुणवन्तः सन्तो लोकमिमं सर्वविधाऽभ्युदयसंयुक्तं देवलोकं कुर्युः' इति 'देवान् एह वक्षति' इति वाक्यं सूचयति। इत्यादिकं सदुपदेशजातमपि मतिमता स्वयमूह्यम्।

वक्षति' यह वाक्य—'इस धराधाम में सभी मनुष्य देवगुणवाले होकर इस लोक को सर्व प्रकार के अभ्युदयों से संयुक्त—देवलोक बनावें।' ऐसा उपदेश सूचित करता है। इत्यादि सदुपदेश समुदाय की मतिमान् स्वयं कल्पना करें। इति।

(२)

(प्रत्यगात्माभिन्नविष्णुपदमपरोक्षं पश्यन्तः स्वयं कृतकृत्याः सन्तो महात्मानोऽन्यानपि कृतार्थयन्ति)

(प्रत्यगात्मा से अभिन्न-विष्णुपद को अपरोक्षरूप से अनुभव करते हुए स्वयं कृतकृत्य हुए महात्मा अन्यों को भी कृतार्थ बना देते हैं)

ये किल महाभागाः कृतसंन्यासा वीतरागद्वेषाः पण्डिताः श्रुतिप्रतिपादितं प्रत्यगात्माभिन्नस्य विष्णोः परमं पदमपरिच्छिन्नचिदानन्दघनस्वरूपमविद्यातत्कार्यकल्पनाविनिर्मुक्तमलौकिकाखण्डामृतैकरसं सदा सर्वत्र नैरन्तर्येणास्वादयन्ति। 'त्वां देवासो अमृताय कं पपुः' (ऋ. ९।१०६।८) इति श्रुतेः[1]। त एव भुवि मतिमन्तो धन्याः श्रुतिसारविद्वराः पुण्यकीर्तयः सम्मान्याः सन्ति। तादृशानां तेषां ब्रह्मविदां किञ्चिदप्यपरमन्वेष्टव्यं ज्ञातव्यं प्राप्तव्यं वा कृत्यं नावशिष्यते। ते हि स्वयं कृतार्थाः जीवन्मुक्ताः सन्तोऽन्यानपि मुमुक्षून् स्वात्मसाक्षात्कारोपदेशेन कृतार्थीकुर्वन्ति, स्वयं संसारवारिधेः तीर्णाः परानपि तारयन्ति इत्याशयान आह—

जो महाभाग्यशाली, संन्याससम्पन्न, रागद्वेषरहित पण्डित हैं, वे—श्रुतिप्रतिपादित प्रत्यगात्मा से अभिन्न-विष्णु का परम पद—जो अपरिच्छिन्न-चिदानन्दघनस्वरूप-अविद्यातत्कार्य की कल्पना से विनिर्मुक्त-अलौकिक-अखण्ड-अमृत एक रस है—उसका सदा सर्वत्र निरन्तर आस्वादन करते हैं। ऋक् श्रुति कहती है—'अमृतत्व के लिए आनन्द स्वरूप आपका दैवीसम्पत्ति वाले तत्त्वदर्शी देव, पान (आस्वादन) करते हैं।' इति। वे ही इस पृथिवी में मतिमान्, धन्य, श्रुति—सार के जानने वालों में श्रेष्ठ—पवित्र कीर्ति वाले—सम्मान्य हैं। ऐसे उन ब्रह्मवेत्ताओं के लिए कुछ भी अन्य अन्वेषण करने योग्य, या जानने योग्य, या प्राप्त करने योग्य, कार्य अवशिष्ट नहीं रहता है। वे स्वयं कृतार्थ—जीवन्मुक्त हुए, अन्य मुमुक्षुओं को स्वात्मसाक्षात्कार के साधनों के उपदेश से कृतार्थ कर देते हैं। स्वयं संसारवारिधि से तरते हुए अन्यों को भी तार देते हैं, इस आशय का आश्रय कर भगवान् वेद कहता है—

१ देवासः=तत्त्वदर्शिनो विद्वांसः, त्वां=सर्वत्र समनुगतं परमात्मानं, कं=परमानन्दरूपं स्वादुतमं, अमृताय=मोक्षाय-परमप्रयोजनाय, पपुः=सतत पानमकार्षुः-कुर्वन्ति वा इत्यर्थः आस्वादयन्तीति यावत्।

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥
ॐ तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥

(ऋग्वेदसंहितायां प्रथमाष्टके द्वितीयाष्टकं वर्ग. ७, मण्डल १, अनुवाक ५, सूक्त. २२ ऋक् २०।२१) (सा. सं. १६७२) (अथर्वसं. ७।२६।७) (शु. य. सं. ६।५) (कृष्णयजुःसं. १।३।६।२)

ॐ उस विष्णु के परम पद को विद्वान् महात्मा लोग सदा देखते हैं—अपरोक्ष अनुभव करते हैं । जैसे आकाश में फैली हुई चक्षु सूर्य का साक्षात् दर्शन करती हैं, तद्वत् । उस विष्णु के परम पद को—वे तत्त्वदर्शी मेधावी—जो सदा क्रोधकामादि दोषों से विमुक्त-निर्द्वन्द्व, सदा जागरूक-प्रमाद रहित हैं, जिज्ञासुओं के प्रति उपदेश के द्वारा प्रकट करते हैं ।

तत्=सत्यज्ञानादिलक्षणं वाङ्मनसातीतं मुक्तोपसृप्यं ब्रह्म प्रसिद्धम्, विष्णोः=व्यापनशीलस्य तस्यैव । षष्ठी 'शीलापुत्रकस्य शरीरम्' 'राहोः शिरः' इतिवदभेदेन द्रष्टव्या । परमं=उत्कृष्टं-अनौपम्यस्वभावमित्यर्थः । पदं=पद्यते-गम्यते आत्मत्वेनाहं ब्रह्मास्मीति ज्ञानेनेति पदम्, पदनीयं-ज्ञानगम्यं-ज्ञातव्यं-प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मतत्त्वम् । सदा=कालत्रयेऽपि तस्य नित्यत्वात् । पश्यन्ति=विष्णोस्तत्पदं

तत् अर्थात् सत्य, ज्ञान, आदि लक्षण वाला, वाणी एवं मन की विषयता से अतीत, अविद्यादि बन्ध से विमुक्त-महापुरुषों से प्राप्त करने योग्य-प्रसिद्ध ब्रह्म । विष्णु अर्थात् व्यापनशील उस परमात्माका । इसमें षष्ठी विभक्ति—'शीला पुत्रक का शरीर' 'राहु का शिर' की भाँति औपचारिक है, अर्थात् शिला का बना हुआ जो पुतला है, वही शरीर है, जो राहु है, वही शिर है, ऐसा होने पर भी शिला पुत्रक का शरीर, राहु का शिर ऐसा कहा जाता है । तैसे विष्णु-स्वरूप ही परम पद है, परन्तु 'विष्णु का परम पद' ऐसा कहा जाता है । इस लिए यह षष्ठी विभक्ति अभेद अर्थ में है, विष्णु का एवं परम पद का भेद केवल कहने मात्र का है, ऐसा समझना चाहिए । परम अर्थात् उत्कृष्ट, उपमा-सादृश्य रहित, असाधारण स्वरूप । पद अर्थात् आत्मस्वरूप से 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान से जानने योग्य स्वरूप, जो ज्ञानगम्य-ज्ञातव्य, प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म तत्त्व है । सदा अर्थात् तीन काल में, क्योंकि वह स्वरूप नित्य अविनाशी है । पश्यन्ति-अर्थात् 'उस विष्णु का वह पद हम ही हैं' इस

वयं स इति साक्षात्कुर्वन्ति। के? सूरयः=कृताहंममेतिदौर्जन्यसंन्यासाः समदर्शिनः पण्डिताः। आह च भगवान् वेदव्यासोऽपि श्रीमद्भागवते—'परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः।' 'त एतदधिगच्छन्ति विष्णोर्यत्परमं पदम्॥ अहं ममेति दौर्जन्यं न येषां देहगेहजम् ॥' (१२।६।३२-३३) इति। अतदुत्सिसृक्षवः=तत्=आत्मतत्त्वं, न तत्-अतत्-अविद्यातत्कार्यलक्षणं मूर्तामूर्तानात्मोपाधिजातं नेतिनेतीत्यनेन श्रुतिवचनेन, उत्स्रष्टुं-परित्यक्तुं, इच्छवो मुमुक्षवः, तत्=आत्मतत्त्वाभिन्नमेव वैष्णवं परं पदं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। कीदृशाः सन्तः? दिवीव=स्वयंप्रकाशे स्वरूपे स्वमहिम्येव वर्तमानाः सन्तः, इवकार आधाराधेयभावनिवारणार्थः। कीदृशं पुनः तत्साक्षात्क्रियमाणं स्वरूपं? इत्याह—चक्षुः=चष्टे-प्रकाशते-स्वयं प्रभातीति चक्षुः स्वयंप्रकाशमित्यर्थः। आततं=विस्तृतं देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यमित्यर्थः। यद्वा स्वरूपे दृष्टान्तमाह—दिवीवेति दिवि=निर्मलाकाशे, आततं=व्याप्तं, चक्षुः, इव-यथाऽऽवरकाभावात् विततं निर्विकल्पज्ञानं भवति । तथा विकल्पशून्यं चिदानन्दघनपूर्णं तदित्यर्थः।

प्रकार अभेदरूप से साक्षात्कार करते हैं। कौन? सूरी अर्थात् जिन्होंने अहंता ममता रूप दुर्जनता का परित्याग किया है, ऐसे समदर्शी पण्डित। भगवान् वेदव्यास भी श्रीमद्भागवत में कहते हैं—'नेति नेति' इस श्रुति के उपदेश के अनुसार मूर्तामूर्त अनात्मवर्ग के त्याग करने की इच्छा वाले विद्वान्, सर्व द्वैत प्रपञ्च के बाध या आश्रय (अधिष्ठान) रूप से विष्णु के परम-पद का वर्णन करते हैं।' 'विष्णु के उस परम-पद को वे ही सज्जन प्राप्त होते हैं, जिन के देह में होने वाला अहंपना और गृह आदि सम्बन्धी पदार्थों में होने वाला ममपना-रूप दौर्जन्य नहीं है, इति। 'अतदुत्सिसृक्षवः' पद में विद्यमान तत्पद का आत्मतत्त्व अर्थ है, अतत्-पद का अविद्या और तत्कार्य रूप मूर्त-अमूर्त-अनात्म-उपाधि समुदाय अर्थ है, उसका 'नेति नेति' इस श्रुति वचन से परित्याग करने की इच्छा वाले मुमुक्षु लोग, आत्मतत्त्व से अभिन्न ही विष्णु के परम-पद का प्रतिपादन करते हैं। कैसे हुए वे विष्णुपद का साक्षात्कार करते हैं? 'दिवीव' अर्थात् स्वप्रकाश स्वरूप अपनी महिमा मे वर्तमान हुए। 'इव' यह निपात पद आधार-आधेय भाव का निवारण करता है। वह साक्षात् होने वाला स्वरूप किस प्रकार का है? यह कहते हैं—चक्षुः अर्थात् स्वयप्रकाश। तथा आतत अर्थात् विस्तृत-देश काल एव वस्तुकृत परिच्छेदरहित। अथवा स्वरूप में दृष्टान्त कहते हैं—'दिवि' अर्थात् निर्मल-आकाश में, आतत अर्थात् व्याप्त-फैला हुआ चक्षु की तरह। जैसे आवरक (प्रतिबन्धक) नहीं होने से वह फैला हुआ चक्षु निर्विकल्पज्ञान वाला होता है, तद्वत् वह चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म-

१ शास्त्रैरङ्गैर्या ज्ञातव्या दीपरन्नसमाश्च सा। (माधवभट्ट-ऋग्वेदानुक्रमणी)

दृष्टान्तेऽत्र खलु शुद्धप्रातिपदिकव्यक्तिमात्र-स्याकाशस्य ज्ञेयस्य तद्विषयकमनःसंयुक्त-चक्षुःप्रसूतज्ञानस्य च निर्विकल्पत्वमिव दार्ष्टा-न्तिकेऽपि ज्ञानज्ञेययोर्निर्विकल्पत्वमवगन्त-व्यम्। यद्वा साक्षात्कारे निदर्शनमाह–इव= यथा, दिवि=द्युलोके व्योम्नि, आततं=सम-न्ततो रश्मिभिर्विस्तारं प्राप्तं व्याप्तं तत्रो-द्यन्तं चक्षुः=सूर्यः कर्मणि द्वितीया। 'सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुः (अथर्व. १३।२।४५) 'सूर्यो वै प्रजानां चक्षुः' (शत. ब्रा. १३।३।८।४) 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः' (क. उ. ५। ११) इत्यादिश्रुतिभ्यः सूर्यस्य चक्षुष्ट्वमव-गम्यते। तथा चात्र सर्वेषां चक्षुःस्थानीयं सूर्यमण्डलमिह चक्षुःशब्देनोच्यते, तं यथा जनाः सर्वे स्पष्टतरं पश्यन्ति, तथा सूरयः परमं पदं सर्वत्र प्रकाशानन्दस्वरूपं तत्त्वं पश्य-न्तीति यावत्। ननु–कथं तदज्ञैर्लभ्यं स्या-दित्याशङ्क्य ब्रह्मनिष्ठसद्गुरूपदेशादित्याह– तत्=उक्तं वैष्णवं पदम्। विप्रासः=विप्राः, छान्दसोऽसुगागमः, विशेषेण तत्त्वं पश्य-न्तीति विप्राः=तत्त्वदर्शिनो मेधाविनो ब्रह्म-निष्ठाः ब्राह्मणा इत्यर्थः। तादृशानामेवोप-देशाधिकार इति विप्रग्रहणेन सूचितम्। कीदृशास्ते? विपन्यवः=विमन्यवः, छान्दसो वर्णव्यत्ययः, कामक्रोधादिवियुक्ताः-कृतसं-न्यासाः परमहंसपरिव्राजकाः इत्यर्थः। मन्युः=क्रोधः, तदुपलक्षितं कामादिकं, वि= वियुक्तं, येभ्यस्ते विमन्यवः इति व्युत्पत्तेः,

विकल्प शून्य प्रतिभासित होता है। इस दृष्टान्त में जैसे शुद्ध प्रातिपदिक–व्यक्ति मात्र–ज्ञेय–आकाश, तथा आकाशविषयक मन से संयुक्त चक्षु से उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्प होता है, तद्वत् सिद्धान्त में ज्ञान एवं ज्ञेय दोनों ही निर्विकल्प हैं, ऐसा जानना चाहिए। अथवा साक्षात्कार में दृष्टान्त कहते हैं–जैसे द्युलोक-अन्तरिक्ष-आकाश में आतत अर्थात् चारों तरफ रश्मियों से विस्तार को प्राप्त हुआ–व्याप्त हुआ-उदित हुआ-चक्षु अर्थात् सूर्य को जैसे सभी लोग अतिस्पष्टरूप से देखते हैं, तैसे सूरी–विद्वान् महात्मा सर्वत्र सदा तत्त्व वस्तु प्रकाशानन्द स्वरूप परम पद को देखते हैं। 'भूतों का चक्षु-प्रकाशक एकमात्र सूर्य है' 'सूर्य प्रजाओं का चक्षु है' 'जैसे सूर्य लोक का चक्षु है' इत्यादि श्रुतियों से सूर्य का चक्षुपना जाना जाता है। तथा च यहाँ सभी के चक्षुस्थानापन्न सूर्यमण्डल, चक्षु-शब्दसे कहा गया है।

शंका–वह पद, अज्ञ मूढ मनुष्यों को कैसे प्राप्त हो?

समाधान–ब्रह्मनिष्ठ–सद्गुरु के उपदेश से। यही कहते हैं–तत् अर्थात् उस पूर्वोक्त वैष्णव-पद को, विप्र अर्थात् विशेषरूप से तत्त्व का अपरोक्ष अनुभव करने वाले-तत्त्वदर्शी-मेधावी-ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण,-ऐसे विप्रो का ही उस पद के उपदेश का अधिकार है, ऐसा विप्रपद के ग्रहण से सूचित होता है। वे पुनः किस प्रकार के हैं? विपन्यवः अर्थात् विमन्यवः, म के स्थान में प वर्ण का व्यत्यय छान्दस है। विमन्यव यानी काम क्रोधादि दोषों से वियुक्त, संन्याससम्पन्न, परमहंस परिव्राजक, यह अर्थ है। मन्यु का अर्थ क्रोध है; उस से उपलक्षित कामादि, वि अर्थात् वियुक्त है जिन से वे विमन्यव हैं, ऐसी व्युत्पत्ति

यद्वा 'पन स्तुतौ' स्मरणात्, पन्युः=स्तुतिः, तद्रहिताः विपन्यवः=तुल्यनिन्दास्तुतयः निर्द्वन्द्वा इत्यर्थः। तथा च स्मरति भगवान् वासुदेवो गीतासु—'कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्। अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥' (५।२६) निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।' (५।३) इति च। पुनः कीदृशाः? जागृवांसः=जागरणवन्तस्त्यक्ताज्ञाननिद्राः—अप्रमादिनः संयमशीला इत्यर्थः। तदप्युक्तं गीतागायकेन—'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' (२।६९) इति। किं कुर्वन्ति? इत्याह—समिन्धते=सम्यग्दीपयन्ति—परहिताय प्रकाशयन्ति, अस्मदादीन्—मुमुक्षून् प्रति कथयन्तीत्यर्थः। कथनविषयं तच्छब्दार्थमाह—विष्णोर्यत्परमं पदम्। यत्=प्रसिद्धं सर्वेषु वेदेषु च शास्त्रेषु च। व्याख्यातमन्यत्। 'प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' (मुं. उ. १।२।१३) इति श्रुतेः। तादृशविप्रकृपाकटाक्षादेव तल्लभ्यमिति भावः। अत्रत्योऽयं सदुपदेशः—'विष्णुपरमपदसाक्षात्कार एवास्ति मनुजजन्मन-

है। अथवा—'पन धातु' स्तुति अर्थ में स्मृत है, इसलिए पन्यु का अर्थ स्तुति है। उस से रहित अर्थात् जिन को स्तुति निन्दा तुल्यरूप हो गई है, वे निर्द्वन्द्व-वीतरागद्वेष-सन्त विपन्यु पद से प्रतिपादित हैं। तथा च भगवान् वासुदेव गीता में स्मरण करते हैं—'कामक्रोध से वियुक्त, संयतचित्त वाले, परब्रह्म-परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए, यति-यानी प्रयत्नशील-ज्ञानी पुरुषों को सब तरफ से ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् शान्त, पूर्णानन्द निधि, परब्रह्म, परमात्मा का स्वरूप प्राप्त है।' 'रागद्वेषादि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष, सुखपूर्वक संसाररूप बन्धन से मुक्त हो जाता है।' इति। पुनः वे कैसे हैं? जागृवाँसः अर्थात् जाग्रत (सावधान) रहने वाले, अज्ञाननिद्रा का परित्याग किये हुए, प्रमादरहित, संयमशील। यह भी गीता का गान करने वाले भगवान् ने कहा है—'सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उस नित्य शुद्ध बोध परमानन्दस्वरूप में ब्रह्म को प्राप्त हुआ संयमी-योगी पुरुष जागता है।' इति। वे क्या करते हैं? यह कहते हैं—समिन्धते अर्थात् उस विष्णु के परमपद का परहित (अन्यो के कल्याण) के लिए प्रकाशन करते हैं, अर्थात् हम सब मुमुक्षुओं के प्रति प्रतिपादन करते हैं। प्रतिपादन का विषय तच्छब्द का अर्थ कहते हैं—वह विष्णु का परम पद। 'यत्' पद, जो परमात्मा सर्व वेदों में तथा सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध है, उसका बोधक है। अन्य का व्याख्यान होगया। मुण्डक श्रुति कहती है—'तत्त्व से उस ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन किया।' इति। पूर्वोक्त लक्षण वाले विप्र के कृपाकटाक्ष से ही वह विष्णु परम पद लभ्य है, यह भाव है। इस मन्त्र का यह सदुपदेश है—'विष्णु परम पद का साक्षात्कार ही मनुष्यजन्म का परम उद्देश्य है।'

परमोद्देश्यः' इति तद्विष्णोः परमं पदमित्यादिपदसंदर्भो बोधयति। 'तं सम्पादयितुं श्रवणादिनाऽजस्रं तत्तत्त्वपरिशीलनं कर्तव्यम्' इति विप्रपदमुपदिशति। 'तत्र कामक्रोधप्रमादाद्याः प्रतिबन्धाः प्रयत्नतः परिहातव्याः' इति विपन्युजागृवत्पदे। 'तत्साक्षात्कृत्य मुमुक्षुभ्य आदरादुपदेष्टव्यम्' इति समिन्धते इति पदम्। इति। (आततं=तनोतेः कर्मणि क्तः, इट्प्रतिषेधो नलोपश्च। विपन्यवः-पनेः-औणादिको युप्रत्ययः। जागृवांसः-जागृ-निद्राक्षये, लिटः 'क्वसु' क्रादिनियमात्प्राप्तस्य 'इटः' 'घस्लेकाजाद्घसाम्' इति नियमान्निवृत्तिः)। अयं हि युगलमन्त्रो मुद्राशोधनमन्त्रनाम्ना महानिर्वाणतन्त्रे (५।२११) इत्यत्र साधकस्यान्तःकरणशुद्धये परमानन्दप्राप्तये च जपनीयत्वेन वर्णितः। इति।

तदेतत् ज्ञानिभक्तप्राप्तव्यं परमं पदमभिवर्णयत् तत्प्राप्तिप्रार्थनमपि च संसूचयत्, ऋगन्तरमप्याह-'**तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति। उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥**' (ऋ. १।१५४।५) इति। अस्याऽयमर्थः-अस्य=महतो विष्णोः परमं पदं प्रियं=परमप्रेमास्पदं, तत्=सर्वैः ज्ञानिभक्तैः प्राप्यत्वेन प्रसिद्धं पाथः=अन्तरिक्षं-अन्तर्हृदये ईक्ष्य-

यह 'तद्विष्णोः परमं पदं' इत्यादि पदसमुदाय बोधन करता है। 'उस पद का सम्पादन करने के लिए निरन्तर श्रवणादि के द्वारा उस तत्त्व का परिशीलन (विचार-ध्यानादि) करना चाहिए' यह विप्रपद उपदेश देता है। विपन्यु एवं जागृवान् पद-'उसकी प्राप्ति में काम, क्रोध, प्रमाद आदि प्रतिबन्धक प्रयत्न से दूर हटाने चाहिए।' एवं समिन्धते पद-'उसका साक्षात्कार कर मुमुक्षुओं को आदरपूर्वक उपदेश देना चाहिए' यह उपदेश देता है। इति। यह युगल मन्त्र मुद्राशोधन मन्त्र के नाम से महानिर्वाण तन्त्र में साधक की अन्तःकरण की शुद्धि के लिए एवं परमानन्द की प्राप्ति के लिए जप करने के योग्य होने से वर्णन किया है।

वही यह-ज्ञानी भक्तों से प्राप्त करने योग्य-परम पद का अभिवर्णन करता हुआ, उसकी प्राप्ति के लिए परमेश्वर की प्रार्थना की सूचना देता हुआ-अन्य ऋगमन्त्र भी कहता है-'जिस पद में देव होने की इच्छा वाले मुमुक्षुगण, अवस्थित हो कर सदा निरङ्कुश तृप्ति का अनुभव करते हैं, जो पद विष्णु को परम प्रिय है, एवं सब के हृदयों के अन्तः स्वस्वरूप से अनुभूयमान है, उरुक्रम-विष्णु के उस परमपद में मधुरतम-विशुद्ध-आनन्द का अखण्ड-प्रवाह विद्यमान है, वही पद इस प्रकार सब का महान् हितकारी है। उस पदको मैं (उस अन्तर्यामी के अनुग्रह से) प्राप्त करूँ या करता हूँ।' इस मन्त्र का यह अर्थ है-इस महान् विष्णु का परम पद, प्रिय अर्थात् परम प्रेमास्पद है, वह सभी ज्ञानी-भक्तों से प्राप्त करने के योग्य होने से प्रसिद्ध है। वह पाथ अर्थात् अन्तरिक्ष है। यास्क ने निरुक्त में पाथ का अन्तरिक्ष अर्थ किया है। अन्तरिक्ष का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ है-हृदय के अन्तः जो देखा जाता

माणमनुभूयमानम् 'पाथोऽन्तरिक्षम्' (नि. ६।७) इति यास्केनोक्तम्। अविनश्वरं पूर्णसुखमद्वैतं ब्रह्मलोकमिति यावत्। अहं मुमुक्षुः अश्यां=प्राप्नुयामिति प्रार्थनां सूचयति। तदेव परमपदं विशेष्यते–यत्र=यस्मिन् पदे स्थिताः, देवयवः=देवं स्वयंप्रकाशस्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्तः पूर्वं विष्णुभावं प्राप्तुमभिलषन्तो मुमुक्षवः संप्रति तत्पदं प्राप्ताः, नरः=महापुरुषा भाग्यशालिनो नराः, मदन्ति=निरङ्कुशां तृप्तिमनुभवन्ति, तत्पदमहमश्यामित्यन्वयः। पुनरपि तदेव विशेष्यते–उरुक्रमस्य=अत्यधिकं सर्वं जगदाक्रममाणस्य–तत्तदात्मना व्यापनशीलस्य, अत एव विष्णोः=व्यापकस्य सर्वात्मनः परमेश्वरस्य परमे=सर्वोत्कृष्टे क्षुत्तृष्णाजरामरणकामक्रोधपुनरावृत्त्यादिजन्यसकलदुःखरहिते निरतिशये केवलपूर्णचिदानन्दसान्द्रे पदे=स्थाने, मध्वः=मधुरस्य शाश्वतानन्दस्य उत्सः=निष्यन्दः–अखण्डप्रवाहो वर्तते, तदश्यामिति संबन्धः। ततोऽधिकं नास्ति

है–जिसका अपरोक्ष अनुभव होता है[1]। अविनश्वर, पूर्ण सुखरूप, अद्वैत ब्रह्मरूप स्वयंप्रकाशलोक ही अन्तरिक्षपद का आध्यात्मिक अर्थ है। मैं मुमुक्षु उस पद को प्राप्त होऊँ, ऐसी प्रार्थना यहाँ सूचित होती है। वह परम पद कैसा है? उसका विशेषणों से वर्णन किया जाता है–जिस पद में स्थित, देवयव यानी प्रथम स्वयंप्रकाशस्वभाव–विष्णुभाव को आत्मस्वरूप से प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले अब (साधन के परिपक्व होने से) उस पद को प्राप्त हुए, नर यानी भाग्यशाली महापुरुष, निरङ्कुशतृप्ति का अनुभव करते हैं। उस पद को मैं प्राप्त करूँ, ऐसा अन्वय है। पुनः भी वही पद विशेषण से प्रदर्शित किया जाता है–उरुक्रम यानी अत्यधिक रूप से सर्व जगत् को आक्रमण करने वाले–उस उस-असंख्यरूप से व्यापनशील-व्यापक सर्वात्मा-परमेश्वर के परम अर्थात् सर्वोत्कृष्ट–जिस में क्षुधा, तृष्णा, जरा, मृत्यु, काम, क्रोध, पुनरावृत्यादिजन्य सकल दु:खों का अभाव है, उस निरतिशय-केवल-पूर्ण चिदानन्द-घन, पद, यानी स्थान में मध्व, यानी मधुर शाश्वतानन्द का उत्स यानी अखण्ड प्रवाह वर्तमान है। उस पद को मैं प्राप्त होऊँ' यह सम्बन्ध है। उस से अधिक कुछ

---

१ कतमस्य धातोरर्थसामान्यमिहास्ति, इति ततस्तर्कयित्वा सामान्य तेन निर्ब्रूयात्। अर्थो हि प्रधानम्, तद्गुणभूत शब्द, तस्मादर्थसामान्य बलीय शब्दसामान्यात्।' (निरुक्तटीका. १।२) इति निरुक्तव्याख्याकार दुर्गाचार्य्या वदन्ति। अतोऽन्तरिक्षपदमत्राध्यात्मपक्षे हृदयान्तरनुभूयमानप्रत्यगात्मपरतया व्याख्यातम्। हृदयान्तरीक्ष्यते योगिभिस्तत्। छादस ह्रस्वत्व वेदे। ईक्ष दर्शने धातु।

२ किस धातु का सामान्य अर्थ यहाँ (पद में) है, ऐसा पद का तर्क-विचार कर के, उस से धातु के सामान्य अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिए। क्यों कि शब्द की अपेक्षा से अर्थ प्रधान और शब्द गौण (अमुख्य) माना गया है। इसलिये शब्दसामान्य की अपेक्षा से अर्थ सामान्य बलवान् है। ऐसा निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य्यजी कहते हैं। इसलिए यहाँ अध्यात्म-पक्ष मे अन्तरिक्ष पद का हृदय के मध्य में अनुभूयमान प्रत्यगात्मरूप से व्याख्यान किया। हृदय के भीतर जो योगियों से देखा जाता है, वह अन्तरिक्ष है। ईक्ष दर्शन अर्थ में धातु है। वेद में अन्तरिक्ष पदका ईकार ह्रस्व छान्दस है, अर्थात् लोक में अन्तरीक्ष कहा जाता है। वेद में नहीं।

सा काष्ठा सा परा गतिरित्याह–इत्था=इत्थं उक्तप्रकारेण, स हि=सः खलु, बन्धुः सर्वेषां तत्त्वज्ञानपराभक्तिसम्पन्नानां महासुकृतिनां बन्धुभूतः–परमहितकरः तत्प्राप्तवतां न पुनरावृत्तेः 'न च पुनरावर्तते' (छां. ८।१५।१) 'मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते' (गी. ८।१६) इति श्रुति-स्मृतिभ्यां तस्य बन्धुत्वम्। 'हि' शब्दः सकलनिगमागमप्रसिद्धिद्योतनार्थः। तत्पूर्णमखण्डानन्दधाम परमं पदं तत्त्वदर्शां सर्वत्रान्तर्बहिः साक्षात्स्वस्वरूपतः स्फुरतीत्याह– **'अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि।'** (ऋ. १।१५४।६) इति। अत्रा=अत्र–अस्मिन्–हृदये सर्वस्मिन् वा, ह=निश्चयेन उरुगायस्य=बहुभिर्महात्मभिर्गातव्यस्य स्तुत्यस्य, वृष्णः=कामानां वर्षितुः विष्णोः तत्=तादृशं, परमं=निरतिशयं, पदं–पदनीयं–स्वरूपम्, भूरि=अतिप्रभूतं पूर्णं, अवभाति–साक्षादपरोक्षतः स्फुरतीत्यर्थः, सोऽहमित्यभेदेन प्रकाशते इति यावत्। 'अत्रा' इत्यत्र छान्दसो दीर्घः।

भी नहीं है, वही काष्ठा अर्थात् अन्तिम मर्यादा है, एवं वही परमगति है–यह कहते हैं–इत्थं यानी उक्त प्रकार से, वही एक मात्र बन्धु है–तत्त्वज्ञान एवं पराभक्ति से सम्पन्न सभी महापुण्यशाली-मुमुक्षुओं का बन्धुभूत यानी परमहितकारी है, क्यों कि–उस पद को प्राप्त होने वाले-मुक्त पुरुषों की पुनरावृत्ति नहीं होती है। 'वह पुनः यहाँ नहीं लौटता है' 'मुझ-परब्रह्म को प्राप्त कर हे अर्जुन! पुनर्जन्म नहीं होता है।' इस श्रुति एवं स्मृति से उसका बन्धुत्व (सदा के लिए अपने स्वस्वरूप में बन्धकपना) विदित होता है। 'हि' शब्द सकल निगम एवं आगम की प्रसिद्धि द्योतन के लिए है। वह पूर्ण अखण्डानन्द–धामरूप परमपद तत्त्वदर्शी-महात्माओं को सर्वत्र भीतर बाहर साक्षात् अपने स्वस्वरूप से स्फुरित (प्रकाशित) होता है, यह कहते हैं–'यहाँ उस उरुगाय, सकलकाम पूरक, विष्णु का पूर्ण परम पद साक्षात् अपरोक्ष भासित होता है।' 'अत्र' अर्थात् हृदय में या सर्व में, 'ह' यानी निश्चय से, उरुगाय अर्थात् अनेक-असंख्य-विद्वान्-महात्माओं से गाने योग्य-स्तुत्य, वृष्ण यानी शरणागत जनों की सकल कामनाओं का वर्षक (पूरक) विष्णु का वह परम यानी निरतिशय, पद यानी प्राप्त करने योग्य स्वरूप, भूरि यानी अतिप्रभूत, पूर्ण, ठोस, साक्षात् अपरोक्षतः स्फुरित होता है, अर्थात् 'वही मैं हूँ' ऐसा अभेदभाव से प्रकाशित होता है। 'अत्रा' इस पद में छान्दस (छन्द-मन्त्र के नियम से) दीर्घ हुआ है।

(३)

(दुःखबहुलेऽस्मिन् संसारे स्थिरं सुखलवमप्यननुभवन्तः सर्वेऽपि जनाः शाश्वतसुखनिधिं परमात्मानमेवेन्द्रमवाप्तुमिच्छन्ति)

(दुःख-बहुल इस संसार में स्थिर सुख के लेश का भी अनुभव नहीं करते हुए सभी मनुष्य, शाश्वत सुखनिधि परमात्मा इन्द्र को ही प्राप्त करने की इच्छा करते हैं)

'सुखं मे निरतिशयं भूयात्' 'दुःखं मा भूदणुमात्रमपी' त्यखिलाः प्राणिन आशासाना दरीदृश्यन्ते। अथापि तेऽस्मिन् संसारे प्रकृष्टोत्साहेन प्रयतमाना अपि सुखमात्यन्तिकं दुःखाभावं वा न लभन्ते, प्रत्युत प्रभूतं दुःखमेव लभन्ते । तथाहि-केचन समुद्रपारविदेशगमनराजप्रीणनविविधव्यापारपरिचरणाद्यतिकष्टमनुभूय धनादिलक्षणफलसमये स्वयं नश्यन्ति। केचन फलमप्यासाद्य दुरदृष्टप्रमादादिवशेन व्याध्याद्युपहताः सन्तः क्षणिकमपि तुच्छं वैषयिकं सुखं भोक्तुं न प्रभवन्ति । केचन कथञ्चन प्राप्तभोगा अपि भार्यापुत्रधनादिवियोगाद्वा, तद्विसंवादाद्वा, अन्यैर्वा सह स्पर्द्धाऽसूयादिभिः सञ्चितभोग्यजातस्य क्षयभयेन वाऽत्युद्विग्नाः क्षणमपि सुखमलभमाना अवगम्यन्ते। एवमन्ये कुष्ठा दरिद्रा अन्धाः काणकुब्जबधिरादयो बुभुक्षापिपासार्दिताः कामकोपादिभिश्च पीडिता बहु-

'मुझ को निरतिशय सुख प्राप्त हो' 'अणुमात्र भी दुःख मत प्राप्त हो' ऐसी सभी प्राणी आशा (चाहना) रखते हुए दिखाई देते हैं। अथ च वे सभी लोग, इस संसार में प्रकृष्ट-उत्साह से प्रयत्न करते हुए भी आत्यन्तिक सुख का एवं दुःखों के अभाव का लाभ नहीं कर सकते हैं, प्रत्युत बहुत दुःख को ही प्राप्त होते हैं। तथा हि अर्थात् यह दिखलाते हैं-कुछ लोग-समुद्र पार के विदेश का गमन, राजा को प्रसन्न बनाना, विविध-व्यापार एवं सेवा (नौकरी) करना आदि कार्यों में अतिकष्ट का अनुभव कर धन आदिरूप-जो उन कार्यों का फल है, उसकी प्राप्ति-समय में स्वयं नष्ट हो जाते हैं, (अर्थात् यहाँ से चल बसते हैं; धनादि फल जहाँ का वहाँ ही रक्खा हुआ रह जाता है, उसके साथ कुछ नहीं चलता) कुछ लोग, धनादि फल को प्राप्त कर, दुष्ट-अदृष्ट (प्रारब्ध); एवं प्रमादादि दोष-वश से, व्याधि आदि से उपहत (आक्रान्त) हुए क्षणिक तुच्छ-विरस विषयों का सुख भी भोगने के लिए समर्थ नहीं होते हैं। कुछ लोग, किसी भी प्रकार से अर्थात् अच्छे प्रारब्ध आदि के योग से विषयभोगादि को प्राप्त हुए भी, भार्या (स्त्री) पुत्र, धन आदि इष्ट पदार्थों के वियोग से, या उन भार्या पुत्र आदिकों के साथ विसंवाद (विवाद, द्वेष, कलह आदि) के होने से, या अन्य मनुष्यों के साथ स्पर्द्धा, असूया आदिके हो जाने से, या सञ्चय किये हुए भोग्य पदार्थों के समुदाय का क्षय-(विनाश) भय से अत्यन्त उद्विग्न हुए वे क्षणमात्र भी सुखको नहीं प्राप्त करते हुए देखने में आते हैं। इस प्रकार अन्य लोग-भी जो कुष्ठ, दरिद्र, अन्धे, काणे, कुब्जे, बधिर आदि, एवं क्षुधा पिपासा आदि से दुःखी हुए, काम, क्रोध आदि से पीडित हुए बहुत

लभ्युपलभ्यन्ते। अत एव 'नाल्पे सुखमस्ति' (छां. ७।२३।१) 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ. ३।७।२३) इत्यादिश्रुतिभिरपि परिच्छिन्नस्यास्याऽल्पस्य संसारस्य परमार्थसद्भिन्नस्य सुखरहितत्वं दुःखापरपर्यायार्तिसंयुक्तत्वञ्च स्पष्टमेवावेद्यते। गीतासु भगवताऽपि-'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।' (गी. ९।३३) इति। तदित्थं विविधविपज्ज्वालजटिलेऽतिघोरे दुःखदुःसहदाहप्रचुरे संसारदावाग्नौ सम्पतिताः तेनानिशं दंदह्यमानाः पुनरपि तस्मिन्नेव पापच्यमानाः तस्मात्कथञ्चिद्विरज्यमानास्ते प्राणिनः किमप्यनन्तं शान्तमच्छं सुखमवाप्तुमविरतं कामयन्ते। 'आत्मैवानन्दः' 'आनन्द आत्मा' (तै. २।५।१) 'यो वै भूमा तत्सुखम्' (छा. ७।२३।१) 'रसो वै सः' (तै. २।७) इत्यादिश्रुतिभिः प्रत्यगात्मा सुखस्वभावो निरतिशयनिरुपाधिकप्रेमास्पदत्वात्, इत्याद्युपपत्त्यादिभिश्च इन्द्रः-प्रत्यगात्मा भूमैव सुखस्वरूप इति निश्चीयते। तस्मात् सुखनिधेः परमात्मन एवेन्द्रस्य केवलस्य सर्वजनकाम्यत्वं तात्पर्यतो बुबोधयिषुर्भगवानतिधन्यो वेदः प्रतिपादयति—

उपलब्ध होते हैं। इसलिए 'अल्प में सुख नहीं है' 'इस परमात्मा से अन्य सब कुछ दुःख से संयुक्त है' इत्यादि श्रुतियाँ भी परमार्थ सद्वस्तु से भिन्न-असत् अल्प-परिच्छिन्न यह संसार-सुखसे रहित, एवं दुःख है जिसका दुसरा नाम ऐसी-आर्ति से संयुक्त है, ऐसा स्पष्ट रूप से बोधन करती हैं। गीता में भगवान् भी कहते हैं-'हे अर्जुन! अनित्य एवं सुखरहित इस लोक को प्राप्त कर तू मुझ नित्य सुखनिधि परमात्मा का ही भजन कर।' इति। वह इस प्रकार विविध विपत्तिओं रूपी ज्वालाओं से जटिल, अति घोर-भयंकर, दुःख-रूपी दुःसह दाह (जलन) से प्रचुर (भरपुर) संसाररूपी दावाग्नि में अच्छी रीति से गिरे हुए, उस से निरन्तर अतिशय दह्यमान (जलते) हुए, पुनः भी उसमें ही अतिशय सड़ते (रचे पचे) हुए, उस से किसी भी प्रकार से उपराम हुए, वे प्राणी, किमपि-अर्थात् अवर्णनीय, अनन्त, शान्त, स्वच्छ, सुख को प्राप्त करने की निरन्तर कामना करते हैं। 'आत्मा ही आनन्द है' 'आनन्द आत्मा है' 'जो भूमा है, वह निश्चय ही सुखरूप है' 'वह रस (आनन्द) ही है' इत्यादि श्रुतियों से, प्रत्यक् आत्मा सुख-स्वभाव है, निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम का आस्पद (विषय) होने से इत्यादि उपपत्ति आदि से, इन्द्र प्रत्यगात्मा भूमा ही सुख-स्वरूप है, ऐसा निश्चय होता है। इसलिए सुख-निधि परमात्मा इन्द्र ही केवल सर्वजनों की कामना का विषय है, यह तात्पर्य से बोधन करने की इच्छा वाला भगवान् अतिधन्य वेद-प्रतिपादन करता है—

ॐ इन्द्रं परेऽवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोऽवसितास इन्द्रम्।
इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते॥

(ऋग्वेदसंहितायां तृतीयाष्टके पष्ठाष्टके वर्ग. १४ मं. ४ अनु. ३ सूक्त २५ ऋक् ८)

उत्तम, मध्यम, एवं कनिष्ठ सभी लोग, एक मात्र उस आनन्दनिधि इन्द्र परमात्मा का ही आह्वान करते हैं, अर्थात् उसी को ही सभी बुलाते हैं—चाहते हैं। एवं किसी भी अभिप्रेत कार्य की सिद्धि के लिए इधर-उधर जाने वाले प्रवृत्तिपरायण लोग, तथा निवृत्तिपरायण लोग, या सर्व परिग्रह रहित संन्यासी योगीजन भी इन्द्र का ही आह्वान करते हैं। तथा गृह में निवास करने वाले गृहस्थ, एवं युद्ध करने वाले योद्धा लोग, अन्न की इच्छा रखने वाले क्षुधार्त जन, नेता, सदुपदेशक आदि सभी इन्द्र का ही आह्वान करते हैं।

परे=उत्कृष्टाः धनादिभिरिति शेषः, उत्तमाः सात्त्विकाः सदाचारिणो वा। अवरे=निकृष्टाः धनादिहीना दरिद्राश्च, अधमाः तामसा दुराचाररता वा। तथा मध्यमासः=मध्यमाः—साधारणस्थितिका जना अपि राजसा वा, 'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः' (गी॰ १४। १८) इति स्मरणात् इन्द्रं=सुखस्वभावं परमात्मानमेव, हवन्ते=आह्वयन्ति आह्वानेन तमेव कामयन्ते। परादीनां तेषां स्वस्वसाध्वसाधुप्रवृत्तिलक्ष्यमस्त्यखण्डं निरतिशयं सुखमेव नान्यत्, अतस्ते साक्षाद्वा परम्परया वा तं सुखार्णवमिन्द्रं प्रत्यगात्मानमेव सततमभिलषन्तीति तात्पर्यम्। इन्द्रपदस्य प्रत्यगात्मपरत्वमग्रे सूपपादयिष्यते। एवं, यान्तः=कार्यसिद्ध्यर्थं इतस्ततो गच्छन्तो जनाः कार्यसाधकाः इन्द्रमेवाऽऽह्वयन्ति, सुखस्वभावस्य तस्यैवेन्द्रस्य कार्यसिद्धेर्लक्ष्यत्वात्। 'सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः' इति हि लोकप्रसिद्धमपि, अवसितासः=निविष्टाः निवृत्तिपरायणाश्च जना इन्द्रमेवाऽऽह्वयन्ति। निवृ-

पर यानी उत्कृष्ट, धन आदि से, ऐसा शेष, पदार्थ-पूर्ति के लिए जोड़ा गया है। या पर अर्थात् उत्तम-सात्त्विक सदाचारी। अवर यानी निकृष्ट-धनादि पदार्थों से हीन, दरिद्र, या अधम, तमोगुणी, दुराचार में प्रीति वाले। तथा मध्यम अर्थात् साधारण स्थिति वाले जन, या रजोगुणी लोग। 'मध्य में रजोगुणी रहते हैं' ऐसा गीता में स्मृत है। वे सब, सुखस्वभाव-परमात्मा इन्द्र का ही आह्वान करते हैं—आह्वान के द्वारा उसी की ही कामना करते हैं। पर आदि सभी उन लोगों की अपनी अपनी अच्छी या बुरी सभी प्रवृत्तियों का लक्ष्य निरतिशय—अखण्ड—सुख ही है, अन्य नहीं। इसलिए वे सब साक्षात् या परम्परा से उस सुख का समुद्ररूप, प्रत्यगात्मा इन्द्र की ही निरन्तर अभिलाषा (चाहना) करते हैं, यह तात्पर्य है। 'इन्द्रपद प्रत्यगात्मा का बोधक है' यह हम आगे के मन्त्र—व्याख्यान में अच्छी रीतिसे उपपादन करेंगे। इस प्रकार यान्तः अर्थात् कार्यसिद्धि के लिए इधर-उधर जाने वाले कार्यसाधक जन इन्द्र का ही आह्वान करते हैं' क्यों कि—सुखस्वभावरूप वह इन्द्र ही कार्यसिद्धि का लक्ष्य है। 'सभी भूत-प्राणियों की सभी प्रवृत्तियाँ सुख के लिए ही मानी जाती हैं' ऐसा लोकमें प्रसिद्ध भी है। 'अवसितासः' यानी निविष्ट अर्थात् बैठे हुए निवृत्तिपरायण जन भी इन्द्र का ही आह्वान करते हैं। निवृत्ति का लक्ष्य भी वही है। अथवा

त्तिलक्ष्यमपि तदेव। यद्वा अवसितासः= समाप्तकर्तव्याः कृतसंन्यासाः त्यक्तसर्वपरिग्रहाः परमहंसपरिव्राजका योगिन इत्यर्थः। तेऽपि इन्द्रमेव हवन्ते। तेषां त्यागलक्षण-संन्यासपूर्वको योगाभ्यासोऽपि विद्यते तादृशेन्द्रसुखप्राप्त्यर्थमेव 'तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' (क. उ. १।२।१५) इति श्रुतेः। क्षियन्तः= गृहे वसन्तो गृहस्थाश्च जनाः 'क्षि निवासे' स्मरणात्, इन्द्रमेव हवन्ते। स्त्रीपुत्रादिभिस्तेऽपि तमेव समीहन्ते। 'आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति....पुत्राः प्रिया भवन्ति' इत्यादि-(बृ. २।४।५) श्रुतेः। उत=अपि च युध्यमानाः=युद्धं कुर्वाणा योद्धारो जना विजयार्थमिन्द्रमेवाह्वयन्ति, सुखस्यैव विजयोद्देश्यत्वात्। वाजयन्तः= वाजं अन्नमिच्छन्तो बुभुक्षवः, नरः=नेतारो मनुष्या इन्द्रमेव हवन्ते, अन्नेच्छाया अपि सुखेच्छाशेषत्वात्। यद्वा वाजयन्तः=अन्नदानकर्तारः-पारलौकिकसुखार्थत्वात् दानस्य। नरः=सन्मार्गे नेतारः प्रवर्तयितारः आचार्य्याः सदुपदेशकाः सद्गुरव इत्यर्थः। सर्वभूतहिते रताः समबुद्धयस्तेऽपि सर्वत्र सुखमेवोद्दिश्य प्रवर्तन्ते। अयं भावः-नि-

'अवसितासः' अर्थात् लौकिक-कर्तव्यकार्य जिनके *समाप्त हो गये हैं-ऐसे संन्यास-धर्मसम्पन्न*, सर्व स्त्री पुत्र धनादि परिग्रहों के त्यागी, परमहंस-परिव्राजक योगी। वे भी इन्द्र का ही आह्वान करते हैं। क्योंकि-उन महानुभावों का त्याग लक्षण वाला संन्यास-पूर्वक योगाभ्यास भी उस प्रकार के इन्द्र सुखकी प्राप्ति के लिए ही है। कठ श्रुति भी कहती है-'तप उपलक्षित सभी साधन, उसकी प्राप्ति के लिए ही कहे गये हैं, उसी की ही इच्छा रखने वाले महापुरुष ब्रह्म-चर्यव्रतका पालन करते हैं।' इति। 'क्षियन्तः' अर्थात् गृह में निवास करने वाले गृहस्थ मनुष्य भी इन्द्र का ही आह्वान करते हैं 'क्षि' धातु निवास अर्थ में स्मृत की गई है। वे गृहस्थ भी स्त्री-पुत्रादि इष्ट पदार्थों के द्वारा उस आनन्द-निधि इन्द्र को ही चाहते हैं। 'आत्मा की कामना के लिए ही स्त्री प्रिय लगती है, 'पुत्र प्रिय लगते हैं' इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है। अपि च 'युद्ध्यमानाः' अर्थात् युद्ध करने वाले योद्धा लोग भी विजय के लिए इन्द्रका ही आह्वान करते हैं। क्यो कि-सुख ही विजय का उद्देश्य है। 'वाजयन्तः' अर्थात् वाज यानी अन्न की इच्छा करने वाले-क्षुधार्त्त-नर यानी नेता मनुष्य भी इन्द्र का ही आह्वान करते हैं। क्योंकि-अन्नेच्छा भी सुखेच्छा का शेष है। अर्थात् सुखेच्छा से ही अन्नभक्षण की इच्छा होती है। अथवा 'वाजयन्तः' यानी अन्न दान करने वाले, क्यो कि-दान भी परलोक के सुख के लिए ही किया जाता है। 'नरः' यानी सन्मार्ग में प्रवृत्त कराने वाले आचार्य सदुपदेशक सद्गुरु। सर्व भूतो के हित में प्रीति रखने वाले-समबुद्धि-सम्पन्न वे भी सर्वत्र सुख के उद्देश्य से ही प्रवृत्त होते हैं। यह भाव (तात्पर्य) है-उपाधि रहित

रुपाधिकानुकूलवेद्यं हि लोके साक्षात्प्रियमिति प्रसिद्धम्। तच्च सुखमेव नान्यत्, तदेव काम्यम् । यज्जायापुत्रादि वस्तु लोके प्रियत्वेन काम्यत्वेन च प्रसिद्धमस्ति तस्य सुखाभिव्यक्त्यर्थत्वात्, सुखशेषत्वेनैव प्रियत्वं काम्यत्वञ्चाभिमतम्, न तु स्वातन्त्र्येण, तथा चेन्द्रः चिदात्मा सुखरूपत्वेन साक्षात्प्रियः सर्वजनाऽऽह्वानगम्यकामनाविषय इति सिद्धम्। अनेकेन्द्रपदग्रहणं तस्मिन्निरुपाधिककामनाविषयत्वस्य परमप्रियत्वस्य च द्योतनार्थमिति ध्येयम् । तदेतत्स्मरति भगवान् व्यासः–'सर्वेषामपि भूतानां नृप ! स्वात्मैव वल्लभः । इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥' (भा. १०।१४।५०) इति। अत्रत्योऽयं–'सर्वजनकामनाविषये परमप्रेमास्पदे परमानन्दनिधौ इन्द्रपदाभिधेये प्रत्यगात्मन्येव परां प्रीतिं सम्पाद्य तस्यैव नैरन्तर्येण 'कामुकेन कामिनीरत्नस्येव' भावना कर्तव्याः, अर्थतस्तदन्यस्य क्षणभङ्गुरस्य देहादेर्मोहं परिहाय तस्मादौदासीन्यं सम्पाद्य मतिमद्भिः तदेवेन्द्रपदं सम्यगुपास्यमि'त्युपदेशः परिग्राह्यः । इति ॥

'अनुकूल वेद्य' (यह अनुकूल-इष्ट है, इस प्रकार के ज्ञान का विषय) ही लोक में साक्षात् प्रिय है, ऐसा प्रसिद्ध है। वह सुख ही है, अन्य नहीं, वही कामना का विषय है। लोक में जो स्त्री-पुत्रादि पदार्थ, प्रियरूप से एवं काम्यरूप से प्रसिद्ध हैं, वे सब सुखकी अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के लिए हैं, इसलिए वे सब सुख के शेषरूप से प्रिय एवं काम्य हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं, ऐसा अभिप्रेत है। तथा च इन्द्र चिदात्मा ही सुखरूप होने से साक्षात् प्रिय है, सर्व जनों के आह्वान से गम्य कामना का विषय है, यह सिद्ध हुआ। इस मन्त्र में अनेक इन्द्रपद का ग्रहण, उस में ही एकमात्र निरुपाधिक कामना की विषयता, एवं परमप्रियता के द्योतन के लिए है, ऐसा जानना चाहिये। (सुख की कामना अन्य किसी के लिए नहीं है, इस लिए वह निरुपाधिक कामना कही जाती है, स्त्री आदि की कामना सुख के लिए है, इसलिए वह कामना सोपाधिक है) वही यह श्रीमद्भागवत में भगवान् व्यास स्मरण करता है–'हे नृप ! सभी भूतों को एक मात्र अपना आत्मा ही वल्लभ यानी प्रिय है। अन्य पुत्र धनादि पदार्थ, आत्मा की प्रियता से ही प्रिय हैं।' इति। इस मन्त्र का यहाँ ग्रहण करने योग्य यह सदुपदेश है–'सर्वजनों की कामना का विषय, परम प्रेमास्पद, परमानन्दनिधि, इन्द्रपदका वाच्यार्थ, प्रत्यगात्मा में ही परम प्रीति सम्पादन कर उसीकी ही निरन्तर एकमात्र भावना करनी चाहिए, जैसे कामी पुरुष सुन्दर कामिनी की निरन्तर भावना करता है, तद्वत्। अर्थात् उस प्रत्यगात्मा से भिन्न क्षणभंगुर देहादि मिथ्या पदार्थों के मोह का परित्याग कर उनसे उदासीनता प्राप्त कर मतिमान् पुरुष, उस चिदानन्दरूप इन्द्रपद की ही सम्यक् उपासना करे।' इति।

(४)

(मधुरतरं सुन्दरतरं प्रियतरं विज्ञानघनं प्रत्यगात्मानं सूर्यं यूयं विजानत)

(अतिमधुर, अतिसुन्दर, अतीवप्रिय, विज्ञानघन प्रत्यगात्मा सूर्य को आप लोग विशेष रूप से जानें)

जडे चैतन्यसम्पादकमसुन्दरे सौन्दर्यसमर्पकं मधुरतरं सुन्दरतरं प्रियतरं विज्ञानघनं प्रत्यगात्मानं सूर्यमुपदिशति—

जड शरीरादि में जो चेतनता का सम्पादक है, असुन्दर-मांसास्थिरुधिरादि के संघात में जो सौन्दर्य का समर्पक है, उस अतीव मधुर, अतीव सुन्दर, अतीव प्रिय, विज्ञानघन प्रत्यगात्मा सूर्य का भगवान् वेद उपदेश करता है—

ॐ केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या ! अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥

(ऋग्वेदसंहितायां प्र. अ, प्र. अ, वर्ग. ११ मं. १ अनु. २ सूक्त. ६ ऋक् ३) (सा. सं. १४७०)
(अथर्व २०।२६।६) (वा. सं; य. २९।३७) (मै. सं. ७।४।२०।१) (तै. ब्रा. ३।९।४।२)

हे मरण धर्म वाले मनुष्य ! जिस चिदात्मा ने चैतन्यरहित-जड-शरीरादि में अपना चैतन्य-रूप प्रकट किया है, एवं सौन्दर्य रहित शरीरादि में अपना सौन्दर्य प्रकट किया है। जो स्वयं अन्तःकरण की—चक्षुरादि-इन्द्रियों के द्वारा-निकलने वाली जडवृत्तिओं में आरूढ हो कर पदार्थों के प्रकाशन के लिए अज्ञाननाशक—ज्ञानरूप से प्रकट होता है, उसे तुम जानो।

हे मर्याः !=हे मरणधर्माणो मनुष्याः ! इदमाश्चर्यमयं प्रत्यगात्मनः स्वस्वरूपं यन्मधुरतरं सुन्दरतरं प्रियतरं सच्चिदानन्दलक्षणमस्ति, तद् यूयं विजानतेत्यध्याहारः । तत्र किमाश्चर्यमिति ? उच्यते—स्वप्रकाशचैतन्यरूपोऽयमात्मा, उषद्भिः=ज्वलज्ज्योतिरूपाभिः तत्तद्विषयाज्ञानदाहिकाभिर्विषयप्रकाशिकाभिश्चिद्रूपशक्तिभिस्तत्तदाकारवृत्त्युपारूढाभिः 'उष' दाहार्थे स्मरणात् । सं=

हे मर्याः अर्थात् हे मरणधर्म वाले मनुष्य ! प्रत्यगात्मा का जो प्रचुर आश्चर्य का विषय, अतीव मधुर, अतीव सुन्दर, अतीव प्रिय, सच्चिदानन्द लक्षण वाला स्वस्वरूप है, उसे आप लोग जानें, ऐसा इस मन्त्र में अध्याहार करना चाहिए। उस में क्या आश्चर्य है ? यह कहते हैं—स्वप्रकाश चैतन्यरूप यह आत्मा, 'उषद्भिः' अर्थात् जड-अन्तःकरण की इन्द्रियो के द्वारा निकली हुई-उस-उस पदार्थाकार वृत्तिओ में उपारूढ, जलती हुई-ज्योति के सदृश रूप वाली, उस उस विषय के अज्ञान को दहन (ध्वंस) करने वाली, विषयों के प्रकाशन करने वाली चिद्रूप-ज्ञान-शक्तियों से, जो पुनः पुनः उत्पन्न (प्रकट) होता है। उष धातु दाह अर्थ में स्मृत है। 'सं' उपसर्ग का सम्भव-प्रादुर्भाव अर्थ है। 'अजायथाः' यह मध्यम पुरुष का क्रियापद है,

संभूय पौनःपुन्येन, अजायथाः=अजायत पुरुषव्यत्ययः उदपद्यत इत्यर्थः। जाग्रदाद्यवस्थाः भूयोभूयः सम्प्राप्य नामरूपव्यवहारप्रवर्तको भूत्वा समुदितो भवतीति यावत्। किं कुर्वन्? अकेतवे=ज्ञानरहिताय,—जडाय—स्थूलसूक्ष्मकारणात्मकशरीरत्रिताय, केतुं=प्रज्ञानं—चैतन्यं, कृण्वन्—स्वकीयां चिद्रूपां स्फूर्तिशक्तिं समर्पयन्। पुनश्च किं कुर्वन्? अपेशसे=सुन्दररूपरहिताय मांसास्थिरुधिरमूत्रपुरीषाद्यशोभनपदार्थभाजनाय मर्त्याय शवाय शरीराय, पेशः=सुन्दरं मधुरं रूपमभिव्यज्यमानं कुर्वन्। पेशः इति रूपनाम (नि. ८।११) समुदितो भवतीति पूर्वेणान्वयः। 'अकेतवे' 'अपेशसे' इति चतुर्थ्यौ षष्ठ्यर्थे द्रष्टव्ये। तं चिद्रूपं शिवं सत्यं सुन्दरं प्रत्यगात्मानं पूर्णानन्दनिधिं यूयं विजानत, यत्सत्तयेदं शरीरादिकं सर्वमसज्जगत् सदिव, यच्चैतन्येनेदं जडं सर्वं चेतनमिव, यत्सौन्दर्येणेदमसुन्दरमपि सर्वं सुन्दरमिव, यदानन्दलेशेनेदमनानन्दं सर्वमानन्दवदिव च प्रतिभाति। परञ्च तमेतं नावगच्छति लोकः। तथा चाम्नायते— 'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन' (बृ. ४।३।१४) इति। आरामं=सत्त्वादिना

यह प्रथम पुरुष में बदल कर 'अजायत' ऐसा होता है। जाग्रत् आदि अवस्थाओं को पुनः पुनः प्राप्त हो कर, नामरूप के व्यवहार का प्रवर्तक हो कर जो प्रकट होता है, यह भावार्थ है। क्या करता हुआ वह प्रकट होता है? 'अकेतु' अर्थात् ज्ञानरहित, जड, स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीन शरीरों को, केतु अर्थात् प्रज्ञान-चैतन्य करता हुआ यानी इन जड शरीरों में अपनी चिद्रूप-स्फूर्तिशक्ति को समर्पण करता हुआ; पुनः क्या करता हुआ प्रकट होता है? 'अपेशस्' अर्थात् सुन्दररूपरहित, मांस, अस्थि, रुधिर, मूत्र, पुरीष (विष्ठा) आदि अशोभन (गंदे) पदार्थों के भाजन (पात्र) रूप मरने वाला मुरदा शरीर में पेशः यानी सुन्दर मधुर रूप की अभिव्यक्ति करता हुआ प्रकट होता है, ऐसा पूर्व के साथ अन्वय है। पेश यह रूप का नाम है। 'अकेतवे' 'अपेशसे' यह दो चतुर्थी विभक्ति, षष्ठी विभक्ति के अर्थ में समझनी चाहिए। उस चिद्रूप, शिव, सत्य, सुन्दर, पूर्ण आनन्द-निधि, प्रत्यगात्मा को तुम जानो, जिसकी सत्ता से यह असत् सब जगत्, सत् की तरह प्रतीत होता है, जिसके चैतन्य से यह जड सब जगत्, चेतन की तरह प्रतीत होता है, जिस के सौन्दर्य से यह सब असुन्दर भी सुन्दर की तरह प्रतीत होता है, जिसके आनन्द के लेश से यह आनन्द रहित, सब जगत् आनन्दवान् की तरह प्रतीत होता है। परन्तु यह मूढ लोग, उस को नहीं जानता है। ऐसा उपनिषत् में प्रतिपादित है—'उस परमात्मा के आराम यानी—संसाररूप बगीचा को सब देखते हैं, परन्तु उसको—इस बगीचे के बनाने वाले इसमें सत्ता स्फूर्ति देने वाले-परमात्मा को कोई भी नहीं देखता है।' आराम अर्थात् सत्ता आदि से प्रयोजित—आरमणभूत (आ-सम-

प्रयोजितमारमणभूतं चराचरं जगत्, अस्याऽऽत्मनः पश्यन्ति सर्वे जनाः, तं न पश्यति कश्चनेत्यतीव कष्टं वर्तते भो ! यद्यप्यत्यन्तविविक्तमस्तित्वादिना दृष्टिगोचरापन्नमप्यहो ! भाग्यहीनता लोकस्य यच्छक्यदर्शनमप्यात्मानं न पश्यतीति लोकं प्रत्यनुक्रोशं दर्शयति श्रुतिः ।

अत्रेमे संग्रहश्लोका आश्चर्यप्रदर्शनपरा द्रष्टव्याः—

'दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधापि मधुरैव। सर्वं यस्मान्मधुरं तं मधुरतरं को न जानाति ? ॥ १ ॥ द्रविणं दयितं सुतोऽपि दयितः शरीरं दयितं युवतिर्दयितैव । सर्वं यस्माद् दयितं तं दयिततरं को न जानाति ? ॥२॥ अधरं रुचिरं नयनं रुचिरं दन्ता रुचिरा नासाऽपि रुचिरैव। सर्वं यस्माद्रुचिरं तं रुचिरतरं को न जानाति ? ॥३॥

दयितं=प्रियं, रुचिरं=सुन्दरमित्यर्थः ।

को न जानाति ?=विद्वांसमन्तरेण कोऽपि विमूढचेता तं ज्ञातुं विशेषतो नार्हतीत्यर्थः । यद्वा सामान्यतः तं को न जानाति ? सर्वो

न्ततः-चारों तरफ रमण का विषय) चराचर जगत् इस आत्मा का है, उसे सभी जन देखते हैं, परन्तु उस आत्मा को कोई भी नहीं देखता है, यह अत्यन्त कष्ट वर्तमान है, जो उसका अज्ञान है, भो ! यह सम्बोधन है। जो आत्मतत्त्व यद्यपि अत्यन्त विविक्त (असंग-निर्लेप) है, एवं वही अस्तित्व (सत्ता) आदि से दृष्टि का विषय हो रहा है, तथापि अहो ! (खेद अर्थ में) लोक की भाग्यहीनता यह है कि—जो आत्मा शक्य दर्शन है, अर्थात् दर्शन के लिए शक्य है, उसे भी वह नहीं देख पाता है, ऐसा लोक के प्रति श्रुति अनुक्रोश (कुत्सा या दया) प्रदर्शित करती है ।

यहाँ ये आश्चर्य के प्रदर्शन कराने वाले संग्रह-श्लोक जानने चाहिए—

'दधि मधुर है, मधु मधुर है, द्राक्षा मधुर है, सुधा भी मधुर ही है। परन्तु सभी पदार्थ जिस के माधुर्य से मधुर हुए हैं, उस अतीव मधुर आत्मा को कोई भी नहीं जानता है ? ।' 'द्रव्य (धन) प्रिय है, पुत्र प्रिय है, शरीर प्रिय है, युवती स्त्री भी प्रिय है, परन्तु सभी पदार्थ जिसकी प्रियता के कारण ही प्रिय हुए हैं, उस अतीव प्रिय आत्मा को कोई भी नहीं जानता है।' 'अधर (ओष्ठ) सुन्दर है, नयन सुन्दर हैं, दाँत सुन्दर हैं, नासिका भी सुन्दर ही है, परन्तु जिस के सौन्दर्य से ये सब सुन्दर हुए हैं, उस अतीव सुन्दर आत्मा को कोई भी नहीं जानता है।' इति ।१।२।३।

दयित का प्रिय अर्थ है। रुचिर का सुन्दर अर्थ है। 'को न जानाति' अर्थात् विद्वान् के बिना उसको विशेषरूप से जानने के लिए कोई भी विमूढ चित्त वाला योग्य नहीं है। अथवा सामान्यरूप से उसको कौन नहीं जानता है, अर्थात् सभी

लोको जानाति, तथाऽपि-तं न जानातीत्याश्चर्यम्। अत्रत्योऽयं सदुपदेशः-'असुन्दरे जडे शरीरादावात्मबुद्धिं परित्यज्य शिवे सत्ये सुन्दरे चैतन्यघन एवाऽऽत्मनि दृढाऽऽत्मबुद्धिः संस्थापनीया कल्याणकामिभिः, अनयैव तदत्युज्ज्वलाऽमृतानन्दानुभवः सिद्ध्यतीति'।

अथाधिदैवतम्-हे मर्याः !=मनुष्याः, इदमाश्चर्यं पश्यतेत्यध्याहारः। किमाश्चर्यमिति ? तदुच्यते-आदित्यरूपोऽयमिन्द्रः, उपद्भिः=दाहकैः, रश्मिभिः प्रतिदिनमुषःकाले प्रभाते सम्भूय अजायथाः-उदपद्यत। अथवा सूर्यस्यैवास्तसमये मरणमुपचर्य व्यत्ययेन बहुवचनं कृत्वा सम्बोधनं क्रियते, हे मर्यः! प्रतिदिनं त्वमजायथाः इति योज्यम्। किं कुर्वन् ? अकेतवे=रात्रौ निद्राभिभूतत्वेन प्रज्ञानरहिताय प्राणिने, केतुं कृण्वन्=प्रातः प्रज्ञानं कुर्वन्। अपेशसे=रात्रौ अन्धकारावृतत्वेनाऽनभिव्यक्तत्वात्, रूपरहिताय पदार्थाय प्रातरन्धकारनिवारणेन पेशः=रूपमभिव्यज्यमानं कुर्वन् इति। यद्वा, हे अग्ने! त्वं उपद्भिः=अग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वद्भिः कृत्वा, अजायथाः=उत्पन्नोऽसि। 'उप-दाहे' उपन्ति-हविर्दहन्ति ते उपन्तोऽग्निहोमकर्तारो यजमानाः। कीदृशस्त्वं, अकेतवे=न

लोक जानते हैं तथापि उसको नहीं जानते हैं, यही आश्चर्य है। यहाँ का यह सदुपदेश है-'कल्याण की कामना करने वाले सज्जनों को असुन्दर, जड, शरीर आदि में आत्मबुद्धि का परित्याग कर शिव, सत्य, सुन्दर, चैतन्यघन, आत्मा में ही दृढ आत्मबुद्धि स्थापन करनी चाहिए। इससे ही उसके अति उज्ज्वल अमृतानन्द का अनुभव सिद्ध होता है।' इति।

अत्र इस मन्त्र का अधिदैवत व्याख्यान प्रदर्शित किया जाता है-हे मनुष्य! इस आश्चर्य को देखो। क्रियापद आदि का अध्याहार है। क्या आश्चर्य है ? यह कहते हैं-आदित्यरूप यह इन्द्र, उपद्भिः अर्थात् दाह करने वाली रश्मिओं से प्रतिदिन उषाकाल-प्रभात में पुनः पुनः उदित होता है। अथवा सूर्य का ही अस्तसमय में मरण का उपचार कर (अर्थात् मृत्युरहित सूर्य में मृत्यु का आरोप कर) एकवचन का व्यत्यय से बहुवचन कर सम्बोधन किया जाता है, हे मर्य! मरणधर्म वाला सूर्य! प्रतिदिन तू मर मर कर उत्पन्न होता है, ऐसी योजना करनी चाहिए। क्या करता हुआ ? रात्रि में निद्रा से अभिभूत होने से अकेतु यानी प्रज्ञानरहित-प्राणी को प्रातःकाल में प्रज्ञान समर्पण करता हुआ उदित होता है। तथा रात्रि में अन्धकार से आवृत्त होने के कारण अभिव्यक्त न होने से रूपरहित पदार्थ के प्रातः अन्धकार के निवारणद्वारा पेशः यानी रूपको अभिव्यक्त करता हुआ उदित होता है।

अथवा हे अग्ने! तू उपद्भिः अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों के करने वाले सज्जनो के द्वारा उत्पन्न हुआ है। उप दाह अर्थ में धातु है। उपन्ति अर्थात् जो अग्नि में हवि को जला देते हैं, वे अग्नि में होम करने वाले यजमान 'उपन्त.' कहे जाते हैं। तू कैसा है ? केतु अर्थात् प्रज्ञान

विद्यते केतुः=प्रज्ञानं यस्य तस्मै अकेतवे=अज्ञानाय, मर्याः=मर्याय-मर्त्याय, विभक्तिवचनव्यत्ययः, केतुं=ज्ञानं कृण्वन्=कुर्वन् । नास्ति पेशः=सुवर्णं रूप्यं वा यस्य स अपेशः-तस्मै अपेशसे=अविद्यमानसुवर्णरूप्याय वा पेशं कुर्वन् । इति । अनेनाऽज्ञस्य ज्ञानसमर्पकं दरिद्रस्य धनादिसमर्पकश्चाऽग्न्युपासनं प्रशस्यते, अभ्युदयकामिभिस्तदवश्यमेव कर्तव्यमिति सूच्यते ।

कर्मकाण्डिनस्तु-'अस्मिन् मन्त्रे केतुशब्देन केतुग्रहोऽपि स्मृतो भवति । मन्त्रार्थोऽपि तत्र सामर्थ्यविशेषेण सङ्गतो भवति । अत्र पक्षेऽयं मन्त्रार्थः=हे मर्याः ! मनुष्याः ! भवन्तः, अकेतवे=ध्वजरहिताय रथाय केतुं=ध्वजं कृण्वन्=कुर्वन्तु । तथा अपेशसे=सुवर्णालङ्काररहिताय रथाय, पेशः=सुवर्णालङ्कारं कुर्वन्तु । तथासति हे रथ ! त्वं समुषद्भिः=ज्वालासदृशैः सुवर्णरश्मिभिः समजायथाः=सङ्गतो दर्शनीयो जातोऽसीति । हे केतो ! त्वदीयशोभनदृष्टिप्रक्षेपमात्रेण सर्वो हि रथः सुसम्पन्नः स्वेष्टप्रयोजनसाधनाय समर्थश्च भवतीति व्यङ्ग्योऽर्थः । तेन केतुग्रहस्यापि प्रशंसा भवति । तथा च मन्त्रगतेन सार्थकेन वाऽनर्थकेन वा शब्देनाऽर्थेन वा सादृश्यादिसम्बन्धेन केनापि प्रकारान्तरेण वा स्मृताया देवताया आवाहनादौ स मन्त्रो विनियोगयोग्यो भवति । लोकेऽपीयं रीतिः प्रसिद्धैव । महाकविना कालिदासेनाऽपि 'पश्यैतच्छकुन्तलावण्यम्'

नहीं है जिसको, वह अकेतु-ज्ञान रहित, मर्त्य को ज्ञान प्रदान करता है । पेशः यानी सुवर्ण एवं रजत नहीं है जिसको, वह अकिञ्चन-सुवर्ण-रुप्यादि-धनरहित दरिद्र को सुवर्णादि-प्रदान करता है, ऐसा तू है । 'मर्याः' इस पद की विभक्ति एवं वचन का व्यत्यय कर 'मर्याय' ऐसा समझना चाहिए । इति । इस कथन से अज्ञ को ज्ञान का समर्पक और दरिद्र को धनादि का समर्पक अग्नि की उपासना प्रशस्त है ऐसा, तथा अभ्युदय की कामना वाले को अग्नि की उपासना अवश्य करनी चाहिए ऐसा, सूचित किया जाता है ।

कर्मकाण्डी-"इस मन्त्र में केतु शब्द से आकाशीय केतुग्रह भी स्मृत होता है । मन्त्र का अर्थ भी उस केतुग्रह में सामर्थ्यविशेष से संगत होता है । इस पक्ष में यह मन्त्रार्थ है-हे मर्या यानी हे मनुष्यो ! आप लोग, केतु अर्थात् ध्वजा रहित रथ के ऊपर ध्वजा का आरोपण करें । तथा पेश अर्थात् सुवर्ण के अलंकार रहित रथ के ऊपर सुवर्णों के अलंकार (भूषण) स्थापित करें । ऐसा होने पर तू हे रथ ! ज्वाला के सदृश सुवर्ण की रश्मियो (किरणों) से, संयुक्त हुआ, दर्शनीय हो जाता है । हे केतो ! तेरी शोभन दृष्टि के प्रक्षेप मात्र से-सभी रथ, खूब सजा हुआ तथा अपने इष्ट-प्रयोजन की सिद्धि के लिए समर्थ हो जाता है, यह व्यङ्ग्य अर्थ है । इससे केतु-ग्रह की भी प्रशंसा हो जाती है । तथा च मन्त्रगत सार्थक या अनर्थक शब्द से, या अर्थ से, या सादृश्यादि सम्बन्ध से, या किसी अन्य भी प्रकार से, स्मृत देवता का आवाहन आदि में वह मन्त्र विनियोग के लिए योग्य हो जाता है । लोक में भी यह रीति प्रसिद्ध ही है । महाकवि कालिदासने शाकुन्तल नाटक में-'हे भरत ! इस

इति केनचित् प्रयुक्तं यद्वाक्यं तत्रत्यादनर्थकादपि 'शकुन्तला' इत्यक्षरचतुष्टयात्तन्नामिकाया मातुः स्मरणं भरतस्य जातमित्यर्थो वर्णितः शाकुन्तलनाटके। तस्मान्मन्त्रात्प्रतीयमानः प्रार्थनाप्रशंसादिरूपः तात्पर्यार्थः शक्त्या लक्षणया व्यञ्जनया वा स्मृतदेवतां संबध्नात्येव, देवानां परोक्षप्रियत्वादेव स्मरणपर्याप्तसादृश्यमात्रेण यन्मन्त्रस्थादक्षरसमुदायान्नामस्मरणद्वारा या देवता स्मृता भवति, सा तत्र मन्त्रे सन्निधत्ते—इति प्रतिपादयन्ति।

[पूर्वं तावत् द्वाभ्यां सकलकल्याणनिदानं मोहामयशमनरसायनं भगवत्स्तवनं कर्तव्यत्वेन प्रतिपादितम्, स्तुत्यस्य तस्य भक्तप्राप्यस्वरूपं तत्प्राप्तिसाधनानि तत्परत्वनिर्द्वन्द्वत्वादीनि च वर्णितानि। पश्चाद् द्वाभ्यामस्ति तत्स्वरूपं परमप्रेमास्पदं सत्तास्फूर्तिप्रदश्च सर्वेषामिति विशेषतो निरूपितम्। अथेदानीं तत्साक्षात्कारप्रतिबन्धकदोषान् परिहातुमुपदेक्ष्यति, इति यथायथं पूर्वोत्तरमन्त्राणां सङ्गतिः स्वयमेवोह्या इति।]

शकुन्तपक्षी का लावण्य देख' ऐसा किसीने वाक्य कहा, उसमें 'शकुन्तला' पद अनर्थक है। (शकुन्त एवं लावण्य ये दो पद सार्थक हैं, परन्तु शकुन्त से, ला—जो अन्य पद का एकदेश है, उसका अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि—समुदाय अर्थवान् होता है और एकदेश अनर्थक माना जाता है।) तथापि 'शकुन्तला' इन अनर्थक चार अक्षरों से भी शकुन्तला नाम की अपनी माता का स्मरण भरत को हो गया था, ऐसा वर्णन किया है। इसलिए मन्त्र से प्रतीयमान, प्रार्थना एवं प्रशंसादिरूप तात्पर्यार्थ, शक्ति से या लक्षणा से या व्यञ्जना से स्मृत देवताका सम्बन्ध करवा देता है। देव परोक्षप्रिय होते हैं, इसलिए देवता के स्मरण के लिए पर्याप्त-सादृश्य मात्र से जिस मन्त्र के अक्षर समुदाय से या नाम-स्मरणद्वारा जो देवता स्मृत होता है, वह उस मन्त्र में सन्निहित होता है"—ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

[प्रथम के दो मन्त्रोंसे—जो सकल-कल्याणों का मूल कारण, एवं मोहरूप-रोग के शमन के लिए रसायनरूप है, ऐसा भगवत्स्तवन कर्तव्यरूप से प्रतिपादन किया। तथा स्तुत्य उस भगवान् का भक्तों के प्राप्त होने योग्य स्वरूप, और उसकी प्राप्ति के साधन, तत्परत्व एवं निर्द्वन्द्वत्व आदिओं का भी वर्णन किया। पश्चात् दो मन्त्रों से भगवान् का वह स्वरूप, परमप्रेम का आस्पद (विषय) है, और सभी पदार्थों को सत्ता एवं स्फूर्ति देता है, ऐसा विशेषरूप से वर्णन किया। इसके अनन्तर अब उस भगवत्स्वरूप के साक्षात्कार में प्रतिबन्धक कामादि दोषों के परित्याग के लिए भगवान् वेद आगे के अन्य-दो-मन्त्रों से उपदेश देंगे। इस प्रकार यथायोग्य पूर्वोत्तरमन्त्रों की संगति की स्वयं ही कल्पना कर लेनी चाहिए।]

(५)

(मोहादिषड्रिपुविध्वंसनायोपदेशः)
(मोहादि षड्रिपुओं के विध्वंस के लिए उपदेश)

मोहक्रोधादिवतः पुरुषस्य शतधा श्रुतश्राविताध्यात्मतत्त्वस्यापि यथावत्तत्त्वसाक्षात्कारो नैव जायते। अतस्तत्त्वबुभुत्सुना मुमुक्षुणा मोक्षपरिपन्थिनां मोहादीनां विध्वंसाय विवेकवैराग्यादिकं सदुपायमाश्रित्यावश्यं महान् प्रयत्न आस्थेय इत्युपदिशति—सकलजनकल्याणकामुकोऽतिधन्यो भगवान् वेदः—

चाहे सैंकड़ो वार अध्यात्मतत्त्व का स्वयं श्रवण क्यो न किया हो? तथा अन्यो को सुनाया भी क्यो न हो? तथापि मोह, क्रोध आदि दोष वाले पुरुष को कदापि यथार्थतः अध्यात्मतत्त्व का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। इसलिए तत्त्वबुभुत्सु (तत्त्व को जानने की इच्छा वाले) मुमुक्षु-को—मोक्ष के परिपन्थी (विरोधी-प्रतिबन्धक) मोहादियो के विध्वंस के लिए विवेक वैराग्य आदि-सदुपायो का आश्रय ग्रहण कर अवश्य ही महान् प्रयत्न करना चाहिए, यह सकल मुमुक्षु-जनो के कल्याण की कामना करने वाला, अतिधन्य, भगवान् वेद उपदेश देता है—

ॐ उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ! ॥

(ऋग्वेदसंहितायां पञ्चमाष्टके स. अ. वर्ग ९ मण्डल ७ अनु ६ सूक्त १०४ ऋक् २२)
(अथर्व ८-४-२२)

हे इन्द्र=इन्द्रस्वरूप जीवात्मन्! उलूक (उल्लू-दिवान्ध) के समान आचरण करने वाले—मोहरूपी राक्षस का, तथा शुशुलूक (अतिक्रोध वाला भेड़िआ-वृक-पशु) के समान आचरण करने वाले-क्रोधरूपी राक्षस का, तथा श्वा—कुत्ते के समान आचरण करने वाले-मत्सररूपी राक्षस का, तथा कोक-पक्षी के समान आचरण करने वाले-कामरूपी राक्षस का, तथा सुपर्ण (गरुड-) पक्षी के समान आचरण करने वाले मदरूपी राक्षस का तथा गृध्र (गीध-) पक्षी के समान आचरण करने वाले लोभरूपी राक्षस का विध्वंस कर। और जैसे पत्थर से मिट्टी के ढेले को पीस दिया जाता है, तैसे उन छः कामादि दोषरूपी राक्षस-शत्रुओं को पीस डाल।

उलूकयातुमिति—उलूकः=पेचकः—दिवान्धः पक्षिविशेषः, स इव यो विविधानन-र्थान् याति=प्रापयति—इत्युलूकयातुः—तं

उलूक यानी पेचक, दिवान्ध (दिन में अन्धा) उल्लू एक पक्षिविशेष है। वह जैसे अनर्थ प्राप्त कराता है (अर्थात् किसी के मकान ऊपर बैठ कर बोलने से अनर्थ-प्राप्ति की सूचना देता है, ऐसा कुछ वहेमी लोक की मान्यता है) तद्वत् जो विविध अनर्थो (शोक सतापादि) को प्राप्त करता है, वह उलूकयातु अर्थात् उलूक के समान

तादृशं महानर्थकारिणं मोहनामानं रक्षः=राक्षसं स्वशत्रुं, त्वं हे इन्द्र!=हे जीवात्मन्! जहि=विध्वंसय। यथोलूको निशायां काकान् स्वप्रतिपक्षिणः सन्तापयति, तथाऽयमविद्यातमस्विन्यां मोहराक्षसोऽपि सर्वान् जनान् सन्तापयति। यथा वाऽन्धकारप्रिय उलूकः प्रकाशं न सहते, तथाऽयमज्ञानान्धकारप्रियो मोहराक्षसो ज्ञानालोकं न सहते, अतस्तयोः साम्यमत्रावगन्तव्यम्। यद्वा उलूक इव यातयति [1]जीवात्मानं परिभवति–अपकरोति–तिरस्करोति–हिनस्ति–वेत्युलूकयातुः तम्। अत्र किल तद्वास्तविकं स्वरूपं तिरोधाय शास्त्रीयं लौकिकमपि च विवेकज्ञानमपिधाय विपरीतग्रहणं विधाय विविधानर्थव्रातपातशोकसन्तापादिजननलक्षणं तत्परिभवादिकं विज्ञेयम्, हिंसनमपि तादृशमेव; यतोऽन्यादृशस्य हिंसनस्य नित्यात्मन्यसम्भवात्। किञ्च[2] अतस्मिँस्तद्बुद्धिरूपस्य मोह-

आचरण करने वाला, महा अनर्थकारी, मोह नाम वाले-अपने शत्रु राक्षस का तू हे इन्द्र!=हे जीवात्मन् विध्वंस कर। जैसे उल्लू रात्रि में अपने प्रतिपक्षी कौओ को संताप देता है, वैसे यह मोह राक्षस भी अविद्यारूपी रात्रि में सभी प्राणियों को संताप देता है। या जैसे उल्लू को अन्धकार प्रिय है, इसलिए प्रकाश को सहन नहीं कर सकता, तद्वत् मोह राक्षस को भी अज्ञानरूप अन्धकार प्रिय है, इसलिए वह ज्ञानरूपी प्रकाश को सहन नहीं कर सकता। अर्थात् उससे तिरस्कृत हो जाता है, अतः यहाँ उल्लू एवं मोह की इस प्रकार की समानता समझनी चाहिए। अथवा उल्लू की तरह जो मोहराक्षस जीवात्मा को यातयति अर्थात् पराजित करता है, उस का अपकार (हानि) करता है, तिरस्कार करता है, मार देता है (मोह के वश हो कर बहुत प्राणी मर जाते हैं, यह लोक में प्रसिद्ध है) वह उलूकयातु है। उस को-(अपने को दुःख देने वाले या मारने वाले को) तू मार दे। यहाँ जीवात्मा के पारमार्थिकस्वरूप का तिरोधान करके, शास्त्रीय एवं लौकिक विवेकज्ञान का भी आच्छादन कर के, विपरीत (मिथ्या-भ्रान्ति) ज्ञान को, उत्पन्न कर के, विविध अनर्थ के समूह में पतन, शोक, संताप आदि का उत्पादनरूप जीवात्मा का परिभव आदि समझना चाहिए। जीवात्मा का हिंसन (हत्या) भी वैसा ही समझना चाहिये, क्योंकि-अन्य प्रकार का हिंसन (स्वरूप-नाशरूप) नित्य आत्मा में असंभवित है। और [3]मोहराक्षस का स्वरूप अन्य में अन्य बुद्धिरूप है, (अर्थात् सुख के अभाव में सुखबुद्धिरूप, सौन्दर्य के अभाव

१ 'यत निराकारोपस्कारयोः' 'चुरादि' निकार. परिभवापकारतिरस्कारमारणाद्यर्थे। २ किञ्चेत्यादिना उलूकयातोः मोहराक्षसस्यानर्थकरत्वं प्रपञ्चयति–

३ 'किञ्च' इत्यादि ग्रन्थ से उलूकयातु जो मोहराक्षस है, उसके अनर्थकरत्व का विस्तार से प्रतिपादन करते हैं।

राक्षसस्य विश्वविदिता काऽप्यद्भुता मोहनशक्तिः सर्वत्र वितता दरीदृश्यते। मोहग्रस्ता जना बीभत्समसुन्दरमपि मनोहारिसुन्दरं, कज्जलश्यामलमपि कर्पूरगौरं, दुर्गन्धमप्यतिसुगन्धं निःसारमपि संसारं, नीरसमपि सरसं, निन्द्यतममपि स्तुत्यतमं, नीचमप्युत्तमं च वस्तु परिपश्यन्तीति केषामविदितम्? । मोहराक्षसो हेयमप्युपादेयमसत्यमपि सत्यमकृत्यमपि कृत्यमभक्ष्यमपि भक्ष्यमपेयमपि पेयमहितमपि हितमप्रियमपि प्रियमगुणमपि सगुणं सदोषमप्यदोषं किं बहुनोक्तेन? सर्वं विपरीतमेव दर्शयति।

महामोहप्रभावात्-भ्रष्टा बभूवुरनेके देवा दानवा मानवाश्च महाऽऽपत्परम्परापराभूतिमनुबभूवुः। अहल्यायौवनरूपमोहितो महेन्द्रो देवराजः सहस्रभगत्वमगच्छत्। इन्द्राणीसुषमामोहितः परकलत्रकामुको न-

में सौन्दर्यबुद्धिरूप, निलत्त्व के अभाव में निलत्त्वबुद्धिरूप, इत्यादि रूप है) उस की विश्व में विदित (प्रसिद्ध) कुछ भी (अवर्णनीय) अद्भुत, मोहशक्ति सर्वत्र फैली हुई अतिशय कर के देखने में आती है। इसलिए मोह से ग्रस्त (आक्रान्त) लोग, बीभत्स (गदा) सौन्दर्यरहित पदार्थ को भी मनोहारी सुन्दररूप से, कज्जल के समान काले शरीर को भी कर्पूर के समान गौर रूप से, दुर्गन्ध को भी अतिसुगन्धरूप से, साररहित को भी साररूप से, नीरसको भी सरसरूप से, अति निन्दित पदार्थ को भी अति स्तुत्य रूप से, नीच को भी उत्तम रूप से, परि अर्थात् चिरकाल तक या चारो तरफ, पश्यन्ति अर्थात् देखते हैं। यह किन को अविदित है, अर्थात् सभी जानते है। मोहराक्षस, हेय (परित्याग करने योग्य) पदार्थ को भी उपादेय (ग्रहण करने योग्य) रूप से, असत्य (मिथ्या) पदार्थ को भी सत्यरूप से, अकृत्य को भी कृत्यरूप से, अभक्ष्य को भी भक्ष्य रूप से, अपेय (नहीं पीने के योग्य शराबादि) को भी पेयरूप से, अहित को भी हितरूप से, अप्रिय को भी प्रियरूप से, गुणरहित पदार्थ को भी सगुण रूप से, दोषयुक्त पदार्थ को भी निर्दोषरूप से, बहुत क्या कहें, सब कुछ विपरीत (उलटा) ही दिखलाता है।

महामोह के प्रभाव से अनेक, देव, दानव एवं मानव भ्रष्ट हो गये है। वे विपुल-विपत्तिओं की परम्परा से महान् पराजय का अनुभव कर गये हैं। अहल्या के यौवन एवं रूप से मोहित हुआ महान् इन्द्र देवराज, सहस्र (हजार) भगपने को प्राप्त हो गया था, (अर्थात् उस-व्यभिचारी इन्द्र के शरीर में गोतम के शाप से भग के समान हजारो-छिद्र-पीप बहने वाले हो गये थे) इन्द्राणी की सुषमा (अतिशोभा) से मोहित हुआ, अन्य इन्द्र की पत्नी का कामुक, नहुष (जो सप

-हुषः शतसहस्रं समाः सर्पत्वमसर्पत्। तारा-ख्यगुरुदारलावण्यमोहितः कलानिधिर्द्विज-राजः कलाहीनत्वमयासीत्। सीतासौन्दर्य-सम्मोहितो लङ्केश्वरः प्रबलपराक्रमोऽपि सम-वाप्तसर्वविद्योऽपि रावणः सह स्वराक्षसकुलैः क्षयमपक्षयहीनमन्वभवत्। प्रमदामोहसमा-क्रान्तस्वान्तः पुरञ्जनः सन्तापसमाकुलः कुत्सितः स्त्रीमय इवाभवत्। कृतदेवयानी-पाणिग्रहणोऽपि ययातिः शर्मिष्ठासौन्दर्यमो-हितः तारुण्यादपतत्। द्रौपद्यतिशयितरूप-सुषमामोहसमाकृष्टोऽतिबलोऽपि कीचको-ऽतिरुष्टभीमसेनद्रुतवेगवद्धस्तविमानमारुह्य यमराजसदनातिथिरभवत्। किं बहुना विस्तरेण? केवलं मृगबालस्यैव लालनपा-लनविमोहितो भारतवर्षभूषणं महाराजो भरतोऽपि लक्ष्यच्युतः सन् मृगावतारमभ-जत्। महामोहग्रस्तेभ्यो जनेभ्यः शास्त्राचा-र्यगुरूणां सुधारसनिर्विशेषाः सुखशान्ति-

इन्द्र हुआ था) एक लक्ष वर्ष पर्यन्त सर्प हो गया था। तारा नाम की बृहस्पति-गुरु की स्त्री के लावण्य से मोहित हुआ कलानिधि, द्विजराज चन्द्रमा कलाहीनता को प्राप्त हो गया (अर्थात् क्षयरोगयुक्त बन गया)। सीता के सौन्दर्य से अत्यन्त मोहित हुआ, लंका का ईश्वर (राजा) जो स्वयं प्रबल पराक्रम वाला था, समस्त विद्याएँ जिसने प्राप्त की थीं, वह भी रावण, अपने समस्त राक्षसों के कुलों के साथ अपक्षय हीन (ध्वंस-रहित) क्षय (ध्वंस) को प्राप्त हुआ, (अर्थात् भगवान् राम के द्वारा उस रावण का ऐसा ध्वंस हुआ कि—जिस ध्वंस का पुनः ध्वंस ही न हो सका, यानी रावण का अस्तित्व कुछ भी न रहने पाया) प्रमदा (सुन्दर स्त्री) के मोह से समा-क्रान्त हृदय वाला राजा पुरञ्जन, विविध सन्तापों से समाकुल हुआ प्रायः कुत्सित-स्त्री की तरह हो गया था। राजा ययाति, जिसने शुक्राचार्य की लड़की देवयानी से पाणिग्रहण (विवाह) किया था, परन्तु वह शर्मिष्ठा (एक राजा की लड़की) के सौन्दर्य से मोहित हुआ शुक्राचार्य के शाप से अपने तारुण्य से गिर गया, (अर्थात् शक्ति हीन बूढ़ा बन गया था)। द्रौपदी के अतिशयित रूप की अतिशोभा के मोह से अच्छी प्रकार से आकृष्ट हुआ अतिबलवान् भी कीचक, अत्यन्त क्रुद्ध भीमसेन के बड़े वेग वाले हस्तरूपी विमान में बैठ कर यमराज के भवन का अतिथि बन गया, (अर्थात् वह भीमसेन के द्वारा शीघ्र ही मारा गया था)। बहुत विस्तार से क्या कहूँ? केवल मृग के एक छोटे से बच्चे के लालन-पालन में ही मोहित हुआ भारतवर्ष का भूषण महाराज भरत भी लक्ष्य से च्युत हो कर मृग के अवतार को प्राप्त हो गया था। महामोह से ग्रस्त मनुष्यों को, शास्त्र, आचार्य, एवं गुरुओं के अमृत रस

कारका अपि सदुपदेशाः सन्मित्राणां हितवचनान्यपि न रोचन्ते। मोहराक्षसो राजानं रङ्कं, पण्डितं मूर्खं, सबलं दुर्बलं, तेजस्विनं तेजोविहीनं, युवानं वृद्धं, स्वस्थमस्वस्थं, सदुत्तममधमतममपि विधातुं क्षमो भवति। अपि च कामक्रोधाद्यखिलदुर्गुणानां जन्मभूमिः, विविधशोकसन्तापादिकारणमपि च महामोह एव। अत एव सुधीभिः स्वपरदेहधनाद्यास्पदो मोहरूपः प्रबलो महाशत्रुः सर्वथा—'शरीराणीमानि कुत्सितमैथुनादेवोद्भूतानि, मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तानि, अस्थिभिश्चितानि मांसेनाऽनुलिप्तानि, चर्मणाऽवनद्धानि, विण्मूत्रपित्तकफमज्जामेदवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णानि, नवच्छिद्रैर्निरन्तरं स्रवद्भिर्मलैरतिघृणास्पदान्यतिमलिनानि, विविधरोगसमाकुलानि, चिकित्सयाऽप्येषां रोगशान्तिर्न नियता, शान्ता अपि रोगाः कदाचित् पुनरुद्भवन्ति। समेषामेषामद्य वा श्वो वा ध्रुवो विध्वंसः, स्त्रीपुत्रधनादयोऽप्यतिक्लेशप्रदाः, अतोऽत्र कृतेनातितुच्छेन मोहेनालम्'—इत्यादिलक्षणेन सद्विवेकवैराग्यखड्गेन विध्वंसनीयः। मोहारात्यधीना धीः कथमपि न विधेया धी-

के समान-सुख-शान्ति करने वाले-सदुपदेश एवं अच्छे निःस्वार्थ-मित्रों के हितवचन भी रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं। मोहराक्षस, राजा को रङ्क, पण्डित को मूर्ख, सबल को दुर्बल, तेजस्वी को तेज से विहीन, युवक को वृद्ध, स्वस्थ को रोगी, अच्छे—उत्तम को भी अति अधम बनाने के लिए समर्थ होता है। और काम क्रोध आदि अखिल दुर्गुणों की जन्मभूमि एवं विविध शोकसन्तापादि का कारण भी महामोह ही है। इसलिए सुधी अर्थात् शोभन विवेक विचार वाली बुद्धि वालों को—यह, अपने शरीर में, अन्य स्त्री आदि के शरीरों में, एवं धनादि पदार्थों में होने वाला—मोहरूपी प्रबल महाशत्रु, सर्वथा अच्छे विवेक-विचाररूपी शस्त्र से विध्वस्त कर देना चाहिए। 'ये सभी शरीर' कुत्सित मैथुन (गन्दे ग्राम्यधर्म) से उत्पन्न हुए हैं, मूत्र के द्वार से निकले हुए हैं, हड्डियों से संचित हुए हैं, मांस के पलस्तर से लिप्त हुए हैं, चर्म से वेष्टित हुए हैं, विष्ठा, मूत्र, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, वसा आदि अन्य बहुत मलों से परिपूर्ण (अत्यन्त भरे) हुए हैं। मुख, गुदा, नासिका आदि नव छिद्रोंके द्वारा निरन्तर झरने वाले-कफ आदि मलों से-अतीव घृणा के विषय होने से अत्यन्त मलीन निश्चित हुए हैं, विविध रोगों से समाकुल हैं, चिकित्सा-औषधि आदि के सेवन से भी इन शरीरों के रोग की शान्ति नियम से नहीं होती है, दैवयोग से कदाचित् शान्त हुए भी रोग पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। इन सभी शरीरों का विध्वंस, आज या कल निश्चयरूप से होता ही है। स्त्री, पुत्र, धन आदि पदार्थ भी अतीव क्लेशप्रद हैं, इसलिए इन शरीरादियों में किये गये अतितुच्छ मोह से अलं (बस) है, इत्यादि लक्षण वाला यह विवेकविचाररूप शस्त्र है। अतः धी (विचारवती बुद्धि) रूपी धन

धनैरिति श्रद्धेयभगवद्वेदसदुपदेशोऽयं न विसर्तव्य इति ।

तथा शुशुलूकयातुं=शुशुलूकः-वृकः-पशुविशेषः-अतिक्रोधनस्तरक्षुर्वा तत्समानरूपेण वर्तमानं क्रोधनामानमरुणनेत्रादिलिङ्गगम्यं गात्रविक्षेपकारणं शत्रुवधाभिलाषुकं राक्षसमपि जहीत्यन्वयः । कामितार्थविघातजन्यस्य बुद्धिक्षोभविशेषस्यास्य क्रोधस्याऽप्यरातेः अनेके दोषाः, तद्विध्वंसस्य चानेके गुणाः विश्वविदिताः सन्ति । विध्वस्तसकलसद्गुणस्य खर्वीकृतसर्वपापस्योपहसिताशेषवैरिणः तस्य क्रोधस्य राक्षसस्य महादुर्गुणत्वं महापापत्वं प्रबलवैरित्वञ्च सर्वत्रातिप्रसिद्धम् । विद्वेषविषवृक्षस्य दृढं मूलं क्रोध एव । क्रोधपिशाचो यत्र प्रविष्टः तस्यैव प्रथमं रुधिरपानं करोति । क्रोधसमाकुला जना श्चाण्डालकृत्याविशेषाण्यकृत्यान्यपि कर्तुं नापत्रपन्ते । स्वस्नेहभाजनानि मातापित्रादिबान्धवानपि त्वं त्वमिति कृत्याक्षेप्तुं निहन्तुमपि च न विलम्बमवलम्बन्ते । क्रोधः कानि कान्यकृत्यानि न कारयति लोकैः ? । क्रोधेन पाप्मना वैरिणा वशीकृता लोका हितैषिजनोदीरिता कल्याणकथामपि श्रोतुं

वालों को अपनी बुद्धि किसी भी प्रकार से मोहरूपी शत्रु के आधीन नहीं करनी चाहिए । एवं यह श्रद्धेय (श्रद्धा करने योग्य) भगवान् वेद का सदुपदेश विस्मृत नहीं करना चाहिए ।

तथा शुशुलूक अर्थात् वृक (भेडिआ) नाम का पशुविशेष, या अतिक्रोध करने वाला तरक्षु (छोटा चित्ता) के समानरूप से वर्तने वाला, लाल नेत्र आदि चिह्नों से जिसका अस्तित्व मालूम होता है, ऐसा, गात्र (शरीर) के विक्षेप (कम्पन) का कारण, शत्रु के वध की अभिलाषा रखने वाला, क्रोधनामक राक्षसका भी हे जीवात्मन्! तू ध्वस कर, यह अन्वय है। कामित-(कामना का विषय) अर्थ के विघात से जन्य, बुद्धि का क्षोभविशेषरूप, इस क्रोधरूपी शत्रु के भी अनेक दोष, एवं उसके ध्वस के अनेक गुण भी विश्व में विदित हैं । जिसने सकल सद्गुणों का विध्वस किया है, जिसने अपने समस्त सभी पाप, खर्व (लघु छोटे) कर दिये हैं, जिसने समग्र वैरियों की भी अपने पराक्रम से हँसी उड़ाई है। ऐसे क्रोधराक्षस का महादुर्गुणपना, महापापपना, प्रबलवैरिपना भी सर्वत्र अत्यन्त प्रसिद्ध है। विद्वेषरूपी विषवृक्ष का दृढ मूल क्रोध ही है। क्रोधरूपी पिशाच जहाँ प्रविष्ट होता है, उसका ही वह प्रथम रुधिर का पान करता है । क्रोध से समाकुल मनुष्य, चाण्डाल के कृत्य के समान अकृत्यों को भी करने के लिए लज्जित नहीं होते हैं । अपने स्नेह के भाजन (आश्रय पात्ररूप) माता पिता आदि बान्धवों को भी 'तू तूँ' कर आक्षेप करने के लिए एवं मारने के लिए भी विलम्ब का अवलम्बन नहीं करते हैं । क्रोध किन किन अकृत्यों को लोकों से नहीं करवाता अर्थात् सभी अकृत्य करा देता है । क्रोध जो महापापी एवं वैरी है, उसके वश हुए लोग, हितैषी जन से

न शक्नुवन्ति। क्रोधो हि निखिलमपि त्रिभुवनमन्धीकरोति, बधिरीकरोति च, तथा च स्मरन्ति शिष्टाः—'क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि। क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्' (वा. रा. सुं. ५५।४)

'वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्। नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्' (म. भा. व. २९।५) इति। अत एव नादूरीकृतक्रोधान्धकारजालो जनः कथमप्यभ्युदयभाजनतामुपगच्छति। तथा चाभिहितं–युधिष्ठिरेण भीमसेनं प्रति—

'अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः। अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते।' (कि.स.२।३६)

एवमेव विज्ञा अपि–'विवेकविचारगर्भितया क्षमया ये वै क्रोधं विध्वंसन्ते' त एव पुरुषा महात्मानो धन्याश्च भवितुमर्हन्ति,

कही हुई अच्छी बात को भी सुनने के लिए समर्थ नहीं होते। क्रोध निश्चय से समस्त त्रिभुवन को भी अन्ध कर देता है, वधिर बना देता है। तथा च (इस प्रकार) शिष्ट-महापुरुष, स्मरण करते हैं–'कौनसा क्रुद्ध मनुष्य पाप नहीं करता? क्रुद्ध, माता पिता आदि गुरुओं को भी मार देता है। क्रुद्ध मनुष्य, 'कठोर एवं कड़वी वाणीसे अच्छे साधु-पुरुषों के प्रति भी आक्षेप कर बैठता है।' कुपित हुआ मनुष्य कभी भी वाच्य एवं अवाच्यको नहीं जानता है, (अर्थात् क्या बोलना चाहिए या क्या नहीं बोलना चाहिए, ऐसा विवेक उसे नहीं रहता)। क्रुद्ध के लिए अकार्य (नहीं करने योग्य) कुछ नहीं रहता, एवं कहीं अवाच्य (नहीं कहने योग्य) भी नहीं रहता, (अर्थात् क्रोधी सब कुछ कर सकता है एवं सब कुछ बोल सकता है)।' इति। इसलिए जब तक मनुष्य क्रोधरूपी अन्धकार के जाल को दूर नहीं करता, तब तक वह किसी भी प्रकार से अभ्युदय की पात्रता को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् अपना अभ्युदय नहीं कर पाता। इस प्रकार भीमसेन के प्रति किरातार्जुनीय काव्य में युधिष्ठिर ने कहा था–

'अभ्युदय की चाहना करने वाले मनुष्य को प्रथम क्रोधमय-अन्धकार को अपनी विवेकविचार वाली बुद्धि से दूर करना चाहिए। अंशुमान् सूर्य भी जब तक अपनी प्रभा (प्रकाश) से रात्रि द्वारा किये गये अंधकार का भेदन नहीं करता, तब तक वह उदित नहीं हो सकता।'

इस प्रकार विज्ञ (विद्वान्) महोदय भी–'जो, विवेकविचारगर्भित अर्थात् जिसके अन्दर विवेक एवं विचार है, ऐसी क्षमा से क्रोध का विध्वंस करते हैं, वे ही पुरुष, महात्मा, एवं धन्य होने योग्य हैं' ऐसा कहते हैं–'जैसे सर्प अपनी

इत्याहुः'—'यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति । यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते ॥ 'धन्याः खलु महात्मानो ये बुद्ध्या कोपमुत्थितम् । निरुन्धन्ति महात्मानो दीप्तमग्निमिवाऽम्भसा ॥' (वा. रा. सुं. ५५।६-३) इति । ततः क्रोधस्य सर्वपुरुषार्थपरिपन्थित्वं सकललोकोद्वेजकत्वं महामयसमत्वं महाभयसंतापादिजनकत्वञ्च विनिश्चित्य श्रेयोऽर्थिभिः न तदधीना धीरास्थेया, किन्तु परमापकर्तृक्रोधे क्रोधं विधाय सर्वत्र स्वात्मानमेकमनुसन्धाय दृढतरदोषानुसन्धानमौनादिसदुपायेनापि धर्माद्यखिलपुरुषार्थनाशनः क्रोधः शत्रुः सपदि विध्वस्तव्य इत्युपदेशः ।

जीर्ण चमड़ीरूपी कञ्चुका का परित्याग करता है, तैसे जो किसी कारण से उत्पन्न हुए क्रोध को क्षमा के द्वारा हटा देता है, वही पुरुष कहलाता है।' 'जैसे जल से, दीप्त हुई अग्नि, निरुद्ध कर दी जाती है, तैसे जो महात्मा उत्पन्न हुए क्रोध को अपनी शान्त एवं विचारमयी बुद्धिसे निरुद्ध (शान्त) कर देते हैं, वे ही महात्मा धन्य हैं।' इति । इसलिए क्रोध, सभी धर्मादि पुरुषार्थों का परिपन्थी (विरोधी) है, सकल लोकों के उद्वेग का कारण है, महारोग (व्याधि) के समान है, महाभय संताप आदिका जनक है, ऐसा विशेषरूप से निश्चय कर, कल्याणकामी मनुष्यों को क्रोध के आधीन अपनी बुद्धि को नहीं करनी चाहिए, किन्तु परम अपकार करने वाले क्रोध के ऊपर क्रोध करके, सभी चराचर पदार्थों में एक ही अपने आत्मा का अनुसंधान करके, अत्यन्त दृढ दोषो का अनुसंधान, (विचारविशेष) मौन, आदि सदुपाय द्वारा धर्मादिसमस्त पुरुषार्थों का नाश करने वाला, क्रोध-शत्रु, शीघ्र ही विध्वस्त कर देना चाहिए, यही वेद का उपदेश है ।

उत=तथा, श्वयातुं=श्वा=कुकुरः, तत्समानरूपेण वर्तमानं मत्सरनामानं राक्षसं शत्रुं जहीत्यन्वयः । मत्सरस्वभावप्रधानत्वाच्छुनः तत्समानरूपत्वं तस्यात्र प्रत्यपादि । परोत्कर्षासहनस्वोत्कर्षवाञ्छनपूर्वकस्वात्मभाग्यधिकाराकारवृत्तिविशेषो हि मत्सरो राक्षसः परोत्कर्षधर्षणपरोऽनेकदोषकोशपोषकः परसम्पदभ्युदयविद्याकीर्त्या-

तथा, श्वयातु-अर्थात् श्वा—कुकुर (कुत्ता) के समान रूप से वर्तने वाले मत्सर नामक राक्षस शत्रु का विनाश कर, यह अन्वय है । (अर्थात् 'श्वयातुं' के साथ 'जहि' का सम्बन्ध है) कुत्ता मत्सरस्वभावप्रधान है, इसलिए उसकी समानरूपता इस मत्सर में प्रतिपादन की गई है । अन्य के उत्कर्ष का सहन न करना, अपनी ही उन्नति की वाञ्छा करना, इन दो वृत्तिओं के सहित, अपने भाग्य के धिक्कार के आकार वाली जो वृत्तिविशेष है, वही मत्सर राक्षस है । वह अन्य के उत्कर्ष का धर्षण (तिरस्कार) करता है, अनेक दोषों के कोश (खजाना) का पोषण करता है, अन्य की सम्पत्ति का अभ्युदय, विद्या, कीर्ति

दिश्रवणस्मरणदर्शनादिजन्यः कोऽपि पिशाच इव महापापो मत्सरिणामसूयावदन्तःकरणेषु महान्तं सन्तापं जनयति । परोत्कर्षदर्शनं स्वस्य हीनत्वाऽनुभवश्च लोके दुःखकारणं प्रसिद्धम् । यदाहुर्मिश्राः-'परसम्पदुत्कर्षो हि हीनसम्पदं पुरुषं दुःखाकरोति' (सांख्यकारिकाव्याख्याने) इति । अत एव मत्सरवशीकृतानां मानवानां मत्सरमहापापसमुत्पादितविविधसन्तापसंतप्तानि स्वान्तानि न दिवा न रात्रौ किं बहुना ? क्षणलवाऽर्धमपि शान्तिं सन्तोषञ्च नानुभवन्ति । मत्सरग्रस्तानि मानसानि न विपुलानि धनानि न रम्याणि हर्म्याणि, न नितान्तोपचिता विभवाः, न सुन्दराणि कलत्राणि, न सुचरितानि मित्राणि, नातिप्रियपुत्रपौत्रादिपरिवारोऽपि सुखयतीति नास्त्यत्र विवादलेशोऽपि । तस्मात्सुधीभिः स्वहृदये सन्तापसन्ततिजनकाय सुखसन्तोषसमुदयसमुत्सारकाय मत्सरायाऽवकाशलेशोऽपि न देयः, किन्तु शुद्धेन विचारेण सद्भावनया चोपशमेन च मत्सरः शत्रुर्मारयितव्य इति ।

उत-अपि च, कोकयातुं-कोकः-चक्रवाकः-कामदोषप्रधानः पक्षिविशेषः, तत्समानरूपेण वर्तमानं कामाख्यं राक्षसं महाशत्रुं[1]

आदि के श्रवण, स्मरण, एवं दर्शन आदि से उत्पन्न होता है। वह कोई पिशाच की भाँति, महापापी, मत्सर वालों के असूया-(गुणों में दोष का आरोप) वाले अन्तःकरणों में महान् सन्ताप को उत्पन्न कर देता है। अन्य के उत्कर्ष का दर्शन, और अपनी हीनता का अनुभव, लोक में दुःख का कारण प्रसिद्ध है। इस लिए वाचस्पति मिश्र भी सांख्यकारिका के व्याख्यान में कहते है-'अन्य की सम्पत्ति का उत्कर्ष, निश्चय से हीन सम्पत्ति वाले-मूढ मनुष्य को दुःखी बना देता है।' इसलिए मत्सर के वश हुए मनुष्यों के-मत्सररूपी महापाप से उत्पन्न किये गए विविध-सन्तापों से-सन्तप्त-हृदय, न दिन में, न रात्रि में, बहुत क्या ? क्षण के लव का अर्ध समय भी शान्ति एवं संतोष का अनुभव नहीं करते हैं। मत्सर से ग्रस्त मनों को, विपुल धन, रम्य बंगले, अच्छी प्रकार से बढे हुए वैभव, सुन्दर स्त्रियाँ, सच्चरित्र मित्र, तथा अतिप्रिय पुत्र, पौत्रादि, परिवार भी सुखी नहीं कर सकता है, इस विषय में विवाद का लेश भी नहीं है। इसलिए सुधी-शोभन बुद्धिवाले-मनुष्यों को अपने हृदय में सन्तापों की परम्परा का उत्पादक, सुख एवं संतोष के समुदय का विनाशक-मत्सर के लिए अवकाश का लेश भी नहीं देना चाहिए, अर्थात् अपने हृदय में मत्सर के रहने के लिए अल्प भी स्थान नहीं देना चाहिए। किन्तु शुद्ध विचार से, सद्भावना से, एवं उपशम से मत्सर शत्रु को मार देना चाहिए। इति।

और, कोकयातु, अर्थात् कोक यानी कामदोष जिस में प्रधानरूप से विद्यमान रहता है, ऐसा चक्रवाक पक्षिविशेष, उसके समानरूप से वर्तने वाला काम नाम का महाशत्रु राक्षस का तू हे

[1] कर्मपदमिदम्।

जहीति सम्बन्धः । स्त्रीपुंसव्यतिकराभिलापः कामो विषयसामान्येच्छा वा । तदुक्तं–'इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छा कामशब्दिता'। इति । एकान्तवामशीलेन कामेन केऽनर्था नोद्भाव्यन्ते ? । कामः प्राणिनमन्धं कर्तुं प्रभवति, अत एव सुखलोलुपः प्राणी कामान्धतया भावि महदपि दुःखमपश्यन् प्रवर्तमानो भवति । स्वकीयं निश्चितं मृत्युं जानन्नपि राजा पाण्डुः माद्र्या साकमरीरमत् । एतर्ह्यपि लोकेऽत्र वशीभूतसर्वभूतकामभूताभिभूताशया जनाः चक्षुष्मन्तोऽप्यन्धतां शृण्वन्तोऽपि बधिरतां वाग्मिनोऽपि मूकतां बुद्धिमन्तोऽपि मूढताञ्चोपगच्छन्तीति बहुवार बहुषु स्थलेषु दृष्टं श्रुतं दृश्यते श्रूयते चास्माभिः । दुष्पूरेणानलेन पाप्मना कामेन कति कति दक्षिणाः पण्डिता अपि दाक्षिण्यपाण्डित्यरहिताः, तपःप्रतापतेजस्समन्विता अपि प्रणष्टतपःप्रतापतेजसः धीरवीरगम्भीरसमुदारा अपि धैर्यगाम्भीर्यौ-

जीवात्मन् ! विध्वंस कर । स्त्री एव पुरुष के सम्पर्क की अभिलाषा का तथा विषय सामान्य की इच्छा का नाम काम है । यह कहा है–'यह मुझे हो' 'यह मुझे हो' ऐसी इच्छा काम शब्द से प्रतिपादित है ।' एकान्त यानी नियम से, वाम यानी टेढा, शील यानी स्वभाव है जिसका, ऐसे काम ने इस ससार में किन किन अनर्थों का उद्भावन नहीं किये हैं ? अर्थात् सभी अनर्थों का उद्भावन एक मात्र काम से ही होता है । काम प्राणी को अध बनाने के लिए भी समर्थ होता है, इस लिए विषयसुखलोलुप प्राणी कामान्ध होकर भविष्य में होने वाले महान् दु ख को भी नहीं देखता हुआ विषयों में प्रवृत्त होता है । अपनी निश्चित मृत्यु को जानता हुआ भी राजा पाण्डु ने माद्री-राणी के साथ रमण किया ! (यह एक अन्धपने का उदाहरण है) इस समय इस लोक में भी–जिस काम के वश में सकल भूत प्राणी हैं, उस काम-भूत से अभिभूत हैं, आशय (हृदय) जिन्हों का, ऐसे प्राणी, चक्षुष्मान् होते हुए भी अधपने को, सुनते हुए भी बधिरपने को, बहु बोलने वाले हुए भी मूकपनेको, बुद्धिमान् होते हुए भी मूढपने को प्राप्त होते हैं, ऐसा बहुवार बहुत स्थलों में हमने देखा एव सुना है, हम-देखते एव सुनते हैं । दुष्पूर (जिसकी पूर्ति बडी कठिनतासे होती है) एव अनल (जिसमें अलभाव-बसपना नहीं है, अथवा जो अग्नि के समान भोगाहूतिओ से प्रदीप्त ही होता रहता है) उस पापी काम-राक्षसने, किन किन कुशल पण्डितो को भी दाक्षिण्य (कुशलता) एव पाण्डित्य से रहित, एव किन किन तप प्रताप एव तेज से सयुक्त-महानुभावो को भी तप प्रताप एव तेज से प्रच्युत, एव किन किन धीर-वीर-गभीर एव समुदार-मनुष्यो को भी धैर्य गाम्भीर्य

दार्यादिशून्याश्च न कृता न क्रियन्ते च ? । नैतावदेव ? असंख्यदुर्गुणग्रामेण कामेन कति कति विद्वद्वरा अपि विड्वराहनिर्विशेषतां, सभाभूषणायमाना अपि रासभाऽविशेषतां, कुलीना अपि कौलेयककुलतुल्यतां, महानरा अपि वानराधमसमतां, परिग्रहशून्या महाविरक्ता अपि रागगर्तपातभ्रष्टतां च नोपनीता नोपनीयन्ते च ? । कामारिणा भगवता महादेवेन भस्मसात्कृतोऽप्ययं मनसिजः स्मृतिमात्रसन्निहितः क्षणमात्रेण सर्वेषां लोकानां सकलसद्गुणगणान् भस्मसात्करोतीत्यहोऽस्य दौःशील्यम् । अनङ्गोऽपि यः सकलानां लोकानामेतादृशीं पारावारशून्यां पीडां जनयति, स एव साङ्गश्चेदभविष्यत्तर्हि कां कामनिर्वाच्यां तां तां नाजनिष्यदिति सुधियो विदाङ्कुर्वन्तु । एवं श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासा अपि सर्वजनोद्वेजकं कामं सर्वश्रेयोवाममेव वर्णयन्तीति केषां नाविदितम् ? । अपि च, कामोऽयमनादि-

औदार्यादि से शून्य, नहीं किया एवं नहीं करता है ? अर्थात् बहुत-उत्तम कोटि के पुरुषों को भी काम ने उस उस सद्गुणों से भ्रष्ट कर दिया है, एवं कर देता है । इतना ही नहीं, किन्तु--असंख्य-दुर्गुणों का ग्राम (समुदाय) रूप काम ने, किन किन श्रेष्ठ-विद्वानों को भी, विट्वराह (विष्ठाभक्षण करने वाला शूकर) के समान एवं सभा में भूषण के समान सुशोभित-उत्तमपुरुषों को भी, रासभ (गर्दभ) के समान, एवं बड़े बड़े कुलीनों को भी कौलेयक (कुत्ते) के कुल के तुल्य, एवं महान् नरों को भी अधम वानर के समान, एवं परिग्रह रहित महाविरक्तों को भी रागरूपी गर्त (खड्डे) में पतन से भ्रष्ट, नहीं किया हैं या नहीं करता है ? अर्थात् उन उन बड़े बड़े विख्यात पुरुषों को भी काम ने पतित एवं तुच्छ बना दिया है एवं बना रहा है । कामारी (काम के शत्रु) भगवान् महादेव से भस्मीभूत किया गया भी यह मनसिज (मन में उत्पन्न होने वाला-काम) स्त्री आदिपदार्थों के स्मृतिमात्र से ही संनिहित (समीप ही में स्थित) होने वाला यह मदन राक्षस, क्षणमात्र में ही सभी लोकों के सकल सद्गुणों के समुदाय को भस्म कर देता है, इस प्रकार इस पापी काम का अहो ! (खेद में) बड़ा दुष्ट स्वभाव है । अंगरहित हुआ भी यह अनंग-काम, सभी लोकों को इतनी बड़ी पारावर (अवधि) रहित पीडा (संताप) उत्पन्न करता है, कि-यदि यह साङ्ग (अङ्गों से युक्त) होता तो क्या क्या अवर्णनीय उस उस पीडा को उत्पन्न न करता ? इसका शोभन बुद्धि वाले सज्जन विचार करें । इस प्रकार श्रुति, स्मृति, पुराण एवं इतिहास भी, सभी प्राणियों के उद्वेगों का उत्पादक, काम को सभी प्रकार के श्रेय से प्रतिकूल (विरोधी) रूप से ही वर्णन करते हैं, यह किन बुद्धिमानों को अविदित है ? अर्थात् विचारशील

कालतः समेषां प्राणिनां हृदि वज्रायमाणो निरूढः प्रयत्नातिशयं विना तं विध्वंसितुं न केनापि प्रभूयते। तस्य विध्वंसने संततं बलवद्दोषानुसन्धानमेवोत्कटो हेतुर्विजयते।

ननु–सामदानभेददण्डाश्चत्वारः शत्रुजयोपाया वर्णिताः सन्ति, तत्रादौ पूर्वोपायसामादिना शत्रुर्वशीकर्तव्यः, नतु सहसैव दण्डेन हन्तव्यः इति चेत्सत्यम्, तथापि पूर्वपूर्वोपायासम्भव एवोत्तरोत्तरोपायस्य प्रयोज्यत्वात्। कामस्य खल्वरातेरत्युग्रस्य महापापस्य प्रियसद्वचनसाञ्जलिबन्धविनयप्रार्थनाद्युपायभूतेन साम्ना, महाशनस्याऽनलस्य तस्य तदभीप्सितार्थसमर्पणोपायेन दानेन च, रजोगुणविवर्धकस्य तस्य भेदे-

सब कुछ जानते ही हैं। और यह काम अनादिकाल से सभी प्राणियों के हृदय में वज्र के समान अत्यन्त घुसा हुआ है, अतिशय प्रयत्न के विना, उसको कोई भी विध्वस्त करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है। उसके विध्वंस करने में सतत (निरंतर) बलवान् दोषों का अनुसंधान ही उत्कट-साधन विजयीरूप से माना जाता है।

शंका–साम, (समझाना) दान (कुछ देना) भेद (युक्ति प्रयोग) एवं दण्ड ये चार शत्रुओं के विजय के उपाय शास्त्र में वर्णन किये हैं, उन में प्रथम, आगे के साम आदि उपाय से शत्रु को वश करना चाहिए, सहसा (एकदम) दण्ड से ही शत्रु को नहीं मार देना चाहिए! (शंका का तात्पर्य यह है कि–वेद भगवान् इस काम शत्रु को एकदम मार देने के लिए 'जहि' पद से क्यों हुकुम करता है? साम आदि उपाय से वश करने के लिए क्यों नहीं कहता है?)

समाधान–यद्यपि शंका आपाततः सत्य (ठीक) मालूम होती है, तथापि पूर्व पूर्व के साम आदि उपायों के असम्भव (विफल) होने पर ही उत्तर उत्तर के दान आदि उपायों का प्रयोग किया जाता है। निश्चय से यह महापापी काम अत्युग्र शत्रु है, इस लिये उसको–मधुर-अच्छे वचन, अञ्जलि-बन्धन (हाथ जोड़ना) पूर्वक विनय प्रार्थना आदि उपायरूप साम से भी किसी प्रकार समझा नहीं सकते हैं, तथा महाशन-अर्थात् असंख्य भोगों के अशन (भोग) करने की सदा कामना रखने वाला एवं अनल अर्थात् अग्नि के सदृश असंख्य भोगों से भी तृप्त न होने वाला यह काम शत्रु है, इस लिए उस के अभीप्सित (इष्ट) पदार्थों के समर्पण उपाय रूप दान से भी उसको वश में करना अशक्य है, तथा यह काम राक्षस रजोगुण के बढ़ाने का सभार बना

नापि चानुसन्धातुमशक्यत्वात्, चतुर्थ एवोपायो दण्डवधः, 'जहि' इत्यनेन श्रुत्या विहितः।

नन्वस्मिन् जगति जगज्जनकेन परमेश्वरेण सृष्टः कश्चनापि पदार्थो नितरां नास्ति निरर्थक इति सिद्धान्तश्चेत्तर्हि परमेश्वरसृष्टस्य कामस्याऽपि कथमेकान्ततो निरर्थकत्वमनुसन्धाय वध्यत्वमुच्यते ? इति चेत्, मैवम्, भावानवबोधात्। न श्रुत्या यथोचितपरिमितपरिचयस्य धर्माविरुद्धस्य कामस्यैकान्ततो निरर्थकत्वमुच्यते, किन्तु धर्मसंयमविरुद्धस्यापरिमितस्यौचित्यवर्जितस्य कामस्य निरर्थकत्वेनाऽनर्थावहत्वेन च वध्यत्वमुच्यते। अतो गीतासु भगवद्विभूतित्वेन 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः।' (१०।२८) इति परिगणितस्य धर्म्यस्य विशिष्टप्रजोत्पादकस्य कामस्य कामधुक्त्वमेवावगन्तव्यम्। ततो न वामकामशत्र्वधीना धीर्विधेया विवेकविचारशीलैः। किन्तु ब्रह्मचर्यादिसदुपायैरवश्यं कामः शत्रुर्हन्तव्य इत्यादिश्यते सर्वज्ञेन

है, इस लिये उसको भेद से भी वश में रखना असंभव है, अत एव उस महादुष्ट के विध्वंस के लिए चतुर्थ उपाय दण्ड से वध का 'जहि' इस वचन से श्रुति ने उपदेश दिया है।

शंका—इस जगत् में, जगत् के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर से सर्जन किया (बनाया) हुआ कोई भी पदार्थ अत्यन्त निरर्थक है ही नहीं, ऐसा यदि सिद्धान्त माना जाता है, तब तो परमेश्वर से बनाये गए इस काम को निरर्थक समझ कर क्यों वध्य (मारने योग्य) कहते हो ?

समाधान—ऐसा मत कहो, काम वध के तात्पर्य का यथार्थ बोध नहीं होने से ऐसी शंका होती है। श्रुति (वेद) यथोचित-अर्थात् जो योग्यता का—ऋतुकालाभिगमनादि की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता है, जिसका योग्य-प्रजा के *उत्पादन के लिए ही परिमित-(अल्प) परिचय* है, जो धर्म से विरुद्ध नहीं है, ऐसे काम को नियम से—निरर्थक नहीं कहती है। किन्तु जो धर्म एवं संयम से विरुद्ध है, अपरिमित है, जो मर्यादा का उल्लङ्घन करता है, उस काम को निरर्थक एवं अनर्थों का प्रापक होने से श्रुति ने वध्य कहा है। इस लिए गीता में—'शास्त्रोक्त-रीति से योग्य—संतान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव मैं हूँ' इस वचन से भगवान् की विभूति-रूप से परिगणन किया हुआ, धर्मसंयुक्त, विशिष्ट (बलवान्, बुद्धिमान्, स्वस्थ, सुन्दर) प्रजा का उत्पादक, काम, कामधुक् (इच्छित अर्थ का साधक) ही है, निरर्थक नहीं है, ऐसा समझना चाहिए। इस लिए जो वाम (प्रतिकूल-अनर्थ-कारी) काम शत्रु है, उसके आधीन, बुद्धि, विवेक विचारशील मनुष्यों को नहीं करनी चाहिए। किन्तु 'ब्रह्मचर्यादि-अच्छे उपायों से अवश्य ही अनर्थकारी कामशत्रु मार देना चाहिए' ऐसा

भगवता वेदेन। अत एव भगवान् श्रीकृष्णोऽपि द्विरुक्त्या प्रभूतानर्थावहं कामशत्रुं विहन्तुमाह–'पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।' (३।४१) 'जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्।' (३।४३) इति।

उत=तथा, सुपर्णयातुं=सुपर्णः=गरुडः–पक्षिराजः, तत्समानरूपेण वर्तमानं मदसंज्ञकं यातुधानं जहीत्यन्वयः। गरुडस्य मदस्वभावप्रधानत्वात्तदुपमानमत्र विहितम्। मदोऽपि महागद इव परमार्थात्मकल्याणविरोधी महावैरी राक्षसः सहसाऽवश्यं हन्तव्य एव। तस्यापि प्राबल्यमत्यद्भुतमेव लोके चकास्ति। एकोऽपि मदो ब्रह्म इवानेकविधतां बिभर्ति। तस्यानैकविध्यं मदान्धेषु जनेषु स्पष्टं विलोक्यतेऽस्माभिः। केचन तनुमदेन, केचन धनमदेन, राज्यमदेन, विद्यामदेन, यौवनमदेन, सौन्दर्यमदेन, पराक्रममदेनाधिकारमदेन, कुलजातिमदेन, मानकीर्तिमदेन, कुटुम्बमदेन, च मत्ता अत्युन्मत्ता मदिरामदान्धा इवासम्ब-

सर्वज्ञ भगवान् वेद आदेश (आज्ञा) देता है। इस लिए भगवान् श्रीकृष्ण भी, 'प्रजहि' एवं 'जहि' इस दो बार के कथन से प्रभूत (अनेक-बहुत) अनर्थों की प्राप्ति कराने वाले-कामशत्रु को विशेषरूप से विध्वंस करने के लिए कहता है–'ज्ञान और विज्ञान के नाश करने वाले-इस पापी काम को निश्चय पूर्वक अतिशय-प्रयत्न से मार।' 'हे महाबाहो! (तू अपने आत्मा की महान् शक्ति को समझ कर) इस दुर्जय कामरूपी शत्रु को मार।' इति।

तथा सुपर्णयातु अर्थात् सुपर्ण, पक्षियों का राजा गरुड है, उसके समानरूप से वर्तने वाले मद नामवाले-यातुधान (राक्षस) का विध्वंस कर। गरुड मदस्वभाव की प्रधानता वाला एक पक्षि है, इस लिए इस पक्षिका उपमान (सादृश्य) इस मदराक्षस में दिया गया है। मद भी महारोग के समान, परमार्थ-आत्मकल्याण का विरोधी महावैरी राक्षस है, इस लिए वह सोचे ही बिना अवश्य मार देना चाहिए। उस मद-राक्षस की अति-अद्भुत (आश्चर्यकारी) प्रबलता लोक में प्रकाशित है। एक हुआ भी वह मद, ब्रह्म की तरह अनेक प्रकारता को धारण करता है। उस मद की अनेक प्रकारता, मद से अन्धे हुए मनुष्यों में स्पष्ट ही हम देख सकते हैं। कुछ लोग शरीर के मद से, कुछ लोग धन के मद से, कुछ लोग राज्य के मद से, विद्या के मद से, यौवन (जवानी) के मद से, सुन्दरता के मद से, पराक्रम के मद से, अधिकार के मद से, कुल एवं जाति के मद से, मान एवं कीर्ति के मद से, कुटुम्ब के मद से, मत्त एवं अति उन्मत्त हुए मदिरा के मद से अन्धे हुए पागल मनुष्यों की भाँति, असम्बद्ध ही (प्रमाण-युक्ति-शून्य, यद्वा तद्वा) अनल्प (बहुत कुछ)

इमेवानल्पं जल्पन्तो जगत्रयमपि तृणतुल्यं गणयन्तोऽवगणयन्ति, धर्माधर्मस्वर्गनरकादिकं साक्षात्परमेश्वरमपि च। धनमानमदान्विताः 'सर्वगुणविशिष्टा वयमेवे' त्यभिमन्यमाना अविवेककेतनो विभिन्नाऽर्यसेतवो भद्रगुरुजनग्लानिहेतवो भूत्वा सद्विचारं सद्विनयञ्च निरादृत्याऽसंख्येया जनाः परिभ्रमन्ति वसुधातले। सन्ति ते विरलाः खलु ये सत्सङ्गसद्विचारमहौषधदूरीकृतमहामदगदाः सर्वत्र भगवद्दर्शनप्रणयिनो मानवमणयः। जन्मान्धमदान्धयोर्वैलक्षण्यं त्वियदेव यज्जन्मान्धो नात्मानं पश्यति, नान्यञ्च। मदान्धस्तु स्वात्मानमेव पश्यति, नान्यं कमपीति ब्रह्म-

बकवाद करते हुए, तीन लोक को भी अपने समक्ष तृण के समान गिनते हुए, धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक आदि की तथा साक्षात् परमेश्वर की भी अवगणना (तिरस्कार) करते हैं। धन एवं मान के मद से अन्वित (संयुक्त) वे लोग, 'सकल-गुणों से श्रेष्ठ हम ही हैं' ऐसा अभिमान रखते हुए, अविवेक की सूचना देने वाले केतु (ध्वजा) की तरह चंचलता का एवं उच्छृङ्खलता का वर्तन करने वाले, आर्य-भद्रपुरुषों की विनय-नम्रतारूपी सेतु-मर्यादा का ध्वंस करने वाले, भद्र-गुरुजनों की ग्लानि के कारणरूप हुए, सद्विचार एवं सद्विनय का निरादर करके असंख्य मनुष्य, इस पृथिवीतल में चारों तरफ भ्रमण करते हैं। वे लोग निश्चय से विरल (बहुत थोड़े) हैं, जो मनुष्यों में मणि के समान विनय-नम्रता सरलता आदि सद्गुणों से सुशोभित हैं, एवं जिन्होंने, सत्संग एवं सद्विचाररूपी महान् औषध से महा-मदरूपी रोग को दूर कर दिया है, एवं जो सर्वत्र (सभी चराचर पदार्थों में) भगवान् के दर्शन के सच्चे प्रेमी हैं। जन्मान्ध और मदान्ध की इतनी ही विलक्षणता है कि—जन्मान्ध अपने आप को भी नहीं देखता है। एवं अन्य को भी नहीं देखता है। मदान्ध तो अपने आप को ही देखता है, अपने समक्ष अन्य किसी को भी नहीं देखता है, (समझता है) इस प्रकार उस मदान्ध की ब्रह्म-वेत्ता की तरह अहो-आश्चर्य पूर्वक प्रशंसनीय श्रेष्ठ-बुद्धिमत्ता है! (अर्थात् ब्रह्मवेत्ता जैसे सर्वत्र एक अपने आत्मा का ही अवलोकन करता है, इस लिए वह श्रेष्ठ बुद्धिमान् माना जाता है, तद्वत् मदान्ध भी सर्वत्र अपने आप का ही सर्वोत्तमरूप से अवलोकन करता है, इस लिए वह भी एक प्रकार से प्रशंसनीय बुद्धिमान् उपहास के लिए माना जा सकता है), अथवा उस मदान्ध की

विदिव तस्याहो! शंसनीयधीवरत्वम्। यदि वयं प्रज्ञाप्रासादमारुह्य प्रपञ्चप्रेक्षणं क्षणं करिष्यामस्तर्हि विशालायां संसाररङ्गभूमौ धनविद्यायौवनजात्यादिमदावेशविवशाननेकान् 'न किलाखिलेलावलयेऽप्यस्मादृशः कश्चिद्भूदस्ति भविष्यती'त्यभिमन्यमानान् पण्डितंमन्यान् यथेच्छं प्रलपतः कोलाहलं कुर्वतः प्रतिपदं स्खलतो हसतो नृत्यतश्च विलोकयिष्यामः। अथ च धनयौवनादिक्षयेण क्षीणेषु तेषु तेषु मदेषु सत्सु मदान्धत्वदशायां कृतानि स्वीयानि नीचकृत्यानि स्मारं स्मारं दुस्तरानुतापकूपारे निमज्जतोऽपि तान् द्रक्ष्यामः। एवमनेकविधविपत्परम्परार्पणप्रवीणः पापशापसन्तापदुष्कीर्तिसम्पादकश्च मदो महाशत्रु इति लोकशास्त्रप्रसिद्धम्। अतो न कदाचिदपि सहृदयधुरीणैर्मदाधीनया दशयोच्छृङ्खलाचारविचारविहाराहारपरता परोपालम्भोपहासशोच्यता

अहो! शंसनीय–दुर्गति एवं तिरस्कार करने योग्य धीवरत्व-धीवर-मच्छीमार के समान गन्दापन। यदि हम प्रज्ञारूपी बंगले के ऊपर आरूढ हो कर कुछ क्षण तक इस संसार के प्रपञ्च का दर्शन करेंगे तो–इस विशाल संसाररूपी रंगभूमि में, धन, विद्या, यौवन, जाति आदि के मदों से विवश हुए, समस्त इस पृथिवीमण्डल में हमारे जैसा न कोई हुआ है, न है, एव न होगा, ऐसा अभिमान रखने वाले, अपने को पण्डित मानने वाले, अपनी गन्दी इच्छा के अनुसार बकवाद करने वाले, कोलाहल (वाद-विवाद-खण्डन मण्डन) करते हुए, प्रत्येक पद के साथ गिरते हुए, हसते-एवं नाचते हुए अनेक मनुष्यों को देखेंगे। अथ च धन एव यौवन आदि पदार्थों के क्षय (ध्वंस) होने से, उन उन धनादिमदों के क्षीण हो जाने पर मदान्धपने की दशा में किये हुए अपने नीच-कृत्यों का वारंवार स्मरण कर के, दुस्तर (जिस से पार होना बडा कठीन) पश्चात्तापरूपी समुद्र में डूबते हुए भी उनको हम देखेंगे। इस प्रकार, अनेक प्रकार की विपत्तियों की परम्परा के अर्पण करने में अतीव कुशल, पाप, शाप, संताप, एव दुष्कीर्ति का सम्पादन कराने वाला, यह मद-राक्षस बडा शत्रु है, ऐसा लोक और शास्त्र में प्रसिद्ध है। इस लिए कदाचित् भी–अच्छे–हृदय के श्रेष्ठ मनुष्यों को–मद के आधीन दशा द्वारा, उच्छृङ्खल (मर्यादा नीतिधर्मरहित) आचार, उच्छृङ्खल-विचार, उच्छृङ्खलविहार एवं उच्छृङ्खल आहार के आधीन बन कर, अन्यों के उपालम्भ (आक्षेप-तिरस्कार-

१ शसु दुर्गति-अर्थ में भी धातु माना गया है। अन्य-असहनशील मनुष्य उस के मद की दुर्गति एवं तिरस्कार करते हैं। मद्यवेत्तारूप दृष्टान्त में शसनीयधीवरत्वका अर्थ–श्रेष्ठ–प्रशंसा करने योग्य बुद्धिमत्ता समझना चाहिये। एव मदान्धरूप दार्ष्टान्तिक में अर्थान्तर–न्यास से दुर्गति करने योग्य मच्छी मारका गन्दापन समझना चाहिए।

चास्थेया। किन्तु तनुधनादिविषयकक्षणिकत्वतुच्छत्वादिविचारेण शस्त्रेण मदराक्षसोऽयमवश्यं मारयितव्य इति परमाप्तस्य स्वतःप्रमाणस्याऽपौरुषेयस्य वेदस्य विमलादेशः परमादरेण परिपालनीय इति।

उत, गृध्रयातुं=गृध्रः-मांसलुब्धः—खगविशेषः, तत्सदृशधर्मेण वर्तमानं लोभाख्यं राक्षसं जहीत्यन्वयः। लब्धस्य धनस्य त्यागासहिष्णुत्वे सति परद्रव्याभिलाषात्मकमनोविकारविशेषो हि लोभः। स च नाम लोके महान् दुर्गुणो जागर्तितराम्। जगत्प्रसिद्ध एव च यस्याप्रतिमः पराक्रमः। अत एव श्रीवाग्देवताविलासावासो भगवान् व्यासोऽपि भागवते—

"कामस्यान्तश्च क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात्। जनो याति न लोभस्य, जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः॥" (भा. ७।१५।२०) इत्यनेन लोभस्यानन्त्यं प्रतिपाद-

घृणा) एवं उपहास से होने वाली शोच्यता (शोक दशा) का आश्रयण नहीं करना चाहिए। किन्तु, शरीर, धन, आदि पदार्थों की क्षण-भंगुरता, तुच्छता आदि के विचाररूपी शस्त्र से, यह *मदराक्षस अवश्य ही मार देना* चाहिए, ऐसे परम आप्त (सर्व जनों का अतिशय से हितचिन्तक) स्वतःप्रमाण, अपौरुषेय, वेद के विमल (निर्दोष) आदेश का परम आदर के साथ परिपालन करना चाहिए। इति।

तथा गृध्रयातु—अर्थात् गृध्र-मांस—भक्षण के लिए सदा लोलुप रहने वाला गीधनामक—पक्षी विशेष के सदृश धर्म से वर्तने वाले, इस लोभ नामक राक्षस का भी तू हे जीवात्मन्! विध्वंस कर! ऐसा 'जहि' क्रियापद के साथ 'गृध्रयातुं' इस कर्मपद का अन्वय है। प्राप्त धन का त्याग करने के लिए जो असहिष्णु (सहन नहीं करने का स्वभाव वाला) है, एवं परद्रव्य की अभिलाषारूप जो मन का विकार-विशेष है, वही लोभ का स्वरूप है। वह इस लोक मे प्रसिद्ध महान् दुर्गुण अतिशय कर के जाग्रत् (सर्वानुभूत) है। जगत् में प्रसिद्ध ही जिसका अप्रतिम (उपमारहित) पराक्रम है। इस लिये श्रीवाग्देवता (भगवती सरस्वती) के विलास का आवास (आश्रय) भगवान् व्यास-भी श्रीमद्भागवत में—

'मनुष्य, काम के—क्षुधा, एवं तृषा (प्यास) से भी अन्त को प्राप्त हो जाता है, तथा क्रोध के—भी उस का फल—हिंसा आदि के उदय हो जाने से अन्त को प्राप्त हो जाता है, परन्तु मनुष्य पृथिवी की सभी दिशाओं का विजय कर तथा उन दिशाओं में अवस्थित सभी वैभवविलासों को भोग कर भी लोभ (धन-एवं विषय-भोग की तृष्णा) के अन्त को प्राप्त नहीं होता है।' इस कथन से—लोभ के अनन्तता का प्रतिपादन कर गये

श्यामास। किञ्च—"यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः। लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥" (भा. ११।२३।१६)

इत्युक्त्याऽनयाऽपि सकलसद्गुणानां सद्यो विनाशकारी महामारीतुल्यः स्वल्पोऽपि लोभः इति स्फुटं प्रदर्शयामास। अपि च जगद्गुरुर्भगवान् श्रीकृष्णोऽपि गीतासु कामादेः त्रयस्य नरकद्वारत्वमात्मनो नाशनत्वं त्याज्यत्वञ्च बोधयामास। कामक्रोधानन्तरं लोभस्य ग्रहणादतिनीचकृत्यकारित्वञ्च तस्यार्थात्सूचयामास। 'लोभश्चेदगुणेन किमि'ति सद्विद्वद्वचनेनापि लोभस्य निखिलदुर्गुणचक्रचक्रवर्तित्वं स्फुटमवगम्यते। एतावता यो बहुलुब्धो भवेन्मानवस्तस्मिन् दुर्गुणगणा अपि निखिला निवसेयुरित्यसंशयमवगन्तव्यम्। अतिलोभाभिभूता भूताविष्टा इव जना नीचनीचान्यपि कुकृत्यानि कपर्दिकामात्रलाभायाऽपि कुर्वन्ति। लोभः स्वानुयायिनं जनं सद्धर्मसदाचारसद्विचारसद्गुणसत्कीर्तिभ्योऽपि भ्रष्टं करोति। भ्रात्रादिसद्बन्धुभिः सहापि महद्वैरं कारयति। लोभेन राक्षसेन कस्कोऽनर्थो न कृतो न च

हैं। और—'यशस्वियों का जो शुद्ध यश है, और गुणवानों के—जो श्लाघा (प्रशंसा) करने योग्य गुण हैं, उन सब को स्वल्प भी लोभ नष्ट कर देता है, अधिक की बात ही क्या कहना? जैसे अभीष्ट (दर्शनीय) शरीर के रूप को स्वल्प कुष्ठ नष्ट कर देता है, तद्वत्।' इस उक्ति से भी सकल सद्गुणों का सद्य-(शीघ्र) विनाश करने वाला महामारी (प्लेग हैजा) के तुल्य स्वल्प भी लोभ है, ऐसा स्पष्ट प्रदर्शन कर गये हैं। और जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में कामादि (काम, क्रोध, लोभ) त्रय को नरक के द्वार रूप से, आत्मा के नाशक रूप से एवं त्याग करने योग्य रूप से बोधन कर गये हैं। काम क्रोध के अनन्तर लोभ के ग्रहण से अतिनीच कृत्य के कारीपना भी उसमें-लोभ में अर्थात् सूचन कर गये हैं। 'लोभ यदि है तो दूसरे दुर्गुणों से क्या?' (अर्थात् जहाँ लोभ रहता है, वहाँ सभी अन्य दुर्गुण स्वतः ही आ जाते हैं) इस अच्छे विद्वान् (भर्तृहरि) के वचन से भी लोभ में-सकल दुर्गुणों के चक्र का (समुदाय का) चक्रवर्तिपना स्पष्ट ही जानने में आ जाता है। इतने कथन से—'जो बहु लोभी मनुष्य होता है, उस में समस्त दुर्गुणों का समुदाय भी निवास करता है' ऐसा संशय रहित ही जानना चाहिए। अति लोभ से अभिभूत मनुष्य, भूत (पिशाच) से आविष्ट (पकड़े हुए) मनुष्यों की भाँति, नीच से भी नीच कुकृत्यों को कौड़ी मात्र के लाभ के लिए भी करते हैं। लोभ, अपने अनुयायी मनुष्य को सद्धर्म, सदाचार, सद्विचार, सद्गुण, एवं सत्कीर्ति से भी भ्रष्ट कर देता है, भाई (सहोदर) आदि अपने अच्छे बन्धुओं के साथ भी महान् वैर करवा देता है। लोभरूपी राक्षस ने क्या क्या अनर्थ नहीं किया है, और यह क्या

क्रियते ? पापस्याखिलस्य पिता लोभ एवेति लोकप्रसिद्धिः। न लोभो रङ्कानेव पीडयत्यपि तु राज्यैश्वर्यसम्पन्नानपि। तथाहि– लोभरक्षोभक्षितविवेकाः प्रमादिनो राजानः पुत्रवत्परिपालनीयाः स्वाः प्रजा अपि राक्षसा इव त्रासयन्ति, पश्चात् दुष्कीर्तिममरामिह स्थापयित्वा निरययातनापरम्परामनुभवन्ति। एवं धनिनः श्रेष्ठिनोऽपि धनलवलोभान्धतया नीतिमर्यादां विहाय रङ्कान् विश्वासघातवाक्चातुर्यादिना वञ्चयित्वा बलात्प्रभूतकुसीदादिग्रहणेन पीडयित्वा पापसन्तापभारं शिरसि निधाय दुःखबहुलाय नरकाय प्रयाणं कुर्वन्ति। राज्यलोभाभिभूता राजकुमारा अपि स्वपितृमहाराजप्राणप्रयाणसमयं महोत्सवमिव प्रतीक्षन्ते। इत्येवं लोभस्य माहात्म्यं सर्वत्र नातिरोहितम्। तस्माद्विहितजगत्त्रयक्षोभस्य लोभस्यारातेर्वशवर्तिता कथमपि सुधीभिर्न विधेया, किन्तु सदुपायेन,–'यथार्थपति-

क्या अनर्थ नहीं कर रहा है। अखिल पाप का पिता (बाप) लोभ ही है, यह लोक की प्रसिद्धि है। लोभ, रङ्कों (दरिद्र-दीनों) को ही पीड़ा देता है, ऐसी बात नहीं है, किन्तु राज्य एवं धनादि ऐश्वर्यों से सम्पन्न-राजा धनी आदि को भी पीड़ा देता है। तथा हि–(यह बतलाते हैं) लोभरूपी राक्षस ने जिन के विवेकज्ञान का भक्षण कर लिया है, ऐसे विवेकज्ञान-शून्य, प्रमादी राजा लोग भी पुत्र की तरह पालन करने योग्य अपनी प्रजा को भी राक्षस की भाँति त्रास देते हैं। पश्चात् (मरने के बाद) वे राजा लोग यहाँ अपनी अमर (सदा जाग्रत् रहने वाली) दुष्कीर्ति को स्थापन कर नरक की भयंकर यातना (पीड़ा)ओं की परम्परा का अनुभव करते हैं। इस प्रकार धनवान् सेठ लोग भी, लव (स्वल्प) धन के लोभ से भी अन्धे होकर नीति की मर्यादा का परित्याग कर गरीबों को–विश्वास घात, वाणी की चतुरता आदि उपायों से–वञ्चना (ठगाई) कर जबरदस्ती से बहुत व्याज आदि के ग्रहणद्वारा उन को पीडित बना कर, पापों के सन्तापों का भार शिर में धारण कर बहुत दुःखों से भरे हुए नरक के लिए प्रयाण करते हैं। (यह लोभ के अनर्थों का वर्णन है) राज्य के लोभ से अभिभूत (परास्त) हुए राजकुमार भी अपने महाराजा-पिता के प्राण प्रयाण के समय की महोत्सव की तरह प्रतीक्षा करते हैं। इस प्रकार लोभ की महिमा सर्वत्र प्रकट है। इस लिए, जिस लोभ ने भूर्भुवःस्व रूप तीन प्रकार के जगत् में भी क्षोभ पैदा कर दिया है, उस महाशत्रु–लोभ की वशवर्तिता (आधीनता) किसी भी प्रकार से अच्छी बुद्धि वालों को स्वीकार नहीं करनी चाहिए। किन्तु–सदुपाय के द्वारा लोभरूपी शत्रु का विध्वंस करना चाहिए। यह सदुपाय-महाभारत के मोक्ष-

रुद्विग्नो यश्च सर्वार्थनिस्पृहः । तयोरर्थपति-दुःखी सर्वार्थनिस्पृहः सुखी ॥' तस्मात्त्यक्तार्थसङ्कल्पो यथा लब्धेन वर्तयन् । नार्थलोभादिहाऽऽत्मानं क्लेशयिष्याम्यहं पुनः ॥' (महा. भा. शां. मो. १७७) इत्यादिमहाभारतीयमङ्कि-ऋषिविवेकनिस्पृहत्वादिलक्षणेन लोभः शत्रुर्विध्वंसनीय इति ।

पुनरपि भगवान् वेदस्तेषां षण्णां रिपूणां विध्वंसनाय विशिष्टं प्रयत्नं विधातुमाह-हे इन्द्र=जीवात्मन् ! यदि त्वं स्वात्मकल्याणमभिलषसि तर्हि-एतान् सर्वान् कामक्रोधलोभमोहमदमत्सराख्यान् नानाकारान् प्रद्विषः सहजान् स्वमहाशत्रून् राक्षसान्, दृषदेव=दृषदा-पाषाणेन पांसुपिण्डमिव, प्रमृण=चूर्णय-मारय, वस्तुविचारेण यथार्थज्ञानलक्षणेन मोहं; दयया क्षमयाऽहिंसया तितिक्षया कामत्यागेन च क्रोधं; मैत्रीमुदितादिशुभभावनया मत्सरं, धनादिविषयकक्षणभङ्गुरत्वादिदोषदर्शनाभ्यासेन मदं, अस्तेयेनापरिग्रहेण दानेन सन्तोषेणोदारभावनया च लोभं, निःसंकल्पेन दमेन ब्रह्मचर्येण वस्तुविवेकेन च कामञ्च विनाशयेति

ऋषि का विवेक, निस्पृहता, आदिरूप है। (मङ्कि ऋषि कहता है-) एक तरफ, अर्थपति (धनवान्-ऐश्वर्यों का स्वामी) अनेक प्रकार की चिन्ताओं से, भय एवं संकटों से, उद्विग्न हो रहा है, और दूसरी तरफ सभी प्रकार के पदार्थों की स्पृहा से रहित, वीतराग, शान्त महात्मा है, इन दोनों में अर्थपति बड़ा दुःखी है, और सभी-अर्थों से निस्पृह रहने वाला संतोषी पुरुष महासुखी है।' 'इस लिए मैं धनादि पदार्थ विषयक संकल्पों का परित्याग कर, प्रारब्ध आदि के अनुसार जिस समय, शरीरादि निर्वाह के लिए जो मिला, उससे निर्वाह चलाता हुआ, मैं अर्थ के लोभ से इस संसार में अपने आत्मा को पुनः क्लेशयुक्त नहीं बनाऊँगा।' इति ।

फिर भी भगवान् वेद, उन मोह आदि छः शत्रुओं का विध्वंस करने के लिए विशिष्ट (प्रबलतम) प्रयत्न करने के लिए आदेश देता है-हे इन्द्र ! अर्थात् जीवात्मन् ! यदि तू अपने आत्मा का कल्याण चाहता है, तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर नाम वाले-विविध-आकारवाले-अति द्वेष करने वाले-अपने सहज महाशत्रु-इन सभी राक्षसों को-जैसे पाषाण से मिट्टी का ढेला पीस दिया जाता है, तैसे पीस डाल-चूर्ण कर दे-मार डाल । यथार्थज्ञानरूप-वस्तुविचार से, मोह का विनाश कर, दया से, क्षमा से, अहिंसा से, तितिक्षा से एवं काम-त्याग से क्रोध का विनाश कर, मैत्री, मुदिता आदि शुभभावना से मत्सर का विनाश कर, धनादि पदार्थों के क्षणभंगुरत्वादि दोष दर्शन के अभ्यास से मद का विनाश कर, अस्तेय से (स्तेय-चौरी, उसका अभाव अस्तेय) अपरिग्रह से, दान से, संतोष से, उदार भावना से लोभ का विनाश कर, निःसंकल्प से, दम (संयम) से, ब्रह्मचर्य से, वस्तुविवेक से, काम का विनाश कर।

यावत् । तदेतदुपदिशति निखिललोकश्रद्धेयो बादरायणाचार्योऽपि भागवते—

'असंकल्पाज्जयेत्कामं, क्रोधं कामविवर्जनात् । अर्थानर्थेक्षया लोभं, भयं तत्त्वविमर्शनात् ॥ आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ, दम्भं महदुपासया। योगान्तरायान् मौनेन, हिंसां कायाद्यनीहया ॥ (७।१५।२२।२३) इति।

अत एव ऋगन्तरेऽपि प्रकारान्तरतस्तदेव समाम्नातं भवति–'गूहता गुह्यं तमो वियात विश्वमत्रिणम् ।.ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि' ॥'[1] (ऋ. १।८६।१०) इति । अयमर्थः–हे मदीयाः प्रबलतमसद्विचाराः! यूयं गुह्यं=गुहायां शरीरान्तर्गतगुहारूपे हृदये भवं तमः=भावरूपमज्ञानं कामादिदोषजातकारणं मिथ्याज्ञानलक्षणं तद् गूहत=यथा अस्माभिर्न दृश्येत, तथा अदर्शनं प्रापयत–विनाशयत। 'गूहता' इत्यत्र छांदसो दीर्घः।

यह यावत् अर्थात् निचोड अर्थ है। यही वह श्रीमद्भागवत में निखिललोक-श्रद्धेय (समस्त लोगों से श्रद्धा करने योग्य-परम पूज्य) बादरायणाचार्य्य व्यास उपदेश देता है–

'असङ्कल्प से काम का विजय करना चाहिये, काम के परित्याग से क्रोध का विजय करना चाहिए, अर्थों में अनर्थों की भावना से लोभ का विजय करना चाहिए, तत्त्व वस्तु के अनुसन्धान से भय का विजय करना चाहिए, आन्वीक्षिकी-विद्या (ब्रह्ममीमांसा) से शोक एव मोहका विजय करना चाहिए, महान् पुरुषों की उपासना (सेवा) से दम्भ का विजय करना चाहिए, मौन से योगाभ्यास के विघ्नों का विजय करना चाहिए, एवं काय-इन्द्रियादिओं की अनीहा (स्थिरता-चेष्टा का अभाव) से हिंसा (परपीडा) का विजय करना चाहिए।'

अत एव अन्य ऋक् मन्त्रमें भी प्रकारान्तर से यही सम्यक् रूप से कहा गया है–'आप लोग हृदय–गुहा में रहने वाले अज्ञानान्धकार का विनाश करें, धर्मादि पुरुषार्थ के भक्षण करने वाले–सभी कामक्रोधादि-राक्षसों को–दूर हटावें, जिसको हम सब चाहते हैं, उस आत्मविज्ञानरूप ज्योति का सम्पादन करें।' इति। यह अर्थ है–हे मेरे अतीव प्रबल-सच्चे-शुद्ध विचार! आप, गुहा में यानी शरीर के मध्य में वर्तमान गुहारूप हृदय में रहने वाला तम, अर्थात् भावरूप अज्ञान, जो कामादि दोषों के समुदाय का कारण, मिथ्याज्ञान रूप है, उसको गूहत अर्थात् जिस प्रकार हम उसको न देखें, तिस प्रकार उस के अदर्शन को प्राप्त करा दें, यानी उसका विनाश कर दें। 'गूहता'

१ 'अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेव मन्त्रान्तरैरपि।' (माधवभट्ट) अन्य मन्त्रों से भी मन्त्रों के अर्थ निश्चित किये जाते हैं।

तथा अत्रिणं=धर्मादिपुरुषार्थस्यात्तारं-भक्षयितारं-कामक्रोधादिकं विश्वं=सर्वं वियात=विविधं यापयत-अस्मत्सकाशाद्विनिर्गमयत। यत् ज्योतिः=परमतत्त्वसाक्षात्कारलक्षणं विज्ञानं, वयं उश्मसि=कामयामहे, तत् कर्त=कुरुत-सत्सङ्गश्रवणमननादिसाधनेन सम्पादयत। 'गुहू संवरणे' शपि लघूपधगुणे, उपधाया ऊकारे गूहत इति, 'या प्रापणे' अस्मात्, अन्तर्भावितण्यर्थात् लोटि यात इति, 'अद भक्षणे' त्रिनि प्रत्यये-अत्रिणमिति, 'वश कान्तौ' इदन्तो मसिः शपो लुकि सम्प्रसारणे उश्मसीति रूपाणि सिद्ध्यन्ति। 'कर्ता' इत्यत्रापि छांदसदीर्घत्वमिति।

इस पद में छांदस दीर्घ हुआ है। तथा, धर्मादि पुरुषार्थ का अत्ता,-भक्षण करने वाला, जो कामक्रोधादि दोषसमुदाय है, उस सर्व को हमारे समीप से दूर कर दें। जो ज्योतिः-परमतत्त्व का साक्षात्कार रूप विज्ञान है, जिसकी हम कामना करते हैं, वह आप लोग, सत्संग, श्रवण, मनन आदि साधन द्वारा सम्पादन करावें। 'गुहू' धातु संवरण अर्थात् छिपा देना रूप अर्थ में है, शप् प्रत्यय, लघूपधा का गुण, और दीर्घ ऊकार होने पर 'गूहत' ऐसा रूप सिद्ध होता है। या प्रापण अर्थ का धातु है, इस से, अन्तर में भावना रूप से विद्यमान णिच् प्रत्यय के अर्थ से लोट् लकार में 'यात' ऐसा रूप सिद्ध होता है। अद, भक्षण अर्थ का धातु है, उस से त्रिन् प्रत्यय होने पर 'अत्रिणं' ऐसा रूप सिद्ध होता है। वश कान्ति (कामना-इच्छा) अर्थ का धातु है, मसि प्रत्यय, शप् का लुक् सम्प्रसारण होने पर 'उश्मसि' ऐसा रूप सिद्ध होता है। 'कर्ता' इस पद में भी दीर्घ छान्दस है।

(६)

(कामादिराक्षसेभ्यः सदा सावधानैर्भवद्भिर्भवितव्यं, तेभ्यः स्वरक्षायै च परमेशप्रार्थना विधातव्या)

(कामादि-राक्षसों से सदा आप सबको सावधान रहना चाहिए और उनसे अपनी रक्षा के लिए परमेश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए)

स्वश्रेयोऽभिलाषुका भवन्तः कामादिभ्यः सदा सावधाना भवन्तु। अनादिन इमे कामादयः शत्रवः स्वान्तनिवासिनः सकृत्प्रयत्नेन न निवर्तन्ते, अतः पुनः पुनर्विवेकविरागादिखड्गेन तान् निष्कृत्य स्वहृद-

आप सब अपने-कल्याण की अभिलाषा रखते हैं, इस लिए कामादियों से सदा सावधान रहें। अपने हृदय में ही निवास करने वाले ये कामादि अनादि काल के शत्रु हैं, इस लिए वे एकबार के प्रयत्न से निवृत्त नहीं होते हैं, अतः पुनः पुनः (बार बार) विवेक विराग आदि दात्र से

यादुत्सार्य च चिन्निष्ठा शाश्वतिकी शान्तिः समासादयितव्येत्याह—

उनका विध्वंस करके, एवं अपने हृदय से उनको बाहर निकाल कर के, चैतन्य-साक्षी-परमात्मा के आश्रय में रहने वाली शाश्वत (ध्रुव) शान्ति प्राप्त करनी चाहिए, यही वेद मन्त्र उपदेश करता है—

ॐ मा नो रक्षो अभिनड् यातुमावतामपोच्छतु मिथुना या किमीदिना। पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान् ॥

(ऋ. अष्ट. ५ मण्ड. ७ सूक्त १०४ ऋक्. २३) (अथर्व. ८।४।२३)

'हम श्रेयः-साधकों को कामादि राक्षस व्याप्त मत हो, अर्थात् हमारे भीतर उनका जिस प्रकार फैलाव न हो, उस प्रकार हमें सावधान रहना चाहिए। अत्युग्र पीड़ा देने वाले कामादि राक्षसों के जो अहंता-ममता, राग-द्वेष, दम्भ-दर्प, आदि मिथुन (जोड़े-दो दो साथ रहने वाले) हैं, 'हमारे पराक्रम के समक्ष ये प्राणियों का समुदाय क्या है ? यानी तुच्छ है; ऐसा मान कर उनकी हत्या करने के लिए जो सदा प्रवृत्त रहते हैं, उनको आप दूर कर दे—नष्ट कर दें। पृथिवी का अधिष्ठाता, या सकल विश्व को अपने स्वरूप से ही विस्तार करने वाला परमेश्वर, शरीरादि-जो पृथिवी (भूमि) के विकार हैं, उनके पाप से, हमारी रक्षा करे। अन्तरिक्ष का अधिष्ठाता या हृदय के भीतर आत्मस्वरूप से अनुभव करने योग्य-परमात्मा, स्वर्गादि लोक के दिव्य-पापों से हमारी रक्षा करे।'

रक्षः=राक्षसजातिः कामाद्या, नः=अस्मान्-श्रेयःसाधकान्, मा=न, अभिनट्=अभिव्याप्नोतु, स्वस्वान्ते मा प्रविशत्विति सदाऽस्माभिः सावधानैर्भवितव्यमिति भावः। नशतेर्व्याप्तिकर्मणो लुङि 'मन्त्रे घस' इति च्लेर्लुकि 'न माङ् योगे' इत्यडभावे 'नड्' इति रूपं सिद्ध्यति। तथा यातुमावतां=यातनावतां-तीव्रवेदनाप्रदातॄणां कामादि-राक्षसानां, या=यानि, मिथुना=मिथुनानि-युगलानि-अहङ्कारममकारद्वेषेर्ष्यादम्भदर्प-

रक्षः अर्थात् कामादि-राक्षस-जाति (जो राक्षसों के समान संताप ही देती है) हम कल्याण के साधक-मुमुक्षुओं को मत अभिव्याप्त हो, अपने हृदय में वे मत प्रविष्ट हो, इस लिए सदा हमें सावधान रहना चाहिए, यह भाव है। व्याप्तिकर्म (क्रिया) वाला नश धातु है, लुङ्-लकार में 'च्लि' प्रत्यय का लोप होने पर माङ् के योग में अट् प्रत्यय का अभाव होने पर 'नड्' ऐसा रूप सिद्ध हो जाता है। अभि उपसर्ग लगाने से 'अभिनट्' ऐसा रूप बनता है। तथा यातुमा-यातना वाले-अर्थात् तीव्र वेदना (संताप पीडा) प्रदान करने वाले कामादि राक्षसों के जो मिथुन अर्थात् युगल-जोड़े, अहंकार और ममकार, द्वेष और ईर्ष्या, दम्भ और दर्प,

प्रभृतिरूपाणि। कथंभूतानि तानि? किमीदिना=किमीदिनानि किमिदं किमिदं प्राणिजातं तुच्छमिति मत्वा जिघांसया प्रवर्तमानानि तानि। आह च यास्कः—'किमिदानीमिति चरते किमिदं किमिदमिति वा पिशुनाय चरते' (नि. ६।११) इति। भवान् अपोच्छतु=अपविवासयतु—अपवर्जयतु—विध्वंसयतु। 'उच्छी विवासे' धातुः, विवासः=दूरापसरणं विध्वंसनं वा। 'मा नो' इति पूर्ववाक्ये नः पदाभिधेयानां बहुत्वविशिष्टानां कर्तृत्वस्याभिप्रेतत्वात् भवन्तः, इति कर्तृपदमनुरुध्य क्रियापदं बहुवचनं द्रष्टव्यं 'अपोच्छन्तु' इति; मन्त्रद्रष्टुर्महर्षेरादेशोऽयमिति।

सम्प्रति तेभ्यः स्वशत्रुभ्यः स्वरक्षाविधानाय सर्वशक्तिमन्तं भगवन्तं सर्वत्रावस्थितं प्रार्थयन्ते—पृथिवी=प्रथते—सर्वं जगद्विस्तृणाति चराचरात्मना स्वयं विस्तारमेति वा, या सा सकलविश्वैकयोनिः—प्रथितेयं पारमेश्वरी चितिशक्तिः इत्यर्थः। 'पृथु विस्तारे' पिवन्, संप्रसारणं पित्वात् ङीष्। शक्ति-

आदि रूप वाले हैं। वे मिथुन कैसे हैं? किमीदिना, अर्थात् मनुष्यादि प्राणियों का समुदाय, यह क्या है? यह क्या है? तुच्छ है ऐसा मान कर, उनको मारने की इच्छासे जो प्रवर्तमान रहते हैं। यास्क महर्षि भी निरुक्त में 'किमीदिना' की व्युत्पत्ति करता हुआ कहता है—अब क्या है! (अर्थात् हमने अपने पराक्रम से जब असंख्यों को नष्ट कर डाले हैं तब इस विषय में क्या कहना है?) इस प्रकार अपने पराक्रम के घमण्ड के साथ जो घूमता है, या यह क्या है? यह क्या है! ऐसे पिशुन के लिए अर्थात् खल—दुर्जन की क्रूरता समर्पण करने के लिए जो घूमता है, वह किमीदिन कहा जाता है। उनको आप, अपोच्छतु, अर्थात् दूर निकाल दें, भगा दें, विध्वंस कर दें। उच्छी धातु का विवास अर्थ है। विवास का दूर हटाना या विध्वंस करना अर्थ है। 'मा नो' इस पूर्व वाक्य में 'नः' पद से कथित, जो बहुत्व से विशिष्ट यानी अनेक हैं, इन में ही कर्तापना अभिप्रेत है, इसलिए 'भवन्तः' ऐसे बहु वचन वाले-कर्तृपद का अनुरोध कर क्रियापद भी 'अपोच्छन्तु' ऐसा बहुवचन वाला समझना चाहिए। यह मन्त्रद्रष्टा महर्षि का आदेश है। इति।

अब उन-अपने शत्रुओं से, अपनी रक्षा करने के लिए-श्रेयःसाधकगण, सर्वशक्तिमान् सर्वत्र विराजमान भगवान् की प्रार्थना करते हैं—पृथिवी-अर्थात् सर्व जगत् का विस्तार करने वाली, या चराचर विविध-विश्वरूप से स्वयं विस्तृत होने वाली, जो समस्त विश्व की एक मात्र कारण रूपा, सर्वत्र फैली हुई यह परमेश्वर की चैतन्य शक्ति ही, यहाँ पृथिवी पद का व्युत्पत्ति गम्य अर्थ है। पृथु धातु विस्तार अर्थ में है, उसमे पिवन् प्रत्यय, सम्प्रसारण, पित् होने से ङीष्

शक्तिमतोरभेदात् विभुर्विश्वेश्वर इति यावत्। नः=अस्मान्, श्रेयःसाधकान् पार्थिवात्=पृथिव्याः प्रसिद्धाया भूमेर्देहेन्द्रियादिरूपायाः संबन्धिनः, अंहसः=कामक्रोधादिरूपात् पापात्, पातु=रक्षतु, सद्विवेकविरागादिकल्याणगुणप्रदानेन गोपायतु इति यावत्। तथा अन्तरिक्षं=स्वहृदयस्यान्तरीक्ष्यते योगिभिस्तत्-योगिहृदयसाक्षात्क्रियमाणं परं विशुद्धं ब्रह्मतत्त्वमित्यर्थः। 'ईक्ष दर्शने' कर्मणि घञ् छान्दसं ह्रस्वत्वम्। 'स वा एष हृदि आत्मा' (छां. ८।३।३) 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ. ४।३।७) इत्याद्यया श्रुत्या परमेश्वरस्य स्वहृदय एव द्रष्टव्यत्वेनोपदिश्यमानत्वात्, योगिनामुपासकानां हृदये किलास्याभिव्यज्यमानत्वाच्च हृदयमस्य विशिष्टमुपलब्धिस्थानं परिगीयते, अत एवान्तरिक्षमिति परमात्मनोऽन्वर्थं नामधेयमिदम्। दिव्यात्=दिवि भवात्पापात्, अस्मान् पातु=रक्षतु। दिव्यपदार्थोपभोगकामनानां चयः खेददानकुशलो ह्यत्र दिव्यपापपदार्थः। तस्मादपि भगवानस्मानभित्रायताम्; यदा चायं कल्याणाकांक्षी पुमान् सर्वेभ्यो दृष्टानुश्रविकार्थविषयेभ्यः पापेभ्यः कामेभ्यो विमुक्तो भवति, तदाऽयं ब्रह्मभूतोऽमृतोऽ-

हो जाने पर 'पृथिवी' ऐसा शब्द का रूप सिद्ध होता है। शक्ति और शक्तिमान् का सर्वत्र अभेद माना गया है, इस लिए पृथिवी पद का सारभूत अर्थ हुआ, विभु-विश्वेश्वर भगवान्। वह हम श्रेयःसाधकों की—पार्थिव अर्थात् देह-इन्द्रियादि रूप से परिणत हुई प्रसिद्ध पृथिवी के सम्बन्धी, कामक्रोधादि रूप पाप से—शोभन विवेक विरागादि कल्याणगुणों के प्रदान द्वारा, रक्षा करे। तथा अन्तरिक्ष—अर्थात् योगियों से अपने हृदय के भीतर साक्षात् होने वाला, सर्वोत्कृष्ट, विशुद्ध, ब्रह्मतत्त्व। ईक्ष, दर्शन-अर्थ की धातु है उससे कर्म में घञ् प्रत्यय होने पर 'अन्तरिक्ष' ऐसा रूप बनता है, इस में ह्रस्व छान्दस है। 'निश्चय से हृदय में वह यह आत्मा है।' 'हृदय में अन्तःज्योतिरूप पुरुष है' इत्यादि श्रुतियाँ, परमेश्वर को अपने हृदय में ही साक्षात् देखने के लिए उपदेश करती हैं, उपासक-योगियों के हृदय में निश्चय से यह परमात्मा अभिव्यक्त होता है, इस लिए हृदय ही इस परमात्मा की उपलब्धि का विशिष्ट (उत्तम) स्थान है, ऐसा कहा गया है। अत एव 'अन्तरिक्ष' यह परमात्मा का अन्वर्थ (अर्थ का अनुरोध करने वाला) नाम है। वह भगवान् दिव्य-पाप से हमारी रक्षा करे। स्वर्ग लोक के अप्सरा आदि सभी पदार्थ दिव्य कहे जाते हैं, उन दिव्य पदार्थों के उपभोग की कामनाओं का समुदाय ही जो खेद (शोक-संताप) देने में कुशल है, वही यहाँ दिव्य पाप पद का अर्थ है। उस से भी भगवान् हम सब का अभित्राण (रक्षा) करें। जब यह कल्याण की आकांक्षा रखने वाला, मुमुक्षु पुरुष, सभी दृष्ट-अर्थ—वनिताधनादि; एवं आनुश्रविक अर्थ (अनुश्रव-वेद, उसमें प्रतिपादित) अप्सरा आदि, की कामना रूपी पापों से

भयो भवतीति भावः। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥' (कठ. २।६।१४) इति श्रुतेः। यद्वा–पृथिवी=तत्राधिष्ठातृत्वेन स्थितः परमात्मा 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यमि'ति न्यायेन[1] पृथिवीत्युच्यते, तद्वदन्तरिक्षमपि–'यो पृथिव्यां तिष्ठन्' 'योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्' (बृ. ३।७।७) इति श्रुतेः। अन्यथा केवल-जडपृथिव्यादेः पापरक्षणकर्तृत्वानुपपत्तेरिति भावः। एवमनर्थावहशत्रुवधार्थं भगवत्प्रार्थनाऽन्ययर्चाऽपि समाम्नायते–'बाधतां द्वेषो अभयं कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम' (ऋ. ६।४७।१२) इति, स इन्द्रः परमेश्वरः द्वेषः=द्वेष्टॄन्–कामादिकान् शत्रून् बाधतां=

विमुक्त होता है, तब ही, यह ब्रह्मरूप, अमृत एवं अभय होता है, यह भाव है। कठोपनिषद् की श्रुति कहती है–'जिस समय इस लोक एवं परलोक की समस्त कामनाएँ जो कि–इसके हृदय में आश्रय करके रहती हैं, छूट जाती हैं, उस समय वह मर्त्य (मरण-धर्मा) अमर हो जाता है, और इस शरीर से ही ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है।' इति। अथवा, पृथिवी अर्थात् पृथिवी में अधिष्ठाता के रूप से अवस्थित परमात्मा। 'उसमें स्थित पदार्थ को भी उस के नाम से कहा जाता है' इस न्याय से परमात्मा को पृथिवी कहा गया है। तद्वत् अन्तरिक्ष में वर्तमान परमात्मा भी अन्तरिक्ष नाम से कहा जा सकता है। बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है–'जो परमात्मा पृथिवी में स्थित हुआ है' 'जो परमात्मा अन्तरिक्ष में स्थित हुआ है।' इति। अन्यथा अर्थात् ऐसा न मानने पर, केवल जड पृथिवी आदि में (अन्तर्यामी परमेश्वर की शक्ति के बिना) पापों से रक्षण करना उपपन्न (युक्तिसंगत) नहीं हो सकता है, यह भाव है। इस प्रकार अनर्थों के प्रापक शत्रुओं के वध के लिए भगवत्प्रार्थना का अन्य ऋक् मन्त्र भी उपदेश देता है–'वह भगवान् हमारे द्वेषी कामादि शत्रुओं का विनाश करें, हमारे शत्रुओं के भय से रहित हमें बनावें, हम सब भगवान् के अनुग्रह से अच्छे-बड़े शक्तियों के

१ प्रतिपादितं चैतत् पुंयोगसूत्रे व्याकरणमहाभाष्ये–'अतस्मिंस्तच्छब्दश्चतुर्धा भवति, तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात् तत्साहचर्याच्च।

हिनस्तु । अभयं=शत्रुप्रयुक्तभयरहितञ्चास्माकं कृणोतु=करोतु, हे अनन्तबलनिधे! भगवन्! वयं त्वत्प्रसादात् सुवीर्यस्य=शत्रुबाधकशोभनबलस्य पतयः=स्वामिनः शोभनबलवन्तः, स्याम=भवेम इत्यर्थः ।

[पूर्वं प्रतिबन्धकदोषजातनिरासमुपदिश्यानन्तरं गणाधिपदेवोऽभीष्टसिद्धये शरणीकृत्योपास्य इत्युपदिशति तन्महत्त्वाभिधानपूर्वकं द्वाभ्यामिति प्रयोज्यप्रयोजकादिलक्षणः सन्निकर्षः]

स्वामी बनें।' इति। वह इन्द्र परमेश्वर, द्वेष करने वाले कामादि शत्रुओं का बाध (ध्वंस) करें,-उनको मार दें, अभय अर्थात् शत्रुओं से होने वाले भय से रहित-निर्भय हमको बनावें, हे अनन्त बलों के भण्डार! भगवन्! हम तुम्हारी कृपा से, अच्छे वीर्य-शक्ति के--अर्थात् शत्रुओं का विनाश करने वाले शोभन बल के पति-स्वामी बनें, यानी सात्त्विक दैवी-विशिष्ट-बलों से सम्पन्न हम हो जाँय, यह अर्थ है।

[प्रथम कल्याण-मार्ग के प्रतिरोधक कामादि दोषों के समुदाय के विध्वंस करने का उपदेश दिया, इसके बाद अब अभीष्ट-सिद्धि के लिए गणाधिपति देव की शरण ग्रहण कर, उसकी उपासना करनी चाहिए, ऐसा उस गणपति तत्त्व के महत्त्व का कथन पूर्वक दो मन्त्रों से उपदेश दिया जाता है, इस प्रकार पूर्वोत्तर मन्त्रों का प्रयोज्य-प्रयोजकादि रूप सम्बन्ध है।]

(७)

(स्वेप्सितलाभाय गणपतिदेवस्याऽऽवाहनम्)

(स्वेप्सित (अपना-इच्छित पदार्थ) लाभ के लिए गणपति देव का आवाहन)

गणपतिं देवं भगवन्तमाह्वयति—

भगवान् गणपति देव का आवाहन किया जाता है—

ॐ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे, कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत ! आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥

(ऋ. अष्ट. २ मंड. २ सूक्त. २३ ऋक् १) (तै. सं. २।३।१४।३)

हे ब्रह्म के पति! आप गणों के गणपति हैं; कवियों के कवि हैं; विविध-आकाशादि की उपमाओं से अवगत, निरतिशय विभुत्वादि विषयक पवित्र महान् यशों के भण्डार हैं; 'ज्येष्ठ' अर्थात् अति प्रशस्त-ज्ञानवान् योगी भक्तों के हृदय में विराजमान हैं, एवं वेदमन्त्रों के उपदेष्टा आचार्य-प्रवर हैं उस आप गणाधिपति का हम आवाहन करते हैं (अर्थात् अपने हृदय में सदा के लिए

प्रकट निवास करने के लिए बुलाते हैं) आप के शरणागत, श्रद्धालु-भक्त-हम लोगों की स्तुति को सुनते हुए आप, रक्षण करने की साधन-शक्तियों के साथ हमारे हृदय-भवन में विराजें।'

हे ब्रह्मणस्पते! ब्रह्मणः=वेदशास्त्रवाण्याः पते!=पालयितः! यद्वा ब्रह्मणः=ब्रह्मात्मज्ञानस्य, पते=सम्प्रदायाध्वना प्रवर्तकसद्गुरुरूप! यद्वा ब्रह्मणः=सूक्ष्मसमष्टिप्रपञ्चोपाधिकस्य हिरण्यगर्भस्य पते!=स्वामिन्!—नियन्तः! यद्वा ब्रह्मणः=नामरूपकर्मभिः परिवृढस्य चराचरभूतजातस्य ब्रह्माण्डस्य पते! संचालक! यद्वा ब्रह्मणः=सप्तविधस्यान्नस्य वा सत्कर्मणो वा सदुपासनस्य वा पते!=अध्यक्ष! परमेश्वर! गणानां=देवादिगणानां सम्बन्धिनं—तेष्वधिष्ठेयेष्वधिष्ठातृत्वेन वर्तमानं, त्वा=त्वां, गणपतिं=स्वीयगणानां पतिं हवामहे=स्वेप्सितसिद्धये वयमाह्वयामः। यद्वा न केवलमेकस्यैव गणस्य पतिर्भवानपि तु सर्वेषां गणानामित्याह—गणानामिति। कथंभूतं त्वां? कवीनां=अतीतानागतव्यवहितसूक्ष्मार्थदर्शिनां मध्ये कविं=सर्वज्ञं सर्वविदं, कवीनामन्येषां हिरण्यगर्भादीनां कवित्वसामर्थ्यमग्निनिमित्त-

हे ब्रह्मणस्पते! अर्थात् ब्रह्म यानी वेदशास्त्र की वाणी, उसके पति यानी पालन करने वाले! या ब्रह्म यानी ब्रह्मात्मा का ज्ञान, उसके पति यानी सम्प्रदाय मार्ग द्वारा प्रवर्तक सद्गुरु रूप! यद्वा ब्रह्म यानी सूक्ष्म समष्टि-प्रपञ्च रूपी उपाधि वाले हिरण्यगर्भ के स्वामी!—नियन्ता! यद्वा ब्रह्म यानी नाम से रूप से एवं कर्म से चारों तरफ बटा हुआ-फैला हुआ, चराचर भूतों के समुदाय का आश्रयरूप—ब्रह्माण्ड, उसके पति यानी संचालक (चलाने वाले) यद्वा ब्रह्म यानी सात प्रकार का[1] अन्न, या सत्कर्म, या सदुपासन, उनके पति-अध्यक्ष परमेश्वर!। देवादिगणों के सम्बन्धी, अर्थात् उन अधिष्ठेय गणों में अधिष्ठाता रूप से वर्तमान, आप गणपति को अर्थात् अपने गणों के पति को भी हम सब अपने अभीप्सित (इष्ट) अर्थ की सिद्धि के लिए बुलाते हैं। यद्वा, केवल, एक ही गण के पति आप हैं, ऐसा नहीं, किन्तु सभी गणों के भी पति आप ही हैं ऐसा 'गणाना' इस पद से कहा गया है। आप कैसे हैं? अर्थात् आप को कैसा मान कर हम बुलाते हैं? कवीना अर्थात् अतीत (भूत) अनागत (भविष्यत्) व्यवहित (छिपा हुआ) एवं सूक्ष्म अर्थ के देखने वाले, कवि कहलाते हैं, उनके मध्य में कवि यानी सर्वज्ञ एवं सर्ववित्—सामान्य एवं विशेष रूप से सब को जानने वाले, (आप का हम आवाहन करते हैं)। जैसे अग्नि से भिन्न पदार्थ-उदक आदि कों के दाहकत्व (जलाने पना) का सामर्थ्य, अग्नि के

---

१ व्रीहि यवादि एक मनुष्यान्न, हुत एवं प्रहुत ये दो देवोंका अन्न, एक पशुओं का अन्न दूध और मन वाणी एवं प्राण ये तीन आत्मा के अन्न हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में इनका वर्णन है।

मिव दाहकत्वसामर्थ्यमनग्नीनामुदकादीनां निरवधिकानन्तचैतन्यज्ञानमयगणपतिदेव-निमित्तमेवाऽतः तस्यैव निर्निमित्तमपरतन्त्रं निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजं कवित्वम्। पुनः कीदृशं? उपमश्रवस्तमं=उपमीयतेऽनयेत्युपमा=उपमानं तैः—सादृश्यज्ञानसाधनसूर्याऽऽकाशाद्युदाहरणैः 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' (छां. ३।१४।२) 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (यजुः ३१।१८) 'अग्नि-र्यथैको भुवनं प्रविष्टः' (क. उ. २।५।९) इत्यादिश्रुतिषु प्रतिपादितैः श्रोतॄणां चेतसि समुत्पन्नं, श्रवः=पुण्यः श्लोकः—विपुलनिरवद्यकीर्तिः यस्य स तथोक्तः, अतिशयेनोपमश्रवाः, इत्युपमश्रवस्तमः तम्—विविधोपमानावगम्यनिरतिशयविभुत्वादिविषयक-पावनविपुलयशोनिधानमिति यावत्।

निमित्त से ही है, स्वतः नहीं (अर्थात् अग्नि के दाहकत्व का सामर्थ्य ग्रहण कर जल आदि पदार्थ दाहक होते हैं, स्वतः उन में दाहकत्व सामर्थ्य नहीं होता है) तद्वत् हिरण्यगर्भादि अन्य-कवियों का कवित्व सामर्थ्य, निरवधिक, अनन्त, चैतन्य-रूप ज्ञान-मय, गणपति देव के निमित्त से ही है, (अर्थात् महाकवि-गणपति देव के कवित्व का सामर्थ्य ग्रहण कर हिरण्यगर्भादि-अन्य देव भी कवि कहलाते हैं) इस लिये उस—गणपति देव में ही—निर्निमित्त यानी स्वतः—अन्य निमित्त की अपेक्षा न करने वाला, अपर-तन्त्र यानी अन्य के अधीन न रहने वाला, निरतिशय यानी न्यूनाधिक—रहित सर्वज्ञता का प्रयोजक, कवित्व विद्यमान है। पुनः गणपति देव कैसा है? उपमश्रवस्तमः अर्थात् जिस से अन्यपदार्थ उपमित होते हैं, वह उपमा यानी उपमान—सादृश्यज्ञान के साधन सूर्य आकाशादि-उदाहरण-दृष्टान्त। वे उपमानरूप उदाहरण—'वह आकाश के समान सर्वगत एवं नित्य है।' 'वह परमात्मा आदित्य के तेजस्वी वर्ण के सदृश है, एव अन्धकार से अतीत है' 'जैसे एक अग्नि भुवन में (उत्पत्ति धर्म वाले सभी लकड़ी आदि पदार्थों में) प्रविष्ट हुआ है, तद्वत् परमात्मा भी।' इत्यादि श्रुतियों में प्रतिपादित है। उन उपमानों से श्रोताओं के चित्त में जिसका श्रव—यानी पुण्य (पवित्र) श्लोक अर्थात् विपुल (विस्तृत) निरवद्य (दोषरहित) कीर्त्ति, उत्पन्न होता है, वह गणपति देव उपमश्रवः है अतिशय से जो उपमश्रव है, वे उपमश्रवस्तम कहे जाते हैं। अर्थात् विविध (अनेक प्रकार के) उपमानों से गणपति देव का निरतिशय विभुत्वादि अवगत होते है,—उन विभुत्वादि-भगवदीय धर्म-विषयक पावन (पवित्र) विपुल

उपमा—'माङ् माने' आतश्चोपसर्गे करणे अङ्-प्रत्ययः, ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोरिति ह्रस्वत्वम्। पुनः कथंभूतं त्वां? ज्येष्ठराजं=ज्येष्ठाः—प्रशस्ततमा योगिनो ज्ञानिनो भक्ताः तेषां हृदयकमलमध्ये साक्षादपरोक्षतया राजं=राजमानं प्रकाशमानमित्यर्थः। ब्रह्मणां=वेदमन्त्राणां स्वामिनं रहस्यार्थप्रदर्शनेन सम्पुपदेष्टारमाचार्यप्रवरं त्वां हवामहे इत्यन्वयः। किञ्च नः=अस्माकं त्वत्प्रपन्नानां श्रद्धालुभक्तानां स्तुतीः=सप्रार्थनान् त्वद्गुणानुवादान्, आ=समन्ततः शृण्वन्=आकर्णयन् सन् त्वं ऊतिभिः=पालनैः रक्षणसाधनैः—सुखसंतुष्टिपुष्टिहेतुभूतैः सह सादनं=अस्मदीयं हृदयसदनं, आसीद=उपविश। अस्मद्धृदयसदनमुपविश्याऽज्ञानाऽन्धकारं संसारसंतापञ्चापाकृत्याऽस्मानमन्दानन्दसन्दोहभाजः कुरु इत्याशयः। सीदत्यस्मिन्निति सदनं, सदनमेव सादनं स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः।

(महान्) यश सर्वत्र फैल जाता है, उस विस्तृत यश के भण्डार गणपति देव हैं, यह तात्पर्यार्थ है। माङ् मान अर्थ वाला धातु है, इससे 'उप' उपसर्ग के होने पर करण में अङ् प्रत्यय होता है और 'ङ्यापोः संज्ञाच्छन्दसोः' इस सूत्र से ह्रस्व होता है। फिर आप गणपति देव कैसे हैं? ज्येष्ठराज अर्थात् ज्येष्ठ यानी अति प्रशस्त, ज्ञानवान् योगी भक्त, उन के हृदय कमल के मध्य में साक्षात् अपरोक्ष रूप से राज यानी विराजमान—प्रकाशमान, गणपति देव हैं। ब्रह्म अर्थात् वेद के मन्त्र, उन के स्वामी हैं, यानी उन वेद मन्त्रों के रहस्यार्थ के प्रदर्शन द्वारा सम्यक् मन्त्रों का उपदेश देने वाले, श्रेष्ठ-आचार्य्य हैं, उन आप गणपति देव का हम आवाहन करते हैं, यह अन्वय है। और नः अर्थात् आप के शरणागत हुए-हम श्रद्धालु भक्तों की स्तुति को अर्थात् प्रार्थना पूर्वक आप के गुणानुवाद को आ यानी समन्ततः—सर्व तरफ से सुनते हुए आप—ऊतिभिः अर्थात् सुख, संतुष्टि, पुष्टि आदि के कारण रूप, रक्षण के साधनों के साथ हमारे हृदयभवन में आसीद यानी विराजें। हमारे हृदय में विराज कर, अज्ञानान्धकार एवं संसार-संताप का निवारण कर हमको महान् आनन्द के समूह के सेवन करने वाले बनायें, यही इस प्रार्थना का आशय है। जिसमें बैठा जाता है, वह सदन कहा जाता है, वह सदन ही स्वार्थ में होने वाले अण् प्रत्यय के सम्बन्ध से सादन बन जाता है।

(८)

(गणपतिदेवसन्निधिना सर्वं कार्यं सफलं पूर्णं च भवति)

(गणपति देव की सन्निधि से ही सभी कार्य सफल एवं पूर्ण होते हैं)

'अभीप्सितार्थसिद्ध्यर्थं पूजितो यः सुरासुरैः' 'अर्चितः संस्मृतो ध्यातः कीर्तितः कथितः श्रुतः। यो ददात्यमृतत्वं हि सो नः पातु गणाधिपः।' 'पुण्यागण्यगुणोदारधाम्ने प्रेष्ठाय वेधसे। लाभसौख्यकरश्रीमद्गणाधिपतये नमः'। इत्यादिस्मार्तवचनजातेन प्रसिद्धमहिम्नो गणाधिपतिदेवस्य भगवतः सर्वेषां कार्याणां साफल्याय परिपूर्णतायै च साधको भक्तः सान्निध्यमभिलषति—

'अभीप्सित अर्थ की सिद्धि के लिये वह सुर एवं असुरों से पूजित हुआ।' 'अर्चन किया हुआ, सम्यक् स्मरण किया हुआ, ध्यान एवं कीर्तन किया हुआ, कथन किया हुआ, एवं सुना हुआ, जो गणाधिपति देव, अमृतत्व (मोक्ष) को निश्चय से देता है, वह हमारी रक्षा करे।' 'अगण्य-पवित्र-गुणों के उदार-आश्रय रूप, अतिशय-प्रिय, वेधा यानी विश्वकर्ता, लाभ एवं सौख्य के करने वाले, श्रीमान् गणाधिपति-देव को नमस्कार है।' इत्यादि स्मृतियों के वचन समुदाय से-प्रसिद्ध महिमा वाले भगवान् गणाधिपति देव की-सभी कार्यों की सफलता एवं परिपूर्णता के लिए, भक्त-साधक सन्निधि की अभिलाषा करता है—

ॐ नि षु सीद गणपते! गणेषु, त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम्।
न ऋते त्वत्क्रियते किञ्चनारे, महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च॥

(ऋ. अष्ट. ८ मण्ड. १० सूक्त. ११२ ऋक् ९)

'हे गणपते! आप अपने भक्तगणों में अच्छी रीति से विराजें, सर्वज्ञ-कवियों के मध्य में आप को विद्वान् लोग, विप्रतम अर्थात् विशेषरूप से विप्र यानी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कहते हैं। आप के बिना अर्थात् आप की सत्ता, या प्रेरणा या आप के अनुग्रह के बिना कुछ भी कर्म, दूर या समीप में नहीं किया जा सकता, यानी आप की सत्ता से, प्रेरणा से, एवं अनुग्रह से ही सभी कार्य किये जाते हैं। इस लिए हे मघवन्! दिव्य-अनन्त-ऐश्वर्यों से सम्पन्न! आप अपने, महान् अर्चनीय, दिव्यरूप युक्त, मनोहर स्वरूप को प्रकट कर, अभ्युदय एवं निःश्रेयस के प्रदान द्वारा हमारा पूजन-सत्कार करें, या हमारे महान्, प्रशंसनीय, लौकिक एवं वैदिक शोभन-कर्म समुदाय को निर्विघ्न एवं सफल बनायें, या हम से आप पूजित हों।

हे गणपते!=जगदिदं गणसंज्ञितमस्य यः पतिरेष शिवः स्वयं गणपतिः—तत्सम्बुद्धौ हे विश्वपते! गणेषु=त्वद्भक्तगणेषु तव प्रेयसः परमेश्वरस्य स्तुत्या स्मृत्या ध्यानेन च त्वदभिमुखीभूतेषु स्वेष्टलाभप्रदकार्यकर्तृषु, त्वं, षु=सु—सुष्ठु यथा स्यात्तथा

हे गणपते! अर्थात् यह सब जगत् गण नाम से कहा जाता है, इस जगत् का जो पति है, वही यह शिव स्वयं गणपति है, उस के सम्बोधन में हे विश्वपते! यही अर्थ होता है। प्रियतम, आप, परमेश्वर की स्तुति, स्मरण एवं ध्यान द्वारा आप के ही अभिमुख होने वाले एवं अपने इष्ट लाभ के प्रदान करने वाले—कार्यों के

निपीद्=निपण्णो भवेत्यर्थः, सन्निहितो भवेति यावत्। 'सन्निहितस्य तव कृपाकटाक्षप्रभावात्सर्वाणि कार्याणि सफलानि परिपूर्णानि च सिद्ध्यन्ति' इति त्वद्भक्तानां परिपूर्णो विश्वासः। यद्यपि सामान्यतस्तव सर्वान्तर्यामिणः सर्वगतस्य सन्निधिः सदा सर्वत्राऽस्ति, तथापि-यथा 'अग्निमानये'-त्युक्ते सति ज्वलत्काष्ठादृते पृथक् नाग्निरानेतुं शक्यते, तद्वत् 'सन्निहितो भव' इति भक्तप्रार्थनायां सत्यां दिव्यतमसाकारविग्रहवत्त्वादिना विना सर्वगतः परमात्मा न विशेपतः सन्निहितो भवितुं शक्नोति। तस्मात्सन्निहितस्य सन्निधानप्रार्थनमिदं व्यर्थं सत् स्वसार्थक्याय विग्रहलक्षणस्य विशिष्टस्वरूपस्य सान्निध्यमर्थाद्बोधयति। अपि च यथा गवां शरीरस्थेन सामान्यसर्पिपा न तदङ्गानि पुष्टानि भवन्ति, परञ्च विशेपतः प्रकटीभूतेन तेन तदङ्गपोपणं विधातुं पार्यते, तद्वत् सामान्यतः स्थितेन परमेश्वरेण जनानां विशिष्टं हितं कर्तुं न शक्यते, किन्तूपासनया विशेपतः प्रकटीभूतेन प्रसादाभिमुखेन

करने वाले, अपने भक्त-गणों में आप, अच्छी-प्रकार से जैसे हो वैसे, विराजें-सन्निहित रहें। यह यावत् यानी सारभूत अर्थ है। 'सन्निधि में रहने वाले आप भगवान् के कृपाकटाक्ष के प्रभाव से ही सभी कार्य सफल एवं परिपूर्ण सिद्ध होते हैं' ऐसा आप के भक्तों का परिपूर्ण विश्वास है। यद्यपि आप अन्तर्यामी, सर्वगत, परमेश्वर की सामान्य रूप से सन्निधि, सदा सर्वत्र है ही, तथापि जैसे 'अग्नि ले आवें' ऐसा कहने पर वह अग्नि लाने वाला मनुष्य, जलती हुई लकडी के विना पृथक् यानी अलग-अकेला, अग्नि नहीं ला सकता है, अर्थात् लकडी आदि के साथ ही अग्नि ले आ सकता है। तद्वत् हे भगवन्! 'तू सन्निहित हो' ऐसी भक्त की प्रार्थना होने पर दिव्यतम साकार विग्रहादि के विना सर्वगत-परमात्मा विशेप रूप से सन्निहित नहीं हो सकता, (अर्थात् साकार विग्रह धारण कर के ही वह विशेप रूप से सन्निहित हो सकता है, क्यों कि-सामान्य-निराकार रूप से तो वह सदा सन्निहित है ही) इस लिए सन्निहित (समीपस्थित) परमेश्वर की सन्निधान की प्रार्थना यह, व्यर्थ होती हुई, अपनी सार्थकता के लिए साकार विग्रह लक्षण-विशिष्ट स्वरूप की सन्निधि का अर्थात् बोधन करती है।

और भी, जैसे गौओं के शरीरों में अवस्थित, सामान्य घृत से उन के अंग पुष्ट नहीं होते हैं, परन्तु विशेप रूप से प्रकट होने वाले घृत से (उसके भक्षण द्वारा) ही उनके अंगों का पोपण किया जा सकता है। तद्वत् सामान्य रूप से स्थित निराकार परमेश्वर द्वारा प्राणियों का विशिष्ट हित नहीं किया जा सकता है। किन्तु उपासना के द्वारा विशेप रूप से प्रकट होने वाले-प्रसादाभिमुख-(अपनी प्रसन्नता के प्रद-

तेन तत्साधयितुं शक्यते, इत्यभिसन्धाय विशिष्टरूपेण प्रकटसान्निध्यायाऽभ्यर्थ्यते भक्तैर्भगवान् ।

ननु-सान्निध्यायाऽभ्यर्थितोऽप्यसौ सामर्थ्याऽभावान्नाभ्यर्थनं ज्ञातुं न च सन्निधातुं शक्त इत्याशङ्क्याह—कवीनां=क्रान्तप्रज्ञानां सर्वज्ञकल्पानां देवादीनां मध्ये त्वा=त्वां, विप्रतमं=विशेषेण सर्वमपरोक्षं पश्यति-जानातीति विप्रः=सर्वज्ञः, निपातनात्साधुः, यद्वा विशेषेण प्राति=कविषु तेषु स्वाः विशिष्टमेधादिशक्तीः पृणाति-प्रक्षिपतीति विप्रः-सर्वशक्तिनिधान इत्यर्थः । 'प्रा पूरणे' 'आतश्चोपसर्गे' इति 'कः' । अतिशयेन विप्र इति विप्रतमस्तं निरतिशयसर्वज्ञानशक्तिमन्तं, आहुः=कथयन्ति विपश्चित इति शेषः ।

(दर्शन के लिए समक्षस्थित) उस परमेश्वर से ही विशिष्ट-हित की सिद्धि-प्राप्त की जा सकती है । ऐसा अभिप्राय रख कर भक्त, विशेष रूप से होने वाली प्रकट सन्निधि के लिए भगवान् की प्रार्थना करते हैं ।

शंका-सन्निधि के लिए प्रार्थना किया हुआ भी वह भगवान्, सामर्थ्य नहीं होने से प्रार्थना को जान ने के लिए, या सन्निहित होने के लिए भी समर्थ नहीं होगा ? ।

समाधान-कवीनां, अर्थात् क्रान्त-(अतीत-अनागतादि-अतीन्द्रिय पदार्थ) को विषय करने वाली-प्रज्ञा वाले, सर्वज्ञ के सदृश देवादियों के मध्य में, तुझ भगवान् को विद्वान् लोग 'विप्रतम' कहते हैं । विशेष रूप से सभी पदार्थ को अपरोक्ष जो देखता है, या जानता है, वह विप्र यानी सर्वज्ञ है । विप्र शब्द, निपातन से (विशेष सूत्र न होने पर प्रत्ययादियों की कल्पना करना निपातन है) सिद्ध कर साधु (अच्छा-सार्थक) बनाना चाहिए । अथवा जो विशेष रूप से-उन देवादि-कवियों में अपनी विशिष्टमेधा आदि शक्तियों का प्रक्षेप करता है, वह सर्व शक्तियों का भण्डार भगवान् विप्र है, यह अर्थ है । 'प्रा' धातु पूरण अर्थ में है, उस धातु से 'आतश्चोपसर्गे' इस सूत्र से क प्रत्यय करने पर एवं 'वि' उपसर्ग आगे रखने पर 'विप्र' शब्द सिद्ध होता है । अतिशय से जो विप्र है, वह विप्रतम, अर्थात् निरतिशय, सर्व ज्ञान, एवं सर्व शक्ति वाला वह भगवान् है, ऐसा विपश्चित (तत्त्वदर्शी-विद्वान्) कहते हैं । 'आहुः' क्रियापद के साथ 'विपश्चितः' इस कर्तृ पद का अध्याहार कर शेष (अंगभूत-सम्बन्ध) करना चाहिए । (भगवान् सकल सामर्थ्यों के भण्डार हैं, भक्त की प्रार्थना सुन कर सन्निहित होने के लिए भी समर्थ हैं ? इस लिए पूर्वोक्त शंका तुच्छ है ।)

अत एव भगवन्तं गणेश्वरमादृत्यैव श्रद्धालुभिः सर्वं कर्मजातं साफल्याय क्रियते इति व्यतिरेकमुखेनाह–त्वदृते=त्वां वर्जयित्वा त्वदर्चनस्मरणध्यानादिकं विहाय। 'अन्यारादितरर्ते' इति पञ्चमी। त्वद्भक्तैः किञ्चन=लौकिकं वैदिकं वा किञ्चिदपि कर्म=क्रियमाणं, आरे=दूरे समीपे वा, 'आराद् दूरसमीपयोः' न क्रियते-न विधीयते। त्वामनादृत्य कृतं कर्म न निर्विघ्नं सफलं पूर्णञ्च भवतीत्यतः कर्मणः प्रारंभे मध्ये चान्ते च तव विघ्नध्वान्तमार्त्तण्डस्य गणेशस्याऽर्चनस्मरणध्यानादिकमवश्यमेव विधातव्यं स्वाभ्युदयकामैरिति भावः।

यद्वा–सकलश्रेयस्साधकं गणाधिपतिप्रसादमुद्दिश्यैव निष्कामभावेन सर्वं कर्म क्रियते इत्याह–त्वदृते=त्वामनुद्दिश्य त्वदेकपरैः त्वद्भक्तैः किञ्चनापि कर्म न क्रियते, किन्तु त्वामेवैकमुद्दिश्य त्वत्प्रसादाप्तिकामनया न त्वन्यत्किमपि फलमुद्दिश्य श्रौतस्मार्तादिकर्मानुष्ठानं विधीयते। एवं परमे-

इस लिए गणेश्वर भगवान् का आदर-सत्कार कर के ही श्रद्धालु भक्त सफलता के लिए सभी कर्म करते हैं, यह व्यतिरेक द्वारा कहते हैं–त्वदृते–अर्थात् आप को छोड़ कर यानी आप का अर्चन, स्मरण, ध्यानादि का परित्याग कर, आप के भक्त, कुछ भी लौकिक या वैदिक–करने योग्य–कर्म, दूर में या समीप में नहीं करते हैं। 'अन्यारादितरर्ते' इस व्याकरण के सूत्र के अनुसार 'ऋते' पद के साथ 'त्वत्' यह पञ्चमी विभक्ति की गई है। 'आरात्' ही यहाँ वेदमन्त्र में 'आरे' हो गया है, वह दूर एवं समीप दोनों अर्थों का बोधक है। आप गणपति-देव का आदर न कर के किया हुआ कर्म निर्विघ्न-सफल एवं पूर्ण नहीं होता है, इसलिए कर्म के प्रारम्भ में, मध्य में एवं अन्त में अपने अभ्युदय की कामना करने वाले मनुष्यों को–विघ्नरूपी अन्धकार के विध्वंस करने वाले मार्तण्ड (सूर्य) रूप आप गणेश भगवान् का अर्चन, स्मरण, ध्यानादि अवश्य करना चाहिए, यह भाव है।

अथवा–सकलकल्याणों का साधक, गणाधिपति की प्रसन्नता है, उसीको उद्देश्य बना कर के ही निष्कामभाव से सभी कर्म (ज्ञानवान् भक्तों के द्वारा) किये जाते हैं–यह कहते हैं–त्वदृते अर्थात् आप को उद्देश्य न बना कर, एकमात्र आप के परायण रहने वाले–आप के भक्तों के द्वारा कुछ भी कर्म नहीं किया जाता, किन्तु, आप को ही एकमात्र उद्देश्य बना कर[1] आप की प्रसन्नता की प्राप्ति की कामना से ही–अन्य किसी भी फल का उद्देश्य न रख कर, श्रौत-स्मार्त आदि कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है।

१ 'अनेन कर्मणा भगवान् गणाधिपतिदेव प्रीयताम्' यह उद्देश्य का स्वरूप है, इस कर्म से एकमात्र गणाधिपति देव भगवान् प्रसन्न हों।

श्वरार्थमेव कर्म कुर्वन्तः फलेच्छाकर्तृत्वाऽभिमानाभावात्, भक्ताः स्वान्तःशुद्ध्यादिद्वारा तत्प्रसादादेव परमाद्वैततत्त्वविज्ञानं समाप्नुवन्तीति भावः । तदुक्तं—

'युष्माकमपि सर्वेषां शिवस्य परमात्मनः । परमाद्वैतविज्ञानं प्रसादादेव नान्यथा ॥' इति ॥ यद्वा जडशरीरादिप्रवर्तकं सर्वात्मानं गणपतिमननुसन्धायाऽऽस्तिकैः । किमपि कर्म न करणीयमित्यार्थिकं तात्पर्यमभिप्रेत्याह—त्वद्दते=त्वां सर्वात्मानं सर्वान्तर्यामिणं वर्जयित्वा जडशरीरादिभिः किञ्चिदपि कर्म न क्रियते=न कर्तुं शक्यते । न हि रथादिभिः स्वयमचेतनैः चेतनैरश्वादिभिरनधिष्ठितैः किञ्चिदपि गमनादिकं कर्म कर्तुं पार्यते । अतो जडशरीरादिप्रवृत्त्याऽवगम्यतेऽस्ति किमप्यन्तःस्थं सद्रूपमविनाशि चैतन्यं ज्योतिः शरीरादेः प्रवर्तकम् । तेनाऽवभासितस्य प्रवर्तितस्य च शरीरादेः कर्म कर्तुं सामर्थ्यमुपजायते । तस्माद्भावुकैः सर्वकर्माऽनुष्ठानवेलायां तदेव कर्मकारकमन्तःस्थमात्मचैतन्यं गणपतितत्त्वमनुसन्धातव्यमिति भावः ।

तदेतदाम्नातं च भवति—'अनुत्तमा ते मघवन् ! नकिर्नु न त्वावाँ अस्ति देवता

इस प्रकार परमेश्वर के लिए ही कर्म करते हुए, फल की इच्छा एवं कर्तापने का अभिमान का अभाव होने से, भक्तलोग अपने अन्तःकरणशुद्धि आदि के द्वारा उस परमेश्वर की प्रसन्नता से ही परम-अद्वैततत्त्वविज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं । यह भाव है । यह कहा है—'परमात्मा शिव की प्रसन्नता से ही तुम सभी को परम अद्वैतविज्ञान की प्राप्ति होगी, भगवत्प्रसन्नता के बिना अन्य-उपाय से कदापि अद्वैतविज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।' इति ।

अथवा—आस्तिक मनुष्यो को—जड शरीरादिओं का प्रवर्तक, सर्वात्मा गणपति का अनुसंधान न कर के कुछ भी कर्म नहीं करना चाहिए, यह आर्थिक तात्पर्य के अभिप्राय से कहते हैं—त्वद्दते—अर्थात् तुझ सर्वान्तर्यामी सर्वात्मा भगवान् को छोड़ कर, जडशरीरादि कुछ भी कर्म करने के लिए समर्थ नहीं होते । स्वयं अचेतन (जड़)-रथादि, (जब तक) चेतन, अश्व आदि से अधिष्ठित (संयुक्त) न हों (तब तक) गमनादि कुछ भी कर्म करने के लिए समर्थ नहीं हो सकते हैं । इस से जड़ शरीर आदिकों की प्रवृत्ति से जानने में आता है-कि-इन शरीरो के भीतर, सद्रूप, अविनाशी, शरीरादिकों का प्रवर्तक, चैतन्य ज्योति किमपि-(अचिन्त्य) विद्यमान है । उस ज्योति से अवभासित, एवं प्रवर्तित हुए इन शरीरादिओं में कर्म करने की सामर्थ्य प्रकट होती है । इसलिए भावुक-भक्तों को-सभी कर्म के करने समय, कर्म का कराने वाला भीतर में साक्षीरूप से रहने वाला, उस-आत्मचैतन्य, गणपतितत्त्व-का अनुसंधान करना चाहिए, यह भाव है ।

वह यह (अन्य मन्त्र में भी) कहा गया है—'हे मघवन् ! हमें अब स्मृत हो गया है कि—तुझ से अप्रेरित कर्म कुछ भी नहीं है, किन्तु

विदानः।' (ऋ. १।१६५।९) इति। अयमर्थः—आ इति स्मरणे, स्मृतवन्तो वयं इदानीं, हे मघवन्! परमैश्वर्यसम्पन्न! भगवन्! ते=त्वया, अनुत्तं=अप्रेरितं कर्म किञ्चिदपि, नकिर्नु=नैवास्ति, नु निश्चये। हे देव! त्वावान्=त्वत्सदृशः, विदानः=विद्वान्—अनन्तज्ञाननिधिः—सर्वज्ञसर्वशक्तिमान् व्यत्ययेन शानच्, देवता=देवो न अस्ति। इति।

यद्वा—भगवदिच्छामनुरुध्यैव इष्टानिष्टे फले समे कृत्वा प्रसन्नेन चेतसा सर्वं कर्म कर्तव्यमित्याशयेनाह—त्वद्दते=त्वामनधिकृत्य-परमेश्वरस्य तवेच्छामनङ्गीकृत्य केनापि प्राणिना शुभमशुभं वा किञ्चिदपि कर्म न क्रियते=कर्तुं न शक्यते, किन्तु—भगवदिच्छामनुसृत्यैव कर्तुं शक्यते। तथा चाम्नायते स्मर्यते च श्रुतिस्मृतिभ्यां—'एष ह्येव साधु कर्म कारयति, तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष उ एवाऽसाधु कर्म कारयति, तं यमधो निनीषते' (कौ. उ. ३।९)

सभी कर्म तेरी प्रेरणा से ही होते हैं, इसलिए तुम्हारे सदृश, अनन्तज्ञाननिधि देव अन्य कोई नहीं है।' इति। इस मन्त्र का यह अर्थ है। 'आ' यह निपातपद स्मरण अर्थ में है। अब हमने स्मरण किया, अर्थात् इस समय हम (शास्त्र एवं गुरु के उपदेश से) जान गये हैं। हे मघवन्! अर्थात् परम-ऐश्वर्यों से सम्पन्न! हे भगवन्! तुझ से, अप्रेरित यानी प्रेरित नहीं हुआ कर्म कुछ भी निश्चय से नहीं है। हे देव! तुम्हारे सदृश, विद्वान् यानी अनन्त ज्ञानों का निधि, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् देव और नहीं है, 'विदान' इस पद में व्यत्यय से शानच् प्रत्यय हुआ है, (अर्थात् शानच् प्रत्यय आत्मनेपद में होता है, परन्तु यहाँ विद् धातु के परस्मैपद में भी हो गया) इति।

यद्वा भगवान् की इच्छा का अनुसरण करके ही इष्ट एवं अनिष्ट (सुख दुःखादि) फल को समान (समझ) कर प्रसन्न चित्त से ही सभी कर्म करने चाहिए, इस आशय से कहते हैं—त्वद्दते अर्थात् तुझ परमेश्वर को (शासकरूप से) अधिकृत (स्वीकृत) न कर अर्थात् आप की इच्छा को अंगीकार न कर, कोई भी प्राणी, शुभ या अशुभ कुछ भी कर्म करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है, किन्तु आप भगवान् की इच्छा का अनुसरण करके ही सभी कर्म करने के लिए समर्थ होता है। इसलिए यह (विषय) श्रुति ने कहा है एवं स्मृति ने स्मृत किया है—'निश्चय से यही परमात्मा उससे अच्छा कर्म करवाता है, जिसको वह इन लोकों से भी ऊर्ध्व-(उत्तम-ब्रह्म लोकादि) स्थान में ले जाने की इच्छा करता है, यही निश्चय से उस से खराब कर्म करवाता है, जिसको वह अधःस्थान नरकादि में ले जाने की इच्छा करता है।' 'जो

'य आत्मानमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।' (बृ. ३।७।२) इति । 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च' (गी. १५।१५) इति च। भगवदिच्छापि प्राणिकर्मविशेषमपेक्षमाणा भवति प्रवर्तिका, अतस्तत्र न वैषम्यमाशङ्क्यम्, अत एवान्तर्यामिगणेश्वराधीनैर्भवद्भिः 'भृत्यैरिव राज्ञे' तस्मै सर्वभूतहृदयाधिष्ठात्रे परमेश्वराय सर्वाणि लौकिकवैदिकानि तदिच्छया कृतानि कर्माणि समर्प्य 'अस्माभिः कृतान्यस्माकमिमानि कर्माणी'ति कर्तृत्वाभिमानं ममत्वञ्च परित्यज्य तदिच्छावशादुपपन्नेष्विष्टानिष्टफलेष्वपि हर्षशोकावकृत्वा तदिच्छायामेव स्वेच्छां संयोज्य तद्विरुद्धामिच्छामविधाय च निष्कामभावनया तत्त्वजिज्ञासुभिः 'दार्वादिप्रतिमानां सूत्रधारायत्तचेष्टा इव' प्रसन्नेन मनसाऽनवद्यान्येव कर्माणि कर्तव्यानीति ध्वनिगम्योऽयं भावः।

यस्मादेवं तस्मात् निषीद=सन्निहितो भवेति पूर्वेण सम्बन्धः। ततः हे मघवन्! हे दिव्यधनवन्! ऋद्धिसिद्ध्यादिसकलैश्वर्यसम्पन्न! महेन्द्र! महां=महान्तं, अर्कं=

इस शरीर में रह कर, जीवात्मा का नियमन करता है, यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।' इति। 'सब-प्राणियों के हृदय में मैं ही अन्तर्यामीरूप से विराजमान हूँ, इसलिए मेरे से (मेरी सत्ता से ही) स्मृति, ज्ञान, एवं अपोहन (संशय विपर्यय आदि दोषों की निवृत्ति) होते हैं।' इति। भगवान् की इच्छा भी प्राणियों के कर्मविशेष की अपेक्षा करती हुई प्रवर्तक होती है, इसलिए उस में विषमता (किसी का ऊर्ध्वगमन एवं किसी का अधःपात करानारूप) की आशंका नहीं करनी चाहिए। अत एव जैसे राजा के लिए उसके भृत्य (सेवक) सभी कर्म करते हैं, तद्वत् अन्तर्यामी गणेश्वर भगवान् के आधीन (शरणापन्न) हो कर तत्त्वज्ञान की इच्छा रखने वाले—आप लोगों को—सर्वभूतों के हृदय के अधिष्ठाता उस परमेश्वर को सभी लौकिक एवं वैदिक कर्म—जो उन की इच्छा से ही किये गये हैं—समर्पण कर, हमने ये कर्म किये हैं, हमारे ये कर्म हैं, इस प्रकार का कर्तापना का अभिमान एवं ममता का परित्याग कर, उस भगवान् की इच्छा के वश से प्राप्त हुए इष्टानिष्ट (सुखदुःख लाभहान्यादि) फलो में हर्ष एवं शोक न कर के, उसकी इच्छा में ही अपनी इच्छा को जोड़ कर, उसकी इच्छा के विरुद्ध-इच्छा नहीं कर के निष्कामभावना से—'लकडी आदि की बनी हुई पुतलियों की सूत्रधार के अधीन चेष्टा की भाँति' प्रसन्न मन से निर्दोष कर्म ही करने चाहिए। यह ध्वनि से, (व्यञ्जनावृत्ति से) तात्पर्य अवगत हुआ है।

इस प्रकार जब सभी कर्म के प्रयोजक कारण आप ही हैं, इसलिए आप निषीद यानी सन्निहित रहें, यह पूर्ववाक्य के साथ अन्वय है। हे मघवन् अर्थात् दिव्य धन वाले, ऋद्धि-सिद्धि आदि सकल-ऐश्वर्यों से सम्पन्न! महेन्द्र! महान्,

अर्चनीयं, चित्रं=दिव्यतमनानारूपयुक्तं, साश्चर्य-चेतश्चमत्कृतिकारकं वा स्वस्वरूपमस्माकं हृदये प्रकटीकृत्येति शेषः। अर्च= अस्मान् त्वदुपसन्नान् पूजय स्वाऽभीप्सितात्मकल्याणं समर्पय। निर्भयत्वपरमानन्दत्वादिलक्षणविलक्षणपुष्पादिसमर्पणमेव भगवत्कृतस्वभक्तसमर्चनमत्र विज्ञेयम्। 'अर्च पूजायां' भौवादिकः। भगवानपि स्वभक्तस्य भक्त एव, यं परमात्मा सेवते-अर्चति सोऽसौ भक्तो भगवता सेवितोऽर्चितो भवति। अत एव 'भज धातोः' कर्मणि क्ते प्रत्यये कृते सिद्धो भक्तशब्दः सेविताऽर्थे न तु सेवकाऽर्थे निष्पन्नो भवति।

अथवा महां=महान्तं विपुलयशःप्रभूतपुण्यस्वान्तशुद्ध्यादिलक्षणमहाप्रयोजनसंपादकं, अर्कं=अर्चनीयं-प्रशंसनीयं, चित्रं= विशिष्टं प्रशस्ततममस्मदीयं कर्मकलापं त्वमर्च=पूजय-निर्विघ्नं सफलं समाप्तं विधेहीत्यर्थः। अथवा अर्च=अत्र कृपयाऽऽगत्याऽस्मभ्योऽर्चितो भवेत्यर्थः।

[पूर्वं गणेश्वरमहादेवाराधनमुपदिष्टम्, तस्मात्तत्प्रसादः प्रादुर्भवत्येव, तेन च परमपुरुषार्थसाधनं तत्त्वविज्ञानम्। अत एव तत्र महतीं रुचिं जनयितुं लोकानां तन्महत्त्वमनन्तरमुपदिशति।]

अर्चनीय, अतिदिव्य-अनेक रूपों से युक्त, या चित्त के चमत्कार-आश्चर्य-का करने वाला, अपना स्वरूप, हमारे हृदय में प्रकट कर के, यह शेष वचन है। अर्च यानी तेरे उपसन्न (शरणप्राप्त) हुए हम भक्तों को पूजय अर्थात् अपना अभीप्सित आत्मकल्याण समर्पण कर। निर्भयत्व, परमानन्दत्वादिरूप, (लोक से) विलक्षण पुष्पादि का समर्पण ही यहाँ भगवान् से किया गया अपने भक्त का समर्चन समझना चाहिए। भ्वादिगण का पूजा अर्थ का अर्च धातु है। भगवान् भी अपने भक्त के भक्त हैं, जिसकी स्वयं परमात्मा सेवा करता है, अर्चन करता है, वही यह भक्त भगवान् से सेवित एवं अर्चित होता है। इसलिये भज (सेवा अर्थ के) धातु से कर्म में 'क्त' प्रत्यय करने पर सिद्ध हुआ भक्त-शब्द सेवित अर्थ में सिद्ध होता है, सेवकरूप अर्थ में सिद्ध नहीं होता।

अथवा, महान् यानी विस्तृत यश, बड़ा पुण्य, अन्तःकरण की शुद्धि आदि रूप महान् प्रयोजन का सम्पादक, अर्चनीय यानी प्रशंसा करने योग्य, चित्र यानी विशिष्ट-श्रेष्ठ हमारे कर्मसमुदाय को तू अर्च यानी विघ्नरहित सफल-समाप्त कर, यह अर्थ है। अथवा यहाँ कृपया आ कर तू हम लोगों से पूजित हो, यह भी अर्थ हो सकता है।

[गये हुए आगे के मन्त्रों में गणेश्वर महादेव की आराधन का उपदेश दिया, उसकी आराधना से उसकी प्रसन्नता (हमारे ऊपर) प्रकट होती है, उससे परम पुरुषार्थरूप मोक्ष का साधन तत्त्वविज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए उस तत्त्वविज्ञान में बड़ी भारी रुचि को उत्पन्न करने के लिए लोगों को उस तत्त्वज्ञान के महत्त्व का अनन्तर के मन्त्र से उपदेश दिया जाता है]

(९)

(तत्त्वविज्ञानस्याद्भुतमहत्त्वप्रतिपादनम्)

(तत्त्वविज्ञान के अद्भुत महत्त्व का प्रतिपादन)

पवित्रतमं तत्त्वविज्ञानं प्राप्य किं किं न सिद्ध्यति ? स्त्रियोऽपि तत्त्वविज्ञानप्रभावात्प्रशस्तपुरुषत्वमवाप्नुवन्ति । स्थूलदृष्टिरहिता अन्धा अपि पावनचक्षुष्मन्तो भवन्ति। पुत्रा अपि स्वपित्रपेक्षया पूज्यपितृत्वं सम्पादयन्ति । अत एव शास्त्रदृष्ट्या स एव पिता पुरुषः चक्षुष्माँश्च भवितुमर्हति, यः खलु पूर्णं स्वप्रकाशं पुरुषमपरोक्षं विजानाति, नान्यः । अतस्तत्त्वबुभुत्सुभिः पुरुषत्वादिसम्पादनार्थमज्ञानजानर्थनिवृत्त्यर्थं परमानन्दावाप्त्यर्थञ्च प्रशस्ततमं महदद्भुतं तत्त्वविज्ञानं सम्पादनीयमिति प्रतिपादयति भगवान् वेदः—

अतीव पवित्र, तत्त्वविज्ञान को प्राप्त कर क्या क्या सिद्ध नहीं होता ? स्त्रियाँ भी तत्त्वविज्ञान के प्रभाव से प्रशस्त (प्रशंसनीय-उत्तम) पुरुषत्व को प्राप्त होती हैं । स्थूल-दृष्टि से रहित, अन्धे भी पवित्र चक्षु वाले हो जाते हैं । पुत्र भी अपने पिता की अपेक्षा से पूज्य पितृत्व का सम्पादन करते हैं, (अर्थात् तत्त्वज्ञानी पुत्र, अज्ञानी पिता का भी सम्मान्य पिता बन जाता है)। इस लिए शास्त्र दृष्टि से वही पिता, पुरुष एवं चक्षुष्मान् होने के लिए योग्य है, जो निश्चय से पूर्ण स्वप्रकाश पुरुष को अपरोक्ष रूप से जानता है, अन्य नहीं । अतः तत्त्ववस्तु को जानने की इच्छा वाले मनुष्यों को—पुरुषत्वादि (वास्तविक-पुरुषपना आदि) के सम्पादन के लिए एवं अज्ञान से समुद्भूत-अनर्थ की निवृत्ति के लिए, एव परमानन्द की प्राप्ति के लिए—अति प्रशस्त, महान्, अद्भुत, तत्त्व-विज्ञान सम्पादन करना ही चाहिए, यह भगवान् वेद प्रतिपादन करता है—

ॐ स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत, यस्ता विजानात् स पितुष्पिता सत् ॥

(ऋ. मण्ड. १ सूक्त. १६४ ऋक् १६) (अथर्व ९।९।१५) (तै आ. १।११।४) (नि ५।१)

'स्त्रियाँ भी (यदि) सती—सद्ब्रह्मतत्त्व की निष्ठा वाली तत्त्वविज्ञानसम्पन्न हैं, तो वे भी मेरे मत से पुरुष ही हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं । जो (उस तत्त्व को) देखता है, वही चक्षुष्मान् (आंख वाला) है, जो उसको नहीं जानता है, वह अन्धा है । जो इन सभी को (आत्मा-ब्रह्म-रूप से) जानता है, वह पुत्र भी (शरीर की आयु से छोटा हुआ भी) कवि है यानी सर्वज्ञ है, महान् है । जो इन को (समस्त चराचर पदार्थों को अपने पूर्ण स्वरूप से अभिन्न) जानता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है ।'

या लोके प्रसिद्धाः स्त्रियः सतीः=सद्रूपाः–श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठसद्‌गुरुकृपाकटाक्षेण 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छां. ६।२।१) इत्यादिश्रुत्युक्तं सद्वस्तु बुद्ध्वा तदनुभवेन तद्रूपा वर्तन्ते, ता उ=ता अपि स्त्रियः सद्ब्रह्मनिष्ठावत्यः मे=मम मते, पुंसः=पुरुषान् आहुः=कथयन्ति ब्रह्मविदः। यद्यपि शरीरे स्तनवृद्ध्यादि स्त्रीलक्षणं दृश्यते, तथापि पुरुषस्योचितं तत्त्वविज्ञानमस्तीति पुरुषलक्षणसद्भावात्पुरुषत्वं तासामभिज्ञाः प्रतिपादयन्ति, ये तु शरीरे श्मश्रुप्रभृतिभिः पुरुषलक्षणैर्युक्ता अपि पुरुषस्योचितं तत्त्वज्ञानं न सम्पादयन्ति, ते स्त्रीणामुचितेन मोहेनोपेतत्वात् स्त्रिय एवेत्यभिप्रायः। यथा स्त्रीपुरुषविभागो लोकविपरीत एवमन्धानन्धविभागोऽपि तद्वद्द्रष्टव्यः। अक्षण्वान्=चक्षुरिन्द्रिययुक्तः, पश्यन्=नीलपीतादिरूपं पश्यन्नपि, न विचेतत्=विवेकेन सद्वस्तुतत्त्वं न जानातीति चेत् सोऽयमन्ध एव; एवं मांसदृष्टिरहितोऽन्धोऽपि स्वात्मतत्त्वाऽभिज्ञश्चेत् सोऽयं चक्षुष्मानेवेत्यपि द्रष्टव्यम्। एवमिममलौकिकं स्त्रीपुरुषाऽन्धा-

लोक में प्रसिद्ध जो स्त्रियाँ हैं, वे सती अर्थात् श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की कृपाकटाक्ष से (यदि) सद्रूप यानी–'हे प्रियदर्शन! इस सृष्टि के प्रथम सत् ही वस्तु थी।' इत्यादि श्रुतियों में कही हुई सद्वस्तु को जान कर, उस के (यथार्थ) अनुभव से तद्रूप हुई वर्तती हैं, वे सत् ब्रह्म की निष्ठा वाली स्त्रियाँ भी, मेरे मन में पुरुष ही हैं, ऐसा ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं। यद्यपि उनके शरीर में स्तनवृद्धि आदि स्त्री के लक्षण देखने में आते हैं, तथापि, पुरुष के योग्य तत्त्वविज्ञान उनको हो गया है, इसलिए पुरुष के लक्षण (पूर्ण-पुरुष का तत्त्वज्ञान) का सद्भाव होने से उन स्त्रियों में भी पुरुषत्व का अभिज्ञ (विद्वान्) लोग प्रतिपादन करते हैं। जो लोग-शरीर में मूच्छ आदि पुरुष के लक्षणों से संयुक्त भी हैं, (परन्तु) पुरुष के योग्य, तत्त्वविज्ञान का सम्पादन नहीं करते हैं, वे स्त्रियों के योग्य मोह से संयुक्त होने से स्त्रियाँ ही हैं, यह अभिप्राय है। (अर्थात् लोकप्रसिद्ध पुरुष पुरुष नहीं है। और स्त्री स्त्री नहीं है, किन्तु तत्त्व-ज्ञान सम्पन्न ही पुरुष है, एवं सांसारिक मोह युक्त ही स्त्री है, ऐसा वेद ने कहा है, इस लिए तत्त्वज्ञान सम्पन्न स्त्रियाँ भी पुरुष हैं, और अविद्या-मोह युक्त पुरुष भी स्त्रियाँ हैं।) जैसे स्त्री एवं पुरुष का विभाग लोक से विपरीत–अलौकिक है, इस प्रकार अन्ध एवं अनन्ध (चक्षुष्मान्) का विभाग भी तद्वत् अलौकिक ही जानना चाहिए। अक्षण्वान् यानी चक्षु इन्द्रिय से युक्त, वह नील पीत आदि रूप को देखता हुआ भी, यदि विवेक से सद्वस्तुतत्त्व को नहीं जानता है, तो वह अन्ध ही है। इस प्रकार मांस दृष्टि से रहित अन्धा भी यदि स्वात्मतत्त्व का अभिज्ञ (ज्ञानवान्) है, तो वह चक्षुष्मान् ही है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार इस अलौकिक-स्त्री पुरुष एवं अन्ध-अनन्ध

नन्धविभागं निरूप्य पितृपुत्रविभागमप्यलौकिकं निरूपयति–कविरित्यादिना, लोके यत्र पिता तत्त्वं न जानाति, पुत्रस्तु वयसाऽल्पोऽपि कविः=वेदशास्त्रपारंगततत्त्वनिष्ठः तत्र स पुत्रः=पुरुणो बहुनोंऽहसस्त्राता, ईम्=इमं परमार्थं, आ=समन्ततः, चिकेत=जानाति, एवं ता=तानि दृश्यमानानि सर्वाणि भूवानि, विजानात्=स्वात्मतया विजानाति, स पुत्रः पितुः=स्वोत्पादकस्याऽपि ज्ञानरहितस्य, पिता सत्=पूज्यः पिता भवति, ज्ञानोपदेशेन पालयितुं समर्थत्वात्। किं बहुना तत्त्वविज्ञानमेव शाश्वतशान्तिसुखसम्पादकत्वेन प्रशस्ततमं, अज्ञानञ्च विक्षेपदुःखनिदानत्वेनाऽतिनिकृष्टमिति तात्पर्यार्थः।

अथवा–एकस्याऽद्वितीयस्य सत्यज्ञानानन्तानन्दादिलक्षणस्य परमब्रह्मणो लौकिकानि स्त्रीत्वपुंस्त्वादीन्यौपाधिककाल्पनिकरूपाणि सन्ति, वस्तुतस्तस्मिन् स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकं न विद्यत इति सूक्ष्मरहस्यं विज्ञानं यः कश्चिद्रासादयति, स एव महापुरुषः पूज्यश्च वेदितव्य इति निरूपयति–या इदानीं स्त्रियः सतीः=स्त्रीत्वं प्राप्ता आहुर्लौकिकाः, । ताँउ=तानेव, मे=मह्यं, पुंसः=पुरुषानाहुः=प्रतिपादयन्ति तत्त्वज्ञाः। कथमन्यस्याऽन्यभावः? उच्यते–एकस्यैव निरस्तसमस्तोपाधिकस्यात्मनस्तत्तद्देहावस्थानमा-

के विभाग का निरूपण कर अलौकिक-पिता-पुत्र के विभाग का भी निरूपण करते हैं–'कविः' इत्यादि से। जहाँ लोक में पिता तत्त्व को नहीं जानता है, उसका पुत्र अवस्था से छोटा भी है, तथापि यदि वह कवि है अर्थात् वेदशास्त्र का पारंगत, तत्त्वनिष्ठ है, वहाँ वह पुत्र, अर्थात् बहु पाप से रक्षा करने वाला, इस परमार्थ (ब्रह्मात्मतत्त्व) को समन्ततः यानी अच्छी रीति से जानता है, इस प्रकार दृश्यमान उन सर्वभूतों को आत्मरूप से जानता है, वह ज्ञान से रहित अपने शरीर का उत्पादक पिता का भी वह पूजनीय पिता होता है। (वह ज्ञानवान् पुत्र, पिता का भी पिता इस लिए है–कि) वह पिता का भी ज्ञान के उपदेश द्वारा (अज्ञानशत्रु से) पालन (रक्षण) करने के लिए समर्थ है। बहु (कहने) से क्या? तत्त्वविज्ञान ही शाश्वत शान्ति एवं सुख का सम्पादक होने से अति प्रशस्त है, और अज्ञान, विक्षेप एवं दुःख का कारण होने से अति निकृष्ट (तुच्छ) है, यही तात्पर्यरूप अर्थ है।

अथवा–सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द आदि रूप, एक, अद्वितीय, परब्रह्म के, लोकप्रसिद्ध-स्त्रीत्व-पुंस्त्वादि औपाधिक-काल्पनिक रूप हैं, वस्तुतः उस में स्त्रीत्व पुंस्त्वादि नहीं है, इस सूक्ष्म-रहस्य वाले विज्ञान को जो कोई प्राप्त करता है, वही महापुरुष एवं पूज्य है, ऐसा जानना चाहिए, ऐसा निरूपण करता है (भगवान् वेद)–इस समय जो (आत्मा) स्त्रीत्व को प्राप्त हुए हैं, उनको लौकिक मनुष्य, स्त्री नाम से कहते हैं, उन्हींको मेरे लिए अर्थात् मुझ को उपदेश देने के लिए पुरुष रूप से तत्त्वज्ञ प्रतिपादन करते हैं। अन्य का अन्यभाव अर्थात् स्त्री का पुरुषत्व, कैसे हो सकता है? यह कहते हैं–समस्त-शरीरादि-उपाधियों से रहित, एक ही आत्मा का उस उस स्त्री आदि के शरीरों में अवस्थिति मात्र से ही उस

त्रेण तत्तद्व्यपदेशोपपत्तेः। श्रूयते हि 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' (श्वे. ४।३)(अथर्व. १०।८।२७) इत्यादि। स्त्रीत्वं पुंस्त्वं चोभयमप्यात्मनि वस्तुतो नास्तीत्युक्तं भवति। श्रुत्यन्तरमपि तदभावं बोधयति–'नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥' (श्वे. ५।१०) इति। अमुमर्थमत्यन्तनिगूढं अक्षण्वान्=दर्शनवान् ज्ञानदृष्ट्युपेतो वेदार्थविज्ञानेनोपजनितप्रज्ञः कश्चित् महान्, पश्यत्=जानाति। अन्धः=अध्यानवान्–अश्रुतवेदोपनिषत्कः–ज्ञानदृष्टिरहितः–स्थूलदृष्टिरनात्मज्ञः, न विचेतत्= न विचेतयति न जानाति। किञ्च पुत्रो वयसा लघुः शिशुरपि यः कविः=क्रान्तप्रज्ञो ज्ञानी परिनिष्ठितविद्यः स्यात्। ईम्=इममर्थं स विचिकेत=जानाति, एवमुक्तलक्षणस्य परमात्मनः, तानि–स्त्रीत्वपुंस्त्वादीनि यो विजानात्=औपाधिकानि जानीयात्। स पितुः पिता सत्=पितृवत्पूज्यो भवतीत्यर्थः। उक्तमर्थमभिप्रेत्य ताण्डकब्राह्मणं-'शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्, स पितॄन्

उस (यह स्त्री है, यह पुरुष है) नाम से कथन उपपन्न होता है। निश्चय से यह (श्रुति में) सुनने में आता है–'(हे परमात्मन्!) तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है, अथवा तू ही कुमारी है।' इत्यादि। स्त्रीत्व, एवं पुंस्त्व, यह दोनों भी वस्तुतः आत्मा में नहीं है, यह कहा गया है। अन्य श्रुति भी (आत्मा में) स्त्रीत्वादि के अभाव का बोधन करती है–'वह अन्तरात्मा न स्त्री ही है, न पुरुष है, न तो वह नपुंसक भी है। किन्तु जिस जिस स्त्री आदि के शरीरों को ग्रहण करता है, उस उस के साथ तादात्म्यापन्न हो स्त्री आदि रूप से प्रतीत होता है।' इति। इस-अत्यन्त गुप्त-अर्थ को–ज्ञान दृष्टि से सयुक्त, आत्मा के यथार्थ दर्शन से सम्पन्न, वेदार्थ के यथार्थ विज्ञान से जिसे ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हुई है, वही कोई महान् पुरुष जानता है। जो अन्ध है, अर्थात् ज्ञान-दृष्टि रहित, एवं ध्यान से रहित है, जिसने वेदोपनिषत् का श्रवण नहीं किया है, जो अनात्मज्ञ (अनात्म शरीर को ही आत्म रूप से जानने वाला) एवं स्थूल दृष्टि वाला है, वह नहीं जानता है। और भी जो वय से छोटा बच्चा पुत्र है, वह भी (यदि) कवि यानी क्रान्तप्रज्ञ, (अतीन्द्रिय-सूक्ष्म आत्म-वस्तु का अनुभव करने वाली प्रज्ञा से सयुक्त) ज्ञानी परिपक्व आत्मविद्या से युक्त हो जाता है तो वह इस (पारमार्थिक) अर्थ को जानता है, पूर्वोक्त लक्षण वाले परमात्मा के स्त्रीत्व-पुंस्त्वादि रूपों को वह औपाधिक (शरीरादि उपाधियों के सम्बन्ध से होने वाले) जानता है। वह पिता का पिता है, अर्थात् पिता के समान पूज्य होता है। उस (तात्पर्यभूत) अर्थ को अभिप्राय में रख कर ताण्डक ब्राह्मण कहता है–'आङ्गिरस (अंगिरा ऋषि का पुत्र) बालक था, परन्तु वह मन्त्रद्रष्टा-ऋषियों के मध्यमें भी श्रेष्ठ मन्त्रद्रष्टा था, वह अपने पिता

पुत्रका इत्यामन्त्रयत' इत्युपक्रम्य 'ते देवानपृच्छन्त ते देवा अब्रुवन्नेष वाव पिता यो मन्त्रकृत्' इति । (तां॰ ब्रा॰ १३।३।२४) यदाऽत्र केवलस्य मन्त्रद्रष्टुः किल पितृत्वं समधिगम्यते, तदा तत्त्वविदः पितुः पितृत्वं स्यादित्यत्र किमाश्चर्यम् । इति । मनुनाऽप्युक्तम्—'ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता । बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥' (२।१५०) 'अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।' (२।१५३) 'योऽनूचानः स नो महान्' (२।१५४) इति ।

अथाऽधिदैवतं मे=मम सूर्यस्य या दीधितयः स्त्रियः=संस्त्यानवत्यो योपितः, सतीः=सत्यः । योषिद्वदुदकरूपगर्भधारणात् स्त्रीत्वमेषां रश्मीनां, आविष्टलिङ्गत्वात्स्त्रीलिङ्गता । यद्वा स्त्रियः=पालयित्र्यः कृत्स्नस्य जगतः, त्रायतेः पालनार्थस्याऽत्र स्त्रीशब्दो निरुच्यते । एता एव वर्षप्रदानाऽन्नपक्त्यादिनोपकारेणोपकुर्वन्त्यो जगत्त्रायन्ते । तान् उ=तान् रश्मीनेव, पुंसः—आहुः=प्रभूतवृष्ट्युदकसेक्तृन्

आदि को (अध्ययन के समय) हे पुत्रका ! ऐसे सम्बोधन से बुलाता था' ऐसा उपक्रम (प्रारम्भ) कर के (पुत्र के इस सम्बोधन से क्रुद्ध हुए) 'उन्हो ने देवों को पूछा, वे देव बोले, निश्चय से वही पिता है, जो मन्त्रकृत् यानी मन्त्रद्रष्टा विद्वान् है ।' (अर्थात् आप के पुत्र का यह सम्बोधन यथार्थ है, ऐसा देवताओं ने कहा)' इति । जब इस ताण्ड्यक ब्राह्मण ग्रन्थ में केवल मन्त्रद्रष्टा में भी पितृत्व जाना जाता है, तब तत्त्ववेत्ता में पिता का भी पितृत्व होवे तो इसमें क्या आश्चर्य है । इति । मनु ने भी कहा है—'जो ब्राह्म जन्म का (ब्रह्मस्वरूप के प्राकट्य का) कर्ता है, तथा स्वधर्म का उपदेष्टा है, वह बालक भी विप्र यानी तत्त्वदर्शी, धर्म से वृद्ध-पिता का भी पिता होता है ।' 'निश्चय से अज्ञानी का नाम बाल है, मन्त्रदाता-(विद्या देने वाला) पिता होता है ।' 'जो विद्वान् उपदेष्टा है, वह हम सबके मध्यमें महान्-उत्तम है ।' इति ।

इसके बाद अब इस मन्त्र का अधिदैवत व्याख्यान करते हैं । मुझ सूर्य की जो रश्मियाँ हैं, वे ही एक प्रकार की संस्त्यान (गर्भ) वाली स्त्रियाँ हैं । स्त्री की तरह जलरूप गर्भ के धारण करने से उन किरणों में स्त्रीत्व है; आविष्टलिंग होने से उन में स्त्रीलिङ्गत्व है, (अर्थात् रश्मि शब्द यद्यपि पुल्लिङ्ग है, तथापि उसमें गर्भधारणत्वरूप स्त्रीचिह्न (लिङ्ग) होने से वह स्त्रीलिङ्ग माना गया)। अथवा रश्मियाँ स्त्री हैं यानी समस्त जगत् का पालन करती हैं, यहाँ पालन अर्थ वाली त्रायति (त्रैङ्) धातु से स्त्री शब्द की निरुक्ति (व्युत्पत्ति) की गई है । ये ही रश्मियाँ वृष्टिप्रदान, अन्नपाक, आदि उपकार द्वारा उपकार करती हुई जगत् की रक्षा करती हैं । उन्ही रश्मियाँ को बहुत वृष्टि-जल का सेचन करने से पुरुष कहते हैं (जैसे वीर्य सेचन करने से पुरुष कहा जाता

पुरुषानाहुः। प्रतिनिर्देशापेक्षया पुल्लिङ्गता। द्वितीयः पादः पूर्ववत्। किञ्च यः कविः= क्रान्तदर्शी पुत्रः=स्त्रीपुरुषाणां रश्मीनां पुत्रस्थानीयः–पुरु जगतां त्राता वृष्ट्युदकलक्षणोऽस्ति, स ईं=म एव पुत्रः। यद्वा ईं=एनमर्थं–स्त्रीणां सतीनां पश्चात्पुरुषभावं, आचिकेत=सर्वतो विजानाति, पित्रोः स्थितिं पुत्र एव जानाति नान्यः। यः कश्चित्, ता= तानि विजानात्=स्त्रीपुरुषपुत्ररूपाणि जानीयात्। स पितुः पिता सत्=पिता वृष्ट्या जगत्पालको रश्मिसमूहः, तस्यापि पिता आदित्यः संभवति, आदित्य एव भवतीत्यर्थः।

है, तद्वत् रश्मियाँ भी जल सेचन करने से पुरुष कही जाती हैं) प्रतिनिर्देशकी अपेक्षा से पुल्लिङ्गत्व है। मन्त्र का द्वितीयपाद पूर्व व्याख्यान की तरह समझना चाहिए। और जो अतीतादिसकलअर्थ का द्रष्टा कवि है, वह वृष्टिजलरूप, स्त्री एवं पुरुष उभय रूप रश्मियों का पुत्र स्थानापन्न है, पुरु (बहु) जगत् का त्राता (रक्षक) होने से वही पुत्र कहा जाता है। यद्वा जो प्रथम स्त्रियाँ थी, पश्चात् वे पुरुषत्व को प्राप्त हुई, इस अर्थ को जो सर्व तरफ से जानता है, वह पुत्र है, क्योंकि–माता एवं पिता की स्थिति को पुत्र ही जानता है, अन्य नहीं। इस प्रकार जो कोई मनुष्य उन स्त्री, पुरुष एवं पुत्र के रूपों को जानता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है। पिता वृष्टि के द्वारा जगत्-का पालन करने वाला रश्मियों का समूह है, उसका पिता आदित्य है, वह ज्ञाता आदित्य ही हो जाता है।

(१०)

(चेतसो बहिर्मुखत्वपरित्यागान्तर्मुखत्वसम्पादनाभ्यां पूर्णात्मब्रह्मतत्त्वसाक्षात्कारो भवति नान्यथा)

(चित्त की बहिर्मुखता का परित्याग एवं अन्तर्मुखता का सम्पादन से पूर्ण आत्मा-ब्रह्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता)

विषयचिन्तानिचयचञ्चुरं चेतश्चञ्चलया बहिर्मुखवृत्त्या निरन्तरं दिशो दश विधावतीति सर्वजनप्रसिद्धम्। अत एव गीतास्वप्यभिहितं, कृष्णसखेनाऽर्जुनेन–'चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढमि'ति (६।३३)। विषयचिन्तानिरोधं विना न कदाऽपि शाम्यन्ति चेतसो बहिर्मुखवृत्तयः। तन्निरो-

विषयों की चिन्ताओं के समुदाय से अति चंचल हुआ चित्त, बहिर्मुख-चञ्चलवृत्ति द्वारा निरन्तर दशों दिशाओं में विशेषरूप से दौड़ता रहता है, यह सभी मनुष्यों को प्रसिद्ध है। इसलिए गीता में भी श्रीकृष्ण के सखा (मित्र) अर्जुन ने कहा है–'हे कृष्ण! यह मन, निश्चय से चञ्चल, प्रमाथी, बलवान् एवं दृढ है।' इति। विषयचिन्ता के निरोध विना चित्त की बहिर्मुख वृत्तियाँ

धस्तु योगिनो ब्रह्मवादिनश्चाऽभ्यासवैराग्याभ्यामेवेत्यावेदयन्ति । तथा च ताभ्यां निरोधे सत्येव शान्ते निर्मले चेतसि वेदोपदिष्टं ज्ञानं यथावदनुभवारूढं परिनिष्ठितञ्च भवतीत्याह—

कदापि शान्त नहीं होती हैं। विषयचिन्ता का निरोध तो योगी एवं ब्रह्मवादी (ज्ञानवान्)—अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही होता है, ऐसा बोधन करते हैं। तथा च अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्त की विषयचिन्ता का निरोध होने पर ही, शान्त, निर्मल चित्त में वेदों से उपदिष्ट ज्ञान, यथार्थरूप से अनुभव में आरूढ, एवं परिनिष्ठित (अचल ज्ञेयतत्त्व की निष्ठा से सम्पन्न) होता है, यही कहते हैं—

ॐ न विजानामि यदिवेदमस्मि, निण्यः संनद्धो मनसा चरामि ।
यदा माऽऽगन् प्रथमजा ऋतस्य, आदिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥

(ऋग्वे. मण्ड. १ सूक्त. १६४ ऋक् ३७) (अथर्व. ९।१०।१५) (नि. ७।३)

'यह जो समस्त विश्व है, वह (आत्मस्वरूप से) मैं ही हूँ' ऐसा (शास्त्र एवं गुरु का उपदेश) मैं विशेषरूप से नहीं जानता हूँ, (अर्थात् आत्मतत्त्व की पूर्णता के उपदेश का यथार्थ रूप से अनुभव मुझ को नहीं हुआ है) क्योंकि—मैं निण्य हूँ, अर्थात् मूढ हूँ (अनेक प्रकार के स्त्री आदि विषयों के मोह से ग्रसित हूँ) एवं सन्नद्ध हूँ-अर्थात् अविद्या, कामना एवं कर्म आदि की जाल में मैं बँधा हुआ हूँ, इसलिए मैं (बहिर्मुख-चञ्चल) मन से (विषयों की तरफ) दौड़ रहा हूँ। जब मुझे (परमेश्वर एवं सद्गुरु के अनुग्रह से एवं अभ्यास वैराग्यादि साधन के बल से) प्रथम होने वाली[1] अर्थात् निर्विकल्प-ऋतम्भरा-शुद्ध-अन्तर्मुख प्रज्ञा प्राप्त होगी, तब ही—उसकी प्राप्ति होने के *अनन्तर ही, इस वेदवाणी के भाग को (भजनीय—सेवनीय सुन्दर पूर्वोक्त उपदेश को)* मैं प्राप्त हो जाऊँगा, अर्थात् जब ऋतम्भरा स्थिर-प्रज्ञा प्राप्त होगी, तब वेद के उस उपदेश का मुझे यथार्थ-अनुभव हो जायगा।'

यदिव=यत् इव—यदपि, अप्यर्थक इवशब्दः, इदं=परिदृश्यमानं विश्वं अस्मि=कृत्स्नः प्रपञ्चोऽप्यहमेवास्मि, काल्पनिकं नामरूपांशं परित्यज्य सर्वत्राऽनुगतोऽस्मि—योऽयं सर्वत्र वर्तमानः सच्चिदानन्दाकारः सोऽहमस्मीत्यहं न विजानामि=नानुभवामि,

यत्—यानी जो, इव—यानी अपि, यहाँ इव-शब्द का अपि अर्थ है। जो भी यह परिदृश्यमान विश्व है,—समस्त प्रपञ्च है, वह मैं ही हूँ। काल्पनिक-नामरूप अंश का परित्याग कर सर्वत्र मैं अनुगत (व्यापक) हूँ, जो यह सर्वत्र सच्चिदानन्द-आकार वर्तमान है, वह मैं हूँ, ऐसा मैं नहीं जानता हूँ—ऐसा मैं अनुभव नहीं करता हूँ। नाम रूप को पृथक् कर मैं ने सच्चिदानन्दस्वरूप का

१ प्रथम निर्विकल्पज्ञान ही होता है, इसलिए निर्विकल्प-प्रज्ञा को प्रथमजा कहा है।

विविच्य नाऽज्ञासिषं, शास्त्रोपदिष्टमिदमहमस्मीति विज्ञानं मयि न जातमतोऽहमविवेकी अस्मीत्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदात्, कृत्स्नप्रपञ्चस्य ब्रह्मानन्यत्वेन ब्रह्मैकत्वाऽवगमे प्रपञ्चजातमपि स्वस्वरूपमेव भवति। 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ. ४।५।७) 'ब्रह्मैवेदं विश्वम्' (मुं. २।२।११) 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छां. ७।२५।२) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छां. ६।२।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानात् 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (ब्र. सू. २।१।१४) इत्याद्युपपत्तिभ्यश्च प्रपञ्चस्य ब्रह्माऽनन्यत्वं सिद्धम्। एवमृगन्तरेऽपि स्वात्मनोऽनन्यत्वं सर्वाभिन्नत्वं समाम्नातं भवति—'इयं मे नाभिरिह मे सधस्थं इमे मे देवा अयमस्मि सर्वः।' (ऋ. १०।६१।१९) इति। अयमर्थः—इयं=प्रत्यक्षतोऽनुभूयमाना मे चितिशक्तिः, नाभिः=सन्नाहनी—सर्वपदार्थस्य मध्ये स्फूर्त्या—प्रकाशेन वर्तमाना विश्वबन्धिकाऽस्ति, इह=अस्मिन् मे=मम शरीरे जगति वा अस्याः स्वात्मभूतायाः, सधस्थं=स्थानमस्ति[1] निवासाय। अत एव चिद्रूपस्य

ज्ञान प्राप्त नहीं किया। शास्त्र से उपदिष्ट 'यह मैं हूँ' ऐसा विज्ञान मुझे नहीं हुआ, इसलिए मैं अविवेकी हूँ, यह अर्थ है। कार्य एवं कारण का अभेद होने से समग्र प्रपञ्च भी ब्रह्म से अनन्य है, अन्य (पृथक्) नहीं है। इसलिए समग्र विश्व में ब्रह्मस्वरूप के एकत्व का ज्ञान होने पर यह प्रपञ्च समुदाय भी स्वस्वरूप ही हो जाता है। 'जो यह सर्व जगत् है, वह यह आत्मा है' 'ब्रह्म ही यह विश्व है' 'आत्मा ही यह विश्व है' 'उस (ब्रह्म) ने ईक्षा (इच्छा) किया, मैं (एक ही) बहुत होऊँ, अनेक रूपों से उत्पन्न हो जाऊँ' इत्यादि श्रुतियों से, तथा, एक के विज्ञान से सर्व के विज्ञान की प्रतिज्ञा होने से, 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं' इत्यादि श्रुतियों के आरम्भण-शब्द आदि से ब्रह्म (कारण) से जगत् (कार्य) का अनन्यत्व (ज्ञात होता) है' इत्यादि उपपत्तियाँ (ब्रह्मसूत्र में प्रदर्शित की) हैं, इनसे भी प्रपञ्च का ब्रह्म से अनन्यत्व सिद्ध होता है। इस प्रकार अन्य ऋचा में भी स्वात्मा का सर्वाभिन्नस्वरूप-अनन्यत्व कहा गया है—'यह मेरी चैतन्यशक्ति, नाभि है अर्थात् समस्त विश्व को अपने स्वरूप में बाँध कर सर्वत्र वर्तमान है, इस शरीर में या इस जगत् में उसका स्थान है-निवास है। ये देव भी मेरे आत्मस्वरूप हैं, यह सर्व विश्व ही मैं हूँ।' इति। उसका यह अर्थ है—इयं यानी जिसका प्रत्यक्ष से अनुभव होना है, वह मेरी चैतन्यशक्ति, नाभि है, अर्थात् सभी पदार्थ के मध्य में स्फुरण से—प्रकाश से वर्तमान है, इसलिए उसने विश्व को अपने में बाँध रक्खा है, अपने आत्मस्वरूप इस चितिशक्ति का इस मेरे शरीर में या समस्त जगत् में निवास के लिए स्थान है। इसलिए मुझ चिद्रूप के ये

[1] सर्वं वा इदमिन्द्राय तत्स्थानमास यदिदं किंच' (शत. ब्रा. ३।९।४।३४)
जो कुछ है, वह सब, इन्द्र-परमात्मा के निवास के लिए स्थानरूप हुआ है।

मे=मम, इमे देवाः इन्द्रादय स्वात्मरूपाः सन्ति, अत एवायं सर्वः=विश्वप्रपञ्चः, अहमेवास्मि, न मत्तो व्यतिरिक्तमस्ति किञ्चिदपि । इति । यदा इवशब्द उपमार्थस्तदाऽयमर्थः–यदिव=यद्वत् मे परोक्षं ज्ञानं सर्वैकात्म्यरूपं शास्त्रजनितमस्ति, तदिव=तद्वदेव, इदं सर्वमहमस्मीति ज्ञानमपि मे परोक्षं जातं, परन्तु तदेतद्दार्ष्टान्तिकभूतमानुभविकं सार्वात्म्यज्ञानं न विजानामि=न प्राप्तोऽस्मि, शास्त्रजनितं परोक्षं सार्वात्म्यज्ञानं जातं न स्वानुभविकमपरोक्षमित्यर्थः । तत्र कारणमाह–यतोऽहं निण्यः=अन्तर्हितनामैतत् अन्तर्हितः–मूढचित्तः, प्रत्यगात्मप्रवणताऽभावेन चेतसो मौढ्यम्, अत एव परिच्छिन्नो दीनो हीनश्चाहं संवृत्तः । तत्रोपपत्तिमाह–सन्नद्धः=अविद्याकामकर्मभिः सम्यग्बद्धो–परिवेष्टितः, अत एव मनसा=विषयचिन्तानिचयविक्षिप्तेन बहिर्मुखेन चेतसा युक्तः सञ्चरामि=संसारे चंभ्रमीमि, अथवा–मनसा=अनन्तानामेषां विषयाणामनुभवार्थं प्रयतमानेन तत्सुखसौन्दर्यभ्रान्तियुक्तेन व्याकुलेन चेतसा, सन्नद्धः=इन्द्रियपरिपन्थिपरवश एव सन् शब्दाद्यनन्तविषयविषममार्गे संचरामि, तथापि समग्रस्यायुषो व्ययीकरणेऽपि चित्तवृत्तयो न तैस्तृप्यन्ति, तत्सम्पादनाद्यर्थं दुःसहकष्टसहस्रसमुद्वहनेऽपि नाऽलम्भावं भजन्ते ।

इन्द्रादि देव स्वात्मरूप हैं । इसलिए यह विश्वप्रपञ्च मैं ही हूँ, मुझ से व्यतिरिक्त कुछ भी नहीं है । इति । (मूलमन्त्र में) जब इव–शब्द का उपमा अर्थ है, तब यह अर्थ है । यदिव अर्थात् यद्वत् (जिस प्रकार) मुझ को शास्त्र से जनित, सर्व के साथ एकात्मभावरूप परोक्षज्ञान है, तद्वत् (तिस प्रकार) यह सर्व मैं ही हूँ, ऐसा ज्ञान भी मुझे परोक्ष ही हुआ है, परन्तु वह इस सिद्धान्तरूप अनुभववेद्य, सार्वात्म्यज्ञान को मैं प्राप्त नहीं हूँ, अर्थात् शास्त्रजनित सार्वात्म्यज्ञान परोक्ष हुआ है, अनुभव से जानने में आने वाला अपरोक्षज्ञान मुझ को नहीं हुआ है । उसमें कारण कहते हैं–जिस कारण से मैं निण्य हूँ, निण्य का अन्तर्हित यह नाम है । अन्तर्हित अर्थात् मैं मूढचित्त हूँ, प्रत्यगात्मा में प्रवणता (अभिमुखता) के अभाव से चित्त की मूढता प्राप्त है, इसलिए मैं परिच्छिन्न (साढे तीन हाथ का देहरूप) दीन एवं हीन (सुख-निर्भयता आदि से वञ्चित) हो गया हूँ । उसमें युक्ति कहते हैं–मैं सन्नद्ध हूँ, अर्थात् अविद्या, काम एवं कर्म से अच्छी प्रकार बँधा हूँ, चारों तरफ लिपटा हुआ हूँ । इसलिए मैं मन से अर्थात् विषयों की चिन्ताओं के समूह से विक्षिप्त रहने वाले बहिर्मुख चित्त से युक्त हुआ इस संसार में अतिशय से भटक रहा हूँ । अथवा, अनन्त-इन विषयों के अनुभव के लिए प्रयत्न करने वाले, उन विषयों में सुख एवं सौन्दर्य की भ्रान्ति से युक्त, व्याकुल चित्त से सनद्ध अर्थात् इन्द्रियरूपी शत्रुओं के वशीभूत हुआ, शब्दादि अनन्त विषयों के विषम मार्ग में मैं संचरण (भ्रमण) कर रहा हूँ । तथापि, समग्र आयु की इतिश्री हो जाने पर भी उन विषयों से चित्त की वृत्तियाँ तृप्त नहीं होती हैं । उन विषयों के सम्पादन के लिए दुःसह सहस्र (असंख्य) कष्टों को उठाने पर भी उनसे अलं-

प्रत्युत पुनः पुनस्तज्जातीयेषु तृष्णावृत्तयो विवर्धन्ते, तत्तादृशविषमविषयमार्गे सततं भ्रमणशीलाभिस्ताभिः कुतः सन्तोषः समुदियात्? तदसत्त्वे कुतस्तरां शान्तिः? तदभावे च कुतस्तमां सुखप्राप्तिप्रत्याशा? अत एवाहं संसारेऽस्मिन् केवलं विषयेभ्यो दुःखमेवानुभवामि, विषयाणामुपभोगेनापि हविषा कृष्णवर्त्मेवानुपभोगेनापि च यदा कदाचित् सुखसम्भावनाशया तृष्णाऽनलो न शाम्यति, तृष्णैव दुःखमिति प्रसिद्धम्। तस्याः वृद्धौ सत्यां काम्याऽलाभे दुःखमवश्यं भावि, लाभेऽपि कुतश्चित् भोगसंकोचे दुःखं, संकोचके द्वेषः, ततस्तृष्णाद्वेषाभ्यां पापोपचयाद् दुःखं, असंकोचे शक्तिह्रासो व्याधिः पापश्च, ततोऽपि दुःखमेव, एवं विषयभोगस्य परिणामदुःखत्वम्, तथा भोगकालेऽपि विषयनाशभीत्या दुःखमनुभूयते, नाशप्रयोजकविषयकद्वेषप्रयुक्तं सन्तापदुःखमपि, कदाचिदपक्षये वा नाशे वाऽवर्णनीयमेव दुःखं, तथा विषयभोगसुखनाशेऽपि

मात्र (वशपना) को प्राप्त नहीं होती हैं। प्रत्युत बार बार उन अनुभूत विषयों के सजातीय विषयों में तृष्णा की वृत्तियाँ बढ़ती ही जाती हैं। इस प्रकार के उस विषयरूपी विषम मार्ग में निरन्तर भ्रमण करने की स्वभाव वाली वृत्तियों से संतोष का कैसे समुदय हो? संतोष के न होने पर कैसे शान्ति की प्राप्ति हो?, एवं शान्ति के अभाव में सुखप्राप्ति की प्रत्याशा कैसे हो सकती है? नहीं हो सकती। इसलिए मैं इस संसार में विषयों से केवल दुःख का ही अनुभव करता हूँ। घृतादि हवि से जैसे कृष्णवर्त्मा-अग्नि शान्त नहीं होती, तैसे विषयों के उपभोग से भी—एवं उनका उपभोग प्राप्त न होने पर भी जब कभी इनसे सुखसंभावना की आशा से—तृष्णारूपी अनल (अग्नि) शान्त नहीं होता। तृष्णा ही दुःख है, यह प्रसिद्ध है। तृष्णा की वृद्धि होने पर, काम्य वस्तु का लाभ न होने से अवश्य ही दुःख होता है। काम्य वस्तु का लाभ होने पर भी किसी रोगादि निमित्त से भोग के संकोच होने में भी दुःख होता है, संकोच के निमित्तभूत पदार्थ में द्वेष होता है, उस तृष्णा एवं द्वेष से पाप की वृद्धि होने पर दुःख होता है, भोग का संकोच न होने में अर्थात् उच्छृङ्खलवृत्ति से भोग के भोगने पर शक्ति की हानि, व्याधि एवं पाप की प्राप्ति होती है, उनसे भी दुःख ही होता है, इस प्रकार विषयभोग की यह परिणाम में दुःखता है। तथा भोगसमय में विषयनाश के भय से भी दुःखका ही अनुभव होता है, विषयनाश के प्रयोजक-पदार्थ में द्वेष प्रयुक्त, सन्तापरूपी दुःख भी होता है। कदाचित् विषय का अपक्षय होने पर, या नाश होने पर तो अवर्णनीय ही दुःख होता है। तथा विषयभोग-सुख का नाश होने पर भी उस सुख के संस्कार अवश्य रहते हैं, उन संस्कारों से भोग-

तत्संस्कारा अवतिष्ठन्त एव, तेभ्यः स्मृतयः सम्भवन्ति। ताभिः रागोऽभिवर्धते, तस्मिन् सति पुनरपि धनकनककलत्रपुत्रक्षेत्रवस्त्रवाहनगृहारामादयः खलु सुखसाधनानीति प्ररूढाभिमानः प्रादुर्भवति, तस्मिन् सति तत्सम्पादनाय प्रयत्यते, तत्सम्पादनञ्च विना दुःखसहस्राऽनुभूतिं कथं घटेत ? सम्पादने च यावद्दुःखं तदपेक्षया द्विगुणं तद्रक्षणे स्यात्, रक्षितानां सम्वर्धने विनियोजने वा जायमानं दुःखन्तु ततोऽप्यधिकतरमेव । तदेवमेतादृग्दुःखसहस्रानुभवानां मध्ये यः खलु कश्चिद्विषयेन्द्रियसंयोगजः क्षणिकानन्दलेशो विद्युदुद्योत इव, क्षारसमुद्रे क्षिप्तस्य क्षीरबिन्दोर्माधुर्यमिव, सद्यो विलयमुपयाति । इमानि दुःखानि विवेकिनो विचारशीलस्योद्वेजकानि, न तु कठिनचित्तानां विषयलम्पटानां, यथा मृदूर्णातन्तुः अक्षिपात्रमेवोद्वेजयति नान्यमवयवम् । अतोऽहं दुःखमेव चरामि=जानामि, गत्यर्थस्याऽपि चरधातोर्ज्ञानार्थत्वात्, आत्मनः सार्वात्म्यं न जानामि, इत्यज्ञस्य मुमुक्षोः परिदेवनेयं मितभाषिणा महता

सुख की स्मृतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं, उन स्मृतियों से विषयभोग में राग की अभिवृद्धि होती है, राग की वृद्धि होने पर फिर भी धन, सुवर्ण, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, वस्त्र, वाहन (गाडी मोटर आदि) गृह, आराम (बगीचा) आदि पदार्थ निश्चय से सुख के साधन हैं, ऐसा अतिदृढ अभिमान (मिथ्याभ्रान्ति) प्रादुर्भूत होता है, उसके होने पर उन पदार्थों के सम्पादन के लिए प्रयत्न किया जाता है, उन पदार्थों का सम्पादन, हजारों दुःखो के अनुभव के बिना कैसे हो सकता है ? अर्थात् अनन्त दुःखों के उठाने पर उन पदार्थों का लाभ होता है, उनके सम्पादन में जितना दुःख है, उसकी अपेक्षा से उनके रक्षण में दुगुणा दुःख होता है । रक्षित-पदार्थों के बढाने में एवं उनकी व्यवस्था करने में उत्पन्न होने वाला दुःख तो उससे भी अति-अधिक ही होता है । इस प्रकार ऐसे हजारो-दु.खो के अनुभव के मध्य में जो कुछ विषय-इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न क्षणिक आनन्द का लेश, बिजली के चमत्कार की भाँति, या नमक के समुद्र मे डाले हुए दूध के बिन्दु की मधुरता की तरह, शीघ्र ही विलय को प्राप्त हो जाता है। विषयों के ये दुःख, विवेकी-विचारशील मनुष्य को ही उद्विग्न करते है, कठोर चित्त वाले, विषय-लम्पटो को उद्विग्न नहीं करते, जैसे कोमल, ऊर्णा का तन्तु (मकडी के जाल का तन्तु) नेत्ररूपी पात्र को ही उद्विग्न करता है, अन्य हस्तपादादि अवयव को उद्विग्न नहीं करता । इसलिए मैं विषयो के सम्बन्ध से उत्पन्न दुःख को ही जानता हूँ, गति अर्थ वाला चर धातु का ज्ञान अर्थ भी होता है, आत्मा के सर्वात्मपना को मैं नहीं जानता हूँ, ऐसी अज्ञानी मुमुक्षु की यह परिदेवना (शोकयुक्त विलाप) मितभाषी महान्-भगवान् वेद सूचित करता है। निरुक्त-ग्रन्थ का

वेदेन सूच्यते। निरुक्तकारो महर्षिर्यास्कोऽपि इमं मन्त्रं परिदेवनार्थत्वेनोदाजहार, 'अथापि परिदेवना कस्माच्चिद्भावात्' 'न विजानामि यदिवेदमसीति' (नि. ७।३।) इति। विषयेन्द्रियपरवशस्य बहिर्मुखचेतसः स्वस्वरूपापरिज्ञानजनितं दुःखमन्यत्राऽप्याम्नायते—'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' (क. उ. २।४।१) इति। तर्हि कदैतस्य संसारदुःखस्यान्तः सर्वात्मस्वरूपस्याऽनुभवश्च सेत्स्यतीत्याह—यदा, मा=मां प्रति, आगन्=आगमिष्यति, किं तदिति? उच्यते—ऋतस्य=परमार्थसत्यस्य परस्य ब्रह्मणः, प्रथमजाः=प्रथमोत्पन्नः—मुख्यतयाऽभिव्यक्तः—चेतसः प्रत्यक्प्रवणताजनितोऽनुभावः, स यदा मां प्राप्स्यति, आदित्=अनन्तरमेव अव्यवधानेन, अस्याः—वाचः=सर्वैकात्म्यप्रतिपादिकाया उपनिषद्वाचः, यदिवेदमसीत्युक्ताया वा, भागं=भजनीयं शब्दब्रह्मणा व्याप्तव्यं तत्त्वदर्शिभिः सेवनीयं, परं विशुद्धं ब्रह्मपदम्, अश्नुवे=प्राप्स्यामि, चित्तस्य दुःखनिदानां बहिर्मुखतां परित्यज्य दुःसम्पाद्याऽन्तर्मुखतैव यदा लब्धा स्यात्, तदानीमेव स्वस्वरूपं द्रष्टुं सुशकं भवति, पश्चाद्विलम्बाभावात्, यथा गिरिशिखराद्विलम्बेन पृथक्भूतः पाषाणखण्डः पश्चात् पतन्नविलम्बेन

कर्ता, महर्षि यास्क ने भी, इस मन्त्र का परिदेवनारूपी अर्थ के लिए उदाहरण दिया है।—किसी निमित्त से परिदेवना होती है, 'न विजानामि यदिवेदमस्मि' इस मन्त्र में परिदेवना का एवं उसके निमित्त का वर्णन है। इति। विषयेन्द्रिय के आधीन, बहिर्मुखचित्त वाले मनुष्य के स्वस्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न होने वाले दुःख का अन्य मन्त्र में वर्णन किया है—'खानि अर्थात् खं—आकाश, तदुपलक्षित श्रोत्रादि-इन्द्रियों को बहिर्मुख बना कर स्वयंभू-आत्मा ने अपने आप से अपने आत्मा की हत्या किया। इसलिए सभी प्राणी बाहर के शब्दादि विषयों को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता है।' इति। तब इस संसारदुःख का कब अन्त, एवं सर्वात्मस्वरूप का अनुभव भी कब, सिद्ध होगा? ऐसे प्रश्न का उत्तर कहते हैं—जब मेरे को प्राप्त होगा? क्या वह? यह कहते हैं—परमार्थ सत्य, परब्रह्म का मुख्यरूप से अभिव्यक्त (प्रकट) होने वाला, चित्त की अन्तरात्मा की अभिमुखता से उत्पन्न-अनुभाव (अखण्ड ब्रह्माकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित-चिद्विज्ञान) जब मुझ को प्राप्त होगा, उसके अनन्तर ही, व्यवधान (प्रतिरोध) से रहित, सर्वैकात्म्य का प्रतिपादन करने वाली-उपनिषद्वाणी का, या 'यदिवेदमस्मि' इस मन्त्र से प्रतिपादित वाणी का, शब्दब्रह्म से व्याप्त करने योग्य, तत्त्वदर्शियों से सेवन करने योग्य, भजनीय पर विशुद्ध, ब्रह्मपद को मैं प्राप्त हो जाऊँगा। दुःखों का कारणरूप, चित्त की बहिर्मुखता का परित्याग कर, दुःसम्पाद्य (बड़ी कठिनता से सम्पादन करने योग्य) अन्तर्मुखता जब प्राप्त होती है, उस समय ही स्वस्वरूप का दर्शन करने के लिए वह समर्थ होता है। पश्चात् विलम्ब नहीं होता। जैसे पर्वत के शिखर से विलम्ब से पृथक् होता हुआ, पाषाण का टुकड़ा

पतति। तद्वत् चेतसो बहिर्मुखतायाः सदुपायानुष्ठानैर्विलम्बेन परित्यागे सति दुर्लभस्यान्तःप्रत्यङ्मुखत्वस्य च लाभे सति अविलम्बेन स्वस्वरूपसाक्षात्कारो भवतीति यावत्। विषयाणां क्षणिकत्वपरिणामविरसत्वादिदोषानुसन्धानजन्यविवेकवह्निना यदा विषयसुखाशाङ्कुराणां भस्मीकरणादात्यन्तिकी चित्तशान्तिः प्रत्यक्प्रवणता च सिद्ध्यति। तदैव वास्तविकस्वस्वरूपानुभवजन्यमखण्डमेकरसं सुखं समुदेति। अपि च सुखं नाम यदि विषयजन्यमेव स्यात्, कथं तर्हि निर्विषयाणां ब्रह्मविदामपि तदुपलभ्येत? ब्रह्मविदो हि सर्वतो निस्पृहाः स्वत एव शान्तचित्ताः अन्तर्मुखाश्च सन्तो निरतिशयानन्दभाज इति तदीयमुखप्रसादादिलिङ्गैस्तद्वचनैश्चावगम्यते, ततश्च विषयाणामभावेऽपि चित्तोपशान्तिमतां सुखातिशयदर्शनात्, विषयसान्निध्यवतामप्यशान्तचित्तानां बहिर्मुखानां सुखलेशाभावस्य प्रत्युत दुःखातिशयस्यैव दर्शनाच्च चित्तोपशान्तिरेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां सुखसाधनमिति निर्णयो निष्प्रत्यूह एवेति भावः। अन्यत्रापि श्रूयते—'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' (क. २।४।१) इति।

पश्चात् वहाँ से गिरता हुआ, विलम्ब न करके शीघ्र ही गिर जाता है। तद्वत् अच्छे उपायों से चित्त की बहिर्मुखता का विलम्ब से परित्याग होने पर, एवं अन्तरात्मा की अभिमुखता जो बड़ी दुर्लभ है-उसका लाभ होने पर, अविलम्ब से ही स्वस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है, यह तात्पर्य है। जब विषयों में क्षणिकत्व, परिणामविरसत्व, आदि दोषों के अनुसंधान से जन्य विवेकरूपी अग्नि से विषय-सुख आशा के अङ्कुरों का भस्मीकरण होता है, तब चित्त की आत्यन्तिक शान्ति, एवं प्रत्यगात्मा में अन्तर्मुखता की सिद्धि होती है। तभी ही वास्तविक-स्वस्वरूप के अनुभव से जन्य, अखण्ड, एकरस, सुख का समुदय होता है। और यदि सुख, विषय-जन्य ही हो, तब विषयरहित-ब्रह्मवेत्ताओं को भी वह सुख कैसे उपलब्ध हो सकता है? निश्चय से ही ब्रह्मवेत्ता—सर्व तरफ से निस्पृह, स्वतः ही शान्तचित्त वाले, अन्तर्मुख हुए निरतिशय आनन्द का सेवन (अनुभव) करते हैं, यह उनके मुख की प्रसन्नता आदि चिह्नों से एवं उनके वचनों से जाना जाता है, इस कारण से विषयों के अभाव में भी चित्त की उपशान्ति वाले-महात्माओं को सुख का अतिशय देखने में आता है, और विषयों की सन्निधि में रहने वाले-अशान्त-चित्त-बहिर्मुख मनुष्यों को सुख के लेश का भी अभाव, प्रत्युत अतिशय दुःख ही देखने में आता है, इसलिए अन्वय एवं व्यतिरेक से[1] चित्त की उपशान्ति ही सुख का साधन है, यह निर्णय, विवाद आदि विघ्नरहित-यथार्थ है, यह भाव है। अन्य मन्त्र में भी सुना जाता है—'अमृतत्व—कल्याणपद की तीव्र–इच्छा रखता हुआ, जिसने अपनी इन्द्रियों को विषयों से

१ तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः, अर्थात् प्रकृत में चित्त-शान्ति के होने पर सुख का अनुभव होता है, एवं चित्तशान्ति के न होने पर सुख का अनुभव नहीं होता है।

तस्मात्सर्वात्मपूर्णानन्दघनस्वस्वरूपं साक्षात्कर्तुकामेन मुमुक्षुणा चेतसोऽन्तर्मुखतैव महता प्रयत्नेन सम्पादनीयेति तात्पर्यम् ।

अथवा जीवात्मनो द्वैताऽद्वैतविषये संशयं, तन्निवारिकायाः ऋतम्भराप्रज्ञायाः कृते विलापश्चाह–न एतदहं विस्पष्टं जानामि, यदि वा इदमस्मि कारणं परं ब्रह्माख्यमद्वैतं, अथवा इदं तत्कार्यं शरीरादिलक्षणं द्वैतमस्मीति । अनयोः कार्यकारणयोर्द्वैताद्वैतयोरन्तरा वर्तमानो निण्यः=अन्तर्हितोऽविद्यया, सन्नद्धश्चानेकैः सन्देहग्रन्थिभिः, मनसा उभे अपि द्वैताद्वैते चरामि=गच्छामि–प्रत्यक्षतो द्वैतं, आगमतश्चाद्वैतं जानामीत्यर्थः । एवं सति यदा, मा आगन्=मामागच्छेत् प्रथमजा–निर्विकल्पा–प्रशान्ता–बुद्धिः । सा हि सर्वेन्द्रियविकल्पेभ्यः प्रथमं जायते । सा च ऋतस्य=सत्यस्य भगवतः स्वभूता प्रकृष्टा शुद्धा प्रहीणसर्वसंशया–अन्तर्मुखा बुद्धिः । तया मयि तदनुग्रहात्प्राप्तयाऽहमसंशयं परिज्ञातुं प्रभवामि–नाहं प्रत्यक्षादिबोधितद्वैतसतत्त्वः, किन्त्वागमप्रतिपादिताद्वैतसतत्त्व एवेति । तदा खलु वाचः शास्त्रलक्षणाया भागं=भजनीयं–प्रतिपाद्यं परममद्वैतं पदमहमश्नुयाम् । यदीयं नाम्नैवं प्रथमजा ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्ता भवेत्तदैवं साधु स्वाभीप्सितं सिद्धं स्यादिति, तदर्थं जी-

रोक लिया है, ऐसा कोई धीर–निर्विकार–पुरुष ही प्रत्यगात्मा को देख पाता है ।' इति । इसलिए, सर्वात्मा, पूर्णानन्दघन जो अपना स्वस्वरूप है, उसके साक्षात् करने की कामना वाले मुमुक्षु को चित्त की अन्तर्मुखता ही महान् प्रयास से भी सम्पादन करनी चाहिए, यह तात्पर्य है ।

अथवा–जीवात्मा का द्वैत एवं अद्वैत के विषय में संशय का, और संशय के निवारण करने वाली ऋतम्भरी प्रज्ञा के लिए विलाप का इस मन्त्र से प्रतिपादन करते हैं–यह मैं विस्पष्ट रूप से नहीं जानता हूँ,–यदि मैं यह कारणरूप परब्रह्म नाम वाला अद्वैत हूँ, या यह उसका कार्य शरीरादि रूप द्वैत हूँ । इस कार्य एवं कारणरूप द्वैत एवं अद्वैत के मध्य में वर्तमान हूँ, और अविद्या से मैं मूढचित्त वाला हो गया हूँ, और अनेक प्रकार की संदेह की ग्रन्थियोंसे संबद्ध हो गया हूँ, इस लिए मन से मैं द्वैत एवं अद्वैत दोनों को जानता हूँ, प्रत्यक्ष से द्वैतप्रपञ्च को जानता हूँ, और आगम से अद्वैत-तत्त्व-को जानता हूँ । ऐसा होने पर भी जब मुझको प्रथमजा यानी निर्विकल्प-प्रशान्त-बुद्धि प्राप्त होगी, वह बुद्धि इन्द्रियों के सभी विकल्पोंसे प्रथम उत्पन्न होती है–वह सत्य भगवान् की अपनी, सर्वोत्तम, शुद्ध, सर्वसंशय से रहित, अन्तर्मुख बुद्धि है, भगवान् के अनुग्रह से मुझ में प्राप्त उस-बुद्धिसे मैं संशयरहित होकर उस तत्त्वको जानने के लिए समर्थ हो जाता हूँ कि–मैं प्रत्यक्षादि प्रमाणो से बोधित-द्वैतस्वरूप नहीं हूँ, किन्तु आगम से प्रतिपादित-अद्वैत-स्वरूप ही हूँ ।–तब निश्चय से ही शास्त्ररूपा वाणी का भजनीय-प्रतिपाद्य परम अद्वैत पद को मैं प्राप्त हो जाऊँगा । यदि यह प्रसिद्ध प्रथमजा ऋतम्भरा प्रज्ञा मुझ को प्राप्त हो, तब तो इस प्रकार अच्छा अपना अभीप्सित सिद्ध हो जाय, इति । इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के लिए जीव का

घस्य विलापः परिदेवनेत्युच्यते । विलापगम्या साधकैः प्रार्थनीया समाधिलक्षणा सा च प्रज्ञा धारणाध्यानाद्यभ्यासवीर्येण सम्पादिते समाहितेऽशुद्ध्यावरणमलापेते प्रसन्ने चेतसि परमेशानानुग्रहवशात्कस्यचिन्महापुरुषस्यैव प्रादुर्भवति । तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा, सत्यमेव बिभर्ति, न तत्र संशयस्य विपर्य्यासस्य वा गन्धोऽप्यस्तीति । तदुक्तं योगशास्त्रे 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' (यो. सू. १।४८) इति ।

विलाप ही परिदेवना कहा जाता है । विलाप से गम्य, साधकों से प्रार्थनीय, वह समाधिरूपा प्रज्ञा—धारणा, ध्यान आदि के अभ्यास के बल से समाहित (एकाग्र) सम्पादन किये हुए, अशुद्धि आदि आवरणमल से रहित प्रसन्न-चित्त में परमेश्वर के अनुग्रह के वश से किसी एक महापुरुष को ही प्रादुर्भूत होती है । उस प्रज्ञा का ऋतम्भरा ऐसा नाम होता है । वह नाम अन्वर्थ है अर्थात् अर्थ के अनुसारी है, वह प्रज्ञा अपनेमें सत्य को ही धारण करती है, उसमें संशय, एवं विपरीत भावना का लेश भी नहीं है । यह योगशास्त्र में कहा है—'समाहितचित्त में ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है ।' इति ।

(११)

(परमार्थात्मज्ञानस्य दुर्लभतमत्वप्रतिपादनम्)

(परमार्थ—आत्मज्ञान के अति दुर्लभपना का प्रतिपादन)

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (ऐ. उ. १।१।१) इत्यैतरेयश्रुत्या एक आत्मैव पारमार्थिक आसीत्, नान्यत्किञ्चिदपि पारमार्थिकं द्वितीयं वस्त्वासीत्, इति । 'तम आसीदि'ति (ऋ. सं. ८।७।१७।३) श्रुत्या चात्मविषयकमज्ञानं जगद्रूपकार्यस्य परिणाम्युपादानकारणमप्यासीदिति च निश्चीयते । यथा पटं चिकीर्षुस्तन्तुवायः पटोपादानभूतान् तन्तून् पश्यति, तथाऽयमात्मा पुनःसृष्ट्यारम्भक्षणे जगदुपादानभूतमनाद्यज्ञानं तत्तज्जीवकृतकर्मबीजसहितं समष्टिकारणदेहात्मकं पश्यति, ततश्च सद्य एवान्तश्चित्प्रतिबिम्बितजीवसहितानि व्यष्टिभू-

'सृष्टि के आदि में यह सब कुछ एक आत्मा ही था' इस ऐतरेय श्रुति से, प्रथम एक आत्मा ही पारमार्थिक था, उससे अन्य कुछ भी पारमार्थिक द्वितीय वस्तु नहीं थी । इति । 'तम—अज्ञानरूप अन्धकार था' इति श्रुति से आत्मा का अज्ञान, जो जगत् रूप कार्य का परिणामी उपादान कारण है—वह भी था, ऐसा निश्चय होता है । जैसे पट बनाने की इच्छा करने वाला जुलाहा, पट के उपादान रूप तन्तुओं को देखता है, वैसे यह आत्मा, पुनः—सृष्टि के आरम्भ के समय जगत् परिणाम का उपादान रूप, जीवकृत-उस उस कर्म-बीज सहित-समष्टि कारण देह रूप-अनादि-अज्ञान को देखता है, उस मूलभूत अज्ञान से शीघ्र ही भीतर चैतन्य का प्रतिबिम्ब रूप—जीवों के सहित, व्यष्टिरूप

तान्यज्ञानानि, क्रमेण तत्परिणामविशेषभूता लिङ्गदेहाश्च प्रादुर्भवन्ति। ततः स्थूलदेहा भवन्ति, तेषु कारणसूक्ष्मस्थूलदेहेष्वात्मनस्तादात्म्याध्यासादहंममते समुदितः। एवमविद्याकामकर्मभिः सम्बद्धा जीवाः पूर्वमुपात्तमुपात्तं स्थूलदेहं परित्यजन्तो नवीनं नवीनञ्च देहं परिगृह्णन्त ऊर्ध्वाऽधोमध्यलोकेषु सततं परिभ्रमन्ति। तत्र देहेन्द्रियाद्यनात्मभावतादात्म्याध्यासवत्स्वसंख्येषु हि जीवसंघेषु मनुष्यातिरिक्तानामात्मज्ञाने श्रेयसि प्रवृत्तेरेवाऽभावान्मनुष्यत्वमेव प्रथमं तावद्दुर्लभं वर्ण्यते। सत्यपि मनुष्यत्वे पापप्राबल्यान्न सर्वेऽपि ज्ञानाय प्रवर्तन्ते, किन्तु सहस्रेषु कश्चिदेव महासुकृती, अतस्तत्त्वज्ञानसाधनाऽनुष्ठानं दुर्लभतरम्। तत्रापि विघ्नप्राचुर्यात् न सर्वेषां साधनानुष्ठायिनां ज्ञानं सिद्ध्यत्यपितु कस्यचिन्महाभागस्य महापुरुषार्थिन एव, अतो ज्ञानं दुर्लभतमम्। तेनैव हि शरीरत्रितयान्मुञ्जादिषीकेवात्मनः समुद्धरणं सिद्ध्यति नाऽन्यथेति गम्यार्थं सूचयन् संक्षेपेण तन्निरूपयति—

अज्ञान, तथा उन अज्ञानों के परिणाम विशेष रूप सूक्ष्मशरीर, प्रादुर्भूत हो जाते हैं। उसके अनन्तर स्थूल शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। उन कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल शरीरों में आत्मा के तादात्म्य-अध्यास से अहंता एवं ममता का समुदय होता है। इस प्रकार अविद्या, काम एवं कर्म से सम्बद्ध, जीव, प्रथम ग्रहण किया हुआ-ग्रहण किया हुआ स्थूलदेह का परित्याग करते हुए और नवीन-नवीन देह का परिग्रह करते हुए, ऊपर के, नीचे के एवं मध्य के लोकों में निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। देह-इन्द्रियादि-अनात्म-पदार्थों के साथ तादात्म्य-अध्यास वाले-भ्रमण करने वाले-उन-असंख्य जीवों के समुदाय में मनुष्य के अतिरिक्त प्राणियों की कल्याण रूप आत्मज्ञान में प्रवृत्ति का ही अभाव है, इस लिए प्रथम मनुष्यत्व ही दुर्लभ है, ऐसा विद्वान् गण वर्णन करते हैं। मनुष्यत्व प्राप्त होने पर भी पापों की प्रबलता होने से सभी ज्ञानके लिए प्रवृत्त नहीं होते हैं, किन्तु हजारों मनुष्यों में कोई एक ही महापुण्यवान् ज्ञान के लिए प्रयत्नशील होता है। इस लिए तत्त्वज्ञान के साधनों का अनुष्ठान अति दुर्लभ है। उसमें भी विघ्नों की प्रचुरता होने के कारण साधनों के अनुष्ठान करने वाले सभी साधकों को ज्ञान की सिद्धि नहीं होती है, किन्तु कोई एक महाभाग्यशाली महापुरुषार्थी को ही ज्ञान की सिद्धि होती है, इस लिए ज्ञान, अति से भी अति दुर्लभ है। उस ज्ञान से ही 'मुञ्ज से इषीका की भाँति' तीन शरीरों से आत्मा का सम्यक् उद्धार सिद्ध होता है, प्रकारान्तर से नहीं, इस तात्पर्यगम्य अर्थ की सूचना देता हुआ भगवान् वेद संक्षेप से उसका निरूपण करता है—

ॐ अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता, न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥

(ऋ० मण्ड. १ सूक्त. १६४ ऋक्. ३८) (अथर्व. ९।१०।१६) (ऐ. आ. २।८) (नि. १४।२३)

अन्नमयादि-पञ्चकोशों से बँधा हुआ, अमर्त्य (अमृत-अविनाशी) आत्मा, मर्त्य (मरण धर्म-वाले) शरीरसे तादात्म्यापन्न हुआ, शुभ कर्म करके ऊपर के स्वर्गादि लोक को जाता है, और अशुभ कर्म करके नीचे के नरकादि लोक को जाता है। अविनाशी-आत्मा मर्त्यशरीरों के साथ अनादि काल से अविभक्त रूपसे वर्तमान हो रहा है, इस लिए वह शरीरविशिष्ट आत्मा, अनेक प्रकार की उत्तम-अधमगतियों से संयुक्त होता है, उस उस कर्म के इष्टानिष्टफलों को भोगने के लिए लोकान्तर में गमन करता रहता है। मूढ लोग, आत्मा से अन्य देहादि-अनात्म समुदाय को ही आत्म रूप से जानते हैं, अनात्मा से अन्य आत्मा को नहीं जानते हैं। यद्वा विवेकविचारशील, अनात्म-देहादि से अन्य, अविनाशी आत्मा को जानते हैं, आत्मा से अन्य-देहादि को आत्मरूप से नहीं जानते हैं।

अमर्त्यः=अमरणधर्मा-अविनाशी-अयमात्मा, मर्त्येन=मरणधर्मणा-विनाशिना-देहेन, सयोनिः=समानस्वरूपः-तत्तादात्म्यापन्नः-यत्र यत्र परिच्छेदको देहोऽस्ति, तत्र तत्र सर्वत्र वर्तमान इत्यर्थः। यद्वा सयोनिः=समानोत्पत्त्यादिमान् देहादेः सहवासेन तदुत्पत्त्यादिकं तस्मिन्नप्युपचर्यत इत्यर्थः। एवंभूतः सन् स्वधया=अन्नोपलक्षिततत्तद्भोगेन गृभीतः=परिगृहीतः, यद्वा स्वधाशब्देनान्नमयं शरीरं लक्ष्यते, तेन गृभीतः-तत्तादात्म्यापन्नः। अनेन प्राणमयादीनां चतुर्णां कोशानामप्युपलक्षणम्। तैः पञ्चभिः कोशैः संयुक्तः सन् अपाङेति=अशुक्लं पापं कर्म कृत्वा अपाङ्-अधो नरकादिकं एति=गच्छति इत्यर्थः। तथा प्राङेति=शुक्लं पुण्यं कर्म कृत्वा प्राङ्-ऊर्ध्वं स्वर्गादिलोकं एति=गच्छति, परमात्मैवाऽविद्यया प्रकृतेर्गुणत्रयान्वितः शरीरत्रयेण संबद्धश्च सन् जीवसंज्ञां लब्ध्वा नानाविधं कर्म कृत्वा तत्तद्भोगाय लोकान्तरेषु परिभ्रमतीति यावत्। तथाच

अमर्त्य यानी मरण धर्म रहित, अविनाशी, यह आत्मा, मर्त्य से यानी मरण-धर्म वाले विनाशी शरीर से, समान स्वरूपवाला हो गया है, अर्थात् शरीर के साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हो गया है, जहाँ जहाँ परिच्छेदक (भेद का प्रयोजक) देह है, वहाँ वहाँ वह सर्वत्र वर्तमान हो रहा है। यद्वा सयोनि, यानी समान-उत्पत्ति आदि वाला, अर्थात्-देहादि के सहवास से उसकी उत्पत्ति आदि धर्म का, उत्पत्ति रहित-अविनाशी आत्मा में आरोप होता है। ऐसा हुआ आत्मा, स्वधा यानी अन्न से उपलक्षित-उस-उस भोग से परिगृहीत है, यद्वा स्वधा शब्द से अन्नमय शरीर लक्षित होता है, उससे गृहीत यानी उसके साथ तादात्म्यभाव को प्राप्त हो गया है। इससे प्राणमयादि चार कोशों का भी उपलक्षण है। उन पांच कोशों से संयुक्त हुआ आत्मा, अशुक्ल (काला) पापकर्म करके, अपाङ् यानी नीचे के नरकादि लोक के प्रति जाता है। तथा शुक्ल-पुण्यकर्म करके प्राङ् यानी उपर के स्वर्गादि लोक के प्रति जाता है। परमात्मा ही अविद्या से प्रकृति के सत्वादि तीन गुणों से अन्वित हुआ, एवं तीनों शरीरों से संबद्ध हुआ, जीव संज्ञा को प्राप्त कर, अनेक प्रकार के कर्म करके उस उस शुभाशुभ कर्म फल भोग के लिए अन्य-अन्य लोकों में परिभ्रमण करता रहता

श्वेताश्वतरशाखायामाम्नायते-'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता । स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥' (श्वे. उ. ५।७) इति । सत्त्वरजस्तमोगुणैरन्वयो यस्य जीवात्मनः सोऽयं गुणान्वयः । फलं=सुखदुःखरूपं तस्य च कारणे पुण्यपापरूपकर्मणी तयोरयं कर्ता । स च कृतस्यैव कर्मण उपभोक्ता नत्वन्यस्य । कृतानाञ्च कर्मणामनेकत्वात् तदनुसारेण बहुदेहस्वीकारादयं विश्वरूपः । गुणत्रयवशेन मार्गत्रयगामित्वात्त्रिवर्त्मा । सत्त्वगुणाधिक्ये सति यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगमभ्यस्य सगुणब्रह्मोपासीन उत्तरमार्गेणार्चिरादिना ब्रह्मलोकं प्राप्नोति । रजोगुणाधिक्ये सति काम्यकर्माणि ज्योतिष्टोमादीन्यनुष्ठाय धूमादिना दक्षिणमार्गेण स्वर्गाख्यं सोमलोकं प्राप्नोति । तमोगुणाधिक्ये सति महापातकोपपातकानि कृत्वा नरकलोकं तृतीयमार्गेण प्राप्नोति । इत्थं प्राणानामधिपतिर्जीवात्मा स्वकीयैः शुभाशुभकर्मभिर्मार्गत्रये सञ्चरतीत्यर्थः । एवमात्मनः कष्टप्रदामध्यासमूलां संसारावस्थां प्रदर्श्य तयोरात्मानात्मनोर्जडचेतनयोः परस्परतादात्म्यापन्नतां

है । तथा च श्वेताश्वतर शाखा में कहा गया है–'प्राणों का अधिपति आत्मा, गुणों से संयुक्त हुआ, फल के लिए कर्म करता है, किये हुए कर्म के ही फल का उपभोग करता है । वह अनेक रूप वाले शरीरों से सयुक्त हुआ, सत्त्वादि तीन-गुणों के अनुसार उत्तरमार्ग, दक्षिणमार्ग, एव अधममार्ग से जाता हुआ अपने कर्मों से अनेक स्थानों में भ्रमण करता है ।' इति । सत्त्व, रज एव तमो गुण से अन्वय (सम्बन्ध) है जिस जीवात्मा का वह गुणान्वय है । सुखदु ख रूप फल है, उसका कारण पुण्य-पाप रूप कर्म है, उनका यह कर्ता है । वह किये हुए ही कर्म का उपभोक्ता है, अन्य का नहीं । किये हुए कर्म भी अनेक प्रकार के हैं, इस लिए उन विभिन्न-कर्मों के अनुसार अनेक देहों के स्वीकार करने से यह जीवात्मा विश्वरूप हो जाता है । गुण त्रय के वश से मार्गत्रय में गमन करने से यह त्रिवर्मा कहा जाता है । सत्त्वगुण की अधिकता होने पर, यम नियमादि अष्टाग योगका अभ्यास करके सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाला अर्चिरादि-उत्तरमार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है । रजो गुण की अधिकता होने पर ज्योतिष्टोमादि काम्य कर्मों का अनुष्ठान करके, धूमादि दक्षिणमार्ग से स्वर्ग नाम वाले चन्द्रलोक को प्राप्त होता है । तमोगुण की अधिकता होने पर महापातक (ब्रह्महत्यादि) उपपातक (सुरापानादि) करके तृतीय (नीच) मार्ग से नरक लोक को प्राप्त होता है । इस प्रकार प्राणो का अधिपति जीवात्मा, अपने शुभाशुभ कर्मों से मार्गत्रय में भ्रमण करता है । यह पूर्वोक्त श्वेताश्वतर मन्त्र का अर्थ है ।

इस प्रकार आत्मा की कष्टप्रद, अध्यासमूलक, ससार की अवस्था का प्रदर्शन करके, उस आत्मा एव अनात्मा जड-चेतन की परस्पर तादात्म्या-

प्रदर्शयति, ता=तौ–मर्त्यामर्त्यौ–सत्यानृतौ आत्मानात्मानौ अत्यन्तविविक्तावपि, अत्र 'ता' इत्यत्र 'सुपां सुलुक्' (अ. ७।१।३९) इत्यादिना सूत्रेण द्विवचनौकारस्याऽऽकारः, अग्रेऽप्येवम्। शश्वन्ता=शश्वन्तौ अविद्ययाऽविभागेन सर्वदा वर्तमानौ–एकलोलीभावापन्नौ इति यावत्। अत एव विषूचीना=विषूचीनौ–नानागतिसंयुक्तौ, वियन्ता=वियन्तौ-तत्तत्कर्मफलोपभोगाय सर्वत्र लोकान्तरेषु गच्छन्तौ वर्तेते, यद्यप्यसङ्गस्य व्यापकस्यात्मनः स्वतो गमनादिकं न संभवति, तथाप्यनात्मदेहाद्युपाधिसंबन्धात् घटाकाशादाविव तत्र तद्विभाव्यत एव। तथाच श्रुत्यन्तरं–'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृ. ४।३।७) ध्यायन्त्यां बुद्धौ ध्यायतीव, लेलायन्त्यां=चलन्त्यां बुद्धौ लेलायतीव–चलतीवाऽयमात्मा प्रतीयते, परन्तु नायं स्वतो ध्यायति, चलतीति तदर्थः। एवं तयोरध्यासं निर्वर्ण्य, लोके द्विप्रकारकाः पुरुषाः सन्ति, विवेकिनो विवेकरहिताश्च, तत्र विवेकिनः प्रत्यक्षतो दृश्यमानात् देहादिसंघाताद्विवेकेन स्वयं पृथक् भूत्वाऽऽत्मानं स्वस्वरूपं विजानन्ति, अन्ये तु विवेकविकला मूढाः स्वात्मानं देहेन्द्रियादिकमेवाऽऽलोकयन्ति, इति।

तावुभौ पुरुषौ पुनर्विविच्य दर्शयति–तत्र केचनाविवेकिनः पामरा नराः। अन्यं=

पन्नता का प्रदर्शन करते हैं–तौ यानी, मर्त्य एवं अमर्त्य, सत्य एवं अनृत, आत्मा एवं अनात्मा, जो अत्यन्त पृथक् हैं, यहाँ 'ता' इस पदमें 'सुपां सुलुक्' इत्यादि सूत्र से द्विवचन-औकार के स्थान में आकार हो गया है, आगे शश्वन्ता इत्यादि पदों में भी ऐसा ही समझना चाहिए। शश्वन्तौ यानी अविद्या से अविभाग (अभेद) रूप से सर्वदा वर्तमान हैं, आत्मा एवं अनात्मा, एकलोलीभावसे (कल्पिततादात्म्य सम्बन्ध से) आपन्न हैं, अर्थात् वे दोनो परस्पर एकरूप हो गये है। इस लिए वे विषूचीनौ यानी अनेक प्रकार की गति से संयुक्त हैं, एव उस उस कर्म के फलो का उपभोग के लिए सर्वत्र लोकान्तरों में गमन करते रहते हैं। यद्यपि असंग, व्यापक, आत्मा का स्वतः गमनादिक संभवित नहीं है, तथापि–अनात्म-देहादि रूप उपाधि के सम्बन्ध से घटाकाशादि की तरह आत्मा में भी गमनादि की प्रतीति होती है। तथा च अन्यश्रुति भी कहती है–'वह आत्मा ध्यान करता हुआ की तरह, चलता हुआ की तरह प्रतीत होता है।' ध्यान करती हुई बुद्धि में अवस्थित यह आत्मा ध्यान करता हुआ की भाँति, चलायमान बुद्धि में अवस्थित यह आत्मा चलता हुआ की भाँति प्रतीत होता है, परन्तु यह आत्मा स्वतः न ध्यान करता है, न चलायमान होता है, यह अर्थ है। इस प्रकार आत्मा एवं अनात्मा के अध्यास का वर्णन करके लोक में दो प्रकार के पुरुष हैं, विवेकी एव विवेकरहित। उनमें विवेकी, प्रत्यक्ष से दृश्यमान-देहादि संघात से विवेक ज्ञान द्वारा स्वयं पृथक् हो कर स्वस्वरूप-आत्मा को जानते है। अन्य विवेक से रहित मूढ, देहेन्द्रियादि रूप से ही आत्मा को देखते है।

उन दोनो पुरुषो को अलग-अलग करके फिर भी दिखाते है–उनमें कुछ अविवेकी पामर मनुष्य,

आत्मनोऽन्यं भिन्नमनात्मानं देहेन्द्रियादि-संघातं भूताऽऽत्मानमेव निचिक्युः=नितरामात्मत्वेन पश्यन्ति—जानन्ति—निश्चिन्वन्ति, अन्यं=अपरं देहाद्यतिरिक्तं प्रत्यगात्मानं न निचिक्युः=न जानन्ति—न निश्चिन्वन्ति। अथवा केचन विवेकिनः पुरुषाः, अन्यं=देहादिभ्योऽन्यं प्रत्यगात्मानमेव स्वस्वरूपं निचिक्युः, अन्यं=देहादिसंघातमात्मत्वेन न निचिक्युः। तत्रैके देहात्मवादिनो लोकायतिका देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वं मन्यमानाः—शरीरे सति चैतन्यसुखादीनां भावात्तदभावे चाभावादित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषां देहधर्मत्वेन निश्चयात्, देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाऽभावात्, प्रत्यक्षैकप्रमाणवादितयाऽनुमानादेरनङ्गीकारात्, अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यप्रतीत्या देहस्यैव स्थौल्यादियोगाच्च, मम शरीरमिति व्यवहारस्य 'राहोः शिरः' इत्यादिवदौपचारिकत्वाच्च देह एवात्मा—इति वदन्ति। चतुर्भ्यः खलु पृथिव्यादिभूतेभ्यो देहाकारपरिणतेभ्यः 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्' चैतन्यमुपजायते,तेषु विनष्टेषु सत्सु स्वयमेव चैतन्यं विन-

आत्मा से अन्य-भिन्न अनात्मा—देहेन्द्रियादि की संघातरूप भूतात्मा को ही अच्छीप्रकार आत्मारूप से जानते हैं—निश्चय करते हैं। देहादि से अतिरिक्त-अन्य, प्रत्यक् आत्मा को नहीं जानते हैं, निश्चय नहीं करते हैं। अथवा, कुछ विवेकी पुरुष, देहादि से अन्य, प्रत्यक् आत्मा का ही स्वस्वरूप से निश्चय करते हैं। आत्मा से अन्य-देहादि संघात को आत्मरूप से निश्चय नहीं करते हैं। उनमें कुछ लोकायतिक, देहात्मवादी लोग, देह से अतिरिक्त-आत्मा का असत्त्व (अभाव) मानते हुए—शरीर के होने पर ही चैतन्य सुख आदि आत्म-धर्म का सद्भाव देखने में आता है, और शरीर के न होने पर उनका सद्भाव देखने में नहीं आता है, इस प्रकार के अन्वय एवं व्यतिरेक से चैतन्यसुखादि का देह-धर्मरूप से ही निश्चय होता है, देह से अतिरिक्त-आत्मा में प्रमाण का सद्भाव नहीं है, एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि-अन्य प्रमाणों का अङ्गीकार नहीं है, इसलिए प्रत्यक्षप्रमाण से देहातिरिक्त-आत्मा का अनुभव नहीं होता। 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ' इस प्रकार शरीर के स्थौल्यादि धर्मों के साथ अहं आत्मा का सामानाधिकरण्य (जिस देहरूप अधिकरण में मैंपना है, उसमें ही स्थौल्यादि धर्म हैं, उन दोनों का समान अधिकरण देह ही है) प्रतीत होता है, देह में ही स्थूलत्वादि धर्मों का सम्बन्ध है, 'मेरा शरीर है' यह व्यवहार 'राहु का शिर की भाँति' औपचारिक अर्थात् गौण है, मुख्य नहीं है, इसलिए देह ही आत्मा है—ऐसा कहते हैं। देहाकार से परिणत-पृथिवी आदि चार भूतों से 'किण्व (एक प्रकार का फल) आदि द्रव्यों के संयोग से मद (मादक) शक्ति की भाँति' चैतन्य उत्पन्न होता है। उन भूतों के विनाश होने पर स्वयं ही चैतन्य विनष्ट हो जाता है। 'देह के

श्यति, 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' इति तदुक्तेः। तन्न सम्यक्—यतो मृतावस्थायां शरीरस्य भावेऽपि चैतन्यादीनामभावात्, एतद्देहाऽभावेऽपि देहान्तरावच्छेदेन तेषां सद्भावसम्भवादन्वयव्यतिरेकयोरसिद्धत्वात्, न ताभ्यां तेषां देहधर्मत्वं वक्तुं शक्यते। अनुमानादिकं न प्रमाणमिति वदन् चार्वाकः प्रष्टव्यः, अनुमानादिकं प्रमाणं न भवतीत्येतावन्मात्रमुच्यते किम्? अथ च तत्र किंचन साध्यसाधनाय साधनमुपन्यस्यते वा? नाद्यः—एकाकिनी प्रतिज्ञा प्रतिज्ञातं कथं साधयेत्? न द्वितीयः, साधनोपन्यासेऽनुमानप्रमाणाभ्युपगमप्रसङ्गात्। किञ्चाऽनुमानादिकं प्रमाणं न भवतीति ब्रुवाणेन वचनप्रमाणमनभ्युपगच्छता त्वया स्वपरकीयशास्त्रे प्रामाण्येनोपगृहीतस्य वचनस्योपन्यासे मम माता वंध्येतिवत् व्याघातापातात्। शब्दानुमानयोः प्रामाण्याभावे हि परप्रबोधनार्थं शब्दाऽप्रयोगापत्त्या लोकस्य मूकतैव स्यात्, आगामिपा-

भस्मीभूत होने पर पुनः आगमन कहाँ से? (अर्थात् देह ही आत्मा था उसके नाश होने से आना जाना कहाँ? और किसका? किसीका भी नहीं) ऐसा उन चार्वाकों का कथन है। यह उनका कहना अच्छा (युक्ति-प्रमाणयुक्त) नहीं है। क्योंकि—मरणावस्था में शरीर का सद्भाव होने पर भी चैतन्यादि धर्मों का सद्भाव देखने में नहीं आता है, इस देह के न होने पर भी अन्य-देह के द्वारा चैतन्यादि धर्मों के सद्भाव का संभव हो सकता है। इसलिए पूर्वोक्त अन्वय एवं व्यतिरेक की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः इनसे, चैतन्यादि देह के धर्म है ऐसा नहीं कह सकते। 'अनुमान आदि प्रमाण नहीं है' ऐसा कहने वाले चार्वाक से पूछना चाहिए। क्या तू 'अनुमान आदि प्रमाण नहीं है' इतना मात्र ही कहता है? या अपनी साध्यरूप-प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए कुछ साधन (हेतु) का भी उपन्यास करता है?। प्रथम पक्ष का कहना ठीक नहीं है—क्योंकि—अकेली प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञात अर्थ की सिद्धि कैसे कर सकती है? द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं—साध्य की सिद्धि के लिए साधन का उपन्यास करने पर अनुमान प्रमाण का अभ्युपगम (स्वीकार) करना पड़ता है। और वचन (शब्द) प्रमाण को अंगीकार नहीं करने वाला तू 'अनुमानादि प्रमाण नहीं है' ऐसा बोलता है, और अपने शास्त्र में एवं अन्य के शास्त्र में प्रमाणरूप से गृहीत वचन-प्रमाण का उपन्यास भी करता है, ऐसा बोलना एवं शब्दप्रमाण का उपन्यास करना—'मेरी माता वन्ध्या है' इस कथन की भाँति—व्याघात का आपादन करता है। शब्द एवं अनुमान का प्रामाण्य न मानने पर अन्य के प्रबोधन के लिए शब्द का प्रयोग नहीं करने पर सभी लोक मूक हो जायेंगे। भविष्य के पाक (भोजनादि का

केष्टसाधनताज्ञानाऽसम्भवेन प्रवृत्तिराहित्यापाताच्च, शब्दप्रयोगस्याऽऽगामिपाकेष्टसाधनताज्ञानस्य च शब्दानुमानप्रामाण्याधीनत्वात्। न च शब्दानुमानयोर्विसंवाददर्शनेन प्रमाजनकत्वानुपगम इति वाच्यम्, तथा सति 'इदं रजतमि'त्यादिप्रत्यक्षेऽपि विसंवाददर्शनेन प्रत्यक्षस्यापि प्रामाण्यं न स्यात्, तस्मादसति प्रबलबाधके प्रत्यक्षस्येवाऽनुमानादेरपि प्रामाण्यमभ्युपेयमेवेति। यदाहुः—शारीरकशाङ्करभाष्यभामतीटीकायां वाचस्पतिमिश्राः—प्रतिपन्नं[1] पुमांसमपहायाप्रतिपन्नसन्दिग्धाः प्रेक्षावद्भिः प्रतिपाद्यन्ते, न चैषामित्थंभावः[2] भवत्प्रत्यक्षगोचरः, न खल्वेते गौरत्वादिवत्प्रत्यक्षगोचराः, किन्तु वचनचेष्टादिलिङ्गानुमेयाः, न च लिङ्गं प्रमाणं, यत एते सिद्ध्यन्ति, न पुंसामित्थम्भावमविज्ञाय यं कञ्चन पुरुषं प्रतिपिपादयिषतोऽनवधेयवचनस्य प्रेक्षावत्ता

पकाना) में इष्ट साधनता के ज्ञान का सम्भव नहीं होने से प्रवृत्ति का अभाव प्राप्त हो जायगा। क्योंकि—शब्दप्रयोग एवं आगामी पाक में इष्ट साधनता का ज्ञान, शब्द एवं अनुमान के प्रामाण्य के अधीन है। 'शब्द एवं अनुमान में कभी विसंवाद (निष्फल प्रवृत्ति) देखने में आता है, इसलिए उनमें प्रमाज्ञान की जनकता का स्वीकार नहीं किया जाता' ऐसा नहीं कहना चाहिए। ऐसा मानने पर 'यह रजत है' इत्यादि प्रत्यक्ष में भी विसंवाद देखने में आता है, इसलिए प्रत्यक्ष में भी प्रामाण्य-सिद्ध न होगा। इसलिए प्रत्यक्ष-प्रमाण की तरह प्रबल बाधक न होने पर अनुमानादि का भी प्रामाण्य मानना ही चाहिए। इति। अतः शारीरक ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य की भामती टीका में आचार्य्य वाचस्पति मिश्र भी कहते हैं—'यथार्थज्ञानवान् पुरुष को छोड़ कर, ज्ञानरहित, एवं संशयग्रस्त मनुष्यों को ऊहापोह-कुशल-विद्वान् लोग समझाते हैं। उन मनुष्यों के अज्ञता आदि भाव, आप के प्रत्यक्षप्रमाण के विषय नहीं हैं। 'शरीर के गौरत्व आदि की भाँति' वे अज्ञान, सशय आदि भाव प्रत्यक्ष के विषय नहीं हो सकते। किन्तु वचन, चेष्टा आदि लिङ्ग (चिह्न) से अनुमेय हैं (अनुमान से जाने जाते हैं) आप के मत में लिङ्गप्रमाण नहीं है, जिससे वे सिद्ध हो सकें। मनुष्यों के अज्ञानादि भावों को नहीं जान करके, जिस किसी पुरुष के प्रति-जो कुछ प्रतिपादन करने की इच्छा करने वाले—अश्रद्धेय-अयथार्थ वचन वाले—मनुष्यकी बुद्धिमत्ता कुछ

१ प्रतिपन्न =सम्प्रतिपत्तिमान्-पुमान्। निश्चितज्ञान-सम्प्रतिपत्ति। तं विहायाऽसप्रतिपत्तिविपरीतप्रतिपत्तिसंशीतिवन्त पुमास प्रेक्षावद्भि प्रतिपाद्यन्ते=व्युत्पाद्यन्ते इत्यर्थ.। २ इत्थंभाव =अप्रतिपत्तिमत्त्वादिरूप।

प्रतिपन्न यानी सम्प्रतिपत्ति वाला पुरुष। निश्चितज्ञान, सम्प्रतिपत्ति है। उसको छोड़ कर, निश्चित-ज्ञानरहित, विपरीत ज्ञानवान्, एव संशयग्रस्त पुरुषों को प्रेक्षावान् विद्वान्, व्युत्पन्न (यथार्थज्ञानयुक्त) बनाते हैं, यह अर्थ है। अप्रतिपत्तिमत्त्वादिरूप इत्थंभाव है।

नाम, अपि च पशवोऽपि हिताहितप्राप्ति-परिहारार्थिनः कोमलशष्पश्यामलायां भुवि प्रवर्तन्ते, परिहरन्ति चाश्यानतृणकण्टकाकीर्णाम्; नास्तिकस्तु पशोरपि पशुरिष्टानिष्टसाधनमविद्वान्, न खल्वस्मिन्ननुमानगोचरप्रवृत्तिनिवृत्तिगोचरे प्रत्यक्षं प्रभवति, न च परप्रत्यायनाय शब्दं प्रयुञ्जीत, शब्दस्यार्थस्याप्रत्यक्षत्वात्, तदेवं मा नाम भून्नास्तिकस्य जन्मान्तरमस्मिन्नेव जन्मन्युपस्थितो मूकत्वप्रवृत्तिनिवृत्तिविरहरूपो महान्नरक इति (ब्र. सू. ३।३।५४)। तथा च भ्रमप्रमादादिदोषशङ्कारहितया स्वतःप्रमाणभावया

नहीं है। और पशु भी हित-प्राप्ति एवं अहित-परिहार के अर्थी (इच्छुक) हुए, कोमल-नवीन घासयुक्त-श्यामवर्ण वाली भूमि में प्रवृत्त होते हैं, थोड़ा शुष्क (सुखा हुआ) तृण-कण्टक से आकीर्ण (व्याप्त) भूमि का परित्याग कर देते हैं। नास्तिक (चार्वाक-देहात्मवादी) तो पशु से भी (गया-बीता) पशु है—जो अपने इष्ट-एवं अनिष्ट के साधन को जानता नहीं है। इस अनुमान प्रमाण के विषय में—जो प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विषय-इष्टानिष्ट की साधनता है—प्रत्यक्षप्रमाण समर्थ नहीं हो सकता है। अन्य के प्रबोधन के लिए शब्द-प्रयोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि—शब्दप्रमाण-जन्य अर्थ, प्रत्यक्ष नहीं है। इस प्रकार नास्तिक का (अपने मत के अनुसार) अन्य जन्म मत हो, परन्तु इसी ही जन्म में मूकत्व, एवं प्रवृत्ति निवृत्ति का अभावरूप महान् नरक ही उपस्थित हो जाता है। इति। तथाच, भ्रमप्रमादादि दोषों की शंका से रहित, स्वतःप्रमाणत्व से युक्त, 'अन्यं निचिक्युः' इस प्रकृत श्रुति से, एवं बालक की

---

१ न केवलं लोकायतिकस्य परप्रबोधाय प्रवृत्त्यभाव एव दोषोऽपि तु लोकयात्राविरोधोऽपीत्याह—अपि च। शष्पं=बालतृणम्। आश्यानं=ईषच्छुष्कम्। इष्टानिष्टसाधनमविद्वान् पशोरपि पशुरित्यर्थः। अनुमानगोचरश्चासौ प्रवृत्तिनिवृत्तिगोचरश्चेष्टानिष्टसाधनत्वं, तत्र प्रत्यक्षं न हि प्रभवतीति योजना। 'अयमोदनः क्षुन्निवर्तकः ओदनत्वात्-प्रागनुभूतौदनवदित्याद्यनुमानाद्धि, इष्टसाधनत्वावगमः, ततः प्रवृत्तिरनिष्टसाधनत्वानुमानाच्च निवृत्तिरिति।

लोकायतिक-नास्तिक को अन्य के प्रबोधन के लिए प्रवृत्ति का अभाव ही केवल दोष है, यह नहीं किन्तु लोक-व्यवहार का विरोध भी है, यह कहते हैं—अपि च। नवीन तृणका नाम शष्प है। आश्यान यानी थोड़ा सुखा। इष्टानिष्ट के साधन को नहीं जानने वाला पशु से भी पशु है। जो अनुमान का विषय है, वही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का विषय है, ऐसी इष्टानिष्टकी साधनता है। उसमें प्रत्यक्षप्रमाण समर्थ नहीं होता, यह योजना है। यह ओदन (भात) क्षुधा का निवर्तक है, ओदनत्व होने से, प्रथम अनुभूत ओदन की तरह, इत्यादि अनुमान से ओदन में इष्टसाधनता का बोध होता है, इससे ओदन के भक्षण में प्रवृत्ति होती है, अनिष्टसाधनत्व के अनुमान से निवृत्ति होती है।

२ एवं विपक्षे व्याघातदण्डमापाद्याऽनुमानप्रामाण्यं स्वीकारितम्, शब्दप्रामाण्यमपि तथैव स्वीकारयति—नचेति।

इस प्रकार विपक्ष में व्याघात दोषरूपी दण्ड का आपादन करके अनुमानप्रामाण्य का स्वीकार कराया। तथैव शब्द का प्रामाण्य भी स्वीकृत कराया जाता है—न चेति।

३ मूकत्वं नास्तिकस्य शब्दप्रामाण्यानिष्टेरापन्नम्, प्रवृत्तिनिवृत्तिविरहोऽनुमानप्रामाण्यविरहादापन्न इति विभागः॥

शब्द के प्रामाण्य का स्वीकार नहीं करने से नास्तिक को मूकत्व प्राप्त हो गया, और अनुमानप्रमाण को नहीं मानने से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अभाव प्राप्त हो गया, यह विभाग है।

'अन्यं निचिक्युः' इत्यनया श्रुत्या, बालस्याद्यस्तन्यपानप्रवृत्त्युपयोगीष्टसाधनताऽनुमित्यनुकूलस्तन्यपानत्वेष्टसाधनत्वव्याप्तिस्मृत्यनुकूलजन्मान्तरानुभवाश्रयत्वेन च देहातिरिक्तस्यात्मनः सिद्धिः । अपि च 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं स एव स्थविरे प्रणप्तॄननुभवामि' इति दृढतरप्रत्यभिज्ञानात्, बालत्वस्थविरत्वविशिष्टशरीरयोः परिमाणभेदेनैक्यायोगात्, अन्यनिष्ठसंस्कारस्याऽन्यत्रानुसन्धानाजनकत्वात्, येषु व्यावर्तमानेषु यदनुवर्तते तत्तेभ्यो भिन्नं, यथा कुसुमेभ्यः सूत्रमिति न्यायात्, बालादिशरीरेषु परस्परव्यावर्तमानेष्वपि—अहंप्रतीतिविषयस्यानुवर्तमानस्यात्मनस्तेभ्यो व्यतिरिक्तत्वमसंशयं सिद्ध्यति । अत एव मरुमरीचिकादावुदकादिबुद्धिवत् 'स्थूलोऽहमि'-त्यादिबुद्धेर्भ्रमत्वात्तया न देहात्मत्वसिद्धिः । किञ्च देहादेरनित्यस्यात्मत्वाऽभ्युपगमे कृतहान्यकृताऽभ्यागमप्रसङ्गात्, 'मम देहो,

आद्य (प्रथम होने वाली) स्तन के दूध का पान की प्रवृत्ति में उपयोगी इष्ट साधनता की अनुमिति के अनुकूल—जो स्तन्यपानत्व में इष्ट साधनत्व की व्याप्ति की स्मृति है—उसके अनुकूल जन्मान्तर का अनुभव है, उसका आश्रयरूप से, देह से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि हो जाती है । और 'जो मैं बाल्यकाल में माता पिता का अनुभव करता रहा, सो ही मैं वृद्धावस्था में पौत्र-प्रपौत्रों का अनुभव करता हूँ' इस प्रकार के अतिदृढ प्रत्यभिज्ञान से—बाल्यविशिष्ट एवं वृद्धत्वविशिष्ट शरीरों का परिमाण के भेद होने से ऐक्य नहीं हो सकता है, अन्य में रहे हुए संस्कार, अन्य में अनुसंधान (स्मृतिविशेष) उत्पन्न नहीं कर सकते, 'जैसे परस्पर व्यावर्तमान-पुष्पों से उनमें अनुगत सूत्र पृथक् ही होता है, तद्वत् जिन व्यावर्तमानों में जो अनुवर्तमान होता है, वह उनसे भिन्न ही होता है' इस न्याय से परस्पर व्यावर्तमान बालादि शरीरों में अनुवर्तमान-अहंप्रतीति का विषय, आत्मा, उन शरीरों से—संशयरहित व्यतिरिक्त ही सिद्ध होता है । अत एव मरु-मरीचिकादि में उदकादि की बुद्धि की भाँति, 'मैं स्थूल हूँ' इत्यादि बुद्धि भी भ्रमरूप (मिथ्या) ही है, इसलिए, उससे देहात्मत्व की सिद्धि नहीं हो सकती । और अनित्य देहादि को आत्मा मानने पर कृतहानि (किये हुए शुभाशुभ कर्मों के भोग बिना ही विध्वंस) एवं अकृताभ्यागम (नहीं किये हुए कर्मों के फलों की प्राप्ति) नामक दो दोष

१ इदं स्तन्यपानं, मदिष्टसाधनं, स्तन्यपानत्वात्, प्राग्भवीयस्तन्यपानवत्, इत्यनुमितेर्जन्मान्तरीयस्तन्यपानगतेष्टसाधनत्वव्याप्तिस्मरणाधीनत्वेन पौर्वदेहिकानुभवाश्रयात्मावस्थानं विना तदनुपपत्तेस्तत्सिद्धिरिति तदर्थः ।

'यह स्तन्यपान मेरे इष्ट का साधन है, स्तन्यपानत्व होने से, आगे के जन्मों में किये हुए स्तन्यपान की तरह' यह अनुमिति-अन्य जन्म के स्तन्यपान में वर्तमान इष्टसाधनत्व का व्याप्ति स्मरण के आधीन है, पूर्व के देह में होने वाले अनुभव का आश्रय आत्मा की अवस्थिति के बिना अनुमिति की अनुपपत्ति हो जाती है, इसलिए तादृश आत्मा की अवस्थिति की सिद्धि है, यही उसका अर्थ है ।

ममेन्द्रियं, मम मनः, मम प्राणः, इत्याद्यबाधितानुपचरितप्रत्यक्षप्रमाणेन देहेन्द्रियप्राणमनसां ममकारास्पदानामनात्मत्वस्य निश्चयात्, देहाद्यतिरिक्तस्तद्भावाभावभासको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-सच्चिदानन्दविग्रहः परिपूर्ण एवात्मा विवेकिभिरधिगम्यत इति। न च ममात्मा इति प्रतीत्या आत्मनोऽप्यनात्मत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, तस्य शरीराद्यभिप्रायेणाऽविद्वदुच्यमानस्य भ्रमत्वाऽभ्युपगमात्।

एवमेव श्रद्धेयानि ऋगन्तराण्यपि नास्तित्वमतमनूद्य पश्चात् तन्निरसितुमस्तित्वसिद्धान्तं प्रतिष्ठापयितुञ्च समामनन्ति—'यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्। सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥' (ऋ. २।१२।५) इति। अयमर्थः—तं प्रत्यगात्मानमिन्द्रमपश्यन्तो मूढा नास्तिका जनाः, यं घोरं=यतोऽनवगतोऽसौ भयङ्करो भवति, अतः—तं घोरं—स्वाज्ञानतो भयकारिणमिन्द्रं पृच्छन्ति स्म, कुह=कुत्र, सेति=स इति,

प्राप्त हो जाते हैं। 'मेरा शरीर है' 'मेरी इन्द्रिय है' 'मेरा मन है' 'मेरा प्राण है' इत्यादि बाधरहित एवं उपचार (गौणत्व) रहित, प्रत्यक्षप्रमाण से ममत्व के आश्रयरूप, देह, इन्द्रिय, प्राण एवं मन में अनात्मत्व का निश्चय होता है। इसलिए, देहादिकों से अतिरिक्त, उनके भाव का एवं अभाव का प्रकाशक, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्दस्वरूप, परिपूर्ण ही आत्मा विवेकियों से जाना जाता है। 'मेरा आत्मा' इस प्रतीति से आत्मा में भी अनात्मत्व की प्राप्ति हो जायगी' ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि—'मेरा आत्मा' ऐसा शरीरादि के अभिप्राय से अज्ञानी लोग बोलते हैं, इसलिए 'मेरा आत्मा' यह प्रतीति भ्रमरूप मानी गई है।

इस प्रकार ही श्रद्धेय-अन्य ऋचाएँ भी—आत्मा के नास्तित्व मत का प्रथम अनुवाद करके पश्चात् उस मत का निरास करने के लिए एवं आत्मा के अस्तित्व-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापन करने के लिए—वर्णन करती है—'नास्तिक लोग इन्द्र-आत्मा को नहीं जानते हुए 'वह कहाँ है' ऐसा पूछते हैं, उनके लिए यह आत्मा, अज्ञात होने से भयकर हो जाता है, वे इस आत्मा को 'नहीं है' ऐसा कहते हैं। वह अपने नास्तित्व का श्रवण कर उद्विग्न-सा हुआ-आत्मेन्द्र, नास्तिक शत्रु के नास्तित्व मत के पोषक सभी तर्कादिकों का आत्मेन्द्रदर्शी—विद्वानों के द्वारा खण्डन करता है। हे लोको! 'वह इन्द्र है' ऐसा उसके अस्तित्व में श्रद्धा रक्खो।' इति। इस ऋक् का यह अर्थ है—उस प्रत्यगात्मा-इन्द्र को नहीं देखते हुए, मूढ नास्तिक लोग—अपने अज्ञान से भयकारी उस आत्मेन्द्र को 'कहाँ वह है' ऐसा पूछते हैं। अज्ञात हुआ वह भयङ्कर होता है। 'सेति' इस पद मे—'अच् परे रहते सुविभक्ति का लोप हो जाता है, यदि उससे

'सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इति सोलोपे गुणः। उत=तथा, न क्वचिदप्यसौ इन्द्र आत्मा तिष्ठतीति मन्यमानाः। ईम् इति पादपूरणः। एनं=इन्द्रमात्मानम्। आहुः= कथयन्ति, एषः=इन्द्रः, न अस्तीति। एवं पूर्वार्धेन नास्तिकमतमभिधायोत्तरार्धेनाऽऽस्तिकसिद्धान्तमाह–सः=इन्द्रः, विज इव= उद्विजन्निव स्वनास्तित्वं श्रुत्वेति शेषः। वस्तुतोऽयमविकारत्वेनानुद्विग्न एव कूटस्थ इति दर्शयितुमिवकारः। अर्यः=अरेः=शत्रोर्नास्तिकस्य स्वं खण्डयितुः सम्बन्धीनि पुष्टीः= नास्तित्वमतपोषकाणि–सर्वाणि–तर्कादिप्रमाणानि, आमिनाति=आत्मानमिन्द्रमपरोक्षं पश्यद्भिर्विद्वद्भिः कृत्वा सर्वतो हिनस्ति–खण्डयति। 'मीञ् हिंसायाम्' मीनातेर्निगमे इति ह्रस्वः। तस्मात् हे जनासः= जनाः! श्रदस्मै धत्त=अस्मै इन्द्राय प्रत्यगात्मने श्रद्धत्त, स इन्द्रोऽस्तीति विश्वासमत्र कुरुत। यद्यप्यसौ विशेषतो युष्माभिर्न दृश्यते, तथापि अहमस्मि अहमस्मीति सामान्यतस्तस्य प्रत्यक्षत्वमस्तीति, पूर्वोक्ताऽऽस्तिकविद्वद्वचनयुक्त्यादिकमनुसन्धाय तस्यास्तित्वमेव मन्तव्यमित्यभिप्रायः। 'नेन्द्रो अस्तीति नेम उ त्व आह क ईं ददर्श कमभिष्टवाम। अयमस्मि जरितः! पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना॥ ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि।' (ऋ. ८।१००।३+४) इति। अयमर्थः–नेम उ=

पाद की पूर्ति होती हो' इस सूत्र से सु का लोप करके 'स इति' का गुण करने पर 'सेति' ऐसा सिद्ध हो जाता है। तथा यह आत्मा इन्द्र कहीं भी नहीं रहता है, ऐसा नास्तिक लोग मानते हैं। 'ईम्' यह निपात पाद की पूर्ति के लिए है। वे 'इन्द्र नहीं है' ऐसा इन्द्र आत्मा के विषय में कहते हैं। इस प्रकार पूर्वार्ध से नास्तिक मत का कथन कर उत्तरार्ध से आस्तिकसिद्धान्त कहते हैं–वह इन्द्र, 'अपने नास्तित्व का श्रवण कर' इतना शेष है,–उद्विग्न-सा हुआ–वस्तुतः यह आत्मा निर्विकार होने से उद्वेगरहित-कूटस्थ ही है, ऐसा दिखलाने के लिए 'इव'कार है। यह अपने को खण्डन करने वाले नास्तिक शत्रु के नास्तित्व मत के पोषक–सभी तर्कादि प्रमाणों को–आत्मा-इन्द्र को अपरोक्ष अनुभव करने वाले विद्वानों के द्वारा सर्व तरफ से–खण्डन करता है। 'मीञ्' हिंसा अर्थ में धातु है, वेद में मीनाति धातु में ह्रस्व हो जाता है, इसलिए 'मिनाति' ऐसा रूप बनता है। इसलिए हे जनो (लोको)! इस प्रत्यगात्मा-इन्द्र के लिए श्रद्धा धारण करो। 'यह इन्द्र है' ऐसा उसमें विश्वास करो। यद्यपि वह आत्मेन्द्र, आप लोगों को विशेषरूप से देखने में नहीं आता है, तथापि 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' इस प्रकार सामान्यरूप से उसका प्रत्यक्षत्व है, ऐसा पूर्वोक्त-आस्तिक विद्वानों के वचन-युक्ति आदि का अनुसंधान करके उसका अस्तित्व ही मानना चाहिए, यह अभिप्राय है। 'नेम' नाम का भृगुगोत्री ऋषि प्रथम नास्तिक था। इसलिए वह 'प्रत्यगात्मा इन्द्र नहीं है' ऐसा कहता था। उसको किस ने देखा है? अर्थात् किसी ने भी नहीं। इसलिए हम किस की स्तुति करें?। पश्चात् वह सत्संग आदि उपायों से आस्तिक बन कर अन्य को भी इन्द्र-आत्मा का उपदेश देने लगा–हे इन्द्र की स्तुति करने वाला मनुष्य!

भार्गवो नेम एव, तन्नामकः कश्चन ऋषिः। प्रथममविचारदशायां इन्द्रः=प्रत्यगात्मा नाम, त्वः=कश्चित् न अस्ति इति आह= वदति स्म। तत्र कारणं दर्शयति—कः, ईम्= एनमिन्द्रमात्मानं ददर्श=अद्राक्षीत्, न कोऽप्यपश्यत्। अतः कं वयं अभिष्टवाम=अभिष्टुमः—कस्य स्तुतिं कुर्मः ? । तस्मादिन्द्रः प्रत्यगात्मा नाम कश्चिद्विद्यते इति कथनमात्रमेव न तु तत्सत्यमित्यभिप्रायः। एवमिन्द्रस्यात्मनो नास्तित्वं मन्यमानो नेमाख्यऋषिः कियत्कालं सतामास्तिकानां विदुषां महर्षीणामुपदेशमाकर्ण्य मनःप्रणिधानेन विचार्य च तस्यास्तित्वं स्वाभेदेनानुभवन् अन्यमपि जनं स्वयमुपदिशन्नाह-हे जरितः= स्तोतः—धर्मप्रिय ! अयं=साक्षादपरोक्षः इन्द्रभूतः प्रत्यगात्मा अहमस्मि, प्रत्यक्षतोऽहं मामात्मानमिन्द्रमनुभवामि। इह= तव हृदयेऽपि स्थितं मा=मां प्रत्यञ्चं सर्वसाक्षिणमन्तर्यामिणं त्वमपि पश्य=अनुभव। अतोऽहमेव विश्वाः=विश्वानि—सर्वाणि, जा-

देहादि का साक्षी साक्षात् यह प्रत्यगात्मा इन्द्र मैं ही हूँ। यहाँ सभी के हृदय में अवस्थित मुझ आत्मा को तू देख। मैं ही अपने महत्त्व से इन सभी उत्पत्ति वाले देहादि-अनात्म-वर्ग को वश में कर रहा हूँ। सत्य-आत्मा के उपदेश देने वाले विद्वान् लोग, मेरे ही महत्त्व को बढाते हैं। मैं (खराब पदार्थों का) विदारण करने का स्वभाव वाला हूँ, इसलिए सभी नास्तिक मतों का भी मैं विदारण (खण्डन) करता हूँ।' इस मन्त्र का यह अर्थ है। 'नेम' भार्गव ही है, 'नेम' नाम का यह कोई-एक ऋषि था। प्रथम अविचारदशा में 'इन्द्र प्रत्यगात्मा कोई नहीं है' ऐसा कहता था। उसमें कारण दिखाते हैं—इस इन्द्र आत्मा को किसने देखा ? किसीने भी नहीं देखा। इसलिए हम किस की स्तुति करें ? इसलिए 'इन्द्र प्रत्यगात्मा कोई है' ऐसा कहना मात्र ही है, वह कथन सत्य नहीं है, यह अभिप्राय है। इस प्रकार प्रथम इन्द्र-रूप आत्मा के नास्तित्व को मानने वाला वह 'नेम' नाम का ऋषि, कुछ काल पर्यन्त, आस्तिक-विद्वान्-सत्पुरुष-महर्षियों का उपदेश सुन कर, एकाग्र मन से विचार कर, प्रत्यगात्मा-इन्द्र के अस्तित्व का अपने से अभेदरूप से अनुभव करता हुआ, अन्य मनुष्य को भी स्वयं उसका उपदेश करता हुआ कहता है—हे स्तुति करने वाला, धर्मप्रिय मनुष्य ! यह साक्षात् अपरोक्ष, इन्द्ररूप प्रत्यगात्मा मैं हूँ, प्रत्यक्ष से मैं इन्द्र-आत्मारूप-मुझ का अनुभव करता हूँ। इस तेरे हृदय में भी स्थित, सर्वसाक्षी-अन्तर्यामी मुझ प्रत्यगात्मा का तू भी अनुभव कर, इसलिए मैं

१ तदेतत्स्मरन्ति शिष्टा:—हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं, ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति। हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा, पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम्॥ (रमणगीता)

इसका शिष्ट-महात्मा भी स्मरण करते हैं—'हृदयगुहा के मध्य में 'अहं अहं' इस प्रकार केवल ब्रह्ममात्र वस्तु, साक्षात् आत्मरूप से भासित हो रही है। प्राणवायु की गति के निरोध द्वारा अपने स्वरूप का अनुसंधान करने वाले एवं अपने में विलीन होने वाले-निर्विकल्प-मन से तू हृदय में प्रविष्ट हो-और तू आत्मनिष्ठ हो। इति।

तानि=जन्यानि देहेन्द्रियादीनि कार्याणि-अनात्मलक्षणानि मह्ना=स्वकीयेन महत्त्वेन अभ्यसि=अभिभवामि-वशे स्थापयामि। मत्सत्तास्फूर्तिप्रियत्वैरेव तानीमानि सर्वाणि देहादीनि जातानि सत्त्वावन्ति स्फूर्तिमन्ति प्रियाणि च भवन्ति, इत्येतादृशमेव तेषामभिभवनमत्र ज्ञातव्यम्। किञ्च मा=मां ऋतस्य=सत्यस्य त्रिष्वपि कालेष्वबाध्यस्येन्द्रस्यात्मनः, प्रदिशः=प्रदेष्टारः-उपदेष्टारो महाभागा विद्वांसः, वर्धयन्ति=मन्महत्त्वमनारतमनुसन्धानाः मामेव सर्वोत्तमं परमप्रेमास्पदं सत्यानन्दनिधिमादरेण वर्णयन्ति। अपि च आदर्दिरः=आदरण(विदारण)शीलोऽहं भुवना=भुवनानि-शत्रुभूतानि प्रचारणार्थं संभूयमानानि नास्तिकमतानि सर्वाणि दर्दरीमि=भृशं सत्प्रमाणतर्कादिशस्त्रेण विदारयामि=खण्डयामीत्यर्थः।

केचनाऽर्धविवेकिनः पुनः कर्तृत्वभोक्तृत्वोपेतो देहाद्यतिरिक्तः कश्चिदात्माऽस्तीत्यनुमिमते, तन्न सम्यक्, निरवयवस्य साक्षिण आत्मनः परिस्पन्दपरिणामलक्षणक्रियाश्रयत्वात्मकं कर्तृत्वं, सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणभोगाश्रयत्वात्मकं भोक्तृत्वञ्च नोपपद्यते; यतः कर्तृत्वादयोऽन्तःकरणधर्मा अविद्यया निर्धर्मके आत्मन्यध्यस्यन्ते, अत एव भ्रान्तानां 'अहं कर्ता भोक्ता' इति मिथ्याप्रत्ययः-संभवति। यथा धूमशकटिकास्थो मनुजः पार्श्वस्थिततरुषु धावनकर्तृत्वमारोपयति, तथैवाज्ञो जनः क्रियारहिते कूटस्थे शुद्धात्मनि, अन्तःकरणस्य कर्तृत्वादिकमारोपयति। यथा वाऽभिमुखमपि मुखं मुकुरो विमुखमिव दर्शयति, तथा मूढस्य मिथ्याज्ञानं खलु वस्तुतोऽकर्तारमभोक्तार-

ही, सकल-जन्य-अनात्मरूप-देहेन्द्रियादि कार्यवर्ग को अपनी महिमा से अभिभूत करता हूँ-वश में स्थापन करता हूँ। मेरी सत्ता से, स्फूर्ति से एवं प्रियता से ही वे सब जन्य देहादि—सत्ता वाले-स्फूर्ति वाले एवं प्रिय होते हैं। इस प्रकार का ही उनका अभिभव यहाँ जानना चाहिए। और तीन काल में भी अबाधित-सत्यस्वरूप-इन्द्र आत्मा के उपदेष्टा, महाभाग्यवान् विद्वान्, मेरी बधाई करते हैं, अर्थात् मुझ-आत्मा के महत्त्व का सदा अनुसंधान करते हुए-सर्वोत्तम-परमप्रेम का आश्रय-सत्य-आनन्द के निधि-मुझ का ही आदर से वर्णन करते हैं। और विदारण करने का स्वभाव वाला मैं, अखिल-शत्रुरूप-नास्तिक मत—जो प्रचार के लिए प्रकट हुए हैं—उनका सत्प्रमाण, सत्तर्क आदि शस्त्र के द्वारा अतिशय से खण्डन करता हूँ।

कुछ अर्धविवेकी नैयायिक आदि, 'कर्तृत्व-भोक्तृत्व से युक्त, देहादि से अतिरिक्त, कोई आत्मा है' ऐसा अनुमान करते हैं—वह सम्यक्-मत नहीं है, क्योंकि—निरवयव-साक्षी-आत्मा में, परिस्पंद (गतिविशेष) के परिणामरूप क्रिया के आश्रयत्व-रूप कर्तृत्व, एवं सुख दुःख के साक्षात्काररूप भोग के आश्रयत्वरूप-भोक्तृत्व उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि—कर्तृत्वादि अन्तःकरण के धर्म हैं, अविद्या से निर्धर्मक-आत्मा में अध्यस्त होते हैं। इसलिए-भ्रान्त-मनुष्यों को 'मैं कर्ता हूँ'-भोक्ता हूँ' ऐसा मिथ्या-ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे रेलगाडी में बैठा हुआ मनुष्य, समीप के वृक्षोंमें गाडी के दौडनापन का आरोप करता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य, क्रियारहित, कूटस्थ, शुद्धात्मा में अन्तःकरण के कर्तृत्वादि का आरोप करता है। या जैसे अभिमुख भी मुख को दर्पण विमुख की भाँति-उलटा दिखलाता है। वैसे मूढ-मनुष्य का मिथ्याज्ञान, निश्चय से वस्तुतः अकर्ता-अभोक्ता-

मात्मानं कर्तृत्वाद्युपेतं दर्शयति । यथा वा लघून्यपि ग्रन्थाक्षराणि उपनेत्रकाचादिप्रभावतो गुरूणीवावभान्ति, तथैव शुद्धोऽप्यात्माऽविद्यामहिम्ना विशिष्ट इवावभाति । यथा वा भूतप्रेतादेरावेशतादात्म्यात्परशरीरस्य तद्धर्मभाक्त्वमवलोक्यते, तथा चेतनस्य शुद्धस्यात्मनः सूक्ष्मशरीरादावाभिमानिकतादात्म्याध्यासादेव तद्धर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वादिकमात्मनि मिथ्यैव प्रतीयते । अत एवात्मनस्तदभिमन्तृत्वमपि न वास्तवम् । तत्सम्बन्धस्याप्यसत्यत्वाभ्युपगमात् । तथा चानात्मोपाधिकंल्पितसम्बन्धेन कर्तृत्वादिव्यवहारनिर्वाहे सति तत्सत्यत्वकल्पनानौचित्यात्, कर्तृत्वादेः सुप्तिमूर्च्छासमाध्यादावदर्शनेन कादाचित्कप्रतीतिविषयतया रज्जूरगवत्कल्पितत्वमेवात्मनि निश्चीयते । अयमर्थो भागवतेऽपि सदृष्टान्तः स्पष्टमुक्तः– 'यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव नभोऽन्तरम् । चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहं धिया स्मृतः ॥' इति । भगवता च गीतास्वप्युक्तम्–'अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।' (३।२७) 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।' (५।८) इति ।

अपि चार्धविवेकिनस्ते प्रष्टव्याः ? आत्मनः कर्तृत्वादिकं कीदृशं स्वीकुर्वन्ति भव-

आत्मा को कर्तृत्वादि से संयुक्त दिखलाता है । या जैसे छोटे-छोटे ग्रन्थ के अक्षर, चश्मा के काच आदि के प्रभाव से बड़े की तरह दिखाई पड़ते हैं, वैसे ही शुद्ध-निर्धर्मक-आत्मा, अविद्या की महिमा से कर्तृत्वादि से विशिष्ट की तरह दिखाई देता है । या जैसे भूतप्रेतादि के आवेश का तादात्म्य होने से अन्य शरीर भूतादि के धर्म वाला देखने में आता है, वैसे चेतन–शुद्ध-आत्मा का सूक्ष्मशरीरादि में मिथ्या-अभिमानरूप-तादात्म्य अध्यास से ही उसके धर्म, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि, आत्मा में मिथ्या ही प्रतीत होते हैं । इसलिए आत्मा का कर्तृत्वादि धर्मों का अभिमान (मैं कर्ता हूँ आदिरूप) भी वास्तविक नहीं है । क्योंकि–आत्मा में तादृश-अभिमान का सम्बन्ध भी असत्य माना गया है । तथा च अनात्मस्वरूप-उपाधि के कल्पित सम्बन्ध से कर्तृत्वादि व्यवहार का निर्वाह होने पर उसके सत्यत्व की कल्पना उचित नहीं है, क्योंकि–सुषुप्ति-मूर्च्छा-समाधि आदि में कर्तृत्वादि का भान नहीं होता है, इसलिए कदाचित् प्रतीति का विषय होने के कारण 'रज्जु में सर्प-प्रतीति की भाँति' आत्मा में कर्तृत्वादि कल्पित ही निश्चित होते हैं । यह अर्थ भागवत में भी दृष्टान्तसहित स्पष्ट कहा है–'जैसे गोल-गोल-भ्रमण करने वाले की दृष्टि से आकाश का मध्यभाग, भ्रमण करता हुआ-सा प्रतीत होता है । वैसे अन्तःकरण के कर्तृत्व से उसमें अवस्थित-आत्मा 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मिथ्या-बुद्धि द्वारा मानता है ।' इति । यह गीता में भगवान् ने भी कहा है–'अहंकार से मोहित हुए–अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे मान लेता है ।' 'तत्त्ववस्तु को जानने वाला-योगी 'मैं कुछ भी नहीं करता हूँ' ऐसा माने ।' इति ।

और उन अर्धविवेकी नैयायिक आदि से पूछना चाहिये कि–आत्मा में कर्तृत्वादि आप लोग किस

न्तः ? औपाधिकं वा स्वाभाविकं वा ? आद्ये-इष्टापत्तिः, द्वितीये स्वभावस्यानपायतया मोक्षानुपपत्तिः। यदाहुः सुरेश्वराचार्याः-आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेत्, मा कांक्षीस्तर्हि मुक्तताम्। न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेदौष्ण्यवद्रवेः॥' इति दिक्; विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः। तस्मात् पारमार्थिकविशुद्धात्माऽद्वैतज्ञानस्य सर्वेषामसुलभत्वात्, किन्तु शुद्धान्तःकरणेन केनचिन्महापुरुषेणैव परमेश्वरानुग्रहादधिगन्तव्यत्वात्तद्दुर्लभतममिति भावः। तदुक्तं-'ईश्वरानुग्रहादेपा पुंसामद्वैतवासना। महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामुपजायते॥' (अवधूतगीता.) इति।

[पूर्वमुत्तमाधिकारिणो वीतरागस्य कृते तत्त्वविज्ञानप्रयोजकमन्तर्मुखत्वाऽऽत्मानात्मविवेकत्वादिकं साधनजातमुपदिष्टम्। अधुना मध्यमाधिकारिणो नातिविण्णस्य नातिसक्तस्य कृते समस्तसिद्धिसाधकं भगवदनुग्रहप्रधानं भक्तियोगं निरूपयति]

प्रकार का स्वीकार करते हैं ? क्या औपाधिक मानते हैं या स्वाभाविक ? आद्य में यानी औपाधिक मानते हैं तो इष्टापत्ति है अर्थात् यह हमें भी स्वीकृत है। द्वितीय में-अर्थात् आत्मा में कर्तृत्वादि को स्वाभाविक मानने पर-स्वभाव का अपाय (निवृत्ति) न होने के कारण मोक्ष की असिद्धि हो जायगी। यह सूरेश्वराचार्य कहते हैं-'आत्मा स्वभावतः कर्ता भोक्ता आदिरूप है यदि, तब तू मुक्ति की आकांक्षा मत कर। क्योंकि-'सूर्य की उष्णता की भाँति' पदार्थों के स्वभाव की व्यावृत्ति नहीं हो सकती है।' यह दिक् यानी संक्षेप से कहा है, विस्तार वेदान्त के आकर ग्रन्थों में देखना चाहिए। इसलिए-पारमार्थिक-विशुद्ध-आत्मा का अद्वैत-ज्ञान सभी के लिए सुलभ नहीं है, किन्तु शुद्धान्तःकरण वाले किसी-एक महापुरुष से ही परमेश्वर के अनुग्रह द्वारा प्राप्त करने योग्य है, इसलिए-वह-अद्वैतात्मज्ञान अतीव दुर्लभ है, यह भाव है। वह अवधूतगीता में कहा है-'ईश्वर के अनुग्रह से ही अद्वैत की वासना (भावना)-जो जन्ममरणादि-महाभय से रक्षा करती है-पुरुषों में दो तीन व्यक्तियों को ही उत्पन्न होती है।' इति।

[आगे के मन्त्रों में उत्तमाधिकारी वीतराग के लिए तत्त्वज्ञानहेतु-अन्तर्मुखत्व-आत्म-अनात्म-विवेकत्वादि-साधनो का समूह कहा जा चुका है। अब, जो संसार से न अत्यन्त वीतराग है एवं न संसार में अत्यन्तासक्त है, ऐसे मध्यमाधिकारी के लिए-निखिल सिद्धियों का प्रदाता, भगवान् का अनुग्रह है प्रधानरूप से जिस में, ऐसे भक्तियोग का निरूपण करते हैं]

(१२)

(सुकृतिनाऽऽत्मनिवेदनभक्त्या सर्वात्मा भगवान् प्राप्यते)

(पुण्यशाली ही आत्मनिवेदनभक्ति द्वारा सर्वात्मा भगवान् को प्राप्त होता है)

यः कश्चित्पुण्यकर्मा भगवदेकनिष्ठया निरतिशयप्रीतिरूपया भक्त्याऽखिललोकशरण्यं जगद्गुरुं विश्वेश्वरं प्रपद्यते । तस्य महतो विष्णोर्निगमागममुनिवृन्दगेयं गुणनामादिकमजस्रं संकीर्तयति, तस्मै निवेदयति च सर्वतोभावेन सहात्मना सर्वस्वम्। स खलु भवबन्धनाद्विमुक्तः सन् सकललोकगीयमानामतुलां कीर्तिं समवाप्य पुनरावृत्तिवर्जितं तद्विष्णोः परमं पदं समुपैतीत्यतो मोक्षसाधनगणनासु गरीयस्यामात्मनिवेदनभक्तौ समेषां लोकानां महतीं रुचिं जनयितुं तत्प्राशस्त्यं फलनिरूपणेन वर्णयति—

जो कोई-पुण्यकर्म वाला-सुकृती, भगवान् में ही एकमात्र निष्ठा वाली—अत्यन्त प्रीतिस्वरूप-अनन्यभक्ति से, निखिल लोक के शरण ग्रहण करने योग्य, जगत् के गुरु, विश्व के अधीश्वर, भगवान् की शरण ग्रहण करता है। उस महान्-पूर्ण विष्णु के—वेद, शास्त्र, एवं मुनिसमुदाय,से गायन-करने योग्य-गुणनामादि का निरन्तर कीर्तन करता है। और उसी भगवान् को सर्व-प्रकार से आत्मा के सहित अपना सर्वस्व समर्पण करता है। वही मनुष्य, संसार के दुःखमय बन्धन से छूट कर, सम्पूर्ण लोगों से गाने योग्य-विपुल-कीर्ति को प्राप्त करके, पुनरागमन से रहित-विष्णु-भगवान् के उस परमपद को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मोक्ष के साधनों की गणना में अतिश्रेष्ठ-आत्मनिवेदनभक्ति में सब लोगों की अभि-रुचि पैदा करने के लिए फल-प्रतिपादन द्वारा भगवान् वेद उसकी प्रशस्ति का वर्णन करता है—

ॐ यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे, सुमज्जानये विष्णवे ददाशति ।
यो जातमस्य महतो महि ब्रवत् सेदु श्रवोभिर्युज्यं चिदभ्यसत् ॥

(ऋ. मण्ड. १ सूक्त. १५६ ऋक् २) (तै. ब्रा. २।४।३।९)

जो कोई पुण्यशाली मानव, सृष्टि के आदि में भी अवस्थित--पुराणपुरुष, विविध विश्व का कर्ता, सदा नूतन ही (नया ही) रहने वाला, स्वयं अपनी माया से प्रकट होने वाले-लक्ष्मीपति-विष्णु को आत्मा के सहित सर्वस्व समर्पण करता है। और जो उस महान्-विष्णु से प्रकट होने वाले-रामकृष्णादि-पूज्य साकार स्वरूपों के दिव्य गुणकर्मनामादि का स्मरण कीर्तन करता है, वह भक्त निश्चय से शोभन-यश-कीर्ति से संयुक्त हुआ, ज्ञानी-भक्तों से प्राप्तव्य-कैवल्य-धाम को प्राप्त हो जाता है।'

यः=कश्चित् मर्त्यः सुकृती, पूर्व्याय=जगतः पूर्वमेव भवाय—पूर्वकालीनाय—नित्याय—परमकारणाय, पुनः कथंभूताय? वेधसे=विविधजगत्कर्त्रे विविधप्राणिकृतकर्मफलव्यवस्थापयित्रे वा । नवीयसे=नित्यनूतनाय—अत्यन्तरमणीयाय—शाश्वतस्वरूपायेति यावत्, स्तुत्याय वा । पुनः कीदृशाय? सुमज्जानये=स्वयमेवोत्पन्नाय स्वयंभवे, अभिनवजलधरश्यामलमरविन्ददललोचनमनवरतप्रसादसुमुखमखिलजनविलोचनाह्लादकमनङ्गकोटिसुभगमाश्रितवात्सल्यवरुणालयं रामकृष्णादिविविधविग्रहं धृत्वा स्वयमेवात्ममायया प्रकटीभवित्रे इति यावत् । 'सुमत्=स्वयमित्यर्थे' इति यास्कः, जनेरौणादिके इणि कृते जानि इति रूपं सिद्ध्यति । यद्वा सुतरां मादयतीति सुमत्, तादृशी सुष्ठु स्वयं माद्यन्ती, मादयन्ती चान्यान् सा महालक्ष्मी जाया यस्य सः, तथोक्तः सुमज्जानिः तस्मै—सर्वजगदुन्मादनशीलायाः श्रियः पतये नारायणायेत्यर्थः । 'बहुव्रीहौ जायाया निङि'ति निङादेशः समासान्तः, पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टाय विष्णवे=व्यापनशीलाय भगवते, ददाशति=सहात्मना सर्वस्वं ददाति—निवेदयति—समर्पयति—इत्यर्थः । निरन्तरं भगवदेकश्रवणकीर्तनयजनादिकं कुर्वन् भगवदेकार्पितजीवितः सन् क्षणमात्रमपि परमप्रियसुहृत्तमं भगवन्तमविस्मरन् विषयाकार-

जो कोई पुण्यवान् मानव, जगत् के पूर्वकाल में भी अवस्थित-नित्य-परम कारणरूप, फिर कैसे? विविध जगत् के कर्ता, या अनेक-विविध प्राणियों से किये गये कर्मों के फल के प्रदाता, नित्य-नूतन—अखण्डैकरस—अत्यन्त रमणीय-शाश्वतस्वरूप या स्तुत्य, फिर कैसे? स्वयं ही उत्पन्न होने वाले—स्वयं-भू—नूतन मेघ के समान श्याम—कमलपत्र के सदृश दीर्घ नेत्र वाले—सदैव प्रसन्न-मुख-समस्त प्राणियों के नेत्रों को (अपने दर्शन से) आनन्दित करने वाले—कोटि-कामदेव के समान-अतीव सुन्दर—शरण में आये हुए भक्तों के लिए—वत्सलभावरूप स्नेह के समुद्र, राम-कृष्णादि नाना-दिव्य-शरीरों को धारण कर अपनी माया के द्वारा स्वयं प्रकट होने वाले। 'सुमत्' शब्द को यास्क ने निरुक्त में स्वयं अर्थ का वाचक माना है । 'जन्' धातु से औणादिक इण् प्रत्यय करने पर 'जानि' रूप सिद्ध होता है । अथवा—भली प्रकार से जो मदोन्मत्त बनावे, वह सुमत् है, वैसी, अच्छी तरह स्वयं मदयुक्त होने वाली एवं अन्योंको भी मदोन्मत्त बनाने वाली—महालक्ष्मी है जाया-पत्नी जिस की-ऐसा भगवान् सुमज्जानि है । यानी सर्व जगत् को उन्मत्त बनाने का स्वभाव वाली श्री-लक्ष्मी के पति-नारायण ही सुमज्जानि का यथार्थ है । बहुव्रीहि समास में 'जायाया निङ्' इस सूत्र से जाया शब्द को निङादेश समासान्त होता है । ऐसे पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त-व्यापनशील-विष्णु भगवान् को आत्मा के सहित सर्वस्व का प्रदान करता है—निवेदन-समर्पण करता है, यह अर्थ है । सदा एकमात्र भगवान् का ही श्रवण-कीर्तन-यजन आदि करता हुआ, एकमात्र उस भगवान् को ही अपना जीवन समर्पण करता हुआ—क्षणमात्र भी परम-प्रिय-अतीव हितकारी-भगवान् का विस्मरण नहीं करता हुआ—विषयाकार वृत्ति से रहित-चित्त से

वृत्तिशून्येन चेतसा तमेवाभेदभावनयाऽनवरतं ध्यायमानस्तदेकपरो भक्त आत्मनिवेदक इत्युच्यते। किञ्च यः, अस्य=विष्णोः, महतः=महानुभावस्य विभोर्व्यापकस्य निर्गुणस्य निराकारस्य यद् महि=महत् दिव्यं पूज्यं, जातं=रामकृष्णशिवहिरण्यगर्भादिरूपेण प्रकटीभूतं भजनीयं सगुणं साकारं स्वरूपं ब्रवत्=ब्रूयात् तदीयकल्याणगुणगणानुसन्धानेन तद्दिव्यनामभिश्च तमेव भगवन्तं संकीर्तयेत्, ब्रवीतेर्लेट्यडागमे सति ब्रवदिति रूपं निष्पद्यते। सेदु=उशब्दोऽपिशब्दार्थः, इत्=एवकारार्थो भिन्नक्रमः, सोऽपि आत्मनिवेदको ज्ञानवान् संकीर्तयिता भक्तः, एव=निश्चयेन, श्रवोभिः=श्रवणीयैः–दिगन्तविख्यातसद्यशोभिर्युक्तः सन्, युज्यंचित्=ज्ञानिभिर्भक्तैर्गन्तव्यमेव तत्पदं कैवल्यं धाम, अभि=आभिमुख्येन–सुतरां असत्=गच्छति–प्राप्नोतीत्यर्थः॥

उसीका ही अभेदभावना से सदा ध्यान करता हुआ–उसीके ही परायण रहने वाला–भक्त आत्मनिवेदक कहा जाता है। और जो–इस महानुभाव–विभु–व्यापक–निर्गुण–निराकार–विष्णु का जो दिव्य–पूज्य, राम, कृष्ण, शिव, हिरण्यगर्भ, आदि–अनेक रूप से प्रकट होने वाला–भजनीय–सगुण–साकार स्वरूप का कथन करता है अर्थात् उसके कल्याणकारी गुणों के समुदाय का अनुसंधान द्वारा उसके दिव्य–नामों से उस भगवान् का ही जो संकीर्तन करता है। 'ब्रूञ्' धातु का लेट् लकार में अट् का आगम होने पर 'ब्रवत्' ऐसा रूप निष्पन्न होता है। 'सेदु' का सोऽपि एव (वह भी ही) अर्थ है, इसमें उ शब्द का अपि अर्थ है, इत् का एवकार अर्थ है, उसका भिन्न क्रम है, यानी अन्य पद के साथ उसका सम्बन्ध है। वह भी आत्मनिवेदक संकीर्तनप्रेमी ज्ञानवान् भक्त, निश्चय से, श्रवण करने में शोभन–दिशाओं के अन्त तक विख्यात–अच्छे–यशों से युक्त हुआ, वह, ज्ञानवान् भक्तों से प्राप्त करने योग्य–कैवल्य–पद धाम को अच्छी रीति से प्राप्त होता है॥

(१३)

(भगवन्नामादिकीर्तनं स्वान्तःशुद्धये सम्यग्-ज्ञानप्राप्तये च प्रभवति)

(भगवान् के नामादि का कीर्तन, अन्तःकरण की शुद्धि के लिए एवं सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति के लिए समर्थ होता है)

अप्रतिमः किल भगवतो दिव्यगुणकर्मनामादिसंकीर्तनस्य महिमा। तत्खलु सृजति पराः श्रेयःपरम्पराः। संकीर्तयितारः सर्वसन्तापविनिर्मुक्ताः सन्तः किमप्यात्यन्तिकमनिर्वाच्यं सुखमनुभवन्ति। रहस्यार्थातु-

निश्चय ही भगवान् के दिव्य–गुणकर्म–नामादि के संकीर्तन का महिमा–उपमारहित है। वह उत्तम–कल्याण की परम्परा का निश्चय से सर्जन करता है। संकीर्तन करने वाले–सकल संतापों से अच्छी प्रकार विमुक्त हुए, अलौकिक–अवर्णनीय–अकथनीय–आत्यन्तिक–सुख का अनुभव करते हैं।

सन्धानपुरःसरेण सच्छ्रद्धयाऽनुष्ठितेन तेनाविच्छिन्नतैलधारावद्भगवदेकाकाराः समाधिरूपाश्चेतोवृत्तयः सम्भवन्तीत्यनुष्ठातॄणां प्रत्यक्षमेतत् । तदेतद् दृष्टान्तपुरःसरमाम्नायते स्मर्यते च—'अग्निं विश्वा अभि पृक्षः सचन्ते समुद्रं न स्रवतः सप्त यह्वीः ।' (ऋ. १।७१।७)। इति। 'मद्गुणश्रवणमात्रेण मयि सर्वगुहाशये । मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥' (भा. ३।२९।१२) इति। अयमर्थः-भगवन्तं भजतां भक्तानां विश्वाः=सर्वाः, पृक्षः[1] अन्ननामैतत्—अन्नमयं मनः तद्वृत्तय इत्यर्थः । वृत्तिवृत्तिमतोरभेदात् । अग्निं=अङ्गनादिदिव्यगुणकर्मादियुक्तं परमेश्वरं अभिसचन्ते=आभिमुख्येन समवयन्ति–संलग्नाः तदेकाकारा भवन्तीत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः। न=इव—यथा स्रवतः=स्रवन्त्यः प्रवहन्त्यो गङ्गाद्या नद्यः समुद्रं=सागरमभिगच्छन्ति तद्वत्। कीदृश्यो नद्यः ? सप्त–सप्तसंख्याकाः, 'इमं मे गङ्गे यमुने' इत्यस्यामृचि सप्त हि नद्यः प्राधा-

भगवन्नामों के रहस्यभूत-अर्थों का अनुसंधानपूर्वक सात्त्विकी श्रद्धा द्वारा अनुष्ठान किये गये संकीर्तन से अविच्छिन्न–तैल की धारा की भाँति भगवान् के साथ एकाकार–तन्मय समाधिरूप चित्त की वृत्तियाँ हो जाती हैं, यह संकीर्तन के अनुष्ठान करने वाले भक्तों को प्रत्यक्ष है । वही यह दृष्टान्तपूर्वक-श्रुति में कहा गया है-एवं भागवतपुराण में भी स्मृत किया है–'जैसे गंगा आदि बड़ी सात नदियाँ समुद्र की तरफ दौड़ती हुई उसमें ही मिल जाती हैं, वैसे भगवद्भक्तों के मन की सभी वृत्तियाँ अनन्त-दिव्यगुणकर्मादि से संयुक्त-परमेश्वर की ओर जाती हुई-तदाकार होती हुई-उसमें ही विलीन हो जाती हैं ।' इति । 'मुझ परमेश्वर के अनुपमेय गुणों के श्रवणमात्र से ही सर्व प्राणियों की बुद्धि-रूपी गुहा में साक्षीरूप से अवस्थित-मुझ परमेश्वर में ही 'समुद्र में गंगाप्रवाह की भाँति' भक्तों की मनोवृत्ति-अविच्छिन्न-तदाकार हो जाती है ।' इति । यह अर्थ है–भगवान् का भजन करते हुए भक्तों की सकल–पृक्ष यह अन्न का नाम है–इसलिए पृक्ष शब्द अन्न का विकार मन का बोधक है–अर्थात् मन की वृत्तियाँ–वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद माना जाता है, अङ्गनादि दिव्य गुण-कर्मादि से संयुक्त-अग्नि नाम वाले-परमेश्वर के अभिमुख हुई उसीमें ही संलग्न-एकाकार हो जाती हैं, यह अर्थ है । उसमें दृष्टान्त कहते हैं । यहाँ 'न' का 'इव' अर्थ है । जैसे बड़े वेग से बहती हुई गंगादि नदियाँ सागर के अभिमुख हुई उसमें ही विलीन हो जाती हैं तद्वत् । वे नदियाँ कैसी हैं ? सात संख्या वाली । 'इमं मे गङ्गे । यमुने !' इस ऋचा में प्रधानरूप से सात ही नदियाँ सुनने में आती हैं । वे सात नदियाँ यही हैं अर्थात्

[1] पृक्षः–पृची सम्पर्के इत्यस्मात् औणादिकः कर्मणि क्विप् धातोः सुगागमश्च, यद्वा असुनि 'सुपां सुलुक्' इति जसो लुक् । स्रु गतौ स्रवणं स्रवः तत्कुर्वन्तीति स्रवतः । इति ॥

न्येन श्रूयन्ते । यद्वा:-महन्नामैतत्-महत्त्व: । भागवतश्लोकस्तु स्पष्टार्थः । अत एव यूयं संकीर्तनयोगेन यौष्माकीणं सर्वमपि जीवनं पावनं सफलञ्च कुरुध्वमिति तदनुष्ठानाय प्रतिज्ञां कारयन्नादिशति—

बड़ी हैं । भागवत के पूर्वोक्त श्लोक का अर्थ स्पष्ट है । इसलिए आप लोग संकीर्तनयोग द्वारा अपना सकल जीवन, पावन एवं सफल करें ! इस प्रकार संकीर्तनयोग के अनुष्ठान के लिए प्रतिज्ञा करवाता हुआ भगवान् वेद आदेश देता है—

ॐ तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद, ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन, महस्ते विष्णो ! सुमतिं भजामहे ॥

(ऋ. मण्ड. १ सूक्त. १५६ ऋक् ३) (तै. ब्रा. २।४।३।९)

हे स्तुति-संकीर्तन करने वालो ! उस सनातन-पुरुष को—जो ऋत का (यज्ञ एवं सत्य का) गर्भ (सार) रूप है-यथार्थरूप से जानते हुए-अपने जीवन को पूर्ण-सफल करें । इस महाविष्णु-भगवान् के परमपावन नाम को जानते हुए श्रद्धापूर्वक उसका जप-कीर्तनादि करें । हे विष्णो ! आप महान् भगवान् की सुमति-शोभन-पवित्र बुद्धि का हम आप के उपासक सेवन करें या सम्पादन करें ।'

हे स्तोतारः=हे संकीर्तयितारः ! तमु=तमेव—सर्वकारणत्वेन प्रसिद्धं प्रणतवत्सलं कृपासुधाब्धिं सकललोकगुरुं भक्ताभिवाञ्छितकल्याणसमर्पणकल्पद्रुमं विश्वाधिनाथं भगवन्तं श्रीमन्नारायणं विष्णुं, कीदृशं ? पूर्व्यं=पूर्वार्हं-अनादिसंसिद्धं—सनातनं—पुराणपुरुषमिति यावत् । पुनः कथंभूतं ? ऋतस्य=यज्ञस्य गर्भं=सारभूतं, यज्ञानुष्ठानेनाभिवाञ्छनीयफलभूतमिति यावत्, यद्वा यज्ञस्य मध्ये गर्भवत्तदधिष्ठातृत्वेन वर्तमानमित्यर्थः। यद्वा ऋतस्य—यज्ञस्य गर्भभूतं यज्ञात्मनोत्पन्नमित्यर्थः[1] । 'यज्ञो वै विष्णुः' (शत. ब्रा.

हे स्तुति करने वालो ! अर्थात् संकीर्तन करने वालो ! जो सर्व के कारणरूप से प्रसिद्ध हैं, अत्यन्त-नम्र-अहंकाररहित—भक्त के ऊपर जो अति स्नेह रखते हैं, करुणारूप-अमृत के सागर हैं, अपने भक्तों को-उनसे इच्छित-कल्याण के समर्पण करने में कल्पवृक्ष के समान हैं, विश्व के अधीश्वर, भगवान् श्रीमान् नारायण विष्णु हैं—कैसे हैं वे ? पूर्व्य हैं अर्थात्-सब के प्रथम में भी विद्यमान होने योग्य-अनादि काल से सिद्ध, सनातन पुराणपुरुष हैं, फिर वे कैसे हैं ? ऋत यानी यज्ञ के गर्भ यानी सारभूत हैं, अर्थात् यज्ञ के अनुष्ठान द्वारा वाञ्छा के विषय-अभीष्ट फलरूप हैं । या यज्ञ के मध्य में सार की भाँति यज्ञ के अधिष्ठातृरूप से वर्तमान हैं । या यज्ञ के गर्भभूत यानी यज्ञरूप से उत्पन्न (प्रकट) हुए हैं । 'यज्ञ ही विष्णु है' ऐसा

१ कार्यस्य गर्भभूतं कारणमेव कार्यरूपेणोत्पद्यते इति सर्वत्र प्रसिद्धमित्यनुसन्धायेदमवगन्तव्यम् ।
कार्य का गर्भरूप कारण ही कार्य रूप से उत्पन्न होता है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, उसका अनुसन्धान करके यह समझना चाहिए ।

१।१।२।१२) इति श्रुतेः। अथवा ऋतस्य= उदकस्य गर्भं=गर्भभूतं कारणं उदकमुपलक्षणमन्येषां भूतानां,'अप एव ससर्जादावि'ति (मनु. १।८) स्मृत्या तस्य प्राधान्यावगमात्तन्निर्देशः, कारणं हि कार्यस्य गर्भभूतं समन्वयात्, कारणसमन्वितानि कार्याणि लोकेऽपि दृश्यन्ते, अत एव तस्य गर्भत्वेन निर्देशोऽत्र विज्ञेयः। यद्वा ऋतस्य=उदकस्य क्षीरसमुद्रस्य मध्ये गर्भं=गर्भवन्निवसनशीलमिन्दिराहृदयवल्लभं नारायणमिति यावत्। तदुक्तं-राजर्षिणा मनुना='आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं प्रोक्तं तेन नारायणः स्मृतः॥' (१।१०) इति। अथवा ऋतस्य=पारमार्थिकस्य-त्रिकालाबाध्यस्य सत्यस्य, गर्भं=अन्तःसारभूतं अधिष्ठानतत्त्वं, अत्र 'पुरुषस्य चैतन्यमि'- तिवदभेदार्थबोधिका औपचारिका षष्ठी ज्ञेया। एवंभूतं विष्णुं यथा=येन गुरूपसदनश्रद्धातत्परत्वादिना प्रकारेण यूयं विद= जानीथ; तथा तं साक्षात्कृत्य जनुषा पिपर्तन=जन्मसमाप्तिं कुरुत इत्यर्थः। प्रत्यगात्मनो विष्णोः साक्षात्कारेण पुनर्जन्मसमाप्तिलक्षणो मोक्षो लभ्यते इति भावः। यदाह- श्रीमद्भागवते वेदपुरुषः सनातनो भगवान्- 'मामात्मानं स्वयंज्योतिः सर्वभूतगुहाश-

शतपथब्राह्मण श्रुति भी कहती है। अथवा ऋत का उदक भी अर्थ है, उसका गर्भरूप कारण है। उदक अन्य पृथिव्यादि-भूतों का उपलक्षक है। 'जल ही आदि में सर्जन किया' इति स्मृति-वचन से जल में प्रधानता जानी जाती है, इसलिए जल का ही निर्देश किया है। कारण ही कार्य का गर्भभूत है, समन्वय होने से, कारण से समन्वित कार्य लोक में भी देखने में आते हैं। इसलिए उसका गर्भरूप से यहाँ निर्देश किया है, ऐसा जानना चाहिए। यद्वा ऋत यानी क्षीरसमुद्र के जल के मध्य में गर्भ की भाँति निवास करने के स्वभाव वाले लक्ष्मी-हृदय के अतिप्रिय, नारायण, ही ऋतगर्भ शब्द का अर्थ है। यह राजर्षि मनु ने भी कहा है-'आप (जल) 'नार' नाम से कही हैं, क्योंकि-आप, नर (परमेश्वर) से प्रसूत हुई हैं। इसलिए उसका नार नाम है वही उसका अयन (निवासस्थान) कहा गया है, इसलिए वह 'नारायण' कहा जाता है।' इति। अथवा ऋत अर्थात् पारमार्थिक-त्रिकाल में भी बाधरहित-सत्य के गर्भरूप यानी अन्तःसाररूप है ऐसा वह अधिष्ठानस्वरूप है, यहाँ 'पुरुष का चैतन्य है' इसकी भाँति, अभेद अर्थ की बोधिका, औपचारिकी षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिए। उस प्रकार के विष्णु भगवान् को-सद्गुरु के समीप में जाना, श्रद्धा, तत्परता, आदि-जिस प्रकार से आप लोग जानें। उस प्रकार से उसका साक्षात्कार करके जीवन को पूर्ण-सफल करें, अर्थात् जन्म की समाप्ति करें। प्रत्यगात्मा-विष्णु के साक्षात्कार से पुनर्जन्म की समाप्तिरूप लक्षण वाला मोक्ष प्राप्त होता है, यह भाव है। यह श्रीमद्भागवत में वेदपुरुष सनातन भगवान् कहता है-'सर्व-चराचर-प्राणियों की बुद्धिरूपी गुहा में साक्षिरूप से अवस्थित, स्वयं-ज्योतिः, मुझ आत्मा को अपने आत्मा में ही आत्म-

यम् । आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥' (भा. ३।२५।३९) इति । यद्वा यथाविदः=यथार्थतत्त्ववेत्तारः सन्तो भवन्तः, जनुषा=विष्णुमयेन शान्तिप्रसन्नतोपेतेन जीवनेन, पिपर्तन=सर्वात्मानं विष्णुमानन्दनिधिं स्वस्वरूपं यूयं प्रीणयत-परमेण प्रेम्णा सततमनुभवत इत्यर्थः । अथवा यथाविदः=यावत् विष्णुतत्त्वस्य यथावद्विज्ञानवन्तो यूयं न भवत, तावत्-तत्स्मरणसंकीर्तनादिमयेन जीवनेन विष्णुं पिपर्तन=प्रसादयत, यतो विष्णुप्रसादादेव तत्तत्त्वस्याधिगमसंभवादिति भावः । विदेर्लेटि मध्यमपुरुषस्य प्रथमाविभक्तेर्वा बहुवचनं, विद ऋतस्येत्यत्र संहितायां 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । किञ्च अस्य=महानुभावस्य व्यापकस्य विष्णोः, नामचित्=सर्वैर्मननीयं पावनमभिधानं सार्वात्म्यप्रतिपादकं 'शिवविष्णुहरी'त्यादिकं नाम, जानन्तः=सेवितं सत्तरसकलपुरुषार्थप्रदमित्यधिगच्छन्तः सन्तो यूयं आ=समन्तात् सर्वतो भावेन, विवक्तन=विशेषेण ब्रूत-परया श्रद्धया तन्मयतायुक्तया वदत-निरन्तरं जपत-संकीर्तयत इत्यर्थः । यद्वा विष्णोरेव नाम=स्वर्गादिसाधनभूतयज्ञाङ्गमन्त्रद्रव्यदेवतेष्ट्याद्यात्मना परिणामं, वर्णलोपागमादेर्निरुक्तलक्षणत्वात्-एकदेशस्यापि समुदायबोधकत्वन्यायाच्चात्र नाम्नेन परिणामबोधनं प्रत्येत-

रूप से साक्षात्कार करके तू शोकरहित हुआ अभयपद को प्राप्त होगा ।' इति । या, यथाविदः यानी यथार्थ-तत्त्व के वेत्ता हुए आप लोग, विष्णुमय-शान्ति एवं प्रसन्नता से संयुक्त जीवन से सर्वात्मा, आनन्दनिधि-अपने स्वरूपभूत-विष्णु का परमप्रेम द्वारा निरन्तर अनुभव करें, यह अर्थ है। अथवा जब तक विष्णुस्वरूप के यथावत् विज्ञान वाले आप लोग न होवें, तब तक उसके प्रचुर-स्मरण संकीर्तन आदि वाले जीवन के द्वारा विष्णु-भगवान् को प्रसन्न करें । क्योंकि-विष्णु के प्रसाद से ही उसके स्वरूप का यथार्थ विज्ञान प्राप्त हो सकता है, यह भाव है । 'विद्' ज्ञानार्थ का धातु है । 'विद' यह लट् लकार में मध्य पुरुष का या 'विदः' यह प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है । 'विद ऋतस्य' इसमें संहिता में 'ऋत्यकः' इस सूत्र से प्रकृतिभाव हो गया है (संधि आदि का न होना प्रकृतिभाव है) और इस महानुभाव-व्यापक विष्णु-परमात्मा के-सभी से मानने या मनन करने योग्य-सार्वात्म्य का प्रतिपादक शिव, विष्णु, हरि इत्यादि पावन नाम का-'सेवन किया हुआ वह सकल-पुरुषार्थ का प्रदाता है' ऐसा-जानते हुए आप लोग, निरन्तर सर्व प्रकार से तन्मयतायुक्त-सात्त्विकी-उत्तम श्रद्धा द्वारा-जप करें-संकीर्तन करें, यह अर्थ है । अथवा-स्वर्गादि के साधनरूप-यज्ञ के अंग-मन्त्र द्रव्य-देवता इष्टि-आदिरूप, विष्णु का ही नाम यानी परिणाम है, ऐसा जानते हुए आप लोग सर्वमय-व्यापक-विष्णु का शिष्यों के प्रति उपदेश करें । वर्ण का लोप होना, वर्ण का आगम होना आदि निरुक्त के लक्षण हैं, इससे एवं एकदेश भी समुदाय का बोधक होता है, इस न्याय से भी यहाँ 'नाम' शब्द से परिणाम का ग्रहण हुआ है, ऐसा जानना चाहिए । यह (यज्ञाङ्गरूप से विष्णु का परिणाम)

तन्यम्। आजानन्तो यूयं सर्वमयं विश्वं विष्णुं विवक्तन=ब्रूत–शिष्येभ्यः समुपदिशत इति यावत्। तदुक्तं गोविन्देन गीतासु–'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम्। मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥' (९।१६) इति। भागवते भगवता व्यासेनापि–'त्वं क्रतुस्त्वं हविस्त्वं हुताशः स्वयं त्वं हि मन्त्रः समिद्दर्भपात्राणि च। त्वं सदस्यर्त्विजो दम्पती देवता अग्निहोत्रं स्वधा सोम आज्यं पशुः ॥' (४।७।४५) इति। यतः पृथग्दृष्टिरज्ञो विष्णुतत्त्वतो विमुखः सन् विषीदति, अनन्यदृष्टिर्विज्ञस्तत्त्वाभिमुखः सन् संप्रसीदतीति भावः। (वचेर्लोटि छान्दसः शपः श्लुः बहुलं छन्दसीत्यभ्यासस्येत्वं पूर्ववत्तनादेशः)। तदेवं सर्वात्मनो विष्णोः संकीर्तनादिकमुपदिष्टम्। इदानीं तत्साक्षात्काराय भक्ता यजमानास्तदखण्डाकाराश्चित्तवृत्तीर्विधातुं प्रतिजानते–हे विष्णो! हे सर्वात्मदेव! महः=महतो विभोः, ते=तव सुमतिं=त्वदेकाकारां सुष्ठु–शोभनां बुद्धिं आ=समन्तात् भजामहे=सेवामहे सम्पादयामो वा, वयं त्वामेवैकं यजनशीलाः। अयं भावः–स्मरणकीर्तनादिनेदमेव कर्तव्यं

गोविन्द भगवान् ने गीता में कहा है–'क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म में हूँ, यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादिक स्मार्तकर्म में हूँ, स्वधा अर्थात् पितरों के निमित्त दिया जाने वाला अन्न में हूँ, ओषधि अर्थात् सब वनस्पतियाँ मैं हूँ, एवं मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ, और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ।' इति। भगवान् व्यास ने भागवत में भी इस प्रकार कहा है–'तू क्रतु है, तू हवि है, तू स्वयं हुताश (अग्नि) है, तू ही मन्त्र है, तू समित् (लकडी) है, दर्भ है, पात्र है, तू सदस्य (सभासद) है, ऋत्विक् है, दम्पती (यजमान और उसकी पत्नी) है, तू ही देवता है, अग्निहोत्र है, स्वधा है, सोम है, आज्य एवं पशु भी है।' इति। जिस कारण से–भेददृष्टि वाला अज्ञानी, विष्णुतत्त्व से विमुख-हुआ विषाद को प्राप्त होता है, और अभेददृष्टि वाला-विज्ञानी, विष्णुतत्त्व के अभिमुख हुआ, परम प्रसन्न होता है, यह भाव है। इस प्रकार सर्वात्मा विष्णु के संकीर्तन आदि का उपदेश दिया। अब उस विष्णुतत्त्व के साक्षात्कार के लिए यजमान, भक्त, विष्णु-विषयक-अखण्ड-आकार वाली-चित्तवृत्तियाँ को बनाने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं–हे विष्णो! हे सर्व के आत्मरूप! देव! एकमात्र आप का ही यजन (आराधना) करने के स्वभाव वाले हम, महान् विभु-रूप आप की सुमति यानी आप के स्वरूप के साथ ही तदाकार होने वाली शोभन बुद्धि का ही हम सर्व प्रकार से सेवन करते हैं या सम्पादन करते हैं। यह भाव है–स्मरण, कीर्तन, आदि द्वारा–सर्व प्रकार से अन्य विषय में

---

१ आदिमध्यान्तलुप्तानि प्रच्छन्नापिहितानि च। ब्रह्मणः (वेदस्य) परिगुप्त्यर्थं वेदे व्यवहितानि च॥ (निरुक्त. १।१।३)

वेद में कहीं आदि पद लुप्त हैं, कहीं मध्य पद एवं कहीं अन्त के पद लुप्त हैं, एवं कहीं छिपे हुए पद हैं, कहीं ढके हुए पद हैं एवं कहीं व्यवहित पद हैं, यह सब वेद की रक्षा के लिए हुआ है। इसका स्पष्टीकरण निरुक्त में या गुरुमुख से जानना चाहिए।

विद्यते, यत्सर्वतोभावेन विषयान्तरानाक्षिप्तेन मनसा मुहुर्मुहुर्विष्णुचिन्तां विधाय मनसः तदेकतानत्वसम्पादनम् । इदमेव तत्त्वसाक्षात्कारप्रयोजकं निदिध्यासनं विद्वद्भिः परिगीयते इति । यद्वा तत्साक्षाद्दर्शनं तदच्छानुग्रहदृष्टिमन्तरेण कथमपि न सिद्ध्यतीत्यतः तामेव याचन्ते इत्याह—ते विष्णोः सुमतिं=त्वदीयामच्छानुग्रहबुद्धिं-कृपादृष्टिं भजामहे-सेवामहे—अवलम्बामहे, याचामहे वा निरन्तरमिति ।

अथवा लोकहिताय युष्माभिः 'जना उपदेष्टव्या' इति भगवदाज्ञया प्रवर्तमानाः श्रुतयः तावज्जनानुपदिशन्ति । हे जनाः ! यूयं तमु स्तोतारः=स्तुत-स्तुतिं कुरुत। छन्दसीत्यधिकारे 'व्यत्ययो बहुलमि'ति सूत्रात्—लोडर्थे लुट् । पुरुषश्च मध्यमार्थे प्रथमः । तथा चात्र न तृजन्तमेतदपि तु तिङन्तमेव क्रियापदम् । ननु—तादृगस्माकं सामर्थ्यं नास्ति, कथं तं परमेश्वरं विष्णुं स्तुम ? इत्याशङ्क्याहुः—यथा विदन्ति ते यथाविदः तथाभूता यूयं स्वमत्यनुसारेणैवेत्यर्थः । ननु—कोऽसौ यं वयं स्तुम इत्याहुः—जगतः पूर्वं भवं अवस्थितं—पूर्व्यं=('दिगादिभ्यो यदि'ति यत्)अनादिं सर्वस्याप्यादिमतः प्रपञ्चजातस्यैकमेव स्वामिनमित्यर्थः । ननु—अनादित्वेऽपि तस्य स्तोतव्यत्वं कुत इत्यत्रोचुः—

आक्षिप्त (आसक्त) न होने वाले मन से, बार बार विष्णु की चिन्ता करके मन का एकतानत्व का सम्पादन ही कर्तव्य है । यही तत्त्वसाक्षात्कार का प्रयोजक निदिध्यासन है, ऐसा विद्वान् कहते हैं । अथवा, उसका साक्षात् दर्शन, उसकी विमल-दयादृष्टि के बिना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होता है, इसलिए इससे उसकी दयादृष्टि की ही याचना करते हैं—यह कहते हैं—तुम विष्णु की सुमति—यानी आप की सुन्दर दया वाली बुद्धि अर्थात् कृपादृष्टि का हम सेवन करते हैं, आश्रय ग्रहण करते हैं, या सदा उसकी याचना करते हैं । इति ।

अथवा—लोकों के हित के लिए—आप को 'मनुष्यों को उपदेश देना चाहिए' ऐसी भगवान् की आज्ञा से प्रवर्तमान श्रुतियाँ मनुष्यों को उपदेश देती हैं—हे मनुष्यो ! आप लोग, उसकी स्तुति करें । 'छन्दसि' इस सूत्र के प्रकरण में 'व्यत्ययो बहुलम्' इस सूत्र से लोट् के अर्थ में लुट् हुआ है । मध्यम पुरुष के अर्थ में प्रथम पुरुष हुआ है । तथा च यहाँ 'स्तोतार.' यह तृजन्त पद नहीं है, किन्तु तिङन्त ही क्रियापद है ।

शंका—ऐसा हमारे में सामर्थ्य नहीं है, उस परमेश्वर विष्णु की हम कैसे स्तुति करें ? ।

समाधान—जैसे जानते हैं, वैसे आप लोग अपनी बुद्धि के अनुसार उसकी स्तुति करें ।

शंका—जिसकी हम स्तुति करते हैं, वह कौन है ?

समाधान—इस जगत् के आदि में अवस्थित है, इसलिए वह अनादि है, और आदि वाले-समस्त प्रपञ्चसमुदाय का एकमात्र-स्वामी है ।

शंका—उसको अनादि होने पर भी वह स्तुति के लिए योग्य, किस कारण से है ?

समाधान—ऋत का सत्य अर्थ है, और वह

ऋतं=सत्यं वेदवाक्यं तस्य वेदान्तशास्त्रस्येति यावत्। गर्भं=अतिगोप्यत्वेन सर्वोपास्यतया प्रतिपाद्यमित्यर्थः। ननु–चैवं भवतु नाम, परन्तु तं स्तुत्वा किमिहास्माभिर्लभ्यमित्याकांक्षायामाहुः–जनुषा पिपर्तन=जन्मना पिपूर्त–जन्मपूर्तिं प्राप्नुतेति यावत्। ('पॄ पालनपूरणयो'रिति धातोर्लोण्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य 'तप्तनप्तनथनाश्चे'ति सूत्रेण तनबादेशो गुणस्तु धातोर्बाहुलकात् पिपर्तन इति सिद्ध्यति।) विष्णुं स्तुवतां मोक्षलाभाज्जन्मसमाप्तिरेव महाफलमिति भावः। अहो! एवं तर्हि तं स्तोतुं वयन्तु किमपि न जानीमः किमेतर्हि कुर्मः ? इत्यनुशोचतः प्रत्याहुः–आजानन्तः। (छन्दसि परेऽपि, व्यवहिताश्च, इति सूत्राभ्यामस्येति व्यवधानं शोभनमेव) आ=ईषत् जानन्तः=सम्यङ् न जानन्त इत्यर्थः। अस्य विष्णोः नामचित्=नामापि विवक्तन=ब्रूत, (अनार्धधातुकेऽपि छन्दसि बहुलमिति 'ब्रुवो वचिः' तनप्पूर्ववत्। अथवा 'वच परिभाषणे' इत्यस्यैव बहुवचनप्रयोगोऽपि बाहुलकात्) स्तोतुमशक्तौ श्रीविष्णोः पावनानि नामान्येव सादरं कीर्तयत। तावता जन्मसमाप्तिलक्षणं मोक्षं सम्यक् प्राप्स्यथैवेत्यर्थः। इत्थं जनानुपदिश्य भगवन्तं सम्बोधयन्त्यः श्रुतयः स्वयमूचुः। विष्णो! भो भगवन्! भवदाज्ञया अस्माभिरुपदिष्टा एते जनाः कुर्वन्तु मा वा। वयं तु ते=तव सुमतिं=शुद्धज्ञानात्मकं महः=स्वप्रकाशात्मकस्वरूपभूतं तेजः भजामहे=सेवामहे। सुमति मह इत्यनयोर्नियतलिङ्गत्वात्सामानाधिकरण्यमिति ॥

सत्य वेदवाक्य है। वह वेदान्तशास्त्र में गर्भ यानी अति गोप्य है, इसलिए वह सर्व के उपास्यरूप से प्रतिपाद्य है, (इसलिए स्तुति के योग्य है)।

शंका–ठीक है-ऐसा होओ, परन्तु उसकी स्तुति करके हमें यहाँ क्या लाभ होगा ? ऐसी आकाङ्क्षा के होने पर श्रुतियाँ समाधान करती हैं–आप लोग जन्म की समाप्ति को प्राप्त हो जायेंगे। विष्णु की स्तुति करने वालों को मोक्ष का लाभ होता है, इससे जन्म की समाप्ति ही महाफल प्राप्त हो जाता है, यह भाव है।

शंका–अहो! जब विष्णुस्तुति की ऐसी महिमा है, तब हम उसकी स्तुति करने के लिए कुछ भी नहीं जानते हैं, इस समय हम क्या करें ? ऐसा शोक करने वाले मनुष्यों के प्रति श्रुतियाँ कहती हैं। आजानन्तः अर्थात् आ यानी थोड़ा जानते हुए–अच्छी रीति से स्तुति करने के लिए नहीं जानते हुए भी, आप लोग, उस विष्णु के नाम भी बोले, अर्थात् स्तुति करने की सामर्थ्य न होने पर श्रीविष्णु-परमात्मा के पावन-नामों का ही आदरपूर्वक सकीर्तन करें, इतने मात्र से जन्म की समाप्तिरूप मोक्ष को आप लोग अच्छी रीति से प्राप्त होंगे। इस प्रकार मनुष्यों को उपदेश दे कर भगवान् को सम्बोधन से बोधित करती हुईं श्रुतियाँ स्वय कहती हैं–हे विष्णो! हे भगवन्! आप की आज्ञा के अनुसार हमने मनुष्यों को उपदेश दिया, वे मनुष्य उपदेश के अनुसार कार्य करें या न करें, परन्तु हम तो तेरे शुद्ध ज्ञानरूप, स्वयप्रकाश स्वरूपभूत तेज का सेवन करते हैं। सुमति और मह इन दोनों पद का अपना अपना नियत लिङ्ग होने पर भी विशेष्यविशेषणभाव का प्रयोजक सामानाधिकरण्य है। इति।

(१४)

(पूर्णसन्तोषसुखलब्धये पूर्णः परमात्मैव समाराधनीयः)

(पूर्ण संतोष एवं पूर्ण सुख की प्राप्ति के लिए पूर्ण परमात्मा की ही आराधना करनी चाहिए)

निरङ्कुशमहत्त्वाकांक्षिणः सर्वे मनुजाः निसर्गतः सुखस्य ज्ञानस्य स्वातन्त्र्यस्य निर्भयत्वस्य च पूर्णतामभिलषन्ति । अपि च 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ती'ति । (७।२३।१) छान्दोग्यश्रुत्या, 'यावदल्पस्य परिच्छिन्नस्य देहादेरहंत्वममत्वलक्षणः सम्बन्धस्तिष्ठति, तावदसन्तोषो नापगच्छति, अल्पस्याधिकतृष्णाहेतुत्वात्तस्या दुःखप्रयोजकत्वाच्च, न हि सत्यां तृष्णायां सुखस्य गन्धमात्रमप्युपपद्यते । अतः पूर्णस्यापरिच्छिन्नस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मणोऽभेदभावनापरिपाकप्रादुर्भूतात्पारमार्थिकसम्बन्धादेव पूर्णः सन्तोषः प्रादुर्भवति, तस्मादनुत्तमपूर्णसुखादिलाभः' इत्यवगम्यते, तथा च यथा विपश्चिदपश्चिमाः तत्त्वचिन्तनरसिका विभिन्नैः प्रकारैः पूर्णं परमात्मानममन्दानन्दसान्द्रं समाराध्य परमसन्तुष्टा भूत्वा पूर्णतां स्वामवाप्नुवन्ति । तथा मुमुक्षुभिरपि पूर्णं सन्तोषसुखमवाप्तुं पूर्ण एव परमात्मा सच्छ्रद्धया समाराधनीय इति तात्पर्यमभिप्रेत्य तदेतद्विलक्षणवचनव्यक्त्या (समाधिभाषया) निरूपयति—

सभी मनुष्य स्वभाव से ही निरङ्कुश महत्त्व की आकांक्षा वाले होते हैं, इसलिए वे सुख की, ज्ञान की, स्वतन्त्रता की एवं निर्भयता की पूर्णता की अभिलाषा करते हैं । और 'जो भूमा (अपरिच्छिन्न-व्यापक) है, वही निश्चय से सुखरूप है, अल्प में सुख नहीं है' इस छान्दोग्य-श्रुति से—जब तक अल्प-परिच्छिन्न-देहादि का अहंत्वममत्वरूप सम्बन्ध रहता है, तब तक असंतोष की निवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि—अल्प वस्तु अधिक की तृष्णा का कारण है, और तृष्णा दु.ख का प्रयोजक है, तृष्णा के होने पर सुख का लेशमात्र भी नहीं हो सकता । इसलिए पूर्ण-अपरिच्छिन्न-प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्म के साथ अभेदभावना के परिपाक से-प्रकट होने वाले-पारमार्थिक सम्बन्ध से ही पूर्ण संतोष का प्रादुर्भाव होता है, और इससे अनुत्तम (सर्वोत्तम) पूर्ण सुख, पूर्ण स्वतन्त्रता-निर्भयता आदि का लाभ हो जाता है—ऐसा जाना जाता है। तथा च जैसे विद्वानो के शिरोमणि तत्त्व-चिन्तन के रसिक-महात्मा, विभिन्न-प्रकारो से पूर्ण-अलौकिक-आनन्दघन-परमात्मा की आराधना करके परम सन्तुष्ट-हुए अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं, वैसे, मुमुक्षुओ को भी, पूर्ण संतोष-सुख को प्राप्त करने के लिए पूर्ण परमात्मा की ही सात्त्विकी-श्रद्धा द्वारा अच्छी प्रकार से आराधना करनी चाहिए, इस तात्पर्य को अभिप्राय में रख कर उसी ही उपदेश का समाधिभाषाख्य अलौकिक-वचन के प्रयोग से निरूपण करते हैं—

ॐ गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत ! उद्वंशमिव येमिरे ॥

(ऋग्वेदसंहितायां, मण्डल १ सूक्त. १० ऋक्. १) (साम. ३४२।१३४४) (तै. सं. १।६।१२।२) (नि. ५।५)

'गायत्रीमन्त्र के उपासक-या अद्वैततत्त्वबोधक-गायत्रसाम-रहस्य के ज्ञाता विद्वान्, एकमात्र आप-पूर्णपरमात्मा का ही गान करते हैं। परमेश्वर-पूजन के उपयुक्त-पुरुषसूक्तादि मन्त्रों के पाठक-तत्त्वचिन्तनरसिक-जन, एकमात्र आप-आनन्दनिधि सर्वोत्तम-देव का ही बाहर भीतर पूजन करते हैं। हे अनन्तज्ञाननिधे ! परमात्मन् ! ब्रह्मचर्यसम्पन्न-ब्रह्मनिष्ठ-ब्राह्मण एकमात्र आप के ही महत्त्व का वर्णन करते हुए 'देवमंदिरादि के बोधक-ध्वजसंयुक्त-उन्नत-बांस की तरह' आप की महिमा को बढाते हैं।'

हे शतक्रतो !=हे अनन्तज्ञानानन्दनिधे ! परमात्मन् ! गायत्रिणः=गायत्रीमन्त्रानुष्ठातारः, त्वा=त्वामेव, गायन्ति=तन्मयतया गायत्रीं गायन्तो गायत्र्यर्थं त्वामेव स्वयंप्रकाशं पूर्णात्मानमजस्रमनुसन्दधते। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो. सू. १।२८) इति पातञ्जलस्मरणात्। यदाहुः-शिष्टाः–'गायत्री सर्वमन्त्राणां शिरोमणितया स्थिता। तया तन्मयभावेन गायन्तश्चिन्तयन्ति ये॥ पूर्णमद्वैतमानन्दं स्वप्रकाशं निरञ्जनम्। साधकाश्चतुरो वर्गान् सन्तुष्टाः साधयन्ति ते॥' इति। गायत्रीमंत्रव्याख्यानविस्तरस्तु शुक्लयजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतकस्याध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तौ अस्माभिः प्रदर्शितः, तत्रैवावगन्तव्यः। अथवा गायत्रिणः=ब्रह्मणः सर्वानन्यत्वलक्षणसमत्वप्रतिपादकं परिगीयमानं गायत्रं साम येषां तत्त्वचिन्तनरसिकानामस्ति ते तथोक्ताः। तथाचाम्नायते–'एतत्साम

हे शतक्रतो ! अर्थात् हे अनन्त-ज्ञानानन्दनिधे ! परमात्मन् ! गायत्रिणः यानी गायत्रीमन्त्र के अनुष्ठान करने वाले, तेरा ही गान करते हैं, अर्थात् तन्मयतापूर्वक गायत्री का गान करते हुए गायत्री के अर्थरूप-तुझ-स्वयंप्रकाश-पूर्णात्मा का सदा अनुसंधान करते हैं। यह पतञ्जलि महर्षि ने योगशास्त्र में स्मरण किया है–'प्रणवादि मन्त्रों का जप तथा उसके अर्थ की भावना करनी चाहिए' इति। यह तथ्यार्थज्ञ-शिष्ट-भी कहते हैं–'सर्व मन्त्रों के मध्य में गायत्रीमन्त्र, शिरोमणिरूप से वर्तमान है। उस मन्त्र से चित्त की तन्मयता करते हुए उसका गान करते हुए-पूर्ण-अद्वैत-आनन्द-स्वप्रकाश-निरञ्जन-तत्त्व का जो साधक चिन्तन करते हैं, वे संतुष्ट हुए धर्मादि-चार वर्गों को सिद्ध कर लेते हैं।' इति। गायत्रीमन्त्र के व्याख्यान का विस्तार, शुक्लयजुर्वेदसंहितोपनिषच्छतक की अध्यात्म-ज्योत्स्ना-विवृत्ति में हम ने प्रदर्शन किया है, वहाँ से ही उसे जानना चाहिये। अथवा–गायत्रिणः अर्थात् ब्रह्म का सर्वानन्यत्वरूप समत्व का प्रतिपादक-परिगान करने योग्य-गायत्र साम है जिन तत्त्वचिन्तनरसिकों का, वे गायत्रिणः कहे जाते हैं। तथा च (तत्त्वचिन्तन-रसिकों के गाने योग्य-गायत्र साम) तैत्तिरीयोपनिषत् की भृगुवल्ली में

गायन्नास्ते, हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु, अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ऽ ३ हमन्नादो ऽ ३ हमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य, पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेवमा ३ वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा ३ द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा ३ म्। सुवर्न ज्योतीः। य एवं वेद, इत्युपनिषत्। (तै. उ. भृगुवल्ली १०) इति। अस्यायमर्थः-एतत्=वक्ष्यमाणं, लोकानुग्रहार्थं, साम=समत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वानन्यरूपं गायन्=शब्दयन्-आत्मैकत्वं प्रख्यापयन्, तद्विज्ञानफलं चातीवकृतार्थत्वं विज्ञापयन्। यद्वा साम=समत्वप्रतिपादकं वचनं संसारशूलार्पितान् प्राणिनो निरीक्ष्य भृशं करुणाक्रान्तमना गायन्=अत्युन्नतान्-शब्दान् कुर्वन्। दग्धपटन्यायेन ज्ञानाग्निदग्धकर्मा वासनाक्षयेण नष्टमपि शरीरं धृत्वा गायन् आस्ते=तिष्ठति। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु। अहो इत्येतस्मिन्नर्थे त्रि-

कहा है-'ब्रह्मवेत्ता-यह साम गान करता रहता है-हा उ वु, हा उ वु, हा उ वु, मैं अन्न (भोग्य-प्रपञ्च) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ। मैं ही अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ। मैं ही श्लोककृत् (अन्न और अन्नाद के संघात का कर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं ही इस सत्यासत्यरूप जगत् के पहले उत्पन्न हुआ-हिरण्यगर्भ हूँ। मैं ही देवताओं से पूर्ववर्ती विराट् एवं अमृतत्व का केन्द्रस्वरूप हूँ। जो (अन्नस्वरूप) मुझे (अन्नार्थियों को) देता है, वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु (जो मुझ अन्नस्वरूप को दान न करता हुआ स्वयं भोगता है, उस) अन्न-भक्षण करने वाले को मैं अन्नरूप से भक्षण करता हूँ। मैं इस सम्पूर्ण भुवन का पराभव करता हूँ। हमारी ज्योति सूर्य के समान नित्यप्रकाशस्वरूप है। ऐसी यह उपनिषद् (ब्रह्मविद्या) है, जो इसे इस प्रकार जानता है (उसे-पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है) इति।' इस मन्त्र का यह अर्थ है-एतत्-यानी लोक के ऊपर अनुग्रह करने के लिए जो कहा जायगा वह साम, समरूप होने से ब्रह्म ही सर्व के साथ अनन्यत्वरूप है, उस साम का गान करता हुआ, अर्थात् आत्मा के एकत्व का प्रख्यापन करता हुआ, एवं उसका फल-अत्यन्त-कृतार्थत्व का विज्ञापन करता हुआ रहता है। यद्वा साम यानी समत्व का प्रतिपादक वचन। संसाररूपी शूली के ऊपर आरूढ हुए प्राणियों को देख कर अत्यन्त करुणा से पूरित मन वाला, ब्रह्मवेत्ता, अति-उन्नत-साम-शब्दों को बोलता हुआ रहता है। अर्थात् दग्धपट न्याय से ज्ञानाग्नि से जिस के समस्त कर्म दग्ध हो गये हैं, वह तत्त्वदर्शी वासना के क्षय से नष्ट हुए भी शरीर को धारण करके साम का गायन करता हुआ रहता है। अहो! इस अर्थ में 'हा उ वु,

रुक्तिः, अत्यन्तविसयतख्यापनार्थं, लोकत्रयीस्थान् सम्बोधयति वचनत्रयेण। कः पुनरसौ विसय इत्युच्यते—अद्वैतात्मा निरञ्जनोऽपि सन्नहमेवान्नमन्नादश्च। आनन्दात्माऽसङ्गोदासीनोऽनाद्यनिर्वाच्ययाऽविद्ययाऽहमन्नं=अदनीयमुपभोग्यमित्यर्थः। अन्नादः=अन्नमत्तीत्यन्नादो भोक्ता। किञ्चाहमेव श्लोककृत्=अन्नान्नादयोः संघातः श्लोकः तस्य कर्ता चेतनावानित्यर्थः। यद्वा श्लोकः=कीर्तिस्तां करोतीति श्लोककृत्। यद्वा पूर्वं देहमात्रवर्तिनो मम गुरुशास्त्रप्रसादलब्धज्ञानमात्रेण सर्वात्मकब्रह्मस्वरूपता प्राप्तेति यदस्ति तदिदमत्याश्चर्यमित्यर्थः। अहमन्नमित्यादिना सर्वात्मकत्वानुभवः प्रकटीक्रियते। यद्यदन्नं व्रीहियवगोधूमादि निष्पाद्यं तत्सर्वमहमेव, तस्मिन्नन्ने नामरूपभागस्य मिथ्यात्वात्। अधिष्ठानभागस्य सच्चिदानन्दरूपस्य वस्तुनो मत्स्वरूपत्वात्। एवमन्नादश्लोककृतावपि द्रष्टव्यौ। ब्राह्मणक्षत्रियादिगवाश्वादिश्चेतनोऽन्नादः, श्लोकशब्दः संघातवाची पद्यवाची वा। सैन्यादिरूपं संघं करोति सम्पादयतीति श्लोककृत्=राजादिः। यद्वा काव्यादिग्रन्थेषु पद्यं करोतीति श्लोककृत्=विद्वान् कविः। अत्र कृत्स्नान्नकृत्स्नभोक्तृकृत्स्नविद्वत्संग्रहार्थं वाक्येषु वीप्सा। तत्राप्येतत्सर्वात्मकत्वमावश्यकम्। सत्य इव विश्वासो-

हा उ वु, हा उ वु' यह तीन वार का कथन है। अत्यन्त-विसयता के ख्यापन के लिए इस तीन वचन से लोकत्रयी में वर्तमान-जीवों को सम्बोधित करता है। कौन फिर वह विसय है? यह कहते हैं—निरञ्जन भी अद्वैतात्मा हुआ, मैं ही अन्न और अन्नाद हूँ। असंग-उदासीन-आनन्दात्मा मैं, अनादि-अनिर्वचनीय-अविद्या से अदनीय यानी उपभोग करने योग्य-अन्न हूँ, यह अर्थ है। एवं अन्नाद यानी अन्न का खाने वाला भोक्ता भी मैं हूँ। और मैं ही श्लोककृत् हूँ अर्थात् अन्न एवं अन्नाद का समुदाय श्लोक है, उसका कर्ता चेतनावान् मैं हूँ। यद्वा श्लोक का कीर्ति भी अर्थ है, कीर्ति का करने वाला-मैं श्लोककृत् हूँ। अथवा पहिले मैं एक-देहमात्रवर्ती-परिच्छिन्न था, पश्चात् गुरु एवं शास्त्र के अनुग्रह से प्राप्त हुए ज्ञानमात्र से ही सर्वात्मक-ब्रह्मस्वरूपता प्राप्त हुई, यह जो है, वह अत्यन्त-आश्चर्य है यह अर्थ है। 'अहमन्न' इत्यादि के कथन से सर्वात्मत्व का अनुभव प्रकट किया जाता है। जो जो, व्रीहि, यव, गोधूम आदि-उत्पन्न करने योग्य-अन्न है, वह सर्व मैं ही हूँ, उस अन्न में नामरूप का अंश मिथ्या है और सच्चिदानन्दरूप-अधिष्ठान भाग जो सत्य-वस्तु है वह मेरा ही स्वरूप है। इस प्रकार अन्नाद एवं श्लोककृत् भी समझने चाहिए। ब्राह्मण क्षत्रियादि, तथा गौ अश्वादि, चेतन, अन्नाद-भोक्ता है। श्लोक-शब्द, संघात का वाचक है एवं पद्य (कविता) का भी वाचक है। सैन्य आदिरूप संघ का सम्पादन करने वाला राजा आदि श्लोककृत् है। अथवा काव्यादि ग्रन्थों में पद्य बनाने वाला विद्वान् कवि श्लोककृत् है। यहाँ समस्त अन्न, समस्त-भोक्ता, समस्त विद्वानों के संग्रह के लिए वाक्यों में वीप्सा—यानी अनेक वार उच्चारण है। उस सब में भी यह सर्वात्मत्व आवश्यक है। सत्य की भाँति

त्यादनार्थाय त्रिरुक्तिः। तस्याश्च विश्वास-हेतुत्वं लोके वेदे च प्रसिद्धम्। 'त्रिर्वः शपथयाम्यहम्' इत्यादिलोकप्रसिद्धिः। 'त्रिसत्या हि देवा' इति वैदिकप्रसिद्धिः। अहमस्मि=भवामि, प्रथमजा=प्रथमजो-हिरण्यगर्भ इत्यर्थः। स कीदृशः? ऋतस्य=सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतः कर्ताऽहमस्मि। ऋता ३ इति प्लुतिराश्चर्यार्था। ननु संसारात्पूर्वं देवाः प्रसिद्धा इत्यत आह-पूर्वं=प्रथमः-देवेभ्यः=स्वव्यष्टिरूपेभ्योऽग्न्यादिभ्यः पूर्वं विराड्रूपमप्यहमेव। अमृतस्य=अमृतत्वस्य नाभिः=मध्यं, मत्संस्थममृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः। यद्वा अमृतस्य=अमरणधर्मिणो वेदस्य नाभिर्मध्यं रहस्यमहमित्यर्थः। अत्रापि नकारे प्लुतिराश्चर्यार्था, कार्यकारणहीनोऽसङ्गोदासीनोऽहं शाश्वतवेदगर्भ इत्येवंरूप इति। योऽन्नस्य दाताऽऽत्मनो वा सर्वाभिन्नस्य तत्त्वमस्यादिवाक्येभ्यो दाता, क्षुधार्तेभ्यः संसारतापतप्तेभ्यो वा, मा=मां, अन्नमानन्दात्मरूपं वा ददाति=प्रयच्छति। सः=उक्तो दाता। इत्=इत्थं दानं कुर्वन्। एवं=अनेन दानेन, आ३वा=अवतीत्यर्थः। यः-पुनरन्यो मामदत्त्वाऽर्थिभ्यः प्राप्ते कालेऽन्नमत्ति, तमन्नमदन्तं-भक्षयन्तं पुरुषमहमन्नमेव सम्प्रति अद्मि=भक्षयामि। अहं=आनन्दात्मा विश्वं=समस्तं भुवनं=भूतैः संभजनीयं ब्रह्मादिभिः, भवन्ति वाऽस्मिन्भूतानीति भुवनं-ब्रह्माण्डं, अभ्यभवाम्=अभिभवामि-उपसंहरामि स्वकीयेनानन्तानन्द-

विश्वास के उत्पादन के लिए तीन वार का कथन है। उस वीप्सा में विश्वास का कारणत्व, लोक में एवं वेद में प्रसिद्ध है। 'तीन वार मैं आप लोगों की शपथ खाता हूँ' इत्यादि लोक में प्रसिद्धि है। देव त्रिसत्य ही हैं, यह वेद की प्रसिद्धि है। सृष्टि के आदि में उत्पन्न-हिरण्यगर्भ मैं हूँ। वह मैं कैसा हूँ? मूर्त एवं अमूर्तरूप इस व्यावहारिक-सत्य-जगत् का कर्ता हूँ। 'ऋता३' यह प्लुत-उच्चारण, आश्चर्य के लिए है।

शंका—संसार से पहिले प्रसिद्ध देव हैं?

समाधान—अपनी व्यष्टिरूप-अग्नि आदि देवों से प्रथम समष्टिरूप-विराट् भी मैं ही हूँ (इसलिए आदि में देव थे, ऐसा नहीं मान सकते) अमृतत्व की नाभि-मध्य-केन्द्रस्थान मैं हूँ अर्थात् प्राणियो का अमृतत्व मेरे में ही अवस्थित है। यद्वा मरणधर्म-रहित-वेद का मध्य-रहस्य-तत्त्व भी मैं हूँ। यहाँ नकार में भी प्लुति आश्चर्य-प्रदर्शन के लिए है। वह आश्चर्य—'कार्यकारण से हीन, असंग-उदासीन मैं शाश्वत-वेद का गर्भ-रहस्य हूँ' इस प्रकार का है। जो कोई अन्न का दाता क्षुधार्तों को मुझ अन्न का प्रदान करता है, या सर्वाभिन्न-आत्मा का दाता संसार के ताप से तप्त हुए-मुमुक्षुओं को तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के द्वारा सर्वाभिन्न-मुझ-आनन्दरूप आत्मा का प्रदान करता है। वह पूर्वोक्त दाता, इस प्रकार का दान करता हुआ, इस दान से अपना रक्षण करता है। जो फिर अन्य कोई समय प्राप्त होने पर भी अर्थियो के लिए मुझ को न दे करके स्वयं अन्न का भक्षण करता है। उस अन्न के भक्षण करने वाले-पुरुष को मैं अन्न ही अन्न भक्षण करता हूँ। आनन्दात्मा मैं समस्त-भुवन-ब्रह्माण्ड का अपने अनन्त-आनन्द-स्वरूप से उपसंहार-विलय करता हूँ। ब्रह्मादि-भूतों से जो भजनीय-सेवनीय है, या जिस में सब

स्वरूपेण। सुवः=आदित्यः, नकार उपमार्थे, सूर्य इव सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतिः=प्रकाशः। योऽधिकारी एवं=उक्तप्रकारमानन्दात्मानं वेद=जानाति-साक्षात्करोति-सोऽपीमाँल्लोकानित्यादिनोक्तं फलं प्राप्नोतीत्यभिप्रायः। इति वल्लीद्वयविहिता उपनिषत्=परमात्मज्ञानमित्यर्थः। (इति गायत्रसामव्याख्यानं समाप्तम्) तथा अर्के=अर्चनीयं पूज्यतमं सर्वोत्तमं त्वामेव, देवदेवं, अर्किणः=अर्चन्त्येभिरित्यर्काः=पुरुषसूक्तरुद्रसूक्तादिलक्षणा मन्त्राः, ते सन्ति येषां ते, अर्किणः-अर्चनोपयुक्तमन्त्रपाठकाः तदर्थतत्त्वचिन्तनपरायणाश्च। तदुक्तं निरुक्ते-'अर्को देवो भवति' यस्मादेनं देवमर्चन्ति स्तोतारः। 'अर्को मन्त्रो भवति' यस्मादनेन मन्त्रेणार्चन्ति तस्मादर्कः। (५।५) इति। अर्चन्ति=मन्दाधिकारिणः पुष्पादिभिः प्रतिमादौ त्वामेव चिन्तयित्वा पूजयन्ति, उत्तमाधिकारिणस्तु स्वहृदयकमलमध्ये सन्निविष्टं ब्रह्मचैतन्यज्योतिः पूर्णात्मलिङ्गं श्रद्धासरितो विमलशान्तचित्तवृत्तिजलैरभिषिच्यैकाग्र्यनिरोधसमाधिकुसुमैः समाराधयन्ति। तथा ब्रह्माणः=ब्रह्मनिष्ठा ब्राह्मणाः, अस्ति हि ब्रह्म-

भूत उत्पन्न होते हैं, वह भुवन (कहाता) है। सुवः यानी आदित्य, नकार उपमा अर्थ में है, अर्थात् सूर्य की भाँति, हमारा ज्योतिः-प्रकाश सदा सकृत्-अखण्डरूप से विभात है। जो अधिकारी, इस प्रकार आनन्द-आत्मा का साक्षात्कार करता है, वह भी 'इमाँल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्' (अर्थात् इन लोकों में कामान्नी यानी इच्छानुसार भोग भोगता हुआ और कामरूपी हो कर यानी इच्छानुसार रूप धारण कर विचरण करता है) इत्यादि वाक्य द्वारा कहे गये फल को प्राप्त होता है, यह अभिप्राय है। इस प्रकार यह दो (ब्रह्मानन्द और भृगु) वल्लियों में कही हुई उपनिषत्-परमात्मा का ज्ञान है। (गायत्रसाम का व्याख्यान समाप्त हो गया) तथा अर्क यानी अर्चन करने योग्य-अत्यन्त-पूज्य-सर्वोत्तम-तुझ-देव-देव का ही अर्किणः यानी पूजन के उपयुक्त-मन्त्रों के पाठक एवं मन्त्रों के अर्थतत्त्व के चिन्तनपरायण, अर्चन करते हैं। जिन से अर्चन करते हैं, वे पुरुषसूक्त, रुद्रसूक्तादिरूप मन्त्र अर्क हैं, वे मन्त्र हैं (पढने के लिए) जिन्हों को, वे अर्किणः कहे जाते हैं। यह निरुक्त में कहा है-देव-परमात्मा अर्क है, क्योंकि-स्तुति करने वाले-भक्तगण उस देव का अर्चन करते हैं। मन्त्र भी अर्क है, क्योंकि-इस मन्त्र के द्वारा अर्चन करते हैं, इसलिए मन्त्र भी अर्क है।' मध्यम अधिकारी प्रतिमा आदि में आप का ही चिन्तन करके पुष्प आदि से आप का ही पूजन करते हैं। उत्तम-अधिकार वाले भक्त, अपने हृदय-कमल के मध्य में सम्यक् रूप से वर्तमान, पूर्णात्मा का लिङ्ग (ज्ञापक-चिह्न) रूप ब्रह्मचैतन्यज्योति का श्रद्धा नदी के विमल-शान्त-चित्त-वृत्तियोंरूपी जल से अभिषेक करके एकाग्र एवं निरोध-समाधिरूप पुष्पों से समाराधन करते हैं। तथा-ब्रह्मनिष्ठ-ब्राह्मण-ब्रह्मशब्द ब्राह्मण पर्याय

शब्दो ब्राह्मणपर्यायः। 'ब्रह्मणो वा एतद्रूपं यद्ब्राह्मणः' (शत. ब्रा. १३।१।५।२) इति श्रुतेः। त्वा=त्वामेव, उद्येमिरे=उन्नतिं प्रापयन्ति-सर्वेभ्यः समुन्नतं ज्ञानस्यानन्दस्य स्वातन्त्र्यस्य निर्भयत्वस्य च पूर्णतयाऽजस्रं वर्तमानं भवन्तं प्राप्य सर्वेषां जीवात्मनामाकांक्षिता सर्वविधा पूर्णता सिद्ध्यतीत्येवं तव महान्तमुत्कर्षं वर्णयन्तः तवैव महान्तं महिमानं वर्धयन्ति। तत्र दृष्टान्तः-वंशमिव-यथा दूरस्थानामपि देवमन्दिरख्यापनाय ध्वजसंयुक्तं प्रौढं वंशमुन्नतं कुर्वन्ति। यथा वा सन्मार्गवर्तिनः स्वकीयं वंशं=कुलं सद्यशोवितानेन समुन्नतं कुर्वन्ति। तद्वद्विद्वांसो ब्राह्मणाः त्वन्महामहत्त्वं प्रख्यापयितुं विशदवर्णनेन तव पूर्णतां समुन्नतां कुर्वन्तीत्याशयः।

अत्र कर्मठानामस्येदृशी व्याख्या-गायत्रिणः=उद्गातारः, गायन्ति=स्तुवन्ति, अर्किणः=होतारः, अर्चन्ति=शस्त्रगतैः मन्त्रैः प्रशंसन्ति, ब्रह्माणः=ब्रह्मप्रभृतय इतरे ऋत्विजः, त्वा=त्वामेवोद्येमिरे वंशमिव, यथा वंशाग्रे नृत्यन्तः शिल्पिनः प्रौढं वंशमुन्नतं कुर्वन्ति, तथा त्वामिन्द्रं उन्नतिं प्रापयन्तीति,

[विस्तरतः साङ्गं भक्तियोगं पूर्वं निरूप्य संप्रति 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी. १८। ५४) इति भगवद्वचनाद् शाश्वतशान्तिसुखप्राप्तिसाधनं भक्तिलभ्यमक्षरब्रह्मविज्ञानं प्रतिपादयति]।

है, अर्थात् ब्राह्मणरूप-एकार्थ का बोधक ब्रह्मशब्द भी है। ब्राह्मणश्रुति भी कहती है-'यह जो ब्राह्मण है, वह ब्रह्म का ही रूप है'-तुझ-परमात्मा की उन्नति को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् सभी पदार्थों की अपेक्षा से सम्यक् उन्नतरूप-यानी ज्ञान की, आनन्द की, स्वतन्त्रता की एवं निर्भयता की पूर्णता से सदा वर्तमान-आप भगवान् को प्राप्त करके ही सभी जीवों की अभिलषित-सर्व प्रकार की पूर्णता सिद्ध होती है, इस प्रकार आप के महान् उत्कर्ष का वर्णन करते हुए आप की ही महामहिमा को बढ़ाते हैं। उसमें दृष्टान्त कहते हैं-जैसे दूर स्थान में रहने वाले मनुष्यों को देवमंदिर के ख्यापन (ज्ञापन) के लिए, ध्वजा से संयुक्त-ऊँचे वांस को ऊँचा बनाते हैं। या जैसे सन्मार्ग में चलने वाले-अच्छे लोग, 'शोभन-यश का विस्तार करके अपने वंश को-कुल को समुन्नत करते हैं। इस प्रकार विद्वान्-ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण, आप के महा महत्त्व को प्रख्यात करने के लिए आप के विशद वर्णन के द्वारा आप की पूर्णता को समुन्नत करते हैं, यह आशय है।

इस मन्त्र में कर्मकाण्डियों की इस प्रकार की व्याख्या है-गायत्रिण यानी उद्गाता लोग, आप की स्तुति करते हैं। अर्किण यानी होता लोग, शस्त्र(प्रकरण)गत मन्त्रों से आपकी प्रशंसा करते हैं। ब्रह्मा आदि अन्य ऋत्विक् गण, आप की वंश की तरह उन्नति करते हैं। जैसे बांस के अग्र में आरूढ हो कर नाचते हुए शिल्पी लोग, ऊँचे बांस को ऊपर उठाते हैं, वैसे तुझ-इन्द्र की उन्नति प्राप्त कराते हैं। इति।

[आगे के मन्त्रों में विस्तार से अंगसहित-भक्तियोग का निरूपण करके अब 'भक्ति के द्वारा मुझ को जानता है' इस भगवान् के वचन से-शाश्वत शान्ति एवं सुख की प्राप्ति का साधन-भक्ति से प्राप्त करने योग्य-अक्षर-ब्रह्म-विज्ञान का प्रतिपादन करते हैं।]

(१५)

(अक्षरब्रह्मविज्ञानेनैव ध्रुवा विश्रान्तिः कृतकृत्यता च प्राप्यते, न केवलेन लोकरञ्जकेन वैदुष्येण)

(अक्षर-ब्रह्म-के विज्ञान से ही शाश्वत-विश्रान्ति एवं कृतकृत्यता की प्राप्ति होती है, केवल—लोकरञ्जक—पाण्डित्य से नहीं।)

दिग्देशकालाद्यनवच्छिन्नं सर्वाधिष्ठानं पारमार्थिकं पूर्णं यदक्षरस्वरूपं संविदाना विषयवैतृष्ण्यवशाद्विश्रान्तचित्ता निर्द्वन्द्वाः सर्वतो निस्पृहा निर्लेपनिर्भयस्वभावा अकामहतश्रोत्रिया यादृशमजस्रमनुभवन्ति ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणं स्वस्वरूपभूतमपगतसीमानमानन्दभूमानं, तादृशमनुभवितुमनन्तर्मुखाः सद्गुरुकारुण्यरहिताः कथमपि न शक्नुवन्ति, वेदशास्त्राध्ययनव्याख्यानकौशलमात्रेण। अपि च यदज्ञानात्संसारानुभवो नियतो भवितव्यस्तद्विज्ञानात्संसारोच्छेदः, तथा यद्विज्ञानाभावात् यागादिपुण्यं कर्म कुर्वतामपि कार्पण्यावियोगो भवितव्यस्तद्विज्ञानात्तदत्ययः, अतस्तद्विज्ञेयं परमपुरुषार्थभूतं स्वरूपं, तद्विज्ञानरहितानामकृतार्थत्वं तद्विदाञ्च कृतार्थत्वमत्र प्रतिपाद्यते—

दिक्, देश, एवं कालादि प्रयुक्त-अनच्छेद(अन्त)-रहित, सर्व का अधिष्टान, पारमार्थिक-पूर्ण, जो अक्षरब्रह्म का स्वरूप है, उसका जो अच्छी रीति से अनुभव करते हैं, विषय-वैतृष्ण्य के वश से जिन का चित्त-विश्रान्ति को प्राप्त हुआ है, जो निर्द्वन्द्व, सर्व तरफ से निस्पृह, निर्लेप एवं निर्भय स्वभाव वाले, अकामहत—काम के प्रतिघात से रहित-श्रोत्रिय-वेदादि शास्त्रों के विद्वान् हैं, वे जिस प्रकार के, ब्रह्मसाक्षात्काररूप—अपने ही स्वरूप-भूत—सीमा-अवधि-रहित अनन्त-महा आनन्द का सदा अनुभव करते हैं। उस प्रकार के आनन्द का अनुभव करने के लिए, अन्तर्मुखता से रहित-बहिर्मुख—सद्गुरु की करुणाविहीन-मनुष्य, वेदादि शास्त्र का अध्ययन एवं व्याख्यान की कुशलता-मात्र से, किसी भी प्रकार से समर्थ नहीं हो सकते। और जिस के अज्ञान से संसार का अनुभव नियमतः (देखने में आता है) उसके विज्ञान से अवश्य ही संसार का उच्छेद होने योग्य है। तथा जिस का विज्ञान न होने के कारण, यागादि पुण्य-कर्म करने वालों को भी कृपणता का संयोग (देखने में आता है) उसके विज्ञान से कृपणता का विध्वंस होने योग्य है। इसलिए उस परम-पुरुषार्थरूप, विज्ञेय स्वरूप का, उसके विज्ञान-रहित-मनुष्यों के अकृतार्थत्व का तथा उस तत्त्व के ज्ञानवानों के कृतार्थत्व का इस मन्त्र में प्रतिपादन किया जाता है—

ॐ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥

(ऋग्वेदसंहितायां. मण्डल. १ सूक्त १६४ ऋक् ३९) (अथर्व. ९।१०।१८) (तै. ब्रा. ३।१०।९।१४) (तै. आ. २।११।१) (नि. १३।१०)

'जिस-सर्वोत्कृष्ट-अविनाशी-आकाश के सदृश व्यापक-अक्षर-परब्रह्म में सभी ऋगादि वेद (निखिल शब्दप्रपञ्च) तथा सभी देव अर्थात् तदुपलक्षित-समस्त अर्थप्रपञ्च (नामरूपात्मक अखिल जगत्) अधिष्ठित-अध्यस्त है। उस सर्वाधिष्ठान-परब्रह्म को जो नहीं जानता है, वह वेद की ऋचा से क्या करेगा ?। जो उस तत्त्व को अपरोक्ष जानते हैं, वे ही उस तत्त्व में सम्यक् रूप से स्थित हो जाते हैं।'

ऋचः=अत्र ऋक्-शब्देन ऋक्प्रधान-भूताः साङ्गा अपरविद्यात्मकाश्चत्वारो वेदा उच्यन्ते। ऋगादीनामपरविद्यात्वं मुण्डके श्रूयते-'द्वे विद्ये वेदितव्ये' इति प्रतिज्ञाय 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' (१।१।५) इत्यादिना। तस्या ऋचः सम्बन्धिनि-ऋचा प्रतिपाद्ये-अक्षरे=अदृश्यत्वादिगुणके क्षरणरहिते अनश्वरे नित्ये कूटस्थे सर्वत्र व्याप्ते ब्रह्मणि, न क्षरति=नान्यथाभावमापद्यते, न क्षीयते, न कदाचिदपि विनश्यति, अश्नुते व्याप्नोति सर्वं चेत्यक्षर-शब्दस्य व्युत्पत्तिः प्रसिद्धा। अत एवाक्षर-शब्दस्य ब्रह्मवाचकत्वं-'यया तदक्षरमधिगम्यते' (मुं. १।१।५) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि!' (बृ. ३।८।९) 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्' (मुं. १।२।१३) इत्यादिश्रुतिषु प्रसिद्धम्। ऋगक्षरयोः प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावः सम्बन्धः; सर्वैर्वेदैः खलु ब्र-

यहाँ ऋक्-शब्द से-ऋक् मन्त्र हैं प्रधानभूत जिन में, ऐसे शिक्षादि अङ्गों के सहित, अपर विद्यारूप चार वेद कहे गये हैं। ऋगादि वेदों में अपरविद्यात्व मुण्डक-उपनिषत् में सुना जाता है--'दो विद्याएँ जाननी चाहिएँ' ऐसी प्रतिज्ञा करके-'उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद आदि अपरा विद्या है' इत्यादि कथन द्वारा। उस ऋक् के सम्बन्धी अर्थात् ऋक् से प्रतिपाद्य-अक्षर में यानी अदृश्यत्वादि गुण वाले-क्षरणरहित-अनश्वर-नित्य-कूटस्थ सर्वत्र-व्याप्त-ब्रह्म में (सभी वेद एवं देव अधिष्ठित हैं) जो अन्यथाभाव को प्राप्त नहीं होता, कदापि क्षीण नहीं होता, न कभी विनष्ट होता है, या सर्व को जो व्याप्त कर रहता है, वह अक्षर है। इस प्रकार अक्षर-शब्द की व्युत्पत्ति प्रसिद्ध है। इसलिए अक्षर-शब्द में ब्रह्म की वाचकता--'जिस परा विद्या से वह अक्षर जाना जाता है' 'इस अक्षर के प्रशासन में निश्चय से हे गार्गि! (यह सूर्य-चन्द्रादि समस्त जगत् अवस्थित है)' 'जिस से अक्षर सत्य पुरुष को जानता है' इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध है। ऋक् मन्त्र और अक्षर-ब्रह्म का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है अर्थात् ऋक् मन्त्र प्रतिपादक हैं और अक्षर प्रतिपाद्य है। निश्चय से सभी वेदों से ब्रह्म जाना जाता है।

ह्माधिगम्यते, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' (बृ. ३।९।२६) इत्यादिश्रुतेः। एतेन ऋगुपलक्षिताः सर्वे वेदाः प्रमाणान्तरावेद्यस्याप्यक्षरस्य ब्रह्मणो ज्ञापकत्वेन सन्ति तत्र प्रमाणमिति सूचितम् । ननूपनिषद्भागानां तथाऽस्तु, इतरेषां तु कथं ब्रह्मविषयत्वमिति ? उच्यते—यद्यपीतरभागानां प्रायशो यागादिविषयत्वं, तथापि बुद्धि-शुद्धि-उत्पादनद्वारा वेदनसाधनप्रतिपादकत्वेन तेऽपि ब्रह्मविषया भवितुमर्हन्ति, 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ. ४।४।२२) इति श्रुतेः।

अथवेतरभागानामप्याध्यात्मिकतत्त्वसूक्ष्मदृष्ट्या ब्रह्मविषयत्वमस्तु 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क. १।२।१५) 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गी. १५।१५) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्याम्। सर्वपदसंकोचे प्रबलप्रमाणाभावात् । अपिचेन्द्राग्न्यादिसर्वदेवतात्मकत्वादक्षरस्य ब्रह्मणः सर्ववेदवेद्यत्वमविरुद्धम्। तथा चाम्नायते—सुस्पष्टं 'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति' (ऋ. १०।११४।५) 'यो देवानां नामधा एक एव' (ऋ. १०।८२।२) (शु. य. १७।२७) इति । सुपर्णं=शोभनपूर्णलक्षणं पर-

'तुझे मैं उस उपनिषदेकवेद्य पुरुष को पूछता हूँ' इत्यादि श्रुतियाँ इस विषय में (प्रमाण) हैं। इस कथन से ऋक् से उपलक्षित सभी वेद, प्रमाणान्तर से अवेद्य भी अक्षरब्रह्म के ज्ञापक होने से उसमें प्रमाण हैं ऐसा सूचित किया।

शंका—उपनिषद् भागों में ब्रह्मज्ञापकत्व होओ, परन्तु अन्य-मन्त्रसंहितादि भागों में ब्रह्मविषयत्व कैसे हो सकता है ?

समाधान—यद्यपि अन्य भागों में प्रायशः यागादि की विषयता है अर्थात् संहितादि-अन्य-भागों से यागादि कर्म प्रतिपादित हैं, तथापि बुद्धि की शुद्धि के उत्पादन द्वारा ब्रह्म-ज्ञान के साधन—यागादि के प्रतिपादक होने से वे भी (इतर भाग भी) ब्रह्म-विषय होने के लिए योग्य हैं। बृहदारण्यक-श्रुति कहती है—'उस प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म को ब्राह्मण लोग, यज्ञ, दान आदि से जानने की इच्छा करते हैं।'

अथवा—इतर भागों में भी, आध्यात्मिक-तत्त्व की सूक्ष्मदृष्टि से ब्रह्मविषयत्व होओ। 'सभी वेद, जिस पद का प्रतिपादन करते हैं' 'सभी वेदों से मैं ही जानने के लिए योग्य हूँ' इत्यादि श्रुति-स्मृति-प्रमाण से (सभी वेद के मन्त्रों में ब्रह्म-प्रतिपादकत्व निश्चित होता है) (उक्त श्रुति-स्मृति में अवस्थित) 'सर्व' पद के संकोच करने में प्रबल प्रमाण नहीं है। और अक्षर ब्रह्म, इन्द्र, अग्नि आदि अखिल-देव रूप है, इसलिए सकल वेदों से वह अक्षर ब्रह्म वेद्य है, ऐसा (मानना) विरोधरहित है। तथा च अति स्पष्ट कहा गया है—(अन्य वेद के मन्त्रों में)—'तत्त्वदर्शी, सर्वज्ञ-विद्वान्-कवि, एक ही शोभन-पूर्ण लक्षणों से युक्त-सत्य ब्रह्म की अनेक वचनों से बहु प्रकार से कल्पना करते हैं।' 'जो एक ही परमात्मा देवों के अनेक नामों को धारण करता है' इति। सुपर्ण यानी शोभन-पूर्ण लक्षणो से युक्त, परमेश्वर जो

मेश्वरमित्यर्थः, यश्चैकोऽद्वितीय एव सन् देवानां नामानि दधाति—धारयतीति नामधा इत्यर्थः। अत एव सर्वत्राऽग्न्यादिपदानां तत्तद्देवरूपेण तेषु तेषु स्थानविशेषेष्ववस्थितः परमात्मैव वाच्यः। यथा भूयांसो जना व्यष्ट्यभिप्रायेण नराः समष्ट्यभिप्रायेण राष्ट्रं जनपदमिति व्यवह्रियन्ते, तथैक एव परमात्मा व्यष्टिभावनयाऽग्न्यादयो देवाः समष्टिभावनया परमेश्वर इति व्यपदिश्यते। विशदीकृतश्चायमर्थो निरुक्ते—'तत्रैतन्नरराष्ट्रमिव' (७।६) इति ब्रुवता यास्काचार्येण। तत्र=परमात्मनि, एतत्=एतादृशमग्न्यादिवचनं, नरा राष्ट्रमिति यथाऽभिप्रायभेदाद्व्यवहारस्तद्वत् परमात्मेति वास्तविकोऽभेदः, देवाश्चेति औपाधिको भेदोऽवगन्तव्य इत्यर्थः। इत्येवं पूर्वाचार्यैरस्माभिश्च बहुकृत्वः प्रतिपादितं प्रतिपादयिष्यते च। तदेवाक्षरं विशेष्यते—परमे=सर्वोत्कृष्टे—निरतिशये, अत्राक्षरस्योत्कृष्टत्वं—वरीयस्त्वं कालतो देशतो वस्तुतश्चानन्तत्वमपरिच्छिन्नत्वमादाय द्रष्टव्यम्। व्योमन्=व्योमनि व्योमसदृशे, सादृश्यञ्चालेपत्वनीरूपत्वनिराकारत्वव्यापित्वादिना। तत्सदृशे तच्छब्दप्रयोगस्य 'आदित्यो यूपः' 'देवदत्तः सिंहः' इत्यादौ लोके च वेदे च प्रसिद्धत्वाद्व्योमेत्युक्तम्। सप्तम्या लोपेन व्योमन्निति। अथवा व्योम-

एक-ही अद्वितीय हुआ देवों के नामों को धारण करता है, इसलिए वह 'देवनामधा' कहा जाता है। इसलिए सभी मन्त्रों में अग्नि आदि पदों का उस-उस देवरूप से उन-उन स्थान विशेषों में अवस्थित परमात्मा ही वाच्य है। जैसे बहुत जन (मनुष्य) व्यष्टि के अभिप्राय से नर हैं, और समष्टि के अभिप्राय से राष्ट्र-जनपद है, ऐसा विद्वान् व्यवहार करते हैं। वैसे एक ही परमात्मा व्यष्टि-भावना से, अग्नि आदि देव, तथा समष्टि-भावना से परमेश्वर ऐसा (विद्वानों से) व्यपदिष्ट होता है। यह अर्थ, निरुक्त में स्पष्ट रूप से कहा है—'उसमें नर राष्ट्र की भाँति यह है' इत्यादि कहने वाले यास्काचार्य्य द्वारा। उस परमात्मा में इस प्रकार के अग्नि आदि के वचन 'नरा राष्ट्र' की तरह हैं, इसमें जैसे अभिप्राय के भेद से व्यवहार है, तैसे 'परमात्मा' इस वचन से अभेद और 'देवाः' इस वचन से औपाधिक भेद जानना चाहिए। इस प्रकार पूर्वाचार्य्यों ने बहुत करके अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया है, और हम भी आगे विस्तार से प्रतिपादन करेंगे। वही अक्षर ब्रह्म विशेषणों के द्वारा कहा जाता है—वह परम है, अर्थात् सर्वोत्कृष्ट—निरतिशय है। यहाँ अक्षरब्रह्म में उत्कृष्टत्व यानी वरीयस्त्व—अतिशय श्रेष्ठत्व, काल से, देश से एवं वस्तु से अनन्तत्व-अपरिच्छिन्नत्व का ग्रहण कर जानना चाहिए। व्योमन् यानी व्योम-आकाश के सदृश। अलेपत्व, नीरूपत्व, निराकारत्व, व्यापित्व, आदि धर्मों के द्वारा आकाश का सादृश्य अक्षरब्रह्म में है। उसके सदृश में उसके वाचक शब्द का प्रयोग 'यूप आदित्य है' 'देवदत्त सिंह है' इत्यादि लोक में तथा वेद में प्रसिद्ध है, इसलिए व्योमसदृश-अक्षरब्रह्म को व्योम कहा है। सप्तमी-विभक्ति के लोप से 'व्योमन्' ऐसा रूप हुआ है। अथवा, जैसे ब्रह्म के लिङ्ग (असाधारण

शब्दस्य प्राणाकाशादिशब्दवत् तल्लिङ्गादिदर्शनात् परब्रह्मणः साक्षाद्वाचकत्वमस्तु, 'विशेषेणावति=रक्षतीति व्योम' इति व्युत्पत्तिसम्भवात्, तस्मिन् व्योमनि भूताकाशवज्जडत्वाभावाच्चेतनत्वेन वा वस्तुतोऽनवच्छिन्नत्वेन वा परमं-उत्कृष्टत्वमवगन्तव्यम्। विपूर्वादवतेर्मनिन्, तस्मिन्-व्योमनि विशेषेण सर्वस्य स्वस्य च रक्षके इत्यर्थः। निरधिष्ठानस्य निःसाक्षिकस्य भ्रमस्यासम्भवात्, 'अतोऽन्यदार्तम्'[1] (बृ. ३।४।२; ३।५।१) इत्यादिभिः श्रुतिभिर्दृश्यत्वादिभिर्हेतुभिश्च, ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्याध्यस्तत्वनिश्चयात् निखिलजगद्भ्रमाधिष्ठानत्वेन सत्तास्फूर्त्यानन्दप्रदत्वेन च श्रुत्या कारणत्वव्यपदेशान्मिथ्याभूतस्य जगतो रक्षकत्वस्य, अध्यस्तेन समं वास्तविकसम्बन्धाभावात्, अध्यासकृतगुणदोषाद्यनर्थलेशराहित्यप्रयोजकतया स्वप्रकाशपरमानन्दबोधस्य स्वस्वरूपस्य रक्षकत्वस्य च तात्पर्यग-

धर्म) आदि के दर्शन से प्राण, आकाश, आदि शब्द, परब्रह्म के साक्षात् वाचक (ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थ में) माने गये हैं, वैसे तल्लिङ्गादि के दर्शन से व्योम शब्द भी परब्रह्म का साक्षात् वाचक होओ। विशेषरूप से जो रक्षा करता है, वह व्योम है, ऐसी व्युत्पत्ति का सम्भव है। उस अक्षरब्रह्मरूप व्योम में 'भूताकाश की तरह' जड़त्व का अभाव होने से, एवं चेतनत्व होने से तथा वस्तुतः अनवच्छिन्न होने से परम उत्कृष्टत्व समझना चाहिए। 'वि' उपसर्गपूर्वक, 'अव रक्षणे' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होने से 'व्योमन्' शब्द बनता है। उसका 'विशेषरूप से सर्व का एवं अपना रक्षक ही' अर्थ होता है। अधिष्ठानरहित, एवं साक्षीरहित, भ्रम का संभव नहीं है (अर्थात् किसी अधिष्ठान में एवं साक्षिपूर्वक ही भ्रम होता है) 'इस परमात्मा से अन्य सब, दुःख से संयुक्त्या बाधित (मिथ्या) है' इत्यादि श्रुतियों से तथा दृश्यत्व आदि हेतुओं से, ब्रह्म से भिन्न समस्त दृश्यप्रपञ्च में अध्यस्तत्व का निश्चय होता है। निखिल-जगत् रूप भ्रम के अधिष्ठानरूप से, और उस अध्यस्त जगत् में सत्ता, स्फूर्ति, एवं आनन्द के दानकर्तृत्वरूप से श्रुति ने अक्षरब्रह्म में कारणत्व का प्रतिपादन किया है। इसलिए वह अक्षरब्रह्म, इस प्रकार मिथ्याभूत-जगत् का रक्षक है। अध्यस्त-प्रपञ्च के साथ अधिष्ठान-तत्त्व का वास्तविक-सम्बन्ध न होने के कारण, अध्यासकृत गुण-दोषादि अनर्थों के लेश के राहित्य का प्रयोजक होने से वह स्वप्रकाश-परमानन्द बोधरूप-अपने

[1] आर्तशब्देन-आर्त्या-दुःखेन युक्तत्वस्य विनाशित्वस्य चोक्तौ, अर्थात् मिथ्यात्वलाभः। आर्त-बाधेन पीडितमित्यर्थे तु मिथ्यात्वं शब्दमेव। 'अर्द हिंसायां' इति धातुनिष्पन्नत्वादार्तशब्दस्य बाधितार्थकत्वात्।

आर्त शब्दसे आर्ति यानी दुःखसे युक्तत्व एवं विनाशित्व के कथन होने पर अर्थात् मिथ्यात्व का लाभ होता है। आर्त अर्थात् बाधसे पीडित (अभिभूत) इस अर्थ में मिथ्यात्व शब्द से ही प्राप्त होता है। क्योंकि-'अर्द हिंसा में' इस धातुसे आर्त शब्द निष्पन्न होता है, इस लिए उसका बाधित ही अर्थ होता है।

म्यमत्र वैशिष्ट्यं प्रसङ्गानुगतं द्रष्टव्यम्। केवलं वेदादिरूपशब्दप्रपञ्चाधिष्ठानं तत्-नत्वर्थप्रपञ्चस्येत्याशङ्कां वारयितुं पुनस्तदेव विशेष्यते-यस्मिन्=ऋगाद्यधिष्ठाने परमात्मनि, विश्वे=सर्वे देवाः हिरण्यगर्भादयः समष्टिभूता व्यष्टिभूताश्च इन्द्राग्न्यादयः, अधिनिषेदुः=आधिक्येन सर्वतोऽवस्थानं कृतवन्तः-निषीदन्ति-आश्रित्य तिष्ठन्ति वा, अधिष्ठिता स्वस्वरूपत्वेन प्रविष्टा वेत्यर्थः, । यद्वा उक्तलक्षणे वस्तुनि ऋगुपलक्षिताः-सर्वे साङ्गा वेदास्तात्पर्येण समन्विताः पर्यवसिता इत्यर्थः । अयं भावः-'निषेदुः'-पदगम्यं ऋचामाश्रितत्वं द्विविधम्; तत्रोत्पन्नत्वेन तत्प्रतिपादने पर्यवसानत्वेन च। 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (ऋ. १०।९०।९) (अथर्व. १९।६।१३) (वा. य. ३१।७) (तै. आ. ३।१२।४) इति श्रुत्या सर्वैर्हूयमानाद्यज्ञहेतोः परमेश्वरादृगादीनामुत्पत्तिराम्नायते। 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ. १।२।१५) इति श्रुत्या च तत्प्रतिपादनपर्यवसानमप्युच्यते। तथाच ऋगादीनां मन्त्राणां तस्मिन्नक्षरे द्विविधमाश्रितत्वमवगन्तव्यम्। तत्प्रतिपाद्यानां सर्वेषां देवानां तत्रोत्पन्नत्वेनैकविधमेवाश्रितत्वं ज्ञेयम् । एवमक्षरस्य सर्ववेदप्रतिपाद्यत्वसर्ववेददेवोपलक्षितनिखिलशब्दार्थप्रपञ्चाधिष्ठानत्वादिकं निरूप्य तत्स्वरूपानुभवशून्यस्य नरस्य वेदशास्त्राध्यय-

स्वरूप का भी रक्षक है, इसलिए उस अक्षरब्रह्म के व्योमशब्द प्रतिपाद्य-रक्षकत्व में प्रसग से प्राप्त-इस प्रकार के तात्पर्य से गम्य वैशिष्ट्य समझना चाहिए। वह अक्षरब्रह्म, केवल वेदादिरूप शब्द-प्रपञ्च का अधिष्ठान है, अर्थ-प्रपञ्च का अधिष्ठान नहीं है? ऐसी शंका के निवारण के लिए पुनः वही अक्षरब्रह्म विशेषित किया जाता है-जिस-ऋगादि वेदों के अधिष्ठानरूप परमात्मा में समष्टि-रूप हिरण्यगर्भादि, तथा व्यष्टिरूप इन्द्र, अग्नि, आदि समस्त देव, सर्व तरफ से अवस्थित हुए हैं या आश्रय कर रहे हैं। या उसमें अधिष्ठित हैं अर्थात् स्वस्वरूप से प्रविष्ट हैं। यद्वा पूर्वोक्त लक्षण वाली अक्षर वस्तु में ऋक् से उपलक्षित-अङ्गों के सहित समस्त वेद, तात्पर्य से समन्वित हैं यानी पर्यवसित हैं। यह भाव है-'निषेदुः'-पद से गम्य ऋचाओ का आश्रितत्व दो प्रकार का है। उसमें उत्पन्न होने से या उसके प्रतिपादन में पर्यवसान होने से। 'उस यज्ञ के प्रयोजक-यज्ञरूप विष्णु-ब्रह्म से ऋक् मन्त्र, साम मन्त्र, आदि उत्पन्न हुए हैं' इस श्रुति से, सर्व से हूयमान-यज्ञ के कारण-रूप परमेश्वर से ऋगादि वेदो की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया है। 'सभी वेद जिस पद-स्वरूप का तात्पर्य से प्रतिपादन करते हैं' इस श्रुति से 'उसके प्रतिपादन में ही सर्व-वेदों का पर्यवसान है' ऐसा भी कहा जाता है। तथा च ऋक् आदि मन्त्रों का उस अक्षर में दो प्रकार का आश्रितत्व समझना चाहिए। और ऋगादि मन्त्रों से प्रतिपाद्य-सभी देवों का उस-अक्षर में उत्पन्नत्वरूप-एक प्रकार का ही आश्रितत्व जानना चाहिए। इस प्रकार अक्षरब्रह्म के सर्ववेदप्रतिपाद्यत्व-सर्व वेद एव सर्व देव से उपलक्षित निखिल शब्दप्रपञ्च एवं अर्थप्रपञ्च का अधिष्ठानत्व आदि (धर्मो) का निरूपण करके, उस स्वरूप का अनुभव से शून्य

नव्याख्यानादिलक्षणस्य परिश्रमस्य वैफल्यं निरूपयति-यः=मर्त्यो नरः, तत्=तादृशं देवादीनां सरूपलाभास्पदं कृत्स्नवेदैस्तात्पर्येण प्रतिपाद्यं यद्वस्तु, न वेद=न विजानाति, स मर्त्यः, ऋचा=पूर्वोक्तेन पठ्यमानेन ऋगादिशब्दजालेन किं करिष्यति=किमाक्षेपे; वेदनसाधनेन वेदेन वेद्यमविदित्वा किं साधयिष्यति ? न किमपीत्यर्थः। स्वप्रयोजनस्यासंपादितत्वात् सर्वस्यापि वेदाध्ययनादेर्वैफल्यात्। स्मृतमेतत्सौरपुराणेऽपि–'अक्षरं परमं व्योम शैवं ज्योतिरनामयम्। यस्तन्न वेद किं वेदैर्ब्राह्मणस्य भविष्यति ॥' (२।११) इति। अयं भावः— सर्वोऽपि वेदस्तद्वेदनायैव प्रयोजनाय प्रवृत्तः। वेद्यते–तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति वेदतत्त्वनिरुक्तिः। वेदनाभावे सत्यात्यन्तिकपुरुषार्थाभावाच्च-त्पाठो नात्यन्तं सप्रयोजनः इति। अथवा योऽक्षरमविदित्वा ऋचा=ऋगादिवेदविहितैरनुष्ठितैर्यागादिभिः कर्मभिः किमनन्तं फलं सः करिष्यति=सम्पादयिष्यति ? तस्मान्तवदेव स्वर्गादिकं फलं भविष्यति, न त्वनन्तं मोक्षफलमित्यर्थः। यद्वा अज्ञस्य कृपणस्य तैः कृतैरपि कर्मभिः सम्पादितं फलं किं करिष्यति ? तैरनित्ये तुच्छे फले सम्पादितेऽपि सकलसन्तापनिदानकार्पण्या-

मनुष्य के वेदशास्त्राध्ययन, व्याख्यान आदि रूप परिश्रम की व्यर्थता का निरूपण करते हैं–जो मरणधर्मी मनुष्य– देवादिओं के स्वरूप-लाभ का आश्रय एवं समग्र-वेदों से तात्पर्य द्वारा प्रतिपाद्य जो निम प्रकार की वस्तु है–उसको नहीं जानता है, वह मनुष्य, पूर्वोक्त-पढ़ने योग्य, ऋक् आदि शब्दों के जाल से क्या करेगा ?। 'किं' शब्द आक्षेप अर्थ में है। ज्ञान के साधन-वेद से वेद्य (जानने योग्य-वस्तु) को नहीं जान करके क्या सिद्ध करेगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं। अपने प्रयोजन का सम्पादन नहीं करने से समग्र-वेदों के अध्ययनादि का भी वैफल्य हो जाता है। यह सौरपुराण में भी स्मृत हुआ है–'जो व्योमरूप-परम-अक्षर-अनामय-(ससार रोग रहित) शैव-ज्योति है, उसको जो नहीं जानता है, उस ब्राह्मण को वेदों से क्या होगा ?।' इति। यह भाव है–समग्र भी वेद, उसके विज्ञानरूप प्रयोजन के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। जाना जाता है तत्त्व जिस से, वह वेद है, इस प्रकार वेदशब्दस्वरूप की व्युत्पत्ति है। विज्ञान के न होने पर आत्यन्तिक-पुरुषार्थ का अभाव होने से वेदादि शास्त्रों का पठन, अत्यन्त प्रयोजन वाला नहीं होता। इति। अथवा जो मनुष्य, अक्षर-ब्रह्म को नहीं जान करके ऋगादि वेदों में विहित–अनुष्ठान किये हुए यागादि-कर्मों से वह क्या अनन्त फल का सम्पादन करेगा ?। अर्थात् उसको यागादि कर्म से अन्त वाला ही स्वर्गादि फल होगा। अनन्त-मोक्ष-फल नहीं प्राप्त होगा। यद्वा उन किये हुए कर्मों से भी सम्पादन किया हुआ फल, अज्ञानी कृपण को क्या (विशेष लाभ) करेगा ? अर्थात् उनसे अनित्य-तुच्छ-फल का सम्पादन होने पर भी समग्र

१ यहाँ ऋक पद, ऋगादिसे विहित–यागादि कर्मों में लाक्षणिक है।

त्त्वयाभावादकिञ्चित्करं तदिति भावः। तदुक्तं शतपथश्रुत्या-'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति, यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः, अथ एतदक्षरं गार्गि! विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः।' (बृ. ३।८।१०) इति। 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति स्मृत्यापि तदतिरिक्तलाभस्य लाभत्वप्रतिषेधात्, नित्यनिरतिशयानन्दरूपाक्षरस्यात्मन एव लाभो लाभाय भवतीति प्रतिपादितम्। एवमविदुषः शास्त्रमध्येतुः कर्माणि कुर्वतोऽपि शास्त्राध्ययनवैफल्यकार्पण्यादिकं प्रतिपाद्याक्षरं ब्रह्म विजानतां स्वस्वरूपावस्थानलक्षणमनन्तं सर्वफलास्पदं मोक्षफलं प्रतिपादयति-य इत्=इच्छब्दोऽवधारणे, ये एव=प्रसिद्धाधिकारिणः-ऋगाद्युपदिष्टकर्मोपासनान्यनुष्ठाय तैः शुद्धैकाग्रान्तःकरणा विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पन्नाश्च सन्तः ऋगाद्युपदिष्टतत्त्वश्रवणाद्यनुष्ठाय इत्=इत्थं-शास्त्रोपदिष्टप्रकारेण तत्=तच्छब्दवाच्यं शब्दार्थाधिष्ठानभूतं परं

(आध्यात्मिकादि) संतापों का मूल कारण कृपणता की निवृत्ति नहीं होने से वह फल अकिञ्चित्कर है, यानी वे कर्म, शाश्वतशान्ति-सुखादि रूप विशिष्ट-फल को प्राप्त कराने वाले नहीं हैं, यह भाव है। यह शतपथ (ब्राह्मण) श्रुति ने भी कहा है-(याज्ञवल्क्य महर्षि कहता है-) हे गार्गि! जो कोई इस लोक में इस अक्षर को नहीं जान कर हवन करता है, यज्ञ करता है, और अनेक सहस्रवर्षपर्यन्त तप करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवान् ही होता है। जो कोई भी इस अक्षर को बिना जाने इस लोक से मर कर जाता है, वह कृपण (दीन) है, और हे गार्गि! जो इस अक्षर को जान कर इस लोक से मर कर जाता है, वह ब्राह्मण है।' इति। 'आत्मलाभ से बढ कर अन्य कुछ भी लाभ नहीं है' इस स्मृति ने भी-आत्मलाभ से अतिरिक्त-लाभ में लाभत्व का प्रतिषेध किया है। नित्य, निरतिशय, आनन्दरूप, अक्षर, आत्मा का ही लाभ, लाभ के लिए होता है; ऐसा प्रतिपादन किया है। इस प्रकार वेदादि शास्त्र के अध्ययन करने वाले एवं यागादि कर्म करने वाले-अविद्वान् की शास्त्राध्ययन की विफलता, कृपणता आदि का प्रतिपादन करके अक्षरब्रह्म को अपरोक्षरूप से जानने वाले विद्वानों का-स्वस्वरूप में अवस्थानरूप-अनन्त-समग्र फलों का आधार-मोक्षफल (जो प्राप्त होता है, उसका) प्रतिपादन करते हैं-'इत्' शब्द का अवधारण (निश्चयार्थक एवकार) अर्थ है। जो प्रसिद्ध अधिकारी हैं, ऋगादि मन्त्रों से उपदिष्ट कर्म एवं उपासना का अनुष्ठान करके, उनसे जो शुद्ध एवं एकाग्र अन्तःकरण वाले, तथा विवेकादि साधनचतुष्टय से सम्पन्न हुए हैं, वे ऋगादि से उपदिष्ट-तत्त्ववस्तु के श्रवणादि का अनुष्ठान करके, शास्त्रोपदिष्ट प्रकार से तच्छब्द का वाच्य-शब्द एवं अर्थ (नामरूप जगत्) का अधिष्ठानरूप-

ब्रह्म विदुः=विजानन्ति–आत्मत्वेनापरोक्षं कुर्वन्ति, ते इमे=ते एव इमे, लोके प्रत्यक्ष-शरीराः पूर्वोक्तसाधनानुष्ठायिनो विज्ञाता-रोऽहं ब्रह्मासीत्यपरोक्षीकृतैकत्वाः सन्तः समासते=सम्यक् तिष्ठन्ति–कृतकृत्या उप-विशन्ति, उक्तसाधनपरम्परालभ्यब्रह्मात्मै-कत्वदर्शनध्वस्तसंसारतत्कारणा आविर्भूत-निरतिशयानन्दाश्चासते–अत्रापुनरावृत्त्या अनन्तानन्दस्वस्वरूपेणैव सदाऽवस्थानं स-म्यगासनं–समासनं वेदितव्यम्। यद्वा ये विदुरित्=ये विजानन्त्येव–अक्षरस्यात्मनः शुद्धत्वाकर्तृत्वादिस्वरूपविज्ञानमासादयन्ति, यद्यपि ते यागादीनि कर्माणि नानुतिष्ठन्ति, कर्तृत्वाद्यध्यासाश्रयाणां तेषामकर्तृत्वादि-ज्ञानेनोपमर्दितत्वात्। तदुक्तं–'कर्मणा ब-ध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मा-त्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥' (महा. भा. शां. २४३।७) इति। तथापि ते इमे एव समासते=गवामयनादिसहस्र-संवत्सरसत्रपर्यन्तानां समेषां वेदविहितानां यज्ञदानाध्ययनव्रततपोयोगादीनां कर्मणां सर्वाणि सार्वभौमादिब्रह्मलोकान्तेषु स्थान-विशेषेष्वनुभूयमानानि सुखतृप्त्यादिलक्ष-णानि फलानि सहोपयन्ति, सहार्थे सम-शब्दः। 'शते पञ्चाशन्न्यायेन' 'अन्यान्य-

परब्रह्म को विशेषरूप से जानते हैं, अर्थात् आत्मस्व-रूप से अपरोक्ष करते हैं, वे ही ये जिन के लोक में शरीर प्रत्यक्ष हैं, पूर्वोक्त-साधनों के अनुष्ठान करने वाले-जिन्हों ने 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार ब्रह्म के साथ अपने आत्मा के एकत्व का अपरोक्ष-अनुभव प्राप्त किया है–ऐसे विज्ञाता, सम्यग् रूप से कृतकृत्य हुए रहते हैं। उक्त साधनों की पर-म्परा से लभ्य–जो ब्रह्म और आत्मा का एकत्व-दर्शन है, उससे जिन्हों ने संसार और संसार के कारण अज्ञान का निध्वंस किया है, और जिन्हों को निरतिशय-आनन्द का प्रादुर्भाव हो गया है। वे अपुनरावृत्तिरूप अनन्त-आनन्दस्वस्वरूप से ही सम्यक् रहते हैं, उस रूप से ही सदा अवस्थान सम्यग् आसन, समासन है, ऐसा जानना चाहिए। यद्वा जो निश्चय से जानते हैं, अर्थात् अक्षर आत्मा के शुद्धत्व-अकर्तृत्वादि स्वरूपविषयक विज्ञान को जो प्राप्त करते हैं, यद्यपि वे यागादि कर्मों का अनुष्ठान नहीं करते हैं, क्योंकि–कर्तृत्वादि-अध्यास के आश्रयरूप उन-यागादि कर्मों का अकर्तृत्वादि-ज्ञान से उपमर्दन (बाध) हो गया है। यह कहा है–'कर्म से प्राणी बन्धन को प्राप्त होता है, और विद्या से मुक्ति को पाता है, इसलिए पारदर्शी यति-परिव्राजक कर्म नहीं करते हैं।' इति। तथापि–वे ही ये समासते–अर्थात् 'गवामयन' (एक प्रकार का वैदिक-कर्मविशेष) आदि से ले कर सहस्रवर्षव्यापी सत्र (एक प्रकार का महान् यागविशेष) पर्यन्त के सभी वेदविहित–यज्ञ, दान, अध्ययन, व्रत, तप, योगादि-कर्मों के–सार्वभौम (सम्राट् राजा) से आदि ले कर ब्रह्मलोकपर्यन्त स्थानविशेषों में-अनुभूयमान-सुख-तृप्ति आदिरूप फलों को एक साथ प्राप्त करते हैं। यहाँ सह अर्थ में सम शब्द है। 'सौ में पचास' के (अन्त-र्भाव) न्याय से, 'भिन्न-भिन्न-तीर्थों के जलों के

तीर्थजलमहत्त्वानां सर्वतीर्थमय्यां सर्वाधिकमहिमशालिन्यां गङ्गायामन्तर्भाववत्, तानि ब्रह्मविदामखण्डनिरवधिकब्रह्मसुखानुभूतावन्तर्भवन्ति सन्ति विभाव्यन्त इत्यर्थः। तदुक्तं भगवता गीतासु-'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥' (२।४६) इति। अयं भावः-आनन्दो नाम तृप्तिः, तस्याः कश्चिद्विषयाभिलाषो विरोधी। तस्य च-सर्वेषु लोकेषु वर्तमानस्यानन्दहेतोर्विषयस्य भोगे प्रयाससाध्यत्वसातिशयत्वसोपद्रवत्वानित्यत्वादिदोषान् शास्त्रानुभवाभ्यां निश्चित्य-निरस्तत्वात्-ब्रह्मविदो निष्कामा भवन्ति, तेषु विरोध्यभावान्निर्विघ्ना निरंकुशा तृप्तिरभिव्यज्यते। विद्यया त्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे निवृत्ते सति स्वाभाविकः परिपूर्ण एवात्मानन्दोऽवतिष्ठते। यस्य समुद्रस्थानीयस्याखण्डैकरसस्यास्य विन्दुस्थानीया हिरण्यगर्भाद्यानन्दाः, सोऽयमेक एवानन्दो मुमुक्षुभिर्बोद्धव्य इत्येष वेदोपदेशस्तात्पर्यगम्यः सम्पन्न इति।

महत्त्वों का सर्वतीर्थमयी-सब से अधिक महिमाशाली गंगा में अन्तर्भाव की भाँति' ब्रह्मवेत्ताओं के अखण्ड-निरवधिक-ब्रह्मानन्द के अनुभव में वे सब कर्मों के फल अन्तर्भूत हुए मालूम हो जाते हैं, यह अर्थ है। यह गीता में भगवान् ने भी कहा है-'जैसे मनुष्य का सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है, वैसे अच्छी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्मनिष्ठ-ब्राह्मण का भी सब वेदो में उतना ही प्रयोजन रहता है, अर्थात् जैसे गंगादि बडे पवित्र जलाशय के प्राप्त होने पर जल के लिए छोटे जलाशयो की आवश्यकता नही रहती, वैसे ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर आनन्द के लिए वेदो की या वेदविहित-कर्मोपासना के फलो की आवश्यकता नहीं रहती।' इति। यह भाव है-आनन्द नाम तृप्ति है, उसका कोई विषय का अभिलाष (इच्छा) विरोधी है। उस विरोधी का-सभी लोको में वर्तमान-आनन्द के कारण-जो विषय हैं, उनके भोग में प्रयाससाध्यत्व, सातिशयत्व, सोपद्रवत्व, अनित्यत्व, आदि दोषो का शास्त्र एवं अनुभव के द्वारा निश्चय करके-निरास-(विध्वंस) किया है, इसलिए ब्रह्मवेत्ता निष्काम हो जाते है, उनमें विरोधी का अभाव होने से विघ्नरहित-निरङ्कुश (स्वतन्त्र) तृप्ति अभिव्यक्त होती है। विद्या से, अविद्या से सम्पादित-विषय एव विषयी के विभाग (भेद) की निवृत्ति होने पर स्वाभाविक-परिपूर्ण ही आत्मानन्द अवस्थित हो जाता है। जो समुद्र के स्थानापन्न-(अनन्त-अपार) अखण्ड एकरस है, उसके बिन्दु के स्थानापन्न हिरण्यगर्भादि के आनन्द हैं, वही यह एक ही आनन्द जिज्ञासुओं को जानना चाहिए, यही वेद का उपदेश, तात्पर्य से जानने योग्य-सम्पन्न हुआ है। इति।

व्योम, विविधमस्मिन् शब्दजातमोतमिति व्योम। तिसृषु मात्रासु-अकारोकारमकारलक्षणासूपशान्तासु यदवशिष्यते तदक्षरं व्योम। अपरमाकाशमपेक्ष्य तत्परं, ततोऽभिव्यक्तं भवति शब्दसामान्यमिति यावत्। ऋगादिषु ये देवाः ते सर्वे मन्त्रद्वारेणाक्षरे निषण्णाः, तस्य मन्त्रादिशब्दकारणत्वात्। तद्यथा—प्रथमायां मात्रायां पृथिवी, अग्निः, ऋग्वेदः, पृथिवीलोकनिवासिन इति। द्वितीयायां मात्रायामन्तरिक्षं, वायुर्यजूंषि, तल्लोकनिवासिनो जना इति। तृतीयायां मात्रायां द्यौरादित्यः सामानि तल्लोकनिवासिनो जना इति। अत एव आम्नायते हि—'तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा' 'ॐकार एवेदꣳ सर्वम्'.(छां. २।२३।३) इति। यस्तन्न वेद=यस्तान्यक्षरात्मना न पश्यति, किमसौ ऋगादिभिर्मन्त्रैः करिष्यति ?। य इत्-तद्विदुस्ते हि तत्परिज्ञानात्ब्राह्म्यमुपगताः प्रणवविग्रहमात्मानमनुप्रविश्य समासते=समीकृता निर्वान्ति, शान्तार्चिष इवानलाः, निर्वाणं प्रपञ्चोपशमं ब्रह्मसुखमविरतमनुभवन्तीति यावत्।

इसलिए है कि—उसमें विविध शब्दों का समुदाय ओत (प्रोत) है। अकार, उकार, मकार रूप तीन-मात्राओं की उपशान्ति होने पर जो अवशिष्ट रहता है, वह अक्षर व्योम है। वह अपरभूताकाश की अपेक्षा से पर है। उससे शब्द सामान्य अभिव्यक्त होता है, यह तात्पर्य है। ऋगादि मन्त्रों में जो देव हैं, वे सब मन्त्र-द्वारा अक्षर रूप ॐकार में अवस्थित हैं। क्योंकि—वह (ॐकार) मन्त्रादि शब्दों का कारण रूप है। उसे दिखलाते हैं— ॐकार की प्रथम मात्रा-अकार में पृथिवी, अग्नि, ऋग्वेद, एवं पृथिवी लोक के निवासी-अवस्थित हैं। द्वितीय-मात्रा-उकार में अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्मन्त्र, एवं अन्तरिक्षलोक-निवासी जन अवस्थित हैं। तृतीय-मात्रा मकार में द्यौ (स्वर्ग) आदित्य, साममन्त्र एवं आदित्यलोक निवासी जन अवस्थित हैं। इति। इसलिए निश्चय से कहा गया है-'जैसे शंकु (शलाकाविशेष) से सभी पत्ते संतृण्ण (अभिव्याप्त) हैं, इस प्रकार ॐकार से सभी वाणी अभिव्याप्त है' 'ॐकार ही यह सर्व है' इति। जो उस ॐकार को नहीं जानता है, अर्थात् ऋगादि मन्त्रों को अक्षर ब्रह्म 'ॐ' रूप से नहीं देखता है, वह ऋगादि मन्त्रों से क्या करेगा ?। जो उस ॐकार को जानते हैं, वे ही उसके यथार्थ ज्ञान द्वारा अक्षर ब्रह्म के भाव को प्राप्त हुए ॐकार रूप विग्रह वाले आत्मस्वरूप में प्रविष्ट हो कर सम्यक् स्वस्वरूप में अवस्थित होते हैं, अर्थात् जिन की ज्वालाएँ शान्त हो गई हैं, ऐसी अग्नियों की तरह, समीकृत-हुए (समान रूप से अवस्थित हुए) निर्वाण को प्राप्त होते हैं, अर्थात् द्वैत प्रपञ्च का जिस में उपशम (अत्यन्ताभाव) है ऐसा निर्वाण रूप ब्रह्म-सुख का वे निरन्तर अनुभव करते हैं।

अथास्य प्रकारान्तरेण तृतीया व्याख्या—ऋचः=ऋक् अर्चनीयो जीवः, विविधैर्भोगैस्तस्य समर्चनीयत्वं प्रसिद्धम्, तस्य सम्बन्धिनि—अक्षरे—अविनाशे व्याप्ते वा परमात्मनीत्यर्थः। अत एव जीवापेक्षया परमे—उत्कृष्टे निरुपाधिके व्योमन्=विशेषेण सर्वजीवाधिष्ठानतया रक्षके व्योमसदृशे वा, यस्मिन् परमात्मनि देवाः=गमनवन्तो व्यवहरन्तो वा इन्द्रियसंज्ञकाः, तानि हि विषयेषु द्योतन्त इति। विश्वे=सर्वेऽपि, अधिनिषेदुः=निषीदन्ति—आश्रित्य वर्तन्ते, यस्तन्न वेद=न जानाति—उपाध्यंशपरित्यागेन तत्स्वरूपं न पश्यति स्थूलबुद्धिर्जनः, स किमृचा करिष्यति=केवलेन जीवभावेन किं फलं प्राप्स्यति, जन्ममरणादिक्लेशस्यात्यागादिति भावः। परिशिष्टं पूर्ववद्बोध्यम्।

अब इस मन्त्र की अन्य-प्रकार से तृतीय व्याख्या करते हैं—ऋक् यानी अर्चन करने योग्य जीव। विविध शब्दादि विषय-भोगों से उसका सम्यक्-अर्चनीयत्व प्रसिद्ध है। उस जीव के सम्बन्धी अविनाशी या व्यापक अक्षररूप परमात्मा है। इसलिए वह जीवों की अपेक्षा से परम उत्कृष्ट है, निरुपाधिक है एवं व्योम रूप है अर्थात् सर्व जीवों का अधिष्ठान होने से विशेष रूप से उनका रक्षक है, या आकाश के सदृश है, उस परमात्मा में गमन करने वाले या व्यवहार करने वाले-इन्द्रिय नाम वाले सभी देव अवस्थित हैं, अर्थात्—उसका आश्रय कर के वर्तते हैं। इन्द्रियाँ विषयों में द्योतित होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों से विषय प्रकाशित होते हैं इसलिए वे देव कहे जाते हैं। जो उस (जीवों के अधिष्ठान रूप परमात्मा) को नहीं जानता है, यानी उपाधि-अंश का परित्याग कर उसके शुद्ध स्वरूप को स्थूल-बुद्धि वाला मनुष्य नहीं देखता है। वह ऋक् से क्या करेगा? अर्थात् केवल—जीवभाव से क्या फल प्राप्त करेगा? क्योंकि—जन्म-मरणादि क्लेशों का त्याग (निवारण) नहीं किया है, यह भाव है। परिशिष्ट पूर्व की तरह जानना चाहिए।

अथास्यादित्यमधिकृत्य चतुर्थी व्याख्या—ऋचः=ऋक्—अर्चनीय आदित्यः, ऋगादिमयमादित्यमण्डलं वा। 'आदित्यो वा[1]

अब इस मन्त्र का—आदित्य का आश्रय कर चतुर्थ व्याख्यान करते हैं—ऋक् यानी अर्चनीय आदित्य, या ऋगादिमय-आदित्यमण्डल। श्रुति कहती है—निश्चय से यही परमेश्वर आदित्य है, उसका यह मण्डल तप रहा है—सर्वत्र उष्ण-प्रकाश

---

१ एष सोपाधिकः परमेश्वरो नारायणशब्दवाच्यः—आदित्यः=आदित्यरूपेण वर्तते, तस्य चादित्यस्य, एतत्=अस्माभिर्दृश्यमानं मण्डलं=वर्तुलाकारं, उष्णं तेजस्तपति=सन्तापं करोति, तत्र=तस्मिन् मण्डले ताः=अध्यापकादिप्रसिद्धा 'अग्निमीळे' इत्यादिका ऋचो वर्तन्ते, तत्=तस्मात् कारणात्, तन्मण्डलमृचा निष्पादितमिति शेषः। सः=मण्डलभाग ऋग्भिर्निष्पादित, ऋचा=ऋगभिमानिदेवताना लोकः=निवासस्थानमित्यर्थः।

एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ता ऋचस्तदृचा मण्डलᳯ स ऋचां लोकः' (तै० आ० १०।१२।१३) इत्यादिश्रुतेः। तस्य सम्बन्धिनि अक्षरे परमे व्योमन्निति–उक्तलक्षणे ब्रह्मणि 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (तै. ब्रा. ५।३२) इत्यादिश्रुत्युक्तस्वरूपे यस्मिन् सर्वे देवाः=द्योतमाना रश्मयः निषेदुः=वर्तन्ते। य एतन्न वेद, स केवलया पठितया ऋचा किं करिष्यति? ये जानन्ति ध्यायन्ति–भावयन्ति, ते एव विद्वांसः समासते–भूम्यां रोगादिरहिता भोगिनो यशस्विनः सन्तः सानन्दाः चिरकालं जीवन्तीति तदर्थः। अयं मन्त्रो निरुक्तेऽपि (१।८) व्याख्यातः। इत्थमेषां मन्त्राणामतिगमीराणां कियदाशयं वर्णयतां विदुषां यावन्तो व्याख्यानचातुरीविशेषा निविशन्ते, तेषां सर्वेषामपि 'पुष्पकविमानवत्' इमे मन्त्रा अवकाशं ददतीत्यहो! भगवतो वेदस्य महामहिमशालित्वमनन्यसाधारणं प्रकटयन्तीति ॥

[पूर्वमक्षरब्रह्मज्ञानं प्रतिपादितम्, इदानीं तेनैव निवर्त्यामशेषानर्थकारणीभूतामज्ञानाविद्यादिशब्दप्रतिपाद्यां सविस्तरां मायां प्रतिपादयति]

फैला रहा है। उस मण्डल में यह प्रसिद्ध ऋचाएँ हैं। वह मण्डल, ऋचाओं के द्वारा बना है, इसलिए वह ऋचाओं का लोक है।' इत्यादि। उस आदित्य के सम्बन्धी अक्षररूप व्योम है, अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण वाला ब्रह्म है। 'उस आदित्य के भीतर वही यह हिरण्य के समान प्रचुर तेज से युक्त, पुरुष देखने में आता है' इत्यादि श्रुति से कथित स्वरूप वाले उस आदित्य ब्रह्म में प्रकाश वाली सभी रश्मियाँ वर्तमान हैं। जो उस आदित्य ब्रह्म को नहीं जानता है, वह केवल पठन की हुई ऋचा से क्या करेगा? जो उसे जानते हैं, उसका ध्यान करते हैं, उसकी भावना करते हैं, वे ही विद्वान् हैं, और वे ही पृथिवी में रोगादि रहित हो कर, भोगी एवं यशस्वी हुए आनन्दपूर्वक चिरकाल तक जीते हैं, यही 'समासते' पद का अर्थ है। इस मन्त्र का निरुक्त में भी व्याख्यान किया है। इस प्रकार अति गम्भीर इन मन्त्रों के कुछ आशय का वर्णन करने वाले विद्वानों के जितने व्याख्यान के चातुर्यविशेष निविष्ट होते हैं, उन सभी व्याख्यानों को भी 'पुष्पक-विमान की भाँति' ये मन्त्र अवकाश प्रदान करते हैं, इस प्रकार अहो! (आश्चर्य में) भगवान् वेद के अनन्यसाधारण–(जो अन्य के समान नहीं है) महामहिमाशालित्व को वे (मन्त्र) प्रकट करते हैं। इति।

[पहिले अक्षरब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन किया, अब उस ज्ञान से निवृत्त होने योग्य-अशेष-अनर्थों की कारणरूप–अज्ञान, अविद्या, आदि शब्दों से प्रतिपादन करने योग्य विस्तारसहित–माया का प्रतिपादन करते हैं]

(१६)

(मायाया देव्याः शब्दात्मिकायाः सरस्वत्या वा विस्तार-प्रतिपादनम्)

(माया-देवी का या शब्दात्मिका सरस्वती का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन)

जीवजगदादिरूपेण लीलया क्रीडतः परमेश्वरस्य सम्बन्धिनीं तदधीनां पिण्ड-ब्रह्माण्डादिरूपेण विततां 'मामहं न जानामी'ति साक्षिप्रत्यक्षत्वेनापलापानर्हामनृतस्य प्रपञ्चस्येन्द्रजालादेरिव प्रकाशिकां सत्त्वादिगुणमयीं गौरीं मायां प्रतिपादयति—

जीव, जगत् आदिरूप से, लीला से क्रीडा करने वाले-परमेश्वर के सम्बन्धी, उसके आधीन-पिण्ड-ब्रह्माण्डादिरूप से वितत (फैली हुई) 'मैं अपने को नहीं जानता हूँ' इस प्रकार साक्षी के प्रत्यक्ष होने से जो अपलाप के लिए अयोग्य है—इन्द्रजालादि की भाँति जो प्रपञ्च की प्रकाशिका है—ऐसी सत्त्वादिगुणमयी गौरीमाया का प्रतिपादन करते हैं—

ॐ गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्ष-त्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी, सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥

(ऋग्वेदसंहितायां, मण्डल० १ सूक्त १६४ ऋक् ४१) (अथर्व. ९।१०।२१, १३।१।४२) (तै. ब्रा. २।४।६।११) (तै. आ. १।९।४) (नि. ११।४०)

'अपने में चेतन-ब्रह्म की सत्ता को सम्पादन करती हुई-सत्त्वादिगुणमयी-भगवन्माया गौरी ने सलिल (जल) से उपलक्षित-आकाशादि महाभूतों की रचना किया, या अपने परिणामविशेष द्वारा विरचित-समग्र भूत-भौतिक प्रपञ्च को अपने वश में स्थापन किया । वह प्रकृतिरूपा गौरी अव्यक्तरूप से एकपदी (एक प्रकार के स्वरूप वाली) है, अव्यक्त एवं सूक्ष्मरूप से द्विपदी है; सत्य, तप, जन, मह ये ऊपर के उत्तम लोकों के चार रूपों से चतुष्पदी है । अष्टवसु आदि देवों के रूपों से अष्टापदी है, या पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के भेद से वह अपरा प्रकृतिरूपा अष्टापदी है । भूर्भुवः स्वः ये तीन लोक, अग्नि, वायु, एवं सूर्य ये तीन देव, तथा प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूप तीन-अवस्थाओं के रूप से वह नवपदी है । या तीन विश्वादि-पाद, तीन अकारादि-मात्रा, और तीन जाग्रदादि-अवस्थाओं से वह नवपदी है । विविध-असंख्य रूपों से प्रकट होने की इच्छा करके वह उस-उस रूप से प्रकट हो जाती है, इसलिए वह अनन्त विस्तार वाली है, वह परम-व्योमरूप-अक्षरब्रह्म में अधिष्ठित है ।'

गौरीः=सत्त्वादिगुणमयी दैवी भगवन्माया सुलोपाभावश्छान्दसः । परमेश्वराश्रिता हि सा शुद्धसत्त्वप्रधाना 'मायिनं तु महेश्वरमि'(श्वे. ४।१०)ति श्रुतेः ।

सत्त्वादिगुणमयी, दैवी, भगवन्माया गौरी है । 'गौरीः' पद में 'सु' लोप का अभाव छांदस है । वह परमेश्वर के आश्रित है, इसलिए वह निश्चय से शुद्ध-सत्त्वगुण-प्रधाना है अर्थात् उसमें प्रधानरूप से शुद्ध सत्त्वगुण है । श्रुति कहती है—'माया वाला

शुद्धसत्त्वस्य च शुक्लवर्णत्वात् । शुक्लश्च गौरपर्य्यायः, अत एव तस्याः शुद्धसत्त्व-प्रधानायाः गौरीत्वमुपपन्नमेव । 'ममैव सा परा शक्तिर्देवी गौरीति संज्ञिता।' इति पुराणस्मृतेश्च । सर्वमिदं मिमाय=निर्मिमीते, कथम्? सलिलानि=उदकानि, तक्षती=कुर्वती उदकपूर्वकत्वात्सर्वनिर्माणस्य; यद्वा सलिलानि=सलिलोपलक्षितानि, पञ्चमहाभूतानि, तक्षती=चिदाकाशसत्तां स्वस्यां सम्पादयन्ती सती, मिमाय=रचयामास रचयति वा। एतेन-स्वतन्त्रायाः प्रकृतेः जगद्रचनाकर्तृत्वं सांख्योक्तं प्रत्याख्यातम् । स्रष्टव्यज्ञान-शून्या अचेतना केवला प्रकृतिः अनेकविधं विचित्रं जगत् रचयितुं कथं प्रभवेत्? शास्त्रे प्रतिषिद्धत्वात् लोकेऽदृष्टत्वाच्च, दृष्टानुसारित्वाच्चादृष्टकल्पनायाः, चेतनसत्तामादाय सा सर्वं विधातुं प्रभवतीति तात्पर्यार्थः । अथवा स्वकीयपरिणामविशेषेण विरचितं सर्वं भूतभौतिकजातं मिमाय=स्ववशे स्थापयामास स्थापयति वा। यद्वा तक्षती स्वत्रिगुणव्याप्त्या सुखदुःखमोहनिमित्तत्वेन तेषु सलिलादिभूतेषु नानारूपतां निष्पादयन्ती सती मिमाय=तानि सर्वाणि भूतानि

महेश्वर है' इति। शुद्ध सत्त्वगुण का शुक्ल वर्ण है, शुक्ल गौर पर्याय है, अर्थात् शुक्ल एवं गौर पद एकार्थ के बोधक हैं। इसलिए उस शुद्ध सत्त्व-प्रधाना माया में गौरीत्व युक्तियुक्त ही है। पुराणस्मृति में भी कहा है-'मेरी ही वह परा शक्ति गौरी नाम वाली देवी (माया) है' इति। वह इस सर्व प्रपञ्च का निर्माण करती है, कैसे? सलिल यानी उदकों का (निर्माण) करती हुई। उदकपूर्वक ही सर्व का निर्माण होता है। यद्वा सलिल से उपलक्षित-पञ्चमहाभूतों की-अपने में चेतन-आकाश-ब्रह्म की सत्ता को सम्पादन करती हुई-रचना करती है। इस कथन से-स्वतन्त्र प्रकृति में जगत्-रचना का कर्तृत्व है, ऐसा सांख्य का कहा हुआ खण्डित हो गया। स्रष्टव्य-(सर्जन करने योग्य-जगत्) के ज्ञान से शून्य, अचेतन, केवल (एकाकी) प्रकृति, अनेक प्रकार के विचित्र जगत् की रचना करनेके लिए कैसे समर्थ हो सकती है? शास्त्र में प्रतिषेध किया है, लोक में भी ऐसा देखने में नहीं आता, दृष्ट के अनुसारी ही अदृष्ट की कल्पना होती है। इसलिए वह जड-प्रकृति, चेतन-ब्रह्म की सत्ता को ग्रहण करके सब कुछ करने के लिए समर्थ होती है, यह तात्पर्यरूप अर्थ है। अथवा अपने परिणामविशेष द्वारा विरचित-समग्र भूत-भौतिक समुदाय को अपने वश में स्थापित किया या स्थापित करती है। यद्वा तक्षती यानी उन सलिलादि भूतों में, अपने तीन गुणों की व्याप्ति द्वारा, सुख दुःख एवं मोह का निमित्त हो कर नानारूपता का निष्पादन करती हुई उन सभी भूतों का परिच्छेद (अपने में ही विभक्त रूप से नियमन) करती है।

परिच्छिनत्तीत्यर्थः। ननु–रचनाप्रतिष्ठापनादिविविधार्थेषु मिमतिधातोर्व्याख्यानमनुचितमिति चेन्मैवम्। धातूनामनेकार्थत्वस्य सर्वत्र सर्वैर्घुष्टत्वात्, सिद्धान्ताविरुद्धत्वेनोपपदादियोगमनुरुध्य तद्व्याख्यानस्यानौचित्यवर्जितत्वादिति। लोके हि भूतकार्याणां घटपटादीनां नानारूपता सर्वैरस्मादादिभिरप्यधिगम्यते, तथाहि–घटो येनाप्यते तं प्रति सुखरूपः, यस्यापह्रियते तं प्रति दुःखरूपः, येन च नावाप्यते तं प्रति मोहरूपः। एतेन सर्वे पदार्थाः तथैव द्रष्टव्याः। यद्यपि सुखादीनामान्तरत्वप्रतीत्या तद्रूपता तु तदाश्रयस्यान्तःकरणस्यैव, तथापि तन्निमित्तत्वेन 'आयुर्वै घृतमि'तिवत्, घटादिषु तद्रूपत्वं लोकव्यवहारादुपचर्यते। अपि च त्रिगुणात्मकस्यान्तःकरणस्यानियतभावनाविशेषसहकारात् तेषां सुखदुःखादिनिमित्तत्वमप्यनियतमेव, यस्य यस्मिन् पदार्थे रमणीयत्वादिभावना यदोद्बुद्धा भवति, तदा स पदार्थः सुखाय भवति वा, मोहाय भवति वा। यदा त्वरमणीयत्वादिवासनोद्बोधो भवति, तदा

शंका–रचना, प्रतिष्ठापन आदि विविध अर्थों में 'मिमति' धातु का व्याख्यान अनुचित है? (ऐसी यदि शंका करते हो तो) ऐसी शंका मत करो, क्योंकि–'धातुओं के अनेक अर्थ हैं' ऐसा सब विद्वान् लोग सभी जगह चिल्ला कर कहते हैं। सिद्धान्त का विरोध न होने से, एवं समीप के पद, वाक्य आदि के योग का अनुसरण कर, धातु के अनेक अर्थों का व्याख्यान-अनौचित्य से रहित-अर्थात् उचित ही है। इति। लोक में निश्चय से भूत-कार्य-घटपटादिकों की नानारूपता हम सब देखते हैं। यह दिखाते हैं–घट को जो प्राप्त करता है, उसके प्रति वह सुखरूप हो जाता है। जिस का घट अपहृत हो जाता है, उसके प्रति वह दुःखरूप हो जाता है। जिस को घट प्राप्त नहीं होता है, उसके प्रति वह मोहरूप हो जाता है। इस घट के दृष्टान्त से सभी पदार्थ भी तद्वत् विविधरूप वाले समझने चाहिए। यद्यपि सुखादिओं की आन्तरत्व प्रतीति होने से, सुखदुःखादिरूपता तो उनके आश्रय अन्तःकरण की ही है। तथापि सुखादिओं का निमित्त होने से 'निश्चय से घृत ही आयु है' (घृत आयु की वृद्धि का निमित्त है, इसलिए वह आयु कहा जाता है) इसकी तरह घटादि में सुखादिरूपता लोकव्यवहार से आरोपित है, मुख्य नहीं। और त्रिगुणरूप-अन्तःकरण की अनियत-भावनाविशेषों के सहकार से घटादि पदार्थों में सुखदुःखादि की निमित्तता भी अनियत ही है। जिस की जिस पदार्थ में रमणीयत्वादि की भावना जब उदित होती है, तब वह पदार्थ सुख के लिए होता है, या मोह के लिए होता है। जब अरमणीयत्वादि की वासना का उद्बोध (प्रा-

१ 'यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता। सा सा गौरी महादेवी स स देवो महेश्वरः॥' (शिवपुराणे)। जिस जिस पदार्थ की जो जो शक्ति कही गयी है, वह वह शक्तिरूपा महादेवी गौरी ही है। और वह वह शक्तिमान् पदार्थ महेश्वर देव रूप है।

दुःखाय भवति वा मोहाभावाय वा। इत्येवं घटादिपदार्थेषु मायया नानारूपतानिष्पादनं यथायोगं बोद्धव्यम्। एवं प्रकृतेर्गौर्याः चेतनेश्वराधिष्ठितत्वं नानारूपवैचित्र्यञ्चाभिधाय तस्याः परिणामवैतत्यमभिदधाति 'एकपदी' इत्यादिना। सा प्रकृतिः एकपदी–अव्याकृतावस्थया, एकमनिर्वाच्यं पदं=स्वरूपं यस्याः सा। द्विपदी=तया च सूक्ष्मसमष्ट्यवस्थया च। चतुष्पदी=सत्यं, तपः, जनः, महः, इति चतुर्भिरुपरितनैर्लोकैर्विशिष्टा। अष्टापदी=अष्टवस्वादिदेवैरुपेता। यद्वा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहङ्कारभेदेन भिन्ना अष्टधा प्रकृतिरेव–अष्टापदी। तदुक्तं भगवता–'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥' (गी. ७।४) इति। नवपदी=त्रिभिर्लोकैः भूम्यन्तरिक्षस्वर्गैः, त्रिभिर्देवैरग्निवायुसूर्यैः, प्रपञ्चस्य सर्गस्थितिप्रलयैश्च संयुक्ता। यद्वा विश्वादिविराजादिभिः त्रिभिर्व्यष्टिसमष्टिपादैः, प्रणवस्याकारादिभिस्तिसृभिर्मात्राभिः, जाग्रदाद्याभिस्तिसृभिश्चावस्थाभिः समुपेता नवपदी। किमनया परिगणनया ? एवं सा माया विस्तृतपरिणामभेदादेकपद्यादिरूपेण विवर्धमाना सहस्राक्षरा=अनन्तविस्तारा–असंख्यगुल्मलतातृणवृक्षादिभौतिकविस्तारविशिष्टा इ-

करूप) होता है, तब वह पदार्थ दुःख के लिए या मोहाभाव के लिए होता है। इस प्रकार घटादि पदार्थों में माया के द्वारा नानारूपता का निष्पादन, यथायोग यानी योग्यता के अनुसार जानना चाहिए। एवं प्रकृतिरूपा गौरी चेतन-ईश्वर से अधिष्ठित–नियमित है, और वह नानारूपों के द्वारा विचित्र है, ऐसा कह करके, अब उसके परिणाम के विस्तार का 'एकपदी' इत्यादि से कथन करते हैं–वह प्रकृति, अव्याकृत-अवस्था द्वारा एकपदी है, एक ही अनिर्वचनीय है पद यानी स्वरूप जिस का वह एकस्वरूपा है। वह अव्याकृतावस्था, एवं सूक्ष्म समष्टि-अवस्था के द्वारा द्विपदी है। सत्य, तप, जन, एवं मह ये ऊपर के चार लोकों से संयुक्त हुई चतुष्पदी हो जाती है। अष्टवसु आदि देवों से संयुक्त हुई अष्टापदी हो जाती है। यद्वा पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, एवं अहंकार के भेद से भिन्न हुई, वह अष्ट प्रकार की प्रकृति ही अष्टापदी है। वह भगवान् ने गीता में कहा है–'पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, तथा मन, बुद्धि, और अहंकार ऐसे इन आठ प्रकार से विभक्त हुई मेरी अपरा प्रकृति है।' इति। भूमि, अन्तरिक्ष, एवं स्वर्गरूप तीन लोकों से, अग्नि, वायु एवं सूर्यरूप तीन-देवों से, तथा प्रपञ्च के सर्ग, स्थिति एवं प्रलय से संयुक्त हुई वह नवपदी हो जाती है। यद्वा विश्वादि-विराट् आदि व्यष्टि-समष्टि के तीन पादों से, प्रणव के अकारादि तीन-मात्राओ से, एवं जाग्रत् आदि तीन-अवस्थाओं से समुपेत हुई वह नवपदी हो जाती है। इस परिगणना से क्या ? इस प्रकार वह माया, विस्तार वाले-परिणाम के भेद से एकपदी आदि विशेष रूपों द्वारा बढती हुई सहस्राक्षरा यानी अनन्त विस्तार वाली–अर्थात् असंख्य गुल्म, लता, तृण, वृक्ष, आदि भौतिक-

त्यर्थः । सहस्रशब्दस्यानन्तपर्यायत्वात्, अक्षरशब्दस्य विस्तारगमकत्वाच्च । बभूवुषी=प्रथमं भूतभौतिकसृष्टिरूपेण भवितुमिच्छां कृतवती पश्चाद्बभूवेत्यर्थः। एवं तस्याः कथमपि कल्प्यं वैतत्यं प्रपञ्च्य चिदध्यस्तत्वम्प्रतिपादयितुमाह-परमे=प्रकृष्टे व्योमन्=व्योमनि विविधरक्षकेऽधिष्ठाने ब्रह्मणि विषयत्वेनाश्रयत्वेन च कल्पिततादात्म्यसम्बन्धेनावस्थिता वर्तते इति शेषः । अयं भावः—गौरीमायाशक्तेः, तत्परिणामविशेषाणां सर्वेषां सलिलादीनां भावानाश्चाधिष्ठानभूतोऽविभक्त एक एवाऽऽत्मा परमव्योमशब्दप्रतिपाद्योऽत्रावगम्यते । तस्यैव सत्तास्फूर्त्यादिकमादायैव गौरीयं सर्वमिदमनिर्वचनीयमनेकभेदविस्तारं जगत् स्वभावतो निर्मातुं शक्नोति नान्यथेति।

अथवा गौरीः=गरणशीला शुक्लवर्णा सरस्वती या शब्दब्रह्मात्मिका वाणी, सा मिमाय=मिमीते-स्वकीयैः शब्दैरभिधेयं सर्वं जगत् परिच्छिनत्तीत्यर्थः । किं कुर्वती? सलिलानि=सलिलोपलक्षितानि सर्वाणि भूतभौतिकजातानि, तक्षती=तत्तदनेकशब्दवाच्यतया नानाकुर्वती=निष्पादयन्ती सती । एकैकस्य

विस्तार से संयुक्त हो जाती है । सहस्र शब्द अनन्त का पर्याय है, (वह यहाँ हजार संख्या का वाचक नहीं है) और अक्षर शब्द विस्तार का बोधक है। बभूवुषी यानी प्रथम भूतभौतिक सृष्टि रूप से होने की इच्छा करती हुई पश्चात् वह उस रूप से हो गयी । इस प्रकार उस माया का किसी भी प्रकार-विशेष से कल्पना करने योग्य-विस्तार का विस्तार से प्रतिपादन कर, चेतन-ब्रह्म में अध्यस्तत्व के प्रतिपादन के लिए कहते हैं—वह परम-प्रकृष्ट-विविध रक्षक-व्योमरूप-अधिष्ठान ब्रह्म में विषयत्वरूप एवं आश्रयत्वरूप-कल्पित-तादात्म्यसम्बन्ध से अवस्थित हुई वर्तती है, ऐसा शेष है । यह भाव है—गौरीमायाशक्ति का, और उसके परिणामविशेषरूप सभी सलिलादि पदार्थों का अधिष्ठानरूप, अविभक्त (अपरिच्छिन्न-पूर्ण) एक ही आत्मा परम-व्योम शब्द से प्रतिपाद्य यहाँ जाना जाता है । उसी की ही सत्ता एवं स्फूर्ति आदि का ग्रहण करके ही यह गौरी माया, इस सब-अनेक भेदों के विस्तार से युक्त अनिर्वचनीय जगत् का स्वभाव से निर्माण करने के लिए समर्थ होती है, अन्यथा-स्वतन्त्ररूप से वह समर्थ नहीं होती है । इति ।

अथवा—गौरी यानी गरणस्वभाव वाली[1] शुक्ल-वर्ण वाली सरस्वती जो शब्द-ब्रह्मरूपा वाणी है । वह अपने शब्दों से अभिधेय (वाच्य)-अर्थरूप सर्व जगत् का परिच्छेद करती है, यानी अभिव्याप्त करती है । क्या करती हुई? सलिल से उपलक्षित—समस्त-भूत-भौतिक समुदायों को उस उस अनेक शब्दों के वाच्यत्वरूप से नाना-अनेक रूप करती हुई यानी निष्पादन करती हुई।

1. शब्दरूपा गौरी अर्थप्रपञ्च को अपने में गरण—अन्तर्भाव करने का स्वभाव वाली है । अर्थप्रपञ्च का शब्दप्रपञ्च में अन्तर्भाव प्रसिद्ध है ।

हि पदार्थस्य सन्ति बहूनि नामधेयानि 'वृक्षो महीरुहः शाखी'त्येवं पर्यायबहुत्वदर्शनात्, यद्यप्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तभूता अवयवार्था भिद्यन्ते, तथापि देशभेदेन विभिन्नासु भाषासु नास्ति प्रवृत्तिनिमित्तभेदः। अतः शब्दप्रपञ्चस्य बाहुल्यादर्थप्रपञ्चस्य तदपेक्षया स्वल्पत्वात् तेन तस्य परिच्छेद्यत्वं समञ्जसम्। सा च वाणी एकपदी=अव्याकृतत्वेन एकप्रतिष्ठाना एकरूपा। शब्दब्रह्मापरनामधेयं-वर्णादिविशेषरहितं ज्ञानप्रधानं सृष्ट्युपयोग्यवस्थाविशेषरूपं जगदुपादानभूतं नादमात्रमव्याकृतं परा वाक् इत्युच्यते। सा सर्वगताऽपि प्राणिनां मूलाधारचक्रे संस्कृतपवनचलनेनाभिव्यज्यते। तथा चाम्नायते-'वागेव विश्वा भुवना जज्ञे वाचक इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।' (ऋग्वेद) तदुक्तञ्च हरिणा-'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥' इति। 'यदन्तः शब्दतत्त्वन्तु नादैरेकं प्रकाशितम्।' इति। यद्वा आन्तरप्रणवात्मना सा एकपदी। 'ओङ्कार एव सर्वा वाक्, सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवती'ति श्रुतेः। सोऽयं प्रणवः प्राणिमात्रस्य हृत्स्थः तत्तुरीयोंऽशोऽर्धमात्रारूपी नादो वा स्फोटो वा इत्युच्यते।

एक एक पदार्थ के निश्चय से बहुत नाम हैं, वृक्ष, महीरुह, शाखी, इस प्रकार एक ही पदार्थ के पर्यायरूप बहुत-वाचक शब्द देखने में आते हैं। यद्यपि इन पर्याय-शब्दो में प्रवृत्ति के निमित्तभूत (गुणकर्मादि) अवयवों के अर्थ विभिन्न होते हैं, तथापि देश के भेद से विभिन्न भाषाओं मे प्रवृत्ति-निमित्त का भेद नहीं है। इसलिए शब्दप्रपञ्च बहुत है, शब्दप्रपञ्च की अपेक्षा अर्थप्रपञ्च स्वल्प है। इसलिए शब्दप्रपञ्च से अर्थप्रपञ्च का परिच्छेदत्व समीचीन (युक्तियुक्त) है। वह वाणी अव्याकृतरूप से एक मे ही प्रतिष्ठिता-एकरूपा है, इसलिए वह एकपदी है। शब्दब्रह्म है अन्य नाम जिस का, ऐसी-जो-वर्णादिओं की विशेषता से रहित, ज्ञानप्रधान, सृष्टि के-उपयोगी-अवस्थाविशेषरूप, जगत् का उपादानरूप, नादमात्र, अव्याकृत, -परा वाणी कही जाती है। वह सर्वगत होती हुई भी प्राणिओं के मूलाधार चक्र मे सस्कृत वायु की गति-से अभिव्यक्त होती है। तथा च वेद में कहा गया है-'वाणी ही समस्त भुवनो को उत्पन्न करती है, वह-जो अमृतरूप अमूर्त एव मर्त्यरूप मूर्त, समस्त विश्व है, उसका वाचक शब्दरूपा है।' वह हरि ने भी कहा है-'जो शब्दस्वरूप अक्षर है, वह अनादि-अनन्त-ब्रह्मरूप है, वही अर्थ-प्रपञ्चरूप से विवर्तित (परिणत) होता है। जिस से इस जगत् की उत्पत्त्यादिरूपा प्रक्रिया क्रिया होती है।' इति। 'जो अन्तर में शब्दतत्त्व है, वह एक ही नादों के द्वारा विभिन्नरूप से प्रकाशित होता है।' इति। यद्वा अन्तर में विद्यमान प्रणव-रूप से वह एकपदी है। श्रुति कहती है-'ॐकार ही सर्व वाणी है, वही यह-स्पर्शवर्ण ('क' से लेकर 'म' पर्यन्त) एव उष्मवर्ण (श, ष, स, ह, ह, ळ्) द्वारा अभिव्यक्त हुई बहु-नानारूप वाली होती है।' इति। वही यह प्रणव, प्राणि-मात्र के हृदय में अवस्थित है, उसका अर्धमात्रारूप चतुर्थ-भाग-नाद या स्फोट कहा जाता है। उसका

तस्य माहात्म्यमन्यत्राप्युक्तं—'स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥ तस्य ह्यासँस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह ! । धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥' इति । स्वधाम्नः=स्वकारणस्य । किञ्च स तदंशभूतसमस्तदेवतावाचकोऽपीत्याह—सः=प्रणवः । सदेवानां सर्वमन्त्राणां उपनिषद्=रहस्यं सूक्ष्मरूपं, यतो वेदकारणम् । तत्कारणत्वेऽपि न विकारित्वं यतः सनातनं=सदैकरूपम् । भावाः=धर्माः=धार्यन्ते तत्कारणत्वात् । गुणाः=सत्त्वरजस्तमांसि । नामानि=ऋग्यजुस्सामलक्षणानि । अर्थाः=भूर्भुवः-स्वर्लोकाः, वृत्तयः=जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः । अनेन तस्य सर्वप्रपञ्चकारणतोक्ता । द्वादशस्कन्धे भागवतेऽपि प्रणवस्य नादरूपत्वं स्पष्टमेवोक्तम्—'हृद्याकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते ।' इति । यः कर्णपुटपिधानेन श्रोत्रवृत्तिनिरोधादस्माभिरपि विभाव्यते=श्रूयते इत्यर्थः । द्विपदी=सुप्तिङ्भेदेन पादद्वयवती । चतुष्पदी=नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदेन । अष्टापदी=सम्बोधनसहिताऽष्टविभक्तिभेदेन । नवपदी=साव्ययैरुक्तैरष्टभिः । अथवा सनाभिकेषूरःकण्ठादिषु नवसु पदेषु-स्थानेषु प्रादुर्भवन्ती

माहात्म्य अन्य-ग्रन्थ में भी कहा है—'अपना कारण-ब्रह्म-परमात्मा का वह साक्षात् वाचक है, वह सकल-मन्त्रों का रहस्य, वेद का सनातन कारण है। हे भार्गव ! उसके अकारादि तीन वर्ण हैं। उन-तीन वर्णों से तीन गुण, तीन वेद, तीन लोक एवं तीन अवस्थाएँ रूप भाव (पदार्थ) विधृत हुए हैं।' स्वधाम यानी अपना कारण। और वह ब्रह्म के अंशभूत-समस्त देवताओं का भी वाचक है, यह कहते हैं। स यानी प्रणव, देव सहित सकल-मन्त्रों का वह उपनिषत् यानी सूक्ष्मरूप रहस्य है, क्योंकि—यह वेद का कारण है। वेद का कारण होने पर भी वह विकारी नहीं है,—क्योंकि—वह सनातन है, यानी सदा एकरूप से रहता है। भाव यानी धर्म। उनका वह कारण है, इसलिए उन भावों को वह धारण करता है। सत्त्व, रज एवं तम ये गुण हैं। ऋक्, यजु, एवं सामरूप नाम हैं। भूः भुवः एवं स्वः लोक ही अर्थ हैं। जाग्रत्, स्वप्न, एवं सुषुप्तिरूप वृत्तियाँ हैं। इस कथन से ॐकार में सर्व प्रपञ्च की कारणता कही गई है। द्वादश-स्कन्ध-भागवत में भी प्रणव का नादरूपत्व स्पष्ट ही कहा है—'हृदयाकाश से नाद (ॐकाररूप) प्रकट होता है, वह चित्त की वृत्तियों के निरोध द्वारा ही अनुभूत होता है।' इति। वह—दोनों कानों के छिद्र के पिधान (रोधन) द्वारा श्रोत्र-वृत्ति के निरोध से हम लोगों को भी सुनाई देता है, यह अर्थ है। वह वाणी सुप् एवं तिङ् के भेद से द्विपदी है, यानी दो पाद वाली है। नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात के भेद से चतुष्पदी है। सम्बोधनसहित अष्ट विभक्ति के भेद से अष्टापदी है। अव्यय-सहित-उक्त-अष्टविभक्तियों से वह नवपदी है। अथवा नाभिसहित—उरः-कण्ठ आदि नव स्थानों में वह प्रादुर्भूत हुई नवपदी हो जाती है।

नवपदी । बभूवुषी=पश्चाद्बहुविधाभिव्यक्तिमुपेयुषी । परमे व्योमन्=उत्कृष्टे हृदयाकाशे, मूलाधारे वा । सहस्राक्षरा=अनेकाकारेण व्याप्ता-अनेकध्वनिप्रकारा भवतीत्यर्थः । अथवा सा गौरी=सरस्वती वाणी, छन्दोभेदादेकपद्यादिरूपेण वर्धमाना सहस्राक्षरा=अपरिमितवर्णा बभूवेत्यर्थः। अथवा परमे व्योम्नि=ब्रह्मणि प्रतिष्ठिता गौरी=गौरवर्णा वाग्देवी सृष्ट्युपक्रमे सलिलसदृशानि वर्णपदवाक्यानि तक्षती सृजन्ती मिमाय=शब्दमकरोत् । कथम् ? प्रथमं प्रणवात्मनैकपदी ब्रह्मणो मुखान्निर्गता । अनन्तरं व्याहृतिरूपेण गायत्रीरूपेण च द्विपदी । ततो वेदचतुष्टयरूपेण चतुष्पदी । ततो वेदाङ्गैः षड्भिः पुराणधर्मशास्त्राभ्यां चाष्टापदी । ततो मीमांसान्यायसांख्ययोगपाञ्चरात्रपाशुपताऽऽयुर्वेदधनुर्वेदगान्धर्वैर्नवपदी । ततोऽनन्तैर्वाक्यसन्दर्भैः सहस्राक्षराऽनन्तविधा बभूवुषी=सम्पन्ना इत्यर्थः ।

अथास्य मन्त्रस्य प्रकारान्तरेण निरुक्ते व्याख्यानमुपलभ्यते-तथाहि-गौरीः=माध्यमिका-आकाशमध्ये भवा वाक् । मिमाय=शब्दयति-गर्जति । किं कुर्वती ? सलिलानि वृष्ट्युदकानि तक्षती=सम्पादयित्री । एकपदी=एकपादोपेता एकाधिष्ठान-मेघे वर्तमाना । गमनसाधनेन वायुना वा एकपदी । द्विपदी=मेघान्तरिक्षाख्यद्वयधिष्ठाना आदित्यो वा द्वितीयः । तथा सा चतुष्पदी=पादचतुष्टयोपेता-दिक्चतुष्टयाधिष्ठाना । अथाऽष्टापदी=अवान्तरदिगपेक्ष-

बभूवुषी अर्थात् पश्चात् बहु-प्रकार की अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई, उत्कृष्ट-हृदयाकाश में या मूलाधारचक्र में अनेक-आकार से व्याप्त-हुई अनेक प्रकार की ध्वनि वाली वह हो जाती है। अथवा वह सरस्वती वाणीरूपा गौरी छन्दों के भेद से एकपदी आदि रूप से बढ़ती हुई अपरिमित वर्ण वाली हो गई है। अथवा परम व्योमरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित-गौरवर्ण वाली वाग्देवी, सृष्टि के प्रारम्भ में सलिल के सदृश-स्वच्छ वर्ण, पद एवं वाक्यों का सर्जन करती हुई शब्द (ध्वनि) करती है। कैसे ? प्रथम प्रणवरूप से ब्रह्मा के मुख से निकली हुई वह एकपदी कही जाती है। इसके बाद तीन या सप्त व्याहृतिरूप से एवं गायत्रीरूप से द्विपदी हो जाती है। इसके अनन्तर चार वेदरूप से चतुष्पदी, तथा इसके बाद वेदों के शिक्षादि छः अङ्ग, पुराण एवं धर्मशास्त्र के द्वारा अष्टापदी, तथा इसके पश्चात् मीमांसा, न्याय, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र, पाशुपत (शैवागम) आयुर्वेद-धनुर्वेद एवं गन्धर्वशास्त्र के द्वारा नवपदी हो जाती है। इसके बाद अनन्त-वाक्यों के समुदाय द्वारा सहस्राक्षरा यानी अनन्त-प्रकार वाली सम्पन्न होती है।

अथ इस मन्त्र का अन्य प्रकार (आधिभौतिक) से निरुक्त में व्याख्यान उपलब्ध होता है-यह बतलाते हैं, आकाश के मध्य में होने वाली वाणी गौरी है। वह गर्जना करती है। क्या करती हुई ? वृष्टि के जलों का निर्माण करती हुई। वह एकपदी है, यानी मेघरूप एक स्थान में वर्तमान है। या गमन के साधनरूप वायु द्वारा एकपदी है। मेघ और अन्तरिक्षरूप दो स्थान में रहने से द्विपदी है। अथवा द्वितीय-आदित्य है अर्थात् वायु एवं आदित्य द्वारा वह द्विपदी है। तथा वह चार दिशा स्थानरूप-पादचतुष्टय के संयुक्त होने से चतुष्पदी है। और वही अवान्तर दिशा-(वायव्यादि कोण)

याऽष्टपादोपेता अष्टाधिष्ठाना । नवपदी= ऊर्ध्वदिगपेक्षया सूर्येण वा नवदिगधिष्ठाना, बभूवुषी=एवंभूता सा सहस्राक्षरा=अपरिमितव्याप्तियुक्ता—बहुव्यापनशीलोदकवतीत्यर्थः । कुत्रेति ? तदुच्यते—परमे व्योमन्—उदकाश्रयत्वेनोत्कृष्टेऽन्तरिक्षे इत्यर्थः ।

[मायां सविस्तरां निरूप्य तत्तरणहेतुभूतमायापतिभगवदुपासनादिकमधुना निरूपयति]

ओ की अपेक्षा से, अष्ट स्थानों में रहने से अष्टापदी है । ऊर्ध्व दिशा की अपेक्षा करके, या सूर्य से, वह नव दिशाओं में रहने से नवपदी है । ऐसी हुई वह सहस्राक्षरा यानी अपरिमित (अवधिरहित) व्याप्ति से युक्त—अर्थात् बहु व्याप्त होने के स्वभाव वाले-जलों से संयुक्त हो जाती है । कहाँ ? यह कहते हैं—परम व्योम में, यानी उदक का आश्रयरूप उत्कृष्ट अन्तरिक्ष में । यह अर्थ है ।

[विस्तारसहित माया का निरूपण करके उसके तरने का कारण-रूप मायापति-भगवान् की उपासना आदि का अब निरूपण करते हैं]

(१७)

(सविशेषनिर्विशेषभेदादेकस्यैव परमात्मन उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च निरूपणम्)

(सविशेष एवं निर्विशेष के भेद से एक ही परमात्मा का उपास्यरूप से एवं ज्ञेयरूप से निरूपण)

एकस्यैव परमात्मनः सविशेषाणि त्रीणि रूपाणि, एकं तु शुद्धं स्वरूपम्, यथा स्वतः शुभ्रः पटो धौतः, अन्नलिप्तो घट्टितः, मस्यादिविकारयुक्तो लाञ्छितः, वर्णपूरितो रञ्जितः, इत्यवस्थाचतुष्टयमेकस्यैव चित्रपटस्य । तथा परमात्मा मायातत्कार्योपाधिरहितः शुद्धः, मायोपहित ईश्वरः, अपञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिसूक्ष्मशरीरोपहितो हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा, पञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिस्थूलशरीरोपहितो विराट् पुरुषः, इत्यव-

एक ही परमात्मा के तीन सविशेष रूप हैं, और एक शुद्ध स्वरूप है । जैसे धोया हुआ पट स्वतः सफेद—शुद्ध है, अन्न से लिप्त हुआ वह घट्टित हो जाता है । मसी (काली स्याई) आदि-विकार से युक्त हुआ वह लाञ्छित एवं वर्ण (पीला-लाल आदि) से पूरित वह रञ्जित (रंग वाला) हो जाता है । इस प्रकार एक ही चित्रपट की चार अवस्थाएँ हैं, (एक शुद्ध और तीन विशिष्ट) वैसे माया और माया का कार्य पिण्ड-ब्रह्माण्डादि-उपाधिरहित-शुद्ध परमात्मा (निर्विशेष) है, माया उपाधि वाला ईश्वर है, अपञ्चीकृत-सूक्ष्म-भूतों का कार्य-समष्टि-सूक्ष्मशरीर से उपहित, वह सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ हो जाता है । और पञ्चीकृत-स्थूल भूतों का कार्य-समष्टि-स्थूल-शरीरों से उपहित वह विराट् पुरुष हो जाता है, इस प्रकार एक ही

स्थाभेदचतुष्टयमेकस्यैव परमात्मनः । असिंश्च चित्रपटस्थानीये परमात्मनि चित्रस्थानीयः स्थावरजङ्गमात्मको निखिलः प्रपञ्चोऽवस्थितः । अपि च स एव जगदीश्वरोऽस्य विश्वस्य सर्जनाय राजसं, परिपालनाय सात्त्विकं, उपसंहाराय तामसं लीलाविग्रहमुपादत्ते । निजाचिन्त्यवैभवेन निग्रहानुग्रहसमर्थः सर्वान् लोकान् नियमयति । तत्तल्लीलाविग्रहोपहितश्च परमेश्वरो ब्रह्मविष्णुरुद्रादिशब्दैर्व्यपदिश्यते । इत्येवं स एव स्रष्टा, पालयिता, संहर्ता, नियन्ता, महेश्वर इत्यभिधीयते । स एव चैहिकामुष्मिकप्रेयःश्रेयस्कामैर्जनैः स्वस्वरुच्यधिकारानुरूपमुपासितव्यो ज्ञातव्यश्च । न चौपाधिकशब्दभेदमात्रेण बहवो जगदीश्वराः सम्भवितुमर्हन्ति । तदेकत्वबोधकशास्त्रसिद्धान्तव्याकोपापत्तेः । जगत्सृष्ट्यादिनियमस्याव्यवस्थापत्तेश्च । तथा च तस्मिन्नेकस्मिन् निराकारे परब्रह्मण्युपासकानां चित्तावतरणायावलम्बनीयस्याकारविशेषस्यावश्यापेक्षणीयत्वात्, चित्तवृत्तीनां स्वभावतो वैचित्र्याच्चिन्तनीयाकाराणामपि यथायथं बहुविधत्वस्यावश्यकत्वाच्च, तस्य भूम्नः परमात्मनो वैदिकसूक्तादौ पुराणादौ चानेक-विभूतिविग्रहवर्णनमपि युज्यत एव । सर्वथाऽपि तैस्तैरुपासकैर्हिरण्यगर्भविराड्हरिहराद्याकारभेदेनापि तदेवैकं परं ब्रह्म विविधलिपिभेदेन समानाक्षरमिवाधिगम्यते । अत

परमात्मा के ये चार अवस्थाओं के भेद हैं । इस चित्र-पटस्थानापन्न-परमात्मा में चित्र-स्थानापन्न-समग्र-स्थावरजंगमरूप-प्रपञ्च अवस्थित है । और वही जगदीश्वर, इस विश्व के सर्जन के लिए राजस, परिपालन के लिए सात्त्विक, एवं उपसंहार करने के लिए तामस, लीला-विग्रह ग्रहण करता है । अपने अचिन्त्य वैभव के द्वारा निग्रह एवं अनुग्रह करने के लिए समर्थ हुआ, सर्व लोकों का नियमन करता है । उस-उस लीलाविग्रहों से उपहित हुआ, परमेश्वर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, आदि शब्दों से व्यपदिष्ट होता है । इस प्रकार वही सर्जन करने वाला, पालन-रक्षण करने वाला, संहार-विलय करने वाला, नियमन करने वाला, महेश्वर, ऐसा कहा जाता है । वही ऐहिक-आमुष्मिक-प्रेयः एवं श्रेयः की कामना करने वाले मनुष्यों से, अपनी-अपनी रुचि एवं अधिकार के अनुसार, उपासना करने योग्य एवं जानने योग्य है । उपाधि-प्रयुक्त-शब्दो के भेदमात्र से जगदीश्वर बहुत नहीं हो सकते हैं । क्योंकि-उसके एकत्व के बोधक-शास्त्रसिद्धान्त का व्याकोप-प्राप्त हो जाता है । और जगत् की सृष्टि आदि के नियम की अव्यवस्था प्राप्त हो जाती है । तथा च उस एक-निराकार-परब्रह्म में उपासकों के चित्तों को लगाने के लिए-अवलम्बन करने योग्य-आकार विशेष की अवश्य आवश्यकता है । चित्तवृत्तियाँ स्वभाव से विचित्र होती हैं, इसलिए चिन्तन करने योग्य-आकारों का भी यथायोग्य-अनेक भेद होना आवश्यक है । इसलिए उस भूमा-परमात्मा के-वैदिक-सूक्तादि, तथा पुराणादि में अनेक-विभूति-विग्रहों का वर्णन भी युक्तियुक्त ही है । सर्व प्रकार से भी उन-उन-उपासकों के द्वारा हिरण्यगर्भ, विराट्, हरि, हर, आदि आकारों के भेद से भी वही एक परब्रह्म, 'विविध-लिपियों के भेद से समान-अक्षर की भाँति' जाना जाता है । अत एव उस-उस-

एव तत्तद्देवतोपासनाबोधकवाक्यानामद्वितीयपरब्रह्मभावनायामेव पर्यवसानं, न तु द्वैतभावनायामिति शास्त्रीयरहस्यमजानन्तोऽर्वाचीनाः केचन शैववैष्णवापसदाः पारमार्थिकं श्रुतिसिद्धमैकात्म्यं बाधमाना मुधैव परस्परं कलहायमानाः परमप्रयोजनात्प्रच्यवन्त एव। तथा च स्मर्यते–'ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेदभावेन मोहिताः। पश्यन्त्येकं न जानन्ति पाखण्डोपहता जनाः॥' इति। तस्माद्यतः परमकारणाज्जगतो जन्मस्थितिध्वंसाः सिद्ध्यन्ति, तदेकं–स्वरूपतटस्थलक्षणाभ्यां श्रुत्या निरूप्यमाणानां सविशेषरूपाणामुपास्यतया निर्विशेषस्वरूपस्य च ज्ञेयतया विनियोजयितुं वास्तविकं तदैकात्म्यञ्चावगमयितुं गम्भीरमितसमाधिभाषया वर्णयति—

देवताओं की–उपासना-बोधक-वाक्यों का अद्वितीय-परब्रह्म-भावना में ही पर्यवसान है, द्वैत-भावना में नहीं। इस शास्त्रीय-रहस्य को नहीं जानते हुए-आधुनिक-कुछ अधम शैव एवं वैष्णव, श्रुतिसिद्ध–पारमार्थिक-एकात्मत्व का विरोध करते हुए–एवं व्यर्थ ही परस्पर-कलह करते हुए परम प्रयोजन से प्रच्युत हो जाते हैं। तथा च स्मरण किया जाता है–'भ्रान्त लोग-मूढ, ब्रह्मा केशव एवं रुद्र को भेदभाव से देखते हैं। पाखण्डमतों से आक्रान्त हुए वे लोग, उनके एकत्व को नहीं जानते हैं।' इति। इसलिए–जिस परम कारण से जगत् के जन्म, स्थिति एवं ध्वंस सिद्ध होते हैं। उस एक का ही–'तटस्थलक्षण द्वारा श्रुति से निरूपण करने योग्य–सविशेष-सगुण-साकार रूपों का उपास्यरूप से, एवं स्वरूपलक्षण द्वारा श्रुति से निरूपण करने योग्य-निर्विशेष निर्गुण-स्वरूप का ज्ञेयरूप से विनियोग करने के लिए तथा उसके वास्तविक-एकात्मत्व का बोधन करने के लिए–गम्भीर-मित-समाधि-भाषा द्वारा–वर्णन करते हैं—

ॐ अस्य वामस्य पलितस्य होतुः, तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

(ऋ० १ सूक्त. १६४ ऋ. १) (अथर्व. ९।९।१) (नि. ४।२६)

'इस विश्व का सर्जन, पालन, एवं संहार करने वाले उस (मायोपहित), परमेश्वर का व्यापक-सूत्रात्मा-हिरण्यगर्भ मध्यम (बीच का) भ्राता (उसके एक-भाग की उपाधि वाला) है। और इसका-सभी से स्पर्श करने योग्य–स्थूल-समष्टि-शरीर वाला, विराट् तीसरा भ्राता है। इन-तीनों भ्राताओं के मध्य में 'पुत्र की भाँति, सप्त-लोकों की रक्षा करने वाले–एवं चराचर-प्रजा के पति–उस विशुद्ध-परमात्मा का मैंने (मन्त्र-द्रष्टा-ऋषि ने) साक्षात् दर्शन किया।'

अस्य=परमेश्वरस्य, कथंभूतस्य? वामस्य=विश्वस्योद्गरितुः–स्रष्टुः–जनयितुः–ब्रह्मसंज्ञस्येत्यर्थः। पुनः कीदृशस्य? पलितस्य=पालयितुः स्वसृष्टजगत्पालनशीलस्य व्यवस्थाप-

वह परमेश्वर है। कैसा है वह? वाम यानी विश्व का उद्गरण–सर्जन-उत्पादन करने वाला-ब्रह्मा नाम वाला है। पुनः वह पलित है यानी अपने से सर्जन किये गये-जगत् के पालन करने का

पितुः विष्णुसंज्ञस्येत्यर्थः। होतुः=आदातुः—स्वस्मिन् संहर्तुः—लयकर्तुः रुद्रसंज्ञस्येत्यर्थः। परमेश्वरस्य सृष्ट्यादिकर्तृत्वं श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु प्रसिद्धम्। अयमत्राभिसन्धिः—इदं हि जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूपं तटस्थलक्षणं अभिन्ननिमित्तोपादानतयाऽद्वितीयं ब्रह्मोपलक्षयति। जन्मकारणत्वस्य स्थितिकारणत्वस्य च निमित्तकारणसाधारण्यात्—उपादानकारणत्वबोधनाय प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि लयः प्रदर्शितः। अनुपादाने कार्यलयस्य कथमप्यसंभवात्। घटजन्मनि कुलालवत्, राज्यस्थेमनि राजवच्च, उपादानादन्यस्य निमित्तकारणत्वशङ्काव्यवच्छेदाय तस्य जगदुपादानस्यैव जगज्जननजीवननियामकत्वमप्यभिहितम्। तथा चोपादानकारणस्य तस्यैव निमित्तकारणत्वमवगन्तव्यम्। कार्यस्य हि उपादानकारणमेव वास्तवं स्वरूपं न तु तदतिरिक्तम्। नामरूपात्मकं जगद्रूपन्तु मिथ्याभूतमेव। इदं ब्रह्ममीमांसायामारम्भणाद्यधिकरणेषु विस्तरेणाचार्यैर्व्यवस्थापितम्। अतः सर्वोपादानत्वं 'सर्वस्य विश्वस्य पारमार्थिकं स्वरूपं ब्रह्मैवे'ति बोधनद्वारा ब्रह्मणो

स्वभाव वाला विश्व का व्यवस्थापक-विष्णु नाम वाला है। पुनः वह होता है यानी अपने में ही विश्व का संहार-विलय करने वाला रुद्र नाम वाला है। परमेश्वर के सृष्टि आदि का कर्तृत्व, श्रुति, स्मृति, पुराण आदिओं में प्रसिद्ध है। यहाँ यह तात्पर्य है—जगत् का जन्म स्थिति एवं लय की कारणतारूप यह तटस्थलक्षण, निश्चय ही अभिन्न निमित्त उपादानकारणरूप से (अर्थात् जो निमित्त-कारण है वही उपादानकारण है—एक-अभिन्न-परमेश्वर मे दोनों प्रकार की कारणता है) अद्वितीय-ब्रह्म का उपलक्षण द्वारा बोधन करता है। जन्मकारणत्व, एवं स्थितिकारणत्व, निमित्त-कारण के साधारण हैं (अर्थात्-निमित्त-कारण में भी जन्म-स्थितिकारणत्व हो सकता है) इसलिए उपादान-कारणत्व के बोधन करने के लिए प्रपञ्च का ब्रह्म में लय का प्रदर्शन किया है। क्योंकि—उपादान-कारण से भिन्न-कारण मे कार्य का लय किसी भी प्रकार से सम्भवित नहीं है। घट की उत्पत्ति में कुलाल की भाँति, राज्य की स्थिति में राजा की तरह, उपादानकारण से अन्य भी निमित्तकारण होता है, ऐसी शङ्का के निवारण के लिए उस जगत् के उपादान कारण-परमेश्वर को ही जगत् की उत्पत्ति का कारणत्व एवं जगत् के जीवन का नियामकत्व भी कहा है। तथा च जो उपादानकारण है, वही निमित्तकारण है, ऐसा जानना चाहिए। कार्य का निश्चय से उपादानकारण ही वास्तविक-स्वरूप है, उससे अतिरिक्त कार्य का कुछ स्वरूप नहीं। नामरूपात्मक जगत् का रूप तो मिथ्याभूत ही है। यह ब्रह्ममीमांसा में—आरम्भणादि-अधिकरणो में विस्तारपूर्वक आचार्यों ने व्यवस्थापित किया है। इसलिए सर्वोपादानकारणत्व—'समस्त विश्व का पारमार्थिक स्वरूप ब्रह्म ही है', ऐसे बोधन के द्वारा ब्रह्म के वास्तविक-

चास्तत्वाद्वितीयत्वबोधहेतुर्भवति, अद्वितीयब्रह्मबोधश्च मुक्तिहेतुरिति । तस्य तादृशस्य मायाविनो महेश्वरस्य भ्राता=तद्भागहारी तदंशभूतः सूत्रात्मा हिरण्यगर्भसंज्ञः, मध्यमः=सर्वत्र जगद्धारकत्वेन मध्ये सूक्ष्मरूपेण वर्तमानोऽस्ति । अथवा वक्ष्यमाणविराडपेक्षया तस्य मध्यमत्वं द्रष्टव्यम् । स च अश्नः=व्यापनशीलः । 'वायुना वै गौतम! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि' (बृ. ३।७।२) इति श्रुतेः । किञ्च, अस्य परमेश्वरस्य तृतीयो भ्राता-तद्भागहारकः, घृतपृष्ठः=घृतमित्युदकनाम, तेन तत्कार्यं स्थूलशरीरमुच्यते, तदेव पृष्ठं=स्पर्शनीयं-सर्वस्य स्पर्शकं वा यस्य स तादृशः । पृष्ठं-स्पृशतेरिति निरुक्तम् । यद्वा घृतपृष्ठः=प्रदीप्तपृष्ठः, पृष्ठशब्दः कृत्स्नशरीरोपलक्षकः-प्रकाशितसमष्टिस्थूलशरीराभिमानी विराट्-नामा इत्यर्थः । अयं हि समष्टिसूक्ष्मशरीराभिमानिसूत्रात्मवत् स्पर्शनाविषयो न भवति, किन्तु 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः' (ऋ. ८।३।१६) (यजु. १७।१९) 'सहस्रशीर्षा' (ऋ. ८। ४।१७) (यजु. ३१।१)-इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धोऽयमिन्द्रवरुणादिविविधदेवदानवमानवपशुपक्षितिर्यक्स्थावरादिभोक्तृवर्ग-पृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गपातालादिभोगस्थान-भोग्य-भो-

अद्वितीयत्व के बोध का हेतु होता है। अद्वितीय-ब्रह्म का बोध, मोक्ष का कारण है। इति। इस प्रकार के-उस माया वाले-महेश्वर का सूत्रात्मा-हिरण्यगर्भ नाम वाला मध्यम भ्राता है। यहाँ उसके भाग का हरण (ग्रहण) करने वाला उसका अंशरूप वह भ्राता है, वह सर्वत्र जगत् का धारक होने से मध्य में सूक्ष्मरूप से वर्तमान है, इसलिए वह मध्यम है। अथवा आगे कहे जाने वाले-विराट्रूप-तृतीय भ्राता की अपेक्षा से उसका मध्यमत्व समझना चाहिए। वह (मध्यम भ्राता) अश्न यानी व्यापनशील है। उसका व्यापकत्व बृहदारण्यक श्रुति ने भी कहा है-'हे गोतम! वायु-रूप सूत्र के द्वारा ही यह लोक, परलोक, और समस्त-भूतसमुदाय गुथे (व्याप्त) हुए हैं।' इति। और परमेश्वर का तृतीय-भ्राता-जो उसके भाग का हारक-धारक है, वह घृतपृष्ठ है, घृत यहाँ जल का नाम है, उससे उसका कार्य स्थूल-शरीर कहा जाता है। वही पृष्ठ है यानी स्पर्शन करने योग्य है, या वह सर्व का स्पर्शनकर्ता है, ऐसा घृतपृष्ठ है जिसका, वह वैसा है। पृष्ठ स्पृशति धातु से बना है ऐसा निरुक्त कहता है। यद्वा घृतपृष्ठ यानी प्रदीप्तपृष्ठ। पृष्ठ शब्द समस्त-शरीरों का उपलक्षक है। प्रकट हुए-समष्टि-स्थूल शरीरों का अभिमानी वह विराट् नाम वाला है। निश्चय से यह 'समष्टि-सूक्ष्मशरीर के अभिमानी-सूत्रात्मा की भाँति' स्पर्श का अविषय नहीं है, किन्तु 'सर्व तरफ से चक्षु वाला तथा सर्व तरफ से मुख वाला वह है' 'अनन्त-असंख्य शिर वाला है, इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध यह विराट्-इन्द्र, वरुणादि विविध देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी, तिर्यक् (सर्पादि) स्थावर (वृक्षादि) आदि भोक्तृ-वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, पाताल, आदि भोग-स्थान; भोग्य (अन्नादि) एवं भोगों के उपकरणों

गोपकरणभेदभिन्नकृत्स्नस्थूलजगद्वपुष्ट्वेन सर्वस्य स्पार्शनज्ञानविषयो भवति। स्पार्शनमत्र चाक्षुपादीनामप्युपलक्षणम्। तथा च तस्य विराजः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वमवगन्तव्यम्। अत्र=एषु मध्ये विश्पतिं=विशां प्रजानां पतिं, उपलक्षणमेतत्, सर्वस्य पतिमित्यर्थः। 'सर्वेशानः सर्वस्याधिपतिः' (बृ. ४।४।२२) इति श्रुतेः। सप्तपुत्रं=सप्त लोकाः पुत्राः=तद्वद्रक्षणीया यस्य तादृशं, स्वमायाशक्त्या सृष्टरक्षितसर्वलोकमित्यर्थः। तं शाखाचन्द्रमसमिव तटस्थतयोपलक्षितं मायाविशिष्टपरमेश्वरानुगमखण्डचैतन्यं सत्यानन्दानन्तात्मकं शुद्धमद्वैतं ब्रह्मस्वरूपं, अपश्यं=पश्येयं साक्षात्करोमीत्यर्थः। इदमत्राकूतं–'स्वाधीनमायो जगत्कारणभूतः परमेश्वर एक एव। ततः समुत्पन्नौ स्थूलसूक्ष्मसमष्टिशरीराभिमानिनौ द्वौ विराट्सूत्रात्मनौ, एवं तेषां त्रयाणां शबलत्वात् तत्साक्षात्कारेण मोक्षो न सिद्ध्यति, किन्तु तेषामुपासनया ब्रह्मलोकैश्वर्यादिकं लभ्यते, एवमन्येषां तत्तत्साकारविग्रहभावनावतामपि 'तं यथा यथोपासते तथैतः प्रेत्य भवती'ति श्रुतिप्रामाण्यात् वैकुण्ठकैलासादिलोकप्राप्तिस्तत्सारूप्यप्राप्तिश्च कीटभृङ्गन्यायेन सम्प-

के भेदों से भिन्नरूप-समस्त स्थूल-जगत्‌रूप विग्रह वाला होने से सभी के स्पर्शजन्यज्ञान का विषय होता है। स्पार्शनज्ञान, चाक्षुपादि ज्ञानों का भी उपलक्षक है। तथा च वह विराट् सभी इन्द्रियों से ग्राह्य यानी अनुभूत है, ऐसा जानना चाहिए। इन तीनों भ्राता (महेश्वर, सूत्रात्मा, एवं विराट्) ओं के मध्य में विशां यानी प्रजाओं का पति, यह उपलक्षण है, सर्व का पति यह अर्थ है। श्रुति कहती है–'वह सर्व का ईश्वर है, एवं सर्व का अधिपति है'। वह सप्त पुत्र है, यानी पुत्र की भाँति सप्त लोक रक्षा करने योग्य है जिस को, वह वैसा है, अर्थात् अपनी मायाशक्ति द्वारा जिसने समस्त लोकों का सर्जन एवं रक्षण किया है, वह सप्त-पुत्र है। 'शाखा से चन्द्रमा की भाँति' तटस्थ-लक्षण से उपलक्षित, मायाविशिष्ट-परमेश्वर में अनुगत, सत्य-आनन्द-अनन्तरूप, शुद्ध, अद्वैत, अखण्ड-चैतन्य जो ब्रह्मस्वरूप है, उसका मैं (मन्त्रद्रष्टा) साक्षात् दर्शन करता हूँ। यहाँ यह तात्पर्य है–जिसे अपने आधीन माया है, वह जगत् का कारणरूप परमेश्वर एक ही है, उससे सूक्ष्मसमष्टि-शरीर के अभिमानी, एवं स्थूल-समष्टि-शरीर के अभिमानी, विराट् एवं सूत्रात्मा ये दो उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार उन तीन-भ्राताओं को शबल (विशिष्ट-उपाधियुक्त) होने से उनके साक्षात्कार से मोक्ष सिद्ध नहीं होता। किन्तु उनकी उपासना से ब्रह्मलोक का ऐश्वर्यादि प्राप्त होता है। इस प्रकार उस-उस साकार विग्रह-वाले-भगवानों की भावना करने वाले-अन्यों को भी 'साधक लोग उसकी जिस-जिस प्रकार से उपासना (भावना) करते हैं, तिस प्रकार से यहाँ से मर कर वे वैसे ही हो जाते हैं' इस श्रुति के प्रामाण्य से–वैकुण्ठ-कैलासादि लोक की प्राप्ति तथा विष्णु-शिवादि साकार भगवान् के सारूप्य की प्राप्ति 'कीट भृंग न्याय के

द्यते । सृष्ट्यादिकारणत्वोपलक्षितस्य शुद्धस्याद्वितीयस्य परमात्मनो ज्ञेयत्वेन प्रसिद्धस्यापि वस्तुतोऽज्ञेयस्य श्रवणमननादिसाधनेन साक्षात्करणाद्ब्रह्मनिर्वाणाख्यो मोक्षः सिद्ध्यति । 'एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्' (बृ. ४।४।२०) 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' (श्वे. २।१५) इति श्रुतेः। साक्षात्कारलभ्यस्य कैवल्यमोक्षस्य वास्तवं स्वरूपं विशदीकृतं महाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मे जापकोपाख्यानेऽपि–तथाहि–'अभयं चानिमित्तं च न तत्क्लेशसमावृतम्। द्वाभ्यां मुक्तं त्रिभिर्मुक्तमष्टाभिस्त्रिभिरेव च॥ चतुर्लक्षणवर्जन्तु चतुष्कोणविवर्जितम् । अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्लमम् ॥ आत्मकेवलतां प्राप्य तत्र गत्वा न शोचति। ईदृशं परमं स्थानं' (१९८।७–८–९–१०) इति । अयमर्थः–परमात्माभिन्नं कैवल्यं स्थानं विवृणोति–अभयमित्यादिना । अभयं=भयशून्यं यतोऽनिमित्तं=स्वभावसिद्धम् । क्लेशैः=अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्यैः समावृतं तत्स्थानं न भवति, असंगत्वात्तत्रागन्तुकमपि भयं नास्तीति भावः । द्वाभ्यां=प्रियाप्रियाभ्यां मुक्तं, 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः' (छां. ८।१२।१)

अनुसार' हो जाती है । सृष्टि-आदि के कारणत्व से उपलक्षित-शुद्ध-अद्वितीय-परमात्मा–जो ज्ञेयत्व से प्रसिद्ध है, तथापि वह-वस्तुतः अज्ञेय है–उसका श्रवण-मनन आदि साधन द्वारा साक्षात्कार करने से ब्रह्मनिर्वाण नाम वाला मोक्ष सिद्ध हो जाता है । 'उस ब्रह्म को आचार्योपदेश के अनन्तर एक-रूप से ही देखना चाहिये, यह ब्रह्म अप्रमेय एवं ध्रुव-निश्चल है ।' 'देव को जान कर सभी अविद्यादि-पाशों से छूट जाता है' यह श्रुति भी यही सिद्ध करती है । महाभारत-शान्तिपर्व-मोक्षधर्म के जापक-उपाख्यान में भी–ब्रह्मसाक्षात्कार से लभ्य (प्राप्त करने योग्य) कैवल्यमोक्ष के वास्तविक-स्वरूप का स्पष्ट रूप से निरूपण किया है । यह दिखाते हैं–'वह मोक्ष भयरहित, निमित्तरहित, एवं क्लेशों से समाक्रान्त भी नहीं है । वह दो से मुक्त है, तीन से मुक्त है, आठ एवं तीन से भी मुक्त है । चार-लक्षणों से भी विवर्जित है ।-तथा चार कोणों से भी विवर्जित है । हर्ष, आनन्द, एवं शोक से रहित है, तथा क्लम (थकावट-परिश्रम-दुःख) से भी रहित है । वहाँ आत्मा के कैवल्यस्वरूप को प्राप्त कर वह मुक्त कदापि शोक नहीं करता है । इस प्रकार का वह मोक्ष का परम-श्रेष्ठ स्थान है ।' इति । उन-श्लोकों का यह अर्थ है–परमात्मा से अभिन्न-कैवल्य-स्थान का स्पष्ट वर्णन करते हैं–वह अभय–भयशून्य है, क्योंकि–वह निमित्तों से रहित-स्वभाव से सिद्ध है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश नाम के पंच क्लेशों से वह मोक्षस्थान समावृत नहीं है । असंग होने से वहाँ आगन्तुक–अन्य के द्वारा आने वाला भी भय नहीं है, यह भाव है । प्रिय एवं अप्रिय इन दोनों भावों से-वह मुक्त है । 'शरीर-सम्बन्ध-रहित–मोक्षरूप हुआ उस मुक्त को प्रिय एवं अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते ।' इस छान्दोग्य

इति श्रुतेः। यतः त्रिभिः प्रियाप्रियहेतुभिः सत्त्वादिगुणैर्मुक्तम्। तथा 'भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासनाकर्मवायवः। अविद्या चेत्यमुं वर्गमाहुः पुर्यष्टकं बुधाः॥' इत्युक्ताभिरष्टाभिः पुरीभिर्मुक्तम्। एतदपि च कुतः? इति चेद्यतस्त्रिभिर्ज्ञेयज्ञानज्ञातृभावैर्मुक्तम्। इदमपि कुतः? यतश्चतुर्लक्षणवर्जितम्। लक्ष्यते ज्ञायते विषयस्वरूपं यैस्तानि लक्षणानि दृष्टिश्रुतिमतिविज्ञातिरूपाणि। तत्र रूपादिहीनत्वान्न प्रत्यक्षस्य विषयः। जातिगुणक्रियाशून्यत्वान्न शब्दस्य। असङ्गत्वेन सम्बन्धाग्रहान्नानुमानस्य। सर्वसाक्षित्वेनाजडत्वाच्च न बुद्धेः। तत्रैतच्छ्रुतं भवति, 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳशृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः' (बृ. ३।४।२) इति। उक्तैरेव दृष्ट्यादिविषयहेतुभूतैः रूपादिमत्त्वादिभिश्चतुर्भिः कोणैर्वर्जितम्। अथवा

श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। क्योंकि—वह *प्रिय एवं अप्रिय के हेतुरूप*—सत्त्वादि-तीन-गुणों से मुक्त है। तथा—'भूत, (आकाशादि) इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, प्राण एवं अविद्या इन आठ-पदार्थों के समुदाय को विद्वान् पुर्यष्टक कहते हैं।' इस श्लोक में कही हुई आठ-पुरियों से भी वह मुक्त है। यह भी क्यों है? ऐसा यदि प्रश्न करते हो तो (समाधान—सुनिये) इसलिए वह पुर्यष्टक से मुक्त है कि—वह ज्ञेय, ज्ञान एवं ज्ञातृरूप तीन-भावों से मुक्त है। यह भी क्यों है? इसलिए वह ऐसा है कि—वह चार-लक्षणों से वर्जित है। जिन से विषय का स्वरूप लक्षित होता है—जाना जाता है, वे दृष्टि-दर्शन, श्रुति-श्रवण, मति-मनन, एवं विज्ञाति-विज्ञानरूप चार—लक्षण हैं। उनमें, रूपादि से हीन होने के कारण वह प्रत्यक्ष-प्रमाण (चक्षु-श्रोत्रादि) का विषय नहीं है। जाति, गुण एवं क्रिया से शून्य होने के कारण वह शब्द-प्रमाण का भी विषय नहीं है। असंग होने से व्याप्तिरूप—सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिए वह अनुमान-प्रमाण का भी विषय नहीं है। सर्व का साक्षी होने से और स्वतः अजड़ स्वय—चैतन्य-प्रकाशरूप होने से बुद्धि का भी विषय नहीं है। उसमें यह श्रुति से भी सुना गया है—(याज्ञवल्क्य उषस्त के प्रति कहता है)—'तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते, श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते, विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते।' इति। पूर्वोक्त-दृष्टि आदि के विषयरूप[1] कारणभूत रूपादि वाले चार कोणों से भी वह वर्जित है। अथवा—स्थूलत्व, अणुत्व,

[1] 'ज्ञानं प्रति विषयः कारणम्' ज्ञान के प्रति उसका विषय कारण माना गया है, जैसे घट ज्ञान के प्रति घट कारण है, घट यदि न हो तो उसका ज्ञान नहीं हो सकता है, वैसे यहाँ भी दृष्टि आदि ज्ञान के विषय को उसके प्रति कारण कहा गया है।

स्थूलत्वादिपरिमाणात्मकैश्चतुष्कोणैः वर्जितम्। तथा च–'अस्थूलमनणु' (बृ. ३।८।८) इत्याद्याः श्रुतयः परमात्मनि सर्वविशेषान् निषेधन्ति। प्रहर्षः=इष्टलाभजं सुखं, आनन्दः=तद्भोगजं सुखं, ताभ्यां हीनमप्रहर्षमनानन्दम्। शोकः=आभ्यन्तरं दुःखं, क्लमः=बाह्यं दुःखं, ताभ्यां हीनम्। विगलिताशेषविशेषतया आत्मकैवल्यं प्राप्तः सन् न शोचति। 'तरति शोकमात्मवित्' (छां. ७।१।३) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुं. ३।२।९) इत्यादिश्रुतेः। ईदृशं उक्तलक्षणं परमं=निरतिशयस्वरूपं स्थानं कैवल्यं ब्रह्मनिर्वाणलक्षणमपवर्गो मोक्ष इत्यर्थः। एवं तत्रैव कैवल्यमोक्षस्थानभिन्नानां तत्तद्देवलोकानां निकृष्टत्वद्योतनाय–'रुद्रादित्यवसूनाञ्च तथान्येषां दिवौकसाम्। एते वै निरयास्तात!।' इत्यादिना नरकत्वमुक्तम्। सातिशयत्वेन हर्षशोकप्रदास्तत्तद्देवलोका एते निरयाः=नरकशब्दव्यवहार्याः वेदितव्या इत्यर्थः। इत्यलमतिविस्तरेण।

-अथाधिदैवतम्–अत्र द्वितीयपादे तच्छब्दश्रवणात् प्रथमपादे प्रतिविशेषणं योग्यक्रियार्थसम्बद्धो यच्छब्दोऽध्याहार्यः।

ह्रस्वत्व, एवं दीर्घत्व जो चार परिमाणरूप चार कोणे हैं, उनसे भी वह मोक्षस्थान वर्जित है। तथा च–'वह स्थूलत्व से रहित है, अणुत्व से रहित है' इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मा में सभी (जाति-गुणादि) विशेषों का निषेध करती हैं। प्रहर्ष यानी सांसारिक-इष्ट पदार्थ के लाभ से उत्पन्न-सुख, और उसके भोग से उत्पन्न हुआ–सुख, सानन्द है। इन दोनों से वह रहित–अप्रहर्ष एवं अनानन्दरूप है। आभ्यन्तर दुःख का नाम शोक है, बाहर के दुःख का नाम क्लम है, इन दोनों से भी वह रहित है। समस्त-विशेषों का विध्वंस होने के कारण वह, आत्मा के कैवल्य-पद को प्राप्त हुआ शोक नहीं करता है। 'आत्मवेत्ता शोक को तर जाता है, यानी शोक उसे प्राप्त नहीं होता।' 'जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है' इत्यादि श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। इस प्रकार का–उक्त लक्षणों वाला, परम-निरतिशय–(न्यूनाधिकभावरहित) स्वरूप-कैवल्य-ब्रह्मनिर्वाणरूप, अपवर्ग–मोक्षस्थान है, यह अर्थ है। इस प्रकार शान्ति-पर्व के उसी ही जापक-उपाख्यान में कैवल्य-मोक्ष-स्थान से भिन्न-उस-उस-देवलोकों में निकृष्टत्व के द्योतन के लिए–'रुद्र, आदित्य, वसु तथा अन्य स्वर्गवासियों के स्थान, हे तात! यह नरक-तुल्य हैं'–इत्यादि कथन से उनमें नरकत्व कहा है। अर्थात् वे सब देवलोक सातिशय होने के कारण हर्ष एवं शोक के देने वाले हैं, इसलिये नरक शब्द से व्यवहार करने योग्य हैं, ऐसा जानना चाहिए। इति। अति विस्तार से अल-बस है।

-अब इस मन्त्र का अधिदैव व्याख्यान करते हैं। इस मन्त्र के द्वितीय पाद में-'तत्' शब्द का श्रवण होने से-प्रथम पाद-में-प्रत्येक-विशेषण-के साथ, योग्य-क्रियार्थ के साथ सम्बद्ध–'यत्' शब्द का अध्याहार करना चाहिए। जो यह अन्तरिक्ष

योऽयं दिवि विद्योतते, तस्यास्य वामस्य=वननीयस्य-संभजनीयस्य आरोग्याद्यर्थिभिः सर्वैः सेवनीयस्येत्यर्थः । पलितस्य=पालयितुः-प्रकाशवृष्ट्यादिप्रदानेन पालकस्य । तथा योऽयं दिवि द्योतते तस्यास्य होतुः=ह्वातव्यस्य आह्वानार्हस्य-आदित्यस्य-सूर्यनारायणस्य । मध्यमः=मध्यस्थानो मध्ये भवो वायुरुच्यते । आदित्याग्नी अपेक्ष्यास्य मध्यमत्वम् । स च अश्नः=सर्वत्र व्याप्तः । न हि वायुरहितः कश्चित्प्रदेशोऽस्ति । तादृशो भ्राताऽस्ति=भ्रातृस्थानीयो भवति । यथा लोके भ्राता पितृधनस्य भागं हरति, तद्वन्मध्यस्थानमन्तरिक्षलोकं हरति-गृह्णाति । यद्वा वृष्ट्यर्थं रश्मिभिराहृतानां भौमानां रसानां हरणात् भ्रातेत्युच्यते । पित्र्येण धनेन स्वार्जितेन वा भर्तव्यो भवतीति भ्राता, मध्यमो वायुरपि वृष्ट्यर्थं रसैर्भर्तव्यो भवति । किञ्च घृतपृष्ठः=घृतमाहुतिलक्षणं पृष्ठे यस्य तादृश आज्यस्पृष्टो भ्राता अग्निनामा-तस्य तृतीयोऽस्ति-भवति । त्रयाणां पूरणस्तृतीयः । उक्तोभयापेक्षया तृतीयत्वम् । भ्रातृत्वं प्रतिपादितप्रकारेणात्रापि द्रष्टव्यम् । रात्रौ सवितुस्तेजोभागस्य हरणात्, दिवा स्वकीयतेजसो भागस्य तदर्थमेव भक्तव्यत्वाद्वाऽग्नेर्भ्रातृत्वम् । अत्र=एषु भ्रातृषु मध्ये, पुरोदेशे वा विश्पतिं=विशां प्रजानां पालयितारम् । सप्तपुत्रं=सर्पणधर्म-

में प्रकाशित हो रहा है, उस इस समस्त-आरोग्यार्थियों से भजने योग्य-सेवन करने योग्य, प्रकाश, वृष्टि आदि के प्रदान द्वारा पालन करने वाला, तथा आह्वान करने योग्य-आदित्य सूर्यनारायण का मध्यस्थान में रहने वाला-वायु मध्यम भ्राता है। आदित्य एवं अग्नि की अपेक्षा करके इस वायु में मध्यमत्व है। वह अश्न है यानी सर्वत्र व्याप्त है। क्योंकि-वायुरहित कोई भी प्रदेश नहीं है। इस प्रकार का वह वायु भ्राता के स्थानापन्न है। जैसे लोक में भ्राता, पिता के धन का भाग हरण करता है, तद्वत् वायु भी मध्यस्थान-जो अन्तरिक्ष है, उसका हरण-ग्रहण करता है। यद्वा वृष्टि के लिए रश्मियों से आहृत (ग्रहण किये हुए) भूमि-सम्बन्धी जलरूप-रसो का हरण करने से वह वायु भ्राता है, ऐसा कहा जाता है। या जैसे पिता के धन से तथा अपने से अर्जित धन से भी जो भरण करने योग्य होता है, वह भ्राता होता है। तैसे मध्यम वायु भी वृष्टि के लिए रसो से भरण करने योग्य होने से भ्राता है। और उस आदित्य का अग्नि नाम वाला तृतीय भ्राता है। वह घृतपृष्ठ है यानी आहुतिरूप घृत पृष्ठ में है जिसको, वैसा, आज्य (पत्नी से अवेक्षित घृत) से स्पृष्ट है। तीनों का पूरण तृतीय है। उक्त-उभय-आदित्य-वायु की अपेक्षा करके अग्नि में तृतीयत्व है। उसमें प्रतिपादित प्रकार से भ्रातृत्व यहां पर भी जानना चाहिए। रात्रि में सविता के तेज-भाग का हरण करने से या दिन में अपने तेज भाग का उसके लिए भक्तव्य होने से अग्नि में भ्रातृत्व है। अत्र यानी इन भ्राताओं के मध्य में या अग्रस्थान में, विश्पति यानी प्रजाओं का पालक, सर्पणधर्म वाले रश्मिरूप-पुत्रों से सयुक्त-इस प्रकार के महानुभाव-आदित्य का मैं आत्मभावना से साक्षात्कार करता

करश्मिभूतपुत्रोपेतम् । ऐतिहासिकपक्षे–'अदितिः पुत्रकामे'ति प्रस्तुत्य मित्रावरुणादिष्वदितिपुत्रेष्वस्यादित्यस्य सप्तमपुत्रत्वम् । ईदृशं महानुभावमादित्यं–अपश्यं=अहमद्राक्षं–आत्मभावनया साक्षात्करोमीत्यर्थः । 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मी'ति श्रुतेः ।

हूँ । श्रुति भी कहती है–'जो यह आदित्य-पुरुष है वह मैं ही हूँ' इति । या ऐतिहासिक पक्ष में 'अदिति पुत्रों की कामना वाली थी' ऐसा प्रारम्भ करके मित्रावरुणादि जो अदिति के पुत्र हैं, उनमें आदित्य सातमा पुत्र है, इसलिए आदित्य सप्तपुत्र है ।

(१८)

(चतुर्विधायाः परापश्यन्तीमध्यमावैखरीसमाख्याया वाण्या वर्णनम्)

(चार-प्रकार की परा, पश्यन्ती, मध्यमा, एवं वैखरी नाम वाली वाणी का वर्णन)

'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति वचनात् परब्रह्मसाक्षात्कारसाधनं मन्त्रादिरूपशब्दब्रह्मोपासनमधिगम्यते । तदुपासनं तु तिसृभिर्वाणीभिर्निष्पद्यते । तत्र तावत्प्रथमया सर्वजनप्रसिद्धया वैखर्या स्थूलया वाण्या भगवन्नामस्मरणकीर्तनादिकं शास्त्रस्वाध्यायभगवद्यशोवर्णनप्रार्थनादिकञ्च सम्पद्यते । तत्खल्वनायासेन मानवानां संसारसंतापं संजरीहर्ति[1], सकलसत्कामनासिद्धीश्च चरीकर्ति[2] । यस्य किल महत्त्वं श्रीमद्भागवते द्वादशस्कन्धेऽपि स्मर्यते–'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं, तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् । तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां, यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥' (१२।४।९) इति । वैखरीसाधनपरिपाके सति मध्यमयाऽविच्छिन्नधारया सूक्ष्मया वाण्या बाह्यवा-

'जो शब्दब्रह्म में निष्णात है, वह परब्रह्म को प्राप्त हो जाता है' इस वचन से पर-ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन, मन्त्रादिरूप-शब्द-ब्रह्म की उपासना है, ऐसा जाना जाता है । उसकी उपासना, तीन-वाणियों के द्वारा सिद्ध होती है । उनमें सर्वजनप्रसिद्ध, स्थूल, वैखरी, जो प्रथम वाणी है, उससे भगवन्नामस्मरण, कीर्तन, आदि, तथा शास्त्र का स्वाध्याय, भगवान् के यशों का वर्णन, प्रार्थना आदि सम्पन्न होता है । वह निश्चय ही अनायास से मनुष्यों के संसार के संताप का अतिशय करके संहार करता है । और समस्त–अच्छी कामनाओं को अतिशय करके सिद्ध कर देता है । जिसका महत्त्व श्रीमद्भागवत के द्वादशस्कन्ध में भी स्मृत हुआ है–'जो उत्तमश्लोक-परमात्मा का यशोगान है, वह रम्य-सुन्दर-नया से भी नया (चित्त का आह्लादक) है, वही मन का (आकर्षक) शाश्वत-महान् उत्सव है । वही मनुष्यों के शोक-समुद्र का शोषण करने वाला है ।' इति । वैखरी वाणी का साधन परिपक्व होने पर, अविच्छिन्न धारा वाली-सूक्ष्म-जो मध्यमा वाणी है, उससे, बाहर की वैखरी

१ अतिशयेन संहरति । २ अतिशयेन करोति ।

ग्व्यापारोपरमेऽपि भावुकभक्तैः साधकैर्हृदयप्रदेशे मन्त्रादिलक्ष्यस्य परमात्मनः सुदृढा धारणा धार्य्यते। ततः पश्यन्त्या सूक्ष्मतरया स्वभ्यस्तया वाण्या परमात्मनि-अनन्यानुरागं संबध्नन्तः-अनल्पप्रज्ञा योगिनो भक्तियोगमहिम्ना तं साक्षात्पश्यन्ति, तस्मात्पण्डितैः यतस्तया परमात्मानं पश्यन्तः तामपि साधनभूतां वाणीं सूक्ष्मतरां ध्याननिष्ठाः पश्यन्ति, या च स्वयं परमात्मानमभिदधाना ज्ञानमिवाभिधेयं तं विषयीकुर्वाणा वर्तते, ततः सा पश्यन्तीपदेनान्वर्थेनोच्यते। चतुर्थी त्वस्याः त्रिविधाया वाचः परा सूक्ष्मतमा, तासामवसानभूमिः, ताभ्यो विलक्षणा, या पराभिधाना तत्-त्रिविधवाक्प्रवृत्तिनिवृत्त्यधिकरणं परं ब्रह्मतत्त्वमेव तुरीया वागित्यभिधीयते। अत एव श्रुतयोऽपि-'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे'। 'वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेवैकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते।' 'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता' (तै. ब्रा. २।८।८।४) इति। सूक्ष्मा ब्रह्मरूपा वागेव विश्वाकारेण विवर्तते। एकं चिद्रूपमपि विश्वं, तया वाचा विभज्याविद्यया नानेव बुद्ध्वोपभुङ्क्ते इत्यर्थः। तथा चाहुः-प्राज्ञाः-'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी। तस्यां दृष्टस्वरूपायाम-

वाणी के व्यापार का उपराम होने पर भी भावुक-साधक-भक्तों के द्वारा हृदयप्रदेश में मन्त्रादि का लक्ष्य-परमात्मा की सुदृढ धारणा धारी जाती है। उसके बाद अतिसूक्ष्म-अच्छी प्रकार से अभ्यस्त की हुई-पश्यन्ती नाम वाली तृतीय वाणी के द्वारा परमात्मा में अनन्य-अनुराग को अच्छी रीति से बाँधते हुए-अनल्प-महान्-प्रज्ञा वाले योगी, भक्ति-योग की महिमा से उस परमात्मा का साक्षात् दर्शन करते हैं। इसलिए पण्डितलोग, उस तृतीय वाणी को अन्वर्थक-पश्यन्ती पद से कहते हैं। क्योंकि-उस वाणी के द्वारा ध्याननिष्ठ-भक्त-परमात्मा का दर्शन करते हुए, साधनरूप-उस अतिसूक्ष्म वाणी का भी दर्शन करते हैं, जो वाणी 'ज्ञान की भाँति' स्वयं परमात्मा का अभिधान (प्रतिपादन) करती हुई, उस अभिधेय (प्रतिपाद्य) को भी विषय करती हुई रहती है। तीन-प्रकार की इस वाणी से पर जो अतिसूक्ष्म है, वह चतुर्थी वाणी है, वह तीनों वाणीयों के अवसान की भूमि (स्थान) है, उनसे विलक्षण है, जिसका 'परा' ऐसा नाम है, वह त्रिविध-वाणी की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का अधिकरण, परब्रह्मतत्त्व ही तुरीया वाणी है, ऐसा कहा जाता है। अत एव श्रुतियाँ भी कहती हैं-'वाणी ने ही समस्त भुवनों को उत्पन्न किया' 'वाणी से ही बहुरूप वाला-विश्व बँधा हुआ है, एक ही चेतन-आत्मा, वाणी से ही प्रविभक्त-विश्व-रूप हो कर उसका उपभोग करता है' 'वाणी में ही ये सब भुवन-धर्मक पदार्थ समर्पित-अधिष्ठित हैं।' इति। ब्रह्मरूप, सूक्ष्म, वाणी ही विश्वाकार से विवर्तित होती है। एक ही चिद्रूप भी विश्व, उस वाणी से विभक्त हो कर, यानी अविद्या से नाना-अनेक की तरह जान करके उपभोग करता है। तथा च प्राज्ञ-विद्वान् कहते हैं-'स्वरूपज्योति ही अन्तर में शाश्वत परा वाणी है। उसके स्वरूप

धिकारो निवर्तते ॥' इति । 'सर्वं परात्मकं पूर्वं ज्ञप्तिमात्रमिदं जगदि'ति । एवं यथा यथा साधकाः पुरुषा मनीषिणः प्रत्यहं सच्छ्रद्धया वाणीक्रमशो मन्त्रादियोगमनुतिष्ठन्ति, वेदशास्त्राधिगम्यं तत्त्वं सूक्ष्मैधिकया पर्यालोचयन्ति । तथा तथा चित्तशुद्ध्यैकाग्र्यक्रमेण विषयान्तरेभ्यो व्यावृत्ताः सन्तः परं तत्त्वं समधिगच्छन्तीत्युपदेशं ज्ञापयन्त्याह–भगवती श्रुतिः—

का साक्षात्कार होने पर संसार का अधिकार समाप्त हो जाता है ।' इति । 'प्रथम यह सब जगत–परारूप-ज्ञानमात्र था ।' इति । इस प्रकार जैसे जैसे बुद्धिमान्-साधक-पुरुष, प्रतिदिन सात्त्विकी-श्रद्धा द्वारा वाणी के क्रम से मन्त्रादि योग का अनुष्ठान करते हैं, तथा वेदादि शास्त्र से जानने योग्य तत्त्व का सूक्ष्म-स्थिर-प्रज्ञा द्वारा पर्यालोचन करते हैं । तैसे तैसे चित्त की शुद्धि एवं एकाग्रता के क्रम से, अन्य-विषयों से उपरत हुए परतत्त्व का अच्छी प्रकार से साक्षात्कार करते हैं, ऐसे उपदेश का ज्ञापन करती हुई भगवती श्रुति-कहती है—

ॐ चत्वारि वाक्परिमिता पदानि, तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १ सूक्त १६४ ऋक्. ४५) (अथर्व. ९।१०।२७) (तै. ब्रा. २।८।८।५) (शत. ब्रा ४।१।३।१७) (नि १३।९)

'समग्र-वाणी के परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी ये चार परिमित स्वरूप हैं, जो मन के नियन्ता-बुद्धिमान् ब्राह्मण हैं, वे ही उन स्वरूपों को जानते हैं या उपासना करते हैं । वाणी के तीन स्वरूप, मूलाधार, नाभि एवं हृदयरूप गुहा मे अवस्थित हैं, वे कदापि चेष्टा नहीं करते हैं, अर्थात् बाहर उनका स्वरूप कदापि प्रकट नहीं होता है । वाणी के वैखरीरूप-चतुर्थ-भाग को सभी मनुष्य बोलते हैं ।'

वाक्परिमिता=वाचः-कृत्स्नायाः वाण्याः परिमितानि इयत्तया परिच्छिन्नान्येतावन्त्येवेत्यर्थः । (षष्ठीतत्पुरुषः 'शेश्छन्दसि बहुलमि'ति जसः शेर्लोपे परिमितेति भवति) । चत्वारि=परापश्यन्तीमध्यमावैखर्यः । पदानि=स्वरूपाणि सन्तीति शेषः । लोके या वागस्ति सा चतुर्धा विभक्तेत्यर्थः । एकैव नादात्मिका वाक् ज्ञप्तिरूपा मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते । 'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलामि'ति, अभियुक्तोक्तेः । इयं किल योगिनां समाधौ निर्विकल्पज्ञानविषयः । नादस्य च सूक्ष्मतमत्वेन दुर्निरूपत्वात् । सैव हि विवर्तमाना

समग्र वाणी के इतने ही परिमित परा, पश्यन्ती, मध्यमा, एवं वैखरी ये चार स्वरूप हैं । लोक में जो वाणी है, वह चार प्रकार से विभक्त हुई है, यह तात्पर्यार्थ है । एक ही नादरूप–ज्ञानरूप-वाणी मूलाधार-चक्र से प्रकट हुई 'परा' ऐसे नाम से कही जाती है । 'षोडशकला वाले-पुरुष में उस परा वाणी को अमृत-कला कहते हैं' ऐसी अभियुक्त–प्रामाणिक-विद्वानों की उक्ति भी इसमें प्रमाण है । यह निश्चय से योगियों की समाधि में निर्विकल्प-ज्ञान का विषय है । उसका नादरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने से निरूपण करने के लिए कठिन है । वही परा वाणी विवर्तमान हो कर नाभि-स्थान में

नाभिप्रदेशेऽभिव्यक्ता हृदयाभिमुखा सती पश्यन्तीत्युच्यते। योगिभिर्दिव्यदृष्ट्या द्रष्टुं शक्यत्वात्। यस्याः खलु विलीनबाह्याकारं स्वयं निराकारं प्रशान्तसर्वार्थप्रत्ययभासं चलाचलं सूक्ष्मतरं स्वरूपं महेश्वराधिदैवत्यं समाधौ सविकल्पज्ञानविषयत्वेन तैरधिगम्यते। सैव (पश्यन्त्येव) बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते। मध्ये हृदयाकाशे उदीयमानत्वात् मध्यमा। यद्वा पश्यन्तीवैखर्योः मध्ये भवा मध्यमा। ('मध्यान्म' इति मप्रत्ययः) या च तत्तदर्थविशेषतत्तच्छब्दविशेषोल्लेखिन्या बुद्ध्या विषयीकृता हिरण्यगर्भाधिदैवत्या परश्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा, स्वयं कर्णपिधाने सूक्ष्मतरवाय्वभिघातेनोपांशुमन्त्रप्रयोगे च श्रूयमाणा भवति। अथ च यदा सैव (मध्यमैव) वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति, तदा वैखरीत्युच्यते। विशेषेण खेन-श्रोत्राकाशेन रायते-गृह्यते इति विखरा, विखरा एव वैखरी। ('रा' आदानार्थात् धातोः 'घञर्थे कर्मणि कप्रत्ययः' ततः 'स्वार्थेऽण्' वृद्धिः, 'टिड्ढाणञि'ति ङीप्, वैखरीति रूपं सिद्ध्यति) या खल्वास्यपर्यन्तं गच्छता तेन वायुना कण्ठदेशं गत्वा मूर्धानमाहत्य ततः परावृत्य तत्तत्स्थानेष्वभिव्यक्ता परश्रोत्रेणापि ग्रहणयोग्या, विराडधिदैवत्या, श्लिष्टव्यक्तवर्णसमुच्चारणप्रसिद्धसाधुभावा, भ्रष्टसंस्कारा

अभिव्यक्त एवं हृदय के अभिमुख होती हुई योगियों को वह दिव्य-दृष्टि द्वारा देखने के लिए शक्य होने से 'पश्यन्ती' नाम से कही जाती है। जिस का स्वरूप स्वय निराकार है, बाह्याकार जिस का विलीन हो गया है, सभी अर्थों की प्रतीति जिस में प्रशान्त है, चल एवं अचल-अतिसूक्ष्म स्वरूप है, उसका अधिदेवता महेश्वर है, समाधि में सविकल्प ज्ञान के विषयरूप से जिस का स्वरूप योगी लोग जानते हैं। वह पश्यन्ती ही बुद्धि में आई हुई, कुछ-कहने की इच्छा को प्राप्त हुई 'मध्यमा' कही जाती है। हृदय के मध्य आकाश में उदित होने से वह मध्यमा है। अथवा पश्यन्ती एवं वैखरी के मध्य में होती है, इसलिए वह मध्यमा है। जो उस-उस अर्थविशेष एव उस उस शब्दविशेष का उल्लेख करने वाली-बुद्धि से विषय की जाती है, जिस का हिरण्यगर्भ अधिदेवता है, अन्य के श्रोत्र से ग्रहण करने के लिए अयोग्य होने से जो सूक्ष्म है, कान को बंद करने पर अति-सूक्ष्म वायु के अभिघात द्वारा तथा उपांशु मन्त्र के प्रयोग में जो स्वय-अपने से सुनने में आती है, वह मध्यमा है। अथ च जब वह मध्यमा वाणी ही मुख में स्थित हुई तालु, ओष्ठ आदि के व्यापार द्वारा बाहर निकलती है, तब वह वैखरी कही जाती है। विशेषरूप से जो ख यानी श्रोत्राकाश से ग्रहण की जाती है इसलिए वह विखरा कही जाती है, विखरा ही वैखरी (व्याकरण के अणादि-प्रत्यय से) हो जाती है। जो मुखपर्यन्त जाने वाले-उस वायु के द्वारा कण्ठदेश में जा कर मूर्धा के साथ टकरा कर वहाँ से लौट कर उस-उस स्थानों में अभिव्यक्त हुई अन्य के श्रोत्र द्वारा भी जो ग्रहण करने योग्य होती है, जिस का विराट् अधिदेवता है, श्लिष्ट (समीचीन) व्यक्त (स्पष्ट) वर्णों के समुच्चारण से जिस में साधुभाव प्रसिद्ध होता है, तथा

च दुन्दुभिवेणुवीणादिध्वनिरूपा चेत्य-परिमितभेदा भवति । तदुक्तम्-'वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् । अने-कतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम् ॥' इति वैखर्यादिभ्यः परब्रह्मविषयत्वेन समु-पासितेभ्यः परं=पराख्यं, पदं=सर्वासामा-स्पदं तदेतदद्भुतं किमप्यवर्णनीयं परिपूर्णा-नन्दनिधानं ज्ञप्तिमात्रस्वरूपमुपासकैरनुभू-यते । तीर्थपदेन वेदशास्त्राणि तदुपदेष्टारो महर्षय आचार्याश्च गृह्यन्ते इति तदर्थः । एवं वाचश्चातुर्विध्यमुक्त्वा तासां स्वरूप-ज्ञानपूर्वकमुपासनं तत्र चाधिकृतानाह-तानि=वाचः चत्वारि स्वरूपाणि, विदुः= जानन्ति, ज्ञात्वा परब्रह्मविषयत्वेन समुपा-सते इत्यर्थः । के ? ये ब्राह्मणा मनीषिणः सन्ति ते । वेदाख्यं ब्रह्म साङ्गोपाङ्गं विद-न्तीति ब्राह्मणाः=शब्दब्रह्मतत्त्वस्याधिग-न्तारो मेधाविनः, पुनः कथंभूताः ? मनी-षिणः=मनस ईषिणो=नियन्तारः, स्वामिनो न तु तत्किङ्कराः स्वाधीनमनस्का विजिते-न्द्रिया योगिन इत्यर्थः । एतेन शास्त्रसम्य-ग्ज्ञानमनःसंयमलक्षणा वागुपासनायाधि-कारसम्पत् प्रदर्शिता । संप्रति तासां स्वरूपं स्थानञ्चाह-गुहेति । तासु मध्ये त्रीणि=परा-दीनि, गुहा=गुहासु निहिता=निहितानि-स्थापितानि परमेश्वरेणेति शेषः । (गुहे-त्यत्र निहितेत्यत्र च 'सुपां सुलुग्' त्यनेन क्रमेण सप्तमीप्रथमयोर्लुगिति बोध्यम्) अत्र गुहा हृदयादिरूपा । हृदये स्थाने मध्यमा

(जो कभी) शब्द-संस्कार से रहित-खराब वर्ण वाली हो जाती है, तथा जो दुन्दुभि (ढोल), वेणु, वीणा आदि की ध्वनिरूपा हो जाती है, इस प्रकार वैखरी वाणी असंख्य-भेद वाली बन जाती है । यह कहा है-'वैखरी, मध्यमा एवं पश्यन्ती जो अनेक तीर्थों के भेद से भिन्न हो जाती है, उस तीन वाणी से यह अद्भुत परं पद प्राप्त हो जाता है ।' इति । परब्रह्मविषयत्व से सम्यक् उपा-सित-वैखरी आदि से परा नाम का-परं पद, जो सभी वाणियों का आश्रय है-वही यह अद्भुत-कुछ-अवर्णनीय-परिपूर्ण आनन्द का निधि-ज्ञानमात्र ही जिस का स्वरूप है, उसका उपासक अनुभव करते हैं । तीर्थ पद से वेदशास्त्र, उसके उपदेष्टा-महर्षि एवं आचार्य्य ग्रहण किये जाते हैं । यही उस श्लोक का अर्थ है । इस प्रकार वाणी के चार प्रकार को कह करके, उन वाणियों की-उनके स्वरूप के ज्ञानपूर्वक-उपासना का, तथा उसमें अधिकृत-साधकों का प्रतिपादन करते हैं-वाणी के उन चार स्वरूपों को जानते हैं, अर्थात् जान करके परब्रह्मविषयत्व से उन वाणियों की उपासना करते हैं । कौन ? जो मनीषी ब्राह्मण हैं, जो अंग-उपांग-सहित वेद नाम वाले-ब्रह्म को जानते हैं, वे शब्द-ब्रह्मतत्त्व के विज्ञाता, मेधावी ब्राह्मण कहे जाते हैं । फिर वे कैसे हैं ? मनीषी हैं, यानी मन के नियन्ता-स्वामी हैं, मन के किंकर-गुलाम नहीं, अर्थात् स्वाधीन मन वाले-जितेन्द्रिय-योगी हैं । इससे वाणी की उपासना के लिए शास्त्र का यथार्थ ज्ञान, एवं मन का संयमरूप अधिकार की सम्पत्ति प्रदर्शित की गई है । अब उन वाणियों का स्वरूप, तथा स्थान का वर्णन करते हैं-गुहेति । उन चार-वाणियों के मध्य में परा आदि तीन वाणी, गुहा में परमेश्वर ने स्थापित की हैं । यहाँ गुहा हृदयादिरूपा है । हृदय-स्थान में मध्यमा वाणी, नाभि में पश्यन्ती

वाक्, नाभौ पश्यन्ती, मूलाधारचक्रे परा वाक् च निहिता—अवस्थिता । अज्ञानमपि स्वनिहितं गुहा गमयति । विद्वांसो योगिनः खलु वागुपासनलब्धेन ज्ञानयोगबलेन गुहागम्यमज्ञानान्धकारं विदार्य पूर्णं परालक्षणं परं तत्त्वं साक्षात्कृत्य अमृता अभयाः संतृप्ता भवन्ति । तानि परादीनि नेङ्गयन्ति—न चेष्टन्ते—न निमिषन्ति—न प्रकाशन्ते—नार्थं वेदयन्ते—न प्रख्यापयन्ति इत्यर्थः । अनेकपर्यायोपादानस्य स्फुटप्रतिपत्त्यर्थत्वान्न तद्गौरवावहम् । अयं भावः—परापश्यन्तीमध्यमेत्येतानि त्रीणि पदानि शरीरमध्ये गुहायां निहितानि वर्तन्ते, न तु तानि कदाचिद्बहिः प्रसरन्ति, अत एव तानि मनीषिण एव विजानन्ति, न त्वितरे मूढाः, ते तु तुरीयं वैखर्याख्यं पदं विजानन्ति, स्पष्टोच्चारणेनेति । एतेन परादीनां त्रयाणां साधारणजनज्ञानविषयत्वाभावविशिष्टयोगिजनज्ञानविषयत्वात्मकं सूक्ष्मस्वरूपं सूचितं भवति । वैखरीमाह—तुरीयमिति । वाचः=वाङ्मयस्य—शब्दजालस्य तुरीयं=चतुर्थभागं वैखर्याख्यं मनुष्या वदन्ति । अज्ञास्तज्ज्ञाश्च व्यक्तमुच्चारयन्ति—व्यवहरन्ति । प्रतिमनुष्यं व्यवहारसाधनत्वेन यद्वर्तते तत्तुरीयमिति यावत् । तुरीयं=त्वरतेः, तद्धि त्वरितमिव निर्गतं भवति तिसृभ्यः । इति ।

केचनेमं प्रकारान्तरेण वर्णयन्ति—सर्ववैदिकवाग्जालस्य संग्रहरूपा भूरादयस्तिस्रो व्याहृतयः, प्रणव एक इति । 'भूरिति वा

वाणी, एवं मूलाधारचक्र में परा वाणी अवस्थित है । गुहा, अपने में अवस्थित अज्ञान का भी बोधन करती है । विद्वान् योगी, वाणी की उपासना से प्राप्त-ज्ञान-योग के बल से गुहा से बोधित-अज्ञानान्धकार का विदारण करके परारूप, पूर्ण, परतत्त्व का साक्षात्कार करके अमृत, अभय एवं संतृप्त होते हैं । वह परा आदि तीन वाणी, चेष्टा नहीं करती हैं, बाहर उनका उन्मेष-प्रकाश नहीं होता है, अर्थ का बोधन-प्रख्यापन नहीं करती हैं, यह अर्थ है । अनेक-पर्यायों का ग्रहण स्पष्ट-बोध के लिए है, इसलिए वह गौरव का प्रापक नहीं हो सकता । यह भाव है—परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा ये तीन वाणी के स्वरूप, शरीर के मध्य में गुहा में अवस्थित हो कर रहते हैं, उनका कभी बाहर प्रसार नहीं होता, इसलिए उनको मनीषी-विद्वान् ही जानते हैं, अन्य मूढ नहीं जानते हैं । वे लोग तो स्पष्ट-उच्चारण द्वारा वैखरी नाम की चतुर्थ-वाणी के स्वरूप को ही जानते हैं । इस कथन से—परा आदि तीन वाणियों का-साधारण-मनुष्यों के ज्ञान की विषयता से रहित, एव योगि-जन के ज्ञान की विषयतारूप-सूक्ष्म स्वरूप सूचित होता है । वैखरी कहते हैं—वाङ्मय शब्दजाल का तुरीय-यानी चतुर्थ भाग—जो वैखरी नाम का है, उसे सभी मनुष्य बोलते हैं । अज्ञानी एवं ज्ञानी उसका स्पष्ट उच्चारण करते हैं, यानी व्यवहार करते हैं । प्रत्येक मनुष्य के लिए व्यवहार के साधनरूप से जो है, वह तुरीय (वैखरी) है । 'तुरीय' शब्द 'त्वरति' धातु से बना है । वह तीन-वाणीयों की अपेक्षा से त्वरित की भाँति शीघ्र निकलती है । इति ।

कुछ पण्डित, इस मन्त्र का अन्य प्रकार से वर्णन करते हैं—'सभी वैदिक-वाणी के समुदाय के संग्रहरूप भूरादि तीन व्याहृतियाँ और एक प्रणव

ऋचः, भुवः इति सामानि, सुवरिति यजूंषि, मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।' (१।५।३) इति तैत्तिरीयश्रुतेः। वेदत्रयगता मन्त्रविशेषा ऋगादयः। ब्रह्म त्वोङ्कारस्तेन हि सर्वे वेदा महीयन्ते=पूज्यन्ते इति तदर्थः। वेदत्रयसारत्वात्तासां व्याहृतीनां, तासाञ्च सारसंग्रहभूतस्यादका-राद्यात्मकस्य प्रणवस्य, इति सप्रणवासु व्याहृतिषु सर्वा वाक् परिमितेति।

अपरे व्याकरणमतानुयायिनो वदन्ति—नामाख्यातोपसर्गनिपातभेदेन एकैव वाक् चतुर्धा विभक्ता। द्रव्यप्रधानं नाम, क्रिया-प्रधानमाख्यातं, प्रागुपसृज्यते—आख्यात-पदस्येत्युपसर्गः प्रादिः। उच्चावचेष्वर्थेषु निपतनान्निपातः अपि तु चेत्यादिः। एते-ष्वेव सर्वा वाक् परिमितेति। अखण्डायाः कृत्स्नाया वाचः चतुर्धा व्याकृतत्वात्। मनीषिणो ब्राह्मणाः=प्रकृतिप्रत्ययादिविभा-गज्ञा वाग्योगविदः तानि पदजातानि सर्वाणि विदन्ति। कथं मनीषिणो वैया-करणा एव विदन्ति? इत्याह—गुहेति। अज्ञा-नमेव गुहा तस्यामित्यर्थः। व्याकरणप्रदीपे-नाज्ञानान्धकारं विदार्य तानि प्रकाशयन्ते। तत्र चतुर्णां पदजातानामेकैकस्य चतुर्थ-

है'। इति। 'भूः' यह व्याहृति ऋक् मन्त्ररूप है, 'भुवः' यह व्याहृति साममन्त्ररूप है, 'सुवः' यह व्याहृति यजुर्मन्त्ररूप है, 'मह' व्याहृति ब्रह्म(प्रणव)-रूप है। ब्रह्म से ही सभी वेद पूजित होते हैं।' यह तैत्तिरीय श्रुति भी इस विषय को सिद्ध करती है। ऋक् आदि, तीन वेद में अवस्थित मन्त्रविशेष हैं। ब्रह्म ॐकार है, इससे निश्चय ही सभी वेद सम्मानित होते हैं, यह अर्थ है। तीन-वेदों का साररूप वे व्याहृतियाँ हैं, और उन व्याहृतियों का सार एवं संग्रहरूप अकारादिरूप प्रणव है। इस प्रकार प्रणवसहित—व्याहृतियों में सभी वाणी परि-मित यानी पर्यवसित हो जाती है। इति।

अन्य—व्याकरणमत के अनुयायी कुछ पण्डित कहते हैं कि—'नाम, (सुबन्त) आख्यात (तिङन्त) उपसर्ग एवं निपात के भेद से एक ही वाणी चार प्रकार से विभक्त हुई है। द्रव्य (घटपटादि) प्रधान हैं, जिस में वह नाम है। क्रियाप्रधान आख्यात है। आख्यात पद के प्रथम जो संयुक्त होता है, वह प्र आदि उपसर्ग है। उच्चावच यानी कई प्रकार के अनेक—अर्थों में जिस का निपतन (बोधकत्वरूप से सम्बन्ध) हो वह 'अपि तु च' इत्यादि निपात है। इन चार नामादि में ही सभी वाणी परिमित है। क्योंकि—अखण्ड-समग्र वाणी, चार प्रकार से व्या-कृत हुई है। मनीषी-ब्राह्मण—जो प्रकृति (धात्वादि) प्रत्यय आदि के विभाग के ज्ञाता—वाणी के योग को जानने वाले हैं, वे ही इन सभी पदों के स्वरूपों को जानते हैं। मनीषी वैयाकरण ही क्यों जानते हैं? यह कहते हैं—गुहेति। अज्ञान ही गुहा है, उसमें (सभी पदस्वरूप छिपे हुए हैं) इसलिए व्याकरणज्ञ विद्वान् व्याकरणरूप-प्रदीप से अज्ञानान्धकार का विदारण करके उन पदस्वरूपों का प्रकाशन करते हैं। उसमें चार-पद-समुदायों के एक-एक के चतुर्थभाग का—व्याकरण को नहीं

भागं मनुष्या अवैयाकरणा वदन्ति=अर्थ-प्रकाशनाय प्रयुञ्जते इत्यर्थः।

अन्ये तु याज्ञिकाः प्रतिपादयन्ति–मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं लौकिकीति चतुर्धा वाक्। याज्ञिकैः समाम्नातोऽनुष्ठेयार्थप्रकाशको वेद-भागो मन्त्रः। 'अत ऊर्ध्वमि'त्यादिनोक्तः कल्पः। मन्त्रतात्पर्यार्थप्रकाशको वेदभागो ब्राह्मणम्। भोगविषया 'गामानये'त्यादि-रूपा लौकिकी। एष्वेव सर्वा वाङ् निय-मितेति।

ऋग्यजुःसामानि चतुर्थी व्यावहारि-कीति नैरुक्ताः (नि. १३।९) कथयन्ति। अयं मन्त्रो निरुक्ते व्याख्यातः सोऽप्यत्रा-नुसन्धेयः। अथापि ब्राह्मणं भवति–'सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्, एष्वेव लोकेषु त्रीणि, पशुषु तुरीयं, या पृथिव्यां साऽग्नौ, सा रथन्तरे, याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये, या दिवि साऽऽदित्ये सा बृहती सा स्तनयित्नौ, अथ पशुषु ततो या वाग-त्यरिच्यत, तां ब्राह्मणेष्वादधुः, तस्माद्ब्रा-ह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति, या च देवानां या च मनुष्याणामिति।'

जानने वाले-अज्ञ-मनुष्य, अर्थ-प्रकाश के लिए प्रयोग (व्यवहार) करते हैं।

अन्य याज्ञिक प्रतिपादन करते हैं कि–मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण, एवं लौकिकी-ऐसी चार प्रकार से वाणी विभक्त है। याज्ञिकों से सम्यक् अधीत हुआ–अनुष्ठान करने योग्य-यज्ञादिरूप-अर्थ का प्रकाशक–वेदभाग मन्त्र है। 'अत ऊर्ध्वं' इत्यादि संदर्भ से कहा गया कल्पग्रन्थ है। मन्त्रों के तात्पर्य-रूप-अर्थ का प्रकाशक वेदभाग ब्राह्मण है। 'गौ ले आओ' इत्यादिरूप भोगविषयिणी वाणी लौकिकी है, इनमें ही सभी वाणी पर्यवसित है। इति।

निरुक्त के अनुयायी–ऋक्, यजुः, साम एवं चतुर्थी व्यवहारिकी, वाणी है, ऐसा कहते हैं। यह मन्त्र निरुक्त में व्याख्यात हुआ है, यहाँ वह भी अनुसंधान करने योग्य है। इसमें ब्राह्मणग्रन्थ–(प्रमाणरूप से) है–'निश्चय से वह सर्जन की हुई वाणी चार प्रकार से विस्तृत हुई। इन लोकों में तीन वाणी हैं, और पशुओं में चतुर्थ-वाणी है। जो पृथिवी में है, वह अग्नि में है तथा रथन्तर-नाम के साम में है, जो अन्तरिक्ष में है, वह वायु में है तथा वामदेव्य नामक साम में है, जो स्वर्ग में है, वह आदित्य में है, तथा बृहतीनामक साम में है, एवं स्तनयित्नु (मेघगर्जन) में भी है। इसके बाद पशुओं में, उन वाणियों से वह वाणी अतिरिक्त हो गई। उस वाणी का ब्राह्मणों में धारण हुआ, इसलिए ब्राह्मण दोनो वाणी को बोलते हैं–जो वाणी देवों की है तथा जो मनु-ष्यों की है। इति।

(१९)

(यदीच्छथ सर्वभयपरिक्षयमक्षय्यसुखलाभञ्च तदैकं परमेश्वरं समाराधयत)

(यदि आप लोग सर्व भयों का परिक्षय (विध्वस) तथा अक्षय्य (ध्रुव) सुख का, लाभ चाहते हैं, तब एक-परमेश्वर की सम्यक् आराधना करें)

यस्मात्सपदि संसृतिमहाभयविध्वंसिनी श्रीपरमेश्वराराधनैकैवेति मतिमद्भिर्निश्चितम्। तस्मादपास्तेतरविषयादरैः परमात्मनि समर्पितमनोधीभिर्भवभयापनयाय परमानन्दपदलाभाय च निश्चितमतिभिः श्रद्धावद्भिर्भगवदाराधनैव संसाधनीया। न पुनरिह विषयभोगविनोदेनैव दुर्लभं मानुष्यजन्म विफलं निपातनीयम्। विषयभोगस्तु प्राणिमात्रसाधारणः। पशुपक्षिकीटादयोऽपि स्वस्वजातिषु मिथुनीभूय रममाणा निजनिजोचितेनाहारेण तृप्ता हृष्यन्तो दृश्यन्ते। 'न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे' ? (भा. २।३।१८) इति स्मरणात्। भगवदाराधनाधिकारिणस्तु मनुष्या एव। विश्वसाक्षिणं विश्वेश्वरमनाराध्याऽल्पमतयो मानवाः कथङ्कारं शाश्वतीं शान्तिमक्षय्यं सुखञ्च लब्धुं शक्नुयुः ? अहो ! निखिलमिदं जगत् प्रतिक्षणं परिवर्तनशीलं भङ्गुरं गतसुखमेव युष्माभिः सर्वैरधिगम्यते। वपुरपीदमनित्यमनुवासरभङ्गुरमासन्नध्वंसमवि-

जिस कारण से-शीघ्र ही संसार के महाभय का विध्वंस करने वाली श्रीपरमेश्वर की आराधना ही एक-मुख्य है, ऐसा बुद्धिमानों ने निश्चय किया है। इसलिए-इतर विषयों के आदर (मोह-ममता) का परित्याग करके, तथा परमात्मा में मन एव बुद्धि को समर्पण करके निश्चित-मति से श्रद्धालुओं को भव-भय के निवारण के लिए तथा परमानन्द-पद-लाभ के लिए भगवान् की आराधना ही अच्छी प्रकार से सिद्ध करनी चाहिए। पुनः यहाँ विषय-भोग के विनोद से ही दुर्लभ-मनुष्य-जन्म विफल व्यतीत नहीं करना चाहिए। विषयभोग तो प्राणि-मात्र के लिए साधारण है। पशु, पक्षी, कीट आदि प्राणि भी अपनी-अपनी जातियों में मिथुनी हो कर (स्त्री पुरुष मिल कर) रमण करते हुए अपने-अपने योग्य आहार से तृप्त हुए-हर्षित हुए दिखाई पड़ते हैं। श्रीमद्भागवत में यह स्मरण किया है-'अन्य-ग्राम के पशु-कुत्ते बिल्ले-बन्दर आदि प्राणी क्या खाते नहीं है? क्या सगम नहीं करते हैं?।' इति। भगवान् की आराधना के अधिकारी तो मनुष्य ही हैं। विश्व के साक्षी विश्व के ईश्वर-की आराधना न करके अल्प-मति वाले मनुष्य, शाश्वत शान्ति एव अखण्ड सुख को प्राप्त करने के लिए कैसे समर्थ हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। अहो! (खेद एव आश्चर्य-अर्थ में) यह समग्र जगत् क्षण-क्षण में परिवर्तन होने के स्वभाव वाला-भङ्गुर-(नष्ट होने वाला) सुखरहित ही हम सब देखते हैं। शरीर भी यह अनित्य, दिन प्रतिदिन-शिथिल होता हुआ-जिस का ध्वस समीप ही है,

श्वसनीयमेव निश्चीयते । अतोऽस्मिन्नेतादृशे जगति यद्भवति तद्भवतु नाम, तत्परिहर्तुं कः शक्नोति ? परन्तु शरण्यशिरोमणिः शरणागतवत्सलः शाश्वतविज्ञानानन्दधामा श्रीमहेन्द्रो महेश्वर एवैकः शरणीकृत्य भवद्भिः समाराधनीय इति मितलक्षणो गम्भीरभावरुचिरो भगवान् ऋग्मन्त्रः समुपदिशति-सम्बोधनेन श्रोतारमभिमुखीकृत्य—

तथा कल तक भी रहेगा या नहीं ऐसा विश्वास उसके लिए नहीं किया जाता, ऐसा निश्चित होता है। इसलिए इस प्रकार के इस जगत् में जो होता है, वह होता रहे ? उसका परिहार करने के लिए कौन समर्थ है ? परन्तु शरण्यों में (शरण रखने वालों में) शिरोमणिरूप—शरणागत-वत्सल-शाश्वत-विज्ञान एवं आनन्द का धामरूप-श्रीमहेन्द्र-महेश्वर ही एक, शरण (आश्रय) करके आप लोगों को सम्यक् प्रकार से आराधना करने योग्य है, ऐसा मितलक्षण—यानी अल्पशब्दरूप एवं गम्भीर भावों से सुन्दर, भगवान्-ऋक् मन्त्र, सम्बोधन से श्रोता को अभिमुख करके सम्यक् उपदेश देता है—

ॐ इन्द्रो अङ्ग ! महद्भयमभीषदपचुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥

(ऋग्वेद० मण्डल २ सूक्त. ४१ ऋक् १०) (साम, २००) (अथर्व. २०।२०।५×५७।८)

'हे प्रिय ! आराधना किया हुआ इन्द्र-परमात्मा ही महान् भय का अभिभव करता है। उस भय को अच्छी प्रकार से हम लोगों से अलग करके समूल नष्ट कर देता है, वही एकमात्र स्थिर-ध्रुव है, एवं वही विश्वद्रष्टा चैतन्य सर्वात्मा है।'

हे अङ्ग !=प्रिय ! श्रद्धाविनयसम्पन्न ! इति शिष्यमभिमुखीकृत्य ब्रूते । इन्द्रः=परमेश्वरः सम्यक् आराधित इति शेषः । स्वाराधकानां भक्तानां महत्=विपुलं, पौनःपुन्येन सन्ततं, अन्यैः परिहर्तुमशक्यं भयं=जननमरणादिलक्षणं भवभयं, अभीषत्=अभ्यभवत्, अभिभवति परिहरतीत्यर्थः । यद्वा महत्=अनादिकालतः संलग्नं भयं=भयकारणमज्ञानं, ज्ञानं प्रदायायम-

हे अङ्ग यानी हे प्रिय ! श्रद्धा एवं विनय से सम्पन्न ! इस प्रकार श्रुति-भगवती शिष्य को सम्बोधन से अभिमुख बना कर कहती हैं । इन्द्र परमेश्वर, 'अच्छी प्रकार से आराधित हुआ' यह शेष वाक्य है। अपनी आराधना करने वाले भक्तों का—महान्—विस्तृत—पुनः पुनः रूप से फैला हुआ—अन्यों से-परिहार करने के लिए अशक्य—जनन, मरणादि लक्षण वाला—जो भवभय है, उसका अभिभव—परिहार कर देता है । अथवा, महत् यानी अनादि काल से संलग्न-भय का कारण अज्ञान भी भयरूप है, उसका ज्ञान के प्रदान द्वारा अभिभव करता है ।

१ अभिपूर्वात्सदेर्लङ्, बहुलवचनादडभावः 'इतश्च' लोपः, 'संयोगान्तलोपः' 'सदेरप्रतेः' इति षत्वम् 'निपातस्य च' इति दीर्घे, अभीषदिति सिद्ध्यति ।

भिभवतीत्यर्थः । ननु—अभिभूतमपि तन्म-हद्भयं पुनरपि कालान्तरे प्रादुर्भविष्यतीत्यत आह—अपचुच्यवत्=अपच्यावयति-असत्तः पृथक्कृत्य दूरतोऽपसारयति-समूलं विनाशयतीति यावत् । छन्दसि कालानियमात् । समूलस्य विनष्टस्य तस्य भवभयस्य कारणाभावान्न पुनः प्रादुर्भावसम्भवः । ननु—भयापनयाय सः परमेश्वर एव कथमाराधनीयः ? सर्वजनामीष्टाः प्रमोदहेतवो मनोज्ञस्त्रीपुत्रपानभोजनविलेपनवस्त्रालङ्कारादयो विषया एव कथं पुनः सानुरागं नाराधनीया इत्यत आह—स हि=स एव परमेश्वरो महेन्द्रः, स्थिरः=स्वयमन्येन न च्याव्यः-शाश्वतः-कूटस्थः-अचलः—ध्रुवः । अनेन भयापसारणादिसामर्थ्यं तस्य सम्भावयति । 'हि' पदगम्योऽन्ययोगव्यवच्छेदकार्थकोऽयमेवकारः तद्भिन्नस्य सर्वस्य विषयजातस्यास्थिरत्वं सूचयति । दारदारकादीनां समागमस्य सापगमत्वं, शब्दादीनामापातरमणीयानां विषयाणां विषसन्निभत्वेनोद्वेजकत्वं, धनादिसम्पत्तीनां विपत्त्यवसानत्वं, विविधविषयैर्लालितस्य पालितस्यास्य कायस्य सन्निहितापायत्वञ्च विनिश्चिन्वन् धीमान्

शंका—'अभिभूत हुआ भी वह महान् भय फिर भी, अन्य समय में प्रादुर्भूत होगा ?' ऐसी शंका उपस्थित होने पर समाधान कहते हैं—अपचुच्यवत्—यानी हमारे से उस भय को अलग कर के दूर हटा देता है अर्थात् मूल सहित-उस का विनाश कर देता है । छन्दरूप-वेद में काल का नियम नहीं है (इसलिए भूत-काल के क्रियापद का वर्तमान काल में भी व्याख्यान हो सकता है) मूल सहित—विनष्ट हुए उस भव भय का कारण न होने से फिर से प्रादुर्भाव का सम्भव नहीं है ।

शंका—भय निवारण के लिए उस परमेश्वर की ही क्यों आराधना करनी चाहिए ? सभी मनुष्यों के लिए अभीष्ट—प्रमोद के कारण—सुन्दर-स्त्री-पुत्र-पान-भोजन-विलेपन-वस्त्र-अलंकारादि-विषयों की ही अनुराग-आसक्ति पूर्वक क्यों पुनः आराधना नहीं करनी चाहिये ?

समाधान—वही परमेश्वर महेन्द्र, स्थिर है, अर्थात् वह स्वयं अच्युत है—अन्य से वह च्युत नहीं किया जा सकता, क्योंकि—वह शाश्वत-कूटस्थ-अचल-ध्रुव है । इस विशेषण से—उस परमेश्वर में भय-निवारणादि के सामर्थ्य की सम्भावना की जाती है । मन्त्रस्थ 'हि' पद से गम्य, अन्य-योग का व्यवच्छेदकरूप-अर्थ वाला, यह एवकार, उस परमात्मा से भिन्न-समस्त-विषय समुदाय में अस्थिरत्व को सूचित करता है । स्त्री-पुत्रादियों का समागम (संयोग) अपगम (वियोग) सहित है । आपात-रमणीय-शब्दादि-विषय, विष के सदृश उद्वेग के कारण हैं । धनादि-सम्पत्तियों का अवसान विपत्ति है । विविध-विषयों से लालित-एवं पालित-इस शरीर का अपाय (विध्वंस) समीप ही है । ऐसा विशेषरूप से निश्चय करने वाला बुद्धिमान् उन स्त्री—पुत्रादि—विषयों में अनुराग

कथं तेष्वनुरक्तिं बध्नीयात् ? न कथमपि। अत एव तस्मैतादृशदोषविवर्जितः परमेश्वर एव परमयाऽनुरक्त्या समाराधनीयो निश्चितो भवति। पुनः कथंभूतः स ? इत्याह— विचर्षणिः=सर्वस्य प्रपञ्चस्य द्रष्टा। एतेन सर्वस्य तद्भिन्नस्य विश्वस्य दृश्यत्वेन हेतुना मिथ्यात्वमसूचीति भावः। (अथ चुच्य-वत् 'च्युङ् ग्रुङ् गतौ' इत्यस्मात् लुङि णिलोपे उपधाह्रस्वत्वे 'स्रवतिशृणोति'इत्यादिनाऽभ्यासस्य विकल्पेन इत्त्वं 'बहुलं छन्दसि' इति अडभावः)

एवमिन्द्रस्य परमात्मन एव सदा स्थिरत्वनिर्विकारत्वाविनाशित्वादिकं, तमेवोपसद्य प्रसाद्य च ततोऽकुतोभयलाभाभ्यर्थनञ्चान्यो निगमोऽप्याह—'न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति।' (ऋ. ५।५४।७) इति। हे मरुतः !=प्राणादिसंयमिनो मुमुक्षवः !. सः= इन्द्रः प्रत्यगात्मा परं ब्रह्म, न जीयते=रागादिक्लेशैः, जन्मादिभवरोगैश्च न कदापि पराभूयते, 'जि जये' 'ज्या वयोहानौ' इत्यस्य वा रूपम्। न हन्यते=न हिंस्यते— न बाध्यते—कदापि स्वस्वरूपावस्थानान्न वियुज्यते। न स्रेधति=न क्षीयते—न कदापि शरीरादिवत् क्षीणो भवति, निरवयवत्वात्। न व्यथते=न व्यथां पीडां वस्तुतोऽनुभवति, निर्विकारत्वात्। न रिष्यति=न हिंस्यते,

कैसे बाँध सकता है ? किसी भी प्रकार से नहीं बाँध सकता। इसलिए उस—बुद्धिमान् को—इस प्रकार के अनित्यत्वादि दोषों से वर्जित—परमेश्वर ही परम-अनुरक्ति (अनन्य-भक्ति) द्वारा सम्यक् आराधनीय निश्चित होता है। पुनः वह परमात्मा किस प्रकार का है ? यह कहते हैं—वह विचर्षणि है—अर्थात् समस्त-प्रपञ्च का द्रष्टा है। इस विशेषण से—उस से भिन्न सर्व विश्व का दृश्यत्वरूप हेतु से मिथ्यात्व सूचित किया, यह भाव है।

इस प्रकार अन्य निगम (वेदमन्त्र) भी—इन्द्र परमात्मा का ही सदा स्थिरत्व, निर्विकारत्व, अविनाशित्व आदि का—तथा उसकी ही उपसत्ति (शरण) ग्रहण करके एवं उसको ही प्रसन्न करके उस से ही अकुतोभय-(किसी से भी भय-युक्त न होना—सदा निर्भय रहना) के लाभ के लिये अभ्यर्थना का—प्रतिपादन करता है—'हे मरुत! वह परमात्मा, किसी से परिभूत—तिरस्कृत नहीं होता एवं न किसी के द्वारा नष्ट किया जा सकता है, न कदापि वह क्षीण होता है, न व्यथित—पीडित होता है, एवं न मरता है।' इति। हे मरुत ! अर्थात् प्राणादि के संयमशील-मुमुक्षुगण ! वह इन्द्र, प्रत्यक् आत्मा, परब्रह्म, राग-आदि क्लेशों से तथा जन्म मरणादि-संसार के रोगों से कदापि पराभूत नहीं होता। 'जीयते' यह क्रियापद—'जि जय-अर्थ में' या 'ज्या वय (अवस्था) की हानि (निवृत्ति) अर्थ में' इन दो धातुओं का रूप है। वह न किसी से हिंसित—या बाधित नहीं होता, अर्थात् वह कदापि स्वस्वरूपकी अवस्थिति से वियुक्त नहीं होता। वह न कदापि शरीरादि की भाँति क्षीण होता है, क्योंकि—वह निरवयव है। वह न व्यथित होता है यानी व्यथा—पीडा का वस्तुत अनुभव नहीं करता है, क्योंकि—वह निर्विकार है। न वह विनष्ट होता है—अर्थात् न

न म्रियते इति यावत् अमृतत्वात् । स्मृतमेतद्गीतास्वपि वेदपुरुषेण—'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः'(२।२४) 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (२।२०) 'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च' (२।२४) इति । 'यत इन्द्र ! भयामहे ततो नो अभयं कृधि' (ऋ. ८।६१।१३) इति । हे इन्द्र ! सर्वात्मन् ! यतः=यस्मात् यस्मात्, तन्त्रोचारणमिदम्, रागादिक्लेशात् जन्ममरणादिभवरोगात् वयं भयामहे=बिभीमः, ततः=तस्मात्–तस्मात् अभयं कृधि=कुरु । भयकारणमपाकृत्य त्वदुपसन्नानस्मानकुतोभयान् कृपया विधेहीति यावत् । इति ।

मरता है, क्योंकि–वह अमृतरूप है । यह वेदप्रतिपाद्य-पुरुष-श्रीकृष्ण ने गीता में भी स्मरण किया है–'यह आत्मा निःसंदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला, और सनातन है' 'यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है' 'शरीर का नाश होने पर भी यह नष्ट नही होता है' 'यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य–अक्लेद्य और अशोष्य है' इति । 'हे इन्द्र ! जिस से हम भयभीत होते हैं, उससे हमें निर्भय करें ।' इति । हे इन्द्र ! यानी सर्वात्मन् ! जिस-जिस-रागादि क्लेश से एवं जन्म-मरणादि-भवरोग से हम भयभीत होते हैं, उस-उससे हम को अभय बनावें अर्थात् भय के कारण का निवारण करके तुम्हारे-शरणागत-हम-भक्तों को अकुतोभय कृपया कर देवें । इति । 'यतः ततः' ये दो पद तन्त्र से उच्चरित हैं । एक बार उच्चरित-जो बहु-अर्थ का बोधन करे, वह तन्त्र पद कहा जाता है ।

(२०)

(सर्वात्मा भगवानेवास्माकं शरणमित्यनवरतं मुमुक्षुभिर्विभावनीयम्)

(सर्वात्मा भगवान् ही हमारा शरण (आश्रय) है, ऐसी सदा मुमुक्षुओं को भावना करनी चाहिए)

मुमुक्षवो भगवच्छरणैकपरायणा भवेयुः, 'तस्यैव वयं स्मः' 'अस्माकमेवासावस्ती'ति दृढसम्बन्धविशेषभावनया भगवन्तं सत्यानन्दनिधिं सर्वात्मानमजस्रमाराधयेयुः, नाट्यमण्डपप्रख्येऽस्मिन् संसारे सर्वा आशाश्चिन्ताश्च समुत्सृज्येष्टानिष्टसंयोगवियोगोपपत्तिषु हर्षविषादौ च विहाय कर्तव्यबुद्ध्या निष्कामभावनया भगवत्प्रीत्यर्थं कर्माणि कुर्वन्तोऽपि स्वात्मानमसङ्गमेव विभावयेयुः,

मुमुक्षु, एकमात्र भगवच्छरण के परायण होवें, 'उसके ही हम हैं' 'हमारा ही वह है' इस प्रकार–दृढ-सम्बन्धविशेष की भावना द्वारा, सत्य-आनन्द-निधि-सर्वात्मा-भगवान् की निरन्तर आराधना करें। नाटकमण्डप के सदृश इस संसार में सभी आशा एवं चिन्ताओं का अच्छी रीति से परित्याग करके, इष्ट-अनिष्ट के संयोग वियोग की प्राप्ति में हर्ष एवं विषाद को छोड कर, कर्तव्यबुद्धि से, निष्काम भावना द्वारा भगवान् की प्रीति के लिए कर्मों को करते हुए भी अपने आत्मा के असंगत्व की भावना

सर्वाधारः स्वयमनाधारः सर्वेश्वरो भगवाने-वैकोऽचलयाऽमलया सद्भक्त्याऽजस्रं परि-चिन्तनीय इति पुरातनभक्तर्षिसद्भावनाव-र्णनमुखेन बोधयति—

ही किया करें। सर्व का आधार, स्वयं-अनाधार, सर्वेश्वर, एक भगवान् का ही अचल-अमल-शोभन-भक्ति से परिचिन्तन करना चाहिए, ऐसा-प्राचीन-भक्त-ऋषियों की सद्भावना के वर्णन द्वारा बोधन करते है—

ॐ इमे त इन्द्र! ते वयं पुरुष्टुत! ये त्वाऽऽरभ्य चरामसि प्रभूवसो!। न हि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्, क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥

(ऋग्वे. सं. १ सूक्. ५७ ऋङ्.४) (साम० ३७३) (अथर्व. २०।१५।४)

हे इन्द्र! हे पुरुष्टुत! हे प्रभूवसो! ये जो प्रसिद्ध हम हैं, वे हम तेरे ही हैं। तेरा ही आश्रय (शरण) ग्रहण करके हम चलते हैं-सभी कार्य करते हैं। हे गिर्वण! हमारी स्तुति-प्रार्थनादिरूप-वाणियों को तुझ से अन्य कोई भी प्राप्त नहीं कर सकता, अर्थात् हमारी वाणी एकमात्र-तेरा ही गुणगान-प्रार्थना आदि करती है, अन्य की नहीं। इसलिये 'पृथिवी की भाँति' उस तेरी वाणी को तू ही स्वीकार कर।'

हे इन्द्र! हे प्रभूवसो!=प्रभूतैश्वर्य! हे अ-मितपराक्रम! हे पुरुष्टुत!=पुरुभिः बहुभिः भावुकैः भक्तर्षिभिः, बहुप्रकारं स्तुत! हे गिर्वण!=सद्भावनामयीभिः परमप्रेमोपेता-भिर्वैखर्यादिभिर्गीर्भिर्वननीय!—संभजनीय परमेश्वर! ये=वयं तावकाः, त्वा=त्वामेव परमात्मानं, आरभ्य=आश्रयतया—शरणत-याऽवलम्ब्य त्वामेव शरणं प्राप्य वा, चरा-मसि=चरामः—अस्मिन् संसारे विलक्षणनाट-कप्रख्ये वर्तामहे, त्वदिच्छायामेव सर्वार्थवि-धायिन्यां प्रसन्ना भूत्वा इष्टानिष्टोपपत्तिष्वपि समचित्तत्वं विधायाच्छवृत्त्या जीवननिर्वाहं विदध्म इति यावत्। तदेतदृगन्तरेणाप्यभ्यु-क्तम्—'आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शव-

हे इन्द्र! हे प्रभूवसो! यानी प्रभूत (निरव-धिक) ऐश्वर्ययुक्त! अमित-अपार-पराक्रम वाले! हे पुरुष्टुत! अर्थात्-बहु-भावुक-भक्त-ऋषियों के द्वारा बहु प्रकार से स्तुत! हे गिर्वण! यानी प्रचुर-सद्भावना वाली-परम-प्रेम से संयुक्त-वैखरी आदि वाणियों के द्वारा अच्छी प्रकार से भजने योग्य—परमेश्वर! ये हम तेरे हैं, तुझ परमात्मा का ही आश्रय-शरणरूप से अवलम्बन करके; या शरणरूप तुझ को प्राप्त करके, हम इस विलक्षण-नाटक के सदृश—संसार में चलते हैं—वर्तते हैं। अर्थात् सभी कार्यों को सिद्ध करने वाली-तेरी ही-इच्छा में प्रसन्न रह कर इष्ट-एवं अनिष्ट की प्राप्तियों में भी समानचित्त को बना कर, अच्छे-शोभन-व्यापार द्वारा जीवन का निर्वाह करते हैं। वही यह अन्य ऋचा के द्वारा भी कहा गया है—'जैसे दुर्बल बूढ़े-लोग, लकड़ी का अवलम्बन-ग्रहण करते हैं, तैसे हे बल के पति!, हम भी तेरा ही अव-लम्बन (सहारा) ग्रहण करते हैं। और अत्यन्त

सस्पते ! । उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥' (ऋ. ८।४५।२०) इति । अयमर्थः–हे शवसस्पते !बलस्य पते ! सकलशक्तिनिधे ! त्वा=त्वां परमात्मानं, जिव्रयः=क्षीणाः–दुर्बलाः–वृद्धाः, रम्भं न=दण्डमिव, आ ररम्भ=आरभामहे–आलम्बामहे । तथा च यास्कः–'आरभामहे त्वा जीर्णा इव दण्डम्' (३।२१) इति । यथा वृद्धाः केचित् दण्डमवष्टम्भनार्थमेवावलम्बन्ते, तथा वयं त्वामेवाभ्युदयनिःश्रेयससिद्ध्यर्थमवलम्बामहे–शरणतया गृह्णीमहे इत्यर्थः, त्वमेव सर्वथा न आश्रय इत्यभिप्रायः । अत एव त्वा=त्वामेव वयं सधस्थे=अत्यन्तसमीपे हृदयस्थाने, यज्ञायतने वा आ=आभिमुख्येन, यष्टुं स्तोतुं द्रष्टुं वा उश्मसि=कामयामहे इत्यर्थः । अत्र भगवता सह सम्बन्धविशेषादिज्ञापनपराणीमानि ऋगन्तराण्यनुसंधेयानि–'त्वमस्माकं तव स्मसि' (ऋ. ८।८१।३२) 'स न इन्द्रः शिवः सखा' (ऋ. ८।९३।३) 'यस्येदं सर्वं तमिमं हवामहे' (ऋ. ४।१८।२) 'अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्' (ऋ. १०।७।३) 'तस्य ते भक्तिवांसः स्याम' (अथर्व. ६।७९।३) इति । स्मसि=स्मः, हवामहे=चिन्तयामः, गृह्णीमहे वा । आपिं=बन्धुं, मन्ये=जाने, सदमित्=सदैव, विसंवादं विहायेत्यर्थः । यद्वा त्वच्छरणं गृहीत्वा त्वयि ब्रह्मण्येव वयं चरामसि=विचरामः–सर्वासां मनोवृत्तीनां संचरणमनन्यभावेन विदध्महे, अत एव ते इमे वयं=प्रसिद्धिवाचकस्तच्छब्दः, इदं

समीप-हृदयादि स्थान में ही तेरी स्तुति करने की या तेरा दर्शन करने की कामना करते हैं ।' इति । यह अर्थ है–हे शवसस्पते ! यानी बल के पति, सकल शक्तियों के भण्डार ! तुझ-परमात्मा का–'क्षीण-दुर्बल-वृद्ध जैसे दण्ड का अवलम्बन करते हैं, तैसे हम निश्चय से अवलम्बन करते हैं । तथा च वही यास्क-ऋषि ने निरुक्त में भी कहा है–'बूढे के दण्ड की भाँति हम तेरा सहारा लेते हैं ।' इति । जैसे कोई बूढे सहारा के लिए दण्ड का अवलम्बन करते हैं, तैसे हम अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि के लिए तेरा ही शरण ग्रहण करते हैं । यह अर्थ है । तू ही सभी प्रकार से हमारा आश्रय है, यह अभिप्राय है । इसलिए तेरा ही–अत्यन्त समीप हृदयस्थान में या यज्ञस्थान में आ यानी अभिमुखता पूर्वक यजन करने की या स्तुति करने की–या दर्शन करने की हम कामना करते हैं । इति । यहाँ भगवान् के साथ सम्बन्धविशेष आदि के ज्ञापन करने वाली-इन अन्य-ऋचाओं का भी अनुसंधान करना -चाहिए–'तू हमारा है, और हम तेरे हैं' 'वह इन्द्र-शिव हमारा सखा है' 'जिस का यह सब है, उसको ही हम बुलाते हैं' 'अग्नि-परमात्मा को ही मैं सदैव पिता मानता हूँ, अग्नि को ही मैं आपि यानी अपना बन्धु मानता हूँ एवं अग्नि को ही मैं भाई तथा सखा मानता हूँ ।' 'ये तेरे हम, तेरी भक्ति वाले बनें' इति । स्मसि यानी स्मः–हैं । हवामहे यानी उसका ही हम चिन्तन करते हैं, या ग्रहण करते हैं, यह भी अर्थ है । आपि यानी बन्धु । मन्ये यानी जानता हूँ । सदमित् यानी सदैव, विसंवाद-विवाद को छोड़ कर । यद्वा तेरा शरण ग्रहण कर तुझ-ब्रह्म में ही हम विचरण करते हैं, अर्थात् सभी मन की वृत्तियों का अनन्यभाव से तेरे में ही संचार हम करते रहते हैं, इसलिए ये प्रसिद्ध हम । तत् शब्द प्रसिद्धि का वाचक

शब्दोऽपरोक्षवाची, त्वदर्थकत्वेन प्रसिद्धा वयमित्यर्थः, ते=तव-परमेश्वरस्य स्वभूताः सेवकाः स्वत्परास्त्वन्मयाः शरणागता भक्ताः सद्वृत्ताः स्म इत्यस्माकं त्वदभिमुखस्संततोऽनन्यप्रेमपूरितः त्वदेकतानतालक्षणो मानससजातीयप्रत्ययप्रवाहः सकलकल्याणसाधकः प्रवर्तमानो भवतीत्यहो ! भवदनुग्रहज्ञापकमच्छसौभाग्यमस्माकं किमु वर्णनीयमित्याशयः । तथा चाहुः—नैयायिकशिरोमणयोऽपि भक्तप्रवराः श्रीमन्त उदयनाचार्याः—'अस्माकं तु निसर्गसुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी—त्यद्धाऽऽनन्दनिधे ! तथापि तव तन्नाद्यापि संदृश्यते । तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वयैकात्मतां, याते चेतसि नाप्नवाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥ (न्यायकुसुमाञ्जलिः) इति । एवं तत्स्वरूपसाक्षात्कारपूर्वकतदात्मभावविलयप्रार्थनाप्रख्यापको निगमोऽपि भवति—'कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्' 'कदान्व ? न्तर्वरुणे भुवानि ।' (ऋ. ७।८६।२) इति । अयमर्थः—भगवन्तं सर्वजनवरणीयं सत्यानन्दनिधिं वरुणं शीघ्रं दिदृक्षमाणः तत्रैव स्वस्य झटित्यन्तर्भावञ्च कामयमानः कश्चित् ऋषिर्भक्तोऽनेन वितर्कयति—सुमनाः=शोभ-

है, इदं शब्द अपरोक्ष अर्थ का वाचक है । त्वदर्थ (तेरे) रूप से प्रसिद्ध हम, यह अर्थ है । तुझ-परमेश्वर के अपने सेवक—जो तेरे ही परायण-त्वन्मय-शरणागत-सदाचारी भक्त हम हुए हैं—इसलिए हमारे मनकी सजातीय वृत्तियों का प्रवाह—तेरे ही अभिमुख—अनन्यप्रेम से भरा हुआ—तेरे में ही एकतानरूप हुआ—समस्त-कल्याणों का साधक—सदा प्रवर्तमान हो रहा है, अहो ! (हर्ष अर्थ में) आप के अनुग्रह का बोधक-यह हमारा अच्छा सौभाग्य है, उसका क्या हम वर्णन करें ? यह आशय है। तथा च नैयायिकशिरोमणि होते हुए भी भक्तप्रवर श्रीमान्-उदयनाचार्य्य कहते हैं—'हे स्वभाव से सुन्दर ! भगवन् ! हमारा तो चित्त बहुत समय से तेरे में ही निमग्न हो रहा है, तथापि हे आनन्दनिधे ! तेरा वह स्वरूप, अब तक इस चित्त को स्पष्ट-अपरोक्षरूप से नहीं दिख रहा है । इसलिए हे नाथ ! ऐसी आप शीघ्र ही कृपा करें, कि—जिस से यह चित्त (तेरा साक्षात्कार कर) तेरे साथ एकात्मता को प्राप्त कर लेवे, ऐसा होने पर पुनः यम-सम्बन्धी सैंकडों-यातना-पीडाओं को हम न प्राप्त होंगे ।' इति । इस प्रकार उसके स्वरूप का साक्षात्कारपूर्वक उसमें आत्मभाव से विलय की प्रार्थना का अन्यनिगम (वेदमन्त्र) भी प्रख्यापन करता है—'(हे विभो !) पवित्र एवं शान्त मन वाला हो कर सत्य-आनन्द-रूप आप का मैं कब साक्षात् दर्शन करूँगा ? ।' और 'सर्वजन-वरणीय-अनन्तानन्दसागररूप आप वरुण-देव में कब मैं अन्तर्भूत-तदात्मभूत-हो जाऊँगा?' इति । यह अर्थ है—सर्व जनों से वरण (स्वीकार) करने योग्य-सत्य-आनन्द के भण्डार-भगवान्-वरुण के शीघ्र ही दर्शन करने की इच्छा करता हुआ, और उसमें ही जल्दी अपने अन्तर्भाव की कामना करता हुआ कोई ऋषि-भक्त इस मन्त्र से वितर्क करता है—सुमना यानी

नमनस्कः सन्, एकाग्रत्वनिर्मलत्वानन्यभक्तिरसपूर्णत्वादिकमेव मनसि शोभनत्वम्। अहं कदा=कस्मिन् समये, मृळीकं=सुखरूपं सुखयितारं वा सर्वात्मानं सर्वेश्वरं भवन्तं, अभिख्यम्=अभिपश्येयम्। तथा कदा नु=खलु तस्मिन्नेव पूर्णाद्वैतसुखसागरे वरुणे देवे सपदि, अन्तः भुवानि=अन्तर्भूतस्तदेकात्मभावापन्नो भविष्यामीत्यर्थः। अतः त्वदन्यः=त्वत्तोऽन्यः कश्चिदपि पदार्थः, गिरः=वाणीः—स्तुतिप्रार्थनारूपा अस्मदीयाः, कर्मपदमिदं द्वितीयाबहुवचनम्, नहि सघत्=नहि प्राप्नोति। अर्थात् त्वां सर्वलोकमहेश्वरं निखिलोत्तमतमं पूर्णानन्दपाथोनिधिमन्तर्यामिणं सर्वशक्तिमन्तं स्वात्मभूतं भगवन्तं विहाय सर्वेभ्यो विषयेभ्यो निस्पृहाः सन्तो वयं नान्यं कमपि पदार्थं प्रार्थयामहे—कामयामहे, अतोऽस्मदीया स्तुतिप्रार्थनादिज्ञापनपरा वाणी कदापि नान्यगामिनी भवति। वाणी इति मनश्चक्षुरादेरप्युपलक्षणम्। अन्यान्यपीन्द्रियाणि त्वां विहाय नान्यमधिगन्तुमुत्सहन्ते इति भावः। तदेतन्निगमान्तरेणाप्युक्तम्—'वयं घा ते त्वे इद्धिन्द्र! विप्रा अपि ष्मसि। नहि त्वदन्यः पुरुहूत! कश्चन मघवन्नस्ति मर्डिता॥' (ऋ. ८।६६।१३) इति। अयमर्थः—हे इन्द्र! हे पुरुहूत! हे मघवन्! वयं घा—घ=खलु, ते=तव, स्वभूताः शरणापन्नाः विप्राः=मेधाविनः तत्त्वदर्शिनः सन्तः, अपि संभावनायाम्, त्वे=त्वयि—अन्तरात्मनि, इत्=एव स्मसि—संलग्नचित्ताः स्मः—भवाम इत्यर्थः।

शोभन मन वाला हो कर—एकाग्रत्व, निर्मलत्व-अनन्यभक्तिरसपूर्णत्व-आदिक ही मन में शोभनत्व है—किस समय मैं मृळीक—यानी सुखरूप या सुखकारी सर्वात्मा-सर्वेश्वर आप को सर्व तरफ से सदा देखूँगा। तथा निश्चय से कब, उस पूर्ण-अद्वैत-सुखसागररूप अन्तर्यामी वरुणदेव में शीघ्र ही अन्तर्भूत यानी उसके आत्म-भाव को प्राप्त होऊँगा। इति। इसलिए तुझ-परमात्मा से अन्य कोई भी पदार्थ, हमारी-स्तुति प्रार्थनारूपा वाणी को नहीं प्राप्त होता है। 'वाणी.' यह कर्मपद है, द्वितीया-विभक्ति का बहुवचन है। अर्थात्—सर्व लोक-महेश्वर-सर्व से अत्यन्त-उत्तम पूर्णानन्द-सागर-अन्तर्यामि-सर्वशक्तिमान्—अपने ही आत्मस्वरूप-तुझ-भगवान् को छोड़ कर—सभी विषयों से निःस्पृह हुए हम-अन्य किसी भी पदार्थ की-प्रार्थना—कामना नहीं करते हैं, इसलिए स्तुति-प्रार्थना आदि का बोधन कराने वाली हमारी वाणी कदापि (किसी समय में भी) अन्यगामिनी नहीं होती है। 'वाणीः' यह पद मनः, चक्षु आदि का उपलक्षण है। अन्य-इन्द्रियाँ भी तुझ को छोड़ कर अन्य को जानने या प्राप्त करने के लिए उत्सहित नहीं होती हैं, यह भाव है। यही अन्य-निगम से भी कहा गया है—'हे इन्द्र! हे पुरुहूत! (बहुतों से बुलाने योग्य) हे मघवन्! (अनन्तैश्वर्यसम्पन्न) निश्चय से हम तेरे ही अपने आत्मरूप हैं। इसलिए हम विप्र यानी तत्त्वदर्शी हुए-तुझ-अन्तरात्मा में ही संलग्न—तदाकार होते हैं। क्योंकि—तुझ से अन्य कोई भी पदार्थ सुखरूप या सुखकर नहीं है।' इति। यह अर्थ है—हे इन्द्र! हे पुरुहूत! हे मघवन्! हम, घा यानी घ-खलु-निश्चय से, तेरे ही स्वरूप हैं, तेरे ही शरण को प्राप्त हुए हैं। तत्त्वदर्शी-मेधावी हुए—हम—'अपि' शब्द संभावना अर्थ में है—तुझ-अन्तरात्मा में ही-संलग्न-चित्त वाले होते हैं। अन्य-पदार्थों को छोड़

अन्यान् विहायेन्द्रे परमात्मन्येव स्वस्वरूपे पूर्णाद्वैते सुखसिन्धौ वर्तामहे इति यावत्। यतस्त्वदन्यः कश्चनाऽपि पदार्थो मर्डिता=सुखयिता-सुखकरः सुखरूपो वा नास्ति इति।

अतस्त्वं नः=अस्माकं अनन्ययोगेन विहितं त्वत्स्तुतिजपादिलक्षणं वचः प्रतिहर्य=स्वीकुरु, क्षोणीरिव, यथा क्षोणी=पृथिवी स्वकीयानि स्वविकाराणि भूतजातानि स्वस्यामेव स्वीकरोति, तथा तावकीनं सर्वं तुभ्यमेव समर्पितं त्वय्येव स्वीकृतं भवत्विति भावः। यद्वा तद्वचः='त्वच्चिन्तनपरा वयं त्वयैव पूर्णात्मना साकमेकात्मतामाप्नुयाम, इति प्रार्थनालक्षणं नः=अस्माकं तद्वचनं-क्षोणीरिव=यथा क्षोणी स्वस्मादुत्पन्नं सर्वं पार्थिवं कार्यजातमन्ते स्वस्मिन्नेवोपसंहरति, तथा त्वमप्यस्मान् त्वदंशभूतान् सयुजः सखीन् सुपर्णान् त्वयि सर्वात्मनि-उपसंहर अभेदेन संगमय, एवं कृत्वा त्वं-प्रतिहर्य स्वीकृत्य सत्यं सफलं विधेहीत्याशयः। तदेतत् ऋगन्तरमप्याह-'आ त्वा विशन्त्विन्दवः समुद्रमिव सिन्धवः। न त्वामिन्द्रातिरिच्यते॥' (ऋ. ८।९२।२२) इति। अयमर्थः-हे इन्द्र=परमात्मन्! इन्दवः=इन्दुवत् प्रशान्ता वीतरागाः तेजस्विनः तत्त्वदर्शिनो मुनयः संन्यासिनः, त्वा=त्वां सत्यानन्दनिधिं शुद्धस्वरूपं, आ विशन्तु=सर्वतः प्रविशन्तीत्यर्थः-उपाधिपरित्यागेन प्रविष्टा इव तद्रूपा भवन्तीति यावत्। तत्र दृष्टान्तः-सिन्धवः=स्यन्दमाना गङ्गाद्या नद्यो यथा समुद्रं सर्वतः

कर इन्द्र परमात्मा-जो पूर्ण-अद्वैत-सुखसागर-अपना ही स्वरूप है-उस तुझ में ही हम वर्तते हैं, यह भाव है। क्योंकि-तुझ से अन्य कोई भी पदार्थ सुखकारी या सुखरूप नहीं है। इति।

इसलिए-अनन्य-योग से उच्चारण-किये गए-तुम्हारी स्तुति-जप आदिरूप हमारे वचन को तू 'पृथिवी की भाँति' स्वीकार कर। जैसे पृथिवी अपने विकार-कार्यरूप-भूतसमुदायों को अपने में ही स्वीकार करती है। वैसे तेरा ही यह-सब, तेरे लिए ही समर्पित हुआ, तुझ में ही स्वीकृत होओ, यह भाव है। यद्वा 'तेरे ही चिन्तन के परायण हुए हम तुझ पूर्णात्मा के साथ एकात्म-भाव को प्राप्त होवें' इस प्रकार की प्रार्थना वाले हमारे इस वचन को-पृथिवी की भाँति-जैसे भूमि, अपने से उत्पन्न हुए-सब पार्थिव-कार्यसमुदाय को-अन्त में अपने में ही उपसंहार-विलय कर देती है, वैसे तू भी तेरे ही औपाधिक-अंशभूत-सदा तुझ से ही संयुक्त रहने वाले-सखा-सुपर्णरूप हम को-तुझ सर्वात्मा में उपसंहार कर-अभिन्न कर दे-ऐसा करके-स्वीकार करके सत्य-सफल बना, यह आशय है। वही यह-अन्य ऋग्मन्त्र भी कहता है-'जैसे नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट हो कर तद्रूप हो जाती हैं, वैसे इन्दु-चन्द्र के समान शान्त-प्रसन्न ज्ञानवान् भक्त तुझ परमात्मा में प्रविष्ट हो कर तद्रूप बन जाते हैं, क्योंकि-हे इन्द्र! वस्तुतः तुझ से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।' इति। यह अर्थ है-हे इन्द्र! परमात्मन्! इन्दु के समान प्रशान्त-वीतराग-तेजस्वी-तत्त्वदर्शी-मुनि-संन्यासी, सत्यानन्दनिधि-शुद्धस्वरूप-तुझ में ही सर्व तरफ से प्रविष्ट हो जाते हैं, अर्थात्-उपाधि के परित्याग द्वारा प्रविष्ट-से हुए-तद्रूप हो जाते हैं। उसमें दृष्टान्त-जैसे बहने वाली गंगा आदि नदियाँ, सर्व तरफ से समुद्र में

प्रविशन्ति, पूर्वमपि ताः समुद्रजलरूपाः सत्यः तत्रैवाविशन्त्यः तद्रूपा भवन्तीति यावत्; तद्वत्। यत एवं तस्मात् हे इन्द्र! त्वां सर्वाधिष्ठानं कश्चिदपि जडो वा चेतनो वा पदार्थो, नातिरिच्यते=अतिक्रम्य न वर्तते—वस्तुतः त्वत्तो नातिरिक्तः पृथग्भूतोऽस्तीत्यर्थः। तदेतत्स्मरति भगवान् व्यासोऽपि—'त्वत्तः परं नापरमप्यनेजदेजच्च किञ्चिद्व्यतिरिक्तमस्ति।' (भा. ७।३।३२) इति। यद्वा हे इन्द्र! त्वदन्यः=त्वत्तो व्यतिरिक्तो देवः, गिरः=अस्मदीयानीमानि परिमितानि वचांसि न हि सघत्=न खलु सहते। स्तुत्यस्य तव महिम्नो निरवधित्वादस्मदीयानां स्तुतिवचसामत्यल्पत्वाच्च तादृग्वचस्त्वयैव सह्यत इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः क्षोणीरिव=क्षोणय इव। क्षोणीशब्देनात्र प्रजा विवक्ष्यन्ते। प्रजा राज्ञो धार्मिकस्य यद्यद्योग्यमयोग्यं वा विज्ञापयन्ति, तत्सर्वं सः प्रजावत्सलो राजा यथा सहते, तद्वत् इत्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात् नः अस्माकं तादृक् वचः प्रतिहर्य=प्रतिकामय। (सघत् अत्र सहेर्लेटि अडागमः, वर्णविपर्ययेण हकारस्य घकारः) इति।

प्रविष्ट हो जाती हैं, प्रथम भी वे नदियाँ समुद्र-जलरूप हुई, उसमें ही प्रविष्ट-होती हुई-तद्रूप हो जाती हैं, तद्वत्। जिस कारण से ऐसा है, इसलिए हे इन्द्र! सर्वाधिष्ठानरूप-तुझ का कोई भी जड या चेतन पदार्थ-अतिक्रमण कर नहीं रहता, अर्थात् तुझ से वस्तुतः कोई भी पदार्थ-अतिरिक्त-पृथक् रूप नहीं है। वही यह भगवान् व्यास भी श्रीमद्भागवत में स्मरण करता है—'तुझ परमात्मा से कोई भी पर-कारणरूप एवं अपर-कार्यरूप, तथा अचल-निराकाररूप एवं चलायमान-साकाररूप पदार्थ व्यतिरिक्त नहीं है।' इति। यद्वा हे इन्द्र! तुझ से अन्य देव, हमारे इन-परिमित-वचनों को नहीं सहन करता है। आप स्तुत्य-की महिमा अवधिरहित है, और हमारे स्तुतिरूप वचन अति अल्प हैं, इसलिए इस प्रकार का वचन तू ही सहन करता है, यह भावार्थ है। उस में दृष्टान्त—क्षोणी की तरह। क्षोणी शब्द से यहाँ प्रजा विवक्षित हैं। धार्मिक-राजा के प्रति उसकी प्रजा जो-जो कुछ योग्य या अयोग्य का विज्ञापन करती हैं, उस सब का जैसे प्रजावत्सल-राजा सहन करता है, तद्वत्, यह अर्थ है। जिस कारण से ऐसा है, इसलिए हमारे वैसे वचन का तू ही स्वीकार कर, कामना कर। इति।

(२१)

(निर्मलयैकाग्र्यया सद्बुद्ध्या भगवान् प्रत्यक्षो भवति)

(निर्मल-एकाग्र-सद्बुद्धि के द्वारा ही भगवान् प्रत्यक्ष होता है)

एक एव महेन्द्रो विश्वेश्वरो विष्णुः सकामेभ्यो भक्तेभ्यः कामानां, निष्का-

एक ही महान् इन्द्र विश्वेश्वर विष्णु है, वह सकाम-भक्तों के लिए उनके इष्ट-कामों का वर्षक-समर्पक है, और निष्काम भक्तों के लिए अपने

१ चरामसीत्यत्र 'इदन्तो मसि.' 'सघत्' इत्यत्र 'षघ हिंसायां धातुः' परन्तु धातूनामनेकार्थत्वादत्र प्राप्त्यर्थो विहेय', लेट्यडागमः, बहुलं छन्दसीति विकरणस्य लुक्, क्षोणीरिवेत्यत्र 'हन्स्याभ्यः' इति सुलोपाभावश्छान्दसः।

मेभ्यः स्वसाक्षात्कारेण मोक्षामृतस्य च वर्षकत्वेन वृषभशब्दप्रतिपाद्यः, सर्वलोकगुरुत्वपितृत्वसर्वगतत्वादिप्रयुक्तसर्वाभ्यधिकोत्कर्षवत्त्वेन नमस्कार्यश्च भवति, स एव निर्मलयैकाग्र्ययाऽखण्डतदाकारया बुद्ध्या साक्षात्कृतो भवतीति प्रतिपादयितुं श्रोतृणामथ चाध्येतृणां प्ररोचनया तदाभिमुख्यञ्च विधातुं मन्त्रदृक् तं स्तौति—

साक्षात्कारद्वारा मोक्षामृत का वर्षक है, इस लिए वह वृषभ शब्द से प्रतिपाद्य है। वह सर्व लोगों का गुरु है, पिता है, एवं सर्वगत है, इत्यादि कारणों से वह सर्व से अतिशय-अधिक-उत्कर्ष वाला है, इस लिये वह नमस्कार करने योग्य है। उसका निर्मल-एकाग्र—अखण्ड-तदाकार बुद्धि द्वारा ही साक्षात्कार होता है, ऐसा प्रतिपादन करने के लिए, प्ररोचना (अभिरुचि) द्वारा श्रोताओं की एव अध्ययन करने वालों की उसके प्रति अभिमुखता करने के लिए मन्त्रद्रष्टा-ऋषि उसकी स्तुति करता है—

ॐ त्वमग्न ! इन्द्रो वृषभः सतामसि, त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते ! त्वं विधर्तः ! सचसे पुरन्ध्या ॥

(ऋग्वेद मण्ड २ सूक्त. १ ऋक् ३)

'हे अग्ने ! परमात्मन् ! तू इन्द्र है—अनन्त-ऐश्वर्यों से सम्पन्न है, इसलिए तू सत्पुरुषो के लिए वृषभ है—अर्थात् उनकी समग्र-कामनाओं का पूरक है। तू विष्णु है—विभु-व्यापक है, इसलिए तू उरुगाय है—बहुतों से गाने-स्तुति करने के लिए योग्य है, एव नमस्कार्य है। हे ब्रह्म के पति ! तू ब्रह्मा है और रयि यानी समस्त-कर्मफलों का ज्ञाता एव दाता है। हे विधारक !—सर्वाधार ! तू पुरन्धि यानी पवित्र-एकाग्र बुद्धि से प्रत्यक्ष होता है।'

हे अग्ने !=हे परमात्मन् ! त्वं-सतां=सज्जनानां सदाचारसद्विचारपरायणानां कृते वृषभः=तदभीष्टानां पदार्थानां वर्षितासि, यद्वा वृषभः=सर्वाभ्यधिकोत्कर्षशालित्वेन त्वं माननीयो भवसि, अत इन्द्रोऽसि। अथवा सतां-साधूनामिन्द्रोऽसि=परमैश्वर्यसम्पादकोऽसि, अतस्त्वं वृषभः=श्रेष्ठो भवसि। त्वं विष्णुः=स्वसृष्टेषु कार्यकरणसंघातेषु जीवात्मना प्रवेशनात्, सकलविश्वव्यापनात्, विश्वरक्षाहेतवे चतुर्भुजनीलोत्पलश्यामलविग्रहधारणाच्च विष्णुरसि, अत

हे अग्ने ! हे परमात्मन् ! तू सदाचार एव सद्विचार के परायण रहने वाले सज्जनो के लिए वृषभ है यानी उनके अभीष्ट पदार्थों का वर्षक है—यद्वा वृषभ यानी सर्व की अपेक्षा अभ्यधिक-उत्कर्ष से सुशोभित होने के कारण माननीय है, इसलिये तू इन्द्र है। अथवा सत्पुरुष-साधुओ के लिए तू इन्द्र है—परमैश्वर्य का सम्पादक है, इसलिए तू वृषभ यानी श्रेष्ठ है। तू विष्णु है अर्थात् अपने से रचे हुए—कार्यकरण के समुदायरूप इन समस्त शरीरों में जीवात्मरूप से प्रवेश होने से, सकल विश्व में व्याप्त होने से, एव विश्व की रक्षा के लिए चतुर्भुज-नील-कमल के सदृश श्यामसुन्दर विग्रह का धारण करने से तू विष्णु है, इसलिए तू उरुगाय है, अर्थात्

उरुगायः=बहुभिर्गीयमानः-स्तुत्यः, नमस्यः=नमस्कार्यश्च भवसि। हे ब्रह्मणस्पते!=हिरण्यगर्भस्य सर्वभूतपतेरपि वेदस्य सर्वज्ञकल्पस्य वा पालयितः!। त्वं रयिवित्=शुभाशुभकर्मणां तत्फलतद्विनियोगयोश्च वेत्ताऽसि। यद्वा रयेः=लौकिकस्य गवादिलक्षणस्याऽलौकिकस्य स्वर्गादिरूपस्य पारमार्थिकस्य मोक्षसाधनरूपस्य वा धनस्य वित्=वेत्ता-दाताऽसि, अतस्त्वं ब्रह्मा=निरतिशयमहत्त्वोपेतो भवसि। हे विधर्तः! विविधविश्वधारक! विराट्मूर्ते! जगदीश्वर! त्वं पुरन्ध्या=निर्मलत्वैकाग्रत्वादिबहुशुभप्रकारवत्या बुद्ध्या सचसे=प्रत्यक्षीभवसि इत्यर्थः। तथा चाम्नायते—'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिरि'ति। (क. १।३। १२) ॥ इति।

बहुतों के द्वारा गाने योग्य, स्तुति करने योग्य एवं नमस्कार करने के लिए योग्य है। हे ब्रह्मणस्पते! यानी-सकल- भूतों का पति-हिरण्यगर्भ का, या सर्वज्ञ के सदृश-वेद का भी तू पालक है। तू रयिवित् यानी शुभाशुभ कर्मों का, उनके फलों का एवं उनके विनियोग का तू ज्ञाता है। यद्वा रयि यानी गवादिरूप लौकिक—स्वर्गादिरूप-अलौकिक-मोक्षसाधनरूप-पारमार्थिक-धन का तू दाता है, इसलिए तू ब्रह्मा है यानी निरतिशय-महत्त्व से संयुक्त है। हे विधर्तः! यानी विविध विश्व का धारक! विराट् मूर्तिरूप! जगदीश्वर! तू पुरन्धि से यानी निर्मलत्व-एकाग्रत्व आदि बहु-शुभ प्रकार वाली बुद्धि द्वारा प्रत्यक्ष होता है, यह अर्थ है। तथा च कठोपनिषत् में कहा है—'सूक्ष्म-तत्त्वदर्शी पुरुषों द्वारा अपनी तीव्र या एकाग्र सूक्ष्म-निर्मल बुद्धि से ही देखा जाता है।' इति।

(२२)

(भगवन्महत्त्वानुसंधानपूर्वकं भगवदुपासनं विधातव्यम्)

(भगवान् के महत्त्व का अनुसंधानपूर्वक ही भगवान् की उपासना करनी चाहिए)

यस्माद्ब्रह्मात्मतत्त्वविज्ञानं तत्फलश्च कैवल्यं परमं धाम भगवत्प्रसादैकलभ्यं, सोऽपि तदुपासनैकलभ्यः, तच्च तन्महत्त्वानुसन्धानैकसाध्यम्, तस्मात्स्वश्रेयःप्रेप्सुभिस्तन्महत्त्वानुसन्धानपुरस्सरं तदुपासनमेव सततं विधातव्यमित्युपासकप्रवृत्तिवर्णनमुखेन प्रतिपादयति—

जिस कारण से—ब्रह्म-आत्मा के तत्त्व का विज्ञान, और उसका फल कैवल्य-परमधाम, भगवान् की एकमात्र-प्रसन्नता के द्वारा ही लभ्य है। वह (भगवत्प्रसन्नता) भी उसकी एकमात्र-उपासना से लभ्य है। और उसकी उपासना, उसके महत्त्व के अनुसंधान से ही सम्पन्न होती है। इसलिए—अपने श्रेयःप्राप्ति की इच्छा वाले मुमुक्षुओं को—उसके महत्त्व का अनुसंधानपूर्वक-उसकी उपासना ही निरन्तर करनी चाहिए, ऐसा उपासकों की प्रवृत्ति के वर्णन द्वारा प्रतिपादन करता है—

ॐ प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये, सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्॥

(ऋग्वेदसंहि० मण्ड. १ सूक्त. ५७ ऋक्. १) (अथर्व. २०।१५।१)

'अपने-उपासक-भक्तों को अत्यन्त-अभीष्ट-पदार्थों का दान करने वाले–महान्-व्यापक-अपार-स्वतन्त्र-ऐश्वर्य वाले–सत्य-अनन्त-सामर्थ्य वाले–अतिप्रवृद्ध-त्रिभुवन-मूर्तिरूप-परमेश्वर के लिए मैं मन्त्र-द्रष्टा-ऋषि, उसके स्वरूप का ही मनन-चिन्तन-करने वाली–बुद्धि का भरण-सम्पादन-करता हूँ। जिस का महान् ऐश्वर्य 'नीचे-प्रदेश में बहने वाले जलप्रवाह के प्रचण्ड-वेग की भाँति' दुर्धर है यानी प्रतिरोध करने के लिए अशक्य है। उसका वह महान् ऐश्वर्य समस्त विश्व में व्याप्त है, ऐसा ऐश्वर्य, परमेश्वर ने उपासकों के लिए–विशिष्ट-बल की प्राप्ति के लिए खुला रक्खा है।'

मंहिष्ठाय=अतिशयेन मंहिता–मंहिष्ठः, (तुश्छन्दसीतीष्ठन् प्रत्ययः, तुरिष्ठेमेयःस्विति तृलोपः) तस्मै, मंहतिर्दानकर्मेति यास्कः, दातृतमाय–स्वोपासकेभ्योऽतिशयेन स्वप्रसादतल्लभ्यज्ञानाद्यभीष्टदानकर्त्रे इत्यर्थः। तथा च स्मर्यते–'भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' (गी. १०।१०) इति। पुनः कथंभूताय? बृहते=महते–व्यापकाय परिपूर्णायेत्यर्थः। पुनः कीदृशाय? बृहद्रये=अनवधिकस्वतन्त्रमहैश्वर्यायेत्यर्थः। सत्यशुष्माय=अवितथबलाय–अविनश्वरसामर्थ्याय–अनन्तपराक्रमाय पारमार्थिकासंगत्वनिर्विकारत्वादिना स्वस्वरूपावस्थितिसम्पादकबलशेवधये इति यावत्। तवसे=आकारतः प्रवृद्धाय त्रिभुवनवपुषे विराडाख्यविश्वमूर्तये इत्यर्थः। एवं गुणविशिष्टाय परमेश्वराय भगवते सर्वान्तर्यामिणे मतिं=तन्महत्त्वमननोपेतां वस्तुतत्त्वावधारणशीलां विशेषात्मिकामन्तःकरणवृत्तिं, अहं मन्त्रदृक् ऋषिः, प्र भरे=प्रकर्षेण सम्पादयामि–सम-

अतिशय से मंहिता मंहिष्ठ है। मंहति धातु का दानकर्म अर्थ है, ऐसा यास्क महर्षि निरुक्त में कहता है। मंहिष्ठ यानी दातृतम, अर्थात् अपने उपासकों के लिए अतिशय से अपनी प्रसन्नता एवं उससे लभ्य-ज्ञानादि-अभीष्ट-पदार्थों का दान-कर्ता। तथा च भगवान् ने गीता में स्मरण किया है–'प्रेमपूर्वक मुझे-भजने वाले भक्तों को मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि–जिस से वे मेरे को ही प्राप्त हो जाते हैं।' इति। पुनः वह कैसा है? बृहत् यानी-महान्-व्यापक-परिपूर्ण। पुनः वह किस प्रकार का है? बृहद्रि यानी अनवधिक-स्वतन्त्र-महान्-ऐश्वर्य से युक्त। सत्यशुष्म यानी अवितथ (पारमार्थिक) बल–अविनश्वर सामर्थ्य-अनन्त-पराक्रमयुक्त है अर्थात् पारमार्थिक-असंगत्व-निर्विकारत्व आदि द्वारा स्वस्वरूप में अवस्थिति का सम्पादक-बल का भण्डार है। तवस् यानी आकार से भी अत्यन्त-बढ़ा हुआ-त्रिभुवन-वपु-अर्थात् विराट् नाम की विश्वमूर्ति–रूप। इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट-भगवान्-सर्वान्तर्यामी-परमेश्वर के लिए-मति का अर्थात् उसके महत्त्व के मनन से संयुक्त-वस्तुतत्त्व का निश्चय करने का स्वभाव वाली-विशेषरूपा-तदाकार-अन्तःकरण की वृत्ति का मैं मन्त्रद्रष्टा-ऋषि प्रभरे-यानी प्रकर्ष-अतिशय से सम्पा-

र्पयामि विनिवेशयामीत्यर्थः । इदं सर्वं चराचरमन्तर्बहिर्ब्रह्मात्मना पूर्णमेवेति निश्चयवत्या मत्या तमेव प्रत्यगभिन्नं भगवन्तमभेदेन सन्ततमनुसंदधामीति यावत् । एवं भगवति मतिसन्निवेशमभिधाय भगवतः परमैश्वर्यं केनाप्यनभिभूतं सर्वोपरि शश्वद्वर्तमानं सदृष्टान्तमभिदधाति–यस्य महेश्वरस्य राधः=महदैश्वर्यं, शश्वत्सिद्धं दुर्धरं=अन्यैर्धर्तुमभिभवितुञ्चाशक्यम्, तत्र दृष्टान्तः–प्रवणे=निम्नप्रदेशे अपामिव=हिमगिरिजलानां महाप्रवाहवेगः केनाप्यवस्थापयितुं प्रतिरोद्धुञ्च न शक्यते तद्वत् । तत्कीदृशं राधः ? विश्वायु=विश्वस्मिन्–आयुः=गमनं प्राप्तिर्यस्य तद्विश्वायु=सर्वत्र सदा सच्चिदानन्दत्वादिना नियामकत्वोत्पादकत्वरक्षकत्वादिना निरुपाधिकं शुद्धं, सोपाधिकं विशिष्टञ्चैश्वर्यं सन्ततं वर्तते यस्येत्यर्थः । यद्वा विश्वायु=आयवो मनुष्याः विश्वेषां मनुष्याणां पोषणसमर्थं यस्य राध इति । (विश्वायु–इत्यत्र 'एतेश्छन्दसीणः' इति गुण् प्रत्ययः) तादृशमैश्वर्यं, शवसे=बलाय स्वोपासकानामनन्यगामिना चेतसा भगवन्तं भजतामात्मसाक्षात्कारप्रयोजकं विशिष्टं बलं सम्पादयितुमित्यर्थः । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुं. ३।२।४) इति श्रुतेः । येन कृपाशेवधिना भगवता अपावृतं आवृतमावरणं (भावे निष्ठा) अपगतमावृतमज्ञा-

दन करता हूँ–समर्पण करता हूँ–उसमें ही–उसका विनिवेश–स्थापन करता हूँ । 'यह समस्त चराचर विश्व बाहर–भीतर ब्रह्मात्मा से ही पूर्ण है' इस प्रकार के निश्चय वाली मति से उसी प्रत्यगात्मा से अभिन्न–भगवान् का ही अभेदभाव से निरन्तर अनुसंधान करता हूँ, यह भावार्थ है । इस प्रकार भगवान् में मति के सन्निवेश का कथन करके भगवान् का परम–ऐश्वर्य किसी से भी अभिभूत नहीं होता, किन्तु सर्व के ऊपर सदा वर्तमान रहता है, यह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं–जिस महेश्वर का राध यानी महान्–ऐश्वर्य शश्वत्–तीन–काल में भी जो सिद्ध रहता है, वह दुर्धर है यानी अन्यों के द्वारा धारण करने के लिए या अभिभव करने के लिए अशक्य है । उसमें दृष्टान्त–जैसे–प्रवण यानी निम्न नीचे प्रदेश में बहने वाले–हिमालय–पर्वत के जलों के महान् प्रवाह के–वेग को कोई भी स्थिर करने के लिए या प्रतिरोध करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है, तद्वत् । 'वह कैसा राध है ? विश्वायु है यानी विश्व में जिस का आयु–गमन–प्राप्ति है, अर्थात् सर्वत्र सदा जिस का सद्रूप–चिद्रूप–आनन्दादिरूप से निरुपाधिक–शुद्ध–एवं नियामकत्व–उत्पादकत्व–रक्षकत्व आदि से जिस का सोपाधिक–विशिष्ट–ऐश्वर्य, वर्तमान है । यद्वा आयु का अर्थ मनुष्य है, समस्त–मनुष्यों के पोषण के लिए समर्थ जिस का ऐश्वर्य है । इस प्रकार का ऐश्वर्य, शवसे यानी बल के लिए अर्थात् अनन्यगामी–चित्त से भगवान् को भजने वाले–अपने–उपासकों को–आत्मसाक्षात्कार का प्रयोजक विशिष्ट–बल का सम्पादन कराने के लिए–जिस कृपानिधि भगवान् ने अपावृत यानी प्रतिबन्धरहित किया है । वस्तु–साक्षात्कार का प्रतिबन्धक–अज्ञानादिरूप आवृत–यानी आवरण है, वह अपगत–दूर हो गया है जिस से, वह अपावृत ऐश्वर्य है जिस परमेश्वर का, ऐसा

नादिरूपं वस्तुसाक्षात्कारप्रतिबन्धकं यस्माद्यदपावृतं क्रियत इत्यर्थः। यस्य परमेश्वरस्येति पूर्वेणान्वयः।

[पूर्वं विस्तरतो भगवदुपासनादिकमुपदिष्टं संप्रति विविधनामरूपादिभिरेक एव परमेश्वरः सर्वानुगतोऽवगतो भवतीत्युपदिशति।]

पूर्व से अन्वय है। मुण्डक श्रुति भी कहती है—'इस आत्मा को बलहीन-मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता है।' इति।

[प्रथम विस्तार से भगवान् की उपासना आदि का उपदेश दिया, अब विविध नाम-रूप आदिओं से भी सर्वानुगत-एक ही परमेश्वर जाना जाता है, ऐसा उपदेश करते हैं]

(२३)

(एक एव परात्मा विविधनामभिरवगतो भवति विविधदेवतात्मना च प्रतिभाति)

(एक ही पर-आत्मा-विविध नामों से जाना जाता है तथा विविध-देवतारूप से प्रतिभासित होता है)

यस्मादेक एव महान् परमात्मा स्वविषयाश्रयाऽनादिमायया शुद्धसत्त्वप्राऽचिन्त्यलीलया कल्पितानि दिव्यानि नानानामानि रूपाण्याकाराणि चापन्नः सन् बहुधा प्रतीयते, तस्मादात्मैवास्ति विविधनामभिरवगतः सर्वदेवतात्मकः, सर्वा देवता चात्मैवेति निश्चित्य सर्वात्मभावनया सर्वदेवमयः परिपूर्णो भगवानेव समुपासनीयः। अथ च यथाऽनेकाभिधानैः प्रतिपादितमेकं वस्तु नानेकत्वेन जानन्ति लोकाः, यथा च प्राणिनः स्वाङ्गानि शिरःपाण्यादीनि क्वचिदपि परकीयबुद्ध्या न पश्यन्ति। तथैव विपश्चितः तत्त्वदर्शिनो महात्मानो विश्वात्मनो भगवतोऽनेकनामभिरनेकत्वं नावगच्छन्ति। पूर्णाद्वैते तस्मिन्नेव परब्रह्मण्यनन्यत्वेन स्थितानां देवानां पार्थक्यञ्च

जिस कारण से—एक ही महान् परमात्मा, अपने को विषय करने वाली—अपने ही आश्रय में रहने वाली—शुद्ध-सत्त्वगुण वाली—अचिन्त्य लीला वाली—अनादि माया से कल्पित-अनेक नामों को तथा अनेक-दिव्य-रूप-आकारों को प्राप्त हुआ बहु प्रकार से प्रतीत होता है। इसलिए—'आत्मा ही विविध नामो से अवगत होता है, वह सर्व देवतारूप है, सभी देवता आत्मा ही हैं' ऐसा निश्चय करके सर्वात्म भावना से सर्वदेवमय-परिपूर्ण-भगवान् की ही सम्यक्-उपासना करनी चाहिए। और जैसे अनेक-नामो से प्रतिपादन की हुई-एक वस्तु अनेक रूप से लोक नहीं जानते हैं, तथा जैसे प्राणी, अपने-शिर-हस्त आदि-अङ्गों को कहीं भी परकीय (ये दूसरे के हैं ऐसी) बुद्धि से नहीं देखते हैं। वैसे ही तत्त्वदर्शी विद्वान्-महात्मा अनेक नामों से विश्वात्मा भगवान् को अनेक नहीं जानते है। उसी ही पूर्णाद्वैत-परब्रह्म में अनन्यरूप से अवस्थित-देवों का पृथक्त्व किसी भी प्रकार से नहीं देखते हैं। इसलिए भगवद्भक्तों को अनेक-नामों

कथमपि नेक्षन्ते; अत एव भगवद्भक्तैर्विविधाभिधानैरवगते भगवति तदङ्गभूतासु देवतासु च न भेदभावो विधातव्य इत्यभेदभावनावतां परमाप्तानां विदुषां सम्मतिप्रदर्शनमुखेन लोककल्याणावेदको भगवान् वेद ऐकात्म्यं तत्त्वं समुपदिशति—

से अवगत-भगवान् में तथा भगवान् के अंगरूप देवताओं में भेदभाव नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अभेदभावना वाले—परम प्रामाणिक-विद्वानों की सम्मति के प्रदर्शन द्वारा लोककल्याण का बोधक-भगवान् वेद एकात्म-तत्त्व का सम्यक् उपदेश देता है—

ॐ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वद-न्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋग्वेद० मण्ड. १ सूक्त० १६४ ऋच ४६) (अथर्व. ९।१०।२८) (नि. ७।१८)

'तत्त्वदर्शी विप्र—उस एक ही परब्रह्म को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, आदि नामों से कहते हैं, तथा वही दिव्य-सुपर्ण एव गरुत्मान् है। एक ही सत्-ब्रह्म को बहु प्रकार से कहते हैं। वह अग्नि, यम एवं मातरिश्वा है, ऐसा कहते हैं।'

अमुमखिलेश्वरं परमात्मानमिन्द्रं=दिव्यैश्वर्यविशिष्टत्वादेतन्नामकमाहुः=कथयन्ति, विप्राः=विद्वांसः। तथा मित्रं=प्रमीतेः-मरणान्मृत्युयुक्तसंसारसागरात्त्रातृत्वात्समुद्धर्तृत्वादेतन्नामकं देवमाहुः। तथा वरुणं=स्मरणादिना पापस्य संतापस्य च निवारकत्वात्तन्नाम्ना तमेतं देवमाहुः। तथा—अग्निं=अङ्गनाग्रणीत्वादिगुणसंयुक्तत्वात्तन्नामकमाहुः। अथो=अपि च, अयमेव भगवान् दिव्यः=दिविभवत्वादलौकिकसच्चरितधामा, तथा सुपर्णः=सु—शोभनानि—पर्णानि—पतनानि तदुपलक्षितानि चेष्टाविशेषप्रभवाणि लोकोत्तराणि—दिव्यानि स्तुत्यानि कार्याणि यस्य सः। यद्वा शोभनानि—पर्णानि=पूर्णानि—सच्चिदानन्दादीनि लक्षणानि यस्य सः सुपर्णः। वर्णविकारनाशादेर्निरुक्तलक्षणत्वा-

इस अखिलेश्वर-परमात्मा को विप्र यानी विद्वान्, दिव्य ऐश्वर्यों से विशिष्ट होने से 'इन्द्र' इस नाम से कहते हैं। तथा मित्र यानी-प्रमीति-मरण से-अर्थात् मृत्युयुक्त संसारसागर से रक्षा करता है, सम्यक् उद्धार करता है, इसलिए उस देव-परमात्मा को मित्र कहते हैं। तथा स्मरण आदि द्वारा पाप एवं संताप का निवारक होने से वरुण नाम से उस देव को कहते हैं। तथा—अगन (रोचन)त्व-अग्रणीत्व आदि गुणों से सयुक्त होने से अग्नि नाम से उसीको ही कहते हैं। अथ यानी अपि च—और यही भगवान् दिव्य है यानी दिव्-स्वर्ग में विद्यमान होने से—अलौकिक-सच्चरित्रों का भण्डार है। तथा वह सुपर्ण है, सु यानी शोभन, पर्ण यानी पतन, उससे उपलक्षित—चेष्टाविशेष से उत्पन्न-लोकोत्तर (अलौकिक) दिव्य-स्तुत्य कार्य हैं जिस के, वह सुपर्ण है। यद्वा शोभन-पर्ण यानी पूर्ण-सच्चिदानन्दादि-लक्षण हैं जिस के वह सुपर्ण है। वर्ण का विकार, वर्ण का नाश आदि निरुक्त का लक्षण है ऐसा माना गया है, इसलिये सुपर्ण के पर्ण का

भ्युपगमात् पूर्णस्य पूर्णत्वम्। तथा गरुत्मान्-गुरुभूत आत्मा। तदुक्तं-निरुक्ते 'गरुत्मान्-गुर्वात्मा महात्मेति वेति' (७।१८)। अथवा गरणात्=प्रलये सर्वस्य स्वस्मिन्नुपसंहर्तृत्वात् गरुत्मान्-सर्वलयाधारो भगवान्, यः सोऽप्ययमेव। कथमेकस्य नानात्वम्? इति-उच्यते-अमुमेव परमेश्वरमेकमेव वस्तुतः सत्=सन्तं विप्राः=मेधाविनः तत्त्वविदः, बहुधा=बहुभिः तत्तद्दिव्यगुणकर्मभेदविहितैर्नामभिः शुद्धसत्त्वप्रभवैर्भूयोभिः साकारदिव्यविग्रहैर्वा हेतुभिः कृत्वा बहुधा वदन्ति=प्रतिपादयन्ति, एक एव महानात्मा परा देवता इन्द्रादिविविधनामरूप इत्याचक्षते। किञ्च तमेव वृष्ट्यादिप्रयोजकत्वाद्वैद्युताग्निं, स्वर्गनरकादिफलप्रदातृत्वान्नियन्तारं यमं, मातरिश्वानं=मातरि-अन्तरिक्षे श्वसन्तं-स्वच्छन्दं विचरन्तं-वायुमाहुः। अनेन परब्रह्मणोऽनन्यत्वेन सार्वात्म्यमुक्तं भवति। तथा च स्मर्यते राजर्षिणा मनुनापि-'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्। आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥' (मनु. १२।११९) 'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥' (म. स्मृ. १२।१२३) इति। शिष्टैरेवमन्यत्राप्यभिधीयते-'रामेन्द्रकृष्णहरिशम्भुशिवादिशब्दाः' ब्रह्मैकमेव सकलाः प्रतिपादयन्ति। कुम्भो घटः कलश इत्यभिशस्यमानो नाणीयसी-

पूर्णत्व समझना चाहिए। तथा गरुत्मान्-यानी गुरुभूत आत्मा। वह निरुक्त में कहा है-'गरुत्मान्-गुरु-आत्मा या महान्-आत्मा है।' इति। अथवा गरण से यानी प्रलय में सर्व का अपने में उपसंहार करने से गरुत्मान्-सर्व लय का आधार भगवान् जो है, वह भी यह है। एक का नानात्व कैसे है? इस प्रश्न का समाधान कहते हैं-इसी ही वस्तुतः एक ही विद्यमान हुए परमेश्वर को विप्र यानी तत्त्ववित्-मेधावी, उस-उस दिव्य-गुणकर्मों के भेद से किये हुए-अनेक-नामों से या शुद्ध सत्वगुण से समुत्पन्न-अनेक-साकार दिव्य विग्रह-रूप हेतुओं से करके बहु-प्रकार से कहते हैं-प्रतिपादन करते हैं। 'एक ही महान् आत्मा परा देवता इन्द्रादि विविध नामरूप वाला है' ऐसा कहते हैं। और उसको ही वृष्टि आदि का प्रयोजक होने से वैद्युत-अग्नि, स्वर्ग-नरकादि फल का प्रदाता होने से नियन्ता-यम, एवं मातरि यानी अन्तरिक्ष में श्वसन् यानी स्वच्छन्द विचरने वाला-मातरिश्वा वायु-कहते हैं। इस कथन द्वारा अनन्यत्वरूप हेतु से परब्रह्म का सर्वात्मत्व कहा जाता है। तथा च राजर्षि-मनु भी स्मरण करता है-'आत्मा ही सकल देवता है, सब कुछ आत्मा में ही अवस्थित है। इन शरीर धारियों के कर्मयोग को आत्मा ही उत्पन्न करता है।' 'इस परमात्मा को कुछ लोग-अग्नि नाम से कहते हैं, दूसरे लोग मनु एवं प्रजापति नाम से कहते हैं, कुछ-एक इन्द्र नाम से, अन्य, प्राण नाम से एवं इनसे भिन्न लोग, शाश्वत ब्रह्म नाम से कहते हैं।' इति। इस प्रकार अन्य-ग्रन्थ में शिष्ट-प्रामाणिक विद्वान् भी कहते हैं-'राम, कृष्ण, हरि, शम्भु, शिव, आदि समस्त शब्द, एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। कुम्भ, घट, कलश, आदि भिन्न भिन्न नामों से कहा गया एक ही पदार्थ, अणुमात्र भी

मपि भिदां भजते पदार्थः ॥' इति। 'ब्रह्मेति शङ्कर इतीन्द्र इति-स्वराडित्यात्मेति सर्वमिति सर्वचराचरात्मन् ! । विश्वेश ! सर्ववचसामवसानसीमां त्वां सर्वकारणमुशन्त्यनपायवाचः ॥' इति ।

भिन्न—अनेक—नहीं होता है।' इति। 'हे सर्वचराचरात्मन् ! हे विश्वेश ! ब्रह्म, शङ्कर, इन्द्र, स्वराट्, आत्मा, सर्वम् इत्यादि नामों से अपाय-ध्वंसरहित शाश्वत वेदवाणी, समस्त वचनों के पर्यवसान की सीमारूप-सर्व कारणरूप-आप का ही प्रतिपादन करना चाहती हैं।' इति ।

(२४)

(भक्तानुग्राही भगवान् भक्तेप्सितं तेभ्यः सर्वं वितरति)

(भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने का स्वभाव वाला-भगवान् भक्तों से अभिलषित सब कुछ उन को प्रदान करता है)

ये खलु पापात्कर्मणो वचनान्मानसाच्च निवृत्ताः शुचिचरिताः सन्तः सर्वतोभावेन भगवत्येव हृदयाभिरतिराभस्यं संयोज्य सपरिवारा मधुस्फीताभिः स्तुतिभिः प्रत्यहं तं समुपासते, त एव ननु मनुजजन्मनः साफल्यं विदधते। तदीयदिव्यातिदिव्यगुणानां स्तुतिभिः पुनः पुनरनुसरणे कृते किमपि सुखविशेषमनुभावयन्तः प्रीत्यपरपर्यायाभिरतिशब्दवाच्या भगवदेकतानतालक्षणा अन्तःकरणवृत्तिविशेषाः प्रादुर्भवन्ति। ते चानुदिनं समेधमानाः कर्मसमभिहारेण तदितरभावनाः तिरस्कुर्वाणा भगवत्येव निश्चलतां गताः परमप्रेमलक्षणं बोधं समुद्भावयन्ति। तेनैव किल मुक्तिः कर-

जो पाप-कार्य से, पापरूप-अनृतादि वचन से एवं पाप-संकल्प से निवृत्त हो कर पवित्र-चरित्र हुए सर्व-प्रकार से भगवान् में ही हृदय की अभिरति (परम प्रेम) के वेग को संलग्न करके परिवारसहित-मधुरता से सुन्दर-हुई-स्तुतिओं के द्वारा प्रतिदिन उस-परमात्मा की सम्यक् उपासना करते हैं। वे ही निश्चय से मनुष्य-जन्म को सफल बनाते हैं। उस परमात्मा के दिव्य से भी अति दिव्य-गुणों का स्तुतियों के द्वारा बार बार अनुसरण करने पर—भगवान् में ही एकतानता के लक्षण वाली—जो अवर्णनीय सुखविशेष का अनुभव कराती हैं—प्रीति है अन्य नाम जिस का, ऐसी अभिरति शब्द का वाच्यरूप—अन्तःकरण की विशेष-वृत्तियाँ प्रादुर्भूत हो जाती हैं। वे प्रतिदिन अच्छी प्रकार से बढती हुई पुनः पुनः भगवद्भावना से अन्य भावनाओं का तिरस्कार करती हुई भगवान् में ही निश्चलता को प्राप्त हुई-परमप्रेमरूप-बोध को सम्यग् उत्पन्न कर देती हैं। उस बोध से ही मुक्ति 'हस्त में अवस्थित-आमले की भाँति' प्रत्यक्ष—प्राप्त हो जाती है। 'अन्यथा—यानी आविद्यक-परिच्छिन्न-

कमलामलकीयति । 'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' (२।१०।६) इति श्रीमद्भागवते द्वितीये श्रीशुकदेवो मुक्तिस्वरूपं प्रत्यपीपदत् । तथा च भगवदनुरक्तिप्रधानया तत्स्तुत्या परमपुमर्थं मोक्षमवाप्तवतां भक्तानां कृतेऽर्थकामादीनां गौणपुमर्थानां सम्पादने कोऽतिप्रयासः स्यात् ? अपि चानीप्सितास्ते स्वत एव तत्कृपया सिद्ध्यन्ति, इत्यहोऽपूर्वोऽयं भगवत्स्तुतिमहिमा वेदत्रय्यां त्रिजगति च जेगीयते। अत एव भक्तानुकम्पी भक्तकामपूरको भगवान् परमपुमर्थसाधनानि सुमतिबोधधनप्रभृतीनि सर्वाण्यपि तदीप्सितानि तेभ्यो वितरति, रक्षति चेत्यभिप्रायेणाह—

रूप का परित्याग करके अपरिच्छिन्न-पूर्ण-पारमार्थिक-स्वस्वरूप से अवस्थान ही मुक्ति है ।' इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीयस्कंध में श्रीशुकदेवमुनि ने मुक्ति का स्वरूप प्रतिपादन किया है । तथा च भगवान् का ही अनुराग है प्रधानरूप से जिस में ऐसी भगवान् की स्तुति से परमपुरुषार्थरूप-मोक्ष को प्राप्त करने वाले-भक्तों के लिए— अर्थकामादि-जो गौण-पुरुषार्थ हैं—उनके सम्पादन के लिए कौनसा अतिप्रयास होगा ? अर्थात् नहीं होगा, किन्तु नहीं चाहे हुए भी वे अर्थकामादि उसकी कृपा द्वारा स्वतः—आप ही आप सिद्ध हो जाते है । इस प्रकार भगवान् की स्तुति का यह महिमा अपूर्व—अलौकिक है । उसका वेदत्रयी में तथा भूरादि तीन-जगत् मे अतिशय करके गान किया जाता है । इसलिए भक्तों के ऊपर अनुकम्पा (कृपा) करने का स्वभाव वाला—भक्तो की सकल कामनाओं का पूरक—भगवान् परम-पुरुषार्थ के साधनें-सुमति, बोध, धन, आदि सकल—जो उन को अभीप्सित हैं—उनका प्रदान करता है—रक्षा करता है, इस अभिप्राय से कहते हैं—

ॐ धियं पूषा जिन्वतु विश्वमिन्वो, रयिं सोमो रयिपतिर्दधातु ।
अवतु देव्यदितिरनर्वा, बृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥

(ऋग्वेद मण्ड. २ सूक्त. ४० ऋक् ६) (तै. ब्रा. २।८।१।६)

'समस्त विश्व को तृप्त करने वाला—पूषा भगवान्, विद्या-बलसयुक्त-बुद्धि का प्रदान कर हमें तृप्त करे । धन-ऐश्वर्य का पति, सोम भगवान् हमें धन-प्रदान करें । उस भगवान् की—अभिन्न-अखण्डनीय किसी से भी प्रतिरोध करने के लिए अशक्य ऐसी-दैवी शक्ति-हमारी रक्षा करे। सुवीर यानी सत्पुत्र-सच्छिष्यादि परिवार से संयुक्त हुए हम, सत्कर्म सदुपासनादि के समय, अत्युत्तम-विस्तृत-स्तुति-प्रार्थनादिरूप-वचनों का उच्चारण करें ।'

पूषा=पुष्णाति-पुष्टिं दधातीति ('पुष पुष्टौ' क्र्यादिः) पूषति=स्वशक्त्या सर्वं वर्धयतीति वा ('पुष वृद्धौ' भ्वादिः) पोषणकर्ता वृद्धिविधाता परमेश्वर इत्यर्थः ।

पुष्ट करता है—पुष्टि की स्थापना करता है, या अपनी शक्ति से सर्व को बढाता है, वह पोषण करने वाला एवं वृद्धि का विधान करने वाला परमेश्वर पूषा है । वह विश्वमिन्व है यानी समस्त विश्व

विश्वमिन्वः=विश्वस्य—सर्वस्य प्रीणयिता—तर्पयिता। यद्वा विश्वं मिनोत्येतावदिति निश्चिनोतीति विश्वमिन्वः। धियं=अच्छां विवेकविचारशीलां विद्याबलसंयुक्तां सुमतिं, कृपया प्रपन्नेभ्यो भक्तेभ्योऽस्मभ्यः प्रदायाऽस्मान् जिन्वतु=तर्पयतु—प्रीणयतु। धनेन विना केवलया धिया किं स्यात्? दारिद्र्यस्यानिवर्तितत्वात्, अतो धनमपि प्रार्थयन्ते—रयिपतिः=धनपतिः, सोमः=साम्बः शिवः—सशक्तिको भगवान्, रयिं=धनं, दधातु=अस्मभ्यं ददातु—समर्पयतु। अत्र विविधाभिर्भावनाभिः सम्बद्धा जनाः धनमपि नैकविधमभिप्रयन्ति। केचन बुभुत्सवः तत्त्वज्ञानमेव धनं लब्धायामच्छायां बुद्धौ स्थापनार्हं मन्वते। तस्मिन् सति सर्वस्य पुरुषार्थस्य पर्यवसानात्। अपरे पुनर्भक्ताः भगवद्भक्तिमेव सत्यं धनमभ्युपगच्छन्ति। समस्तपुमर्थमूलायाः सद्यः सुखजनिकायाः सत्सङ्गसुलभायाः तस्याः प्रशस्तधनत्वात्। अन्ये पुनः कर्मिणो यागादिकमेव सुकृतं धनं कथयन्ति, तस्य खलु सर्वोत्तमस्वर्गादिसुखसम्पादकत्वात्। लौकिकाः पुनः स्वर्णरजतादिकमेव जीवननिर्वाहोपयिकं धनमतिप्रसिद्धं प्रार्थनीयमत्र भणन्ति। भवतु वद्यत्किमपि परन्तु कल्पतरुरिव सेवितो भगवान् यथा येषां वाञ्छा तथा तेभ्यः तद्वितरत्येव। भगवन्तं भजतां न कस्यापि धनस्याभावप्रयुक्तं दारिद्र्यमवतिष्ठते, अत एव परमेश्वरस्य 'विश्वमिन्व'पदप्रतिपाद्यं

को प्रसन्न—तृप्त करता है। यद्वा जो विश्व को नापता है यानी यह विश्व इतना ही है, इस प्रकार निश्चय करता है, वह विश्वमिन्व है। वह परमात्मा अच्छी-विवेकविचार से सुशोभित-विद्या-बल से संयुक्त-सुमति का हम-शरणागत-भक्तों को कृपया प्रदान करके हमें तृप्त करें—प्रसन्न करें। धन के विना केवल-विद्या से क्या होगा? क्योंकि—धन विना दरिद्रता की निवृत्ति होती नहीं है, इसलिये धन की भी प्रार्थना करते हैं—वह रयिपति यानी धन का पति सोम यानी अम्बा-पार्वतीसहित शिव-शक्तिसंयुक्त-भगवान् हमें धन समर्पण करें। यहाँ विविध-भावनाओं से संयुक्त-जन, धन के विषय में अनेक प्रकार का अभिप्राय रखते हैं। कुछ जिज्ञासु-मुमुक्षु-लोग—'प्राप्त-अच्छी बुद्धि में स्थापन करने योग्य तत्त्वज्ञान ही धन है' ऐसा मानते हैं। ऐसा तत्त्वज्ञानरूप धन प्राप्त होने पर समस्त-पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है। दूसरे पुनः भक्त-जन, भगवद्भक्ति ही सच्चा धन है, ऐसा स्वीकार करते हैं। क्योंकि—भक्ति ही समस्त-पुरुषार्थों का मूल-कारण है, शीघ्र ही सुख की उत्पादिका है, और वह सत्संग से अच्छी रीति से प्राप्त होती है, इसलिये वही प्रशस्त धन है। अन्य पुनः कर्मकाण्डी लोग, यागादिरूप पुण्य ही धन है, ऐसा कथन करते हैं। क्योंकि—वही पुण्य निश्चय से सर्वोत्तम-स्वर्गादि-सुख का सम्पादक है। लौकिक-मनुष्य पुनः, सोना, चांदी आदि ही, जीवन-निर्वाह के उपायरूप—अतिप्रसिद्ध-धन ही यहाँ प्रार्थनीय है, ऐसा कहते हैं। वह धन जो कुछ भी हो, परन्तु कल्पवृक्ष के समान सेवन किया हुआ भगवान् जिन्हों की जैसी चाहना होती है, वैसा ही उनको देता ही है। भगवान् को भजने वालों को किसी भी धन के अभाव से होने वाली-दरिद्रता नहीं रह सकती है। इसलिए परमेश्वर का 'विश्व-

विश्वप्रीणयितृत्वमतीव संगच्छत इति भावः। तादृशं विविधं धनं लब्ध्वापि यदि तस्य लुण्टाकेभ्यो रक्षणं न कृतं भवेत्तदा पुनरपि दारिद्र्यपिशाचप्रवेशेनाकथनीयस्य दुःखस्य सम्भवात्। अतस्तद्रक्षणाय भागवतीं शक्तिमभ्यर्थयन्ते=देवी=सर्वत्र द्योतमाना भागवती शक्तिः, अदितिः=अखण्डिता, अनर्वा=केनापि प्रातिकूल्यमप्रापिता—अत एव-प्रतिरोद्धुमशक्या-सा, न अर्वति—केनापि प्रातिकूल्यं न गच्छतीति तद्व्युत्पत्तेः। 'अर्व गतौ' स्मरणात्। यद्वा अर्वा=गन्तव्यः, अनर्वा=शत्रुभिरगन्तव्य इत्यर्थः। अदितिः—अनर्वा इत्यनयोर्नियतलिङ्गत्वात्सामानाधिकरण्यम्। 'होमसाधनं धेनुः' 'शतं ब्राह्मणाः' इतिवत् लिङ्गसंख्याविभेदेऽपि विशेषणविशेष्यता भवत्येव। यद्वा अनर्वा=अर्वणा—भ्रातृव्येन-रिपुणा रहिता इत्यर्थः। 'भ्रातृव्यो वा अर्वा' इति श्रुतेः। अवतु=आस्माकीनं धनं रक्षतु—तद्रक्षणेनास्मानपि रक्षतु। किञ्च शोभनबुद्ध्यादिप्रदातुः कृपानिधानस्य परमेश्वरस्य कृतज्ञताप्रकाशाय कृतघ्नतानिरासाय स्वात्मकल्याणाय च पुनः पुनः स्तुतिवादं विधातुं प्रतिजानते—सुवीराः=सत्पुत्रसच्छिष्यादिशोभनपरिवारसमुपेताः वयं तावकाः, विदथे=सत्कर्मप्रारम्भे सदुपासनाद्यच्छवेलायां वा, बृहत्=प्रभूतं-

मिन्व' पद से प्रतिपाद्य-विश्व-प्रीणयितृत्व यानी समस्त विश्व को प्रसन्न करना यह अत्यन्त सुसंगत हो जाता है, यह भाव है। इस प्रकार के विविध-धन को प्राप्त करके भी यदि उसका लुटेरे-दुष्टों से रक्षण नहीं किया हो तब, फिर भी दरिद्रतारूपी पिशाच के प्रवेश से अकथनीय-दुःख का संभव हो सकता है। इसलिए उसका रक्षण के लिए भगवान् की शक्ति की अभ्यर्थना करते हैं—देवी यानी सर्व में प्रकाशमान् भगवान् की शक्ति, वह अदिति है यानी अखण्डित है, अनर्वा है यानी किसी से भी प्रतिकूलता को नहीं प्राप्त होने वाली इस *लिए वह—प्रतिरोध करने लिए अशक्य है। अर्वति* यानी किसी से भी प्रतिकूलता को जो प्राप्त नहीं होती है वह, ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। 'अर्व' गति-अर्थ में स्मृत है। अथवा अर्वा यानी गमन—प्राप्त करने योग्य-अनर्वा-शत्रुओं से प्राप्त करने के लिए अयोग्य, यह अर्थ है। 'अदिति' एवं अनर्वा इन दोनों पदों का नियतलिङ्ग होने से सामानाधिकरण्य है—अर्थात् एक ही अर्थ के बोधक हैं। 'होम का साधन धेनु' 'शत ब्राह्मण' इसकी भाँति, लिङ्ग एवं संख्या का भेद होने पर भी विशेषण-विशेष्य-भाव होता ही है। यद्वा अनर्वा—अर्वा-भ्रातृव्य-शत्रु से रहित। श्रुति कहती है—'अर्वा का भ्रातृव्य अर्थ है।' इति। वह हमारे धन की रक्षा करे, उसके रक्षण द्वारा हमारी भी रक्षा करे। और शोभन-बुद्धि आदि को प्रदान करने वाले—कृपानिधान-परमेश्वर के—कृतज्ञता के प्रदर्शन के लिए, कृतघ्नता के निरास के लिए, एवं अपने आत्म-कल्याण के लिए—पुनः पुनः स्तुतिवाद करने के लिए प्रतिज्ञा करते हैं—सुवीरा यानी अच्छे पुत्र-अच्छे शिष्य आदि शोभनपरिवार से संयुक्त हुए—*आप के हम, विदथे यानी सत्कर्म के प्रारम्भ में,* या सदुपासना के अच्छे समय में बृहत् यानी

प्रौढं वा वदेम=स्तुम, नियमेन प्रौढान् स्तुतिवादान् विधास्याम इति वयं प्रतिजानीमहे।

बहुत-अच्छा बोलें–स्तुति करें, अर्थात् हम नियमपूर्वक-आप का-उत्तमोत्तम स्तुतिवाद करेंगे, ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं।

(२५)

(पापप्रहाणेनैव भगवान् प्रसीदति, पापरहिताय च तस्मै परमैश्वर्यं वितरति)

(पाप की निवृत्ति से ही भगवान् प्रसन्न होता है, पाप से रहित-उस मनुष्य के लिए परम ऐश्वर्य का वितरण करता है)

ये किल प्रतिबन्धवशात्पुण्यानि कर्माणि कर्तुं न प्रभवन्ति, हन्त ! मा प्रभवन्तु नाम, परन्तु पापानि कर्माणि तैर्दूरे वर्जनीयानि, यैस्तेऽधः क्षिप्यन्त इति। कानि तानि पापानीति ? उच्यते–यानि मानवानां कायेन्द्रियमनसां कुत्सितानि कचराणि कुपथप्रवृत्तानि–दुश्चरितानि सन्ति। तानि किलेदानीमपि कलिकालोरगग्रस्तेष्वाधुनिकेषु कियत्सु जनेषु प्रायः स्पष्टमवलोक्यन्ते। यथाशक्यं तानि वयमुदाहरामः। पितापुत्रौ, जायापती, श्वश्रूवध्वौ, भ्रातरौ हन्त !! गुरुशिष्यावपि सम्बन्धिबान्धवाश्च सर्वे इमे तिरस्कृतसौहार्दाः कुटिलप्रकृतयः कूटव्यवहाराः काकिण्यर्थेऽपि मिथो विरुध्य वैरायमाणाश्च दृश्यन्ते। हिन्दवः किलानन्तानुचितजातिकुलधर्मेश्वरादिविभेदमभिमन्यमानाः मिथ्यारूढिबन्धनान्धविश्वासासन्म-

जो लोग प्रतिबन्ध के वश से पुण्यकर्म करने के लिए-समर्थ नहीं होते हैं, तो हन्त ! (आश्चर्य या संतोष अर्थ में) मत समर्थ होओ, परन्तु पाप कर्मों का–उन को दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए, जिन से उनका अधःपतन होता है। कौन वे पाप हैं ? कहते हैं–जो-मनुष्यों के शरीर-इन्द्रिय एवं मन के कुत्सित (घृणा करने योग्य) मलीन–खोटे-मार्ग में प्रवृत्त होने वाले दुश्चरित हैं (वे ही पापकर्म हैं) वे पाप निश्चय से इस समय में भी कलिकालरूप-सर्प-से ग्रसित-आधुनिक-कुछ-मनुष्यों में बहुत करके स्पष्ट देखने में आते हैं। शक्यता के अनुसार उन पापों का उदाहरणों के द्वारा प्रदर्शित करते हैं। पिता एवं पुत्र, पत्नी एवं पति, सास एवं वधू, भाई-एवं भाई, हन्त, गुरु एवं शिष्य भी तथा सम्बन्धी बन्धु, सभी ये सुहृद्भाव (निस्स्वार्थ हितकरत्व) का तिरस्कार करके, कुटिल स्वभाव वाले हुए, कूट–(विश्वासघातादि) व्यवहार करते हुए–कौडी के लिए भी परस्पर विरोध करके वैरी-दुश्मन के आचरण के समान आचरण करते हुए दिखाई पडते हैं। हिन्दुलोग भी असंख्य-अनुचित-जातिभेद, कुलभेद, धर्मभेद, ईश्वरभेद आदि विभेदों का अभिमान रखते हुए, मिथ्या-रूढियों के बन्धन, अन्धविश्वास, असन्मतों

ताभिनिवेशादिकमाश्रयन्तोऽच्छानच्छोत्तमाधमादिविवादैः परस्परं श्वसंघमिव कलहायमानाः ततः प्रभूतमनर्थमावहन्तः स्वदेशजनहितप्रापकं संघबलमप्यनासादयन्तोऽवलोक्यन्ते । समानदेशनिवासिनो मिथोऽयुतसिद्धसमाचारा हिन्दुयवनादयो द्विपदापसदधूर्तजनसंगत्या धर्माभासं व्याजीकृत्य मित्रेष्वपि द्रोहिणः सन्तः परस्परं घातयन्तो मृतश्च निरीक्ष्यन्ते । अन्तर्विषमहाव्यालायमानानां भूपालानां तदनुचराणामपि च पराक्रमो निरपराधानां प्राणिनामुपघातायैव भवति, नोपकाराय । ते च खलु दीनेष्वपि दारुणाः, विनीतेष्वप्युद्धताः, भीतेष्वपि प्रहारिणो गर्वमखर्वमारूढाः सन्तः स्वा एव प्रजाः सन्तापयन्ति, न तु पान्ति । सर्वाऽपि पृथिवी ममैव कथं भवेदिति ? तद्वास्तव्याः समस्ता अपि लोकाः कथङ्कारं मम दासाः किङ्करा भवेयुरिति ? च कामयमाना दुर्बलानां विश्वस्तानामपि घातुका भवन्ति । नरा हि कुरङ्गखुरमात्रेण चर्मणा मोहिताः कुदृष्टिदुर्गन्धकामान्धाः स्वधर्मयशःस्वास्थ्यनष्टिमपि न विचारयन्ति । कामाचारिण्यो नार्योऽपि पतिभिर्न तृप्यन्ति । कुलमर्यादयैव प्रतिरुद्धाः प्रच्छ-

के अभिनिवेश (हठाग्रह) आदि का आश्रय करते हुए, 'हम ही अच्छे उत्तम हैं, तुम सब गंदे-अधम हो' इत्यादि विवादो से परस्पर 'कुत्तों के संघ की भाँति' कलह (झघड़ा) करते हुए, उससे बड़े अनर्थ को प्राप्त करते हुए, अपने देश के मनुष्यों के हित का प्राप्त कराने वाली—संघट्टन-शक्ति को भी नहीं प्राप्त करते हुए देखे जाते हैं । एक ही देश में निवास करने वाले—परस्पर-अपृथग्भूत-व्यवहार करने वाले—हिन्दुमुसलमान आदि, नीच-धूर्त मनुष्य की संगति द्वारा धर्माभास के बहाने से अपने मित्रो का भी द्रोह करते हुए परस्पर मारते हुए एवं मरते हुए देखने में आते हैं । अन्तर्विषयुक्त-बड़े सर्पों के सदृश आचरण करने वाले पृथिवी के पालक-राजाओं का और उनके अनुचर-अफसर आदिकों का भी पराक्रम, निरपराध-प्राणियो के उपघात के लिए ही होता है, उपकार के लिए नहीं होता । वे निश्चय से दिनों के ऊपर दारुण (क्रूर) हुए, विनीत (विनय-सम्पन्न) मनुष्यो के ऊपर उद्धत हुए, भय-भीतों के ऊपर प्रहार करते हुए, अखर्वगर्व के ऊपर आरूढ हुए अपनी ही प्रजा को संताप देते हैं, परन्तु प्रजा की रक्षा नहीं करते हैं । समग्र भूमि मेरी (मेरे अधीन) ही किस प्रकार से हो ऐसी, तथा भूमि के निवासी समस्त लोक मेरे ही दास गुलाम कैसे हो ? ऐसी कामना करते हुए वे (रक्षकरूप से) विश्वास रख कर रहे हुए दुर्बलों के भी घातक होते हैं । निश्चय से नर-पुरुष, हरिण के खुर-परिमित-चर्म से मोहित हुए—कुत्सित दृष्टि द्वारा दुर्गन्ध के काम से अन्धे हुए—अपने धर्म, यश एवं स्वास्थ्य के नाश का भी विचार नहीं करते हैं । स्वेच्छाचारिणी नारियाँ भी अपने पतियो से तृप्त नहीं होती हैं । केवल कुल की मर्यादा से ही रुकी हुईं, गुप्तरूप से व्यभिचार

न्व्यभिचारिण्यो विधवायोषितो निर्दयडाकिन्य इव भ्रूणं स्वं विनिघ्नन्ति । प्रभूतधनलोभाभिभूताः पापाः पितरः स्वकन्याः पशूनिव वृद्धेभ्यो विक्रीणते । ज्ञानवैराग्यहीना मिष्टान्नकामा लोलुपा वञ्चकाः, 'अन्तर्धनं धनमिति स्वहृदा जपन्तो वाचा बहिः शिवशिवेति च घोषयन्तः' किल संन्यासिनः सर्वलोकश्रद्धेयपरमपावनसंन्यासधर्ममर्यादामुत्पाटयन्ति । विमलभक्तिविरक्तिरहिताः स्वसम्प्रदायस्य तिलकादिचिह्नमात्रेण मोक्षपदप्राप्तिमाशासाना बालक्रीडनकभूता भगवत्प्रतिमा मन्यमानास्तत्प्रसादमिषेण केवलोदरकोशपुष्टिपराः, राधामोहनलीलाव्याजेनातिकुत्सितव्यभिचारलीलां वितन्वन्तः परमेश्वरमपि स्वकुदृष्ट्या वञ्चयन्तः प्रच्छन्ननास्तिका अपि लोकेषु स्वं भागवताग्रगण्यं निरूप्यमाणाः पाखण्डाः[1] पवित्रं भक्तिमार्गं दूषयन्ति । आधुनिकाः खलूदासीनप्रभृतयः पान्थाः सनातनशास्त्रपरिपाटीविमुखाः सन्तः स्वकपोलकल्पितकदध्वानमनुरुन्धाना निन्दापटवः कलहोद्यता लोकं विप्रलब्धुं प्रज्ञान्ध्याभिनिवेशविजृम्भितवितथेतिहाससहस्रवर्णनैः स्वस्वपन्थस्य मृषास्तुतिं विदधानाः निरपत्रपाः कुठारकल्पधर्मविभेदप्रचारेण सनातनार्य-

करती हुई—विधवा स्त्रियाँ भी दयारहित डाँकिनियाँ की तरह अपने भ्रूण की हत्या कर डालती हैं। विशेष-धन के लोभ से पराजित हुए पापी पिता, अपनी कन्याओं को पशुओं की तरह बूढ़ों को बेच देते हैं। ज्ञान-वैराग्य से रहित, मिष्ट-अन्न की कामना करने वाले लोलुप-ठग, भीतर धन धन की अपने हृदय से रट लगाते हुए बाहर वाणी से शिव शिव की घोषणा करने वाले संन्यासी, सर्व लोक से श्रद्धा करने योग्य-परमपवित्र-संन्यासधर्म की मर्यादा का विनाश करते हैं। विमल-भक्ति-विरक्ति से रहित, अपने सम्प्रदाय के तिलकादि के चिह्नमात्र से मोक्ष-पद-प्राप्ति की आशा रखते हुए-बच्चों के खिलौने के समान भगवान् की मूर्तियों को मानते हुए-उनके प्रसाद के बहाने से केवल-उदरकोश की पुष्टि करने के लिए तत्पर हुए—राधामोहन की लीला के बहाने से अति-गन्दी व्यभिचार लीला फैलाते हुए—अपनी कुदृष्टि से परमेश्वर को भी ठगते हुए—छिपे हुए नास्तिक हुए भी लोकों में भगवान् के भक्तो में अपने को अग्रगण्यरूप से निरूपण करने वाले-पाखण्डी लोग पवित्र भक्तिमार्ग को दूषित करते हैं। आधुनिक-उदासीन आदि भिन्न-भिन्न पन्थ वाले, सनातन-शास्त्र की परिपाटी से विमुख हुए—अपने कपोल से कल्पित-उटपटाँग-मार्ग का अनुसरण करते हुए—निन्दा करने में प्रवीण—कलह के लिये उद्यत हुए, लोकों को ठगने के लिए प्रज्ञाकी अन्धता के अभिनिवेश (दुराग्रह) से मन घढन्त-बनाये हुए-झूठे-हजारों-इतिहासों के वर्णनों के द्वारा अपने-अपने पन्थ की झूठी प्रशंसा करते हुए—लज्जारहित-हुए-कुठार के समान-धर्मों के विभेद प्रचार द्वारा सनातन-आर्य-

१—'पाशब्देन त्रयीधर्मः पा रक्षण इति स्मृते । तं खण्डयन्ति ये तर्कैस्ते पाखण्डा इति स्मृताः ॥' रक्षा करने वाले वेदत्रयी वैदिक-धर्मका जो खोटे तर्कोंसे खण्डन करते हैं, वे पाखण्डी हैं।

साधुधर्मवृक्षस्य प्रशस्तमेकत्वमूलं विच्छिन्दन्ति । परदोषैकसहस्रचक्षुषः सामाजिकाश्च वेदरहस्यमजानाना अपि यद्वा तद्वा प्रलपन्तो वेदादिशास्त्रप्रतिपादितमप्यद्वैतवादसाकारवादादिकं खण्डयन्तः परप्रत्ययनेयबुद्धित्वलक्षणं स्वीयं मौढ्यमाविष्कुर्वन्ति । धर्मकर्मशून्याः पामरा ब्राह्मणब्रुवा दुर्व्यसनदुराचाररता अपि स्वस्मिन्नेव महत्त्वं सम्भाव्यान्यान् तृणवत्तुच्छं मन्यमाना उच्चैर्निरीक्षन्ते । शास्त्रिणोऽपि परस्परं विहिताहिताचाराः, कवयोऽप्यन्योऽन्यं निकृष्टताप्रदर्शनप्रयत्नवन्तः, ज्योतिर्विदोऽपि मिथ ईर्ष्यावेशविवशाः, आयुर्वेदविदो वैद्या अपि द्वेषात्परस्परमुखावलोकनविमुखाः स्वसंघशक्तिमपि विनाशयन्ति । क्षत्रबन्धवश्च मौढ्येर्ष्याबीजं मदमत्सरपल्लवं विरोधविपत्फलमनैकमत्यलक्षणं विषवृक्षं समाश्रित्य शौर्यौदार्यधैर्यभ्रष्टा मृतप्रायाः सन्तः स्वपूर्वजानां निष्कलङ्कमुखान्यपि कलङ्कयन्ति । मलिनस्वभावाः कपटचतुरा अनृतवादिनः पण्यजीविनो वैश्याः कार्पण्यवशादाढ्या अप्यनाढ्यायन्ते । प्रखरचित्तास्ते प्रतारणया प्रसभं परस्वं हरन्ति । दीनान् रङ्कांश्च नावेक्षन्ते, प्रत्युत तानेव पीडयन्ति ।

साधुधर्मरूप वृक्ष के प्रशस्त एकत्वरूप मूल का विच्छेद करते हैं । अन्य के दोषों को ही एकमात्र देखने के लिए हजारों-चक्षु वाले हुए सामाजिक, वेद के रहस्य को नहीं जानते हुए भी यद्वा तद्वा बकवाद करते हुए वेदादि शास्त्र से प्रतिपादित-अद्वैतवाद-साकारवाद-आदि का खण्डन करते हुए परप्रत्ययनेयबुद्धित्व (अपनी बुद्धि से विचार न कर दूसरे की बुद्धि के पीछे अपनी बुद्धि लगाना)-रूप अपनी मूढ़ता को प्रकट करते हैं । धर्मकर्म से रहित, पामर, अपने को ब्राह्मण कहने वाले-दुर्व्यसन-एवं दुराचार में प्रीति रखते हुए भी अपने में ही बडप्पन की सम्भावना करके अन्यों को तृण के समान तुच्छ मानते हुए ऊँचे देखते हैं । शास्त्री भी परस्पर अहित का आचरण करते हुए; कवि भी एक-दूसरे के प्रति निकृष्टता के प्रदर्शन के लिए प्रयत्न करते हुए, ज्योतिषी भी परस्पर ईर्ष्या के आवेश के आधीन हुए, आयुर्वेद के ज्ञाता वैद्य भी द्वेष से परस्पर के मुखों के अवलोकन से विमुख हुए अपनी संघशक्ति का भी विनाश कर देते हैं । और अधम क्षत्रिय, मूढ़ता-एवं ईर्ष्यारूप बीज वाले-मद एवं मत्सररूप पत्तों वाले-विरोध एवं विपत्तिरूप-फल वाले-अनैकमत्य (परस्पर एकमति न होना किन्तु फूट होना) लक्षण वाले-विष वृक्ष का आश्रय करके, शूरत्व, उदारत्व, धीरत्व आदि क्षत्रियों के गुणों से भ्रष्ट हुए, प्रायः मुरदे के समान हुए, अपने पूर्वजों के कलंकरहित-अत्युज्ज्वल-मुखों को भी कलङ्कित करते हैं । गंदे स्वभाव वाले-कपट करने में कुशल, झूठ-बोलने वाले-पण्य-वाणिज्य से ही जीवननिर्वाह करने वाले वैश्य, कृपणता के वश से धनवान् होते हुए भी दरिद्र के समान आचरण करते हैं, कठोर चित्त वाले वे ठगाई से बलात्कार से अन्य के धन को छीन लेते हैं, दीन-दरिद्र-गरीबों को वे देखते नहीं हैं, प्रत्युत उनको ही पीडते हैं । शराब, मांस,

मद्यमांसोच्छिष्टभक्षणरता अहिमन्यवः कदाचारा भ्रुकुटिकौटिल्या लोचनलौहित्या वाग्वैरसा महामदा महिषा इव शूद्राः सद्धर्मं सत्पुरुषाँश्चाक्षिपन्तोऽनर्गलं प्रजल्पन्ते । स्वदेशबन्धुविरोधमेव केवलं कर्तुं जानाना वलिनो वलीवर्दा इव विपत्प्राप्तिनिदानयाऽविमृष्यकारितया कलहायमाना म्लेच्छाः सकललोकोपहासपात्रतामुपगच्छन्ति । विदेशीयाः किलान्यायात्याचारपरायणा ऋजुष्वपि वक्राः गरलवल्लरीमिव रसनामेव तर्पयितुं दुःसहोग्रज्वालामालाक्रान्तं गर्तमिव पापोदरमेव पूरयितुं सकलमनुजहितकारिणः पशूनपि घातयन्तः पशुमांसभोजिनः पशुबुद्धयः 'वयं सभ्यदेशीयाः' इति कथयन्तो नापत्रपन्ते । किं बहुना ? यत्र तत्र बहुत्र जनानां कुत्सिते काये, उन्मार्गप्रवृत्तेषु चक्षुरादीन्द्रियेषु कुबुद्धियथेच्छाचारप्रयुक्तं दुश्चरितं सुलभं समुपलभ्यते,[1] । तत्र

उच्छिष्ट के भक्षण करने में प्रीति वाले, सर्प के समान क्रोध वाले, कुत्सित-आचार वाले—कुटिल-टेढी भ्रकुटि वाले-लाल नेत्र वाले, विरस-प्रखर वाणी बोलने वाले, महामद से भरे हुए भैंसों के समान शूद्र लोग, सद्धर्म एवं सत्पुरुषोंके प्रति आक्षेप करते हुए मर्यादारहित बकवाद करते हैं। अपने देश के बन्धुओं का विरोध ही केवल-करने को जानने वाले 'बलवान् बैलों की भाँति' विपत्ति की प्राप्ति का कारणरूप—अविचारकारिता से झगडा-लड़ाई करने वाले म्लेच्छ-यवन, 'सकल लोक की हँसी के पात्र होते हैं। अन्याय एवं अत्याचार के परायण रहने वाले विदेशी लोग, सरल-सीधे मनुष्यों के प्रति भी टेढे रहते हुए, विष की लता की भाँति जिह्वा को तृप्त करने के लिए—दुःसह-उग्र-ज्वालाओं की माला से आक्रान्त-व्याप्त-खड्डे की भाँति, पापी पेट को ही पूरने के लिए, समस्त मनुष्यों के हितकारी-पशुओं की हत्या करते हुए, पशु-मांस का भोजन करते हुए—पशु-बुद्धि वाले 'हम सभ्य देश के निवासी हैं' ऐसा कहते हुए लज्जित नहीं होते हैं। बहु-कहने से क्या ? जहाँ, तहाँ, बहु स्थान में, मनुष्यों के कुत्सित शरीर में, खोटे मार्ग में प्रवृत्त-चक्षुरादि-इन्द्रियों में, कुबुद्धि एवं यथेच्छाचार से होने वाला—दुश्चरित्र सुलभ रीति से उप-

१ अनेन—सर्वे दुश्चरिताः सन्तीति न मन्तव्यम्, किन्तु महाभागाः सुचरिता अपि सन्ति, परन्तु ते अल्पीयांस एव, भूयांसः सन्ति दुश्चरिताः आसुरीसम्पत्तिभाजः । 'कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त' (बृ. १।३।१) इति श्रुतेः । सुचरितेभ्यो देवकल्पेभ्यो महानुभावेभ्यो वयं सच्छ्रद्धया नमस्कुर्मः, सम्मानादिना संभावयामः, धन्यवादैर्विभूषयामः । 'यादृगेव ददृशे तादृगुच्यते' (ऋ. ५।४४।६) इति श्रुत्यादेशमनुसृत्य कियतां जनानां दुश्चरितोद्घाटनमिदं तत्परित्यागार्थम्, तत्त्यागेन ते अपि सद्गुणशालिनः स्तुत्या भवेयुरित्यर्थं चेति विज्ञेयम् । अतोऽत्र न केनाप्यन्यथाभावो विधातव्यः इति ।

इससे सभी दुश्चरित हैं ऐसा नहीं मानना चाहिए, किन्तु महाभाग्यशाली सच्चरित्र भी हैं, परन्तु वे थोड़े हैं, दुश्चरित्र-आसुरी-सम्पत्ति का सेवन करने वाले बहुत हैं। 'देव थोडे ही हैं, असुर अधिक हैं, इन लोकों में वे परस्पर स्पर्धा (डाह) करने लगे।' इस बृहदारण्यक श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। देव के सदृश-अच्छे चरित्र वाले महानुभावों को हम अच्छी श्रद्धा से नमस्कार करते हैं, सम्मान आदि से उनकी संभावना करते हैं, धन्यवादों से उनको विभूषित करते हैं। 'जैसा देखा जाता है, वैसा कहा जाता है' इस श्रुति की आज्ञा का अनुसरण कर कुछ मनुष्यों के दुश्चरित्रों का यह प्रकाशन, उनके परित्याग के लिए ही है, उनके त्याग से वे अच्छे गुणों से सुशोभित स्तुति करने लायक हों इसके लिए है ऐसा जानना चाहिए, इसलिये यहाँ किसी को अन्यथा-खोटा भाव नहीं करना चाहिए। इति।

तत्र परिगणितानां तत्तत्पापानां ततोऽन्यत्रापि यथासम्भवं प्रसञ्जनमपि प्रत्येतव्यम्, पापबहुलत्वाल्लोकानां, तस्मात्तेभ्यः समस्तेभ्यो दुश्चरितलक्षणेभ्योऽपरिमितेभ्यः पापेभ्यः परमपिता परमेश्वरो भगवान् अस्मान् पृथिवीलोकनिवासिनः तत्पुत्रभूतान् सर्वान् सद्बुद्धिसद्बलप्रदानेन निवारयतु, पापकारणेभ्यश्च दुःसङ्गादिभ्यश्च पृथक् करोतु। इति पापप्रहाणाय वयं सर्वे जना नम्रीभूय भूतपूर्वकृतपापस्य पश्चात्तापं कुर्वाणाः, भाविपापाकरणस्य दृढां प्रतिज्ञां शपथेन विदधानाः प्रशस्ततमं प्रवृद्धतमं परमेश्वरं पौनःपुन्येन प्रार्थयामहे—"बहुभिः कलुषैः समावृताः भवदीयामलया दयादृशा विभो!। अतिदूरगता भवेम तैः तव शक्त्या परया विमोचिताः॥" इति। स च कृपालुः प्रार्थितसिद्धये सर्वथाऽस्माकमनुकूलो भविष्यतीति दृढं विश्वसिम इत्याशयान आह—

लब्ध होता है। उस-उस उदाहरणों में परिगणित हुए–उस-उस पापों का–उससे अन्य-उदाहरण में भी सम्भव के अनुसार प्रसञ्जन भी जानना चाहिये, क्योंकि–लोक बहुत पापों से संयुक्त हैं। इसलिए उन समस्त-दुश्चरितों से लक्षित-अपरिमित-पापों से परमपिता, परमेश्वर-भगवान्, अपने पुत्रों के समान–पृथिवी लोक के निवासी–हम सब को सद्बुद्धि-एवं सद्बल के प्रदान द्वारा निवारण करें–दूर-हटावें। पापों के कारण दुःसङ्ग आदिओं से अलग कर दे। इस प्रकार पापों की निवृत्ति के लिए हम सब मनुष्य नम्र हो कर, प्रथम–किये हुए पापों का पश्चात्ताप करते हुए, भविष्यत् में पापों को नहीं करने की दृढप्रतिज्ञा शपथ के द्वारा करते हुए, अतिप्रशस्त-अतिप्रवृद्ध-परमेश्वर की पुनः पुनः–'हे-विभो! बहुत-पापों से हम समाक्रान्त हैं, उन पापों से आप की-उत्कृष्ट-शक्ति द्वारा छूट कर, आप की विमल-दयादृष्टि से हम उनसे सदा दूर हो जाँय।' ऐसी प्रार्थना करते हैं। 'वह कृपालु भगवान् प्रार्थित की सिद्धि के लिए सभी प्रकार से हमारे अनुकूल होगा' ऐसा हम दृढ विश्वास करते हैं, ऐसा आशय रखता हुआ मन्त्र कहता है—

ॐ श्रेष्ठो जातस्य रुद्र! श्रियाऽसि, तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो!।
पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति, विश्वा अभीती रपसो युयोधि॥

(ऋग्वेद. मण्ड. २. सूक्त. ३३ ऋक्. ३)

'हे रुद्र! उत्पन्न-हुए सभी विश्व के मध्य में ऐश्वर्य से तू ही एकमात्र श्रेष्ठ है। हे वज्रबाहो! विविध-शक्तियों के द्वारा बढे हुओं के मध्य में एकमात्र तू ही अतिशय करके बढा हुआ है। वह आप भगवान् हम सभी को दुश्चरितरूप-पाप से अनायास ही पार कर दें। और पाप के सभी कारणों से भी हम को अलग कर दें।'

हे रुद्र!=पापतत्कारणतत्फलेभ्यो निवारक! महादेव! त्वं हि जातस्य=उत्पन्नस्य सर्वस्य जगतो मध्ये, श्रिया=ऐश्वर्येण, श्रेष्ठः=

हे रुद्र! यानी पाप से, उसके कारण से, एवं उसके दुःखरूप फल से भी निवारण करने वाले! महादेव! तू ही जात यानी उत्पन्न हुए सर्व जगत् के मध्य में श्री यानी ऐश्वर्य से श्रेष्ठ

प्रशस्ततमः, असि=भवसि। तथा हे वज्रबाहो !=वज्रनिर्मितचक्रत्रिशूलाद्यायुधहस्त ! तवसां=ज्ञानशक्त्यादिना प्रवृद्धानां मध्ये त्वं तवस्तमः=अतिशयेन प्रवृद्धोऽसि, सर्वज्ञः सर्वशक्तिमानसि। स त्वं भगवान्, नः=अस्मान् सर्वान्, अंहसः=दुश्चरितलक्षणसानन्तत्वेनार्णवसदृशस्य पापस्य पारं=परं तीरं पावनं, स्वस्ति=क्षेमेण यथा स्यात्तथा, पर्षि=पारय-प्रापय-वृजिनवारिधेः पारं गमयेत्यर्थः। तथा रपसः=पापस्य=विश्वाः, सर्वाः, अभीतीः=अभिगमनानि-प्राप्तिकारणानि, सर्वाणि दुःसंगदुर्भावनादीनि, युयोधि=पृथक्कुरु-वियोजय-विनाशयेत्यर्थः। ('यौतेश्छान्दसः शपः श्लुः' 'वा छन्दसि' इति अपित्त्वस्य विकल्पनात् ङित्त्वाभावे 'अङितश्च' इति हेर्धिः)। तथा च ऋगन्तरमपि दुष्कृतानि निवारयितुं कर्तव्यां विश्वेशप्रार्थनामभिदधाति-'यदाशसा निःशसाऽभिशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः। अग्निर्विश्वान्यपदुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥" (ऋ. १०।१६४।३) इति। अयमर्थः-आशसा=मोघयाऽऽशया-अनृताभिलापेण, निःशसा=कामादिदोषेण, अभिशसा=कुत्सितसंस्कारेण कुसंगत्या वा, जाग्रतः=जागरणावस्थायां वर्तमानाः-जागरूकाः, स्वपन्तः=स्वप्नावस्थायां प्राप्ताः-स्वपनशीला वा, वयं यत् यत् दुश्चरितं; उपारिम=उपगतवन्तः स्म, अनुष्ठितवन्तः स्म, अनुतिष्ठाम वा, अजुष्टानि=शिष्टैरसेवितानि-अप्रियाणि असभ्यानि-असेवनीयानि, विश्वानि=सर्वाणि दुष्कृतानि=दुश्चरितानि, अग्निः=परमात्मा, अस्मत्=अस्मभ्यः सकाशात्,

यानी अतिप्रशस्त है। तथा हे वज्रबाहो! वज्र से निर्मित-चक्र-त्रिशूलादि आयुधों को हस्त में धारण करने वाले! तवसां यानी ज्ञान-शक्ति आदि के द्वारा अति बढ़े हुओं के मध्य में तू अतिशय करके बढ़ा हुआ है, अर्थात् सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। वह तू भगवान् हम सब को अंहस यानी दुश्चरितरूप-अनन्त होने से समुद्र के सदृश-पाप के पर पावन-तीर को स्वस्ति-क्षेमपूर्वक जैसे हो वैसे प्राप्त करा दे, अर्थात् पापरूपी समुद्र से पार कर दे। तथा रपस यानी पाप की प्राप्ति के कारण जो-दुःसंग दुर्भावना आदि हैं-उन सब को हम से पृथक् कर दे अर्थात्-वियुक्त कर दे-विनाश कर दे। तथा च अन्य ऋग्मन्त्र भी-दुष्कृत-पापों के निवारण के लिए करने योग्य-विश्वेश्वर की प्रार्थना का प्रतिपादन करता है-'जागते हुए या सोते हुए हमने-झूठी आशा से या कामादि-दोष से या खोटे संस्कार एवं खराब-संगति से जो जो दुश्चरितरूप-पाप किये हैं, या करते हैं, अग्नि भगवान् शिष्ट-श्रेष्ठ-पुरुषों से असेवित-उन सभी दुष्कृत-पापरूप-दुश्चरितों को हम लोगों से अलग कर के दूर भगा दें।' इति। यह अर्थ है-आशसा यानी झूठी आशा से-अनृत-मिथ्या-अभिलाषा से, निःशसा यानी कामादि दोष से, अभिशसा यानी गंदे संस्कार से-या खोटी संगति से, जाग्रतः यानी जाग्रत्-अवस्था में वर्तमान हुए-जागने वाले, स्वपन्तः यानी स्वप्नावस्था में प्राप्त हुए-सोने वाले हम, जो जो दुश्चरित को प्राप्त हुए हैं, या किये हैं एवं करते हैं, अजुष्ट यानी शिष्ट-प्रामाणिक-पुरुषों के द्वारा जो असेवित हैं, उनको अप्रिय हैं, असभ्य एवं सेवन करने के लिए अयोग्य हैं, ऐसे सभी दुष्कृत यानी दुश्चरितों को अग्नि परमात्मा हमारे समीप से हटा कर

अपः=अपकृष्य, आरे=दूरे, दधातु=करोतु स्थापयतु इति । एवमाथर्वणेऽपि समाम्नातं भवति–'उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः । उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥' (ऋ. १०।१३७।१) (अथर्व. ४।१३।१) इति । हे देवाः ! दानद्योतनादि-गुणयुक्ताः ! अवहितं=धर्मविषये सुचरिते, मां सावधानं अप्रमत्तं कुरुत । हे देवाः ! यूयं सम्भावितात्-प्रमादलक्षणादनवधानात् मां पुनः पुनः उन्नयथा=उद्गमयथ–ऊर्ध्वं प्रापयथ । उत=अपि च, हे देवाः ! आगः=अपराधं दुश्चरितलक्षणं पापं चक्रुषं=चक्रवांसं कृतवन्तं वा मां निवारयत; पुनः तस्मादागसो रक्षत । तथा मां रक्षित्वा पुनः जीवयथ=सुचरितलक्षणशोभनचिरजीवन-युक्तं कुरुत । यद्वा हे देवाः ! अवहितमपि मां पुनरुन्नयथ । आगः–कृतवन्तमपि मां पुनः जीवयथेति योजना, शब्दार्थस्तु स एव । सम्बोधनचतुष्टयमिदं दुश्चरितनिवारणसच्चरितलाभतदुपायतीव्रेच्छां प्रार्थयमानस्य सूचयति । पापरक्षायै प्रार्थनामयमप्याह–'त्रायन्तामिह देवास्त्रायतां मरुतां गणः । त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथाऽयमरपा असत् ॥' (ऋ. १०।१३७।५) इति । अयमर्थः–अयं=अस्मदीयः सर्वोऽपि पृथिवीलोकवास्तव्यो जनसमुदायः, यथा=येन प्रकारेण अरपाः=पापरहितः, असत्=भवेत्–

दूर करें । इति । इस प्रकार आथर्वण में भी कहा गया है–'हे देवो ! मुझको अच्छे मार्ग में जाने के लिए सावधान करें । तथा हे देवो ! आप विषयासक्तिरूप-प्रमाद से अलग कर के मुझ को उन्नत बनावें । तथा हे देवो ! पाप-अपराध को किये हुए-या करते हुए मुझ को पुनः उस से बचावें–रक्षा करें । पुनः हे देवो ! मुझ को शोभन-पवित्र जीवन से युक्त करें ।' इति । हे देवाः यानी दान-द्योतन आदि गुणों से युक्त हे देवो ! अवहित यानी धर्म का विषय-सुचरित में मुझ को सावधान-प्रमादरहित करें । तथा हे देवो ! आप, संभावित-प्रमादरूप-अनवधान से मुझको पुनः पुनः आगे बढ़ावें, अर्थात् प्रमाद से अलग कर उन्नत करें । और हे देवो ! आगः यानी अपराध अर्थात् दुश्चरितरूप-पाप-जो मैंने किया है या कर रहा हूँ, उससे मुझ को निवारण करें–पुनः उस अपराध से रक्षा करें । तथा मेरी रक्षा कर के पुनः सुचरितरूप शोभन चिर-जीवन से युक्त करें । यद्वा हे देवो ! सावधान भी मुझ को पुनः उन्नत करें । अपराध-किये हुए भी-मुझ को पुनः जीवित करें, ऐसी योजना है, शब्दार्थ तो वही–पूर्वोक्त है । देवों का चार यह सम्बोधन, प्रार्थना करने वाले की–दुश्चरितों के निवारण की, सच्चरितों के लाभ की तथा उनके उपायों की–तीव्र इच्छा को सूचित करते हैं । इति । यह मन्त्र भी पाप-रक्षा के लिए प्रार्थना का प्रतिपादन करता है–'यह पृथिवीलोक निवासी समस्त मनुष्य समुदाय, जिस प्रकार से पाप रहित होवे, तिस प्रकार से सभी देव रक्षा करें, मरुत्–पवनों के गण रक्षा करें, सभी भूत भी–रक्षा करें ।' इति । यह अर्थ है–यह हमारा सभी पृथिवीलोक में निवास करने वाला-मनुष्यों का समूह, यथा–जिस प्रकार से, अरपा यानी पाप रहित हो, तथा-तिस

तथा इह=ब्रह्माण्डे वर्तमानाः सर्वे देवा इन्द्राग्निवरुणादयः त्रायन्तां=अस्मान् सर्वान् पालयन्ताम्-पापेभ्यो रक्षन्तु। तथा मरुतां गणः=संघः त्रायतां=रक्षतात्। विश्वा=विश्वानि-सर्वाणि अन्यानि-भूतानि=भूतजातानि, त्रायन्तां=अस्मान् रक्षन्तु। इति। एवं-'विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः! सिन्धुं न नावा दुरितातिपर्षि' (ऋ. ५।४।९) इति। हे जातवेदः! जातानि-समुत्पन्नानि-वेदांसि-ज्ञानानि, तद्रूपा वेदा वा यस्मात् सः तत्संबुद्धौ, निखिलज्ञाननिधे! नः=अस्माकं, दुर्गहा=दुःखेन गाह्यानि-दुःखेन भोग्यानि, विश्वानि=सर्वाणि, दुरितानि-दुश्चरितानि पापानि अतिपर्षि=अतिपारय, नावा=नौकया नाविको न=यथा, सिन्धुं=नदीं अतिपारयति, तद्वत् तेभ्यः पापेभ्योऽस्मान् त्वं कृपया सद्बुद्धिबलादिप्रदानेनातिपारयइति प्रार्थनम्।

प्रकार से इस ब्रह्माण्ड में वर्तमान सर्व-इन्द्र-अग्नि-वरुणादि देव, हम सर्व की पालना करें, पापों से रक्षा करें। तथा मरुतों का-गण-संघ रक्षा करें। सर्व अन्य भूत समुदाय भी हमारी रक्षा करें। इति। इस प्रकार-(अन्य श्रुति भी कहती है)-हे जातवेदः! जैसे नाविक नौका द्वारा नदी से पार कर देता है, वैसे दुःख से भोगने योग्य-समस्त-पापों से हम को पार कर दे।' इति। हे जातवेदः यानी जिससे वेदस् यानी ज्ञान या ज्ञानरूप वेद उत्पन्न हुए हैं, वह अखिल ज्ञानों का भण्डार! हमारे समस्त-दुःख द्वारा गाहन-भोग-करने योग्य-दुश्चरितरूप पापों को अतिपार कर, अर्थात् जैसे नौकाद्वारा नाविक सिन्धु-नदीका अतिक्रमण करा कर पार कर देता है, तैसे उन पापों से हम को तू कृपया सद्बुद्धि-सद्बल आदिके प्रदान द्वारा अतिक्रमण करा कर पार कर दे, यही प्रार्थना है।

(२६)

(पितापुत्रभावेन वा स्वस्वामिभावेन वा सख्येन वा स्वात्मत्वेन वा भगवानेवैकः समाराधनीयः)

(पिता-पुत्र के भाव से या सेवक-स्वामी (सेव्य)के भाव से या सखा-भाव से या स्वात्म-भाव से एक भगवान् ही सम्यक् आराधन करने योग्य है)

पावने भरतखण्डे जन्मभृतां पुंसामेतावानेव पुरुषार्थो नाम, यद्येन केनाप्युपायेन परमात्मन्येवैकान्तभक्तिः साधिता स्यात्। सा च तदाराधनाभ्याससामर्थ्यादेव प्रादुर्भवति। यथा श्लोकं श्लोकौ वा नित्यं पठन् माणवकः कतिपयवर्षैर्विद्वानध्यापको भवति,

पवित्र-भरतखण्ड में जन्म धारण करने वाले-मनुष्यों का इतना ही प्रसिद्ध पुरुषार्थ है-कि-जिस-किसी-भी उपाय से परमात्मा में ही एकान्त भक्ति-सिद्ध की जाय। वह एकान्त-अनन्य भक्ति, उसकी आराधना के अभ्यास के सामर्थ्य से ही प्रादुर्भूत होती है। जैसे एक श्लोक या दो श्लोकों को सदा प्रतिदिन पढता हुआ बालक कुछ वर्षों के बाद विद्वान् अध्यापक हो जाता

यथा च काकिणीं काकिण्यौ वा नित्यं सञ्चिन्वन् वणिक्कतिपयसम्वत्सरैर्लक्षपतिः श्रेष्ठी भवति। तथा प्रत्यहं सच्छ्रद्धया विधीयमानमर्चनस्मरणध्यानादिलक्षणं भगवदाराधनं श्रीहरिगुरुस्वात्मप्रसादात्कतिपयहायनैः सफलं सिद्ध्यत्येव। अपि च हितमितमेध्याशनसत्यभाषणेन्द्रियसंयमादिनियमेन विवेकविरागपरायणया मेधया च बहिर्वृत्तिकं मनः शनैःशनैः समाधाय 'मम भगवानेव' 'भगवत एवाहं'मित्यविरतभावनया समाराधितः परमपिता परमस्वामी भगवान् भक्तेभ्यः पुत्रेभ्यः सेवकेभ्यः सर्वमभीप्सितं पुमर्थं दिशत्येवेत्यभिप्रेत्याह—

है। या जैसे एक कोडी का या दो कौडियों का सदा सञ्चय करता हुआ वणिक् कुछ वर्षों के बाद लखपति-सेठ हो जाता है। वैसे प्रतिदिन सात्त्विकी श्रद्धा द्वारा अनुष्ठान करने योग्य-अर्चन-स्मरण-ध्यानादि-लक्षण वाली-भगवान् की आराधना, श्रीहरि-गुरु एवं स्वात्मा के प्रसाद (प्रसन्नता) से कुछ वर्षों के बाद सफल सिद्ध हो जाती ही है। और हित-मित (स्वल्प) मेध्य (पवित्र) अशन-भोजन, सत्य-भाषण, इन्द्रिय-संयम आदि के नियम से, विवेक विराग के परायण रहने वाली मेधा-सद्बुद्धि से बहि-र्वृत्तियों-वाले मन को धीरे धीरे समाहित-एकाग्र-अन्तर्मुख करके 'मेरा भगवान् ही है' 'भगवान् का ही मैं हूँ' इस प्रकार की निरन्तर भावना द्वारा सम्यक्-प्रकार से आराधित हुआ—परमपिता परमस्वामी-भगवान्-पुत्र-सेवकरूप-भक्तों के लिए—समस्त-प्राप्त करने के लिए अभिलषित-धर्मादि-पुरुषार्थ का प्रदान करता है, ऐसा अभिप्राय रख कर मन्त्र कहता है—

ॐ आ हि ष्मा सूनवे पिताऽऽपिर्यजत्यापये। सखा सख्ये वरेण्यः॥

(ऋग्वेद. मण्डल १ सूक्त २६ ऋक् ३)

'पिता-बन्धु-सखारूप-वरेण्य-सर्वश्रेष्ठ या वरण-भजन करने योग्य भगवान्, पुत्र बन्धु-सखारूप-भक्त के लिए सभी प्रकार से अभीष्ट पुरुषार्थों का निश्चय से दान करता है।'

पिता=चराचरविश्वोत्पादकः परमपिता परमेश्वरः, स कथंभूतः? वरेण्यः=वरणीयः-सम्भजनीयः-समाराधनीयः, सर्वश्रेष्ठो वा, पुनः कथंभूतः? आपिः=बन्धुः-बध्नाति मनः स्नेहलालनपालनादिना यः सः, भक्तवत्सल इति यावत्। पुनः कथंभूतः? सखा=

पिता यानी चराचर विश्व का उत्पादक परमपिता-परमेश्वर, वह कैसा है? वरेण्य यानी वरण-स्वीकार करने योग्य-सम्यक् भजने योग्य-आराधना करने योग्य-या सर्वश्रेष्ठ। पुनः वह कैसा है? आपि-यानी बन्धु-स्नेह, लालन, पालन, आदि के द्वारा जो मन को बाँधता है, वह-भक्तवत्सल भगवान् भक्तों का बन्धु है। पुन. वह कैसा है?

प्रियः स्वात्मरूपेण समानख्यानात्परमप्रेमास्पदः। सूनवे=पुत्रस्थानीयाय भक्ताय तदाज्ञाकारिणे, आपये=बन्धवे परमेण प्रेम्णा तस्मिन् स्वमनोबन्धकाय। सख्ये=परमप्रियाय स्वाराधकाय, हि=निश्चयेन, आ=समन्ततः, यजति स=सर्वथा तदभीष्टं दिशति–ददातीत्यर्थः। यजिरत्र दानार्थे। यद्वाऽभीष्टदाने दृष्टान्तत्रयेण परिपुष्टं दार्ष्टान्तिकमुच्यते—यथा पिता सूनवे, यथा वा आपिः आपये, यथा वा सखा सख्ये, तदभीष्टं सर्वथा ददाति, तथा भक्तसर्वस्वो भक्तप्रियो भगवानपि भगवत्सर्वस्वाय भगवत्प्रियाय भक्ताय तदभीष्टं सर्वथा ददातीत्यर्थः। ('सा' इत्यत्र 'निपातस्य'चेति दीर्घः)

भगवता सह स्वस्य सम्बन्धविशेषदृढभावनयैव तस्मिन् प्रेमातिरेको भवतीति लोकेऽपि प्रसिद्धम्। अत एव ऋगन्तराण्यप्यामनन्ति–'त्वं त्राता तरणे! चेत्यो भूः पिता माता सदमिन्मानुषाणाम्।' (ऋ. ६।१।५) इति। हे तरणे!=संसारस्य त्रिविधदुःखात्तारक! भगवन्! त्वं त्राता=भयेभ्यो रक्षिता, भूः=भवसि, अत एव त्वं चेत्यः=ज्ञातव्यः–अस्माभिस्त्वं चोद्धव्योऽसि त्वमस्माकं कोऽसीति?। यतस्त्वया सहास्माकं सम्बन्धविशेषमन्तरेण कथं त्वं तारकः त्राता च स्याः? इति विमर्शः।

सखा है यानी प्रिय–अपने आत्मरूप से समान–प्रतीत होने के कारण परमप्रेम का विषय है। वह पुत्रस्थानापन्न–भगवान् की आज्ञा के अनुसार कार्य करने वाले–परमप्रेम से भगवान् में अपने मन को बाँधने वाले–बन्धुरूप–सखा यानी परमप्रिय-अपनी-आराधना करने वाले-भक्त को निश्चय से आ–समन्तत यानी सभी काल में, सभी देश में, सभी प्रकार से उसके अभीष्ट-पदार्थ का दान करता है। यज धातु यहाँ दान अर्थ में है। यद्वा अभीष्ट के दान में तीन-दृष्टान्तों से अतिपुष्ट किया गया सिद्धान्त कहा जाता है–जैसे पिता पुत्र के लिए, या जैसे बन्धु बन्धु के लिए, या जैसे मित्र मित्र के लिए, सभी प्रकार से उसके अभीष्ट का दान करता है। वैसे भक्त का सर्वस्व, या भक्त है सर्वस्व जिस को, भक्त का प्रिय, या भक्त है प्रिय जिसको, ऐसा भगवान् भी, भगवत्सर्वस्व-भगवत्प्रिय भक्त के लिए उसके अभीष्ट-पदार्थ को सभी प्रकारसे देता है।

भगवान् के साथ अपने सम्बन्धविशेष की दृढ भावना से ही भगवान् में प्रेम की वृद्धि होती है, यह लोक में भी प्रसिद्ध है। इसलिए अन्य ऋक् मन्त्र भी (सम्बन्धविशेष का) प्रतिपादन करते हैं–'हे तरणे!–तारणहार! तू हमारा त्राता–रक्षक है, इसलिये तू ज्ञातव्य–जानने योग्य है कि–तू हमारा कौन है?। तू हम मनुष्यों का सदा ही सच्चा माता एवं पिता है।' इति। हे तरणे! यानी संसार के आध्यात्मिकादि-त्रिविध दुःख से तारने वाले! भगवन्! तू त्राता है–भयों से रक्षा करने वाला है। इसलिए तू चेत्य यानी ज्ञातव्य-हमारे से जानने योग्य है कि–'तू हमारा कौन है?' इति। क्यों कि–तेरे साथ हमारा सम्बन्धविशेष के बिना तू कैसे हमारा तारने वाला एवं रक्षा करने वाला हो सकता है? यह विचार किया जाता है। विचार करके श्रुति

विमृश्य चाह श्रुत्या–मनुष्याणामस्माकं त्वं सदमित्=सदैव, सत्यः पिता माता चासि इत्यर्थः। 'पतिर्बभूथाऽसमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।' (ऋ. ६।३६।४) इति। असमः=अनुपमः–सर्वोत्कृष्टः त्वं जनानां=सर्वेषां प्राणिनामस्माकं पतिः=अधिपतिः बभूथ=बभूविथ। तथा विश्वस्य=सर्वस्य, भुवनस्य=भूतजातस्य, एकः=अद्वितीयोऽसाधारणो राजा=ईश्वरश्च भजनीयो बभूविथ इत्यर्थः। [पूर्वं भगवदनुग्रहविविधपापापराधक्षमापनादिकमुपदिष्टम्, अधुनाऽऽख्यायिकया भगवदनुग्रहभाजनस्य शुद्धान्तःकरणस्याधिकारिणः कृते ससाधनां ब्रह्मविद्यां वर्णयति।]

के द्वारा वह कहता है–हम मनुष्यों का तू सदैव सच्चा पिता एवं माता है, यह अर्थ है।–'हम सब प्राणियों का तू ही एकमात्र उपमारहित-असाधारण-अधिपति हुआ है, तथा समस्त-भुवनों का या भूतों का एकमात्र राजा-ईश्वर हुआ है।' इति। असम यानी उपमारहित–सर्व से उत्कृष्ट तू ही हम सब जन-प्राणियों का पति-अधिपति हुआ है। तथा सर्व-भुवन-भूतसमुदाय का एक-असाधारण-राजा यानी भजने योग्य–ईश्वर हुआ है। इति।

[प्रथम के मन्त्रों में भगवान् का अनुग्रह, विविध पाप-अपराधों का क्षमापन, आदि का उपदेश दिया। अब आख्यायिका के द्वारा भगवत्कृपापात्र शुद्धान्तःकरण-अधिकारी के लिए साधन सहित-ब्रह्मविद्या का वर्णन किया जाता है]

(२७)

(विवेकादिसाधनवतैव सफला ब्रह्मविद्याऽवाप्तुं शक्यते नेतरेण)

(विवेकादि साधनसम्पन्न ही सफल-ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है, अन्य नहीं)

ब्रह्मात्मतत्त्वविज्ञानादेव भवदुःखवारिधेर्निस्तारः, परमप्रमोदस्य च लाभो भवति। अतस्तद्विज्ञानमवश्यं सुकृतिना साधनसम्पदमासाद्य संपाद्यम्। विना च साधनसम्पदं कथमपि तद्विज्ञानं सफलं न सिद्ध्यति। उक्तं च–'मातुरङ्के समासीनो ग्रहीतुं चन्द्रमिच्छति। बालो यथा तथैवाज्ञो विज्ञानं साधनैर्विना॥' इति। अत्रेदमाख्यानं श्रूयते–अश्विनौ हि देवलोकस्य भिषजौ, आथर्वणाद्दधीचो महर्षेर्ब्रह्मज्ञानिनो वेदादिशास्त्रमधीतवन्तौ। तेन महर्षिणा विवे-

ब्रह्म-आत्म-तत्त्व के विज्ञान से ही संसार-दुःख-सागर से निस्तार एवं परम आनन्द का लाभ होता है। इसलिए उसका विज्ञान–अवश्य ही पुण्यशाली को साधन-सम्पत्ति प्राप्त करके सम्पादन करना चाहिए। साधन-सम्पत्ति के विना उसका विज्ञान किसी भी प्रकार से सफल सिद्ध नहीं हो सकता है। कहा है–'जैसे माता के गोद में बैठा हुआ बालक, चन्द्र के ग्रहण करने की इच्छा करता है, वैसे साधनों के विना अज्ञानी विज्ञान की इच्छा करता है।' इति। इस विषय में यह आख्यान–(प्राचीन-वृत्तान्त) सुना जाता है–अश्विनीकुमार देवलोक के वैद्य थे, वे ब्रह्मज्ञानी-आथर्वण-दध्यङ्महर्षि से वेदादि शास्त्र पढ़े हुए

प्यामि, इत्युक्त्वा तस्मान्निर्जगाम । ततः कियत्कालानन्तरमश्विभ्यां विवेकादिसाधनानि सम्पाद्यागमनं कृतम् । महर्षिमुखाद्विदितवृत्तान्तौ तावूचतुः । 'यदा च भवद्भ्यां विवेकादिसाधनानि सम्पादितानि भविष्यन्ति, तदाऽहं ब्रह्मविद्यामुपदेक्ष्यामीति' तव प्रतिज्ञा मिथ्या भवितुं नार्हति । जीवितादपि सत्यधर्मपरिपालना गरीयसी इति। अतो यथा तव सत्यस्य शिरसश्च रक्षणं स्यात्, आवयोश्च महाभागातिदुर्लभा ब्रह्मविद्या त्वत्प्रसादाल्लभ्येत, तथाऽऽवाभ्यां प्रयत्नो विधीयते । इदानीं तव शिरश्छित्त्वा स्थानान्तरे निधायाश्वशिरस्त्वयि संयोज्यते, पश्चादस्मदीयसंजीवनीविद्याप्रभावेण जीवनं लब्ध्वा तेनाश्वशिरसा त्वयाऽऽवाभ्यां ब्रह्मविद्या समुपदेष्टव्या । ततो देवराजस्य वज्रमागत्याश्वशिरश्छित्त्वा गमिष्यति। पश्चात् स्वाभाविकं शिरः संयोजयिष्याव इति। 'एवमस्त्वि'ति ऋषिणाऽभ्यनुज्ञाते सत्यश्विभ्यां तथा चक्रे; दधीचा महर्षिणा ताभ्यामश्वस्य शिरसा मधुब्रह्मविद्या समुपदेष्टुं प्रारेभे । तदिन्द्रो ज्ञात्वा वज्रेण तदश्वीयं शिरोऽच्छिनत् । अथाऽश्विनौ तस्य स्वकीयं मानुषं शिरः समधत्ताम् । अथ स स्वशिरसा शेषां ब्रह्मविद्यामवोचत् । इत्यनेनाख्यानेन-यतो महताऽऽयासेनाश्विभ्यां ब्रह्मविद्या समुपार्जिता, अतो विमुक्तये

गया । इसके कुछ समय के बाद अश्विनीकुमारों ने विवेकादि साधनों को सम्पादन करके वहाँ आगमन किया । महर्षि के मुख से सभी वृत्तान्त को जान करके वे दोनों अश्विनीकुमार बोले । 'जब आप विवेकादिसाधनों को सम्पादन करेंगे, तब मैं ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा' ऐसी आप की प्रतिज्ञा मिथ्या होनी योग्य नहीं है । जीवित से भी सत्य धर्म का परिपालन अत्यन्त श्रेष्ठ है । इसलिए जिस प्रकार आप के सत्य का एवं शिर का रक्षण हो, और हम दोनों को महाभाग्यवती-अतिदुर्लभ-ब्रह्मविद्या-आप की कृपा से प्राप्त हो, उस प्रकार हम प्रयत्न करते हैं । इस समय हम, आप के शिर को काट कर, अन्य सुरक्षित स्थान में उस शिर को रख कर, आप के उस धड में घोडा के शिर का संयोजन कर देते हैं । पश्चात् हमारी संजीवनी विद्या के प्रभाव से जीवन को प्राप्त कर उस अश्व के शिर से आप हम दोनों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करना । इसके बाद देवराज-इन्द्र का वज्र आ कर इस घोड़े के शिर का छेदन करके चला जायगा । पश्चात् आप के उस स्वाभाविक-शिर का हम संयोजन कर देंगे । इति । 'अच्छा ऐसा ही हो' इस प्रकार की ऋषि की आज्ञा प्राप्त होने पर अश्विनीकुमारों ने वैसा ही किया । दध्यङ् महर्षि ने उन दोनों के प्रति घोडे के मुख से मधु-ब्रह्मविद्या का सम्यक्-उपदेश देने के लिए प्रारम्भ किया । वह जान कर इन्द्र ने वज्र से उस घोडे के शिर का छेदन किया । इसके बाद अश्विनीकुमारों ने उसका अपना मनुष्य के-शिर का संयोजन किया । पश्चात् ऋषि ने अपने ही शिर से शेष-ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया । इस आख्यान से—'क्योंकि—महान् परिश्रम से अश्विनीकुमारों ने ब्रह्मविद्या का उपार्जन किया, इसलिए विमुक्ति के लिए ब्रह्मविद्या को छोड़

ब्रह्मविद्यां विहाय नान्यत्परं साधनमस्तीति, साधनसम्पद्विरहेणोपदेशरहस्यमजानन्निन्द्रो मौढ्यान्महर्षिद्वेषं कृत्वा पुरुषार्थभ्रष्टोऽभवदिति च सूचयितुं तदेतदभिधीयते भगवता मन्त्रेण—

कर, अन्य कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है, ऐसा—तथा साधन-सम्पत्ति के विना उपदेश के रहस्य को नहीं जानता हुआ इन्द्र मूढ़ता से महर्षि का द्वेष करके पुरुषार्थ से भ्रष्ट हुआ ऐसा—सूचन करने के लिए—उस-इस आख्यान का भगवान् वेद मन्त्र-प्रतिपादन करता है—

ॐ तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्।
दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच॥

(ऋग्वेद, मण्डल १ सूक्त ११६ ऋक्. १२)

'जैसे मेघ गर्जना से वृष्टि प्रकट करता है, उसी प्रकार हे नराकार अश्विनीकुमारो! मैं लाभ के लिए किया हुआ तुम दोनों का वह उग्र दंसकर्म (शिरश्छेदनादिरूप) प्रकट कर देता हूँ। जिस मधु-ब्रह्मविद्या का दध्यङ्-आथर्वण-ऋषि ने तुम्हारे प्रति अश्व के शिर से वर्णन किया था।'

हे नरा=नरौ—नराकारौ नेतारावश्विनौ! वां—युवयोः सम्बन्धि, दंस इति कर्मणो नामैतत्, किं विशिष्टं तत्? उग्रं=क्रूरमन्यैः कर्तुं दुःशकम्, युवाभ्यां पुरा तत्कर्म कृतम्। किंनिमित्तं? सनये=लाभाय। लाभलुब्धो हि लोकेऽपि क्रूरं कर्माचरति, तद्वद्युवाभ्यामपि तथाकृतम्। तत्—आविष्कृणोमि=अहमाविष्करोमि, आविः=प्रकाशं, भवद्भ्यां यद्रहसि कृतं तत्प्रकटीकरोमीत्यर्थः। किमिवेति दृष्टान्तेन प्रतिपाद्यते—तन्यतुः=पर्जन्यः, न=इव। वेदे पदादुपरिष्टाच्छ्रूयमाणो नकारः स खलूपचारः सन्नुपमार्थीयोऽपि सम्भवति, न प्रतिषेधार्थ एव। 'अश्वं न गूढमश्विना' इत्यत्राश्वमिवेति तद्वत्। तन्यतुरिव वृष्टिं=यथा पर्जन्यः स्तनयित्वादिशब्दैर्वृष्टेरागमनं प्रबोधयति, तद्वदहं युवयोः

हे नरा यानी नराकार—नेतारूप-अश्विनीकुमारो! तुम-दोनों से सम्बन्ध रखने वाला-दंस, यह कर्म का नाम है, किस प्रकार का वह है? उग्र यानी क्रूर—अन्यों से करने के लिए अत्यन्त कठिन। वह कर्म आप दोनों से प्रथम किया गया है। किस लिये? लाभ के लिए। लाभ का लोभी निश्चय से लोक में भी क्रूर कर्म का आचरण करता है। उस प्रकार तुम-दोनों से भी ऐसा कर्म किया गया है। उस कर्म का मैं आविष्कार करता हूँ। आविः यानी प्रकाश। आप दोनों ने जो उग्र कर्म एकान्त में किया है, उसको मैं प्रकट करता हूँ। किस की तरह? यह दृष्टान्त से कहते हैं—तन्यतु यानी पर्जन्य-मेघ। न यानी इव—जैसे। वेद में पद से पीछे-सुना गया-नकार, वह निश्चय से गौण हुआ उपमा अर्थ में भी हो सकता है, प्रतिषेध-अर्थ में ही नहीं। 'अश्वं न गूढमश्विना' इस वाक्य में अश्वं न—इव अर्थात् अश्व की भाँति, इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिए। जैसे तन्यतु यानी पर्जन्य-मेघ स्तनयित्नु—गर्जन आदि के शब्दों से वृष्टि के आगमन का प्रबोधन करता

कादिसाधनशून्यत्वात्ताभ्यां प्रार्थिताऽपि ब्रह्मविद्या नोपदिष्टा। यदा च विवेकादिसाधनानि भवद्भ्यां सम्पादितानि भविष्यन्ति, तदाऽहं तामत्यादरेणोपदेक्ष्यामीति प्रतिजज्ञे। न हि विवेकादिसाधनमन्तरा वेदाध्ययनमात्रेण कस्यचिज्जिज्ञासा प्रादुर्भवति। ब्रह्मोपदेशोऽधिकारिविशेषस्यैव साक्षात्कारपर्यवसायी भवति नेतरस्य। अतो युवाभ्यां तावन्महता प्रयासेन विवेकादिसाधनानि सम्पाद्याधिकारयोग्यता प्रापणीयेत्युक्तवान्। कदाचिद्देवराज इन्द्रो ब्रह्मनिष्ठस्य वीतरागस्य तस्य महर्षेः प्रशंसां श्रुत्वा तदाश्रममाजगाम। तेन महाभागेन तस्यातिथ्यं चक्रे। स्वागतं महानुभाव! आस्यतां, किन्तेऽहं प्रियं करवाणी'ति तं प्रत्युवाच। 'मह्यं ब्रह्मविद्यां सम्रुपदिश' इति सोऽब्रवीत्। तत्त्वदर्शिना मतिमताऽनेन ऋषिणा मनसीदं समालोचितम्-अयं किल देवराजो विवेकादिसाधनसम्पच्छून्योऽतिमानी विषयलोलुपः स्तब्धः कथमुपदेष्टव्यो भवेदिति। अथापि-सः स्ववचनस्य सत्यत्वरक्षणाय तावदादौ वैराग्यं जनयितुं देवराजस्य जीवनं विषयांश्च निनिन्द। देवराजस्य तथाशुचिसूकरस्य च सुखं दुःखञ्च समानमेव, न कस्यचिदधिकं नापि न्यूनम्। यथा सूकरस्य विष्ठा आस्वाद्या प्रिया च यावतीमेवानन्दमात्रां जनयति, तथा देवराजस्य सु-

थे। उस महर्षि ने विवेकादि साधनों से रहित होने के कारण उन-दोनों-अश्विनीकुमारों को प्रार्थना करने पर भी ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं दिया। जब आप लोग विवेकादि साधनों को सम्पादन करेंगे, तब मैं आदरपूर्वक उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा किया। विवेकादि-साधन के बिना वेदों के अध्ययनमात्र से किसी को भी ब्रह्मजिज्ञासा का प्रादुर्भाव नहीं होता है। ब्रह्म का उपदेश विशिष्ट-अधिकारी को ही साक्षात्कार का पर्यवसायी होता है, अन्य—अनधिकारी को नहीं। इसलिए—आप दोनों को प्रथम महान्-प्रयास से भी विवेकादिसाधनों का सम्पादन करके अधिकार की योग्यता प्राप्त करनी चाहिए, ऐसा महर्षि ने कहा। किसी समय में देवों का राजा इन्द्र, उस वीतराग-ब्रह्मनिष्ठ-महर्षि की प्रशंसा सुन कर उसके आश्रम में आया। उस महाभाग्यशाली ऋषि ने उसका आतिथ्य-सत्कार किया। 'हे महानुभाव! आप का स्वागत है, बैठिये, क्या मैं आप का प्रिय-कार्य करूँ?' ऐसा उसके प्रति बोले। 'मुझे ब्रह्मविद्या का सम्यक् उपदेश कर' ऐसा वह इन्द्र बोला। तत्त्वदर्शी-बुद्धिमान् इस ऋषि ने मन में यह विचार किया कि—यह देवराज निश्चय ही विवेकादिसाधनों की सम्पत्ति से रहित है, अतिमानी, विषयलम्पट, एवं स्तब्ध (विनय एवं नम्रता से रहित) है, इसलिए यह कैसे उपदेश-देने के लिए योग्य है? इति। तथापि वह अपने वचन के सत्यत्व की रक्षा करने के लिए प्रथम वैराग्य-उत्पन्न करने के लिए देवराज के जीवन की तथा उसके विषयों की निन्दा किया। तुझ देवराज का तथा गन्दे-सूकर (सुव्वर) का सुख एवं दुःख समान ही है, न किसी का अधिक है, न न्यून है। जैसे सूकर को विष्ठा आस्वाद्य एवं प्रिय है, वह उसे जितनी-आनन्द की मात्रा को उत्पन्न करती है,

धापि तथैव तावतीमेवानन्दमात्रां जनयितुमलम्। यथा देवराजस्य रम्भा शची यावती परमप्रेमास्पदा, तथा तस्य तावत्येव सूकरी। देवराजो यथा विष्ठां सूकरीं च विलोक्य तत्र घृणां कृत्वा समुद्विजते, तथा सूकरोऽपि सुधां रम्भाञ्च दृष्ट्वा तथैव भवति। एवं, मृत्युत्रासोऽपि समान एव, रागद्वेषादिदोषाधीनत्वमप्युभयोस्तुल्यमेव। एवमन्योऽन्यभावानामपि साम्यमूह्यम्।[1] तस्मात्त्वैतादृशं जीवनं तुच्छमेव, सुधारम्भाद्या विषया अपि तुच्छा एव, एवं तत्र त्वया कथमतिरज्यतेऽतिमन्यते च? इति विचार्यताम्। भुजङ्गस्य पयःपानं केवलं विषवर्द्धकमिव स्वस्यैतादृशीं निन्दां श्रुत्वा देवराजः चुकोप। नायं ब्रह्मविद्याचार्यः, अपि तु कश्चिच्छत्रुपक्षीयो गुप्तचर इति मत्वा तं निष्ठुरवचनैर्निर्भर्त्स्य, त्वयाऽद्यारभ्य कस्यैचिदपीदृशी ब्रह्मविद्या नोपदेष्टव्या इत्यादिदेश। अथ यदि मदीयं वचनं त्वं न पालयिष्यसि, तर्हि तव शिरो वज्रेणाहं पोथयि-

वैसे देवराज की सुधा (अमृत) भी वैसी ही आस्वाद्य एवं प्रिय है, वह भी उतनी ही आनन्द की मात्रा को उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त होती है। जैसे देवराज को रम्भा—अप्सरा, शची-इन्द्राणी जितनी परमप्रेम की आस्पदा है, वैसे सूकर को सूकरी भी उतनी ही परमप्रेमास्पदा है। जैसे देवराज विष्ठा और सूकरी को देख करके, उनमें घृणा करके उद्विग्न-सा हो जाता है, वैसे ही सूकर भी सुधा और रम्भा को देख कर वैसा ही उद्विग्न-हो जाता है। इस प्रकार मृत्यु का त्रास भी समान ही है, राग-द्वेष आदि दोषो के आधीनत्व भी दोनो को समान ही है। इस प्रकार और भी अन्य-अन्य के भावो की समानता की कल्पना करनी चाहिए। इसलिए तेरा इस प्रकार का जीवन (जो गदे-सूकर के समान है) तुच्छ ही है। सुधा, रम्भा आदि विषय भी तुच्छ ही है। ऐसा होने पर भी तू उन तुच्छ-विषयों में अति आसक्त क्यो हो रहा है? और उनका तू इतना अतिमान भी क्यो करता है? इसका विचार कर। जैसे सर्प को दूध का पान सिर्फ विषवृद्धि का ही कारण होता है, वैसे ही ऋषि के द्वारा अपनी इस प्रकार की निन्दा सुन करके देवराज बडा क्रुद्ध हुआ। यह ऋषि ब्रह्मविद्या का आचार्य्य नहीं है, किन्तु कोई शत्रु-पक्ष का गुप्तचर है, ऐसा मान कर, उन ऋषि को कठोर-वचनो से धमका करके, आज से ले कर इस प्रकार की ब्रह्मविद्या का उपदेश तुझे किसी के प्रति भी नही करना चाहिये, ऐसा हुकुम किया। यदि तू इस मेरे वचन का पालन नहीं करेगा, तब तेरा शिर मैं वज्र से नष्ट कर डालूंगा ऐसा कह करके उस आश्रम से वह इन्द्र चला

---

[1] इन्द्रस्याशुचिसूकरस्य च सुखे दुःखे च नैवान्तरम्। स्वेच्छाकल्पनया तयो खलु सुधा विष्ठा च काम्याशनम्॥ रम्भा चाशुचिशूकरी च परमप्रेमास्पदा मृत्युत। सत्रासोऽपि सम स्वकर्मगतिभिश्चान्योऽन्यभाव सम॥ इत्ययं श्लोकः पूर्वोक्तदध्यङ्महर्षिकथनस्य समर्थको विज्ञेय।

क्रूरं कर्म आविष्कृणोमीति पूर्वेण सम्बन्धः। यद्वा तन्यतुः=मेघस्थः शब्दः, वृष्टिं=मेघान्तर्वर्तमानमुदकं प्रवर्षणेन सर्वत्र प्रकटयति, तद्वत्। किं तत् कर्म? दध्यङ्=एतत्संज्ञः ऋषिः, आथर्वणः=अथर्वणोऽपत्यं पुत्रः। अश्वस्य शीर्ष्णा=युष्मत्सामर्थ्येन प्रतिनिहितेन शिरसा, वां=युवाभ्यां, ईम्=इमां मधुब्रह्मविद्यां, यत् ह=यदा खलु, प्र—उवाच=प्रोक्तवान्। तदानीमश्वस्य शिरसः सन्धानलक्षणं पुनर्मानुषस्य शिरसः प्रतिसन्धानलक्षणं च यत् भवदीयं कर्म तत् आविष्कृणोमीत्यर्थः। यद्वा हेति ईमिति चानर्थकौ निपातौ। यत्=मधुरूप्यमात्मज्ञानलक्षणं प्रोवाच रहसि तददो मधु युवाभ्यामृषिणोपदिष्टं तदप्यहं ब्राह्मणेनाविष्कृणोमीति सम्बन्धः। तन्मधुज्ञानं वाजसनेयके शतपथब्राह्मणेऽभिहितं—'इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु' इत्यारभ्य 'अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु, अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु, यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। स वाऽयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा, तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिताः, एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि, सर्वे देवाः, सर्वे लोकाः, सर्वे प्राणाः, सर्वे एत आत्मानः समर्पिताः। (बृ. २।५।१५) इत्यन्तेन ग्रन्थेनेति। सर्वस्य पृथिव्यादि-

है, तिस प्रकार मैं तुम-दोनों के क्रूर कर्म का आविष्कार करता हूँ, इसका पूर्व से सम्बन्ध है। अथवा तन्यतु यानी मेघ में स्थित शब्द, वृष्टि यानी मेघ के भीतर वर्तमान-जल का, प्रवर्षण द्वारा सर्वत्र प्रकट करता है, तद्वत्। वह कौन कर्म है? दध्यङ् इस नाम वाला आथर्वण—अथर्वऋषि का पुत्र—ऋषि ने तुम्हारे सामर्थ्य से स्थापित किये गये—अश्व के शिर से तुम दोनों के प्रति इस मधुब्रह्म-विद्या को जब निश्चय से कहा। उस समय-अश्व के शिर का सन्धान (जोडना) रूप, तथा पुनः मनुष्य के शिर का प्रतिसधान (काटे हुए का पुनः जोडना) रूप जो आप का कर्म है, उसका मैं आविष्कार करता हूँ, यह अर्थ है। यद्वा मन्त्र में 'ह' यह एव 'ईम्' यह अनर्थक—अर्थशून्य निपात हैं। जो मधु—रहस्य-सार-आत्मज्ञानरूप है, वह एकान्त में ऋषि से कहा गया है—तुम्हारे प्रति उपदिष्ट हुआ है—उस-मधु को भी मैं ब्राह्मणग्रन्थ के द्वारा प्रकट करता हूँ, ऐसा अन्वय है। वह मधु—ज्ञान वाजसनेयक-शतपथब्राह्मण-ग्रन्थ में कहा है—'यह पृथिवी समस्त-भूतों का मधु है'—इस ग्रन्थ से आरम्भ करके—'यह आत्मा समस्त भूतों का मधु है, तथा समस्त भूत इस आत्मा के मधु हैं। यह जो इस आत्मा में तेजोमय-अमृतमय पुरुष है, और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है—जो कि—यह आत्मा है, यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। वह यह आत्मा निश्चयसे समस्त भूतों का अधिपति एव समस्त भूतों का राजा है, इस विषय में दृष्टान्त—जिस प्रकार रथ की नाभि और रथ की नेमि में सारे अरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस आत्मा में समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त प्राण, और ये सभी आत्मा समर्पित हैं।' इस अन्त के ग्रन्थ से। इति। समस्त—पृथिवी आदिरूप विश्व, परस्पर

लक्षणस्य विश्वस्य परस्परमुपकार्योपकारित्वेन हेतुना एकब्रह्मात्मकत्वमुपदिश्य मुमुक्षोर्मोदहेतुत्वादियं मधुब्रह्मविद्या प्रोच्यते। सर्वस्यैकात्मत्वनिश्चये सति रागद्वेषादिलक्षणस्य संतापस्यापगमेनान्तःशीतलतालक्षणस्य प्रमोदस्य प्रादुर्भावः सम्भवत्येव। अनेनाख्यानेनेदमप्यवसीयते—यस्मात्प्राणसंशयापन्नोऽपि दध्यङ् ऋषिः सत्यं रक्षितवान्। तस्माच्छ्रेयोऽर्थिभिर्जीवितादपि प्रयत्नतः सत्यं रक्षणीयं, मतिमतां प्रतिज्ञापालनमावश्यकमिति। नन्वत्र क्रूरकर्मकारित्वेनाश्विनौ निन्द्येते, न विद्यास्तुतिद्वारा विद्यावन्तौ तौ स्तूयेते, तथा चेदमाख्यानं विद्यायाः तद्वताञ्च स्तुत्यर्थमप्यस्तीति वक्तुमयुक्तमिति चेन्नैवम्—'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुमेव प्रवर्ततेऽपि विधेयं स्तोतुमेवे'ति न्यायस्य जागरूकत्वात्, 'ईदृक्षमप्यतिक्रूरं कर्म कुर्वतो अपि तयोर्लोममात्रमपि न च भीयते' इत्यन्यत्र लिङ्गस्य च सद्भावात्, स्तुतिरेवात्र विवक्षिता न निन्दा। निन्दारूपा स्तुतिर्लोकेऽपि प्रसिद्धा। एतेन 'आख्यायिकासम्बन्धो मन्त्रसंहितायां नोपलभ्यते'

उपकार्य-उपकारकरूप होने के कारण, एक-ब्रह्मरूप ही है, ऐसा उपदेश करके मुमुक्षुको मोद-हर्ष का कारण होने से यह मधु-ब्रह्मविद्या कही जाती है। समस्त-विश्व को एक-आत्मरूप से निश्चय हो जाने पर रागद्वेषादिरूप-संताप की निवृत्ति हो जाने से भीतर में शीतलतारूप-प्रमोद का प्रादुर्भाव हो-ही जाता है। इस आख्यान से यह भी निश्चय से जाना जाता है—जिस कारण से—शिर कट जाने पर प्राण रहेगा या नहीं? इस प्रकार जीवन के संशय को प्राप्त हुए भी दध्यङ्-ऋषि ने सत्य की रक्षा किया। इसलिए कल्याण के इच्छुकों को जीवन से भी प्रयत्नपूर्वक सत्य की रक्षा करनी चाहिए। बुद्धिमानों को प्रतिज्ञा का पालन आवश्यक है। इति।

शंका—इस मन्त्र में क्रूर कर्म करने से अश्विनी-कुमारो की निन्दा की जाती है, विद्यास्तुति द्वारा विद्या वाले उन-दोनो की स्तुति नहीं की जाती है, तथा च यह आख्यान विद्या की एवं विद्या वालो की स्तुति के लिए है, ऐसा कहना अयुक्त है?

समाधान—ऐसी शंका समीचीन नहीं है, क्योंकि—'निन्दा निन्द्य की निन्दा करने के लिए ही प्रवृत्त होती है, ऐसा नहीं है, किन्तु विधेय की स्तुति के लिए ही' इस प्रकार का न्याय जाग्रत् है। 'ऐसा अतिक्रूर कर्म करने वाले-उन-दोनों का बाल भी बाका नहीं हुआ है' ऐसा अन्य ग्रन्थ में स्तुति के ज्ञापक-लिङ्ग का सद्भाव है, इसलिए यहाँ स्तुति ही विवक्षित-(कहने के लिए इष्ट) है, निन्दा नहीं। निन्दारूपा स्तुति लोक में भी प्रसिद्ध है।

इस (वक्ष्यमाण कथन) से—'मन्त्रसंहिता में आख्यायिका का सम्बन्ध उपलब्ध नहीं होता'

---

१ 'कोऽयं गङ्गे! विवेकस्ते सपापान् नयसे दिवम्।' इत्याद्या। अत्र विवेकशून्यत्वगम्यनिन्दया पापनिवारणलक्षणा स्तुतिरवगम्यते। इति। हे गंगे! यह क्या तेरा विवेक है? कि तू-पापियों को स्वर्ग पहुँचा देती है। इत्यादि। यहाँ विवेक-शून्यत्व के कथन से लक्षित निन्दा के द्वारा गंगा की पाप सताप निवारण रूप स्तुति जानी जाती है।

इति ब्रुवाणः कश्चन दुराग्रही निराकृतः। न च तेन वेदस्यानादित्वक्षतिः स्यादिति वाच्यम्, 'भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति' (१२।९७) इति मनुस्मरणात्; सर्वज्ञकल्पस्य भगवतो वेदस्य त्रैकालिकं सर्वं वर्ण्यमानं वर्तमानवदपरोक्षमवभासते। अपि च संसारस्यानादित्वाभ्युपगमात्, 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' (ऋ. १०।१९०।३) इति न्यायेन वर्ण्यमानस्य तत्तद्व्यक्तिविशेषप्रवाहस्यानादित्वेन नास्ति वेदस्याऽपौरुषेयत्वक्षतिरिति ध्येयम्।

ऐसा बोलता हुआ किसी दुराग्रही का निराकरण हो गया। 'आख्यान-मानने से वेद के अनादित्व की हानि हो जायगी—अर्थात् वेद सादि हो जायगा' ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि—अतीत, वर्तमान एवं भविष्यत् सब कुछ वेद से प्रसिद्ध होता है। ऐसा मनु ने स्मरण किया है। इसलिए—सर्वज्ञ के सदृश-भगवान् वेद को—तीन काल का वर्णन किये जाने वाला सब कुछ वर्तमान की भाँति अपरोक्ष प्रतिभासित होता है। और संसार अनादि माना गया है, इसलिए—'धाता-परमेश्वर-जैसा जगत् प्रथमकल्प में था—वैसा उत्तरकल्प में भी बनाता है' इस न्याय से, वर्णन किये जाने वाले—उस-उस व्यक्ति-विशेषों के प्रवाह को अनादि होने से वेद के अपौरुषेयत्व की हानि नहीं है, ऐसा समझना चाहिए।

(२८)

(संसारसागरसमुद्धाराय भवरोगशमनाय चाखिलभयदुःखहरः सर्वसुखकरो भगवान् श्रीरुद्र एवावलम्बनीयः)

(ससार सागर से समुद्धार के लिए एव भवरोग के शमन के लिए, समस्त-भय-दुःखों का हरण करने वाला समस्त-सुखों का करने वाला भगवान् श्रीरुद्र ही अवलम्बन (शरण-ग्रहण) करने योग्य है)

भगवन्! कृपानिधे! विशालसंसारसागरे बहोः कालात्पतितस्य दुःखशतसर्पैर्व्यथितस्य मम दीनस्य समुद्धाराय देव! स्वस्य भयहरस्य सुखकरस्य करस्य शीघ्रमेवावलम्बनं देहि। प्रभो! यद्यप्यहमपराधसहस्रभाजनमस्मि, तथापि नाथ! यदि शर-

हे भगवन्! कृपा के भण्डार! विशाल-अपार-ससारसागर में बहु-काल से पडे-हुए—सैंकडो-दुःख-रूपी-सर्पों से व्यथा-को प्राप्त हुए—मुझ दीन के समुद्धार के लिए हे देव! अपने भयहारी-सुखकारी हस्त का शीघ्र ही अवलम्बन (सहारा) दें। हे प्रभो! यद्यपि मैं हजारों-अपराधों का पात्र हूँ, तथापि हे नाथ!

---

१ व्याकरणमत्र—सनये 'षणु दाने' औणादिक इप्रत्यय। तन्यतु—'तनु विस्तारे' यतुच्, यद्वा 'स्तन शब्दे'। वृष्टिं—वृष्यते सिच्यतेऽनयेति वृष्टि 'वृष सेचने' क्तिन्। आथर्वण अपत्यार्थेऽण्, शीर्ष्णा—'शीर्षंश्छन्दसि' इति शिर शब्दपर्याय शीर्षन्छब्दोऽन्तोदात्तो निपात्यते।

णागतस्याऽनन्यगतिकस्य दयनीयस्य मे न दयिष्यसे, तर्हि दयार्णवस्य तव दया कुत्रोपयोक्ष्यते? अयि परमस्नेहसुधामयि! मातः! यद्यपि तवोज्झितनयः कुतनयोऽहमस्मि, तथाप्यार्त्तबन्धो! प्रपन्नपारिजातस्य शरणागतवत्सलस्य तव मदुपेक्षया कुमातृत्वं कथं शोभिष्यते? इति मनसि विचार्य भीमभवार्णवजठरे पतितं मां विमलया दयया समुद्धर। हे दयाब्धे! यथाऽम्बा स्वोदरगतनिजार्भकपादाऽऽहताऽपि तदपराधमविगणय्य क्वचिदपि न कुप्यति किन्तु क्षाम्यत्येव। तथा त्वं विश्वबन्धो! मम शतशः सहस्रशोऽप्यपराधानविगणय्य मयि कोपं परिहाय, सपदि क्षमां विधाय मामव्यथं विधेहि। नाथ! प्रबलपराक्रमविख्यात! त्वत्करकमलावलम्बमासाद्य निरवधिविविधव्याधयोऽप्यसुरसुरनरोरगर्षिसिद्धादयो गलितसमस्तदुराधयो भूत्वा सकलाः पुमर्थसिद्धीः समवाप्याखण्डसुखमुपाययुः, इति तव महिमानं भुवनोदरे प्रथिमानमनुस्मृत्याहमाशान्वितो भवामि। करुणाकर! सचराचरविश्वतात! भवतः परो भवरोगार्तिहरो वैद्यवरोऽखिलेऽपीलावलये न दृश्यतेऽतस्त्वां विहाय वराकोऽहं कमपरं शरणं व्रजानि?। हे हर! दीनबन्धो! ते

यदि तू अन्य गति से रहित-शरणागत-दया करने योग्य-मेरे ऊपर दया न करेगा, तब तुझ-दया के समुद्र की दया का कहाँ उपयोग होगा?। हे श्रेष्ठ-स्नेहरूप प्रचुर अमृत से भरी हुई मातः! यद्यपि मैं तेरा नीति–धर्म का त्याग करने वाला–अन्यायी–कुत्सित-पुत्र हूँ, तथापि हे आर्त(दुःखी)-बन्धो! प्रपन्न-शरणागत के लिए पारिजात-कल्पवृक्षरूप-शरणागतवत्सलरूप-आप का–मेरी उपेक्षा से होने वाला कुमातृत्व कैसे शोभित होगा? ऐसा मन में विचार करके भयंकर-संसारसमुद्र के पेट में पड़े हुए–मेरा विमल-दया से सम्यक् उद्धार कर। हे दया के सागर! जैसे माता, अपने उदर में रहे हुए–अपने-बालक के पाद से ताडित हुई भी, उसके अपराध को न गण करके कभी भी उसके ऊपर क्रुद्ध नहीं होती है, किन्तु क्षमा ही करती है। तिस प्रकार हे विश्वबन्धो! तू मेरे सैंकडों–हजारों भी अपराधों की गणना न करके मेरे प्रति कोप का परित्याग करके, शीघ्र क्षमा करके मुझे व्यथारहित कर। हे नाथ! प्रबल-पराक्रम से विख्यात! तेरे हस्तकमल के अवलम्बन को प्राप्त करके–अवधिरहित-विविध व्याधियुक्त–असुर-सुर-मनुष्य-सर्प-ऋषि-सिद्ध-आदि, समस्त-दुष्ट-आधि-(मानसिक पीडा) से रहित हुए–समस्त-पुरुषार्थों की सिद्धियों को सम्यक् रीति से प्राप्त करके अखण्ड-सुख को प्राप्त हो गये हैं, इस प्रकार के आप के महिमा का–जो भुवन के मध्य में अत्यन्त फैला हुआ है–स्मरण करके आशा से युक्त हो जाता हूँ। हे करुणा के भण्डार! हे सचराचर विश्व के पिता! आप से अन्य, भवरोग के दुःख को हरने वाला–श्रेष्ठ-वैद्य-समस्त-पृथिवी मण्डल में भी देखने में नहीं आता है, इसलिए तुझ को छोड़ कर वराक (गरीब-बेचारा) मैं अन्य-किस के शरण में जाऊँ?। हे हर! हे दीनबन्धो! जैसे

दयालोः दयालवोदयोऽपि मम सकलस्य पापस्य सन्तापस्य च 'सुधासिन्धुशीकरो दावाशुशुक्षणिदाहमिव' नूनं क्षणेन शमनं विधाय परां निर्वृतिं प्रदास्यतीति सुदृढं विश्वसिमि, इत्यभिप्रेत्याह—

अमृत के सागर का स्वल्प बिन्दु, वनाग्नि के दाह को शीघ्र ही शमन कर देता है, तिस प्रकार तुझ दयालु के अल्प दया का उदय भी मेरे समस्त-पाप एवं संताप का निश्चय से क्षण में ही शमन करके अत्युत्तम-आनन्द का प्रदान करेगा, ऐसा मैं अत्यन्त-दृढ विश्वास रखता हूँ, ऐसे अभिप्राय से वेदमन्त्र कहता है—

ॐ क्व स्य ते रुद्र ! मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ।
अपभर्ता रपसो दैव्यस्याभी नु मा वृषभ ! चक्षमीथाः ॥

(ऋ. मं. २ सू. ३३ ऋ. ७)

'हे रुद्र ! आप का वह प्रसिद्ध सुखकारी हस्त कहाँ है ?, जो हस्त, समस्त-व्याधियों को दूर करके स्वास्थ्य का प्रदाता एवं शान्ति-सुख का समर्पक है । हे वृषभ !—सकल कामों के पूरक ! दैवी मार्या द्वारा किया गया—रागद्वेषादिरूप-पाप का तू विनाश कर । मुझ पापी के प्रति भी अतीव क्षमा रख ।'

हे रुद्र !=सकलदुःखहर ! देव ! हे वृषभ !=कामानां पुमर्थानां वर्षितः ! भक्ताभिलापपूरक ! प्रपन्नपारिजात ! ते=तव, स्यः=सः प्रसिद्धः, मृळयाकुः=सुखयिता—सुखकरः, हस्तः=करः, क्व=कुत्र वर्तते ? यः=हस्तः, भेषजः=भैषज्यकृत्—विविधव्याधीन्—दूरीकृत्य स्वास्थ्यसौख्यप्रद इत्यर्थः । पुनः स कीदृशः ? जलाषः[1]=सर्वेषां शान्तिसुखविधाता, अस्ति=भवति, एतादृशो हस्तो विद्यते एव, तेन हस्तावलम्बेन संसारसागरे पतितं मां समुद्धर; मदीयां विविधां व्यथामपाकृत्य मां रक्षेति भावः । अपि च दैव्यस्य=दुरत्ययदैवीमायाकृतस्य रपसः=पापस्य—रागद्वेषादिसङ्कुलस्य संसाराख्यस्य, अपभर्ता—

हे रुद्र ! यानी समस्त दुःखों का हरने वाला देव ! हे वृषभ ! यानी कामना करने योग्य-अखिल पुरुषार्थों का समर्पक—भक्तों की अभिलाषाओं का पूरक, प्रपन्न के लिए पारिजात-कल्पतरु के समान ! तेरा वह प्रसिद्ध, सुखकारी हस्त कहाँ है ? जो हस्त भैषज्यकारी है, अर्थात् विविध-व्याधियों को दूर करके स्वास्थ्य एवं सौख्य का प्रदाता है, वह फिर कैसा है ? जलाष है यानी सभी को शान्ति एवं सुख का करने वाला है, इस प्रकार का हस्त है ही। उस हस्त के अवलम्बन द्वारा संसारसागर में पडे हुए—मेरा सम्यक् उद्धार कर । मेरी अनेक प्रकार की व्यथा को दूर कर मेरी रक्षा कर, यह भाव है । और दुरत्यय (अतिक्रमण करने के लिए अशक्य) दैवी (देव आप-भगवान् के आश्रय में रहने वाली) माया से किया गया—रागद्वेषादि से

[1] जलमिति सुखनाम, जायन्त इति जाः जनाः; 'डोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति जनेः केवलादपि डः । तैर्जैः लष्यते—वाञ्छ्यते यत्तज्जलाषं सुखमित्यर्थः । जशब्दे उपपदे लषेः कर्मणि घञ् तदस्यास्तीति अर्शआद्यच् ।

अपहर्ता-विनाशयिता भूत्वा मायावशेन कृतापराधं मा=मां, नु=क्षिप्रं, अभि चक्षमीथाः=अभिक्षमस्व इत्यर्थः। हे महादेव! त्वया दयाब्धिना तावच्छरणागतस्य कृपणस्य मम सकला विविधा अपराधाः क्षन्तव्याः, अपराधकारणं मायाऽपरपर्यायमज्ञानमपि पापमूलं ज्ञानालोकशस्त्रेणोच्छेत्तव्यम्। एवं कृते मम समुद्धारो नूनं भविष्यतीति भावः।

समाक्रान्त-संसार नाम वाले—पाप का तू अपहरण करने वाला—विनाश करने वाला हो कर, माया के वश से जिसने अपराध किये हैं—ऐसे मेरे प्रति तू अत्यन्त क्षमा कर। हे महादेव! शरणागत-कृपण-दीन-मुझके समस्त-विविध-अपराधों की तुझ-दया-सागर को क्षमा कर देनी चाहिए। अपराधों का कारण—माया है अन्य नाम जिस का—ऐसा पापों का मूल-अज्ञान का भी ज्ञान-प्रकाशरूप शस्त्र से उच्छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने पर मेरा सम्यक् उद्धार निश्चय से हो जायगा, यह भाव है।

(२९)

(हे मर्त्याः! यूयं भगवन्तं श्रीरुद्रमेव स्तुत, नमत, तत्पावननामानि च गृह्णीत)

(हे मरणधर्म वाले मनुष्यो! आप लोग भगवान् श्रीरुद्र की ही स्तुति करें, उसको ही प्रणाम करें, तथा उसके पावन-नामों को ग्रहण करें)

हे सदानन्तानन्दप्रकाशस्वरूप! तव स्वतःप्रकाशेनैवेदं सर्वं प्रकाशतेऽतस्त्वदन्यो नास्ति प्रकाशः कश्चित्क्वचित्। भवार्णवान्तर्निमज्जता मया सद्भाग्यवशाच्चिराय कूलमिव प्रकाशस्वरूपस्त्वं परिलब्धोऽसि, ततस्त्वां विश्रान्तिभूमिं कथङ्कारं क्षणमपि परिहराणि? हे अनन्तमहाविभूते! वागीशाद्यमरगणसंस्तुतनिस्तुलमहिमानं निर्गुणमपि वरगुणोदारमनाकारमपि कन्दर्पकोटिगुणसुन्दरदिव्याकारं कुन्देन्दुगौरं त्वामनवरतं सच्छ्रद्धयाऽभिष्टवीमि। भग-

हे सदा-अनन्त-आनन्द-प्रकाशस्वरूप! आप के स्वतः प्रकाश से ही यह सर्व विश्व-प्रकाशित होता है। इसलिए आप से अन्य-कोई भी प्रकाश कहीं भी नहीं है। संसार-सागर के भीतर निमज्जते हुए-मुझ को अच्छे-भाग्य के वश से बहु काल के बाद तट की भाँति प्रकाशस्वरूप तू प्राप्त हुआ है। इसलिए विश्रान्ति के स्थानरूप-आप को मैं क्षणभर के लिए भी कैसे छोड़ूँ? हे अनन्त-महाविभूतिरूप! वाचस्पति आदि देवगण से सम्यक्-स्तुति किये गये-तुलनारहित-महिमा वाले, निर्गुण भी श्रेष्ठ-गुणों से उदार, आकाररहित भी कामदेव से भी कोटि-गुण-सुन्दर दिव्य आकार वाले—कुन्द-इन्दु के समान गौररूप आप की मैं निरन्तर सात्त्विकी-श्रद्धा द्वारा सम्यक् स्तुति करता हूँ। हे भगवन्!

१ चक्षमीथाः—'क्षमूष् सहने' लङि छान्दसः शपः श्लुः 'बहुलं छन्दसि' इतीडागमः।

चन्! यथा तथा वापि कदापि केनापि सकृत्कृतं तव संस्तवनं तस्याशेषतोऽशुभानि मुष्णाति, पुष्णाति च शुभानि-श्रेयांसि निखिलानि। हे इन्दुधवल! दुरहंकृतिदौर्भाग्यं विधूय मौलौ बद्धाञ्जलिपुटं निधाय नतिततिभिरहमनन्यचेतसा सततं त्वां परिपूजयामि, त्वत्पादाब्जमुद्दिश्य विहितोऽयमञ्जलिर्जनस्य कानि कानि दुरितानि न द्रावयति? कांस्कान् पुमर्थान् न साधयति? अपि चाहो! तत्रभवतो दयालुतां किं वर्णयामः? यो भवान् कृपाजलनिधिर्भगवान् सर्वजनसुलभेन स्वनाम्नैव भवपाशबन्धं विभेदयति। श्रद्धया हेलया वा सकृदपि समुच्चरितं स्वस्त्ययनं पावनं भवन्नाम सर्वलोकस्य दुरितजालं झटिति व्यपनयति, समुपनयति च कल्याणपरम्पराम्। तानि तत्रभवतो महादेवस्य महामहिमशालीनि कलिमलकुलोच्छेदकानि परमपावनानि नामानि यो न गृह्णाति, स पाषाणमतिः पशुरेव न संशयः। वयन्तु सुखसिन्धौ भवन्नाम्न्येव सततं निमग्नाः सन्तः स्वात्मानं कृतार्थयामः, इत्येतमाशयमन्तर्निधाय तदाह—

जिस किसी भी प्रकार से कभी किसी से भी एकवार किया हुआ आप का सम्यक्-स्तवन, उसके समग्र-अशुभों का विनाश कर देता है और निखिल-शुभ-कल्याणों को पुष्ट कर देता है। हे इन्दु के समान धवल-शुभ्र-रूप! दुरहंकाररूप-दौर्भाग्य का परित्याग कर, शिर में बँधी हुई-अंजली-पुट को स्थापन कर प्रणाम परम्परा के द्वारा मैं अनन्य-चित्त से निरन्तर आप का पूजन करता हूँ। आप के चरण-कमल का उद्देश्य करके की गई यह अञ्जलि, मनुष्य के किन-किन-पापों को नहीं भगाती है? एवं किन-किन-पुरुषार्थों को सिद्ध नहीं करती है?। और भी अहो! परमपूज्य आप की दयालुता का हम क्या वर्णन करें? जो आप कृपासागर भगवान्—सर्व जन के लिए सुलभ-अपने-नाम-मात्र से ही संसार के अविद्यादि-पाशबन्ध का विभेदन कर देते हैं। श्रद्धा से या उपेक्षा से एक वार भी उच्चारण किया गया—कल्याण-धामरूप पावन-आप का नाम समस्त लोक के पापों के जाल को शीघ्र ही दूर कर देता है, और कल्याण-परम्परा को सम्यक् समर्पण कर देता है। परम-पूज्य-आप महादेव के—उन महामहिमाशाली-कलिमल के समुदाय को उच्छिन्न करने वाले-परमपावन-नामों को जो ग्रहण नहीं करता है, वह पाषाण के सदृश-कठोर बुद्धि वाला—असंशय पशु ही है। हम तो सुख-सागररूप-आप के नाम में ही निरन्तर निमग्न हुए अपने आत्मा को कृतार्थ करते हैं, ऐसे तात्पर्य का भीतर स्थापन कर भगवान् वेद कहता है—

ॐ प्रबभ्रवे वृषभाय श्वितीचे, महो महीं सुष्टुतिमीरयामि।
नमस्या कल्मलीकिनं नमोभिर्गृणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम॥

(ऋग्वेद० मण्ड० २ सूक्त, ३३ ऋक्० ८)

'विश्व का भरण करने वाले—इष्ट-कामों को समर्पण करने वाले—गौर-शुभ्र-रूप से प्रकाशित होने वाले—उस भगवान् के लिए मैं बड़ी-उत्तम से भी बड़ी-उत्तम पवित्र-स्तुति का उच्चारण करता हूँ। स्वतः सर्वत्र प्रकाशमान-उस परमेश्वर का तू नमस्कारों के द्वारा पूजन कर। हम तो भगवान् रुद्र के प्रभावशाली-नाम का ग्रहण करते हैं।'

बभ्रवे=विश्वस्य भर्त्रे, यद्वा बभ्रवे=बभ्रु-वर्णाय-पिङ्गलरूपाय । वृषभाय=कामानां वर्षित्रे, तद्वत्प्रसह्यकारिणे वा, श्वितीचे=श्वैत्यमञ्चते-कुन्देन्दुधवलस्वरूपेण प्रकाशमानायेत्यर्थः । एवंगुणविशिष्टाय भगवते श्रीरुद्राय महो=महतोऽपि, महीं=महतीं, सुष्टुतिं=शोभनस्तुतिं-तदीयमहत्तमोदारतमस्तुत्यगुणानुवादमित्यर्थः । प्र ईरयामि=प्रकर्षेण उच्चारयामि । हे जनते ! कल्मलीकिनं=ज्वलतो नामधेयमेतत् (नि. २।१७) ज्वलन्तं-स्वतः सर्वत्र सदा प्रकाशमानं, कलयति-अपगमयति-तमोभूतं मलमिति कल्मलीकं-तेजः, तद्वन्तम् । यद्वा कल्मलीकिनं=कं मलीनमज्ञानिनमहं ज्ञानालोकेनाज्ञानान्ध्यं विधूय शोधयानि-परिशुद्धं करवाणि ? इति, कं मलिनं पाप्मानं स्वनामप्रभावेण पापानि निरस्य शोधयानि ? इति वा विचारयन्तमित्यर्थः । श्रीरुद्रं नमोभिः=नमस्कारैः-नतिततिभिः, हविरादितदाराधनसाधनद्रव्यैर्वा नमस्य=पूजय इति मन्त्रद्रष्टुर्महर्षेः जनताहितकृदुपदेशोऽयम् । वयन्तु रुद्रस्य=भगवतो महादेवस्य, त्वेषं=दीप्तं-प्रभावशालि नाम गृणीमसि=गृणीमः संकीर्तयामः, 'मनामहे चारु देवस्य नाम' (ऋ. १।२४।२) 'यस्य नाम महद्यशः' (श्वे. ४।१९) इति श्रुतेः । मनामहे=उच्चारयामः उच्चराम वा, चारु-शोभनमित्यर्थः । यशः=यशस्वीत्यर्थः । अतो यूयमपि तन्नामग्रहणेन

बभ्रु यानी विश्व का भर्ता, या बभ्रु-वर्ण-पिङ्गल-रूप वाला । वृषभ यानी कामों का वर्षण-कर्ता, या वृषभ की भाँति बलपूर्वक कार्य करने वाला । श्वितिच् यानी-कुन्द-इन्दु के सदृश धवल-श्वेतरूप से प्रकाशमान । इस प्रकार के गुणों से संयुक्त-भगवान् श्रीरुद्र के लिए, महान् से भी महान्-उत्तम से भी उत्तम, शोभनस्तुति यानी उसके अतीव-महान्-अतीव उदार-स्तुत्य गुणो के अनुवाद का मैं प्रकर्ष से यानी आदरपूर्वक उच्चारण करता हूँ। हे जनते ! (मनुष्यो का समुदाय) कल्मलीकी, यह ज्वलत्पदार्थ का नाम है। अर्थात् जो स्वतः सर्वत्र सदा प्रकाशमान है, वह कल्मलीकी है। तमः-अज्ञानाद्यन्धकाररूप मल-कालुष्य का जो अपगम-निवारण कर देता है, वह कल्मलीक-तेज है, तेज वाला कल्मलीकी है । यद्वा किस मलीन-अज्ञानी को मैं ज्ञान-प्रकाश से अज्ञानरूप-अन्धकार का निरसन कर परिशुद्ध करूँ ? या किस मलीन-पापी को अपने नाम के प्रभाव से पापों का निरास कर शुद्ध कर दूँ ? इस प्रकार का विचार करने वाला भगवान् कल्मलीकी है, ऐसे श्रीरुद्र का नमस्कारों से-प्रणामों की परम्परा से या हवि आदि-उसकी आराधना के साधनभूत द्रव्यों से पूजन कर, इस प्रकार मन्त्रद्रष्टा महर्षि का जनता का हितकारी यह उपदेश है। हम तो भगवान् रुद्र महादेव का त्वेष यानी दीप्त प्रभावशाली-नाम का ग्रहण करते हैं-संकीर्तन करते है। 'हम देव का चारु-सुन्दर-पवित्र नाम का उच्चारण करते हैं' 'उसका नाम महान् यशस्वी-प्रभावशाली है' इत्यादि श्रुतियो से भी यही उपदेश किया गया है। मनामहे यानी उच्चारण करवाते हैं, या करते हैं। चारु का शोभन अर्थ है । यश यानी यशस्वी । इस लिए तुम भी उसके नाम ग्रहण से अपने आत्मा

स्वात्मानं कृतार्थयत इति भावः। श्रीस्कन्द-पुराणेऽपि रुद्रनाममहत्त्वं प्रदर्शितम्–'बीभत्सिते दुर्विषये कदाचि–द्यो वाऽपि रागो भविता जनस्य। स चेद्भविष्यत्यपि नामरुद्रे, को नाम मुक्तो न भवेद्भवाब्धेः॥' इति। श्रीमद्भागवतेऽपि सुनिपुणं वर्णितम्–'यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां, सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत्।' (भा. ४।४।१४) अस्य ह्ययमर्थः–यदिति व्यस्तमव्ययं, यस्य नाम द्व्यक्षरं रुद्र–शिव–शम्भु–इत्यादिकं सुखोचार्यं, तदपि गिरेरितं=वाचोचरितं, न तु हृदयेन तदर्थमवधार्य्य, तच्च सकृन्न बहुवारं, तदपि प्रसङ्गान्न तु श्रद्धादिना, अघं=सर्वप्रकारकं अवधीरितमहदल्पभेदम्, आशु=शीघ्रमेव न तु कालान्तरव्यवधानेन, हन्ति=हिनस्ति, तत्रापि न नामिनो भगवत्यश्चित्तमावर्ज्य, किन्तु तत्स्वयमेव, तच्च सर्वेषां नृणां न द्विजानामेवेति।

को कृतार्थ करें, यह भाव है। श्रीस्कन्दपुराण में भी रुद्र नाम का महत्त्व प्रदर्शित किया है–'बीभत्स-गंदे-खोटे विषय में कदाचित् मनुष्य का जैसा अनुराग हो जाता है, वैसा ही अनुराग यदि श्रीरुद्र के नाम में हो जाय, तो कौन ऐसा है–जो संसार-सागर से मुक्त न हो जाय?।' इति। श्रीमद्भागवतमें भी रुद्र-शिव-नाम के महत्त्व का अच्छी निपुणतापूर्वक वर्णन किया है–'जिस जगद्गुरु-महादेव का दो-अक्षर वाला नाम, वाणी से एक बार भी प्रसंगोपात उच्चरित हो जाता है, तो वह नाम शीघ्र ही पाप का विनाश कर देता है।' इति। इसका यह अर्थ है–'यत्' यह पृथक्-अव्यय है। जिस का नाम–दो अक्षर वाला–रुद्र-शिव शम्भु इत्यादि है, जो सुखपूर्वक-उच्चारण करने योग्य है। वह भी वाणी से उच्चारण किया गया, हृदय से उसके अर्थ का अवधारण करके नहीं। वह भी एक बार, बहु बार नहीं, वह भी प्रसंग से श्रद्धा आदि से नहीं। अघ यानी सभी प्रकार का पाप, जिसमें महान्–या अल्प का भेद तिरस्कृत है, अर्थात् छोटा-बड़ा सभी पाप। आशु यानी शीघ्र ही, कालान्तर के व्यवधान से नहीं। हन्ति–हिनस्ति–नष्ट कर देता है। उसमें भी नामी–भगवान् में चित्त को लगा करके नहीं, किन्तु वह नाम स्वयं ही पापों का नाश कर देता है, वह भी सभी मनुष्यों का, द्विजों का ही नहीं। इति।

(३०)

सगुणस्य साकारस्यैवेश्वरस्योपासनावलम्बनत्वस्य सर्वबलप्रयोक्तृत्वस्य च प्रतिपादनम्)

(सगुण–साकार ही ईश्वर, उपासना का अवलम्बन है, और वही समस्त-बलों का प्रयोक्ता है, ऐसा प्रतिपादन)

१ श्वितीचे='श्विता वर्णे' धातो औणादिक इन्प्रत्यय। श्विर्ति=कर्पूरगौरवर्णं अञ्चति–प्रकटयतीति श्वित्यक्–तस्मै। अग्रते 'ऋत्विक्' इत्यादिना किन् चतुर्थ्येकवचने 'अच' इत्यकारलोपे 'चौ' इति दीर्घत्वम्। गृणीमसि='गॄ शब्दे' क्रैयादिकः 'इदन्तो मसि' प्वादीना ह्रस्व'। इति।

परमेश्वरस्य कथमपि निरालम्बनोपासना न हि सम्भवति। परमार्थतस्तस्य निराकारत्वेन निर्गुणत्वेन निर्विशेषत्वेन स्वरूपतः तदालम्बनायोगात्, 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' -(के. उ. १।५) इति श्रुतेः। तथा च किमालम्बना परमेश्वरोपासना कार्या ? इति पृच्छावतामीश्वरोपासनायामभिरुचिवतां जिज्ञासूनां मनःसमाधानाय स्वयं भगवान् वेदः—शुद्धसत्त्वमयी-मायोपधानप्रत्युपस्थापितैर्हितरमणीयैः पञ्चाष्टादिमूर्त्यात्मकैर्विग्रहैः समुपेतः पुरुरूपः परमेश्वरो युक्त एवोपासनावलम्ब इत्युपदिशन्—अपि च देवदनुजमनुजादिसर्वप्राणिषु तारतम्येन समुपलभ्यमानं यज्ज्ञानक्रियादिबलं तन्निरतिशयबलनिधिसर्वज्ञातृसर्वकर्तृपरमेश्वरशक्तियोगादेव तत्र सङ्क्रान्तं 'अग्नियोगादयःपिण्डे दग्धृत्वमिव' विभावनीयं, न स्वातन्त्र्येण तत्र तदस्ति। अनेन परमेश्वरस्य सार्वात्म्यमपि सिद्धं भवति। न च सर्वजन्तूनां कथमीश्वरशक्त्यैव तद्वत्त्वं, परमेश्वरवत्तेषां स्वत एव ज्ञानादिबलमस्तु इति वाच्यम्, तद्वत्तेषां स्वतो ज्ञानादिबलवत्त्वे तज्ज्ञानादिबलानामुत्पत्ति-

परमेश्वर की अवलम्बन-शून्या-उपासना किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती है। वस्तुतः वह परमेश्वर निराकार, निर्गुण एवं निर्विशेष है, इसलिए स्वस्वरूप से वह उपासना का अवलम्बन नहीं हो सकता है। 'उसीको तू (निर्गुण-निर्विशेष) ब्रह्म जान, जिस इस (देशकालावच्छिन्न-सगुण-साकार-वस्तु) की लोक उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।' इस केनश्रुति से भी यही सिद्ध होता है। तथा च 'परमेश्वर की उपासना किस आलम्बन से करनी चाहिए ?' इस प्रकार प्रश्न करने वाले—एवं ईश्वर की उपासना मे अभिरुचि रखने वाले—जिज्ञासुओ के मन का समाधान करने के लिए स्वयं भगवान् वेद—जिस में शुद्ध-सत्त्वगुण प्रचुर है, ऐसी मायारूप-उपाधि से प्रकट किये गये—हितकारी-रमणीय-(शिव, विष्णु शक्ति आदि देवों की) पञ्चमूर्ति-अष्ट-मूर्ति आदिरूप विग्रहो से सयुक्त हुआ—बहु रूप वाला-परमेश्वर ही उपासना का आलम्बन-युक्त-समीचीन है—ऐसा उपदेश करता है। और भी देव दानव-मानव-आदि सभी प्राणियो में न्यूनाधिक-भाव से सम्यक् उपलभ्यमान—जो ज्ञान क्रिया आदि का बल है, वह निरतिशय (न्यूनाधिक भावरहित) बलनिधि-सर्वज्ञ सर्वकर्ता-परमेश्वर की शक्ति के योग से ही—'अग्नि के सयोग से लोहे-के पिण्ड में दग्धृत्व की भाँति' उनमें सक्रमित हुआ है, ऐसा समझना चाहिए, उनमें स्वतन्त्रता से वह नहीं है। इस कथन से परमेश्वर का सर्वात्मत्व भी सिद्ध होता है। 'सभी प्राणियों के मध्य में ईश्वर की शक्ति से ही शक्तिमानता क्यों है ? परमेश्वर की भाँति उनमें भी स्वत ही ज्ञानादि का बल-शक्ति होओ ? ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योकि—परमेश्वर की तरह उनमें स्वतः ही ज्ञानादि बलवत्ता मानने पर उन ज्ञानादि बलों की उत्पत्ति एव विनाश की उपपत्ति नहीं हो सकती है। सभी समय में उन

विनाशानुपपत्तेः सर्वदा तल्लाभप्रसङ्गाच्च। अतस्तेषु तत्त्वतो नाभ्युपगन्तव्यमपि तु परमेश्वरायत्तमेव। 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।' (१०।५) 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च' (१५।१५) इति गीतास्वप्युक्तत्वात्[1] इति च विज्ञापयन् तदेतदनेनाभिदधाति—

ज्ञानादि बलों के लाभ का प्रसङ्ग आ जाता है। इसलिए उनमें वह स्वतः है, ऐसा कदापि नहीं मानना चाहिए, किन्तु परमेश्वर के अधीन ही वह है, ऐसा मानना चाहिए।—'प्राणियों के नाना प्रकार के बलादिओं के भाव मेरे से ही होते हैं।' 'मेरे से ही स्मृति, ज्ञान, एवं अपोहन—संशय-विपर्ययादि दोषों की निवृत्ति—होते हैं।' इति। गीता में भी भगवान् ने इस प्रकार ही कहा है। ऐसा विज्ञापन करता हुआ भगवान् वेद—वही यह इस मन्त्र से कहता है—

ॐ स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो, बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः। ईशानादस्य भुवनस्य भूरे—र्न वा उ योषद् रुद्रादसुर्यम्॥

(ऋग्वेद. मण्ड. २ सूक्. ३३ ऋक्. ९)

'स्थिर-दृढ-हस्तपादादि अवयवों से संयुक्त-पञ्चमूर्ति-आदि अनेक रूपों से संयुक्त-तेजस्वी विश्वभर्ता-भगवान्, विशुद्ध-हितरमणीय-दर्शनीय-साकार विग्रहों से विभासित होता है। इस भूतसमुदायरूप-भुवन के धारण करने वाले—परमेश्वर-रुद्र से पृथक् ज्ञानादि बल नहीं है।'

स्थिरेभिः=स्थिरैः—दृढैः, अङ्गैः=अवयवैः, संयुक्तः, पुरुरूपः=पञ्चाष्टादिमूर्त्यात्मकैर्बहुभी रूपैरुपेतः, उग्रः=उद्गूर्णः—तेजस्वी सर्वसमर्थः। बभ्रुः=भर्ता बभ्रुवर्णो वा रुद्रः—परमेश्वरः, शुक्रेभिः=दीप्तैः शुद्धसत्त्वमयीमायाप्रत्युपस्थापितैः, हिरण्यैः=हिरण्यवत् हितरमणीयैर्दर्शनीयैः साकारविग्रहैः, पिपिशे=दीप्यते। अनेन सगुणस्य साकारविग्रहोपेतस्य तस्योपासनयोग्यता सूचिता। ईशानात्=ईश्वरात्, अस्य भुवनस्य=भूतजा-

स्थिर-दृढ-हस्तपादादि—अङ्ग-अवयवों से संयुक्त, पञ्च-मूर्ति-अष्ट-मूर्ति आदि-बहु-रूपों से विशिष्ट, उग्र यानी तेजस्वी सर्वसमर्थ, बभ्रु यानी भरणकर्ता या बभ्रुवर्णयुक्त रुद्र-परमेश्वर, शुक्र-यानी दीप्त-शुद्ध-सत्त्वगुणमयी माया से प्रकटित हुए—हिरण्य-सुवर्ण की भाँति हित-कर-रमणीय—दर्शनीय-साकार विग्रहों से विभासित होता है। इस कथन से साकार विग्रह से संयुक्त-सगुणरूप उस भगवान् में उपासना की योग्यता सूचित की गई। ईशान-ईश्वर—जो इस भुवन—भूतसमुदाय का भर्ता-विधारक है,

---

[1] शिवविष्णुगणेशशक्तिसूर्यरूपाः पञ्च मूर्तयस्तु प्रसिद्धाः। अष्टमूर्तयो वायुसंहितायामभिहिताः—'तस्य देवाधिदेवस्य मूर्त्यष्टकमिदं जगत्। भूम्यम्भोऽग्निमरुद्व्योमक्षेत्रज्ञार्कनिशाकराः॥ अधिष्ठिता महेशस्य शर्वाद्यामिश्च मूर्तिभिः। चराचरात्मकं विश्वं धत्ते विश्वम्भरात्मना॥' इति। शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति—देवी और सूर्यरूप—पांच मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं। अष्ट मूर्तियाँ वायुसंहिता में कहीं हैं—उस देवाधिदेव का यह जगत् अष्ट—मूर्तिरूप है। पृथिवी-जल-अग्नि-वायु आकाश-क्षेत्रज्ञ सूर्य और चन्द्रमा ये आठ मूर्तियाँ हैं। महेश्वर की शर्व आदि मूर्तियों से ये अधिष्ठित हैं। वह विश्वम्भररूप से चराचररूप—निखिल—विश्व को धारण करता है। इति।

तस्य भूरेः=भर्तुः—विधारकात्—रुद्रात्, असुर्यं=ज्ञानादिबलं, असुरः=क्षेप्ता तत्र साधुः—असुर्यं, सद्वाक्यादिक्षेप्तृषु विद्वत्सु, बाणादिक्षेप्तृषु योद्धृषु च साधुत्वेन समुपलभ्यमानं बलमसुर्यमुच्यते। तत् न वा उ=नैव योपत्=पृथक् भवति। तद्बलमेव तत्र तत्र विभाव्यते। तस्मात्तत्कथमपि पृथग्भूतं न भवतीत्यर्थः। पिपिशे='पिश अवयवे' अयं दीपनायामपि, "त्वष्टा रूपाणि पिंशतु" इत्यत्र दीपयत्वित्यर्थः।

(कर्मणि लिट्। असुर्यं 'असु क्षेपणे' असेरुरन्। योपत्='यु मिश्रणामिश्रणयोः' यौतेर्लेट्युडागमः, 'सिब्बहुलं लेटि' इति सिप्)

उस-रुद्र से असुर्य यानी ज्ञानादि बल, योपत् यानी पृथक् नहीं होता है। असुर यानी क्षेप्ता—उसमें जो साधु-अच्छा-ज्ञानादि पदार्थ है, वह असुर्य है। अच्छे वाक्यादि के क्षेप्ता-प्रयोक्ता-विद्वानों में तथा बाणादि के क्षेप्ता-योद्धाओं में साधु-शोभनरूप से सम्यक् उपलभ्यमान—ज्ञान शौर्यादि का बल असुर्य कहा जाता है। उस रुद्र भगवान् का ज्ञानादि बल ही तहाँ तहाँ विभासित होता है। इसलिए वह किसी भी प्रकार से उस परमेश्वर से पृथक्—सिद्ध नहीं होता है। पिश अवयव अर्थ का धातु है, परन्तु यह यहाँ दीपन अर्थ में है। 'त्वष्टा रूपों को पिंशतु—अर्थात् दीपन करें।' यह वाक्य इसमें प्रमाण है।

(३१)

(अपारानन्तबलनिधिर्भगवान् निग्रहानुग्रहे विधाय सर्वलोकरक्षणं करोति)

(अपार-अनन्त-बलों का भण्डार-भगवान् निग्रह एवं अनुग्रह करके सर्व लोकों का रक्षण करता है)

परमेण प्रेम्णा स्तुतो विश्वरक्षणदीक्षितो दयानिधिर्भगवान् भक्तान् त्वरितमनुगृह्णाति। त्यक्तान्यभावेभ्यस्तेभ्यः प्रीतोऽसौ तदभिरुचिमनुरुध्य हारादिसकलाभरणसौन्दर्य्यसमुपेतसाकारविग्रहरूपेणापि स्वात्मानं दर्शयति। अत्याचारानाचारादिना कुपितोऽसौ निरतिशयौजस्वितरो धनुर्बाणादिकमायुधजातं गृहीत्वा दुष्टान् सपदि हिनस्ति। एवं स्वौजसा दुष्टादुष्टयोर्निग्रहानुग्रहाभ्यां लोकसंरक्षणं विदधातीत्येतदाह—

परम प्रेम से स्तुति किया गया-विश्व के रक्षण के लिए दीक्षित हुआ—दयानिधि भगवान् भक्तों के ऊपर शीघ्र ही अनुग्रह करता है। जिन्हों ने भगवद्भाव से अन्य-भावों का परित्याग कर दिया है—ऐसे उन-भक्तों के लिए—प्रसन्न हुआ वह-उनकी अभिरुचि का अनुसरण कर—हार आदि सकल-आभूषणों के सौन्दर्य से संयुक्त—साकारविग्रहरूप से भी अपने आत्मा को दिखाता है। अत्याचार—अनाचार आदि से क्रुद्ध हुआ वह निरतिशय—अत्यन्त-ओज (विशिष्ट-सामर्थ्य) से संयुक्त हुआ वह धनुर्बाण आदि-आयुधों के समुदाय को ग्रहण करके शीघ्र ही दुष्टों का विध्वंस कर देता है। इस अपने ओज से दुष्ट के निग्रह द्वारा तथा साधु के अनुग्रह द्वारा लोकों का सम्यक् रक्षण करता है—इति। यही मन्त्र कहता है—

ॐ अर्हन् बिभर्षि सायकानि धन्वाऽर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्। अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं, न वा ओजीयो रुद्र ! त्वदस्ति ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. २ सूक्त. ३३ ऋक् १०) (तै. आ. ४।५।७)

'हे रुद्र ! अर्हन्–परमपूज्य-अपार सामर्थ्य वाला तू धनुष् एवं बाणों को दुष्ट-निग्रह के लिए धारण करता है। अर्हन्–परममान्य-सौन्दर्यनिधि तू प्रशंसनीय–बहु-प्रकार के दिव्यरूप वाला–हार को धारण करता है। अर्हन्–विश्वस्तुल्य तू इस अतिविस्तृत विश्व की रक्षा करता है। तेरे से अन्य कोई भी पदार्थ अत्यन्त-ओजस्वी नहीं है।'

हे रुद्र ! त्वं अर्हन्=अर्हो योग्य एव–निस्तुलसामर्थ्योपेतः परममान्यः सन् सायकानि=शरान्–बाणान्, धन्व=धनुश्च दुष्टनिग्रहाय बिभर्षि=हस्तयोर्धारयसि। तथा अर्हन्-परमपूज्य एव यजतं=यजनीयं–पूजनीयं–प्रशंसनीयं, विश्वरूपं=बहुविधदिव्यरूपयुक्तं निष्कं=हारं कण्ठे बिभर्षि, इदमुपलक्षणमन्येषामाभरणानाम्। सौन्दर्यसारसर्वस्वे चेतश्चमत्कारिणि स्वसाकारदिव्यविग्रहे दिव्याभरणान्याधाय भक्तानुग्रहाय तद्दृष्टिपथमागच्छसीति यावत्। तथा अर्हन्=विश्वस्तुल्य–एव, इदं=विश्वं–सर्वं अभ्वं=महन्नामैतत्–अतिविस्तृतं जगत् दयसे=रक्षसि–पालयसि, 'देङ् रक्षणे' धातुः। हे रुद्र! त्वत्=त्वत्तोऽन्यत् किञ्चिदपि भूतजातं देवदानवादिलक्षणं–ओजीयः=ओजस्वितरं–बलवत्तरं, न वै अस्ति=न खलु विद्यते, अतस्त्वमेवोक्तव्यापारेषु योग्य इत्यर्थः। (ओजःशब्दान्मत्वर्थीयो विनिः, तत आतिशायनीक ईयसुन्, 'विन्मतोर्लुक्' 'टेः' इति टिलोपः।) वैदिकोऽयमर्हन्निति शब्दो जैनैरस्मादुद्धृत्य स्वतीर्थंकरपरतया संयोजितः।

हे रुद्र ! तू अर्हन् यानी अर्ह-योग्य ही है–अर्थात् तुलनारहित-सामर्थ्य से संयुक्त-परममान्य है, ऐसा तू सायक यानी शर–बाणों को तथा धनुष् को दुष्टों के निग्रह के लिए हस्त में धारण करता है। तथा अर्हन्–परमपूज्य-ही तू यजत यानी पूजनीय-प्रशंसनीय-विश्वरूप यानी बहु प्रकार के दिव्य रूपों से युक्त-निष्क यानी हार को कण्ठ में धारण करता है। यह हार अन्य–आभूषणों का उपलक्षण है। सौन्दर्य के सार का सर्वस्वरूप-चित्त के चमत्कार (अत्याश्चर्य) का प्रयोजक–अपने, साकार दिव्य विग्रह में दिव्य-हारादि सकल आभूषणों को धारण करके भक्त के ऊपर अनुग्रह करने के लिए उनकी दृष्टि के मार्ग में तू आता है अर्थात् आभूषणो से अलंकृत-दिव्य विग्रह से भक्तों को तू दर्शन देता है। तथा अर्हन्–विश्वस्तुल्य ही तू–यह सर्व विश्व–जगत्–जो अभ्व-अतिविस्तृत-है, अभ्व यह महान् का नाम है। उसकी रक्षा-पालन करता है। देङ् रक्षण-अर्थ की धातु है। हे रुद्र ! तुझ से अन्य कोई भी भूतसमुदाय-देव-दानवादिरूप, अत्यन्त-ओजस्वी-अति बलवान् नहीं है। इसलिए तू ही उक्त-निग्रह-अनुग्रहादिरूप-पूर्वोक्त व्यापारों में योग्य है। वैदिक यह 'अर्हन्' शब्द, जैनों ने इस मन्त्र से उद्धृत करके अपने तीर्थंकर के लिए जोड़ दिया है। इससे–'वैदिक सभ्यता ही समस्त-मतों का आदिम-मूल है' ऐसा

तेन वैदिकसम्यता एव सर्वेषां मतानामाद्यं मूलमित्यवगम्यते, तेषां यद्रुचिरं रूपं तत्तु वैदिकमेव, यच्च विकृतं-श्रद्धाविघातकं तत्तन्मौढ्यप्रभवमित्यपि विज्ञेयम् ।

जाना जाता है । उन मतों का जो सुन्दर-रुच्युत्पादक स्वरूप है, वह निश्चय से वेद-प्रतिपाद्य ही है, और जो विकृत-बिगड़ा हुआ—श्रद्धा का विघातक रूप है, वह उनकी मूढता से उत्पन्न हुआ है, ऐसा भी जानना चाहिए ।

(३२)

(वाग्देवतामहासरस्वत्युपासनया विद्याप्रज्ञापुष्टिकान्तिसमृद्धिकीर्त्याद्याः निखिलाः शक्तयः सिद्ध्यन्ति)

(वाग्देवता-महासरस्वती की उपासना से विद्या-प्रज्ञा-पुष्टि-कान्ति-समृद्धि-कीर्ति-आदि निखिल-शक्तियाँ सिद्ध होती हैं)

या ज्ञप्तिरूपा वाग्देवी—शारदाऽस्ति, सा सचराचरविश्वस्य जननी वरेण्या माता परा प्रकृतिरिति, शास्त्रादिभिः परिगीयते । या चाद्वैता ब्रह्मशक्तिः गङ्गादिनिखिलनदीजलमाविश्य तदन्तर्याम्यात्मना भवसन्तापतत्कारणनिर्वापणविद्यासुधानदीरूपेण च भ्राजमानाऽस्तीति ज्ञानवद्भिर्विभाव्यते । या चानादिनिधना वागीश्वरी रुद्रादित्यादिसमस्तदेवशक्तिरूपाऽखिलविश्वव्यापिनी सर्वाधिष्ठाना च वर्ण्यते । एतस्या भगवत्या शारदाम्बाया महासरस्वत्या नान्यगामिना मनसा विहितया स्तवनार्चनस्मरणादिलक्षणया समुपासनया श्रद्धाधनः साधकः सर्वविधदारिद्र्यदैन्यात्सद्यः परिमुच्यते । तत्कृपाकटाक्षैः तमोभूतं निखिलानर्थबीजमनाद्य-

जो ज्ञानरूपा वाणी की अधिष्ठात्री देवी-शारदा है, वह सचराचर विश्व की जननी-उत्पादिका-अतिश्रेष्ठा—माता परा प्रकृति है, ऐसा शास्त्रादि के द्वारा गाया जाता है । और जो अद्वैतरूपा ब्रह्म की शक्ति है, वही गंगा आदि समस्त नदियों के जलों में प्रविष्ट हो कर उनके अन्तर्यामि-आत्मरूप से एवं संसार के संताप, और उनके कारण-अविद्या के निर्वापण (अत्यन्त-शमन) करने वाली विद्यारूप-अमृत की नदीरूप से भ्राजमान-देदीप्यमान है, ऐसा ज्ञानवानों के द्वारा विभावित होता है । जो आदि और अन्त से रहित—वागीश्वरी है, वही रुद्र-आदित्यादि-समस्त देवों की शक्तिरूपा, समस्त विश्व में व्यापिनी-एवं सर्व का अधिष्ठानरूपा है, ऐसा वर्णन किया जाता है । इस भगवती-शारदा-माता-महासरस्वती-की नान्यगामी मन से की हुई—स्तुति-अर्चन-स्मरण आदिरूप-सम्यक्-उपासना से श्रद्धारूपी धन वाला साधक-भक्त, सर्व प्रकार के दारिद्र्य से—दीनता से शीघ्र ही विमुक्त हो जाता है । उसकी कृपा-कटाक्षों से तमः—अन्धकाररूप-निखिल-अनर्थों का बीजरूप-अनादि-

ज्ञानं 'दिनकरकिरणैर्निबिडतरं शार्वरं तम इव' झटिति प्रणाशमेति। तामेतां सर्वार्थसिद्धिप्रदां जगदम्बिकां महादेवीमनुकूलयितुं विशिष्टसम्बोधनैस्तत्स्तवनं सूचयन्तो मन्त्रदृश इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारायाभ्यर्थयन्ते—

अज्ञान—'सूर्य किरणों से अत्यन्त घनीभूत रात्रि के अन्धकार की भाँति' शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। उस-इस-समस्त अर्थों की सिद्धियों का प्रदान करने वाली—जगदम्बिका-महादेवी को अनुकूल-प्रसन्न करने के लिए विशिष्ट सम्बोधनों के द्वारा उसके स्तवन को सूचित करते हुए—मन्त्रद्रष्टा-ऋषि इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के परिहार के लिए उसकी अभ्यर्थना करते हैं—

ॐ अम्बितमे! नदीतमे! देवितमे! सरस्वति!।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब! नस्कृधि॥

(ऋग्वेद. मण्ड. २. सूक्त. ४१ ऋक्. १६)

'हे अम्बितमे!—माताओं में श्रेष्ठ मातः! हे नदीतमे!—नदियों में श्रेष्ठ-विद्या-सुधानदीरूप! हे देवितमे!—देवियों में श्रेष्ठ देवीरूप! सरस्वति! हम अप्रशस्त-दीन दरिद्र हैं। हे अम्ब! हम को प्रशस्ति का—विद्यादि विविध समृद्धि का दान कर।'

- हे अम्बितमे=मातॄणां श्रेष्ठे-प्रशस्यतमे! नदीतमे!=नदीनां श्रेष्ठे! विद्यासुधानदीरूपे! देवितमे!=देवीनां श्रेष्ठे! हे सरस्वति! सर इति—उदकनाम ज्ञाननाम च, 'सृ गतौ' इत्यस्य तद्रूपं, तेन सरसा विशिष्टेन—उदकेन ज्ञानेन च तद्वति!। अत एवोक्तं निरुक्ते—'सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति।' (नि. २।२३।३) तद्व्याख्यातं दुर्गाचार्येण'नद्यर्थयुक्ताश्च देवतार्थयुक्ताश्चेत्यर्थः,'। उदकादन्नमन्नात्प्रज्ञानं तानि सर्वाण्यसौ देवी स्वशक्त्याऽऽविष्करोति। ततस्तस्या मन्त्रोक्तं विशिष्टं प्राशस्त्यमुपपद्यत एव। एवं सम्बोधनमात्रकृतसंस्तवेन

हे अम्बितमे! यानी माताओं में श्रेष्ठ—अतिप्रशस्त! हे नदीतमे! यानी नदियों में श्रेष्ठ विद्या-सुधानदीरूप! हे देवितमे! यानी देवियों में श्रेष्ठ! हे सरस्वति!। सर यह उदक का नाम है तथा ज्ञान का भी नाम है। 'सृ गति अर्थ में' इस धातु का सर यह रूप है। उस सर से यानी विशिष्ट-जल एवं विशिष्ट-ज्ञान से युक्त सरस्वती है। इसलिए निरुक्त में कहा है—'सरस्वती' इस पद के नदी की भाँति एवं देवता की भाँति बोधक निगम-मन्त्र होते हैं।' इसका व्याख्यान दुर्गाचार्य्य ने भी किया है—'नदीरूप अर्थ से युक्त, तथा देवतारूप अर्थ से युक्त, निगम हैं' यह अर्थ है। जल से अन्न, और अन्न से ज्ञान उत्पन्न होता है। इन सब जलादिकों को यह देवी अपनी शक्ति से प्रकट करती है। इसलिए उस देवी सरस्वती का इस मन्त्र में कहा गया यह विशिष्ट प्राशस्त्य युक्तियुक्त ही है। इस प्रकार सम्बोधनमात्र से

तामाशुतोषां वाग्देवतां प्रसाद्य स्वाभीष्टार्थसिद्धये प्रार्थनां प्रकुर्वते–हे अम्ब !=मातः ! अप्रशस्ता विद्यावलधनाद्यभीष्टपदार्थाभावात्, असमृद्धाः–दैन्यदारिद्र्यादिसमुपेता इव=एव, वयं स्मसि=भवामः । अतो हे सरस्वति ! नः=अस्मभ्यं तावकेभ्यः, प्रशस्तिं=विद्यासमृद्धिं–धनसमृद्धिं–धर्मसमृद्धिं–बलसमृद्धिञ्च कृधि=कुरु; कृपया प्रयच्छेत्यर्थः । त्वत्प्रसादात्किं किं न सिद्धं भवत्यपि तु सर्वमिष्टजातं सिद्ध्यतीति भावः । एवं जगदम्बिकां भगवतीं सरस्वतीमाह्वयद्भ्यो भक्तेभ्यः प्रसन्ना सा देवी तेभ्यः सद्य इष्टं फलं ददातीत्यन्योऽपि निगमः प्राह–'सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने । सरस्वतीं सुकृतो अह्वयन्त सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥' (ऋ. १०।१७।७) इति । अयमर्थः–देवयन्तः=देवं–सर्वान्तर्यामिणं सच्चित्सुखात्मानमपरोक्षयितुं कामयमानाः, सरस्वतीं=ब्रह्मविद्यास्वरूपिणीं वागधिदेवतां पारमेश्वरीं शक्तिं यजनशीला भक्ताः हवन्ते=आह्वयन्ति, तथा अध्वरे=यज्ञे–हिंसारहिते वैदिके शुभकर्मणि, 'अध्वर इति यज्ञनाम' ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः ।' (१।८) इति निरुक्तस्मरणात् । तायमाने=बहुभिर्बहुप्रकारैर्वा विस्तार्यमाणे तस्मिन् भक्ताः सरस्वतीं देवीं

किये गये संस्तवन से उस आशुतोष-वाग्देवता को प्रसन्न करके अपने अभीष्ट-अर्थ की सिद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं–हे अम्ब ! मातः, हम विद्या बल-धन आदि अभीष्ट पदार्थों के अभाव से अप्रशस्त-असमृद्ध अर्थात् दीनता दरिद्रता आदि से संयुक्त ही हैं। इसलिए हे सरस्वति ! हम जो तेरे हैं, उनके लिए प्रशस्ति यानी विद्या की समृद्धि, धन की समृद्धि, धर्म की समृद्धि एवं बल की समृद्धि कर, अर्थात् कृपया उन समृद्धियों को प्रदान कर। तेरी-प्रसन्नता से क्या क्या सिद्ध नहीं होता ? अपि तु समस्त इष्ट समुदाय सिद्ध होता है, यह भाव है । इस प्रकार जगदम्बिका, भगवती-सरस्वती-का आह्वान करने वाले–भक्तों के ऊपर प्रसन्न हुई वह देवी, उनको शीघ्र ही इष्टफल का दान करती है, ऐसा अन्य-वेदमन्त्र भी कहता है–'देव के अपरोक्ष-दर्शन की कामना वाले–भक्तगण सरस्वतीदेवी का आह्वान करते हैं । हिंसारहित-अध्वर-यज्ञ–जो बहु प्रकार से विस्तृत-रूप से किया जाता है–उसमें भी सरस्वती का पूजन करते हैं । पुण्यकर्म वाले मनुष्य, अभीप्सित-फल के लिए सरस्वती का आवाहन करते हैं । सरस्वती के उद्देश से हवि आदि देने वाले यजमान के लिए वह अभीष्ट पदार्थों को प्रदान करती है ।' इति । यह अर्थ है–देवयन्तः यानी सर्वान्तर्यामी–सच्चित्सुखस्वरूप-देव को अपरोक्ष करने की कामना करने वाले–यजन करने के स्वभाव वाले–भक्त, ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी-वाणी की अधिदेवता–परमेश्वर की शक्तिरूप–सरस्वती का आह्वान करते हैं । तथा अध्वर यानी हिंसारहित-वेदप्रतिपाद्य-शुभ-कर्मरूप-यज्ञ । 'अध्वर यह यज्ञ का नाम है, ध्वरति धातु हिंसारूप कर्म वाली है, उसका प्रतिषेध अध्वर है।' ऐसा निरुक्त ग्रन्थ में भी स्मरण किया गया है। तायमान यानी बहुतों से या बहु प्रकारों से विस्तार से जो किया जाता है, उसमें भक्तलोग सरस्वती-

यजन्ति—पूजयन्तीति शेषः। तथा सुकृतः=पुण्यकर्माणस्ते सरस्वतीं भगवतीं अह्वयन्तः=अभीप्सितफलानि आदातुं आह्वयन्ते। यत एवमतः कारणात् प्रसन्ना सा सरस्वती दाशुषे=यज्ञे हवींषि दत्तवते तदुपसन्नाय यजमानाय, तत्स्मरणध्यानादौ दत्तचित्ताय भक्ताय वा वार्यं=वरणीयमभीष्टं फलं दात्=शीघ्रं प्रयच्छतीत्यर्थः।

देवी का यजन-पूजन करते हैं, ऐसे क्रियापद का शेषरूप से सम्बन्ध है। तथा सुकृत यानी पुण्य-कर्म वाले—वे सरस्वती भगवती का अभीप्सित-फलों के ग्रहण करने के लिए—आह्वान करते हैं। जिस कारण से ऐसा है—इसलिए प्रसन्न हुई वह सरस्वती, दाशुषे यानी यज्ञ में हविओं को देने वाले—उसके शरणागत-यजमान के लिए या उसके स्मरण ध्यानादि में दत्त चित्त वाले भक्त के लिए, वार्य यानी वरणीय—(वरण-स्वीकार करने योग्य) अभीष्ट फल का शीघ्र प्रदान करती है, यह अर्थ है।

(३३)

(भगवद्गुणानुवादरतस्य तदनुगृहीतस्य महापुरुषस्य प्रार्थनामात्रेण भगवान् सर्वाननिष्टाद्रक्षति तेभ्य इष्टञ्च ददाति)

(भगवान् के गुणों के अनुवाद में प्रीति वाले—उसके अनुग्रह से सम्पन्न—महापुरुष की प्रार्थना-मात्र से भगवान् सभी की अनिष्ट से रक्षा करता है, और उनको इष्ट का दान करता है)

यः परात्मा सम्राजां सम्राट्, अधिपतीनामधिपतिः, शासितॄणां शासिता, रक्षकानां रक्षकः, दातॄणामपि वरिष्ठो दाता। यस्य किलानन्तं साम्राज्यमक्षुण्णमाधिपत्यमप्रतिहतं शासनं शाश्वतं रक्षणं समुदारं दानम्। तस्य परमेश्वरस्य दिव्यगुणानुवादरतो भक्तः सेवकः तदाज्ञापालनतत्परः सदा सर्वत्र वसन्तं तमनुसंदधानः सत्येश्वरनिष्ठो भवन् मानवः तदनुग्रहेण पापसन्तापाद्यनिष्टपरम्परातः स्वयं सुरक्षितो भवति, संसारसागरञ्चानायासेन तरति। तस्यैतस्य महापुरुषस्य प्रार्थनामात्रेण भग-

जो परमात्मा सम्राटों का सम्राट् है, अधिपतियों का अधिपति है, शासकों का शासक है, रक्षकों का भी रक्षक है, दाताओं के मध्यमें भी अतिश्रेष्ठ दाता है। जिस का निश्चय से अनन्त साम्राज्य है, अखण्ड-आधिपत्य है, प्रतिघातरहित शासन (हुकम) है, शाश्वत रक्षण है, एवं सम्यक् उदार दान है। उस परमेश्वर के दिव्यगुणों के अनुवाद (पुनः पुनः कथन) में प्रीति वाला, भक्त, सेवक, उसकी आज्ञापालन के लिए तत्पर रहने वाला, सदा सर्वत्र वसने वाले उस परमात्मा का अनुसंधान करने वाला, सत्य ईश्वर में निष्ठा रखता हुआ वह मनुष्य, उस परमात्मा के अनुग्रह से पाप-संतापादि-अनिष्टों की परम्परा से स्वयं सुरक्षित होता है। और अनायास से ही संसारसागर को तर जाता है। उस इस-महापुरुष की प्रार्थनामात्र से

वान् झटिति सर्वानभिरक्षति, वितरति च तेभ्योऽभीष्टपदार्थसार्थान्, इत्यभिप्रेत्य स्तुत्या तं प्रसाद्य रक्षणादिकं प्रार्थयते—

भगवान् शीघ्र ही सभी की रक्षा करता है। उनके लिए अभीष्ट-पदार्थों के समुदायों का वितरण करता है, ऐसा अभिप्राय रख कर स्तुति के द्वारा उसको प्रसन्न करके रक्षण आदि की प्रार्थना करते हैं—

ॐ त्वं राजेन्द्र ! ये च देवा रक्षा, नॄन् पाह्यसुर ! त्वमस्मान् ।
त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रः, त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः ॥

(ऋग्वेद मण्ड १ सूक्त १७४ ऋक् १)

'हे इन्द्र ! तू राजा—सम्राट्—शासक है। जो ये देव हैं, उनका भी तू राजा है। हे असुर ! यानी शत्रुध्वसक-बलनिधे ! तू शुभकर्मकर्ता—यजमानों की रक्षा कर। और हमारी भी विशेषरूप से रक्षा कर। तू सत्पति—सज्जनों का पालन करने वाला है, मघवा दिव्य-ऐश्वर्यों से सम्पन्न है, तू हमारे को ससारसागर से तारता है। तू सत्य त्रिकाल में भी बाधरहित है। अपनी सत्ता—स्फूर्ति से सभी विश्व को व्याप्त करता है, या अन्तर्यामी—प्रत्यगात्मरूप से सर्वभूतो में निवास करता है, तू हमारे लिए बल का दाता हो।'

हे इन्द्र ! त्वं राजा=सम्राट्—अधिपतिः—शासकः सर्वस्य जगत इति शेषः। किञ्च ये देवाः मरुदादयः सन्ति, तेषामपि विशेषेण राजा 'सम्राट् इन्द्रः सत्ययोनिः' (ऋ. ४।२९।२) इति च श्रुत्यन्तरात्। अतो हे असुर !=शत्रूणां निरसितः ! प्राणदातः ! बलाधिपते ! वा, त्वं नॄन्=कर्मनेतॄन्—त्वदाज्ञापालनतत्परान्—यजमानान्—सर्वान् रक्ष=पालय। अस्मान्=त्वामेवैकं भजमानानपि पाहि=विशेषतो रक्ष। त्वं च सत्पतिः=सतां सज्जनानां, सतः=कर्मफलस्य वा पाता—रक्षिता, मघवा=दिव्यधनैश्वर्यसम्पन्नः, नः=अस्माकं, तरुत्रः=पापात्सन्तापाद्भवसागरात्तद्बीजादज्ञानाच्च तारयिता, विष्णोः परमं पदं प्रापयिताऽसि। किञ्च त्वं सत्यः=त्रिष्वपि कालेष्वबाध्यः परमार्थसत्तोपेतः, वस-

हे इन्द्र ! तू राजा यानी सम्राट्-अधिपति शासक सर्व जगत् का है, ऐसा शेषवाक्य है। और जो मरुत् आदि देव हैं, उनका भी विशेषरूप से राजा है। अन्य श्रुति भी कहती है—'वह इन्द्र सम्राट् सत्य-योनि-सत्य कारण है।' इति। इसलिए हे असुर ! शत्रुओं का निरास करने वाला ! या प्राण का दाता ! या बलों का अधिपति ! तू नॄन् यानी कर्म के नेता—तेरी आज्ञाओं के पालन के लिए तत्पर—समस्त यजमानों की रक्षा पालन कर। एकमात्र-तेरा ही भजन-सेवन करने वाले—हम लोगों की भी तू विशेषरूप से रक्षा कर। तू सत्पति है अर्थात् सज्जनों का या कर्मफल का रक्षक है, मघवा अर्थात् दिव्य धन-ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। और न यानी हमारा तू पाप से, सताप से, भवसागर से एव उसके कारण अज्ञान से तारणहार है, विष्णु के परमपद का प्राप्त कराने वाला है। और तू सत्य है—अर्थात् पारमार्थिक सत्ता से सयुक्त है, तीन काल में भी अबाध्य है। और तू

वानः=स्वसत्तया स्वस्फुरणेन च सर्वं विश्वं छादयन्–व्याप्नुवन् वर्तमानः, सर्वेषु भूतेषु प्रत्यगात्मान्तर्यामितया निवसनशीलो वा। स्तोतृभ्यो भक्तेभ्यो वा वसूनि कुर्वन्–समर्पयन्–परमात्मा त्वं सहोदाः=सहसो बलस्य दाता भवेति शेषः। इदमत्र ज्ञातव्यम्–ईराननिवासिनः पारस्याः परमात्मवाचकमिमं वैदिकमसुरशब्दमस्मादुद्धृत्य 'अहुर'नाम्ना स्वीयं परमात्मानं परिचिन्वन्ति। ते हि स्वभावतः सोमस्य होममिव, सिन्धोः हिन्दुमिव, सकारस्थाने हकारमुच्चारयन्ति। अतो विज्ञायते जगत्यस्मिन् आदिमा संस्कृतिर्वैदिकसंस्कृतिरेव, आदिमा भाषा वेदभाषैवेति।

वसमान है अर्थात् अपनी सत्ता से एवं अपनी स्फूर्ति से समस्त विश्व को आच्छादन–व्याप्त करता है। या सर्व भूतों में प्रत्यगात्मा-अन्तर्यामीरूप से निवास करने का स्वभाव वाला है। या स्तुति करने वाले–भक्तों के लिए तू वसु-धनों को समर्पण करता है। ऐसा तू परमात्मा हमारे लिए सहोदा यानी बल का दाता हो। 'भव' यह क्रियापद यहाँ शेष है। यह यहाँ जानना चाहिए–ईरान देश के निवासी पारसी लोग, परमात्मा का वाचक इस असुर शब्द को इस वेदमन्त्र से उद्धृत करके 'अहुर' इस नाम से अपने परमात्मा का परिचय देते हैं। वे पारसी स्वभाव से ही 'सोम को होम की भाँति' 'सिन्धु को हिन्दु की भाँति' सकार के स्थान में हकार का उच्चारण करते हैं। इससे जाना जाता है कि–इस जगत् में आदिमा संस्कृति, वैदिक संस्कृति ही है, आदिमा भाषा वेदभाषा ही है। इति।

(३४)

(पापोच्छेदेनैवाद्वितीयस्यैकरसस्यानन्दस्य कल्याणस्य लाभो भवति)

(पाप के उच्छेद से ही अद्वितीय-एकरस-आनन्दरूप-कल्याण का लाभ होता है)

रागद्वेषादिरूपस्य संसारस्य हेतुभूतमविद्याख्यमघं मृत्युं भगवदाराधनजन्यकेवलविमलविज्ञानलक्षणया विद्यया समुच्छिद्यैव मतिमान् पुरुषर्षभोऽनवधिकपरिशुद्धसुखरसमजस्रमास्वादयितुं शक्तो भवति। यावदयं तादृशमघं नोच्छिनत्ति, तावत्कथमपि सर्वतोभद्रं सर्वोत्तमोत्तमं सुखं नानुभवितुमर्हति। अथवा यथा यथा प्रत्यह-

रागद्वेषादिरूप संसार का हेतु-कारणरूप-अविद्या नाम वाला पापरूप मृत्यु का–भगवान् की आराधना से जन्य-केवल-विमल-विज्ञानरूप-विद्या से सम्यक् उच्छेद करके ही मतिमान्-श्रेष्ठ पुरुष-अवधिरहित-परिशुद्ध-सुखरस का निरन्तर आस्वादन करने के लिए समर्थ होता है। जब तक यह उस प्रकार के पाप का उच्छेद नहीं करता है, तब तक वह किसी भी प्रकार से सर्वतोभद्र (सर्व तरफ से कल्याण) रूप, समस्त-उत्तमों से भी उत्तमरूप सुख का अनुभव करने के लिए योग्य नहीं होता है। अथवा–जैसे जैसे प्रतिदिन बढ़ती

मेधमानया तदर्चनवन्दनकथनश्रवणकीर्तनस्मरणध्यानादिलक्षणया परिशुद्धाऽनन्यप्रेमपरिपूर्णया भगवदाराधनया प्रतिबन्धकेभ्यः कामादिभ्यः पापेभ्यः स्वान्तं यावद्यावदयं परिमार्ष्टि, तथा तथा तावत्तावदसौ भगवत्कृपाभाजनं भूत्वा तत्प्रदत्तं विमलं सुखमनुभवन् कल्याणभाग्भवतीत्याह—

हुई—उसका अर्चन, वन्दन, कथन, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, ध्यानादिरूप—परिशुद्ध-अनन्य प्रेम से परिपूर्ण-भगवान् की आराधना द्वारा प्रतिबन्धक-कामादिरूप पापो से अपने अन्तःकरण का जितना जितना यह साधक परिमार्जन करता रहता है, तैसे तैसे उतना उतना वह भगवत्कृपा का पात्र हो कर, भगवान् से प्रदत्त विमल-सुख का अनुभव करता हुआ कल्याण का भागी होता है, यही कहते हैं—

ॐ इन्द्रश्च मृळयाति नो, न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. २ सूक्त ४१ ऋक्. ११) (अथर्व. २०।२०।६+५७।९)

'इन्द्र-परमेश्वर तब ही हम को सुखी करता है, जब कि—हमारे पीछे लगा हुआ पाप हमे व्याप्त न हो, पाप का उच्छेद होने पर-समक्ष ही हमारा कल्याण हो जाता है।'

इन्द्रः=परिपूर्णानन्दनिधिः परमेश्वरः सकलैश्वर्यसम्पन्नः अस्माभिः शरणं गन्तव्यो देवः, नः=अस्मान् जीवान् संसारिणः, तदैव मृळयाति=मृडयाति—मृडयति—सुखयति—परिपूर्णं—सुखं समर्पयति, यदा च पश्चात्=पृष्ठतः संलग्नं—आगन्तुकं आत्मस्वभावप्रतिरोधकं, अघं=दुरितं-अविद्यालक्षणं, कामाद्यात्मकं वा पापं नः=अस्मान् न नशत्=व्याप्नुयात्—अस्मभ्यं तत्सम्बन्धो विच्छिद्येत । तथा च तादृशस्य पापस्य सदुपायेन समुच्छेदे सम्पादिते सत्येव नः=अस्माकं, पुरः=पुरस्तात्-समक्षं, भद्रं=कल्याणं—निःश्रेयसं भवाति=भवति, इत्यत्र नास्ति मनागपि सन्देह इति ।

अत एवाभ्युदयनिःश्रेयसप्रतिबन्धकानि पापान्यखिलान्युच्छेत्तुं विशेपतो भगवत्प्रार्थनाऽपि समाम्नाता भवति—'बाधस्व दूरे

इन्द्र—परिपूर्णानन्दनिधि-परमेश्वर-सकल-ऐश्वर्यों से सम्पन्न—हमारे से शरण प्राप्त करने योग्य देव; हम संसारी-जीवों को तभी ही-सुखी करता है—परिपूर्ण सुख समर्पण करता है, जब पश्चात् यानी पीछे से संलग्न-हुआ आगन्तुक-आत्मस्वरूप का प्रतिरोधक अविद्यारूप या कामादिरूप अघ-पाप-दुरित हम को न व्याप्त हो, हमारे से उस पाप के सम्बन्धका विच्छेद हो। तथा च उस प्रकार के पाप का सदुपाय से समुच्छेद-सम्पादित होने पर हमारा पुरः यानी समक्ष-सामने ही भद्र-कल्याण-निःश्रेयस होता है, इस विषय में थोडा भी सन्देह नहीं है। इति।

इसलिए अभ्युदय एवं निःश्रेयस के प्रतिबन्धक-समस्त-पापों का उच्छेद करने के लिए—विशेषरूप से भगवान् की प्रार्थना सम्यक् प्रतिपादित है—'हे प्रभो! अविद्यामयी पाप-संकल्परूपा-राक्षसी का—हमारे से पराङ्मुख कर—दूर भगा कर—विध्वंस

निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्रमुमुग्ध्यस्मत् ।' (ऋ. १।२४।९) इति । हे परमेशान ! निर्ऋतिं=असदनिष्टकारिणीमविद्यामयीं पापसंकल्परूपां राक्षसीं पराचैः=असत्तः पराङ्मुखां कृत्वा दूरे=व्यवहिते देशे स्थापयित्वा तां बाधस्व=विध्वंसय । एवं कृतंचित्=पूर्वमस्माभिस्तद्वशीभूतैरनुष्ठितमपि एनः=पापं, असत्=असमभ्यः, प्रमुमुग्धि=प्रकर्षेण मुक्तं-नष्टं कुरु इत्यर्थः । यद्वा हे अभ्युदयकाम ! जीवात्मन् ! त्वं सकलपापनिदानां पापमयविचाररूपां निर्ऋतिं पुण्यमयविचारेण बाधस्व । कृतमपि पापं त्वं तपसा पुण्यकर्मणा प्रायश्चित्तेन वा नष्टं कुरु इति । एवमाथर्वणे सदुपायेन पापमयसंसाराख्यग्राहाद्विमुक्तये सत्यकल्याणसुखपदस्यावाप्तये च कृतप्रतिज्ञो महापुरुषः कश्चिदृषिराह—'इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि । यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ।।' (अथर्व. १४।१।३८) इति । इदं=प्रत्यक्षतो वर्तमानं, रुशन्तं=आपातरमणीयम्, तनूदूषिं=तनूं सूक्ष्मशरीरमन्तःकरणाख्यं मलविक्षेपावरणैर्दोषैर्दूषितं करोति तच्छीलम् । ग्राभं=ग्राहं मिथ्याज्ञानविषयवासनाऽहंत्वममत्वरागद्वेषादिलक्षणं संसाराख्यम् । गृभ्णातीतिवत् हकारस्य भकारः । तमेतमहं अपोहामि=परित्यजामि । यः=शास्त्रविद्वत्प्रसिद्धः, भद्रः=सत्यकल्याणसुखरूपः, रोचनः=स्वयंप्रकाशः, परमात्माऽस्ति, तमेवाहं, उदचामि=अभेदेन प्राप्तोभवामीत्यर्थः।

कर । उसके वश हुए-हम से प्रथम किये गये पाप से भी हम को मुक्त कर ।' इति । हे परमेशान ! निर्ऋति यानी हमारा अनिष्ट करने वाली—अविद्यामयी-पापसंकल्परूपा राक्षसी को—हमारे से पराङ्मुख करके दूर-व्यवहित-देश में स्थापन कर उसका बाध—विध्वंस कर । इस प्रकार प्रथम, उस राक्षसी के वश में हुए-हम से किये गये-एनः यानी पाप से हमारे को मुक्त कर अर्थात् उसको नष्ट कर । यद्वा हे अभ्युदय की कामना वाला जीवात्मन् ! तू समस्त-पापों की कारण—पापप्रचुर कुविचाररूपी-निर्ऋति-राक्षसी का पुण्य-प्रचुर-पवित्र विचार से विध्वंस कर । किये गये पाप का भी तू तप से या पुण्यकर्म से या प्रायश्चित्त से नष्ट कर । इति । इस प्रकार आथर्वण में सदुपाय के द्वारा पापप्रचुर संसार नाम वाले-ग्राह से विमुक्त होने के लिए तथा सत्य-कल्याणसुखपद की प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञा करता हुआ कोई महापुरुष ऋषि कहता है—'इस आपातरमणीय-हृदय को दूषित करने वाला-संसाररूप ग्राह—मगर का मैं परित्याग करता हूँ, और जो कल्याण-प्रकाशरूप परमात्मा है, उसको मैं प्राप्त करता हूँ ।' इति । इदं यानी प्रत्यक्ष से वर्तमान, रुशन् यानी आपातरमणीय, तनूदूषि यानी अन्तःकरण नाम के-सूक्ष्मशरीर को मल-विक्षेप एवं आवरणरूप दोषों से दूषित करने का स्वभाव वाला, ग्राभ यानी ग्राह-जो मिथ्याज्ञान-विषयवासना-अहंता-ममता-रागद्वेषादि लक्षणों वाला संसार नाम का मगर है 'गृभ्णाति' की भाँति ग्राभ पद में भी हकार के स्थान में भकार हो गया है । उस इस संसार ग्राह का मैं अपोहन-परित्याग करता हूँ । जो शास्त्र एवं विद्वानों में प्रसिद्ध, भद्र—सत्य-कल्याणसुखरूप, रोचन-स्वयंप्रकाश परमात्मा है, उसको ही मैं अभेद भाव से प्राप्त होता हूँ, यह अर्थ है ।

(३५)

(समाराधितस्य परमेश्वरस्य तरुणया करुणया भक्ताः सर्वतो निरातङ्का भवन्ति)

(सम्यक् आराधित-परमेश्वर की तरुण-करुणा से भक्त सर्व तरफ से उपद्रवरहित हो जाते हैं)

अपापकलुपया मनीपया सर्वात्मभावेन निपेव्यमाणो विश्वात्मा विश्वाधिपतिर्भगवान् भयप्रदायिनो निखिलान् तच्छत्रून् विचूर्ण्य स्वसेवकानकुतोभयान् विदधातीति भक्तभयासहिष्णोर्भक्तप्रियस्य दयानिधेर्भगवतः परमकृपालुतां वर्णयति—

पाप के कालुष्य से विमुक्त—मनीषा-बुद्धि से सर्वात्मभाव द्वारा अच्छी प्रकार से सेवन किया गया विश्वात्मा विश्वाधिपति भगवान्, भय का प्रदान करने वाले—समस्त-उसके शत्रुओं को चूर्ण करके अपने सेवक-भक्तो को अकुतोभय (किसी भी भय से युक्त न होना) कर देता है। इसलिए भक्तों के भय को नहीं सहन करने वाले—भक्तप्रिय-दयानिधि भगवान् की परमदयालुता का वर्णन करते हैं—

ॐ इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्।
जेता शत्रून् विचर्षणिः॥

(ऋग्वेद मण्ड. २ सूक्त ४१ ऋक् १२) (अथर्व २०।२०।७+५७।१०) (तै ब्रा २।५।३।१) (नि. ६।)

'विश्व का द्रष्टा इन्द्र-परमेश्वर अपने भक्तो के बाह्य एव आभ्यन्तर समस्त शत्रुओं का पराभव करता है, और उनको सभी दिशाओं से आने वाले—निखिल-भयों से विमुक्त कर देता है।'

विचर्पणिः=विविधविश्वप्रपञ्चद्रष्टा, इन्द्रः=परमेश्वरः, शत्रून्=साधुभक्तेभ्यो दुःखभयप्रदायिन आभ्यन्तरान् कामादीन् असुरान् धर्मद्रोहिणो म्लेच्छान् बाह्यानपि च, जेता=विजेता, (तृन्नन्तत्वात्पष्ठ्यभावः) समेपां तच्छत्रूणां परिभवकर्तेत्यर्थः। सर्वाभ्य आशाभ्यः=दिग्भ्यो विदिग्भ्य उपर्यधोदिग्भ्याश्च, भक्तानां साधूनां सद्धर्मपरायणानां, अभयं=भयराहित्यं क्षेमं करत्=करोतीत्यर्थः। परीति पञ्चमीद्योतकः। यद्वा दिङ्निवासिभ्यो भूतेभ्यो यद्भयमुत्पद्यते तन्निवार्याभयं करोति। आशा दिशो भवन्ति,

विचर्पणि यानी विविध-प्रकार के विश्वप्रपञ्च का द्रष्टा—साक्षी इन्द्र परमेश्वर, शत्रुओं का—साधुभक्तो को दु ख एवं भय के प्रदान करने वाले—भीतर रहने वाले—कामादि का, एवं बाहर के धर्मद्रोही-असुर-म्लेच्छो का भी जो विजय करता है, उन साधुभक्तों के सभी शत्रुओं का वह पराभव करता है। सर्व पूर्वादि दिशाओ से, तथा विदिक्—वायव्यादि-उपदिशाओ से, एवं ऊपर एव नीचे की दिशा से भी सद्धर्मपरायण-साधुभक्तों को अभय-भयरहित-क्षेमकल्याणरूप कर देता है। 'परि' यह उपसर्ग पञ्चमी विभक्ति का द्योतक है। यद्वा दिशाओं के निवासी-भूतों से जो भय उत्पन्न होता है, उस भय को निवारण करके अभय करता है।

आसदनात्, आभिमुख्येन हि ताः सर्वत्र सन्ना इव भवन्ति। आशा उपदिशो-भवन्ति, अभ्यशनात्-अभ्यश्नुवते हि ताः परस्परेणैवेति।

[पूर्वं ब्रह्मविद्याप्रतिबन्धोच्छित्तये भगवदवलम्बनस्तवनादिकं विस्तरतो निरूपितम्। सम्प्रति ब्रह्मविद्याफलं निरूपयति।]

आसदन से दिशाएँ आशा हैं, क्योंकि वे अभिमुखता से सर्वत्र सन्न की भाँति (चुपचाप बैठी हुई की तरह) होती हैं। अभ्यशन से उपदिशाएँ भी आशा हैं, क्योंकि वे परस्पर मिली हुई रहती हैं। इति।

[प्रथम के गये हुए मन्त्रों में ब्रह्मविद्या के प्रतिबन्धों के उच्छेद के लिए भगवान् का अवलम्बन, स्तवन आदि का विस्तार से निरूपण किया, अब ब्रह्मविद्या के फल का निरूपण करते हैं]

(३६)

(ब्रह्मविद्याया अब्रह्मत्वाध्यारोपनिवृत्त्या ब्रह्मभावसर्वभावापत्तिरूप-फलवर्णनम्)

(ब्रह्मविद्या के–अब्रह्मत्व के अध्यारोप की निवृत्ति द्वारा ब्रह्मभाव एवं सर्वभाव की प्राप्तिरूप फल का वर्णन)

आत्मैकः सर्वभूतेषु, तानि तस्मिंश्च, अत एव 'पुरुष एवेदꣳ सर्वं' 'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्' इत्येष निश्चितो वेदार्थः शान्तेभ्यः संन्यासिभ्यो मुमुक्षुभ्यः प्रवक्तव्यः। 'यत्साक्षादपरोक्षं पञ्चकोशविलक्षणं सर्वान्तरमनन्तरमबाह्यमशनायाद्यतीतमजमजरममृतमभयं पूर्णं ब्रह्मास्ति, तदेवाहमस्मि नान्यः संसारी' इत्येवं विज्ञानादब्रह्मत्वाध्यारोपापगमात्, तत्कार्यस्यासर्वत्वस्य निवृत्त्या तत्त्वसाक्षात्कारवान् विद्वान् सर्वो भवति, प्रत्यगात्मन ऐकात्म्यं सर्वभूतेषु पश्यति, समा-

समस्त भूतों में एक ही आत्मा है, सर्वभूत उस एक ही आत्मा में हैं, इसलिए 'पुरुष ही यह सर्व है' 'एक ही निश्चय से यह सर्वरूप हुआ है' ऐसा यह निश्चित वेदों का तात्पर्यरूप अर्थ शान्त-संन्यासी मुमुक्षुओं के लिए विशेषरूप से कहना चाहिए। 'जो साक्षात्-अपरोक्ष-पञ्चकोशों से विलक्षण-सर्वान्तर-अनन्तर (अन्तर के भेद से रहित) अबाह्य–(बाहर के विजातीयादि-भेद से रहित) अशनाया (खाने की इच्छा) आदि से अतीत–अज-अजर-अमृत-अभय–पूर्णब्रह्म है, वही मैं हूँ, उससे अन्य संसारी (संसारधर्मकर्तृत्वादि युक्त) मैं नहीं हूँ।' इस प्रकार के विज्ञान से अब्रह्मत्व के अध्यारोप की निवृत्ति होने से, उसका कार्य-असर्वत्व की निवृत्ति हो जाती है, उससे तत्त्वसाक्षात्कार वाला विद्वान् सर्वरूप हो जाता है। सर्वभूतों में प्रत्यक् आत्मा के एकात्मत्व का दर्शन करता है। समाहित हुआ

हितः सन् सर्वदा सर्वमात्मानं विजानाति। यतोऽद्वैतात्मसत्तातिरिक्ताया द्वैतसत्ताया अभावात्, आत्मनि दृष्टे सर्वं द्वैतं दृष्टं भवति, यथा रज्जुस्वरूपे दृष्टे तत्राध्यस्तानां सर्पस्रग्दण्डादीनां स्वरूपं दृष्टं भवति, तद्वत्सर्वाधिष्ठाने आत्मनि दृष्टे सति सर्वं विश्वं दृष्टं भवतीति न किमप्यनुपपन्नम्। अत एवाद्वैतं ब्रह्मात्मानं बोधयितुं–'हꣳसः शुचिषत्' (ऋ. ४।४०।५) (यजु. १०।२४+१२।१४) (तै. ब्रा. १।८।१५।२) 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' (ऋ. १०।९२।२) (साम. ६१९) (अथर्व. १९।६।४) (शु. य. ३१।२) (तै. आ. ३।१२।१) 'विश्वं नारायणं देवं' (ना. उ. ४।१) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ. ४।५।७) इत्यादिविधिमुखेन–'नासदासीत् नो सदासीत्' (ऋ. १०।१२९।१) (तै. ब्रा. २।८।३) (श. ब्रा. १०।५।३।२) 'नेह नानास्ति किञ्चन' (क. २।४।११) 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ. २।३।६) *'न तु तद्द्वितीयमस्ति' (बृ. ४।३।२८)* 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ. ३।९।२६) 'अस्थूलमनणु' (बृ. ३।८।८) इत्यादिनिषेधमुखेन च द्विविधा वेदवादाः प्रवर्तन्ते। यद्यप्युभयोरुपदेशयोरेकार्थत्वमस्ति, तथापि विध्युपदेशस्यास्ति कश्चिदतिशयः। तथाहि–विध्युपदेशेन 'परिदृश्यमानानां समेषां पदार्थानां या सत्ता सा आत्मैव' इत्युक्ते सति तदन्यन्नास्त्येव किञ्चित्, आत्मैव परिपूर्णः सर्वं सोऽहमिति ज्ञानं साक्षादाविर्भवति। निषेधोपदेशेन त्वर्थान्निषेधाधिष्ठानतया इति।

वह सर्वदा आत्मा को सर्वरूप जानता है। क्योंकि–अद्वैत-आत्मा की सत्ता से अतिरिक्त-द्वैत सत्ता का अभाव होने से आत्मा का दर्शन होने पर समस्त द्वैतप्रपञ्च का भी आत्मरूप से दर्शन हो जाता है। जैसे रज्जुस्वरूप का दर्शन होने पर उसमें अध्यस्त-सर्प-माला-दण्ड आदिओं के स्वरूपों का भी रज्जु-रूप से दर्शन हो जाता है। तिस प्रकार सर्वाधिष्ठानरूप आत्मा का दर्शन होने पर सर्व-विश्व का अभेदरूप से दर्शन हो जाता है, इसमें कुछ अनुपपन्न (अयुक्ति-युक्त) नहीं है। इसलिए अद्वैत-ब्रह्मात्मा का बोधन करने के लिए–'वह ब्रह्म हंस-पापहंता-पवित्र अन्तरिक्षसञ्चारी सूर्यरूप है' 'पुरुष ही यह समस्त विश्व है' 'नारायण देव ही विश्व है' 'यह आत्मा ही यह सर्व जगत् है' इत्यादि विधिमुख से–*'यह अज्ञानतत्कार्यरूप जगत् असत् नहीं था, न वह सत् था, किन्तु सत् असत् से विलक्षण-अनिर्वचनीय था।'* 'इस विश्वाधिष्ठान ब्रह्म में नाना-भिन्न कुछ नहीं है' 'अनन्तर इसका यह आदेश-उपदेश है कि–वह मूर्त नहीं है–अमूर्त नहीं है' 'वहाँ द्वितीय नहीं है' *'वह यह आत्मा नेति नेति–समस्त द्वैत-प्रपञ्चशून्य है'* *'वह स्थूलत्व से रहित-अणुत्व से रहित है'* इत्यादि *निषेधमुख से–दो प्रकार के वेद के उपदेश प्रवृत्त* होते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के उपदेशों का एकार्थत्व है–अर्थात् अद्वैतब्रह्मप्रतिपादनरूप एक ही अर्थ-प्रयोजन है। तथापि विधिमुख के उपदेश का कुछ अतिशय (वैशिष्ट्य) है। यह बतलाते हैं–विधि-उपदेश द्वारा–'परिदृश्यमान समस्त-पदार्थों की जो सत्ता है, वह आत्मा ही है' ऐसा कहने पर *'उस आत्मा से अन्य कुछ भी नहीं है,* आत्मा ही परिपूर्ण सर्व है, वही मैं हूँ' ऐसा ज्ञान साक्षात् आविर्भूत हो जाता है। निषेध-उपदेश द्वारा तो अर्थात्-निषेध के अधिष्ठानत्व से (अद्वैत-आत्मा का ज्ञान होता है)। यद्यपि विधि-उपदेश से

यद्यपि विधिनैव पुरुपार्थस्य पर्यवसितत्वं भवितुमर्हति, तथाप्यधिकारिविशेपस्य बोधनाय निषेधप्रवृत्तिरपि सफलैव। तथा च ब्रुवते वृद्धाः वासिष्ठे—'न तदस्ति न यत्राहं, न तदस्ति न यन्मयि। किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं ततम् ॥' अपि चाहो! अहमहमेव, मदन्यः सर्वभूतेषु कश्चिदपि न विद्यते, अतोऽहं सर्वोऽस्मि, पूर्णोऽस्मि, निष्कामोऽस्मि, संतृप्तोऽस्मि, संतुष्टोऽस्मि, ततो न मे हेयं किञ्चित्, न चादेयं, न चाप्यं, न चानाप्यं, न काम्यं न चाप्रियम्। न हीह पूर्णस्वरूपात्मलाभादभ्यधिको लाभः कश्चनास्ति। तदर्थमेव सकला वेदवादाः प्रवर्तमाना भवन्ति। स च लाभो नान्यनिमित्तको भवति, तस्य स्वयं लब्धस्वभावत्वात्। अन्याधीनस्य तस्यान्यापगमेऽपगमादनित्यत्वप्रसङ्गात्। सोऽयं परमो लाभो जन्मान्तरानुष्ठितान्तरङ्गबहिरङ्गसाधनसंस्कृतबुद्धेर्गर्भस्थस्यापि वामदेवस्य महर्षेः प्रतिबन्धापगमेनाविरभूत्। अत एव गर्भे वसन् समुत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽतिधन्यो वामदेवो ब्रह्मविद्याया ब्रह्मभावसर्वभावापत्तिलक्षणं फलं प्रतिपादयितुं सार्वात्म्यस्यानुभवं मन्वादिरूपेण प्रदर्शयन्नाह—

ही पुरुपार्थ की समाप्ति हो सकती है। तथापि अधिकारी-विशेष के बोधन के लिए निषेध-प्रवृत्ति भी सफल ही है। तथा च वृद्ध—योगवासिष्ट ग्रन्थ में कहते हैं—'जिस पदार्थ में मैं नहीं हूँ ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो पदार्थ मेरे में नहीं है, ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं है, अर्थात् सर्व में मैं हूँ, मुझ में सर्व है, इसलिए मैं ही सर्व हूँ—यह विस्तृत-समस्त विश्व ज्ञानमय है, इसलिए मैं अन्य की चाहना क्यों करूँ ? क्यों कि—अन्य है ही नहीं, मैं ही हूँ।' इति। और अहो! मैं, मैं ही हूँ। मेरे से अन्य सर्व भूतों में कोई भी नहीं है, इसलिए मैं सर्व हूँ, पूर्ण हूँ, निष्काम हूँ, संतृप्त हूँ, सन्तुष्ट हूँ, इसलिए मेरे लिए हेय (त्यागने योग्य) भी कुछ नहीं है, आदेय (ग्रहण करने योग्य) भी नहीं है, आप्य (प्राप्त करने योग्य) भी नहीं है, अनाप्य (अप्राप्य) कुछ भी नहीं है, न काम्य है और न अप्रिय है। यहाँ पूर्ण-अद्वैत-स्वरूप—आत्म लाभ से अति-अधिक लाभ कोई नहीं है। इस लाभ के लिए समस्त वेदवाद (वेदों के उपदेश) प्रवर्तमान होते हैं। यह लाभ अन्य निमित्त से नहीं होता है, क्योंकि—यह स्वयं स्वभाव से ही प्राप्त है। उस लाभ को अन्य निमित्त—कारणके अधीन मानने पर उसका—अन्य का विनाश होने पर—विनाश हो जाने से उस में अनित्यत्व का प्रसङ्ग हो जाता है। वही यह परम लाभ, अन्य जन्मों में अनुष्ठित—अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग साधनो से संस्कृत—शुद्ध—एकाग्र बुद्धि युक्त—गर्भ में अवस्थित-वामदेव-महर्षि को प्रतिबन्धों की निवृत्ति द्वारा आविर्भूत हो गया था। इसलिए गर्भ में निवास करता हुआ भी—जिसे सम्यक् तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो गया है—ऐसा अतिधन्य वामदेव, ब्रह्मविद्या के—ब्रह्मभाव-सर्व—भाव की प्राप्तिरूप-फल का प्रतिपादन करने के लिए सर्वात्मत्व विषयक-अपने अनुभव को मनु आदि रूप से प्रदर्शन करता हुआ कहता है—

ॐ अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥
अहं भूमिमददामार्यायाऽहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
अहमपो अनयं वावशानाः, मम देवासो अनु केतमायन् ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ४ सूक्त. २६ ऋक्. १-२)

'मैं मनु हूँ, मैं सूर्य हूँ, मैं विप्र-तत्त्वदर्शी-बुद्धिमान्-कक्षीवान् ऋषि हूँ, मैं ही अर्जुनीमाता का पुत्र-जो मेरे ही द्वारा सुयोग्य-सिद्ध हुआ था-कुत्स हूँ, मैं शुक्राचार्य्य कवि हूँ, (हे जिज्ञासु लोगो!) मुझे देखो। मैं ने ही आदिम-आर्य्य-मनु को पृथिवी का दान किया था। मेरे उद्देश से हविरादि देने वाले-यजमान-मनुष्य को मैं ही वृष्टि-प्रदान करता हूँ। शब्द करने वाले जलों का बादल आदि के द्वारा मैं ही प्रणयन करता हूँ। अग्नि आदि समस्त देव, मेरी ही आज्ञा का अनुसरण कर कार्य करते हैं।'

अहं=वामदेवः, मनुः=सर्वस्य लोकस्य मन्ता शासकः प्रजापतिः, अभवं=अस्मि। अहमेव सूर्यश्च=सर्वस्य प्रेरकः सविता देवश्चास्मि। विप्रः=मेधावी, कक्षीवान्=दीर्घतमस ऋषेः पुत्रः एतत्संज्ञकोऽतिप्रसिद्धः ऋषिरप्यहमेवास्मि=भवामि। आर्जुनेयं=अर्जुन्या मातुः पुत्रं कुत्सं=एतन्नामकमृर्षिं प्रख्यातं, अहमेव न्यृञ्जे=नितरां प्रसाधयामि, विद्याशक्तिं प्रदाय सुयोग्यतया मया साधितः कुत्सोऽप्यहमेवेत्यर्थः। कविः=क्रान्तदर्शी-सर्वज्ञः, उशना=एतदाख्यः शुक्रः ऋषिः अहमेवास्मि। इदमुक्तमुपलक्षणं-परमार्थदृष्ट्या विश्वं कृत्स्नमप्यहमेवास्मीत्यर्थः। हे जिज्ञासु-जनाः! मा=मां सर्वात्मानं परिपूर्णं पश्यत, यूयमप्येवमेव स्वस्वरूपमनुभवत। पूर्वमहमज्ञानदशायां संसाररोगसंग्रस्तो दुःखराशिरभूवं, इदानीमहमात्मबोधस्य प्रादुर्भावात् पूर्णस्वस्थ आनन्दाब्धिः-अद्वैतः सर्वात्मा सदाऽवस्थितोऽस्मि, इत्येवं मामाश्चर्यरूपं यूयं पश्यत इति वाऽर्थः।

मैं वामदेव, सर्व लोक का-मन्ता-शासक-प्रजापति-मनु हूँ। मैं ही सर्व का प्रेरक-अन्तर्यामी सविता देव सूर्य हूँ। विप्र यानी मेधावी-बुद्धिमान् दीर्घतमा-ऋषि का पुत्र कक्षीवान् नाम वाला अति प्रसिद्ध ऋषि भी मैं ही हूँ। आर्जुनेय-यानी अर्जुनी-माता का पुत्र-कुत्स नाम का प्रख्यात ऋषि भी मैं हूँ। जिस को मैंने ही अच्छी रीति से विद्याशक्ति का प्रदान करके सुयोग्य रूप से सिद्ध किया था। कवि यानी अतीतादि काल का द्रष्टा सर्वज्ञ, उशना नाम वाला शुक्र-ऋषि भी मैं ही हूँ। यह कहा गया उपलक्षण है-परमार्थ दृष्टि से समग्र विश्व भी मैं ही हूँ। हे जिज्ञासु जनो! मुझ परिपूर्ण-सर्वात्मा को देखो। तुम भी इसी प्रकार अपने स्वरूप का अनुभव करो। या प्रथम मैं अज्ञान दशा में संसार-रोग से सम्यक् ग्रस्त, दुःख का राशि (ढेर) था, अब मैं आत्म-बोध के प्रादुर्भाव से पूर्ण स्वस्थ, आनन्दसागर-अद्वैत-सर्वात्मा सदा अवस्थित हूँ, इस प्रकार आश्चर्य रूप मुझ को तुम देखो, ऐसा भी अर्थ है।

अहं=वामदेवः, आर्याय=उदारचरिताय विश्वमान्यायादिमायार्याय मनवे, भूमिं=कृत्स्नां पृथिवीं शासितुमिति शेषः, अददां=दत्तवानस्मि। मदुद्देशेन हविरादिकं दत्तवते मर्त्याय=मरणधर्मकाय मनुष्याय यजमानाय, वृष्टिं=सस्याद्यभिवृद्ध्यर्थं वृष्टिलक्षणमुदकम्, अहमेव अददाम्—ददामि। किञ्चाहं, वावशानाः=शब्दायमानाः—गर्जनं कुर्वतीः, अपः=उदकानि, अनयं=सर्वमपि प्रदेशं प्लावयितुं अभ्रादिनाऽगमयम्। देवासः=वह्न्यादयः सर्वे देवाः, मम केतं=आज्ञारूपं संकल्पं, अनु—आयन्=अनुयन्ति, मदीयामाज्ञां शिरसि निधाय तदनुसारेणैव सर्वं कार्यं साधयन्तीति यावत्। इदमत्राकूतम्—यदात्मनोऽन्यद्वस्तु भ्रान्त्या प्रतीयते, तद्वस्तुत आत्मैवास्ति, आत्माज्ञानादात्मनोऽन्यदिव तद्भाति, आत्मज्ञानात्तत्त्वत आत्मैव तद्व्यवस्थितं भवति। तथा च विदुषो ब्रह्मनिष्ठस्यात्मावरकाज्ञाननिरासिना विज्ञानेन निजं परमार्थतत्त्वमपरिच्छिन्नं पूर्णं विज्ञातं भवति। मिथ्यादृष्टं परिच्छिन्नरूपञ्च बाधितं भवतीति।

न च विशिष्टचैतन्यरूपस्य वामदेवस्य विशिष्टचैतन्यरूपमनुसूर्यादिभावो न सम्भवतीति वाच्यम्; 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' (ब्र. सू. १।१।३०) इति न्यायेन वामदेवजीवचैतन्यस्य वस्तुतो ब्रह्माभेदेन सूर्यादिभावस्य तत्त्वावबोधनिमित्तकसर्वभा-

मैं वामदेव ने उदार चरित वाले-विश्वमान्य-सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले-आर्य-मनु को समग्र पृथिवी का—'शासन करने के लिए' इतना पद शेष है—दान किया। मेरे उद्देश से हविरादि के दान करने वाले-मर्त्य-मरण धर्म वाले-यजमान-मनुष्य को सस्य (धान) आदि की अभिवृद्धि के लिए वृष्टिरूप उदक का मैं ही दान करता हूँ। और गर्जन करने वाले-जलों का समस्त देश को प्लावन (तर) करने के लिए बादल आदि के द्वारा मैं ही प्रणयन करता हूँ। अग्नि आदि समस्त देव, मेरी आज्ञारूप सकल्प का अनुसरण करते हैं, अर्थात् मेरी आज्ञा को शिर-पर धारण करके उसके अनुसार ही समस्त कार्य साधते हैं। यहाँ यह रहस्य है—भ्रान्ति से आत्मा से अन्य जो वस्तु प्रतीत होती है, वह वस्तुत आत्मा ही है, आत्मा के अज्ञान से वह आत्मा से अन्य की तरह भासित होती है, आत्मा के ज्ञान से तत्त्वत आत्मरूप ही वह अवस्थित हो जाती है। तथा च ब्रह्मनिष्ठ-विद्वान् को—आत्मा का आवरक-अज्ञान का निरास (विध्वंस) करने वाले-विज्ञान से अपना-परमार्थ स्वरूप-जो अपरिच्छिन्न-पूर्ण है-वह जाना जाता है। मिथ्या-ज्ञान से देखा गया-परिच्छिन्न रूप का बाध हो जाता है। इति।

शंका—देहादि-उपाधिविशिष्ट चैतन्यरूप वामदेव-ऋषि है, उसमें विशिष्ट—चैतन्यरूप, मनु—सूर्य आदि का भाव (तादात्म्य) नहीं हो सकता है (क्योंकि शुद्धों का अभेद हो सकता है, विशिष्टों का नहीं.)

समाधान—'शास्त्र की दृष्टि से यह उपदेश है वामदेव-ऋषि की भाँति' इस न्याय से (युक्ति-युक्त-ब्रह्मसूत्र से) वामदेव-जीव का शुद्ध चैतन्य वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है, इसलिए वामदेव का सूर्यादि का भाव, तत्त्व विज्ञान है निमित्त जिस में, ऐसा

वब्रह्मभावपरत्वात्। तर्हि शुद्धचित्यभवमित्युत्तमपुरुषप्रयोगः कथं स्यादिति ? तन्न, बाधितानुवृत्त्याऽहंत्वप्रकारकस्य द्वारीभूतबोधस्य पूर्वं भूतत्वेन चाखण्डाकारबोधेऽपि तथा प्रयोगस्य सम्भवात्। न च 'अहं भूमिमददामार्याये'त्यादिकं निष्क्रियायां शुद्धचिति कथं सङ्गच्छेत ? नहि चिन्मात्रं भूमिदातृ संभवतीति वाच्यम्; उपहितचितमादाय भूमिदातृत्वादीनामुपपत्तेः। तदुपस्थितिद्वाराऽखण्डशुद्धचित्यवगमसम्भवात्। एतेन वामदेवस्य 'अहं मनुरभवमि'त्यादिवाग्व्यवहारस्याद्वितीयब्रह्मसाक्षात्कारानन्तरभावित्वात्। तत्साक्षात्कारस्य च सकलभेददर्शननिवर्तकत्वात्, भेददर्शननिबन्धनः पूर्वोक्तव्यवहार एव कथं सिद्ध्येत् ? तद्व्याहतत्वा-

सर्वभाव एवं ब्रह्मभाव परक है, अर्थात् उसका ज्ञापक है।

शंका—तब शुद्ध चेतन्य में 'अभवं' 'हुआ' ऐसा उत्तम पुरुष का प्रयोग कैसे हो सकता है। (क्योंकि—शुद्ध चैतन्य सर्वरूप—ब्रह्मरूप है ही, प्रथम वैसा न हो वह 'हुआ' कह सकता है)

समाधान—बाधितानुवृत्ति से अहंत्वप्रकारक-द्वारीभूत-बोध प्रथम उत्पन्न हुआ था, इसलिए अखण्डाकार बोध में भी वैसा प्रयोग हो सकता है। अर्थात् 'जली हुई रस्सी की आकृति की भाँति बाधित होने पर भी आभासरूप से अनुवृत्ति होती है, 'मैं सर्वरूप हुआ' यह वृत्तिरूप-द्वारीभूत बोध है, वह यद्यपि बाधित हो जाता है, तथापि उसकी आभासरूप से अनुवृत्ति होने से वैसा प्रयोग हो सकता है।

शंका—'मैं ने आर्य-मनु को भूमि का दान किया' इत्यादि कथन निष्क्रिय शुद्ध चैतन्य में कैसे युक्तिसंगत हो सकता है ?, क्योंकि—शुद्ध चिन्मात्र भूमि का दाता नहीं हो सकता है।

समाधान—उपाधिविशिष्ट चैतन्य को ग्रहण करके भूमिदातृत्व आदि धर्मों की उपपत्ति हो जाती है, इसलिए विशिष्ट-चेतन्य की उपस्थिति द्वारा शुद्ध चैतन्य का अवगम (साक्षात्कार) हो सकता है।

शंका—वामदेव का 'मैं मनु हुआ, या हूँ' इत्यादि वाणी का व्यवहार, अद्वितीय-ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर का है, और उसका साक्षात्कार, समस्त भेद-दर्शनों का निवर्तक है, इसलिए भेद-दर्शन से ही होने वाला पूर्वोक्त व्यवहार ही कैसे सिद्ध हो सकता है, क्योंकि—ब्रह्मसाक्षात्कार का एवं भेददर्शनपूर्वक-व्यवहार का परस्पर व्याघात है, अर्थात् साक्षात्कार होने पर व्यवहार नहीं हो सकता, व्यवहार होने पर साक्षात्कार नहीं रह सकता।

दिति प्रत्युक्तम्। तत्साक्षात्कारेणाज्ञाननिवृत्तौ सत्यामपि प्रारब्धकर्मकृतप्रतिबन्धवशात्, क्षालितलशुनभाण्डानुवृत्तलशुनवासनावत् देहादिभेदप्रतिभासानुवृत्त्युपादानाविद्यालेशस्यानुवर्तमानत्वात् जीवन्मुक्तस्यापि वामदेवस्य भेददर्शनोपपत्तेः, रज्ज्वादिसाक्षात्कारेण सर्पाद्यध्यासस्य समूलस्य निवृत्त्यनन्तरमपि तत्संस्कारवशात् कञ्चित्कालं भयकम्पाद्यनुवृत्तिवत् ब्रह्मसाक्षात्कारस्य समूलभेददर्शनसत्यत्वाद्यध्यासनिवर्तकत्वेऽपि भेददर्शनप्रयोजकाविद्यादिसंस्कारानिवर्तकत्वात्, तद्वशात्–भेदप्रतिभासोऽवतिष्ठत एव, तथा च तन्निबन्धनः पूर्वोक्तव्यवहारो मुमुक्षुहितसाधकः सर्वभावब्रह्मभावबोधक उपपद्यत एव। इति सर्वमनवद्यम्॥

[ब्रह्मविद्याफलं निरूप्याधुना तया निरसनीयकाध्यासबन्धं तन्निवृत्तिगम्यं ब्रह्मभावञ्च निरूपयति।]

समाधान–अद्वैतब्रह्म के साक्षात्कार से अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी, प्रारब्धकर्म द्वारा किये गये प्रतिबन्ध के वश से 'धोये हुए लहसुन के पात्र में अनुवृत्त हुई लहसुन की वास की भाँति' देहादि भेद के प्रतिभास की अनुवृत्ति का उपादान कारण-अविद्यालेश की अनुवर्तमानता होने से जीवन्मुक्त-वामदेव को भी भेददर्शन उपपन्न हो सकता है। जैसे रज्जु आदि के साक्षात्कार से समूल–सर्पादि अध्यास की निवृत्ति के अनन्तर (बाद) भी उसके संस्कार के वश से कुछ काल भयकम्पादि की अनुवृत्ति रहती है, वैसे ही यद्यपि ब्रह्मसाक्षात्कार समूल-भेददर्शन के सत्यत्वादि के अध्यास का निवर्तक है, तथापि भेददर्शन का प्रयोजक-अविद्यादि–संस्कारों का निवर्तक न होने के कारण, उन संस्कारों के वश से भेद का प्रतिभास रहता ही है। तथा च भेदप्रतिभास से प्रयोजित पूर्वोक्त व्यवहार, मुमुक्षुओं के कल्याण का साधन-सर्वभाव एवं ब्रह्मभाव का बोधक उपपन्न-युक्तसंगत हो जाता है। इस प्रकार सब कुछ निर्दोष है।

(ब्रह्मविद्या के फल का निरूपण करके उससे निरास करने योग्य-अविद्या से होने वाले-अध्यासरूप बन्ध का, और उसकी निवृत्ति से ज्ञापित-ब्रह्मभाव का निरूपण करते हैं)

(३७)

(दृढतत्त्वबोधाभ्याससम्पादितवीर्येणानादिकालसिद्धस्यानात्माध्यासस्य निरासः कर्तव्यः)

(दृढतत्त्वबोध के अभ्यास से सम्पादित-सामर्थ्य से अनादि काल से सिद्ध–अनात्माध्यास का विध्वंस करना चाहिए)

जाग्रदाद्यवस्थावति लिङ्गदेहे तदालये स्थूलशरीरे चात्मत्वाभिमानेन जीवः 'अहं

जाग्रत् आदि अवस्था वाले–सूक्ष्मशरीर में, और उसका आलय–आश्रयरूप स्थूलशरीर में

कर्ता, भोक्ता, मनुष्यो ब्राह्मणोऽहमि'त्यादिलक्षणेनाज्ञानात्परमेश्वराभिन्नं स्वात्मतत्त्वं विस्मृत्य कलत्रादिभोगेषु निबद्धतृष्णः संसारजालेऽनर्थशतसहस्राविष्टे 'सूत्रकृते जाले मत्स्य इव' अनादिकालतः संपतितः। यथाऽग्निकुण्डे पतितस्य पुंसः शैत्यस्य लेशोऽतिदुर्लभः, तथा देहाद्यात्माध्यासवतः कुमतेः कुत्रापि कदापि सुखस्य वा शान्तेर्वाऽणुरप्यतिदुर्लभः। न ह्यनात्माधीनात्मतातोऽन्यद्दैन्यं वा कष्टं वा वरीवर्तते। यथाऽविकृतः कौन्तेय एव कर्णो दुरदृष्टवशात् राधेयोऽयमिति प्रसिद्धिमवाप्य दुःखितोऽभवत्। तथा स्वतःशुद्धमविकृतं ब्रह्मैव निजप्रमादाज्जीवत्वमासाद्य पुनः पुनर्जायमानम्रियमाणशरीरपरम्पराशतयोगप्रसूतापारदुःखभाग्भवति। यद्यपि तस्य दुःखसाक्षिणः परमार्थतो दुःखिताऽयुक्ता, तथाप्यध्यारोपिताऽपि सा स्वस्मिन्नात्मानात्माविवेकलक्षणान्मौढ्यादनुभूयत एव। यद्यप्ययमात्मा निर्मलोऽविक्रियोऽलुप्तदृक् कूटस्थः सर्वदेहेषु स्वयमपश्यन्-अशृण्वन्-अनिच्छन्-असरन्-अद्विषन्-अमुह्यन्-अकुप्यन्-निर्दुःख-निःसुखो

आत्मत्व का अभिमान—जिस का 'मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ' इत्यादि स्वरूप है—उसके द्वारा अज्ञान से यह जीव-परमेश्वराभिन्न-अपने आत्मस्वरूप को भूल करके, स्त्री आदिके भोगो में अतितृष्णा को बाँध कर, सैंकड़ों-हजारों-अनर्थों से सयुक्त—ससाररूप जाल में 'सूत से बनी हुई जाल में मछली की भाँति' अनादि काल से फँसा हुआ है। जैसे अग्नि के कुण्ड में पड़े हुए मनुष्य को शैत्य का लेश अत्यन्त दुर्लभ है। वैसे देहादि में आत्मा का अध्यास वाले—कुमति-मूढ को कहीं भी कभी भी सुख का या शान्ति का अणु-लेश भी अतिदुर्लभ है। अनात्मा-देहादि के आधीन-आत्मत्व से अन्य दीनता या कष्ट अतिशय करके वर्तमान नहीं है। अर्थात् अनात्मा के आधीन आत्मत्व ही अत्यन्त दैन्य एवं कष्ट का प्रयोजक है। जैसे विकाररहित—कुन्तीपुत्र ही कर्ण, खराब प्रारब्ध के वश से 'यह राधा नाम की दासी का पुत्र अधम जातिवाला-राधेय है' ऐसी प्रसिद्धि को प्राप्त करके दुःखी हुआ था। वैसे स्वतः शुद्ध-अविकृत-ब्रह्म ही, अपने-अविद्यारूप-प्रमाद से जीवत्व को प्राप्त करके, वार वार उत्पन्न होने वाले—मरने वाले शरीरों की परम्परा के सैंकडों-योग से उत्पन्न होने वाले—अपार दु:ख-सतापो का भागी होता है। यद्यपि यह आत्मा दु:खों का साक्षी है, इसलिए परमार्थ से उसमें दु:खिता अयुक्त है, तथापि वह दु:खिता अपने में अध्यारोपित भी आत्मा-अनात्मा के अविवेकरूप-मूढ़ता से अनुभूत होती ही है। यद्यपि यह आत्मा निर्मल-अविक्रिय-अलुप्तदृक्—यानी शाश्वत ज्ञान-दृष्टिरूप—कूटस्थ है, इसलिए यह समस्त शरीरों में स्वयं नहीं देखता हुआ—नहीं सुनता हुआ—नहीं इच्छा करता हुआ—स्मरण नहीं करता हुआ—द्वेष नहीं करता हुआ—मोह नहीं करता हुआ—कोप नहीं करता हुआ, दु:खरहित, सुख-

निराकारः सन्नपि, पश्यन्तीं–शृण्वन्तीं–इच्छन्तीं–स्मरन्तीं–द्विषतीं–मुह्यन्तीं–कुप्यन्तीं–दुःखिनीं–सुखिनीं–सर्वाकारां बुद्धिं स्वस्वभावतः प्रकाशयत्येव, न तु तया वस्तुतो विकृतो भवति, तथाप्यनाद्यविद्यापिशाच्यावेशवशात्–पश्यन्निव-शृण्वन्निव–इच्छन्निव-स्मरन्निव-द्विषन्निवं–मुह्यन्निव–कुप्यन्निव–दुःखी इव–सुखी इव–सर्वाकार इव च प्रतीयते। अविद्या नामान्यस्मिन्नन्यधर्माध्यारोपणा; सैव सर्वानर्थबीजभूता, तयैव सर्वो लोको मोमुह्यते। 'गौरोऽहं कृष्णोऽहमि'ति देहधर्मस्याहंप्रत्ययविषये चात्मनि, अहंप्रत्ययविषयस्य चात्मनो देहे 'अयमहमस्मी'ति परस्पराध्यारोपेण निखिलो जनो व्यवहरति। यदा चायं दृढतत्त्वबोधाभ्याससम्पादितवीर्येणाविद्यामुन्मूल्यानात्मदेहाद्यध्यासञ्च परिहाय श्रुत्युक्तं सर्वगं शान्तमसङ्गमानन्दज्ञानमात्मानमद्वयं स्वं यस्यां कस्याञ्चिदवस्थायामनुभवति, तदैवायं विद्वान् मुक्तसर्वसंसारबन्धनः कृतकृत्यो भवति। पुनस्तेन किञ्चिदप्याप्तव्यं वा ज्ञातव्यं वा नावशिष्यते इति। तदेतत्परमार्थं वस्तु गमयितुमविद्यातत्कार्यानर्थबन्धञ्चोन्मूलयितुं वामदेवदृष्टान्तेन श्रुतिर्मुमुक्षुं प्रोत्साहयति—

रहित-निराकार हुआ भी, देखने वाली–सुनने वाली-इच्छा करने वाली–स्मरण करने वाली–द्वेष करने वाली–मोह करने वाली–कोप करने वाली–दुःख-वाली-सुख वाली-समग्र घटपटादिके–आकारों वाली बुद्धि को अपने स्वभाव से प्रकाशित करता ही है, उस बुद्धि से यह वस्तुतः विकारी नहीं होता है; तथापि अनादि-अविद्यारूपी-पिशाची के आवेश के वश से देखता हुआ-सा, सुनता हुआ-सा, इच्छा करता हुआ-सा, स्मरण करता हुआ-सा, द्वेष करता हुआ-सा, मोह करता हुआ-सा, कोप करता हुआ-सा, दुःखी हुआ-सा, सुखी हुआ-सा, सर्वाकार हुआ-सा प्रतीत होता है। अन्य में अन्य के धर्मों का अध्यारोप ही प्रसिद्ध कार्याविद्या है। यही समस्त-अनर्थों की कारणरूपा है, उसीसे ही निखिल लोक, अतिशय करके मोहित होता है। 'मैं गोरा हूँ' 'मैं काला हूँ' इस प्रकार देह के गौरत्वादि धर्मों का, अहंप्रत्यय का विषय-आत्मा में, और अहंप्रत्यय का विषय-आत्मा का देह में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार परस्पर के अध्यारोप से समस्त प्राणी व्यवहार करते हैं। जब यह मानव अधिकारी, दृढतत्त्व-बोध के अभ्यास से सम्पादित-सामर्थ्य से अविद्या का उन्मूलन करके अनात्मदेहादि में आत्मत्वाध्यास का परित्याग करके–श्रुतिप्रतिपादित-सर्वगत-शान्त-असंग-आनन्द-ज्ञान–अद्वैतरूप अपने आत्मा का जिस किसी भी अवस्था में अनुभव करता है। तभी ही यह विद्वान् समस्त-संसार के बन्धनों से मुक्त हुआ कृतकृत्य हो जाता है। फिर उससे कुछ भी प्राप्त करने योग्य या जानने योग्य-अवशिष्ट नहीं रहता है। इति। उसी इस परमार्थ-वस्तु का ज्ञापन करने के लिए तथा अविद्या और अविद्या का कार्यरूप-अनर्थ-बन्ध का उन्मूलन करने के लिए वामदेव के दृष्टान्त से श्रुति-मुमुक्षु को प्रोत्साहित करती है—

ॐ गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसीररक्षन् अध श्येनो जवसा निरदीयम् ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ४ सूक्त २७ ऋक् १) (ऐ. आ २।२४)

'मैंने (वामदेव ने) माता के गर्भ में रहते हुए ही इन देवताओं के सम्पूर्ण-जन्मों को जान लिया है। तत्त्वविज्ञान होने से पूर्व मुझे सैकड़ों लोहमय (लोहे के समान सुदृढ) शरीरों ने अवरुद्ध किया हुआ था। अब तत्त्वविज्ञान के प्रभाव से मैं श्येन पक्षी के समान उनका छेदन करके बाहर निकल आया हूँ, अर्थात् मैं अपने पूर्ण- स्वस्वरूप में अवस्थित हो गया हूँ।'

अत्रैष श्लोकः पठ्यते-'श्येनभावं समास्थाय गर्भाद्योगेन निःसृतः। ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते गर्भे नु सन्निति ॥' गर्भे नु=गर्भे एव-मातुः गर्भाशये एव, सन्=विद्यमानः, न्विति वितर्के। अहं=वामदेवः, अनेकजन्मान्तरकृतात्मानात्मविवेकभावनापरिपाकवशात्, एषां=इन्द्राग्न्यादीनां देवानां, विश्वा=विश्वानि-सर्वाणि, जनिमानि=जन्मानि, अनु-अवेदम्=अनुबुद्धवानसीत्यर्थः। परमात्मनः सकाशात्सर्वे देवा इन्द्रादयो जाताः, अत एव तस्यैव सत्तां स्फूर्तिञ्चादाय सत्तावन्तः स्फूर्तिमन्तः सन्तोऽवस्थिताः, ततस्ते पूर्णचिदानन्दघनस्वरूपात्सनातनादविकारात्तस्मात् कथमपि न पृथग्भूता भवितुमर्हन्ति; इति तेषां जन्मादिहेतुभूतमधिष्ठानमात्मानं परमार्थमद्वयं स्वरूपमहमवेदिषमिति यावत्। देवग्रहणं कृत्स्नस्य विश्वस्योपलक्षणम्। यद्वा एषां=वागग्न्यादीनां देवानां जन्मानि-शरीरग्रहणरूपाणि, तदुपलक्षितः सर्वोऽपि मिथ्याज्ञानादिरूपः संसारो वागादिकरणतदधिष्ठातृदेवतादिसंघातस्य लिङ्गशरीरस्यैव; नत्वसङ्गस्य व्यापिनो ममात्मन इत्यहमवेदमि-

यहाँ यह श्लोक पढा जाता है—श्येनभाव का अवलम्बन कर योग के सामर्थ्य से ऋषि-वामदेव गर्भ से निकल गया है, वह प्रथम गर्भ में सोता हुआ 'गर्भे नु सन्नि'त्यादि मन्त्रको बोलता है।' माता के गर्भाशय में ही विद्यमान हुए-मैं-वामदेव ने-'नु' शब्द वितर्क का बोध कराता है-अनेक-अन्य जन्मों में किये गये-आत्म अनात्म-विवेक की भावना के परिपाक के वश से इन इन्द्र-अग्नि आदि-देवों के समस्त जन्मों को जान लिया है। अर्थात् परमात्मा से समस्त इन्द्रादि देव उत्पन्न हुए हैं, इस लिए उसकी ही सत्ता एवं स्फूर्ति को ग्रहण करके वे सभी देव सत्तावाले एवं स्फूर्तिवाले हुए अवस्थित हैं। इस लिए वे उस *पूर्ण चिदानन्दघनस्वरूप-सनातन-निर्विकार परमात्मा* से किसी भी प्रकार से पृथक्रूप होने के लिए योग्य नहीं हैं, इस प्रकार उन के जन्मादि के उपादान कारणरूप-अधिष्ठान-आत्मा-परमार्थ अद्वैत स्वस्वरूप को मैंने जान लिया है, यह तात्पर्य है। 'देव' का ग्रहण समस्तविश्व के उपलक्षण के लिए है। अथवा-इन-वाणी-अग्नि आदि देवोंके शरीर ग्रहण रूप-जन्म-उत्पत्ति, और उससे उपलक्षित *समस्त-मिथ्याज्ञानादिरूप* ससार, वाणी आदि-इन्द्रिय-एव उन के अधिष्ठाता-देवता आदि के समुदाय से विशिष्ट-सूक्ष्मशरीर में ही है, असग-व्यापक-मुक्त आत्मा में संसार नहीं है, ऐसा मैंने जान

त्यर्थः । अनेन पदार्थविवेकपूर्वकमात्मज्ञानमुक्तम् । इतः इत्थंभूतादात्मज्ञानात्पूर्वमज्ञानदशायां, शतं=अनेकानि—असंख्यानि, आयसीः=अयोमयानि—लोहमयानि—इव—लोहनिर्मितशृङ्खलासमानानि—सुदृढानि—अभेद्यानि, पुरः=शरीराणि; मा=मां, अरक्षन्=अपालयन्—अवारुन्धन्—यथाऽहं शरीराद्व्यतिरिक्तमात्मानं न जानीयां, तथा मामरक्षन्नित्यर्थः । यद्वा यथा कारागृहेऽवस्थापितं प्रबलं तस्करं बन्धनशृङ्खलाः पलायनाद्रक्षन्त्येवं शतसंख्योपलक्षितान्यनन्तानि शरीराणि यथाऽहं मुक्तो न भवेयम्, तथैवात्माध्यासं दृढीकृत्यारक्षन्=संसारपाशनिर्गमान्मां रक्षितवन्तीत्यर्थः । अध=अथ—अधुना—गुरुशास्त्रप्रसादाल्लब्धतत्त्वविवेकः श्येनः=श्येनवदवस्थितोऽहं—श्येन इव जालं भित्त्वा, जवसा=वेगेन—आत्मबोधाभ्यासलब्धसामर्थ्येन निरदीयं=अविद्यामयाच्छरीरान्निर्गमं—अनावरणमसङ्गं परिपूर्णमात्मानं जानन् निर्गतोऽस्मीत्यर्थः । यद्वा पूर्वं 'अध' इति श्रौतं पदमथ इत्यर्थे व्याख्यातम् । सम्प्रति 'अधः' इति सान्तं पाठमाश्रित्य 'अधोलोकेषु निकृष्टयोनिषु संस्थाप्य मामरक्षन्' इत्यर्थेऽपि व्याख्यातुं शक्यम् । 'गर्भे एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच, स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः

लिया है । इस से-तत्त्वंपदार्थ-जीवेश्वर का विवेकपूर्वक-आत्मा का ज्ञान कहा गया है । इस प्रकार के इस आत्मज्ञान से प्रथम-अज्ञान दशामें शत यानी अनेक-असंख्य लोहमय-लोह से बनायी हुई-शृङ्खला (जंजीर) के समान-सुदृढ-अभेद्य-पुरः यानी शरीरों ने मुझको अवरुद्ध किया हुआ था । अर्थात् जिस प्रकार मैं शरीर से व्यतिरिक्त-आत्मा को न जानूँ, उस प्रकार मेरा-रक्षण किया हुआ था । यद्वा जैसे जेल में डाले हुए-प्रबल-डाकु का बँधन करने वाली-जंजिरें, भागने से रक्षण करती हैं-भागने नहीं देती हैं, इस प्रकार शतसंख्या से उपलक्षित-अनन्त शरीर, जिस प्रकार मैं मुक्त न होऊँ, उस प्रकार ही देहादियों में आत्माध्यास को दृढ कर के मेरी संसारपाश के निर्गमन से रक्षा करते थे, अर्थात् संसार पाश से छूट ने नहीं देते थे । अध-अनन्तर-अब गुरु शास्त्र के प्रसाद से तत्त्व विवेक को प्राप्त कर श्येन-पक्षी की भाँति अवस्थित हुआ मैं श्येन-की तरह जाल को तोड़ कर, जवः-वेग से यानी आत्म बोध के अभ्यास से प्राप्त हुए-सामर्थ्य से अविद्यामय-शरीर से अलग हो कर-आवरणरहित-असंग-परिपूर्ण-आत्मा को जानता हुआ मैं-बाहर निकल आया हूँ । यद्वा प्रथम 'अध' इति श्रुति के पद का 'अथ' इस अर्थ में व्याख्यान किया । अब 'अधः' इस प्रकार के सान्त-पाठ का आश्रय कर के निकृष्ट-अधम योनि वाले-अधः-नीचे के लोकों में मुझ को संस्थापन कर के ये शरीर मेरी रक्षा करते थे । इस अर्थ में भी व्याख्यान करने के लिए शक्य है । 'वामदेव ने गर्भ में शयन करते समय ही ऐसा कहा था । वह वामदेव-ऋषि ऐसा ज्ञान प्राप्त कर इस शरीर का नाश होने के अनन्तर उत्क्रमण कर इन्द्रियों के अविषयभूत स्वर्ग-स्वप्रकाश आनन्दरूप आत्म-लोक में सम्पूर्ण भोगों को प्राप्त कर अमृत-अभय हो गया,

सममवत् सममवत्' इत्यैतरेयोपनिषदि द्वितीये चतुर्थखण्डेऽयमर्थः सम्यक् प्रतिपादितः ॥

अमर हो गया।' ऐसे-ऐतरेयोपनिषत् के द्वितीयाध्याय के चतुर्थ-खण्ड में-अर्थ का भलीप्रकार से प्रतिपादन किया है।

(३८)

(जीवभावापन्नं स्वमात्मानं विवेकिनो धीरा ज्ञानयोगेन जीवत्वं दूरीकृत्य सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मभावमापादयन्ति)।

(जीव-भाव को प्राप्त हुए-अपने आत्मा को-विवेकी धीर, ज्ञानयोग द्वारा जीव भाव को दूर कर के सर्वोत्तम-ब्रह्मभाव का आपादन करवाते हैं)

यथा कश्चित् राजकुमारः सपत्नीद्वेषेण चाण्डालगृहे परित्यक्तः, चाण्डालेन पालितः, तत्रैव विवृद्धः, शैशवमतिक्रम्य पौगण्डो भूत्वा स आत्मनो राजन्यकुलोद्भवत्वं विस्मृत्य स्वमात्मानं चाण्डालोऽतिनीचो दीनो दरिद्रश्चाहमस्मीत्यभिमन्यते, तदीयं-चाण्डालकुलोचितं कर्म कुरुते। तथैवाद्वयमविकृतं विशुद्धमविद्यातत्कार्यविनिर्मुक्तं ब्रह्म स्वस्वरूपं विस्मृत्य जीवो भूत्वाऽविद्याऽध्यस्तदेहद्वये तादात्म्याध्यासात्तदीयान् धर्मान् भजते। महदाश्चर्यमेतत्! क्व चात्मस्वरूपं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यज्ञानानन्ताद्वयानन्दामृताभयस्वभावं सकलाभिः श्रुतिभिर्विमृग्यम्?। क्व चाविद्याकार्यजडपरिच्छिन्नरूपपञ्चमहाभूतकार्यदेहयुगलं स्थूलसूक्ष्मरूपम्?। परन्त्वत्यन्तासम्भावितार्थप्रदर्शनपटीयस्यामविद्यायां न किमप्य-

जैसे कोई राजकुमार माता की सौत के द्वेष से चाण्डाल के घर में परित्यक्त हुआ, चाण्डाल से पालित-रक्षित हुआ, उस के घर में ही बड़ा हुआ, बाल्यकाल का अतिक्रमण कर पौगण्ड-यानी कुछ प्रौढ हो कर 'मैं राजा के कुल में उत्पन्न हुआ हूँ' वह ऐसा स्मरण न करके अपने आप को 'मैं चाण्डाल हूँ—अति नीच-दीन एव दरिद्र हूँ' ऐसा दृढ मानता है। और उस चाण्डाल-कुल के उचित कर्म को करता है। वैसे अविकृत-विशुद्ध-अविद्यातत्कार्य से विनिर्मुक्त-अद्वैत ब्रह्म—जो अपना स्वरूप है—उसका विस्मरण कर जीव हो कर अविद्या के द्वारा अध्यस्त हुए-स्थूल-सूक्ष्मरूप-दो शरीरों में तादात्म्य के अध्यास से उन शरीरो के धर्मों का सेवन करता है—अर्थात् शरीर के जीवन-मरणादि धर्मों को अपना ही मानता है। यह महान् आश्चर्य है! समस्त-श्रुतियों के द्वारा खोजने योग्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सत्य-ज्ञान-अनन्त-अद्वय-आनन्द-अमृत-अभय स्वभाव वाला आत्मस्वरूप कहाँ? और अविद्या का कार्य-जडपरिच्छिन्नरूप-पञ्चमहाभूत का कार्य-स्थूल सूक्ष्मरूप देहद्वय कहाँ? परन्तु अत्यन्त-असंभावित-अर्थ के प्रदर्शन करने के लिए अत्यन्त-कुशलरूप-अविद्या

सम्भावितं नाम। आह च भगवान् व्यासः— 'अहो मायाबलं विष्णोः स्नेहबद्धमिदं जगत्। क्व देहो भौतिकोऽनात्मा क्व चात्मा प्रकृतेः परः। कस्य के पतिपुत्राद्या मोह एव हि कारणम् ॥' (भा. ८।१६।१८-१९) इति। यथा स एव नृपात्मजः केनचिद्दयालुना परमाप्तेन प्रत्यायितं स्वमात्मानं राजपुत्रत्वाक्रान्तं स्मृत्वा चाण्डालभावमुज्झित्वा शौर्यतेजआदिलक्षणं क्षात्रं स्वभावं प्राप्नोति। तथैव स्वतःप्रमाणेन भगवता वेदेन बोधितं सर्वोत्कृष्टं परमदेवस्वरूपं स्वमात्मानं नित्यावाप्तमवाप्याविद्यातत्कार्यदेहद्वयतद्धर्मकृतं परिच्छिन्नरूपं जीवभावमपहाय केचनातिधन्या अधिकारसम्पन्ना धीरा विद्वांसो जीवन्मुक्ता भवन्ति। ननु—कथं न सर्वे बोधमासाद्य जीवन्मुक्ता भवन्तीति चेत्? साधनसम्पदा प्रतिबन्धानपगमात् न बोधमासादयितुं प्रभवन्ति सर्वे इति वदामः। यदा च यः कश्चित् शुभैः कर्मभिः चित्तशुद्धिं परमात्मदेवोपासनया च चित्तस्थैर्यं सम्पाद्य मलविक्षेपलक्षणं दोषद्वयं प्रतिबन्धमपाकरोति, तथैव विवेकादिसाधनचतुष्टयसम्पत्त्या बोधावाप्तियोग्यतामासाद्य श्रुतिसद्गुरूपदिष्टं

में कुछ असम्भवित-नहीं है, 'नाम' शब्द उसकी असंभव के संभव करनेकी प्रसिद्धि का द्योतक है। भगवान् व्यास श्रीमद्भागवत में कहते हैं—'अहो! विष्णु की माया का बल, जिससे यह समस्त जगत् स्नेह-मोह से बँधा हुआ है! भूतों का बना हुआ अनात्मा देह कहाँ? और प्रकृति से पर आत्मा कहाँ? किस के कौन पति-पुत्र आदि हैं? उस में निश्चय से मोह (अविद्या) ही कारण है।' इति। जैसे वही राजा का पुत्र किसी परम-प्रामाणिक-दयालु व्यक्ति के द्वारा बोधन किये हुए-राजपुत्रत्व-धर्म से संयुक्त-अपने आपका स्मरण कर के चाण्डाल के भाव का परित्याग कर के शौर्य तेज आदि लक्षण वाले-क्षात्र स्वभाव को प्राप्त हो जाता है। वैसे ही स्वतःप्रमाण-भगवान् वेद के द्वारा बोधन किया हुआ सर्वोत्कृष्ट-परमदेवस्वरूप-अपना आत्मा-जो सदा प्राप्त है-उस को प्राप्त कर के अविद्या और अविद्या का कार्य देह-द्वय और उस के धर्मों से किया हुआ-परिच्छिन्नरूप वाला-जीव भाव का परित्याग कर के कुछ अति धन्य अधिकार से सम्पन्न-धीर विद्वान् जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

शंका—सभी बोध को प्राप्त कर के जीवन्मुक्त क्यों नहीं होते हैं?

समाधान—साधन सम्पत्ति के द्वारा प्रतिबन्धों की निवृत्ति न होने के कारण सभी बोध प्राप्त करने के लिए समर्थ नहीं होते हैं, ऐसा हम कहते हैं। जब जो कोई शुभ कर्मों के द्वारा चित्त-शुद्धि का एवं परमात्मदेव की उपासना के द्वारा चित्त की स्थिरता का सम्पादन कर के मल एवं विक्षेपरूप दो दोष—जो आत्मसाक्षात्कार के प्रतिबन्धक हैं—उनको दूर करता है। उसी प्रकार ही विवेकादि साधन चतुष्टय की सम्पत्ति के द्वारा बोध-प्राप्ति की योग्यता को प्राप्त कर के श्रुति एवं

ब्रह्मात्मतत्त्वं श्रवणादिभिर्विदित्वाऽविद्याऽऽवरणं निरस्यति, तदैव सः कृतकृत्यो जीवन्मुक्तो भवति । तथा चाहुः—'आत्मानुभूतौ तां मायां जुहुयात् सत्यदृङ् मुनिः । ततो निरीहो विरमेत्स्वानुभूत्याऽऽत्मनि स्थितः ॥' (भा० ७।१४।४४) इति । इत्येतमाशयमन्तर्निधायाहातिधन्यो भगवान् वेदः—

सद्गुरु से उपदिष्ट-ब्रह्मात्मा के स्वरूप को श्रवणादियों के द्वारा जान कर के अविद्यारूप आवरण का निरास करता है, तब ही वह कृतकृत्य जीवन्मुक्त हो जाता है। तथा च भगवान् वेद व्यास भी श्रीमद्भागवत में कहते हैं—'सत्य-तत्त्व दृष्टि वाला-मुनि, आत्मा के अनुभव में उस अविद्यारूप-माया को होम कर दे। उसके बाद अपने-अपरोक्ष अनुभव से आत्मा में स्थित हुआ निश्चेष्ट हो कर विराम-उपशम-प्राप्त करे।' इति। इस प्रकार के आशय को भीतर में स्थापन कर के अतिधन्य भगवान् वेद कहता है—

ॐ युवा सुवासाः परिवीत आगात्, स उ श्रेयान् भवति जायमानः ।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति, स्वाध्यो३ मनसा देवयन्तः ॥

(ऋग्वेद. मण्डल. ३ सूक्त. ८ ऋक्. ४) (तै. ब्रा. ३।६।१।३)

'जो आत्मा सदा अखण्डैकरस—कूटस्थ ध्रुव है, वही अविद्यारूप-आवरणों से एवं स्थूलादि—शरीरों से समावृत हो कर जीव भाव को प्राप्त हो गया है। वही शुभ कर्मों से चित्तशुद्धि एवं भगवदुपासना से चित्त की स्थिरता प्राप्त करता हुआ शुद्धयादि-गुणों से अति-प्रशस्त होता है। अपने में परमात्मदेव-भाव को प्राप्त करने की इच्छा करते हुए—धीर—निर्विकार कवि-तत्त्वदर्शी-ज्ञानवान् हुए—अभ्यासयोगादि से युक्त मन से उस-परब्रह्म के सम्यक्—ध्यान परायण हुए—अपने को सर्वोत्तम-ब्रह्मरूप से प्राप्त कर लेते हैं।'

युवा=नित्यनूतनः सदाऽखण्डैकरस इत्यर्थः, बाल्यवार्धक्यस्थूलत्वकृशत्वाद्यैः स्थूलदेहविकारैः, कामकोपलोभादिभिः सूक्ष्मदेहविकारैश्च तत्कारणभूतयाऽविद्यया च विरहितः तैरनुपहतो मुख्यात्मा प्राणस्य प्राणः कूटस्थः प्रत्यक् चेतनः साक्षी इति यावत् । सुवासाः=सुष्ठु वासः—अन्नमयादिपञ्चकोशकृतं अविद्यामयं वा प्रावरणं स्वरूपतिरोधायकं यस्य सः । शोभनेन तादृशेन वाससा युक्तः सत्त्वमयान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितः सन्, परिवीतः=शरीरैः स्थूला-

युवा यानी नित्यनया-सदा अखण्ड-एकरस, बाल्य-वार्धक्य-स्थूलत्व-कृशत्व आदि स्थूल-देह के विकारों से, एवं काम-कोप-लोभ आदि-सूक्ष्म देह के विकारों से और उनकी कारणभूत-अविद्या से विनिर्मुक्त—उन से-जो वस्तुतः उपहित-संयुक्त नहीं है, ऐसा मुख्यात्मा, प्राण का प्राण, कूटस्थ, प्रत्यक् चेतन साक्षी। वह सुवासा है—यानी सुष्ठु-अच्छा वास-वस्त्ररूप-अन्नमयादि पंचकोशों से किया गया—या अविद्यादिमय-स्वरूप का तिरोधान करने वाला-प्रकृष्ट है—आवरण जिसमें वह-शोभन-उस प्रकार के वास से-आवरण से युक्त-सत्त्व प्रचुर अन्तःकरण की वृत्तियों में प्रतिबिम्बित हुआ, परिवीत यानी,

दिभिः समाक्रान्तश्च सन्, आगात्=जीवदशां प्राप्तः। उ इति निश्चयेन सकललोकसिद्ध-जीवदशाऽनुभवसूचनाय। एतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणमनुसन्धेयम्–'प्राणो वै युवा सुवासाः सोऽयं शरीरैः परिवृतः स उ श्रेयान् भवति' (ऐ. ब्रा. २।२) इति। अनेन परिपूर्णब्रह्मस्वभावस्य नित्यमुक्तस्याप्यात्मन आविद्यकं जीवत्वं बद्धत्वञ्च सूचितम्। अथाधुना बद्धस्य तस्य बन्धविमोकाय साधनसम्पत्तिमावेदयति–स उ=स एव। जायमानः=शुभैः कर्मभिः, सगुणब्रह्मोपासनया च चेतसः शुद्धिं स्थैर्यञ्च सम्पाद्यमानः, श्रेयान्=श्रेष्ठः–अतिप्रशस्तः–शुद्ध्यादिगुणैरभ्यधिको भवति। एवं बहिरङ्गसाधनमभिधायान्तरङ्गं तद्दर्शयितुं तद्वतां स्वरूपं साधनफलञ्च निरूपयति–धीरासः=धीराः–निर्विकारचेतसः–शमादिषट्सम्पत्तिपरायणा दृढव्रताः, कवयः=प्राज्ञाः सुनिपुणमतयः–अनुवचनसमर्थाः, देवयन्तः=देवं परमात्मभावमात्मनः कामयमानाः–महादेवत्वं प्राप्तुमिच्छन्तः, मनसा=अभ्यासवैराग्ययुक्तेन नान्यगामिना विशुद्धेन मनसा स्वाध्यः=सुष्ठु सर्वतः परब्रह्मध्यानयुक्ताः सन्तः, तं=लोकशास्त्रप्रसिद्धं जीवात्मानं स्वं, उन्नयन्ति=ऊर्ध्वं सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मभावं प्रापयन्ति–सर्वोन्नतं–ब्रह्मस्वरूपं कु-

स्थूलादि-शरीरों से सम्यक् आक्रान्त-जकड़ा हुआ, आगात् यानी जीवदशा को प्राप्त हो गया है। 'उ' यह शब्द निश्चय से सकल लोक में सिद्ध जीवदशा के अनुभव की सूचना के लिए है। इस पूर्वोक्त-अर्थ में ब्राह्मण-ग्रन्थ भी अनुसंधान करने योग्य है–'प्राण (परमात्मा) ही निश्चय से युवा है, वह सुवासा यानी वही यह शरीरों से समावृत हो गया है, वही (साधन सम्पत्ति के द्वारा) अतिप्रशस्त-श्रेष्ठ हो जाता है।' इति। इस कथन से–'परिपूर्ण-ब्रह्मस्वभाव-नित्यमुक्त-भी आत्मा का अविद्याप्रयुक्त ही जीवत्व एवं बद्धत्व है' ऐसा सूचित हुआ। अब उस बद्ध जीव के बन्ध की निवृत्ति के लिए साधन-सम्पत्ति का आवेदन-बोधन करते हैं–वही जायमान यानी–शुभकर्मों से एवं सगुण ब्रह्म की उपासना से चित्त की शुद्धि एवं स्थिरता का सम्पादन करता हुआ-श्रेयान् यानी श्रेष्ठ-अतिप्रशस्त–शुद्धि आदि गुणों से अभ्यधिक हो जाता है। इस प्रकार बहिरङ्ग साधन का कथन कर के अन्तरङ्ग साधन का प्रदर्शन करने के लिए, उन-साधन वालों के स्वरूप का एवं साधनों के फल का निरूपण करते हैं–धीरासः यानी धीर-निर्विकार चित्तवाले-शमादि षट्सम्पत्ति के परायण–दृढव्रत धारी। कवय यानी प्राज्ञ-सुनिपुणमति वाले-अनुवचन (वेदादिशास्त्रों का प्रवचन) करने में समर्थ, देवयन्तः यानी अपने में देवरूप परमात्म–भाव की कामना करते हुए–अर्थात् महादेवत्व की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए, अभ्यास वैराग्य युक्त-नान्यगामी-विशुद्ध-मन से स्वाध्यः यानी सुष्ठु-सर्व तरफ से परब्रह्म के ध्यान से युक्त हुए, तं यानी लोक शास्त्र प्रसिद्ध-जीवात्मारूप अपने को, उन्नयन्ति अर्थात् ऊर्ध्व-सर्वोत्कृष्ट-ब्रह्म भाव प्राप्त करवा देते हैं अर्थात् सर्वोन्नत-ब्रह्मरूप-अपने को

वेन्तीत्यर्थः[1] । 'ये वा अनूचानास्ते कवयस्त एवैनं तदुन्नयन्ति' इत्यैतरेयब्राह्मणश्रुतेः ।

तथा चेमं मन्त्रमनुवदन्तो भगवत्पादाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकारा आचार्यश्रीशङ्करस्वामिनो ब्रुवते शतश्लोक्याम्—

'यः सत्त्वाकारवृत्तौ प्रतिफलति युवा देहमात्रावृतोऽपि, तद्धर्मैर्बाल्यवार्द्धक्यादिभिरनुपहतः प्राण आविर्बभूव । श्रेयान् साध्यस्तमेतं सुनिपुणमतयः सत्यसङ्कल्पभाजोऽप्यभ्यासाद्देवयन्तः परिणतमनसा साकमूर्ध्वं नयन्ति ॥ ४५ ॥'

केचन पुनरेवं व्याचक्षते—जायमानः= पुण्यभूमौ भरतखण्डे, पूर्वभवकृतपुण्यपुञ्जसम्पादितपावनमानवदेहे वा प्रादुर्भूतमात्रः सन्, यो जीवात्मा श्रेयान्=सत्कर्मसदुपासननिरतो भवति, तथा यः स्वाध्यः=साधयितुं—उत्तमां गतिं देवयानेन पथा प्राप्तुं योग्यो भवति, तमेतं साधकं धीरासः—कवयो

कर देते हैं । 'जो ये अनूचान-तत्त्वदर्शी-श्रोत्रिय-विद्वान् हैं, वे ही कवि हैं, वे ही इस अपने आपको ऊर्ध्व-ब्रह्मरूप प्राप्त करवा देते हैं ।' इस ऐतरेय ब्राह्मण-श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है ।

तथा च इस मन्त्र का अनुवाद करते हुए प्रस्थान त्रयी भाष्यकार-भगवत्पाद-आचार्य श्रीशङ्करस्वामी शतश्लोकी नामक ग्रन्थ में कहते हैं—

'जो आत्मा युवा-एकरस है, सत्त्वाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित हुआ है, वही सत्त्वगुण सम्पन्न प्राण (जीव) रूप से आविर्भूत हुआ है । वह स्थूल-सूक्ष्मादि देहों से आवृत्त रहने पर भी उनके धर्म बाल्य एवं वार्धक्य आदि से किसी प्रकार के विकार को प्राप्त नहीं होता । उसे उत्तमगति (ब्रह्मभाव) को प्राप्त करा देना चाहिये । सत्यसंकल्पवान् और कुशल मति-पुरुष इसे—अभ्यास द्वारा देवत्व-परमात्मत्व को प्राप्त करा कर अपने संकल्प—शून्य निर्विकल्प-चित्त के सहित-सुषुम्ना मार्ग द्वारा उपरकी ओर ले जाते हैं ।'

कोई विद्वान् पुनः इस मन्त्र का इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—जायमान यानी, पुण्य—पवित्र भूमि-भरतखण्ड में या पूर्व के अनेक-जन्मों में किये गये-पुण्यों के समुदाय से सम्पादन किया गया-पावन-मानवदेह में प्रादुर्भूत हुआ, जो जीवात्मा, श्रेयान् यानी सत्कर्म एवं सदुपासना में निरत-प्रीतिवाला होता है, तथा जो स्वाध्यः यानी साधन करने के लिए-देवयान मार्ग द्वारा उत्तम गति की प्राप्ति करने के लिए योग्य होता है, उस इस साधक को, धीर, कवि, देवत्व को प्राप्त कराने

[1] परिवीतः—'व्येञ् संवरणे' कर्मणि क्तः यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । आगात्—'इण् गतौ' इत्यस्य लुङि 'इणो गा लुङि' इति गादेशः, 'गातिस्था' इति सिचो लोपः, अडागमः । स्वाध्यः—'ध्यै चिन्तायां' स्वाङोरुपसर्गयोः प्राक्प्रयोगः, 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप् दृशिग्रहणात्संप्रसारणं, 'सम्प्रसारणाच्चे'ति पूर्वरूपं, 'हलः' इति दीर्घः, जसि 'एरनेकाचः' इति यणादेशः । देवयन्तः=सुप आत्मनः क्यच्' आत्मनो देवत्वमिच्छन्तः ।

देवयन्तो योगिनः, मनसा=विविक्तेन–योगयुक्तेन मनसा-सह, उन्नयन्ति=सुषुम्नामार्गेण ऊर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्रं नयन्ति=प्रापयन्ति, इति शिष्टं पूर्ववत् ।

याज्ञिकाः पुनरेतस्यैवं व्याख्यानं विदधते=युवा=दृढाङ्गः-अष्टाश्र्यादिलक्षणलक्षित इत्यर्थः । सुवासाः=शोभनेन वाससा युक्तः, परिवीतः=रशनया वेष्टितः, एवंविधो यूपः, आगात्=आगच्छति, स उ=स एव यूपः श्रेयान् जायमानः=सर्वेभ्यो वनस्पतिभ्य उत्कृष्टतया सम्पाद्यमानो भवति । तं एवंविधं यूपं धीरासः=प्राज्ञाः, मनसा देवयन्तः=देवान् कामयमानाः, स्वाध्यः=सुष्ठु देवध्यानयुक्ताः, कवयः=क्रान्तदर्शिनोऽध्वर्य्वादय उन्नयन्ति=स्तूयमानैर्गुणैरुच्छ्रितं उन्नतं कुर्वन्तीत्यर्थः । यद्वा यथा लोके सुवासाः=शोभनवाससोपेतो 'युवा=यौवनयुक्तो दर्शनीयः पुरुषोऽग्रतः आगच्छति, एवमयं यूपोऽपि तत्सदृशः सन् आगात्–इह कर्मण्यागतः ।

की इच्छा करने वाले-योगी, विविक्त–(आसक्ति-रहित-असंग) योगयुक्त मनके साथ सुषुम्नामार्ग द्वारा ऊर्ध्व-ब्रह्म रन्ध्र को प्राप्त करा देते हैं । परिशिष्ट पूर्व व्याख्यान के समान है ।

याज्ञिक पुनः इस मन्त्र का इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—युवा यानी दृढ-अंगवाला अष्टकोण आदि लक्षणों से लक्षित, सुवासा यानी शोभन-वस्त्र से युक्त, परिवीत यानी रस्सी से बँधा हुआ, इस प्रकार का यज्ञ का यूप-खंभा आता है । वही यूप समस्त-वनस्पतियों से उत्कृष्टरूप से सम्पादित हो जाता है । उस-इस प्रकार के यूप को धीर-प्राज्ञ, जो मन से देवों की कामना करते हैं, जो अच्छी प्रकार देवों के ध्यान से युक्त हैं–ऐसे कवि-अतीतादि के द्रष्टा अध्वर्यु आदि हैं, वे उस यूप को स्तूयमान-गुणों से उन्नत बनाते हैं । यद्वा जैसे लोक में अच्छे वस्त्रों से संयुक्त, यौवन से युक्त, दर्शनीय, पुरुष, सामने आता है, तिस प्रकार यह यूप भी उस के सदृश हुआ इस कर्म में आया है ।

(३९)

(भोगमोक्षकामैर्विश्वाराध्यो भगवानेव शरणीकर्तव्यः ।)

(भोग-मोक्ष की कामना करने वाले-मनुष्यों को विश्व का आराध्य भगवान् ही शरण करने योग्य है)

यथा कच्छपी सरणेन, मत्स्यी चावलोकनेन स्वापत्यानि पुष्णाति, तथैव या विश्वजननी जगन्माता स्नेहामृतमयी विश्वाराध्या भक्तप्रिया दयानिधिर्भगवती, 'त्वं माता सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिताः ।' इति विष्णुपुराणे स्मरणात् । स एव विश्वपिता भगवान् स्वशरणापन्नान् स्वाराधकान् पु-

जैसे कच्छपी स्मरण से एवं मछली देखने से, अपने-बच्चों का पोषण करती है । तिस प्रकार जो विश्व की जननी–स्नेहामृतमयी-विश्व की आराध्या, भक्तप्रिया दयानिधि भगवती जगन्माता है–वही विश्वपिता भगवान् है, 'तू सर्व लोकों की माता है, और तू ही देवों का देव हरि पिता है' ऐसा विष्णुपुराण में स्मरण किया गया है । वह अपने शरणागत-अपनी आराधना करने वाले भक्तों का स्मरण

ष्णाति। तेभ्यो भौमान् स्वार्गानभीष्टान् भोगान् समर्प्य चोत्तमोत्तमं निर्वाणमोक्षसुखमपि ददाति। एतादृशः कृपानिधानः परमपिता स्वामी को नाम ततोऽन्योऽस्ति? प्रसन्ने च तस्मिन्नास्ति नाम प्रेयः श्रेयश्च किञ्चित् यन्मानवैर्न लभ्येत? अपि च दुरन्तदुःखाकरे संसारे समूलसकलक्लेशनाशस्तद्भक्त्यैव भवति। अनन्ताक्षय्यसुखसम्पदाधिपत्यं च तत्प्राप्त्यैव प्राप्यते नेतरथेति सकलैः शास्त्रैर्मतिमद्भिश्च घण्टाघोषेण जोघूष्यते। यदाह व्यासोऽपि-'स विधास्यति ते कामान् हरिर्दीनानुकम्पनः। अमोघा भगवद्भक्तिर्नेतरेति मतिर्मम॥' (भा. ८। १६।११) इति। तथाप्यहो बलवत्तरो मोहमहिमा! लोकास्तममरतरुमनादृत्य किलैरण्डं शुष्कमाश्रयन्ति। ततो धीधनैर्भावुकैः स एव भगवान् सच्छ्रद्धया शरणीकर्तव्यः। तद्विमलदिव्यगुणमहिमस्मरणेन सर्वोऽपि पुण्यसमयो व्ययीकरणीय इत्यभिप्रेत्य तन्महिमानमाह—

से एवं देखने से भी पोषण करता है। उनको भूमि के एवं स्वर्ग के अभीष्ट-भोगों को समर्पण करके, उत्तम से भी उत्तम निर्वाण मोक्ष-सुख का भी दान करता है। इस प्रकार का कृपानिधान परमपिता स्वामी, उससे अन्य कौन है? उसके प्रसन्न होने पर ऐसा कोई प्रेय (लोकाभ्युदय) एवं श्रेय (आत्मकल्याण) नहीं है, जो मानवों को प्राप्त न हो?। और अन्तरहित-दुःख का खानरूप संसार में भगवान् की भक्ति से ही मूलसहित-समस्त क्लेशों का नाश होता है। उसकी प्राप्ति से ही अनन्त-अक्षय्य-सुखरूप सम्पत्ति के आधिपत्य की प्राप्ति हो जाती है, अन्य प्रकार से नहीं, इस प्रकार सकल शास्त्रों के द्वारा तथा बुद्धिमानों के द्वारा घण्टाघोष से अतिशय करके घोषित किया जाता है। व्यास भी भागवत में यही कहता है-'दीनों के ऊपर अनुग्रह करने वाला-दीनबन्धु वह हरि, तेरी कामनाओं को पूर्ण करेगा, भगवान् की भक्ति अमोघ-अव्यर्थ-सफल ही होती है, अन्य नहीं, ऐसी मेरी मति-सम्मति है।' इति। तथापि अहो! मोह का महिमा अति बलवान् है! लोक उस कल्पवृक्षरूप-भगवान् का अनादर करके शुष्क-एरण्डवृक्षरूप असार-संसार का ही आश्रय करते हैं। इसलिए बुद्धिरूपी धन वाले-भावुकों को वही-एकमात्र भगवान् सात्त्विकी-श्रद्धा द्वारा शरण करना चाहिए। उस के विमल-दिव्यगुणों की महिमा के स्मरण से ही समग्र पवित्र-समय बिताना चाहिए। ऐसा अभिप्राय रख कर वेदमन्त्र उसकी महिमा का कथन करता है—

ॐ विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां, विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामव आवृणानः, सुमृळीको भवतु जातवेदाः॥

(ऋग्वेद. मण्ड० ४, सूक्त० १, ऋक् २०) (वा. य. ३३।१६) (तै. ब्रा. २।७।१२।५)

'अग्नि-परमात्मा, समस्त-यज्ञ के योग्य-देवों की अखण्डनीया माता है। तथा वह समस्त

मनुष्यों का परमाराध्य पूज्य-मान्य है। वह दैवी सम्पत्ति वाले—देवसदृश सज्जनों को इस लोक एवं परलोक के सुखभोग का समर्पण करता है। वह सर्वज्ञ ज्ञाननिधि भगवान् हमें अपने साक्षात्कार के द्वारा सु-शोभन-पारमार्थिक-ब्रह्मनिर्वाण-सुख का प्रदान करे।'

अग्निः=परमात्मा महादेवः, 'तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये' (अथर्व. ७।९२।१) इति श्रुतेः। विश्वेषां=सर्वेषां, यज्ञियानां=यज्ञार्हाणां—देवानां, अदितिः—अखण्डिता माता, नास्ति दितिः=खण्डनं यस्याः सा अदितिः। मातृवत् देवानां लालनपालनपोषणकर्ता इत्यर्थः। देवग्रहणमुपलक्षणं कृत्स्नस्य। 'प्राधान्येनैव तद्व्यपदेशा भवन्ती'ति न्यायात्। यद्वा विश्वेषां देवानामदितिर्भूस्थानीय आधारभूत इति यावत्। 'अदिति देवमाता पृथिवी वेति' प्रसिद्धेः। तथा विश्वेषां सर्वेषां मनुष्याणां, अतिथिः=परमाराध्यः, अतिथिवत्पूज्यो मान्यश्च भवति। तथा देवानां=दैवीसम्पद्विशिष्टानां विदुषां स्तोतॄणां भक्तानां कृते, अवः=अन्नं तदुपलक्षितमैहलौकिकं पारलौकिकं भोग्यजातं, आवृणानः=समर्पयन्, जातवेदाः=जातं समुत्पन्नं सर्वं विश्वं वेत्तीति जातवेदाः—सर्वज्ञः सर्ववित्। सुमृळीकः=सु-शोभनं—पारमार्थिकं—निरतिशयं—ब्रह्मनिर्वाणलक्षणं, मृळीकं=सुखं यस्मात्—यत्साक्षात्करणात् सः तथा, तेषां सुखकरः, भवतु=भवति'।

तथैवान्य आम्नायोऽप्याह—'देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्।' (शु. यजु. वा. ३३।५४) इति।

अग्नि यानी परमात्मा महादेव, 'उस रुद्ररूप अग्नि को नमस्कार है' यह श्रुति भी इस विषय में प्रमाण है। वह समस्त-यज्ञार्ह-देवों की अदिति यानी अखण्डनीया माता-जननी है। नहीं है दिति यानी खण्डन जिसका वह अदिति है। अर्थात् माता की भाँति देवों का लालन-पालन एवं पोषण करता है। देव का ग्रहण समग्र विश्व का उपलक्षण है। 'प्रधानव्यक्ति का ही प्रथम उच्चारण कर अन्यों का कथन लक्षणा द्वारा होता है' इस न्याय का अनुरोध कर देव का ग्रहण किया है। अथवा—वह समस्त देवों का अदिति यानी पृथिवीस्थानापन्न-आधाररूप है। 'अदिति देवमाता या पृथिवी है' ऐसी शास्त्रीय—प्रसिद्धि है। तथा वह समस्त मनुष्यों का अतिथि यानी परमाराध्य अतिथि की तरह पूज्य एवं-मान्य है। तथा दैवी सम्पत्ति से विशिष्ट-विद्वान्-देव-सदृश-स्तुति करने वाले—भक्तों को, अव यानी अन्न, उससे उपलक्षित इस लोक के एवं परलोक के भोग्य समुदाय का आवृणानः यानी समर्पण करता है। वह जातवेदाः यानी जात-समुत्पन्न-समस्त विश्व को जानता है, इसलिए जातवेदा सर्वज्ञ एवं सर्ववित् है। वह सुमृळीक यानी सु-शोभन-पारमार्थिक-निरतिशय-ब्रह्मनिर्वाणरूप सुख, जिस से—जिस के साक्षात्कार से—होता है, वह सुमृळीक है, अर्थात् उनके लिए वह सुखकर होता है। तथैव अन्य वेदमन्त्र भी कहता है—'वह परमात्मा यज्ञानुष्ठान करने वाले देवसदृश धार्मिकों को मुख्य-उत्तम-भाग—त्रिपात्-शुद्ध-ब्रह्मरूप अमृतत्व का

१ अतिथि.—'अत सातत्यगमने' 'ऋतन्यञ्जि' इत्यादिना इथिन् प्रत्ययः। मातुषाणा-मनोरपत्यानीत्यर्थे ''मनोर्जातावञ्यतौ षुक्च' इति अञ् प्रत्ययः।

अयमर्थः-यज्ञियेभ्यः=यज्ञानुष्ठानाच्छुद्धैकाग्रान्तःकरणेभ्यः परमं पदमधिगन्तुमर्हेभ्यो देवेभ्यः-सज्जनेभ्यः, हे परमात्मन्! त्वं हि=निश्चयेन, प्रथमं=मुख्यं-अद्वितीयं, उत्तमं=प्रकृष्टं-निरतिशयं, भागं=त्रिपाल्लक्षणं 'त्रिपादूर्ध्वं उदैत्पुरुषः' (ऋ. १०।९०।४) 'त्रिपादस्यामृतं' (ऋ. १०।९०।३) इति श्रुतिप्रसिद्धं, अमृतत्वं=परमानन्दरूपं विष्णोः परमं पदं, सुवसि=तत्त्वज्ञानेनाज्ञानान्धकारं दूरीकृत्य प्रेरयसि-समर्पयसि-सदाप्राप्तमपि प्रापयसीति यावत्। ('षू प्रेरणे' तुदादिः)

समर्पण करता है।' इति। इसका यह अर्थ है-यज्ञिय यानी यज्ञों के अनुष्ठान से शुद्ध-एवं एकाग्र-अन्तःकरण वाले-परमपद मोक्ष को प्राप्त करने के लिए योग्य-देवरूप सज्जनों को हे परमात्मन्! तू निश्चय से प्रथम यानी मुख्य-अद्वितीय, उत्तम यानी प्रकृष्ट-निरतिशय, त्रिपाद्रूप भाग-'शुद्ध त्रिपाद्-रूप-सर्वोत्कृष्ट-पुरुष अपनी महिमा में उदित-प्रकाशित है' 'इस पुरुष का त्रिपाद्-अमृत-अखण्ड-शुद्ध है।' इस श्रुति में जो प्रसिद्ध है-ऐसा अमृतत्व यानी परमानन्दरूप विष्णु के परमपद का तत्त्वज्ञान से अज्ञानरूप अन्धकार को दूर करके समर्पण करता है, सदा प्राप्त भी उसको प्राप्त करवा देता है।

(४०)

(भगवन्नामप्रभाववर्णनम्)

(भगवन्नामों के प्रभाव का वर्णन)

अनन्तप्रज्ञाधिदैवतं परमैश्वर्यशालिनं भगवन्तं प्रणवगायत्रीप्रभृतिभिर्मन्त्रविशेषैर्दिव्यशक्तिसम्पन्नैर्मधुरमञ्जुलमंगलधामभिर्नामभिश्च ये दृढव्रताः श्रद्धालवः पुण्यकर्माणः सततमनुसरन्ति। ते खलु भगवत्कृपाकटाक्षवीक्षणपात्रतामुपगम्य तदीयासीमप्रकृष्टबलतेजःप्रज्ञाशक्तीः सम्पाद्य श्रेयोविध्वंसकान् कामादिकान् शत्रून् विध्वंस्य संसारसंग्रामे विजयशालिनो धन्या भवन्तीत्येतन्मन्त्रद्रष्टृमहर्षिप्रवृत्तिमुखेन प्रतिपादयति—

अनन्त-प्रज्ञा का अधिदेवता, परम-ऐश्वर्य शाली, भगवान् का-प्रणव, गायत्री आदि मन्त्रविशेषों से, तथा दिव्यशक्ति से सम्पन्न-मधुर-मञ्जुल-मंगल-कल्याण के स्थानरूप-नामों से, जो दृढ व्रतधारी श्रद्धालु सदाचारी निरन्तर स्मरण करते हैं। वे निश्चय से भगवत्कृपा-कटाक्ष के अवलोकन की पात्रता को प्राप्त करके भगवान् की सीमा रहित-प्रकृष्ट-बल-तेज-प्रज्ञा-शक्तियों का सम्पादन करके, श्रेयः-कल्याण के विध्वंस करने वाले-कामादि-शत्रुओं का विध्वंस करके, संसार संग्राम में विजय शाली-धन्य हो जाते हैं, ऐसा इसका-मन्त्रद्रष्टा महर्षि की प्रवृत्ति के द्वारा-प्रतिपादन करते हैं-

ॐ नामानि ते शतक्रतो! विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे।
इन्द्राभिमातिषाह्ये॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ३ सूक्त. ३७ ऋक्. ३) (अथर्व. २०।१९।३)

'हे शतक्रतो! हे इन्द्र–परमात्मन्! कामादि शत्रुओं के साथ हमारा संग्राम उपस्थित हो जाने पर, उनके विजय के लिए आपके पावन–नामों का वैखरी आदि-निखिल-वाणियों के द्वारा हम उच्चारण करते हैं।'

हे शतक्रतो!=अनन्तप्रज्ञ! परमात्मन्! हे इन्द्र! अभिमातिषाह्ये=मातिः=मानो गर्वः, अभितो मातिर्येषां तेऽभिमातयः=प्रभूतगर्वशालिनः कामादयः–पाप्मानः–शत्रवः 'पाप्मा वा अभिमातिः' (तै. सं. २।१।३।५) इति श्रुतेः। तेषां सहनमेव सह्यं यस्मिन्, तस्मिन् युद्धे तेषां क्षयायाऽस्माकमुपस्थिते सति, ते=तव परमेश्वरस्य नामानि=परमपावनानि-नामधेयानि, अथवा नमनीयानि स्तुत्यानि ते दिव्यजन्मगुणकर्माणि, विश्वाभिः=सर्वाभिः, चतुर्धाभिः, गीर्भिः=वैखरीमध्यमापश्यन्तीपराख्याभिर्वाणीभिः, यथाधिकारं वयं ईमहे=याचामहे–संकीर्तयामः परमया प्रीत्योच्चारयामः। एतेन भगवत्पावननामाभिव्याहरणस्मरणादिकं सकलमानसविकारनिवृत्तावसाधारणं कारणमस्तीति सूचितं भवति। ('ई गतौ' व्यत्ययेनात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्) तथैव ऋगन्तराण्यप्याचक्षते–'मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे। विप्रासो जातवेदसः॥' (ऋ. ८।११।५) इति। अयमर्थः-मर्ताः=मर्त्यलोकवास्तव्या मनुष्या वयं, ते=तव परमेश्वरस्य, कीदृशस्य? अमर्त्यस्य=मरणरहितस्याविनाशिनो देवदेवस्य, पुनः कथंभूतस्य? जातवेदसः=जाताः समुत्पन्नाः सृष्ट्यादौ प्रादुर्भूता ऋगादयो वेदा यस्मात् स तथोक्तो जातवेदाः, तस्य–वेदादिशास्त्रयोनेः। यद्वा जातानां स्वस्मात्समुत्पन्नानां सर्वेषां पदार्थानां वेदिता जातवेदाः

हे शतक्रतो! यानी अनन्त-प्रज्ञा संयुक्त-परमात्मन्! हे इन्द्र! अभिमातिषाह्य यानी मातिमान-गर्व, सर्व तरफ से माति है–जिन्हों की, वे अभिमाति-बड़े गर्ववाले कामादि-पापी शत्रु-दुश्मन हैं, 'पापी ही अभिमाति है' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। उन-शत्रुओं का सहन ही सह्य है जिसमें, ऐसा युद्ध, उन के क्षय-विध्वंस के लिए उपस्थित हो जाने पर, तुझ परमेश्वर के परम पावन नामों का, अथवा नमन करने योग्य-स्तुत्य तेरे दिव्य जन्म गुण कर्मों का–चार प्रकार की–वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा नाम वाली-समग्र वाणियों के द्वारा अधिकार के अनुसार हम संकीर्तन करते हैं, परम प्रीति से उच्चारण करते हैं। इससे 'भगवान् के पावन नाम का उच्चारण, स्मरण, आदि, समस्त मानसिक-कामादि-विकारों की निवृत्ति करने में असाधारण कारण है' ऐसा सूचित होता है। इस प्रकार ही अन्य-ऋचाएँ भी प्रतिपादन करती हैं–'मर्त्य-मनुष्य, विप्र-मेधावी हुए यानी नामार्थ तत्त्व का अनुसंधान करते हुए हम, अमर्त्य-अविनाशी ज्ञाननिधि-सर्वज्ञ आप भगवान् के विस्तृत-प्रभाव शाली नाम का उच्चारण करते हैं।' इति। इस का यह अर्थ है–मर्ता यानी मर्त्य लोक के निवासी हम, तुझ परमेश्वर के–किस प्रकार के? अमर्त्य-मरण रहित-अविनाशी देवों के देव के; फिर किस प्रकार के? जातवेदा यानी जिससे सृष्टि के आदि में ऋगादि वेद, जात-समुत्पन्न-प्रादुर्भूत हुए हैं, वह वैसा कहा गया जातवेदा है, अर्थात् वेदादि शास्त्र के कारण रूप के–यद्वा अपने से समुत्पन्न-समस्त पदार्थों का ज्ञाता-सर्ववित् जातवेदा है, ऐसे भगवान्

तस्य सर्वविदः, भूरि=विस्तृतमहिमशालिपरमपावनं—नाम, मनामहे=उच्चारयामः संस्मराम इत्यर्थः। कीदृशाः सन्तः ? विप्रासः=विशेषेण तव नाम्नोऽर्थं त्वामेव भगवन्तं साकारं वा निराकारं वेष्टदेवं पश्यन्तो भावयन्तः सन्त इत्यर्थः। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो. सू. १।२८) 'व्याहरन्मामनुस्मरन्' (गी. ८।१३) इति च स्मरणात्। 'विप्रं विप्रासोऽवसे देवं मर्तास ऊतये। अग्निं गीर्भिर्हवामहे॥' (ऋ. ८।११।६) इति। विप्रं=सर्वज्ञं विशेषेण सर्वं पश्यतीति निरुक्तेः। देवं अग्निं परमेश्वरं, विप्रासः=मेधाविनः—बुद्धिमन्तः—भगवच्चिन्तनपरायणाः मर्तासः=मरणधर्मका मनुष्या वयं, अवसे=तर्पयितुं—प्रसादयितुं, ऊतये=अस्माकं भक्तानां कामादिविकारेभ्यो रक्षणार्थञ्च गीर्भिः=वाणीभिः भगवत्पावननामजपशीलाभिः, हवामहे=आह्वयामहे इत्यर्थः। 'विप्रं विप्रासः' इति पदाभ्यां भक्तभगवतोः सारूप्यं सूच्यते। 'नामानि चिद्दधिरे यज्ञियानि भद्रायां ते रणयन्तः संदृष्टौ।' (ऋ. ६।१।४) इति। ये जनाः यज्ञियानि=यज्ञरूपविष्णुसम्बन्धीनि, नामानि चित्=नामान्यपि मन्त्रभावेनावस्थितानि दधिरे=धारयन्ति—जिह्वायां मनसि

के—भूरि यानी विस्तृत-महिमाशाली-परम पावन नाम का मनामहे—यानी उच्चारण करते हैं, सम्यक् स्मरण करते हैं। किस प्रकार—कैसे हुए ? विप्रासः यानी विशेष रूप से आप के नाम का अर्थ रूप आप-साकार या निराकार इष्ट देव-भगवान् को देखते हुए-आप की ही सतत-भावना करते हुए हम। 'प्रणव आदि मन्त्रों का जप, और मन्त्रार्थ रूप भगवान् की भावना करनी चाहिए' ऐसा योगशास्त्र में' तथा 'ॐकार रूप एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उस के अर्थ स्वरूप मुझ-परमेश्वर का चिन्तन करता हुआ (जो शरीर त्याग करता है, वह मुझे प्राप्त होता है) ऐसा गीता में भी स्मरण किया गया है। इति। 'विप्र-सर्वज्ञ-अग्निदेव-परमात्मा को विप्र-सद्बुद्धि-संयुक्त मनुष्य हम, उस को प्रसन्न करने के लिए तथा हमारी रक्षा के लिए, उस के नाम-जप-स्तुति-आदि को करने वाली वाणियों के द्वारा बुलाते हैं।' इति। विप्र यानी सर्वज्ञ, विशेष रूप से जो सर्व को देखता है, ऐसी विप्रशब्द की निरुक्ति-व्युत्पत्ति है। देव-अग्नि-परमेश्वर को, विप्र-मेधावी-बुद्धिमान्—भगवच्चिन्तन परायण-मर्त-मरणधर्मवाले मनुष्य हम, तृप्त-प्रसन्न करने के लिए तथा हम भक्तों की कामादि-दोष विकारों से रक्षा के लिए भगवान् के पावन नामों के जप करने की स्वभाववाली वाणियों के द्वारा उसका आवाहन करते हैं। 'विप्रं विप्रासः' इन दो पदों से भक्त और भगवान् के सारूप्य की सूचना दी जाती है। इति। 'जो लोग, यज्ञ रूप विष्णु के बोधक-पावन नामों को अपनी जिह्वा में या मन में धारण करते हैं, वे उस परमेश्वर की कल्याणी-शोभन कृपा दृष्टि में रमण करते हैं।' इति। जो जन, यज्ञिय-यानी यज्ञरूप विष्णु के सम्बन्धी, नामों को—जो मन्त्र रूप से अवस्थित हैं—धारण करते हैं, जिह्वा में

वेति शेषः। ते=तदर्थभावनशून्याः केवलं नामजपपरा अपि, परमेश्वरस्य विष्णोः भद्रायां=भन्दनीयायां कल्याणमय्यां संदृष्टौ=अच्छानुग्रहदृष्टौ रणयन्तः=रमयन्त्येवात्मानम्। यदा तानपि भगवान् भद्रेण चक्षुषा पश्यति। तदा तन्नामजपतदर्थभावनपरान् भक्तान् भगवान् भद्रदृष्ट्या पश्येदित्यत्र किमु वचनीयमित्यभिप्रायः।

[पुनरपि सर्वानर्थनिवारकं भगवच्छरणभगवन्नामोच्चारणादिलक्षणं तदाराधनमुपदिष्टम्। अधुना भगवदनुग्रहलभ्यं प्रत्यगात्माभेदविषयकं सकलदेवाऽभेदविषयकञ्च ब्रह्मज्ञानमुपदिशति।]

या मन में ऐसा शेष है। वे नामों के अर्थ की भावना से रहित हुए-केवल नाम जप के परायण हुए भी परमेश्वर-विष्णु की भद्रा-कल्याणमयी अच्छी अनुग्रह दृष्टि में अपने को रमण करवाते हैं। जब उन-केवल नाम जपने वालों-को भी भगवान् भद्र-चक्षु से देखता है, तब उस के नामों का जप उन के अर्थ की भावना के परायण हुए भक्तों को भगवान् भद्र-दृष्टि से देखे, तो इसमें कहना ही क्या है! ऐसा अभिप्राय है।

[फिर भी समस्त-अनर्थों का निवारक-भगवान् का शरण, भगवन्नामों का उच्चारण, आदि रूप वाली उसकी आराधना का उपदेश आगे के मन्त्रों में किया। अब भगवदनुग्रह से प्राप्त करने योग्य प्रत्यगात्मा का ब्रह्म के साथ अभेद विषयक-एवं सकल देव का अभेद विषयक ब्रह्मात्म-ज्ञान का उपदेश करते हैं]

(४१)

(प्रकृतितत्प्रपञ्चविजयी मृत्युपराङ्मुखो विमलाखण्डानन्दसंयुक्तः इन्द्रः प्रत्यगात्मा परब्रह्मैवाहमस्मि)

(प्रकृति और उस के प्रपञ्च का विजयी, मृत्यु से विमुख, विमल-अखण्ड-आनन्द से संयुक्त, इन्द्र, प्रत्यगात्मा परब्रह्म ही मैं हूँ)

'देहेन्द्रियमनोबुद्धिप्रकृतिभ्यो विलक्षणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तानन्तानन्दस्वभावः सच्चिद्रूपः पूर्णाद्वैतः परमात्मा सर्वसंसारधर्मकर्तृत्वादिविनिर्मुक्त इन्द्र एवाऽहमस्मि' इत्येवं सच्छ्रद्धापूर्वकं परमार्थस्वरूपानुसन्धानतत्परैः सत्साधकैर्विजातीयवृत्तिविहीनं मनः कृत्वा लक्ष्ये प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मणि दृढ-

'देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं प्रकृति-अविद्या से विलक्षण, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अनन्त-आनन्द-स्वभाव, सद्रूप, चिद्रूप, पूर्ण, अद्वैत, संसार के समस्तकर्तृत्वादि धर्मों से विमुक्त, परमात्मा इन्द्र ही मैं हूँ।' इस प्रकार सच्छ्रद्धापूर्वक अपने परमार्थ स्वरूप के अनुसंधान में तत्पर हुए-सच्चे साधकों को—विजातीय-वृत्ति से रहित मन को बना कर, प्रत्यगात्मा से अभिन्न-लक्ष्य-अद्वैत ब्रह्म में अत्यन्त-दृढतापूर्वक मन को स्थापन कर, शरीरा-

तरं मानसं संस्थाप्य देहाद्यसदनुसन्धानञ्चोपेक्ष्य तन्मयतयाऽखण्डब्रह्माकारवृत्त्या सततं ब्रह्मेन्द्रानन्दाखण्डरसानुभवो विधातव्यः, इत्येतद्वाचोभङ्ग्यन्तरेण समाधिभाषालक्षणेन वर्णयन् तत्त्वसाक्षात्कारसिद्ध्यर्थं इन्द्रात्मस्वरूपमहत्त्वादिकमुपदिशति—

दि-अनात्मवर्ग के-असत्-मिथ्या-अनुसंधान की उपेक्षा कर के तन्मयता वाली-अखण्ड-ब्रह्माकार वृत्ति के द्वारा निरन्तर ब्रह्मेन्द्र के अखण्ड-आनन्द रस का अनुभव-प्राप्त करना चाहिए। यही यह वाणी की-समाधि-भाषारूप भङ्ग्यन्तर से वर्णन करता हुआ-तत्त्व साक्षात्कार की सिद्धि के लिए इन्द्रात्म स्वरूप के महत्त्वादि का वेद मन्त्र उपदेश करता है—

ॐ अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं, न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु, न मे पूरवः ! सख्ये रिषाथन ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ४८ ऋक्. ५)

'मैं इन्द्र-परमात्मा हूँ' इस लिए मैं किसी से भी पराजित नहीं हो सकता, एवं परमानन्द रूप मेरे धनका कोई भी पराभव नहीं कर सकता। अत एव मैं कभी भी अविद्या रूप-मृत्यु के सम्मुख अवस्थित नहीं हो सकता। मुझ-इन्द्रात्मा के शुद्ध-शान्त-स्वरूप-सोम के अनुभव की इच्छा करने वाले साधकगण, परमानन्द-धनरूप मेरी ही चाहना करे। हे पुरव-कल्याण कामी मनुष्यो! मुझ-इन्द्र सोमरूप-आत्मा की-परम प्रेममयी मित्रता स्थिर करने पर आप लोग कदापि विनाश को प्राप्त न होगे।'

अहमिन्द्रः=क्षेत्रज्ञः प्रत्यगात्माऽस्मीति क्रियापदाध्याहारः, देहादिरूपं सविकारं क्षेत्रं नास्मीति यावत्। इन्द्रपदस्य प्रत्यगात्माभिन्नब्रह्मार्थबोधिकाः सन्ति भूयस्यः श्रुतयः। तथाहि—'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा।' (ऋ. १।३२।१५) यातः=जङ्गमस्य, अवसितस्य=स्थावरस्य, राजा=प्रकाशकः-इन्द्रः साक्षी प्रत्यगात्मेत्यर्थः। 'एष हि खल्वात्मा इन्द्रः' (मै. उ. ६।८) 'एष ब्रह्मा एष इन्द्रः' (ऐ. उ. ५।३) 'स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः' (महानारा० उ. ११।१३) (कै. उ. ८) 'स इन्द्रः सोऽग्निः सोऽक्षरः' (नृ. पू. १।४) 'इन्धो वै नाम एष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः तं वा एतं इन्धं सन्तं इन्द्र इत्याचक्षते' (श. ब्रा. १४।६।११।२) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति

मैं इन्द्र-क्षेत्रज्ञ-साक्षी प्रत्यक् आत्मा हूँ, यहाँ 'अस्मि' ऐसे क्रियापद का अध्याहार करना चाहिए। अर्थात् देहादि रूप-सविकार-क्षेत्र मैं नहीं हूँ। इन्द्र पद के प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्म रूप-अर्थ के बोधन करने वाली बहुत श्रुतियाँ हैं। तथाहि-श्रुतियों का प्रदर्शन करते हैं-'इन्द्र स्थावर जंगम विश्व का प्रकाशक है।' यात् यानी जंगम-चर, अवसित यानी स्थावर-अचर, राजा यानी प्रकाशक-इन्द्र साक्षी प्रत्यक् आत्मा है। 'यही निश्चय से आत्मा ही इन्द्र है।' 'यही ब्रह्मा है, यही इन्द्र है' 'वह ब्रह्मा है, वह शिव है, वह इन्द्र है।' 'वह इन्द्र है, वह अग्नि है, वह अक्षर है।' 'वह निश्चय से प्रसिद्ध इन्ध (प्रकाशक) है, जो यह दक्षिण-नेत्र में पुरुष है, उस-इस इन्ध हुए को 'इन्द्र' ऐसा विद्वान् कहते हैं।' 'जो यह नेत्र में पुरुष देखने में आता है, वह आत्मा है,

होवाच, एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति' (छां. उ. ४।१५।१) 'योऽयं चक्षुषि पुरुष एष इन्द्रः' (जै. ब्रा. उ. १।४३।१०) 'इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तः' (अथर्व. ४।११।३) 'इन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठा देवाः' (श. ब्रा. ३।४।२।२) 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिति तस्मादिदन्द्रो नामेन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः।' (ऐ. उ. २।४।३) इत्यादयः। व्युत्पत्तयोऽपि–इदं विश्वं करोतीतीदङ्करः सन् इन्द्र इत्युच्यते। इदमसौ सर्वमकरोत् सोऽयं विश्वस्रष्टा सर्वेश्वर इन्द्रः। इदं चराचरं जगत् पश्यति सोऽयं इदन्दर्शी इन्द्रः। इन्दति परमैश्वर्यसंयुक्तो भवतीति–इन्द्रः। 'इदि परमैश्वर्ये' स्मरणात्। इन्धे–भूतानि सर्वाणि, 'इन्धी दीप्तौ'–दीपयति–द्युतिमन्ति करोति सोऽयं इन्धः–इन्द्रः–इत्यभिधीयते। ईश्वरः सन् दुष्कृतः दुष्टान् शत्रून् दारयति द्रावयतीति वा इन्द्रः। यज्वनः प्रपन्नान् साधुभक्तान् आदरयतीति इन्द्रः, इत्याद्याः। तथाचाह यास्कः–'इदं करणादित्याग्रयणः, इदं दर्श-

ऐसा कहा, यही अमृत-अभय है यही ब्रह्म है।' 'जो यह चक्षु में पुरुष है, वही इन्द्र है।' 'इन्द्र मनुष्यों के मध्य में प्रत्यगात्मरूप से प्रादुर्भूत है।' 'इन्द्र ही समस्त देवता हैं, इन्द्र है श्रेष्ठ जिन में, ऐसे देव, इन्द्रश्रेष्ठ हैं, अर्थात् समस्तदेवों में इन्द्र श्रेष्ठ है।' 'उस इसी ही पुरुष ब्रह्म को–जो अतिशय कर के सदा सर्वत्र-व्याप्त-परिपूर्ण है–मैंने देखा। इस को आत्मस्वरूप से देखा, इस लिए यह प्रसिद्ध इदन्द्र ही निश्चय से इन्द्र है। उस इदन्द्र हुए को 'इन्द्र' ऐसा ब्रह्मवित् परोक्ष से कहते हैं, क्योंकि–देव परोक्ष-प्रिय ही होते हैं अर्थात् जब देवों को परोक्ष प्रिय होता है, तब महादेव-परमात्मा को परोक्षप्रिय हो इस में क्या कहना? इदन्द्र यह अपरोक्ष नाम है, और इन्द्र परोक्ष।' इत्यादि। इन्द्र शब्द की व्युत्पत्तियाँ भी प्रत्यग-भिन्न-ब्रह्मरूप-अर्थ का बोधन करती हैं–'इस विश्व का निर्माण करता है' इस लिए वह इदङ्कर हुआ 'इन्द्र' ऐसा कहा जाता है। 'उसने इस सर्व का निर्माण किया' इस लिए वह यह विश्वस्रष्टा सर्वेश्वर इन्द्र है। 'इस चराचर जगत् को जो देखता है' वही यह इदंदर्शी इन्द्र कहा जाता है। इन्दति यानी परमैश्वर्य से संयुक्त होता है, इस लिए वह इन्द्र है। इदि धातु परमैश्वर्य-अर्थ में स्मृत की गई है। इन्धे यानी समस्त-भूत-प्राणियों को दीपन करता है–उनको द्युतिमान्-प्रकाशयुक्त बनाता है, इस लिए वह-यह इन्ध-इन्द्र ऐसा कहा जाता है। इन्ध धातु दीप्ति-प्रकाश अर्थ में है। 'ईश्वर-सर्व समर्थ हुआ, खराब कार्य करने वाले-दुष्ट-शत्रुओं का जो दारण-ध्वंस करता है, या उन को द्रावण-भगा देता है, इस लिए वह इन्द्र है। यजन-भजन करने वाले-प्रपन्न-साधुभक्तों का जो आदर करता है, वह इन्द्र है, इत्यादि व्युत्पत्तियाँ हैं।' तथा च यास्क निरुक्त मे कहता है–'इस

नादित्यौपमन्यवः, इन्दतेवैश्वर्यकर्मणः, इन्दञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा, आदरयिता च यज्वनाम्।' (नि. १०।८) इति।

एवं-'यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः' (श. ब्रा. ८।५।३।२) 'यो वै वायुः स इन्द्रः' (श. ब्रा. ४।१।३।१९) 'वाग्वा इन्द्रः' (कौ. ब्रा. २।७।१३।५) 'प्राण एवेन्द्रः' (श. ब्रा. १२।९।१।१४) 'इन्द्रो वै यजमानः' (श. ब्रा. २।१।२।११) 'हृदयमेवेन्द्रः' (श. ब्रा. १२।९।१।१५) मन एवेन्द्रः' (श. ब्रा. १२।९।१।१३) 'इन्द्रः क्षत्रम्' (श. ब्रा. १०।४।१।५) 'यदशनिरिन्द्रः' (कौ. ब्रा. ६।३।९) 'स्तनयित्नुरेवेन्द्रः' (श. ब्रा. ११।६।३।९) 'इन्द्रो ब्रह्मेति' (कौ. ब्रा. ६।१४) 'प्रजापतिर्वा स इन्द्रः' (श. ब्रा. २।३।१।७) 'देवलोको वा इन्द्रः' (कौ. ब्रा. १५।८) 'इन्द्रो बलं बलपतिः' (श. ब्रा. ११।४।३।१२) 'वीर्यं वा इन्द्रः' (ताण्ड्य. ब्रा. ९।७।५।८) (गो. पथ. ब्रा. ६।७) 'इन्द्रियं वीर्यं इन्द्रः' (श. ब्रा. २।५।४।८) 'शिश्नमिन्द्रः' (श. ब्रा. १२।९।१।१६) 'रेत इन्द्रः' (श. ब्रा. १२।९।१।१७) 'इन्द्रो ह्याहवनीयः' (श. ब्रा. २।६।१।३८) 'इन्द्र एष यदुद्गाता' (जै. ब्रा. उ. १।२२।२) 'इन्द्रः खलु वै श्रेष्ठो देवतानाम्' (तै. ब्रा. २।३।१।३) 'इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत्' (तै. ब्रा. २।२।१०।३) 'इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः' (ऐ. ब्रा. ७।१६) 'इन्द्र! ओजसां पते!' (तै.ब्रा.३।११।४।२) 'इन्द्रो यज्ञस्यात्मा' (श. ब्रा. ९।५।१।३३) 'ऐन्द्राः पशवः' (ऐ. ब्रा. ६।२५) 'एतद्वा

विश्व के करने से' वह इन्द्र कहा गया है, ऐसा आग्रयण ऋषि कहता है। 'इस विश्व के दर्शन से' वह इन्द्र कहा गया है, ऐसा औपमन्यव ऋषि कहता है। या इन्दति-ऐश्वर्यकर्म वाली धातु से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है। या वह शत्रुओं का दारण एवं द्रावण करता है, और यजमानों का आदर करता है।' इसलिए वह इन्द्र है, इति।

इस प्रकार 'जो वह इन्द्र है, वही यह आदित्य-सूर्य है।' 'जो निश्चय से वायु है, वह इन्द्र है।' 'वाणी ही इन्द्र है।' 'प्राण ही इन्द्र है।' 'इन्द्र निश्चय से यजमान-यज्ञादि शुभ कर्मों का कर्ता है।' 'हृदय ही इन्द्र है।' 'मन ही इन्द्र है।' 'इन्द्र क्षत्रिय है।' 'जो अशनि-वज्र है वह इन्द्र है।' 'स्तनयित्नु-गर्जने वाला बादल ही इन्द्र है।' 'इन्द्र सोपाधिक एवं निरुपाधिक ब्रह्म है।' 'प्रजापति ही वह इन्द्र है।' 'देवलोक ही इन्द्र है।' 'इन्द्र बल है, बल का पति-स्वामी है।' 'वीर्य-सामर्थ्य या चरमधातु इन्द्र है।' 'शिश्न-उपस्थेन्द्रिय इन्द्र है।' 'रेतः-वीर्य इन्द्र है।' 'इन्द्र ही आहवनीय नाम का यज्ञ-वेदी का अग्नि है।' 'इन्द्र वही यह उद्गाता-सामवेद के मन्त्रों का गानकर्ता है।' 'देवताओं में निश्चय से इन्द्र ही श्रेष्ठ है।' 'इन्द्र ही देवों का अधिपति हुआ है।' 'इन्द्र ही देवों के मध्य में अत्यन्त ओजस्वी, अत्यन्त बलवान्, अत्यन्त सहनशील, अतीव श्रेष्ठ एवं अतिशय करके दुःखों से पार लगाता है।' 'ओज-दिव्य-कान्ति-सामर्थ्यों का स्वामिन्! हे इन्द्र!।' 'यज्ञ का आत्मा इन्द्र है।' 'इन्द्र के ये द्विपात्-चतुष्पाद्-रूप पशु हैं।' 'यही निश्चय से इन्द्र का रूप है, जो ऋषभ-श्रेष्ठ-विभूत्यादि-उत्तम गुणों से विभूषित पदार्थ है।' 'इन्द्र ही अश्व है, या व्यापनशील है।' 'इन्द्र ज्योति है, और ज्योति ही इन्द्र है।' 'जो शुक्र है, वह इन्द्र का ही

इन्द्रस्य रूपं यदृषभः' (श. ब्रा. २।५।३।१८) 'इन्द्रो वा अश्वः' (कौ. ब्रा. १५।४) 'इन्द्रो ज्योतिः ज्योतिरिन्द्रः' (कौ. ब्रा. १४।१) 'यच्छुक्लं तदैन्द्रम्' (श. ब्रा. १२।९।१।१२) इत्यादिब्राह्मणवचनानीमान्यपि विभूतिवर्णनपराणि द्रढयन्ति, इन्द्रपदाभिधेयस्य प्रत्यगभिन्नब्रह्मत्वम् । इति ।

अत एवाधिगतेन्द्रस्वरूपोऽहं न इत्=नैव, पराजिग्ये=प्रकृतितत्प्रपञ्चजालेभ्यः कदापि न पराजितो बभूव, न भवामि, न भविष्यामि च; छन्दसि कालानियमात्; भूतेन तेन वर्तमानादिग्रहणमप्यविरुद्धम् । सदा ममेन्द्रस्य स्वमहिमन्यचलप्रतिष्ठितत्वादखण्डानन्दपूर्णत्वाच्च । तदुक्तमाचार्यैः–'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यती'ति । अतो धनं=वित्तमात्मीयं पूर्णानन्दात्मकं, न कदापि केनापि पराभवितुं शक्यते । द्विविधं हि वित्तं, मानुषं दैवं च । तत्र चक्षुषा दृश्यमानं सुवर्णरजतादिकं मानुषम् । श्रोत्रेण श्रूयमाणं वेदादौ प्रतिपाद्यं तत्त्वविद्भिरनुभूयमानं ब्रह्मात्मज्ञानतत्फलपरमानन्दादिकं दैवम् । अत एव वाजसनेयिनः–कस्मिंश्चिदुपासने चक्षुःश्रोत्रयोर्मानुषदैववित्तदृष्टिमामनन्ति–'चक्षुर्मानुषं वित्तं, चक्षुषा हि तद्विन्दते; श्रोत्रं दैवं, श्रोत्रेण हि तच्छृणोति' इति ।

स्वरूप है ।' इत्यादि–ये ब्राह्मण भाग के वचन–जो इन्द्र की विभूति के वर्णन करते हैं–इन्द्रपद के वाच्यार्थ में प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्मत्व को दृढ करते हैं अर्थात् इन्द्रपदार्थ प्रत्यगभिन्न-पूर्ण ब्रह्म ही है, ऐसा दृढता से बोधन करते हैं ।'

इस लिए इन्द्र स्वरूप का विज्ञाता मैं प्रकृति और उसके प्रपञ्च जाल से कदापि पराजित-अभिभूत नहीं हुआ हूँ, न होता हूँ, और न होऊँगा । छन्द-वेद में काल का नियम नहीं है, इस लिये 'पराजिग्ये' इस भूतकालिक क्रियापद से वर्तमान आदि काल का भी ग्रहण करना विरुद्ध नहीं है । क्यों कि–मैं इन्द्र सदा अपनी महिमा में अचल प्रतिष्ठित हूँ; और मैं सदा अखण्डानन्द से पूर्ण हूँ । यह आचार्यों ने भी कहा है–'तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के विचार से प्रकट हुए-सम्यक् ज्ञान के प्रादुर्भावमात्र से, द्वैत प्रपञ्चरूप कार्य सहित अविद्या, न थी, न है, एवं न होगी अर्थात् ब्रह्मात्मविज्ञान से कारण सहित द्वैत प्रपञ्च का त्रैकालिक अत्यन्ताभाव-सिद्ध हो जाता है ।' इति । इस लिए मेरे पूर्णानन्दरूप धन–वित्त का कदापि किसी से भी पराभव-तिरस्कार नहीं किया जा सकता । दो प्रकार का वित्त–धन है, एक मानुषवित्त और दूसरा दैववित्त । उस में चक्षु से दिखाई देने वाला सुवर्ण रजत आदि मानुष वित्त है । श्रोत्र-कान से सुनाई देने वाला-वेदादि में प्रतिपाद्य–तत्त्ववेत्ताओ से अनुभूयमान–ब्रह्मात्मा का ज्ञान, और उसका फल परमानन्दादिक ही दैव वित्त है । इस लिए वाजसनेयी-विद्वान्–किसी एक उपासना में चक्षु में मानुष वित्त की एव श्रोत्र में दैववित्त की दृष्टि का प्रतिपादन करते हैं–'चक्षु मानुष वित्त है, क्यों कि–वह निश्चय से चक्षुसे उपलब्ध होता है, श्रोत्र दैव वित्त है, क्यों कि–वह निश्चय से श्रोत्र से सुना जाता है ।' इति ।

किञ्च मम धनं मय्येव वर्ततां, तन्नैवाहमन्येन परिभूयमानं द्रष्टुं शक्नोमि, मयि सदाऽवस्थितं तदज्ञानाद्विस्मृत्य कथं न्वहं तद्धीनो दीनश्च भवेयम्? यस्य मदीयस्य ब्रह्मात्मसुखस्यानन्तस्यापारस्य धनस्यातिक्षुद्रांशभूतं तत्प्राप्य सर्वं चराचरं विश्वं मुदितं सदभिवर्तते। तत्सदाऽऽप्तमवाप्तवतो विदुषः कृतकृत्यस्य मम कथं वा कस्माद्वा पराभवो भवेत्? ब्रह्मात्मविद्योत्पत्तिमात्रेणाज्ञानतत्कार्यनिवृत्तेः सदा सर्वत्र पूर्णसुखानुभवस्य च सिद्धत्वेन मम विजयशालित्वं स्वतःसिद्धं वेदितव्यमिति भावः। अत एवाहं मृत्यवे=अविद्याऽऽख्याय सर्वेषां मारकाय, तस्य सम्मुखे कदाचन नावतस्थे=नावस्थितो भवामि। यथा कदाचन कथमपि प्रकाशो नान्धकारमुपैति, यथा वाऽग्निर्न शैत्यमुपैति, तथाऽमृतोऽहं कथं मृत्युमुपेयाम्? अथ च कथङ्कारं स्वयंप्रकाशस्वरूपस्य मम सम्मुखेऽविद्यातमोलक्षणो मृत्युः समुपतिष्ठेत? न कथमपि। अर्थादधिगतेन्द्रस्वरूपः तत्त्वदर्शी मृत्युभाक् न भवतीति भावः। यस्मादेवं तस्मात्, सोमं=इन्द्रस्यात्मनः शान्तं शुद्धं स्वरूपं, सुन्वन्तः=साक्षाद्यथा स्यात्तथाऽनुभवितुमभिलषन्तो भवन्तः साधकाः वसु=युष्मदपेक्षितं ब्रह्मानन्दलक्षणमक्षय्यं धनं, मेत्=मा—मां—इत्=एव, मामेवेन्द्रभूतं यूयं याचत=अन्याः

और मेरा धन मेरे में ही रहे, मैं उस के परिभव को—जो अन्य के द्वारा हरण-आच्छादन आदि-रूप से होता है—देख नहीं सकता हूँ। मेरे में ही सदा अवस्थित उस धन का अज्ञान से विस्मरण कर के उस से हीन-रहित, और दीन मैं क्यों—किस लिए होऊँ? । जिस-मेरे-ब्रह्मात्म-सुखरूप-अनन्त-अपार-धन के अति-तुच्छ-अंश-बिन्दुरूप उस धन को प्राप्त कर के समस्त चराचर विश्व मुदित हुआ प्रवृत्त हो रहा है। उस-सदा प्राप्त धन को प्राप्त करने वाले-कृतकृत्य हुए मुझ-विद्वान् का किस प्रकार एवं किस से पराभव हो? अर्थात् नहीं हो सकता। ब्रह्मात्मविद्या की उत्पत्ति-अभिव्यक्ति मात्र से अज्ञान और तत्कार्य की निवृत्ति एवं सदा सर्वत्र पूर्ण सुख का अनुभव सिद्ध होने के कारण मेरी विजय-शालिता स्वतःसिद्ध है, ऐसा जानना चाहिए, यह भाव है। इस लिए मैं सभी को मारने वाले-अविद्या नाम वाले-मृत्यु के सम्मुख कदापि अवस्थित नहीं होता हूँ। जैसे कभी भी किसी भी प्रकार से प्रकाश अन्धकार के समीप नहीं जाता, या जैसे अग्नि कदापि किसी भी प्रकार से शीत के समीप नहीं जाता, वैसे अमृत रूप मैं कैसे मृत्यु के समीप जाऊँ? अर्थात् नहीं जा सकता। और स्वयं-प्रकाश—स्वरूप मेरे सामने अविद्या-अन्धकार रूप मृत्यु कैसे समीप ठहरे? यानी किसी भी प्रकार से नहीं ठहर सकता। अर्थात् इन्द्र स्वरूप का विज्ञाता तत्त्वदर्शी मृत्यु का भजने वाला नहीं होता है, यह भाव है। जिस कारण से ऐसा है, इस लिए सोम-जो इन्द्र-आत्मा का शान्त-शुद्ध-स्वरूप है—उसका—साक्षात् जिस प्रकार हो तिस प्रकार—अनुभव करने की अभिलाषा रखते हुए आप सब साधक-मुमुक्षु, वसु यानी जो ब्रह्मानन्द रूप-अक्षय्य धन-तुम को अपेक्षित है—वह मैं ही हूँ, मुझ से अभिन्न है, उस इन्द्र रूप-मुझ-

सर्वा याच्ञाः परिहाय मदेककाङ्क्षिणो मदभिमुखा मन्निष्ठा भवतेत्यर्थः। सिद्धान्ते ह्यत्रानन्दतद्वतोरभेदाभ्युपगमात्, सोमं मां वसुरित्येषां सामानाधिकरण्यमविरुद्धम्। 'आनन्द आत्मा' (तै. २।५।१) 'रसो वै सः' (तै. २।७) इत्यभेदबोधकश्रुतेः। अपि च सोमस्य शुद्धात्मस्वरूपत्वबोधनपराः श्रुतयोऽनेकशो वर्तन्ते, कर्णेहत्य ताः समालोचनीयाः सुधीभिः। तथा हि–'एष विश्ववित्पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा' (ऋ. ९।९७।५६)। सर्वस्य भवनधर्मकस्य चराचरभूतजातस्य मध्ये सोम एव राजते–प्रकाशते सच्चित्सुखात्मनेत्यर्थः, पवते=पुनाति सर्वम्। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा' (शु. य. ९।४०) (श. ब्रा. ५।३।३।१२) ब्राह्मीस्थितिमवाप्तवतां ब्रह्मनिष्ठानां ब्राह्मणानामस्माकं हृदये सोम एव परिपूर्णानन्दस्वस्वरूपेण राजत इत्यर्थः। 'सोमोऽसि' (शु. य. १९।१) (श. ब्रा. १२।७।३।६) हे तत्त्वजिज्ञासो! महात्मन्! त्वं सोमोऽसि तस्मिन् त्वयि च भेदाभावात्। 'सोमो देवोऽमर्त्यः' (शु. य. २१।१४) अमरणधर्मा–अमृतस्वरूपः, देवः=स्वयंप्रकाशस्वरूपः सोमोऽस्तीत्यर्थः। 'सोमो रुद्रेभिरभिरक्षतु त्मना' (तै. सं. कृ. २।१।११।२) सोमः=प्रत्यगात्मा, त्मना=आत्मीयानुपमशक्त्या, रुद्रेभिः=रुद्रसंज्ञकैकादशप्राणैः

धन की तुम चाहना करो, अर्थात् अन्य समस्त चाहनाओं का परित्याग कर के एक मात्र मेरी ही आकांक्षा रखते हुए मेरे ही अभिमुख हो कर मेरे में ही निष्ठावाले हों। सिद्धान्त में यहाँ आनन्द और आनन्दवान् का अभेद माना गया है, इस लिए 'सोमं मां वसुः' इन तीन पदों का सामानाधिकरण्य-जो अभिन्नार्थ का बोधक है–विरुद्ध नहीं है। 'आनन्द आत्मा है' 'निश्चय से रस–आनन्द ही वह है।' इस श्रुति से भी अभेद का बोधन होता है। और सोम आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, इस अर्थ को बोधन करने वाली अनेकों श्रुतियाँ वर्तमान हैं, उन श्रुतियों की एकाग्रता पूर्वक अच्छी बुद्धि वालों को समालोचना करनी चाहिए। तथा हि–ये श्रुतियाँ दिखाते हैं—'एष यही सोम (अंगुली के अग्र से हृदय के अग्र का स्पर्शन करके जिसका निर्देश किया जाता है) विश्व का वेत्ता-ज्ञाता है, समस्त भुवन का राजा है-मनीषी-मन का नियन्ता हुआ, वह सर्व को पवित्र बनाता है।' इति। समस्त-भवन-उत्पत्ति–धर्म वाले-चराचर भूतों के समुदाय के मध्य में सोम ही सच्चित्सुख रूप से राजते–प्रकाशित होता है, पवते यानी सर्व को पवित्र करता है। 'हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।' अर्थात् ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने वाले-ब्रह्मनिष्ठ-हम ब्राह्मणों के हृदय में सोम ही परिपूर्णानन्द स्वस्वरूप से राजता है–प्रकाशता है। 'तू सोम है।' हे तत्त्व-जिज्ञासो! महात्मन्! तू सोम है, उसमें और तुझमें भेद का अभाव है। 'सोम देव अमर्त्य है।' अर्थात् मरण धर्मरहित-अमृतस्वरूप, स्वयं-प्रकाश-स्वरूप सोम है। 'सोम, अपनी शक्ति से रुद्रों के द्वारा हमारी रक्षा करे।' सोम यानी प्रत्यक् आत्मा, त्मना यानी अपनी-उपमा रहित-शक्ति के द्वारा, रुद्र नाम वाले-एकादशप्राणों के

सर्वानस्मानभिरक्षतु-इत्यर्थः, । 'सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः । जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः ॥' (ऋ. ९।९६।५) (साम. ५२७) (नि. १४।१२) मतीनां= बुद्धीनां जनिता=उत्पादकः प्रादुर्भावकः प्रादुर्भावयिता चेत्यर्थः । (निपातनाण्णिलोपः) प्रादुर्भूतानां मतीनां मध्ये चैतन्यानन्दरूपेण वर्तमानः सोमः, ताः-मतीः पवते-पुनातीत्यर्थः, स्वकार्यक्षमाः करोतीति यावत् । एवं दिवः, पृथिव्याः, अग्नेः, सूर्यस्य, इन्द्रस्य, विष्णोः, किं बहुना सदेवस्य समस्तस्य विश्वस्य जनिता सोमः पवते=स्वां पारमार्थिकीं सत्तां स्फूर्तिञ्चाधाय प्रवर्तको भवतीत्यर्थः । तदेतत्स्मृतं स्कान्दे सनत्कुमारसंहितायां काशीस्थितदाल्भ्येश्वरलिङ्गकथाप्रस्तावे-'मतीनां च दिवः पृथ्व्या वह्नेः सूर्यस्य वज्रिणः । साक्षादपि च विष्णोश्च सोमो जनयितेश्वरः ॥' इति[1] । 'अयं स यो वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदयं सः । अयं पीयूषं तिसृषु प्रवत्सु सोमो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ॥' (ऋ. ६।४७।४) इति । स खलु अयं सोमः, यः पृथिव्याः वरिमाणं=उरुत्वं विस्तृतत्वं, अकृणोत्=अकरोत् । तथाऽयं सोमः, दिवः=द्युलोकस्य, वर्ष्माणं=संहतत्वं-दृढत्वं, अकृणोत् अयं= सोमः सः हि=एव, भवति । अपि च अयं

द्वारा हम सब की रक्षा करे, यह अर्थ है । 'जो सोम बुद्धियों का उत्पादक है, स्वर्ग का उत्पादक है, पृथिवी का उत्पादक है, अग्नि का उत्पादक है, सूर्य का उत्पादक है, इन्द्र का उत्पादक है, विष्णु का भी उत्पादक है, वही सब को पवित्र करता है ।' मति यानी बुद्धि, उन का जनिता यानी उत्पादक-प्रादुर्भाव करने वाला या कराने वाला है । प्रादुर्भूत-उन मतियों के मध्य में चैतन्य-आनन्दरूप से वर्तमान सोम, उन मतियों को पवते यानी पवित्र करता है । अर्थात् उनको अपने कार्य करने में समर्थ बनाता है । इस प्रकार स्वर्ग का, पृथिवी का, अग्नि का, सूर्य का, इन्द्र का, विष्णु का, बहुत क्या ? देवसहित-समस्त-विश्व का जनिता-उत्पादक, अपनी पारमार्थिकी-सत्ता एवं स्फूर्ति की उनमें स्थापना कर के प्रवर्तक होता है । वही यह स्कन्दपुराण की सनत्कुमार-संहिता में-काशी में स्थित दाल्भ्येश्वर लिङ्ग-कथा के प्रस्ताव में स्मरण किया है-'मतियों का, स्वर्ग का, पृथिवी का, अग्नि का, सूर्य का, वज्री-इन्द्र का, साक्षात् विष्णु का भी उत्पादक सोम-उमाशक्ति वाला ईश्वर है ।' इति । 'वही यह सोम है-जिसने पृथिवी के विस्तार को बनाया, तथा वही यह सोम है कि-जिसने स्वर्ग को दृढ-पतनरहित-अचल बनाया । उसी सोम ने-सर्व श्रेष्ठ-औषधी-जल एवं गौ इन तीनों में अमृत-रस का स्थापन किया । तथा जिसने विस्तृत-अन्तरिक्ष-को धारण किया ।' इति । वही यह निश्चय से सोम है-जिसने पृथिवी के वरिमा-उरुत्व-विस्तृतत्व को किया । तथा यही सोम है-जिसने द्युलोक-स्वर्ग का वर्ष्म-संहतत्व-दृढत्व-किया, यही वह

[1] धरा च वह्निः सूर्यश्च वज्रपाणिश्शचीपतिः । विष्णुर्नारायणः श्रीमान् सर्वं सोममयं जगत् ॥' इत्येवं पुराणागमेष्वपि श्रूयते ।

सोमः, तिसृषु=ओषधिषु, अप्सु, गोषु च प्रवत्सु=प्रकृष्टासेतासु पीयूषं=अमृतरसं दाधार=अधारयत्-अवस्थापयदित्यर्थः। तथा उरु=विस्तीर्णं, अन्तरिक्षञ्च अधारयत्-इति। तथा मन्त्रान्तरं-'त्वमिमा ओषधीः सोम! विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः। त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं, त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ॥' (ऋ. १।९१।२२) इति, ततन्थ=विस्तारितवान्। विववर्थ=विश्लिष्टं-विनष्टं कृतवानसि। 'यत्ते सोम! दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे।' (शु. य. ६। ३२) इति, उरौ=विस्तीर्णे, त्रिषु लोकेषु समन्ततो व्याप्तं ज्योतिः, हे सोमः! तव विद्यते इत्यर्थः। 'सोममिन्द्रं वयोधसम्' (शु. य. २८।२६) इति। यः सोमः स एवेन्द्रः, नास्ति तयोर्भेदः, सामानाधिकरण्यनिर्देशात्। तादृशं तं वयोधसं=वयसः-आयुषः-प्राणादेः दातारं धातारं वा यजतु इत्यर्थः। इत्येवमादिभिः पर्यालोचितैः पूर्वोक्तैः श्रुतिवचोभिः सोमः परमात्मनः शुद्धं सौम्यं स्वरूपं निश्चीयते। सोमः=उमया ब्रह्मविद्यया सह वर्तमानश्शङ्करोऽविद्यातमोविध्वंसकः प्रत्यगभिन्नः परमात्मेति। सुते=स्वप्रपन्नानां शुद्धस्वस्वरूपसाक्षात्कारेण महा-

सोम है। और यह सोम है-जिसने औषधी, जल, एवं गौ इन प्रकृष्ट-श्रेष्ठ-तीनों में पीयूष-अमृतरस का धारण-अवस्थापन किया। तथा उरु-विस्तार वाले अन्तरिक्ष का धारण किया। उस प्रकार अन्य मन्त्र भी कहता है-'हे सोम! तूने ही इन समस्त औषधियों को उत्पन्न किया है, और तूने ही इन सभी जलों को तथा निखिल गौओं को भी उत्पन्न किया है। तूने ही इस विस्तृत-अन्तरिक्ष का विस्तार किया है। एवं तूने ही अपने-ज्योतिः-प्रकाश से तमः-अन्धकार को नष्ट कर दिया है।' इति। ततन्थ यानी विस्तार किया। विववर्थ यानी विश्लिष्ट-छिन्न-भिन्न-विनष्ट किया है। 'हे सोम! स्वर्ग में जो ज्योतिः-प्रकाश है, पृथिवी में जो ज्योति है, जो विस्तृत-अन्तरिक्ष में ज्योति है, वह सब तेरी ही ज्योति है।' इति। उरु यानी विस्तीर्ण। अर्थात् तीनों लोकों में चारों तरफ से व्याप्त-फैली हुई जो ज्योति है, हे सोम! वह तेरी ही है। 'सोम ही इन्द्र है, वह प्राणों का दाता है।' इति। अर्थात् जो सोम है, वही यह इन्द्र है, सोम एवं इन्द्र का भेद नहीं है, क्योंकि-मन्त्र में एक अभिन्न-अर्थ का बोधक-समान विभक्तिकत्वरूप सामानाधिकरण्य का निर्देश है। उस प्रकार का वह सोम वयोधस् है, अर्थात् वयः-आयु का-प्राण आदि का दाता या धारण कर्ता है, उसका यजन करें। इति। इत्यादि-पर्यालोचन-सम्यक् विचार किये गए-पूर्वोक्त-श्रुतियों के वचनों से सोम, परमात्मा का शुद्ध सौम्य-शान्त-स्वरूप ही निश्चित होता है।-सोम यानी उमा-ब्रह्मविद्या-रूप शक्ति के साथ वर्तमान, शंकर, अविद्यारूप तमः का विध्वंसक, प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा, इति। या सुते यानी अपने शरणागत-भक्तों के लिए जो शुद्ध-स्वस्वरूप के साक्षात्कार द्वारा महा-आनन्दरूप-कैवल्य-मोक्ष को उत्पन्न

नन्दलक्षणं मोक्षमुत्पादयतीति, 'षूङ् प्राणिप्रसवे'इतिधातुमूलया वा, सुनोति=सर्वात्मानं स्वं पूर्णं भजतः पश्यतस्तत्त्वविदोऽखण्डानन्दसागरे निमज्जयतीति, 'षुञ् अभिषवे'इति धातुमूलया वेत्यादिकयाऽनया व्युत्पत्त्याऽप्यानन्दयितृत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तकः पूर्वोक्तार्थ एवाधिगम्यते। 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्।' (कै. १।७) इति मैत्रायणी-श्रुतेः। 'एष ह्येवानन्दयाति' (तै. २।७) इति तैत्तिरीयश्रुतेश्च। 'उमया सहितश्शम्भुस्सोम इत्युच्यते बुधैः। स एव जनकः साक्षाद्विष्णोरपि च श्रुतिः॥' इत्यादित्यपुराणस्मृतेश्च। अतः सोमपदेन सर्वत्राभिनिविष्टबुद्ध्या कश्चनौषधिलताविशेषो मण्डलात्मकश्चन्द्रो वा न ज्ञातव्यः, पूर्वोक्तधर्माणां तत्रासम्भवात्। प्रसङ्गवशेन क्वचिद्भवतु तत्रास्माभिर्निवार्यते, परन्तु समाधिभाषागम्याध्यात्मिकार्थस्तु सार्वत्रिकः पूर्वोक्त एव ग्राह्य इति।

अत एवैतत्स्पष्टं समाम्नायते-'सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्। सोमं यं ब्रह्माणो विदुः न तस्याश्नाति कश्चन॥' (ऋ. १०।८५।३) इति। अयमर्थः-तं सोमं मन्यते, कः? पपिवान्=पानकर्ता, यद्वा पपिवान्=पीतवान्-पीतसोमो-याज्ञिकः कर्मठः। यत्=यं-सोमं, ओषधिं-वल्लीरूपं,

—अभिव्यक्त करता है, इस प्रकार की-'षूङ् प्राणिप्रसवे' इस धातु मूलक-या सुनोति यानी सर्वात्मारूप-पूर्ण-अद्वैत अपने को भजने वाले-दर्शन करने वाले तत्त्ववेत्ताओं को—जो अखण्डानन्द—सागर में निमग्न करता है-इस प्रकार की—'षुञ् अभिषवे' इस धातु-मूलक—इत्यादि-व्युत्पत्तियों से भी आनन्दयितृत्व (आनन्द कराना) आदि प्रवृत्तिनिमित्त वाला सोम-शब्द का पूर्वोक्त ही अर्थ जाना जाता है। 'उमा—शक्ति के सहचारी परमेश्वर प्रभु हैं।' इस मैत्रायणी श्रुति से, 'यही ही सब को आनन्दित बना देता है।' इस तैत्तिरीय श्रुति से, तथा 'उमा-शक्ति के सहित शम्भु ही सोम है' ऐसा विद्वान् कहते हैं। वह ही साक्षात् विष्णु आदि देवों का भी जनक-पिता है, ऐसा श्रुति कहती है।' इस आदित्य-पुराण-स्मृति से भी सोम शब्द का अर्थ पूर्वोक्त ही सिद्ध होता है। इस लिए सोम पदसे सभी स्थलों में दुराग्रहवाली-बुद्धि के द्वारा कोई औषधि लता विशेष रूप, या मण्डल रूप-चन्द्र ही अर्थ नहीं जानना चाहिए, क्यों कि-पूर्वोक्त-श्रुत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित-धर्मों का लता-एवं चन्द्र में असंभव है। प्रसंगवश से कहीं वह अर्थ हो, उस का हम निवारण नहीं करते, परन्तु समाधिभाषा से लक्षित-आध्यात्मिक अर्थ तो सभी स्थलों में पूर्वोक्त ही ग्रहण करना चाहिए।

इस लिए यह स्पष्ट अन्य मन्त्र में कहा जाता है—'पान करने वाला-याज्ञिक, उस लता-सोम को ही सोम मानता है, जिस औषधि-लता रूप सोम को पाषाणों से पिसते हैं। ब्रह्मनिष्ठ-तत्त्ववित्-ब्राह्मण जिस-सोम को जानते हैं, उस को कोई खा-पी नहीं सकता है।' इति। यह अर्थ है—उस को सोम मानता है, कौन? पपिवान् यानी उसके रस का पान करने वाला, या जिसने सोम का पान किया है, ऐसा याज्ञिक-कर्मठ-कर्मकाण्डी। जिस

संपिंपन्ति=सामर्थ्यात् याज्ञिकाः रासायनिकाश्च अभिपवग्रावभिरिति शेषः । स च न साक्षात्पारमार्थिकः सोमः । तर्हि कीदृश उच्यते सोमः ? सोमं हि तं मन्येत, यं ब्रह्माणः-ब्राह्मणाः-ब्रह्म भवितुं कामा ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्ना ब्रह्मनिष्ठाः । ब्रह्मशब्दो ब्राह्मणशब्दपर्यायोऽप्यस्ति 'कुतोऽनुचरसि ब्रह्मन् ?' 'तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् !' इत्यादिप्रयोगदर्शनात् । विदुः=शुद्धात्मस्वरूपत्वेन जानन्ति । तस्य=तं-कर्मणि षष्ठी, सोमं कश्चन न अश्नाति=भक्षितुं पातुं वा नार्हति । ब्रह्मनिष्ठा ब्राह्मणा यं शुद्धात्मब्रह्मानन्दस्वरूपलक्षणं सोमरसमास्वादयन्ति, सोऽयमखण्डैकरसः सोमोऽद्भुत एव लोकोत्तरः, न चासौ औषधिलताप्रसूतः प्रत्येतव्यः, तस्य लाभः समेषां सुदु-

औषधि-वल्ली-लतारूप-सोम को सम्यक् पीसते हैं, क्रियापद के सामर्थ्य से यज्ञ करने वाले तथा रसायन बनाने वाले, कूटने वाले पाषाणों से सम्यक् पीसते हैं, ऐसा यहाँ शेष वाक्य है । यह लता-सोम साक्षात् पारमार्थिक सोम नहीं है, तब वह सोम किस प्रकार का कहा जाता है ? निश्चय से उस को ही पारमार्थिक सोम मानें, जिसको ब्रह्म होने की कामना वाले-ब्रह्मचर्य आदि साधनों से सम्पन्न-ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण शुद्ध आत्मस्वरूप से जानते हैं । ब्रह्मशब्द ब्राह्मणशब्द का भी पर्याय है । 'हे ब्रह्मन् ! किधर से संचरण करता है' 'हे ब्रह्मन् ! तू-उस निधिप-यानी गोप्ता-मेरी-रक्षा करने वाले-सदाचारी को मुझ-विद्या को कह !' इत्यादि प्रयोगों में ब्रह्मशब्द ब्राह्मण अर्थ का बोधक देखा गया है । 'तस्य' का 'तं' अर्थ है, कर्म में षष्ठी विभक्ति है । उस सोम को कोई भक्षण करने के लिए या पीने के लिए समर्थ नहीं हो सकता । जिस-शुद्ध-आत्म-ब्रह्मानन्द-स्वरूप-भूत-सोम रस का ब्रह्मनिष्ठ-ब्राह्मण आस्वादन-अनुभव करते हैं । वही यह अखण्ड-एकरस सोम अद्भुत ही अलौकिक है, वह औषधिलता से उत्पन्न होने वाला नहीं समझना चाहिए । उस पारमार्थिक-सोम का लाभ सभी को अतीव दुर्लभ है । 'कोई

---

१ यद्यपि सोमलतारसमहत्त्वं तत्र तत्र मन्त्रेषु बहुलमभिवर्ण्यते, तथापि कालप्रभावात् लतासोमः सम्प्रति नोपलभ्यते । सम्भवेद्यदि क्वचित् हिमालयगिर्यादौ तर्हि अन्विष्यताम्, तत्पानलाभः सम्पाद्यताम् । तस्य च स्वरूपमेतादृशं वैद्यकशास्त्रे सुश्रुतसंहितायां निरूपितम्-'सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पञ्च च । तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च ॥ एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तथा । शुक्लस्य पौर्णमास्यान्तु भवेत्पञ्चदशच्छदः ॥ शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसे दिवसे पुनः । कृष्णपक्षक्षये चापि लता भवति केवला ॥' (सुश्रुत. २९।२०-२१-२२) इति । परन्तु सा सोमलता न सर्वेषामुपलब्धा भवति, किन्तु ये सन्ति धर्मिष्ठा द्वेषकृतघ्नतादिदोषरहिताः तेषामेवेयं दृष्टिपथमायाति । तदुक्तं तत्रैव-'न तां पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः । भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥ (सुश्रुत. २९।४४) इति ।

यद्यपि सोमलता रसका महत्त्व उन-उन मन्त्रों में बहुत रूपसे वर्णन किया गया है-तथापि काल के प्रभाव से लतासोम इस समय उपलब्ध नहीं है । यदि वह कहीं हो ? तब हिमालयगिरि आदि में उसका अन्वेषण करें, और उसके पान का लाभ सम्पादन करें । उसका स्वरूप वैद्यक शास्त्र-सुश्रुतसंहिता में इस प्रकार का निरूपण किया

लभः। 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' (गी. ७।३) इति भगवत्स्मरणात्।

तथैवेमान्यपि-'ज्योतिः सोमः' (श. ब्रा. ५।१।२।१०) 'श्रीर्वै सोमः' (श. ब्रा. ४।१।३।९) 'राजा वै सोमः' (श. ब्रा. १४।१।३।१२) 'सोमो हि प्रजापतिः' (श. ब्रा. ५।१।५।२६) 'विष्णुः सोमः' (श. ब्रा. ३।३।४।२१) 'सोमः सर्वा देवताः' (श. ब्रा. १।६।३।२१) 'सर्वं हि सोमः' (श. ब्रा. ५।५।४।११) सोमो वै ब्राह्मणः' (तां. ब्रा. २३।१६।५) इत्यादीनि शतपथादिब्राह्मणग्रन्थवचनानि विभूतिवर्णनपराणि सोमस्य शिवात्मपूर्णस्वरूपार्थत्वं स्पष्टतमं द्रढयन्ति। अस्तु वा सोमो लताविशेषः, तथापि सोमलतायाः शिवाधिष्ठिततया तत्तादात्म्यदृष्ट्या शिवः प्रत्यगात्मा सोम इत्युच्यते। तदुक्तं-'सोमो वै ह्यात्मनः सोममात्मानं वेत्ति शङ्करः।' (स्कन्दपुराणे सनत्कुमारसंहितायां) इति। आत्मनः=स्वस्य, आत्मानं=शरीरं, सोमलताविशेषं सोमः=उमासहितः शङ्करो वेत्ति=जानातीति तदर्थात्। पुनस्तत्रैव-'सोमेन सोममाराध्य पीत्वा शेषं शिवस्य तम्। जानामि सम्यक् तं सोमं शिवं शम्भुं महेश्वरम्॥' (स्कं. स.) इति। शिवस्य शेषं=अङ्गभूतं तं सोमं यज्ञे निर्मितं लतारसं पीत्वा सोमं शिवं जानामीत्य-

मुझ को यथार्थ रूप से जानता है' ऐसा गीता में भगवान् ने भी स्मरण किया है।

तथा ये शतपथ ब्राह्मण-आदि-ग्रन्थ के वाक्य-जो सोम की विभूति का वर्णन करते हैं—वे भी सोमशब्द का शिव-आत्मा-पूर्ण स्वरूप ही अर्थ है, ऐसा अत्यन्तस्पष्ट-दृढ करते हैं—'ज्योतिः-प्रकाश ही सोम है।' 'श्रीः-शोभा-सौन्दर्य ही सोम है।' राजा-सर्वत्र विराजमान ही सोम है।' निश्चय से सोम ही प्रजापति-परमेश्वर है।' 'विष्णु-व्यापक सोम है।' 'सोम ही समस्त देवरूप है।' 'समस्त विश्व ही सोम है।' 'सोम ही ब्रह्मनिष्ठ-ब्राह्मण है।' इत्यादि। अस्तु वा-पक्षान्तर में सोम शब्द का लताविशेष अर्थ। तथापि सोमलता, शिव-परमात्मा से अधिष्ठित होने के कारण, लता के साथ शिव के तादात्म्य की दृष्टि करके शिव प्रत्यगात्मा सोम है, ऐसा कहा जाता है। वह कहा है—स्कन्द पुराण की सनत्कुमार संहिता में—'सोम-शिव-शङ्कर-भगवान् सोमलता को, अपना शरीर-विग्रह जानता है।' इति। आत्मा यानी स्व-अपना, आत्मा-यानी शरीर, अर्थात् अपने शरीर को सोमलताविशेष रूप, सोम यानी उमा सहित शंकर वेत्ति-जानता है, यही उसका अर्थ है। पुनः वहाँ ही यह कहा है—'सोम से सोम शिव की आराधना करके, शिव के अंगभूत उस सोम-रस को पी करके, उस सोम-शिव-शम्भु महेश्वर को मैं सम्यक् जानता हूँ।' इति। शिव का शेष यानी अङ्गरूप-यज्ञ में निर्मित-लता रस रूप-उस सोम को पी करके सोम शिव

है-सभी सोमलताओं के १५ ही पत्ते होते हैं। वे पत्ते शुक्लपक्ष में उत्पन्न होते हैं, और कृष्णपक्ष में गिर जाते हैं। प्रतिदिन शुक्लपक्ष में एक एक पत्ता पैदा होता है, शुक्लपक्ष की पूर्णिमा में पंद्रह-पत्तों वाली सोम लता-हो जाती है, और कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक एक पत्ता गिरता जाता है, अमावास्या में पत्तों से रहित केवल लता रह जाती है।' परन्तु वह सोम लता, सभी को प्राप्त नहीं होती है, किन्तु जो धार्मिक हैं, द्वेष, कृतघ्नता आदि दोषों से रहित हैं, उन्हीं को ही वह सोमलता देखने में आती है। वह भी वहाँ ही सुश्रुत में कहा है—'अधार्मिक-पापी एवं कृतघ्नी जो मानव हैं तथा जो औषधके द्वेषी एवं ब्राह्मण-द्रोही है, वे सोमलता को देख नहीं सकते।' इति।

न्वयः। तथाच श्रुतिस्मृतिप्रतिपन्नं शिवस्य प्रत्यगात्मनो भगवतो जगत्कारणत्वं सोमलतायामारोप्य 'सोमः पवते जनिता मतीनामि'त्यादिमन्त्रस्तुतिरप्युपपद्यते। इति। एवं सोमशब्दवाच्ये चन्द्रमण्डलेऽपि तदिदमनुसन्धेयमिति सर्वमनाकुलम्। तस्मात् हे 'पूरवः'=हे मनुष्याः! स्वश्रेयोऽभिलाषुकाः। मे=ममेन्द्रस्य सोमस्य सख्ये=मित्रतायां, न रिषाथन=न विनाशं प्राप्नुत। अतो यूयं मत्सख्यं मा विनाशयत इति यावत्। सख्यमत्र परमप्रेमलक्षणं ज्ञेयम्। तेन खलु सर्वात्मा सोमः प्रसीदति, तत्प्रसादात्तत्स्वरूपसाक्षात्कारो भवति, तस्मादविद्यायां विनष्टायां सत्यां कदापि भवन्तो न भ्रंश्यन्ति—न तिरोभविष्यन्ति, मदभिन्नत्वात्, अविदुषान्तु स्वरूपेण सतामपि व्यवहितत्वादविद्यया नष्टप्रायता भवतीति भावः॥

अथवा अहमिन्द्रोऽस्मि, तदनुभवेन लब्धविशिष्टसामर्थ्योऽहं प्रतिजाने—धनं=पारमार्थिकं सत्यज्ञानानन्दलक्षणं सर्वत्रान्तर्बहिःसमनुगतं न पराजिग्ये इत्=न पराजितं—विस्मृतं करिष्याम्येव। मृत्यवे=मिथ्याज्ञानलक्षणाय प्रमादाय 'प्रमादो वै मृत्युः' इति सनत्सुजातीयस्मरणात्, न कदाचन अवतस्थे=नावस्थितो भविष्यामि इति। एवं प्रतिज्ञायान्यानप्युपसन्नानुपदिशति—हे पूरवः!=हे मनुजाः, यूयं मा=मां—

को जानता हूँ, ऐसा अन्वय है। तथा च श्रुति एवं स्मृति में विज्ञात-शिव-प्रत्यगात्मा-भगवान् के जगत्कारणत्व का सोमलता में आरोप करके 'सोमः पवते जनिता मतीनां' इत्यादि मन्त्रों की स्तुति भी उपपन्न होती है। इति। इस प्रकार सोमशब्द का वाच्य-चन्द्रमण्डल में भी उसके शुद्ध स्वरूप का अनुसंधान करना चाहिए, एवं समग्र-अनाकुल-विवाद-विरोध रहित हो गया। इस लिए हे पूरवः यानी हे मनुष्यो! अपने कल्याण की अभिलाषा करने वालो! मुझ-इन्द्र-सोम की सख्य-मित्रता होने पर विनाश को प्राप्त न होंगे। इस लिए तुम मेरी मित्रता का विनाश-त्याग मत करो। यहाँ सख्य परम प्रेम-भक्ति रूप समझना चाहिए। उस-सख्य से निश्चय ही सर्वात्मा सोम प्रसन्न होता है, उसकी प्रसन्नता से उसके स्वरूप का साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कार से अविद्या का विनाश हो जाने पर आप लोग कदापि विनाश को नहीं प्राप्त होंगे,—तिरोहित-नहीं होंगे। किन्तु उस समय-मुझ-परमात्मा से तुम सदा के लिए अभिन्न हो जाओगे। अज्ञानी लोग तो यद्यपि स्वरूप से विद्यमान रहने पर भी व्यवधान होने से अविद्या के द्वारा नष्ट-प्रायः ही हो जाते हैं, अर्थात् आत्मानुभवशून्य दुःखी ही रहते हैं, यह भाव है।

अथवा 'मैं इन्द्र हूँ' इन्द्र स्वरूप के अनुभव से विशिष्ट-सामर्थ्य प्राप्त करके मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि—मैं सत्य-ज्ञान-आनन्द-रूप-पारमार्थिक-धन-जो बाहर भीतर सर्वत्र सम्यक्-अनुगत-व्याप्त है—उसको पराजित-विस्मृत नहीं करूँगा। और मिथ्याज्ञान रूप-प्रमाद-मृत्यु के समक्ष कदापि अवस्थित नहीं होऊँगा। इति। 'प्रमाद ही मृत्यु है' ऐसा सनत्सुजातीय-ग्रन्थ में स्मरण किया है। इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके अन्य-अपने-शरणागत-भक्तों को भी उपदेश देता है—हे पूरवः यानी हे मनुष्यो!

मत्तः, (विभक्तिव्यत्ययः) सोमं=ज्ञानामृतरसं-निरङ्कुशतृप्तिकारकं, इत्=एव सुन्वन्तः=सम्पादयन्तः, वसु=पूर्वोक्तं धनं आ याचत=प्रार्थयत। मे=मम-इन्द्रभूतस्य सर्वात्मनः सख्ये=सखित्वे प्राप्ते सति, न रिषाथन=दुःखिनः कष्टभाजो न भविष्यथ, इति मूलमन्त्रस्य प्रकारान्तरेण सरलार्थः। इदमत्र विज्ञेयम्-अस्मीति क्रियापदमध्याहृत्य 'अहमिन्द्रोऽस्मि' इति जीवब्रह्मैक्यबोधकं-'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १।४।१०) इति ब्राह्मणोपनिषन्महावाक्यवत्-इदं संहितोपनिषन्महावाक्यमवगन्तव्यम्। अस्य विचारतः पूर्णाद्वैतरूपेण प्रत्यग्बोधः प्रादुर्भवति; तेन किल मृत्युमूलकसकलदुःखनिवृत्तिपूर्वकपरमधनरूपाखण्डानन्दप्राप्तिलक्षणो मोक्षः सिद्ध्यति। अत एव मन्त्रेऽस्मिन् 'न मृत्यवेऽवतस्थे' 'न धनं पराजिग्ये' इति द्वाभ्यां 'इन्द्रोऽहमस्मीति'महावाक्यार्थानुभवफललक्षणं मोक्षतत्त्वं स्पष्टं प्रतिपाद्यते। यदाहुः सर्वज्ञात्ममुनिपादाः-'निरतिशयं सुखञ्च दुःखजातव्युपरमणन्तु वदन्ति मोक्षतत्त्वम्।' (संक्षेपशारीरकम्) इति। 'अहमिन्द्रः परः शुद्धः न चाहं हि ततः पृथक्। इत्येवं समुपासीत मुमुक्षुर्मोक्षसिद्धये॥ अहमिन्द्रो न चान्योऽस्मि न संसारीति भावयेत्। ततो मृत्युभयं हित्वा शाश्वतं सुखमाप्नुयात्॥' इति। एवमयं यजुर्मन्त्रोऽप्यात्मनो ब्रह्मत्वं बोधयन्

तुम लोग, मुझसे-निरङ्कुशतृप्ति का कारण ज्ञानामृतरस रूप-सोम का निश्चय से सम्पादन करते हुए पूर्वोक्त-वसु-धन की याचना-प्रार्थना करे। मुझ-इन्द्र रूप-सर्वात्मा का सख्य-सखित्व-प्राप्त होने पर आप लोग दुःखी-कष्टभागी नहीं होवेंगे। ऐसा मूल मन्त्र का प्रकारान्तर से सरल-अर्थ है। यहाँ यह जानना चाहिए-'अस्मि' ऐसे क्रियापद का अध्याहार करके 'मैं इन्द्र हूँ' ऐसा जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य-अभेद का बोधक 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ब्राह्मणोपनिषत् के महावाक्य की भाँति यह 'अहमिन्द्रोऽस्मि' संहितोपनिषत् का महावाक्य है, ऐसा जानना चाहिए। इस महावाक्य के विचार से पूर्ण-अद्वैत रूप से प्रत्यगात्मा का बोध-विज्ञान प्रादुर्भूत होता है, उससे निश्चय ही मृत्यु-अविद्या है मूल-कारण-जिन के, ऐसे सकल-त्रिविध दुःखों की निवृत्ति पूर्वक परमधन रूप-अखण्डानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष सिद्ध होता है। इस लिए इस मन्त्र में 'मैं मृत्यु के समक्ष अवस्थित नहीं होता' 'मैं धन को पराजित नहीं होने देता' इस प्रकार के दो वाक्यों से 'इन्द्रोऽहमस्मि' इस महावाक्य के अर्थ के अनुभव का फलरूप-मोक्ष स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन किया जाता है। पूज्य सर्वज्ञात्म-मुनि संक्षेप शारीरक-नामक ग्रन्थ में मोक्ष का स्वरूप कहते हैं-'निरतिशय सुख, और समस्त दुःखों की निवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है, ऐसा विद्वान् कहते हैं।' इति। 'मैं देहादि से पर-अतीत शुद्ध इन्द्र हूँ, उससे पृथक्-अतिरिक्त मैं नहीं हूँ, इस प्रकार मुमुक्षु मोक्ष की सिद्धि के लिए निश्चयपूर्वक-सम्यक्-श्रद्धा एकाग्रता सहित उपासना-भावना करे।' 'मैं इन्द्र हूँ' उससे अन्य संसारी-जीव मैं नहीं हूँ, ऐसी भावना करे। उस भावना से मृत्यु-भय का परित्याग करके मुमुक्षु शाश्वत-सुख को प्राप्त करे।' इति। इस प्रकार यह यजुर्वेद का मन्त्र भी आत्मा

तस्य परममहत्त्वमाचष्टे—'ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सविताऽसि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः।' (१०। २८) इति । हे ब्रह्मन् !=ब्रह्मभवितुं काम! मुमुक्षो! त्वामहमामन्त्र्य बोधयामि इति शेषः। त्वं ब्रह्म=महान् सम्पूर्णः, असि=भवसि। सविता=निखिलविश्वप्रेरकोऽसि। सत्यप्रसवः=सत्यः प्रसवोऽनुज्ञा यस्य सः। वरुणः=सर्वानिष्टनिवारकोऽखिललोकवरणीयोऽसि। सत्यौजाः=सत्यमोजो यस्य—अमोघवीर्योऽसि, सत्ये वा ओजो यस्य। इन्द्रः=परमैश्वर्यवानसि। विशौजाः=विक्षु=चराचरलक्षणासु प्रजासु ओजः—स्वयंप्रकाशं तेजो यस्य, स विश्वप्रजाप्रकाशकतेजोनिधिस्त्वमसि, ('विडोजा' इति प्राप्ते विशौजा इति छान्दसम्) रुद्रोऽसि=त्वं रुद्ररूपोऽसि, सुशेवः=शेव इति सुख नाम, सु—शोभनं शेवः—सुखं यस्मात् सः, शङ्करो महादेवः शम्भुरसीति यावत्। इति।

में ब्रह्मत्व का बोध करता हुआ उसके परम महत्त्वका प्रतिपादन करता है—'हे ब्रह्मन्! तू ब्रह्म है, सविता-है, सत्य-आज्ञा वाला है, वरुण-है, सत्य-अबाधित-तेज-सामर्थ्य युक्त है, इन्द्र है, प्रजाओं का प्रकाशक है, सुखकर रुद्र-भगवान् है।' इति। हे ब्रह्मन्! यानी ब्रह्म होने की कामनावाले मुमुक्षु! आमन्त्रण करके तुझ को मैं बोधन करता हूँ, ऐसा शेष है। तू ब्रह्म-महान् संपूर्ण है। निखिलविश्व का प्रेरक-सविता है, सत्य-प्रसव यानी सत्य है अनुज्ञा-आज्ञा जिस की ऐसा तू है। समस्त-अनिष्ट-अनर्थों का निवारण कर्ता-समग्र लोक से वरण-स्वीकार करने योग्य-वरुण तू है। सत्य है-ओज-सामर्थ्य जिसका, ऐसा तू अमोघ वीर्य-शक्तिमान् है, या सत्य में है ओज जिसका ऐसा तू है। तू परम-ऐश्वर्य से सम्पन्न-इन्द्र है, तू विशौजा यानी विश्—चराचररूप-प्रजाओं में जिसका स्वयं-प्रकाश तेज है, वह अखिल प्रजा का प्रकाशक तेज-ज्योति का निधि-भण्डार तू है। तू रुद्ररूप है, शेव सुख का नाम है, सु-शोभन-शेव-सुख जिससे प्रकट होता है, वह तू सुशेव-शंकर महादेव शम्भु है, यह अर्थ है। इति।

(४२)

(विविधनामभिः प्रतिपादितस्यैकस्य परमात्मनः, परमात्मस्वरूपान्तःसाराणां वा विविधानां देवानां प्रीतिपूर्वकं सदाऽस्माभिः सेवनमस्तु)

(विविध नामों से प्रतिपादित-एक-परमात्मा का, तथा परमात्मा का स्वरूप है अन्त.-सार रूप जिन्होंमें, ऐसे विविध देवो का प्रीतिपूर्वक सदा हमारे से सेवन-भजन हो)

ॐ अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा, वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः।
आदित्या विष्णुर्मरुतः स्वर्बृहत्, सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः॥

(ऋग्वेद मण्ड १० सूक्त ६५ ऋक् १)

'अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, आदित्य, विष्णु, मरुत, स्वः-सुखनिधि,

बृहत्-महान्, सोम-उमासहित भगवान्, रुद्र, अदिति-शक्ति, ब्रह्मणस्पति, ये सब भगवान् या भगवत्स्वरूप देव, हमारे ऊपर प्रीतिवाले-प्रसन्न हों या उनका हम प्रीतिपूर्वक सेवन करें।'

अग्निः=दिव्यशक्तिसम्पन्नः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा इत्यर्थः। ननु-अग्निपदेन कथं परमात्मा गृह्यते? भूताग्नौ तस्य रूढत्वात्तस्यैव ग्रहणं न्याय्यम्, इति चेन्न; सत्यम्। परन्त्वत्राध्यात्मतत्त्वनिरूपणप्रसङ्गे परमात्मन एव ग्रहणं युक्ततरं इति पूर्वं विस्तरतः समाहितम्। अपि चाग्निशब्दपर्यायेषु वैश्वानरजातवेदश्शब्दयोः सद्भावेन भौतिकाग्नावाञ्जस्येन वैश्वानरत्वस्य जातवेदस्त्वस्य चासम्भवादत्राग्निपदाभिधेयः परमात्मैव समुपादेयः। न हि केवले भौतिकाग्नौ 'विश्वश्चायं नरश्चेति' 'विश्वेषां वाऽयं नरः' 'विश्वे वा नरा अस्येति' सर्वात्मत्वबोधको व्युत्पत्तियोगः कथमपि सम्भवति। न हि तस्मात्केवलाद्वेदाः सर्वज्ञकल्पाः प्रादुर्भवितुं कथमपि शक्नुवन्ति। तदेतदाम्नातमन्यत्र निगमे-'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन्।' (ऋ. १०।८८।१२) इति। इन्द्रादयो देवाः, विश्वस्मै=सर्वस्मै, भुवनाय भवनधर्मकसकलव्यष्टिसमष्टिद्वैतप्रपञ्चाय, तं निखिलं विश्वं प्रकाशयितुमिति यावत्। वैश्वानरं=सर्वात्मानमग्निं, अह्नां=दिवसानां केतुं=प्रज्ञापकं, अकृण्वन्=अकुर्वन् इत्यर्थः। 'स पतत्रीत्वरं स्था जगद्यच्छ्वात्रमग्निरकृणोज्जातवेदाः।' (ऋ. १०।८८।४) इति। स=वैश्वानरोऽग्निर्जातवेदाः,

अग्नि अर्थात् दिव्य शक्ति से सम्पन्न प्रत्यगात्मा से अभिन्न-परमात्मा।

शंका—अग्निपद से परमात्मा का क्यों ग्रहण करते है? अग्नि शब्द भूताग्नि में रूढ है, इस लिए उस का ही ग्रहण करना युक्ति युक्त है।

समाधान—ठीक है, परन्तु यहाँ-अध्यात्मतत्त्व के निरूपण के प्रसंग मे अग्निपद से परमात्मा का ही ग्रहण करना, अत्यन्त युक्त है, यह प्रथम-आदि के मन्त्र में विस्तार से समाधान किया है। और अग्नि शब्द के पर्यायो में वैश्वानर एवं जातवेदा शब्द का सद्भाव है, अत एव भौतिक-जड़-अग्नि में समीचीन-रीति से वैश्वानरत्व का एवं जातवेदस्त्व का सभव नहीं है, इस लिए यहाँ अग्नि पद-प्रतिपाद्य परमात्मा ही ग्रहण करने योग्य है। क्योकि—केवल-भौतिक-अग्नि में—'जो विश्व है, वही नर-पुरुष है' ऐसा, तथा 'समग्र-पदार्थों का यही नर-आत्मा है' ऐसा, तथा 'सभी नर-जीव है जिसके अंशरूप' ऐसा, सर्वात्मत्व का बोधक—व्युत्पत्ति का योग किसी भी प्रकार से सम्भवित नहीं है। और उस केवल-जड-अग्नि से सर्वज्ञ के सदृश वेद, किसी भी प्रकार से प्रकट नहीं हो सकते हैं। वही यह-अन्य-निगम-मन्त्र में कहा गया है—'इन्द्रादि देवो ने समस्त-समष्टि व्यष्टि-भुवनो के प्रकाश के लिए-सर्वात्मा वैश्वानर अग्नि को दिवसो का-प्रज्ञापक किया।' इति। इन्द्रादि देवो ने, समस्त-भुवन—भवन धर्म वाले-सकल-व्यष्टि-समष्टि-द्वैत-प्रपञ्च के लिए—अर्थात् उस निखिल विश्व के प्रकाश करने के लिए-वैश्वानर-सर्वात्मा-अग्नि को दिवसों का केतु-यानी प्रज्ञापक किया। इति। 'उस जातवेदा-अग्नि ने, पक्षी-सर्प-बिच्छु वृक्ष-गिरि-मनुष्य-पशु आदि समस्त चराचर जगत् को शीघ्र ही उत्पन्न किया।' इति। वह वैश्वानर,

पतत्रि=पतनशीलं-पक्षिसमुदायं, इत्वरं=गमनशीलं सरीसृपादिकं, स्था:=स्थावरं वृक्षगिर्यादिकं, जगत्-मनुजपश्वादिकं गतिमत्, स्थावरं, जंगमं च जगदित्यर्थः। क्षात्रं=क्षिप्रमेव स्वाद्भुतशक्त्या, अकृणोत्= अजनयत् इत्यर्थः। तथा च यास्को निरुक्तेऽप्याह—'सपतत्रि चेत्वरं स्थावरं जंगमं च यत्तत् क्षिप्रमग्निरकरोज्जातवेदाः।' (५। ३) इति। स्थावरजङ्गमसकलविश्वकर्तृत्वादिकं-अग्निपदेन गृह्यमाणे भौतिकाग्नौ कथं सम्भावयितुमपि शक्येत? अतोऽत्राग्निपदवाच्यः परमात्मैवावगन्तव्यः। इति। अत एव 'त्वं प्रथमो ह्यग्ने! मनोता।' (ऋ.६।१।१) अग्निर्वै देवानां मनोता तस्मिन् हि तेषां मनांस्योतानि।' (ऐ. ब्रा. २।१०) इति। देवानां=देवाधिष्ठितानां विषयद्योतनानामिन्द्रियाणां प्रवर्तकानि मनांसि यत्रौतानि= सम्बद्धानि भवन्ति, तादृशो मनोता=मनस्सु मननादिशक्तिप्रदाता चैतन्यघनोऽग्निपदाभिधेयः परात्मा इत्यर्थः। 'अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु। अयं स जज्ञे ध्रुव आनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा ३ वर्धमानः॥' (ऋ. ६।९।४) इति। अयं-अग्निः, प्रथमः=मुख्यात्मा, होता=हवनकर्ता, शब्दादिविषयाहरणमेवात्र हवनं, मर्त्येषु=मरणस्वभावेषु शरीरेषु, अमृतं=मरण-

अग्नि जातवेदा-सर्वज्ञ। पतत्रि यानी पतनशील-पक्षियों का समुदाय, इत्वर यानी गमनशील-सरीसृप-सर्प आदि, स्था यानी स्थावर वृक्ष-गिरि-पर्वत आदि, जगत् यानी मनुष्य, पशु आदि गति-गमन वाला-चेतन। अर्थात् स्थावर जंगम-समग्र जगत् को शीघ्र ही अपनी अद्भुत-शक्ति से उसने किया-उत्पन्न किया। तथा च यास्क निरुक्त में भी कहता है—'पतत्रि-पतनशील, इत्वर गमनशील-स्थावर जंगम-जो कुछ जगत् है, उसका जातवेदा अग्नि ने निर्माण किया।' इति। स्थावर-जंगम सकल विश्व के कर्तृत्व आदि का—अग्नि पद से जड-भौतिक-अग्नि का ग्रहण करने पर, उसमें—कैसे संभव हो सकता है? इस लिए यहाँ अग्निपद का वाच्य-परमात्मा ही जानना चाहिए। अत एव 'हे अग्ने! तू-प्रथम मुख्य है, और मनोता-हे यानी समस्त-मनों का आधार-स्फूर्ति का दाता है।' 'अग्नि निश्चय से देवों का मनोता है, क्योंकि—उसमें ही देवों के मन ओत-प्रोत हैं।' इति। देव यानी सूर्यादि-देवों से अधिष्ठित-विषयों के द्योतक-प्रकाशक-इन्द्रियाँ, उनके प्रवर्तक मन, जिसमें ओत हैं-सम्बद्ध हैं, वह उस प्रकार का अग्नि देव मनोता है-अर्थात् वह मनों में मनन आदि की शक्तियों का प्रदाता, चैतन्यघन, अग्निपद-प्रतिपाद्य-परमात्मा है। 'यह अग्नि-आत्मा प्रथम-मुख्य होता-हवनकर्ता है, यह मर्त्य शरीरों में अमृत-ज्योति है, उसको तुम देखो। यह ध्रुव-कूटस्थ है, चारों तरफ-सर्वत्र व्याप्त है, अमर्त्य-मृत्यु रहित-अविनाशी है, परन्तु यह शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ-सा, बढता हुआ-सा प्रतीत होता है।' इति। यह अग्नि प्रथम यानी मुख्यात्मा, होता यानी हवनकर्ता है, शब्दादि विषयों का आहरण-ग्रहण ही यहाँ हवन है, यह मरण-स्वभाव वाले-मर्त्य शरीरों में अमृत यानी मरण रहित-अवि-

रहितमविनाशि, इदं=वैश्वानराख्यं ज्योतिः, जाठररूपेणापि वर्तमानं तमिमं यूयं पश्यत=अनुभवत। अपि च सोऽयमग्निः, ध्रुवः=निश्चलः-कूटस्थः, आ=समन्ततः, निपत्तः=निषण्णोऽवस्थितः-सर्वव्यापी, अत एवामर्त्यः=मरणरहितोऽपि तन्वा=शरीरेण संबन्धाचस्य जज्ञे=प्रादुर्भूत इव प्रतीयत इत्यर्थः। वर्धमानश्च भवतीत्युपचर्यते। इति। 'त्वमग्ने! वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः। त्वे विश्वे सहसस्पुत्र! देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय॥' (ऋ. ५।३।१) इति। हे अग्ने!=परमात्मन्! यत्=यस्मात् त्वं वरुणः=तमसां वारको रात्र्यभिमानी देवोऽपि त्वमेव जायसे=तद्रूपेण प्रादुर्भवसि। एवं यत्=यस्मात् त्वं मित्रः=अहरभिमानी देवः-प्रमीतेस्त्राता सविता, समिद्धः=सम्यग्दीप्तः सन् त्वमेव लोकानां तमो निवारयन् सर्वहितकृद्भवसि, एवमुपलक्षणतोऽग्नेः सर्वदेवरूपत्वमपि प्रत्येतव्यम्। तस्मात्-हे सहसस्पुत्र! =अनन्तापारबलनिधे! त्वे=त्वयि, परमाधिष्ठाने, विश्वे=सर्वेऽपि देवाः वर्तन्ते, त्वत्त एव प्रादुर्भूताः ते=वरुणादयो देवाः त्वत्सत्तास्फूर्तिमादायावस्थिताश्चान्ततस्त्वय्येवोपविशन्तीति यावत्। 'ते देवा बिभ्यतोऽग्निं प्राविशन्' (तै. सं. ६।२।२।६) इति श्रुतेः। किञ्च त्वमिन्द्रोऽसि-विश्वस्वामी-असि। अत एव दाशुषे=हविरादिदात्रे मर्त्याय=मनुष्याय यजमानायोपसन्नाय त्वं शर्म प्रयच्छसीति

नाशी वैश्वानर ज्योति है, जाठर-अग्निरूप से भी यह वर्तमान है, उस इसको तुम देखो, अनुभव करो। और वही यह अग्नि ध्रुव-निश्चल-कूटस्थ है, आ-समन्ततः-सर्व तरफ से-सर्वत्र निषण्णः-अवस्थित है, अर्थात् सर्वव्यापी है, इस लिए वह अमर्त्य-मरण रहित हुआ भी तनु-शरीर के सम्बन्ध से प्रादुर्भूत-हुआ-सा प्रतीत होता है। तथा बढता है, ऐसा उपचार-आरोप किया जाता है। इति। 'हे अग्ने! तू वरुण हो कर प्रादुर्भूत होता है, और तू ही सम्यक् प्रदीप्त होने वाला मित्र-सूर्य हुआ है। और हे सहः-बल का रक्षक-भण्डार! तेरे में ही सब देव अवस्थित हैं, इस लिए तू ही इन्द्र है, दानकर्ता-यजमान मनुष्य के लिए तू सुख का दाता है।' इति। हे अग्ने-परमात्मन्! यस्मात्-जिस कारण से तू वरुण-तमः-अन्धकारों का निवारक-रात्रि का अभिमानी देव भी है-उस रूप से तू ही प्रादुर्भूत हुआ है। एवं यतः-जिस कारण से तू मित्र-दिन का अभिमानी देव, जो प्रमीति-मृत्यु से रक्षा करने वाला सविता है, समिद्ध-यानी सम्यक् दीप्त हो कर तू ही लोकों के तमः-अन्धकार का निवारण करता हुआ-सर्व का हितकारी होता है। इस प्रकार उपलक्षण से अग्नि भगवान् का सर्वदेवरूपत्व भी जानना चाहिए। इस लिए हे सहसस्पुत्र! यानी अनन्त-अपार बलनिधे! तुझ परमाधिष्ठान में सभी देव वर्तमान हैं, तुझसे ही प्रादुर्भूत हुए वे वरुणादि देव तेरी ही सत्ता एवं स्फूर्ति को ग्रहण करके अवस्थित हैं, और अन्त में तुझमें ही विलीन हो जाते हैं।' इति। तैत्तिरीय संहिता की श्रुति भी यही सिद्ध करती है-'वे देव भयभीत हुए अग्नि में प्रविष्ट हो गये।' इति। और तू इन्द्र है, विश्व का स्वामी है, इस लिए हविरादि के दाता-मर्त्य-मनुष्य-यजमान-जो तेरे शरणागत हुआ है-उसको तू शर्म-सुख का प्रदान करता है, ऐसा वाक्य-शेष

शेपः। इति। 'अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।' (ऋ.१।२४।२) इति। वयं=भगवदुपासकाः, अमृतानां=देवानां मध्ये प्रथमस्य=मुख्यस्य, श्रेष्ठतमस्य अग्नेः=ज्योतिःस्वरूपस्य भर्गस्य देवस्य परमात्मनः, चारु=शोभनं=पावनं नाम, मनामहे=उच्चारयाम इत्यर्थः। 'मा नो अग्ने! दुर्भृतये सचैषु देवेद्धेष्वग्निषु प्रवोचः।' (ऋ. ७।१।२२) इति। हे अग्ने! हे परमात्मन्! देवेद्धेषु=देवैः सूर्यादिभिः समिद्धेषु एष्विन्द्रियाग्निषु दुर्भृतये=दुराचारादिना भरणाय=जीवनाय नः=अस्मान् मा प्रवोचः=न ब्रूहिः यथेन्द्रियाग्नयोऽस्मान् कृच्छ्रेणाचारेण न बिभृयुः, किन्तु धर्म्याचारेण बिभृयुः तथा सहायशक्तिप्रदानेनाभयवचनं त्वया वक्तव्यमिति यावत्। यतस्त्वं सचा=सहायभूतोऽसि। इति। 'शरीरमिति कस्मात्? अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते, ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति, तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति, ज्ञानाग्निः शुभाशुभञ्च कर्म विन्दति' (गर्भ. उ. ५) 'अग्निर्वै सर्वा देवताः।' (ऐ. ब्रा. २।३) 'अग्निर्वै सर्वेषां देवानामात्मा।' (श. ब्रा. १४।३।२।५) इत्यादीनि श्रुतिवचांस्यग्निशब्देन चैतन्यात्मपरिग्रह एव संगतानि भवन्ति। 'एतमेके वदन्त्यग्निम्' (मनु. १२।१२) एके=शाखिनः, एतं=प्रत्यगभिन्नं परमात्मानमग्निं=

है। इति। 'हम-अमृत रूप देवों के मध्य में मुख्य-प्रधान-अग्नि-देव-परमात्मा के सुन्दर-पावन नाम का उच्चारण करते हैं।' इति। वयं-हम भगवान् के उपासक, अमृत रूप-देवों के मध्य में प्रथम-मुख्य-श्रेष्ठतम-अग्नि-ज्योतिःस्वरूप-भर्ग-देव-परमात्मा के चारु-शोभन-पावन-नाम का उच्चारण करते हैं, यह अर्थ है। 'हे अग्ने! सूर्यादि-देवों से सम्यक् दीप्त-हुए-चक्षुरादि-इन्द्रियाँ रूप-अग्नियों में दुराचाररूप-कुत्सित जीवन व्यतीत करने के लिए हमें मत कह, क्योंकि-तू हमारा सहायक मित्र है।' इति। हे अग्ने-परमात्मन्! सूर्यादि-देवों से समिद्ध-इन इन्द्रियाँरूप-अग्नियों में दुर्भृति-यानी दुराचारादि के द्वारा-भरण-जीवन के लिए हम को तू मत कह, अर्थात् जिस प्रकार इन्द्रिय-रूप-अग्नियाँ कृच्छ्र-कुत्सित-आचरण द्वारा हमारा भरण न करें, किन्तु धर्म-युक्त-आचार के द्वारा भरण करें, तिस प्रकार सहाय-शक्ति के प्रदान द्वारा तुझको हमारे प्रति अभय-वचन कहना चाहिए, क्योंकि-तू हमारा सचा-सहायक-मित्र है। इति। 'शरीर यह क्यों है? इस लिए है कि-इसमें अग्नियाँ आश्रित हो कर रहती हैं, ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि एवं कोष्ठाग्नि।' उनमें कोष्ठाग्नि वह है—जो अशित (भक्ष्य-भोज्य) पीत (पेय-पीने योग्य दूध जलादि) लेह्य (चाटने-योग्य) चोष्य—(चूसने-योग्य-नारंगी आदि) रूप चतुर्विध अन्नादि का पचन करती है। दर्शनाग्नि रूपों का दर्शन-अनुभव करती है। ज्ञानाग्नि शुभ एवं अशुभ कर्म को जानती है। इति। 'अग्नि ही समस्त देवता हैं।' 'अग्नि ही समग्र देवों का आत्मा है।' इत्यादि-श्रुतियों के वचन, अग्नि शब्द से चैतन्य-आत्मा का ग्रहण करने पर ही संगत-होते हैं। 'कुछ-एक-विद्वान् इस परमात्मा को अग्नि नाम से कहते हैं।' एके-यानी वेद के किसी एक शाखा के अध्ययन करने वाले इस प्रत्यगभिन्न-परमात्मा को अग्नि-नाम वाला-अग्नि-

अग्निसमाख्यमग्निशब्दप्रतिपाद्यं वदन्तीत्यर्थः । मनुवचनेनानेनाप्यवगम्यते—'यद्वेदेषु केवलस्य देवताविशेषस्य वा तेजोविशेषस्य वाऽग्निपदेन ग्रहणमस्तीति न मन्तव्यमपि तु परमात्मनोऽपीति, तथाचात्राप्यध्यात्मतत्त्वनिरूपणानुरोधेनाग्निपदाभिधेयः परमात्मैव प्रत्येतव्यः, इत्यलं पिष्टपेषणेन ।

इन्द्रः=सकलैश्वर्यसम्पन्नः स्वयंप्रकाशः परमात्मा । इन्द्रशब्दस्य परमात्मबोधकत्वमस्माभिरग्रे सूपपादितम् । वरुणः=व्रियते—श्रेयोऽर्थिभिरिति, वृणोति=अङ्गीकरोति स्वभक्तानिति वा परमात्मेत्यर्थः । 'उरुं हि राजा वरुणः चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ।' (ऋ.१।२४।८) इति। राजा=सर्वत्र स्वयं प्रकाशमानः, वरुणः=सर्वदेववरिष्ठो भगवान्, सूर्याय=सूर्यस्य, पन्थां=मार्गं, उरुं=विस्तीर्णं, चकार=कृतवान्—निर्मितवान्, हि शब्दः प्रसिद्धौ । उत्तरायणदक्षिणायनमार्गस्य विस्तारः शास्त्रेषु प्रसिद्धः । किमर्थमेवं कृतवानिति ? तदुच्यते—अन्वेतवा उ=अनुक्रमेणोदयास्तमयौ गन्तुमेव । इति । 'त्वं विश्वस्य मेधिर ! दिवश्च ग्मश्च राजसि । स यामनि प्रति श्रुधि ॥' (ऋ.१।२५।२०) इति। हे मेधिर! मेधाविन्! सर्वज्ञ! वरुण ! भगवन्! त्वं दिवश्च=द्युलोकस्य, ग्मश्च=भूलोकस्यापि एवमात्मकस्य विश्वस्य=सर्वस्य जगतो मध्ये राजसि=दीप्यसे, स तादृशस्त्वं यामनि=योगक्षेमप्रापणेऽस्मदीये विषये, त्वं प्रतिश्रुधि=

शब्द से प्रतिपाद्य-कहते हैं । इस मनु के वचन से भी जाना जाता है कि—वेदों में अग्निशब्द से केवल देवता विशेष का, या तेजो विशेष का ही ग्रहण होता है ऐसा नहीं मानना चाहिए, किन्तु परमात्मा का भी ग्रहण है । तथा च यहाँ अध्यात्म-तत्त्व के निरूपण का अनुसरण होने से, अग्निपद का अभिधेय परमात्मा ही है, 'ऐसा जानना चाहिए, इस प्रकार पिष्ट के पेषण से बस है ।

इन्द्र यानी सकल-ऐश्वर्य से सम्पन्न-स्वयं प्रकाश परमात्मा । इन्द्र शब्द भी परमात्मा का बोधक है, ऐसा हमने प्रथम सम्यक् उपपादन किया है । वरुण यानी जिसका कल्याणार्थी-साधक वरण करते हैं, या जो अपने भक्तों का वरण-अङ्गीकार करता है—वह परमात्मा वरुण है । 'राजा—सर्वत्र विराजमान-भगवान् वरुण ने सूर्य के गमन के लिए विस्तार वाले मार्ग का निर्माण किया ।' इति । राजा यानी सर्वत्र स्वयं प्रकाशमान, वरुण यानी सर्व देवो में अत्यन्त-उत्तम भगवान् । सूर्य के उरु विस्तीर्ण-पन्था-मार्ग का निर्माण किया । 'हि' प्रसिद्धि-अर्थ का बोधक है । उत्तरायण-दक्षिणायन-मार्ग का विस्तार शास्त्रों में प्रसिद्ध है । किस प्रयोजन के लिए इस प्रकार मार्ग का निर्माण किया ? वह कहते हैं—अनुक्रम से उदय एवं अस्त के प्रति गमन करने के लिए । इति । 'हे सर्वज्ञ ! वरुण ! तू द्यु-स्वर्ग एवं ग्म पृथिवी से उपलक्षित समस्त विश्व का राजा-स्वामी है, ऐसा तू हमारे योग-क्षेम के लिए—अर्थात् अप्राप्त-इष्ट-पदार्थ की प्राप्ति के लिए एव प्राप्त के रक्षण के लिए प्रतिज्ञा कर ।' इति । हे मेधिर यानी मेधा-प्रज्ञावान्-सर्वज्ञ ! वरुण ! भगवन् ! तू द्युलोक एव पृथिवी लोक, इस रूप वाले-समस्त-जगत् के मध्य में राजता है-प्रदीप्त हो रहा है, वह इस प्रकार का तू, यामनि यानी हमारे योग-क्षेम की प्राप्ति के विषय में तू प्रति-

प्रतिश्रवणं-प्रतिज्ञापनं कुरु-अखिलमभीष्टं दास्यामि, सर्वतोऽहं त्वां रक्षिष्यामीति प्रत्युत्तरं देहीति यावत्। 'अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः। आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि ॥' (शु. य. वा. सं ४।३०) इति। वृषभः=श्रेष्ठो वरुणः, द्यां=स्वर्गलोकं-अस्तभ्नात्=स्तम्भितवान्-द्युलोको यथा न पतेत्, तथा स्वकीययाऽऽज्ञया शक्त्या वा धारितवान्। तथाऽन्तरिक्षमप्यस्तभ्नात्। तथा पृथिव्याः=भूमेः वरिमाणं=उरुत्वं-गुरुत्वं वा, अमिमीत=मिमीते; उरोर्भावो वरिमा तं, एतावती भूरिति परिमाणं गुरुत्वं वा तस्याः जानातीति यावत्। तथा सम्राट्=सर्वत्र सम्यग्राजमानो वरुणो भगवान्, विश्वा=विश्वानि-सर्वाणि, भुवनानि=भूतभौतिकजातानि, आसीदत्=आसीदति-व्याप्नोति। विश्वेत्तानि=इत्-एवार्थे, तानि, विश्वा=विश्वानि-सर्वाण्येव वरुणस्य परमेश्वरस्य व्रतानि=दिव्यकर्माणि। यद्वा-इदित्यव्ययमित्थमर्थे। इत्=इत्थं तानि-द्युलोकस्तम्भनादीनि वरुणस्य व्रतानि=व्रतवन्नियतानि सर्वदाऽयं तानि करोतीत्यर्थः। 'वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु। हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ ॥' (शु. य. वा. सं. ४।३१) (ऋ. ५।८५।२) (तै. सं. १।२।८।१) इति। वरुणः=परमेश्वरः, वनेषु=

श्रवण-प्रतिज्ञा कर अर्थात् अखिल-इष्ट का मैं दान करूँगा ! एवं सर्व तरफ से मैं तेरी रक्षा करूँगा ! इस प्रकार तू प्रत्युत्तर दे'। इति। 'श्रेष्ठ-वरुण देव ने स्वर्ग लोक को तथा अन्तरिक्ष-भुवः लोक को धारण कर रक्खा है। एवं पृथिवी के परिमाण का या गुरुत्व का भी माप कर लिया है। वह सम्राट् वरुण इन समस्त-भुवनों को व्याप्त कर रहा है। इस प्रकार के वे द्युस्तम्भनादि, वरुण भगवान् के दिव्य व्रत-नियम बद्ध-शोभन कर्म हैं।' इति। वृषभ-श्रेष्ठ, वरुण। द्या-द्यु यानी स्वर्ग लोक का स्तम्भन किया है, जिस प्रकार द्युलोक का पतन न हो, तिस प्रकार उसको अपनी आज्ञा या शक्ति से धारण कर रक्खा है। तथा अन्तरिक्ष का भी स्तम्भन किया है। तथा पृथिवी-भूमि के वरिमा-उरुत्व (विस्तृतत्व) का या गुरुत्व का माप कर लिया है,-करता है। ऊरु का भाव वरिमा है, अर्थात् इतनी-बडी लम्बी चौड़ी पृथिवी है, इस प्रकार उस के परिमाण को या इतना उसका वजन है, इस प्रकार उस के गुरुत्व को वह जानता है। तथा वह सम्राट् है-यानी सर्वत्र सम्यक् राजमान है, ऐसा वरुण भगवान् सर्व-भुवन-भूत-भौतिक समुदाय को आसदन-व्याप्त करता है। इत् का एव अर्थ है, वे विश्व-सर्व, वरुण-परमेश्वर के ही व्रत यानी दिव्य कर्म हैं। यद्वा 'इत्' यह अव्यय 'इत्थं' अर्थ में है, इस प्रकार के वे द्युलोक के स्तम्भन आदि, वरुण के व्रत हैं। अर्थात् व्रत की भाँति सर्वदा यह उनको नियमबद्ध रूप से करता है। इति। 'उस वरुण ने वन में अन्तरिक्ष-आकाश का विस्तार किया, एवं उसने अश्वों में बल का, या पुरुषों में वीर्य का, गायों में दूध का विस्तार किया। तथा हृदयों में संकल्प वाले-मन का, प्रजा-प्राणियों में जाठराग्नि का, अन्तरिक्ष में सूर्य का एवं पर्वत में सोमवल्लि का स्थापन किया।' इति। वरुण-परमेश्वर ने वनेषु यानी

वनगतवृक्षाग्रेषु, अन्तरिक्षं=आकाशं, वितान=विस्तारितवान्। वि-उपसर्गस्तताने-त्यनेन सम्बध्यते। तथा अर्वत्सु=अश्वेषु, वाजं=बलं, विततानेत्यनुवर्तते। यद्वा अर्वत्सु=पुरुषेषु वाजं=वीर्यं विततान। 'वीर्यं वै वाजः पुमाँसोऽर्वन्तः।' (श. ब्रा. ३।३।४।७) इति श्रुतेः। तथा उस्रियासु=गोषु, पयः=क्षीरं विततान। उस्रियाशब्दो निघण्टौ गोनामसु पठितः। हृत्सु=हृदयेषु, क्रतुं=संकल्पं-तच्छक्तियुक्तं मनो वितान। विक्षु=प्रजासु-प्राणिषु, अग्निं=जाठराग्निं विततान। दिवि=द्युलोके सूर्यं वितान। अद्रौ=पर्वते, सोमं=वल्लीरूपं, अदधात्=स्थापितवान्। पर्वतपाषाणसन्धिषु सोमवल्ल्या उत्पद्यमानत्वादद्रौ सोमस्थापनमुक्तम्। इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टतमं वरुणशब्दोऽपि परमात्मवाचकः सिद्ध्यति। न हि सर्वशक्तिमन्तं परमात्मानं वर्जयित्वा क्षुद्रस्य देवतान्तरस्य कस्यचित्सूर्यमार्गविधानसामर्थ्यं, सर्वजगन्मध्ये राजमानत्वं द्युलोकस्तम्भनादिकञ्चोपपद्यन्ते। मित्रः=मेद्यति-भक्तेषु स्निह्यतीति मित्रः, करुणावरुणालयो भक्तवत्सलः परमेश्वर इत्यर्थः। 'मित्रो विश्वाभिरूतिभिः करतां नः सुराधसः।' (ऋ. १।२३।६) विश्वाभिः=सर्वाभिः, ऊतिभिः=रक्षणविधायिनीभिः-शक्तिभिः, नः=अस्मान् त्वत्प्रपन्नान् भक्तान्, सुराधसः=सकलशोभनसिद्धिसंयुक्तान्, करतां=करोतु। इत्यादिकया श्रुत्या मित्रशब्दोऽपि परमात्मप्रतिपादक इत्यवगम्यते। अर्यमा=अर्य-श्रेष्ठं

वन-अरण्य में अवस्थित-वृक्षों के अग्र भागों में, अन्तरिक्ष-आकाश का वितान-विस्तार किया। 'वि' यह उपसर्ग 'ततान' इस क्रियापद के साथ सम्बद्ध होता है। तथा अर्वा-अश्वों में वाज-यानी बल का विस्तार किया। 'विततान' इस क्रियापद की यहाँ भी अनुवृत्ति है। यद्वा अर्वा यानी पुरुषों में वाज यानी वीर्य का विस्तार किया। 'वीर्य ही वाज है, पुरुष अर्वा है।' इस ब्राह्मण श्रुति से यही अर्थ सिद्ध होता है। तथा-उस्रिया यानी गौ-गाय, उनमें जिसने क्षीर-दुग्ध का विस्तार किया। उस्रिया शब्द निघण्टु में गौ-नामों में पढा गया है। हृत्-हृदयो में क्रतु-संकल्प संकल्प-शक्ति से युक्त-मन का विस्तार किया। विट्-प्रजा-प्राणियों में जिसने जाठराग्नि का विस्तार किया। द्युलोक में सूर्य का विस्तार किया। अद्रि-पर्वत में वल्ली रूप-सोम को स्थापन किया। पर्वत के पाषाणों की सन्धियो में सोम वल्ली-उत्पन्न होती है, इस लिए-पर्वत में सोम का स्थापन कहा गया है। इत्यादि-श्रुतियों से अतिस्पष्ट-वरुण शब्द भी परमात्मा का वाचक-सिद्ध होता है। सर्व शक्तिमान् परमात्मा को छोड़ कर अन्य किसी-क्षुद्र-अल्प शक्तिमान् देवता में सूर्य-मार्ग के बनाने का सामर्थ्य, समस्त विश्व के मध्य में राजमानत्व, एवं द्युलोक स्तम्भनत्व आदि, उपपन्न नहीं हो सकते हैं। मित्र-यानी जो मेदन-भक्तों के ऊपर स्नेह करता है, वह करुणा-सागर-भक्तवत्सल-परमेश्वर-मित्र है। 'वह मित्र भगवान् रक्षण करने वाली-समस्त शक्तियों के द्वारा हम भक्तों को समग्र-शोभन सिद्धियों से संयुक्त करे।' इति। विश्व-सर्व-समग्र, ऊति-रक्षण करने वाली-शक्तियो के द्वारा हम-आप के शरणागत-भक्तो को सुराधः-सकल शोभन-सिद्धियों से संयुक्त करें। इत्यादि-श्रुति से मित्र शब्द भी परमात्मा का प्रतिपादक है, ऐसा जाना जाता है। अर्यमा

विभूतिमदूर्जितं श्रीमच्च प्राणिजातं वस्तुमात्रञ्च स्वात्मस्वरूपेण मिमीते=प्रख्यापयतीति। ('माङ् माने' कनिन्) गीतासु भगवता-'रसोऽहमप्सु' (७।८) 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' (९।१६) 'आदित्यानामहं विष्णुः' (१०।२१) इत्यादिना ध्यानावलम्बनाय विभूतयः संक्षेपेण वर्णिताः। ता अर्यमशब्दः सूचयति। श्रुतिमूलत्वात्स्मृतेरिति भावः। वायुः=शब्दाकाशबलानामीश्वरः सर्वक्रियाफलप्रयोजको वायुर्ब्रह्म। 'नमस्ते वायो! त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।' (तै. शी. १।१) 'ॐ तद्ब्रह्म ॐ तद्वायुः' (तै. ना. ६।८) इति श्रुतेः। पूषा=सर्वस्य जगतः पोषणकर्ता, सर्वजगत्पोषणकर्तृत्वं परमात्मन एव मुख्यतयोपपद्यते, नान्यस्य। सरस्वती=ज्ञानप्रदा स्वप्रकाशा चितिशक्तिर्भगवान्। आदित्याः=द्वादशादित्यमण्डलस्थो हिरण्यमयः पुरुषः परमात्मेत्यर्थः। बहुवचनं मण्डलोपाधिभेदाभिप्रायेण। अथवा यथा आदित्य एक एवानेकेषु जलभाजनेष्वनेकवत्प्रतिभासते। एवमनेकेषु शरीरेष्वेक एव परमात्माऽनेकवत्प्रत्यवभासते, इत्यादित्यसाधर्म्यादौपाधिकबहुत्वाभिप्रायेणादित्या इति बहुवचननिर्देशः। 'ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति। आदित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे।' (अथर्व.

यानी अर्य-श्रेष्ठ-विभूति-वाला-ऊर्जित-बढ़ा हुआ-अभ्युन्नत-श्री-शोभा वाला-सुन्दर प्राणियों के समुदाय को एवं वस्तुमात्र को, जो अपने-आत्मरूप से प्रख्यापन करता है, वह अर्यमा है। गीता में भगवान् ने-'जलों में रस मैं हूँ' 'मैं क्रतु हूँ' 'मैं यज्ञ हूँ' 'आदित्यों में मैं विष्णु हूँ' इत्यादि से ध्यान के अवलम्बन के लिए संक्षेप से विभूतियों का वर्णन किया है, उन को अर्यमाशब्द-सूचित करता है, क्योंकि-श्रुतिमूलक ही स्मृति होती है, अर्थात् स्मृतियों में संक्षिप्त-वेदार्थ का ही विस्तार से स्मरण किया जाता है। वायु यानी शब्द-आकाश एवं बलों का ईश्वर, समस्त क्रियाओं के फल का प्रयोजक वायु ब्रह्म है। 'हे वायो! तुझे नमस्कार है, तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है।' 'ॐ वह ब्रह्म है' ॐ वह वायु-पवन है।' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। पूषा यानी समग्र-जगत् का पोषण कर्ता। सर्व विश्व का पोषण-कर्तृत्व परमात्मा में ही मुख्यरूप से उपपन्न होता है, अन्य में नहीं। सरस्वती यानी ज्ञानप्रदा-स्वप्रकाश-चेतनशक्ति-भगवान्। आदित्य यानी द्वादश-आदित्यों के मण्डलों में अवस्थित-हिरण्मय-पुरुष परमात्मा। आदित्य में बहुवचन, मण्डल-रूप-उपाधियों के भेद के अभिप्राय से किया गया है। अथवा जिस प्रकार एक ही आदित्य अनेक-जल-पात्रों में अनेक-सा प्रतिभासित होता है। तिस प्रकार अनेक-शरीरों में एक ही परमात्मा अनेक की तरह प्रतिभासित होता है, इस प्रकार आदित्य का साधर्म्य होने से, औपाधिक-बहुत्व के अभिप्राय से 'आदित्या' ऐसा बहुवचन का निर्देश किया गया है। 'जो लोग, अर्वाङ्-यानी ऊपर नीचे दक्षिणादि-दिशाओं में या मध्य में जिस-पुरातन-सर्वज्ञ-विद्वान् का सर्व तरफ से कथन करते हैं, वे सब आदित्य का ही प्रशंसापूर्वक प्रतिपादन करते हैं।' इति।

१०।८।१७) इत्यस्यां श्रुतावादित्यनाम्ना परमात्मवर्णनं स्पष्टमवबुध्यते । विष्णुः=व्यापकः प्रत्यगभिन्नः परमात्मा । 'विष्णुः सर्वा देवताः' (ऐ. ब्रा. २।१।१) 'विष्णुर्यज्ञः' (गो. ब्रा. १।१२) (तै. ब्रा. ३।३।७।६) (ऐ. ब्रा. १।१५) 'वीर्यं विष्णुः' (तै. ब्रा. १।७।२।२) 'एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड्ढिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति' । (मैत्रा० उ. ५।८) 'तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते, विष्णोर्यत्परमं पदम् ।' (ऋ. १।२२।२१) विष्णोः=परमात्मनो यत्परममुत्कृष्टं पदं प्रसिद्धमस्ति, तद्विप्रासः=मेधाविनो ब्राह्मणाः, कीदृशाः ? विपन्यवः–विशेषेण स्तोतारः· मोहमदकापट्यरहिता वा, जागृवांसः=जागरूकाः–योगाभ्यासे प्रमादराहित्येन सदा सावधानाः, समिन्धते=सम्यग्दीपयन्ति स्वयं तद्यथावत् बुद्ध्वाऽन्यान् सज्जनान् बोधयन्तीति यावत् । इत्याद्याः श्रुतयोऽपि विष्णुपदस्य प्रत्यगभिन्नपरमात्मबोधकत्वे मानम् । वेवेष्टि=व्याप्नोतीति विष्णुः, (विषेर्व्याप्त्यर्थाभिधायिनः क्नुप्रत्ययान्तस्य रूपं विष्णुरिति) देशकालवस्तुकृतपरिच्छेदशून्यो महान् सर्वात्मा इत्यर्थः । विशति=प्रविशति जीवात्मना सर्वेष्विति विष्णुः, (विशतेर्वा क्नुप्रत्ययान्तस्य रूपम्) इत्यादिव्युत्पत्तियोगोऽपि परमात्मग्रहणे समञ्जसः । मरुतः=म्रियन्ते–न जीवन्ति प्राणिनो येन चैतन्येनात्मना विना सः, सर्वप्राणिदेहधारकः प्रत्यगात्मेत्यर्थः । ('मृङ् प्राणत्यागे' इत्यस्मादौणा-

इस श्रुति में आदित्य–सूर्य नाम से परमात्मा का ही वर्णन स्पष्ट जाना जाता है । विष्णु यानी व्यापक-प्रत्यगात्मा से अभिन्न-परमात्मा । 'विष्णु ही सर्व देवता है ।' 'विष्णु यज्ञ है ।' 'वीर्य ही विष्णु है ।' 'यही निश्चय से, आत्मा, ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृट्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शान्त, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र एवं इन्दु है । इति ।' 'उस विष्णु के परम पद को–जो-तत्त्वदर्शी-मेधावी-कामादि-दोषों से विनिर्मुक्त, निर्द्वन्द्व-सदा जागरूक हैं, वे जिज्ञासुओं के प्रति उपदेश के द्वारा प्रकट करते हैं ।' इति । विष्णु-परमात्मा का जो परम-उत्कृष्ट-पद प्रसिद्ध है, उस का–विप्र-मेधावी ब्राह्मण, कैसे हैं वे ? विपन्यु यानी विशेष रूप से स्तुति करने वाले-या मोह-मद कापट्य से रहित, जागरूक-योगाभ्यास में प्रमाद राहित्य से सदा सावधान-वे सम्यक् दीपन करते हैं, अर्थात् स्वयं उस पद को यथार्थ रूप से जान कर के अन्य-सज्जनों को वे बोधन करते हैं । इत्यादि श्रुतियाँ भी–'विष्णुपद प्रत्यगभिन्न-परमात्मा का बोधक है' इस विषय में प्रमाण हैं । जो वेवेष्टि-यानी व्याप्त होता है, वह विष्णु अर्थात् देश-काल-वस्तु-कृत परिच्छेद-अन्त से रहित-महान् अनन्त सर्वात्मा । प्रविष्ट होता है, जो जीवात्मरूप से सर्व-शरीरों में वह विष्णु है, इत्यादि व्युत्पत्तियों का योग-सम्बन्ध भी विष्णु-पद से परमात्मा का ग्रहण करने पर ही युक्ति-संगत होता है । मरुतः यानी मर जाते हैं–जीते नहीं हैं प्राणी, जिस-चैतन्य-आत्मा के विना वह समस्त प्राणियों के देहों का धारण करने वाला प्रत्यगात्मा-मरुत है । यह अकारान्त शब्द है ।

१ अभितो वदन्ति=सर्वतः प्रशंसन्तीत्यर्थः–परिवदन्ति–प्रशंसयेति शेषः ।

दिकः प्रत्ययः) अकारान्तोऽयं शब्दः। न च प्राणापानादिभिर्विना प्राणिनां मरणं भवतीति सुप्रसिद्धम्; न तद्व्यतिरिक्तचैतन्यात्मना विना, अतः प्राणादिभिरेवेह प्राणिनो जीवन्ति, न त्वात्मनेति वाच्यम्; यतस्तेषां प्राणादीनां परार्थानां संहत्यकारित्वात्, जीवनहेतुत्वं नोपपद्यते, स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं, यथा गृहादीनां लोके; तथा प्राणादीनामपि संहतत्वात्तेभ्यः परेणासंहतेन विनाऽवस्थानं न भवितुमर्हति, अतः संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहता जीवन्ति, न म्रियन्ते, यस्मिन् सति प्राणादयः स्वस्वव्यापारं कुर्वन्तो वर्तन्ते, स एव प्रत्यगात्मा मरुतपदाभिधेयः सर्वजीवनहेतुरिति भावः। तथा चाम्नायते कठश्रुत्या–'न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥' (५।५) इति। स्वः=सुष्ठु सर्वैर्व्रियमाणो निरतिशयानन्दस्तत्त्ववित्प्राप्यो योऽनुत्तमालौकिकमोक्षसुखात्मकः स्वर्गविशेषः परमात्मेत्यर्थः। अत्रार्थे श्रुतिरपि भवति–'अणुः

शंका–प्राण-अपानादि के विना प्राणियों का मरण होता है, यह सुप्रसिद्ध है, प्राणादि से व्यतिरिक्त-चैतन्य-आत्मा के विना प्राणियों का मरण होता है, ऐसा प्रसिद्ध नहीं है, इस लिए प्राणादियों से यहाँ प्राणी जीते हैं, आत्मा से नहीं।

समाधान–ऐसी शंका नहीं कहनी चाहिए, क्योंकि–वे प्राणादि सब परार्थ हैं संहतकारी हैं–अर्थात् मिल करके ही वे पर–अन्य के प्रयोजन का सम्पादन करते हैं, इस लिए वे जीवन के हेतु नहीं हो सकते हैं। असंहत-पर-स्वार्थ-किसी से प्रयोजित न हुए संहतों का-मिले हुए-अनेकों का अवस्थान देखा नहीं गया है, जैसे लोक में गृह-आदि संहतों का अवस्थान गृहस्वामी से ही प्रयोजित देखा गया है। तिस प्रकार प्राणादिकों को भी संहत होने से उनसे पर-असंहत-आत्मा के विना अवस्थान नहीं हो सकता। इस लिए-संहत-प्राणादि से विलक्षण-आत्मा से ही सर्व-संहत-देहादि-प्राणादि-जीते हैं, मरते नहीं, जिस के विद्यमान होने पर प्राणादि अपने अपने व्यापार को करते रहते हैं, वही प्रत्यगात्मा मरुत् पदाभिधेय सर्व जीवन का कारण है, यह भाव है। तथा च यही कठश्रुति के द्वारा कहा जाता है–'प्राण से एवं अपान से भी कोई मर्त्य जीता नहीं है, किन्तु प्राण-अपान से विलक्षण-आत्मा से ही सब कार्य करण संघात जीवित रहता है, जिसमें ये प्राण एवं अपान उपाश्रित–आरोपित हैं।' इति। स्व यानी अच्छी प्रकार सभी से जो वरण-स्वीकार करने योग्य-निरतिशय-आनन्द–तत्त्ववेत्ताओं से प्राप्त करने योग्य-जो सर्वोत्तम-अलौकिक-मोक्ष सुखरूप है–वह–स्वर्ग विशेष परमात्मा स्वःपदार्थ है। इस अर्थ में श्रुति भी प्रमाण है–'मैंने सूक्ष्म–रहस्यमय–पुरातन-विस्तीर्ण-आत्मज्ञानरूप मार्ग प्राप्त कर लिया है, तथा उसका फल भी मैंने प्राप्त कर लिया है। उस मार्ग के द्वारा धीर

पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव। तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥' (श॰ ब्रा॰ १४।७।२) इति। अणुः=सूक्ष्मः-दुर्विज्ञेयः, विततः=विस्तीर्णः-पूर्णवस्तुविषयः; वितर इति पाठान्तरात् विस्पष्टतरणहेतुः, पुराणः=चिरन्तनः सनातनश्रुतिप्रसिद्धः। न तु पाखण्डतार्किकबुद्धिप्रभवकुदृष्टिमार्गवदर्वाक्कालिकः, पन्थाः=तत्त्वज्ञानात्मकब्रह्मप्राप्त्युपायः, मां स्पृष्टः=स्पृष्टवान्-मया स्पृष्टलब्ध इत्यर्थः। यो हि येन लभ्यते, स तं स्पृशतीव संबध्यते, तेनायं ब्रह्मविद्यालक्षणो मोक्षमार्गो मया लब्धत्वान्मां स्पृष्ट इत्युच्यते। न केवलं मया लब्धः, किन्त्वनुवित्तो मयैव=फलपर्यवसायिनीं परिपाकदशामानीतः, अनुवेदनं नाम विद्यायाः परिपाकापेक्षया फलावसानता-निष्ठा प्राप्तिः, भुजेरिव तृप्त्यवसानता। मया स्पृष्टः-लब्ध इत्यत्र तु ज्ञानमार्गप्राप्तिसम्बन्धमात्रमेवेति-अनुवेदनलाभयोर्वैशेष्यान्न पौनरुक्त्यम्। मयेति शब्दो मन्त्रद्रष्टृमहर्षिपरामर्शकः। मयैवेत्यवधारणात् किमसावेव मन्त्रदृगेको महर्षिर्ब्रह्मविद्याफलं प्राप्तो नान्यः कश्चित् प्राप्तवान् इत्याशङ्क्याह-तेन=ब्रह्मविद्यामार्गेण, धीराः=प्रज्ञावन्तो निर्विकारचेतसोऽन्ये-

ब्रह्मवित्, परमानन्द-पूर्ण-कैवल्य-धाम रूप स्वर्ग लोक को-इस शरीर के छूट जाने के पूर्व जीवन्मुक्त हुए-प्राप्त हो जाते हैं।' इति। अणु-यानी सूक्ष्म दुर्विज्ञेय, वितत यानी विस्तीर्ण अर्थात् वह पूर्ण वस्तु विषयक है। 'वितत' के स्थान में 'वितर' ऐसा पाठान्तर है, उसका अर्थ है-विस्पष्ट-तरने का हेतु। पुराण यानी चिरंतन-सनातन-श्रुति में जो प्रसिद्ध है। पाखण्डी-तार्किकों की बुद्धि से उत्पन्न-कुदृष्टि-भ्रान्ति-युक्त-मार्ग की भाँति अर्वाचीन-नवीन वह तत्त्वज्ञान रूप ब्रह्मप्राप्ति का उपाय रूप-पन्था-मार्ग नहीं है। वह मार्ग मुझसे स्पृष्ट हो गया है अर्थात् उस को मैंने प्राप्त कर लिया है। जो पदार्थ जिससे प्राप्त किया जाता है, वह उसको स्पर्श करता हुआ-सा ही सम्बद्ध होता है, इससे यह ब्रह्मविद्या रूप मोक्ष का मार्ग मुझसे प्राप्त होने के कारण मुझको वह स्पृष्ट हुआ है, ऐसा कहा जाता है। केवल वह मार्ग मैंने प्राप्त किया है, इतना ही नहीं, किन्तु मैंने उसको-समाप्त भी कर लिया है अर्थात् फल तक समाप्त होने वाली-परिपक्वदशा को भी प्राप्त कर लिया है। 'अनुवित्त' पद में अनुवेदन यानी विद्या के परिपाक की अपेक्षा से फल की अवसानता-निष्ठा-प्राप्ति, जिस प्रकार भोजन का अवसान तृप्ति है, तिस प्रकार मोक्षफल प्राप्ति ही विद्या का अवसान है। 'मुझसे स्पृष्ट लब्ध हुआ है' इस वाक्य में ज्ञान मार्ग-प्राप्ति का सम्बन्ध मात्र ही है, इस प्रकार अनुवेदन और लाभ का वैलक्षण्य होनेसे पुनरुक्ति नहीं है। 'मया' यह शब्द मन्त्र द्रष्टा-महर्षि का स्मारक है। 'मयैव' इस अवधारण से क्या वही मन्त्रद्रष्टा-एक-महर्षि ब्रह्मविद्या के फल को प्राप्त हुआ है? अन्य कोई प्राप्त नहीं हुआ है? ऐसी शंका होने पर समाधान कहते हैं-उस ब्रह्मविद्या रूप मार्ग से धीर-प्रज्ञावान्-निर्विकार-चित्त-वाले-अन्य भी ब्रह्म-

ऽपि ब्रह्मविदः=ब्रह्मनिष्ठाः परमहंसाः, इतः=अस्माच्छरीरपातात्, ऊर्ध्वं=अग्रे-जीवन्त एव विमुक्ताः सन्तः, स्वर्गं लोकं=ब्रह्मविद्याफलं मोक्षं स्वयंप्रकाशनिरतिशयब्रह्मानन्दलक्षणं कैवल्यं धाम, अपियन्ति=अपिगच्छन्ति-प्राप्नुवन्ति। स्वर्गलोकशब्दस्त्रिविष्टपवाच्यपि सन्निहाध्यात्मप्रकरणान्मोक्षाभिधायक एव मन्तव्यः। मयैवेत्यवधारणन्तु ब्रह्मविद्यास्तुतिपरं न त्वन्ययोगव्यवच्छेदपरम्। कृतार्थोऽस्मीत्यात्मन्यभिमानकरं स्वानुभवसिद्धमात्मज्ञानं नास्मादन्यदुत्कृष्टं किञ्चिदित्येवं विद्यामवधारणश्रुतिरियं स्तौति। अन्यथा-'तद्यो यो देवानामि' (बृः १।४।१०) ति ब्रह्मविद्यायाः सर्वसाधारणत्वश्रवणं विरुध्येत। इत्यनया श्रुत्या निरतिशयसुखात्मकः परमात्मस्वरूप एव स्वःपदार्थः, इति स्पष्टमधिगम्यते,। स्वःपदार्थः-'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥'[1] इत्यत्रापि प्रसिद्धः। अयमर्थः-

वित्-ब्रह्मनिष्ठ-परमहंस महात्मा, इस शरीर के पात से ऊर्ध्व-आगे जीते हुए ही विमुक्त हुए-स्वर्ग लोक-यानी ब्रह्मविद्या का फल-जो स्वयं प्रकाश-निरतिशय-ब्रह्मानन्दरूप-कैवल्य-धाम-मोक्ष है उसको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् उस धाम में सदा के लिए विलीन हो जाते हैं। यद्यपि स्वर्ग शब्द त्रिविष्टप-लोक विशेष का वाचक है, तथापि यहाँ अध्यात्म-प्रकरण होने से मोक्ष का ही बोधक है, ऐसा मानना चाहिए। 'मयैव' यह अवधारण तो ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए है, अन्य-योग के व्यवच्छेद-निराकरण के लिए नहीं हैं, अर्थात् 'ब्रह्मविद्या के फल को अन्य प्राप्त नहीं कर सकता है' ऐसा बोधन करने के लिए नहीं है। ब्रह्मविद्या से 'मैं कृतार्थ हूँ' इस प्रकार आत्मा में अभिमान का प्रयोजक-स्वानुभव से सिद्ध-आत्मज्ञान है, इससे अन्य उत्कृष्ट कुछ भी नहीं है, इस प्रकार यह अवधारण श्रुति विद्या की स्तुति करती है ! अन्यथा-अन्ययोग का व्यवच्छेद ही अवधारण का अर्थ मानने पर 'देवताओं में जिस जिसने उसको जाना' इस श्रुति से ब्रह्मविद्या में सर्व साधारणत्व का जो श्रवण होता है, वह विरुद्ध हो जायगा। इस पूर्वोक्त-श्रुति से निरतिशय सुखरूप-परमात्मस्वरूप ही 'स्वः' पद का अर्थ है, ऐसा स्पष्ट जाना जाता है। 'स्वः' पद का अर्थ-'जो न दुःख से संयुक्त है, न ग्रस्त-ध्वस्त है, तथा जो अन्तर-व्यवधान से रहित-एकरस अखण्ड है, अभिलाषा मात्र से जो समीप में ही प्राप्त हो जाता है, वही सुख, स्वःपद का विषय है।' इस श्लोक में भी-प्रसिद्ध है। इसका यह

[1] स्मृतिरियमिति केचन, भट्टवार्तिकमित्यपरे; प्रामाणिकग्रन्थेषु परिमलादिषु श्रुतित्वेन व्यवहारादियं काचन विच्छिन्नशाखीया श्रुतिरित्यन्ये। भवतु नाम यत्किमपि परन्तु प्रामाणिकोऽयं श्लोकः, सर्वतन्त्रेषु प्रमाणत्वेनोपन्यासादिति॥ कुछ विद्वान् 'यह स्मृति का श्लोक है, ऐसा कहते हैं, अन्य, यह कुमारिल-भट्ट का वार्तिक है ऐसा, कहते हैं। परिमल आदि-प्रामाणिक ग्रन्थों में श्रुतिरूप से इसका व्यवहार किया गया है, इसलिए यह विच्छिन्न-शाखा की कोई श्रुति है, ऐसा अन्य कहते हैं। जो कुछ हो, परन्तु यह श्लोक प्रामाणिक है, सभी-शास्त्रों में इसका प्रमाणत्व से उपन्यास किया है। इति।

यत्=परमात्मस्वरूपभूतं मोक्षसुखं, तत्-दुःखेन न संभिन्नं=न संमिश्रं, दुःखसम्पर्कविधुरमिति यावत्। यथा हि वैषयिकं परिच्छिन्नं सुखं स्वसमयेऽन्यसुखाप्राप्तिनिबन्धनविषादात्मकदुःखेनानुपक्तम्, न तथेदं मोक्षसुखं वर्तमानकालिकसुखान्याभिलषितसुखाप्राप्तिनिबन्धनदुःखेनानुपक्तम्, तत्कस्य[1] हेतोः? यतस्तस्यापरिच्छिन्नत्वात्। किञ्च यथा वैषयिकं सुखं तत्प्राप्तिसाधनस्रक्चन्दनवनितादिसम्पादनायासरूपप्राक्कालिकेन दुःखेनानुपक्तम्, न तथेदं किन्तु अभिलाषोपनीतं=अभिलाषेण-संकल्पमात्रेणैवोपनीतम्=सामीप्यमाप्तं, न तु साधनसम्पादनायाससंयुक्तं, तत्कस्य हेतोः? यतस्तस्य सदा सिद्धत्वात्। किञ्च यथा वैषयिकं सुखमन्तराऽन्तरा तिरोभूय विरलप्रवाहशीलं-प्रथमतः किञ्चित्सुखं तदव्यवहितोत्तरक्षणे किञ्चिद्दुःखं तदनु पुनः किञ्चित्सुखमित्येवं विच्छेदसंयुक्तं भवति, न तथाविधमिदं मोक्षसुखमपि तु-अनन्तरं=न नास्ति-अन्तरो=व्यवधानं यस्मिन् तत्-व्यवधानहीनं, तत्कस्य हेतोः? यतस्तस्य चिरकालस्थायित्वेनाविरलसततसंलग्नप्रवाहशीलत्वेन च विच्छेदशून्यत्वादेवोत्तरकालिकदुःखासम्मिश्रं तत्। किञ्च यथा सार्वभौमादिसुखमैहलौकिकं महेन्द्रादिसुखं पार-

अर्थ है—जो परमात्म-स्वरूप भूत-मोक्ष-सुख है, वह दुःख से संभिन्न-संमिश्रित-नहीं है, अर्थात् दुःख से मिला हुआ नहीं है-दुःख के सम्पर्क-सम्बन्ध से रहित है। जैसे विषय का परिच्छिन्न-क्षणिक सुख, अपने समय में अन्य विषय के सुख की अप्राप्ति-प्रयुक्त-विषाद रूप-दुःख से संयुक्त है, वैसे यह मोक्ष का सुख, वर्तमान काल के सुख से अन्य-अभिलषित-सुख की अप्राप्ति-प्रयुक्त-दुःख से संयुक्त नहीं है। वह किस कारण से ऐसा है? इस लिए है—कि-वह अपरिच्छिन्न-पूर्ण-सर्वदा-विद्यमान है। और जिस प्रकार विषयों का सुख, उसकी प्राप्ति के साधन-स्रक्-चन्दन-वनितादि के सम्पादन का आयास-परिश्रम रूप-पूर्व काल के दुःख से संयुक्त है, तिस प्रकार वह मोक्ष सुख नहीं है, किन्तु—अभिलाषा से-संकल्पमात्र से ही उपनीत है—समीप में प्राप्त है, साधनो के सम्पादन के आयास-कष्ट से संयुक्त नहीं है। वह किस कारण से ऐसा है? इस लिए है कि—वह सदा सिद्ध है—नित्य-शाश्वत है। और जैसे विषयों का सुख बीच-बीच में विलीन होकर विरल-प्रवाह वाला हो जाता है—अर्थात् प्रथम में कुछ सुख, उस के अव्यवहित-उत्तर क्षण में कुछ दुःख, उस के बाद फिर कुछ सुख, इस प्रकार विच्छेद संयुक्त होता है, तिस प्रकार का यह मोक्षसुख नहीं है, किन्तु अनन्तर है-अन्तर-व्यवधान नहीं है, जिस में, वह दुःख के व्यवधान से हीन-रहित है। वह किस कारण से ऐसा है—इस लिए है कि—वह चिरकाल तक स्थायी रहता है, अतः वह अविरल-सतत-संलग्न प्रवाहशील है, इस लिए वह विच्छेदशून्य होने से उत्तर काल के दुःख से मिला हुआ नहीं है। और जैसे सार्वभौम राजा आदि का-इस लोक का सुख, एवं महेन्द्र-देवराज आदि का पारलौकिक सुख, चिरकाल

[1] तत्कस्मात्कारणादित्यर्थः 'निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्' इति वार्तिकनियमात्।

लौकिकं चिरकालस्थाय्यप्यन्ते ग्रस्तं=ध्वस्तं भवति, न तथेदं ग्रस्तमपि तु 'न च ग्रस्तं' न च विध्वस्तं भवति। अविद्यानिवृत्तिलभ्यस्यासाध्यस्य तस्य नाशाप्रतियोगित्वेनाविनाशित्वादिति। एवं मोक्षसुखं त्रैकालिकदुःखसम्पर्कविधुरमखण्डैकरसं सदासिद्धं स्वात्मभूतं निरतिशयं स्वःपदास्पदं=स्वःपदाभिधेयमित्यर्थः। यागादिसाधनसाध्यस्य लोकविशेषावच्छेदेनानुभूयमानस्य सुखविशेषस्य स्वर्गस्य सातिशयत्वप्रयुक्तदुःखेन सम्भिन्नत्वात्, क्षयित्वेन च ग्रस्तत्वात्, पूर्वोक्तं स्वःपदलक्षणं न संघटते; अतो यथा 'चन्दनसूक्ष्मकौशेयवस्त्रपड्रसभोजनाद्यभीप्सितोपकरणसंयुक्तः सारामः सरामः प्रासादश्च स्वर्गः' इत्यादौ मनोज्ञत्वोत्कृष्टत्वादिकं गुणमादाय गौण्या वृत्त्या स्वर्गपदस्य प्रयोगः क्रियते, तथा तत्रापि स्वःपदस्य प्रयोगो गौण्या न तु मुख्यया वृत्त्या। 'स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृत्तिः।' इत्यादिवचनप्रामाण्यात्, स्वर्गकारणपुण्यक्षयविचारेण स्वर्गेऽपि सन्तापदुःखोत्पत्तिसम्भवान्नास्ति तस्य मुख्यस्वर्गपदाभिधेयत्वं, मुख्यार्थस्तु पूर्वोक्त एव। बृहत्= महद्ब्रह्म। सोमः=उमया—ब्रह्मविद्यास्वरूपिण्या कात्यायन्या सह वर्तमानो भगवान् महादेवः। उमेति प्रणववर्णोङ्कारव्यत्यासरूपं 'परा शक्तिः प्रणवः' इति लैङ्गादिषु प्रतिपादितं दिव्याभिधानम्। तेन परब्रह्म-

स्थायी होने पर भी अन्त में ग्रस्त-ध्वस्त हो जाता है, वैसे यह मोक्षसुख ग्रस्त-ध्वस्त नहीं होता है, क्योंकि—यह अविद्या की निवृत्ति से प्राप्त होता है, इस लिए यह असाध्य है—सदा सिद्ध है, इस लिए यह नाश का अप्रतियोगी होने से अविनाशी है। इति। इस प्रकार मोक्ष सुख, तीन काल के समस्त दुःखों के सम्बन्ध से रहित—अखण्ड-एकरस-सदासिद्ध-अपने-आत्मरूप-निरतिशय-स्वःपद का अभिधेय-वाच्य है। यागादि-साधन से साध्य-लोक विशेष के द्वारा—अनुभूयमान—जो सुख-विशेष रूप-स्वर्ग है—वह सातिशयत्व-प्रयुक्त दुःख से मिश्रित है, एवं क्षय-युक्त है, इस लिए वह ग्रस्त-ध्वस्त हो जाता है, अतः इसमें पूर्वोक्त-'स्वः' पद का समग्र-लक्षण घटता नहीं है। अतः जैसे—'चन्दन, बारीक-रेसमी वस्त्र, पड्रस वाला अत्युत्तम-भोजन, आदि अभीप्सित-उपकरण-साधन संयुक्त, बगीचा सहित-रामा-रमणी युक्त-प्रासाद-महल स्वर्ग है' इत्यादि स्थलों में, मनोज्ञत्व (सुन्दरत्व) उत्कृष्टत्वादि-गुणों का ग्रहण करके गौणी वृत्ति द्वारा स्वर्गपद का प्रयोग किया जाता है, तिस प्रकार देवों के लोक-विशेष में भी स्वःपद का प्रयोग गौणी वृत्ति से किया जाता है, मुख्य-वृत्ति से नहीं।' 'स्वर्ग में भी पतन-के भय से युक्त होने वाले-क्षय युक्त देव को भी पारमार्थिक-सुख नहीं है।' इत्यादि वचनों के प्रामाण्य से स्वर्ग के कारण-पुण्य-क्षय के विचार से स्वर्ग में भी सन्ताप-दुःख की उत्पत्ति का सम्भव होने से उसमें मुख्य-स्वर्गपद की वाच्यता नहीं है, 'स्वः' पद का मुख्यार्थ तो पूर्वोक्त ही है। बृहत् यानी महान् ब्रह्म। सोम यानी ब्रह्मविद्या-स्वरूपिणी भगवती कात्यायनी-उमा के साथ वर्तमान भगवान् महादेव। 'उमा' 'उ-म-अ' यह प्रणव-ओंकार-वर्ण का व्यत्यय-उलटा रूप वाला-'परा शक्ति ही प्रणव है' ऐसा लिङ्गपुराणादिओं में प्रतिपादित-दिव्य-पावन नाम है।

विद्याधिदेवता पारमेश्वरी चिच्छक्तिरुच्यते, तथा चाविद्यकसंसारनिवृत्तेर्ब्रह्मविद्यासाध्यत्वात्, तादृशब्रह्मविद्याधिदेवताऽलङ्कृतः परमेश्वर एव संसारदुःखद्रावकः सोमो रुद्रः इत्युपपादितं भवति। ब्रह्मविद्याऽधिदेवतात्वं च पराशक्तेरुमायाः वेदान्तेषु प्रसिद्धम्। तथाहि—श्वेताश्वतरोपनिषदि—'ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाताः।' (१।१) इति प्रस्तुत्य—'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।' (१।३) इत्यादिना पुनर्ब्रह्मवादिनां महर्षीणामुमानुग्रहादेव ब्रह्मतत्त्वनिश्चयो जात इति प्रतिपादितम्। तदेतदुपबृंहितञ्च शैवपुराणे—'मुमुक्षया पुरा केचिन्मुनयो ब्रह्मवादिनः। संशयाविष्टमनसो विमृशन्ति यथातथम्॥ किं कारणं कुतो जाता जीवामः केन वा वयम्।' इति प्रस्तुत्योक्तम्—'ते ध्यानयोगानुगताः प्रापश्यन् शक्तिमैश्वरीम्। पाशविच्छेदिकां साक्षान्निगूढां स्वगुणैर्भृशम्॥ तया विच्छिन्नपाशास्ते सर्वकारणकारणम्। शक्तिमन्तं महादेवमपश्यन् ज्ञानचक्षुषा॥' इति। कूर्मपुराणेऽपि—'समेत्य ते महात्मानो मुनयो ब्रह्मवादिनः। वितेनिरे बहून् वादान्।' इति प्रस्तुत्य—'इत्येवं मन्यमानानां ध्यानयोगावलम्बिनाम्। आविरासीन्महादेवी गौरी गिरिव-

इस नाम से परब्रह्म-विद्या की अधिदेवता, पारमेश्वरी-चिच्छक्ति कही जाती है। तथा च अविद्या-प्रसूत संसार की निवृत्ति, ब्रह्मविद्या से निष्पन्न होती है, इस लिए उस प्रकार की ब्रह्मविद्या की अधिदेवता से अलङ्कृत-परमेश्वर ही संसार के दुःखों का विध्वंसक-सोम रुद्र है ऐसा युक्ति-युक्त सिद्ध हो जाता है। पराशक्ति-उमा में ब्रह्मविद्या की अधिदेवतात्व वेदान्त-उपनिषदों में प्रसिद्ध है। तथा हि—श्वेताश्वतर-उपनिषद् में—'ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं—जगत् का कारणभूत-ब्रह्म कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं?' ऐसा प्रारम्भ करके—'उन्हों ने ध्यान योग में तन्मय हो कर अपने गुणों से आच्छादित-परमात्मा की शक्ति का साक्षात्कार किया।' इत्यादि-ग्रन्थ से पुनः ब्रह्मवादी-उन महर्षियों को उमा-भगवती के अनुग्रह से ही ब्रह्मतत्त्व का निश्चय हो गया था' ऐसा प्रतिपादन किया है। वही यह शिवपुराण में विस्तार से कहा गया है—'पुरातन समय में कुछ ब्रह्मवादी मुनि, मुमुक्षा के द्वारा—संशयों से आविष्ट-मन वाले हुए—यथायोग्य विचार करते हैं कि-जगत् का कौन कारण है? हम किस से उत्पन्न हुए है? किससे जी रहे हैं?' ऐसा प्रारम्भ करके कहा था—'ध्यानयोग में तन्मय हुए-उन्होंने भव-पाशों का विच्छेद करने वाली-ईश्वर की शक्ति-जो अपने गुणों से अत्यन्त-आच्छन्न थी-उस को साक्षात् देखा। उस शक्ति से पाशों का विच्छेद करके उन्होंने सर्व कारणों के कारणरूप-शक्तिमान्-महादेव-परब्रह्म को भी ज्ञाननेत्र द्वारा देखा।' इति। इस प्रकार कूर्म पुराण में भी कहा गया है—'उन-ब्रह्मवादी महात्मा मुनिगणों ने एकत्रित हो कर ब्रह्मविषयक—बहुवादों का विस्तार किया' ऐसा प्रारम्भ करके 'इस प्रकार के मनन का विस्तार करते हुए-ध्यान योग का अवलम्बन करने वाले उन मुनियों के समक्ष-महादेवी गौरी-जो गिरि-

रात्मजा ॥ निरीक्षितास्ते परमेशपत्न्या, तदन्तरे देवमशेषहेतुम्। पश्यन्ति शम्भुं कविमीशितारं बृहन्तमीशं पुरुषं पुराणम्॥' इति। तथा तलवकारशाखिनां केनोपनिषद्यपि–'स तस्मिन्नाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं तां होवाच, किमेतद्यक्षमिति ?, सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति।' (४।१) इत्यादिना पुरा शक्रादीनामुमानुग्रहादेव परब्रह्मावबोधो जात इत्युपाख्यायते। कैवल्योपनिषदि च 'उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं, त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्। ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं, समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥' (१।७) इत्युमासाहित्येनैव परमेश्वरस्य ध्यानं मोक्षप्रदत्वेनोच्यमानमुमाया परब्रह्मविद्याधिदेवतात्वं गमयति। उक्तश्रुत्या एकार्थत्वात्। 'पार्वती परमा देवी ब्रह्मविद्याप्रदायिनी। तस्यास्सह तया शक्त्या हृदि पश्यन्ति ये शिवम्॥ तेषां शाश्वतिकी सिद्धिर्नेतरेषामिति श्रुतिः।' इत्यादि–तदुपबृंहणानुरोधाच्च। न केवलं मोक्षप्रदत्वमेवोमासाहि-

वर-हिमाचल-की पुत्रीरूपा भगवती थी–वह प्रकट हो गई। परमेश्वर की उस-पत्नी-भगवती से वे मुनि देखे गये, उस के बीच में वे, अशेष-विश्व के कारण, शम्भु, कवि-सर्वज्ञ ईशिता-नियन्ता बृहत्-महान्-ईश-पुराण-पुरुष देव को देखने लगे।' इति। तथा सामवेद की तलवकार-शाखावालों की केनोपनिषत् में भी–'वह इन्द्र, उस आकाश में प्रकट हुई–बहु शोभावाली-हिमाचल-पुत्री-गौरी-या हेम-सुवर्ण के दिव्य-आभूषणों से अलङ्कृत-उमास्त्री-देवी के समीप आया, और उस के प्रति बोला-वह यक्ष कौन था ? इति। वह देवी 'ब्रह्म था' ऐसा इन्द्र के प्रति बोली। ब्रह्म की ही उस विजय में आप लोग महत्ता को प्राप्त हुए थे-पूजित हुए थे। उमादेवी के इस वाक्य से इन्द्र ने 'वह यक्ष 'ब्रह्म था' ऐसा जाना।' इत्यादि ग्रन्थ से प्रथम इन्द्र आदि देवों को उमा-पार्वती के अनुग्रह से ही परब्रह्म का अवबोध-साक्षात्कार उत्पन्न हुआ था, ऐसा उपाख्यान कहा जाता है।' तथा कैवल्योपनिषत् में–'उमा के सहचर, त्रिलोचन-नीलकण्ठ-प्रशान्त-परमेश्वर-प्रभु का ध्यान करके मुनि-साधक, तम से पर, समस्त विश्व का साक्षी, भूतों का कारण ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।' इति। 'उमा के सहभाव से ही परमेश्वर का ध्यान मोक्षप्रद है' ऐसा कहा गया वचन 'उमा परब्रह्म-विद्या की अधिदेवता है' ऐसा बोधन करता है। उक्त-केन श्रुति के साथ इस श्रुति का समान-अर्थ है। इस लिए–'पार्वती ब्रह्मविद्या–प्रदायिनी परमा-सर्वोत्तमा देवी है; उस शक्ति-भगवती के साथ हृदय में जो शिव का साक्षात् दर्शन करते हैं, उन्हों की शाश्वत-सिद्धि हो जाती है, अन्यों की नहीं होती, ऐसा श्रुति का कथन है।' इत्यादि पुराण वाक्यों के समर्थन के अनुरोध से भी पूर्वोक्त अर्थ सिद्ध होता है। उमा के सहभाव प्रयुक्त-भगवान् में केवल मोक्षप्रदत्व ही है ऐसा नहीं,

त्यप्रयुक्तं भगवतः, किन्तु सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वान्तर्यामित्वसर्वकारणत्वादिरूपः सर्वोऽपि महिमा पराशक्तिविलास एवेति 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।' (श्वे. उ. ६।८।) इत्याद्याः श्रुतयः प्रथयन्ति । अत एव तादृशविशिष्टायामुमायामादरातिशयादेव तैत्तिरीयारण्यके-'अम्बिकापतये नमः' इत्युक्त्वापि पुनः 'उमापतये नमः' (२२।१) इति तत्पतित्वेन भगवान्नमस्क्रियते । इति । अपि चैतादृशस्य सोमस्य साक्षात्कारेणामृतत्वादिलाभः स्पष्टः समाम्नातो भवति-'अपाम सोममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् । किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत ! मर्त्यस्य ॥' (ऋ. ८।४८।३) (तै. सं. ३।२।५।४) इति । सोमं=पूर्वोक्तार्थं परमेश्वरं अपाम=पानं कृतवन्तोऽधिगतवन्त इत्यर्थः । पानमपि क्वचिदुपचारादत्यन्ततन्मयतापूर्वकाभीप्सितार्थविशदाधिगमार्थे वर्तते, यथा 'पपौ नयनाभ्यां स सुन्दरी-मि'ति । यथा यज्वनामध्वरमीमांसकानां चमसस्थे भक्षिते सोमे सन्तोषः प्रभवति, तथाऽस्माकं मन्त्रार्थतत्त्वदर्शिनां ब्रह्ममीमांसकानामधिगते महादेवे सोमे निरङ्कुशः सन्तोषः प्रभवतीति भावः । यतः सोममपाम ततोऽमृताः=मरणहेतुभिरविद्यातत्का-

किन्तु भगवान् का सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वकारणत्व आदिरूप, समस्त महिमा भी पराशक्ति का ही विलास है । इस प्रकार—'इस परमेश्वर की पराशक्ति बहु प्रकार की सुनने में आती है, जो स्वाभाविकी ज्ञान, बल एवं क्रिया रूप है ।' इत्यादि श्रुतियाँ भी विस्तार से प्रतिपादन करती हैं । इस लिए उस प्रकार की महिमा से विशिष्ट-उमा-शक्ति में आदर का अतिशय होने से ही—तैत्तिरीयारण्यक में—'अम्बिका—माता के पति-भगवान् को नमस्कार है ।' ऐसा कह करके भी फिर 'उमा के पति को नमस्कार है' इस प्रकार उमा के पति-स्वामी रूप से भगवान् को नमस्कार किया जाता है । और भी इस प्रकार के सोम-के साक्षात्कार से अमृतत्वादि का परम-लाभ स्पष्ट ही अन्य श्रुति में कहा गया है—'हमने सोम का पान-आस्वाद-अनुभव किया, इसलिए हम अमृत-अविनाशी हो गए, ज्योति को प्राप्त हो गए, देवों को पहिचान लिया, हे अमृत ! शत्रु हम को क्या कर सकता है ? तथा वह हिंसक-धूर्त भी मुझ-मर्त्य को क्या कर सकता है ? ।' इति । सोम यानी पूर्वोक्त-अर्थ वाला-परमेश्वर, उसका हमने पान किया-अर्थात्-साक्षात्कार किया । पान—भी किसी स्थल—विशेष मे उपचार-गौणवृत्ति से अत्यन्त-तन्मयता पूर्वक-अभीप्सित-अर्थ के स्पष्ट-साक्षात्काररूप अर्थ में वर्तमान होता है । जैसे—'नयनों से वह सुन्दरी-युवती को पी गया ।' इति । जिस प्रकार अध्वर(यज्ञ) मीमांसक-यजन करने वाले कर्मकाण्डियो को—चमस-पात्र में स्थित-सोम का भक्षण करने पर संतोष उत्पन्न होता है । वैसे मन्त्रार्थ-तत्त्व के दर्शी-हम ब्रह्म-मीमांसकों को महादेवरूप-सोम का साक्षात्कार होने पर निरङ्कुश संतोष उत्पन्न होता है, यह भाव है । जिस कारण से हमने सोम का पान किया, इस लिए हम अमृत—यानी मृत्युयुक्त संसार का कारण

र्येतत्संस्कारैर्विवर्जिताः, अभूम=सम्पन्नाः। तद्भवने कारणमाह—ज्योतिः=स्वयंप्रकाशमानमात्मस्वरूपं अगन्म=अगमाम-प्राप्तवन्त इत्यर्थः। इदं वयं स नान्यदिति निश्चिताः पूर्णतां प्राप्ता इति यावत्। तत्रापि हेतुमाह—देवान्=साधिष्ठातॄन् विषयावद्योतनानिन्द्रियलक्षणान्—विषयासक्त्यनासक्तिभ्यां संसृतिमोक्षहेतून्, अविदाम=अविद्म—विषयासक्त्याऽनर्थकारिणः प्रमाथिनो बलवतस्तान् विवेकादिसाधनबलेन वशीकृत्य निर्भयं पदमवाप्य तुच्छत्वेन तान् ज्ञातवन्त इत्यर्थः। यथाऽध्वगाः पाटचरान् बलात्परिभूय पलायमाना महानद्या अगम्योत्तरतीरस्थं निर्भयस्थानं समवाप्य दक्षिणतीरस्थान् स्वानर्थकारिणस्तानाक्षिपन्तः सन्तः पश्यन्ति, तथा वयं विषयासक्तिपरित्यागेनेन्द्रियलक्षणान् पाटचरान् विवेकबलात् परिभूय संसारजलधेर्विज्ञाननौकया ब्रह्मानन्दलक्षणमभयमुत्तरतीरं सम्प्राप्य संसारजलव्यवहितान् तुच्छान् तानाक्षिपन्तः पश्यामः—इति भावः। अत एव हे अमृत! ममात्मस्वरूपभूत! अविनाशिदेव! नूनं=इदानीं अस्मान्—सोमतत्त्वदर्शिनः, अरातिः=इन्द्रियलक्षणः कामादिरूपो वा शत्रुः किं कृणवत्=किं कुर्यात्—कमनर्थं कर्तुं शक्नुयात् न कमपीत्यर्थः। तथा किमु=किं वा, मर्त्यस्य=लोकदृष्ट्या मनुष्यभूतस्य वस्तुतो ब्रह्मभूतस्य मम धूर्तिः=हिंसको धूर्तो मिथ्याज्ञानलक्षणो रिपुः कृण्वत्=कुर्यात्। इति। यद्वा सोमः=सोमम-

अविद्या, अविद्या का कार्य, और उसके संस्कारों से रहित हो गये हैं। अमृत होने में कारण कहते हैं—ज्योति यानी स्वय प्रकाशमान-आत्मस्वरूप को हम प्राप्त हो गये हैं, अर्थात् यही हम हैं, अन्य नहीं, ऐसा निश्चय करते हुए पूर्णता को प्राप्त हो गये हैं। उसमें भी कारण कहते हैं—हमने अधिष्ठाता-देवता सहित-विषय प्रकाशक इन्द्रियरूप देवों को—जो विषयासक्ति से संसार-बन्धन के कारण एव विषयानासक्ति से मोक्ष के कारण हैं—जान लिया है, अर्थात् वे इन्द्रियरूप देव विषयासक्ति के द्वारा अनर्थकारी हैं, स्वय बड़े प्रमथनशील एव बलवान् हैं, उनको—हमने विवेकादि साधन के बल से वश में करके निर्भय-अमृत-पद को प्राप्त करके—तुच्छ रूप से जान लिया है। जिस प्रकार पथिक—डाकुओं का बल से परिभव करके भागते हुए, महानदी के अगम्य-उत्तर तीर में अवस्थित-निर्भयस्थान को प्राप्त करके दक्षिण तीर में स्थित अपने अनर्थकारी उन-डाकुओं को डाँटते हुए देखते हैं, तिस प्रकार हम—विषयासक्ति के परित्याग द्वारा इन्द्रियरूप-डाकुओं का विवेक के बल से परिभव करके ससार समुद्र के—विज्ञान नौका द्वारा ब्रह्मानन्दरूप-निर्भय उत्तर तीर को सम्यक् प्राप्त करके ससार जल के व्यवधान से युक्त-उन तुच्छ-डाकुओं को डाँटते हुए-देखते हैं, यह भाव है। अत एव हे अमृत! मेरे आत्मस्वरूपभूत! अविनाशि देव! नून यानी अब सोमतत्त्वदर्शी-हम को इन्द्रियरूप या कामादि रूप, अराति शत्रु क्या कर सकता है? किस अनर्थ को करने के लिए वह शक्तिमान् है, अर्थात् कोई भी अनर्थ नहीं कर सकता। तथा अब धूर्ति यानी धूर्त, हिंसक-आमहत्यारा मिथ्याज्ञानरूप शत्रु, लोकदृष्टि से मर्त्य—मनुष्यरूप—वस्तुत ब्रह्मरूप मेरे को क्या कर सकता है? अर्थात् कुछ नहीं कर सकता। इति। यद्वा सोम-यानी चन्द्र

ण्डलस्थः पुरुषः। 'य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति।' (छां. ४।१२।१) इति श्रुतेः। रुद्रः=सर्वदुःखनाशकः सृष्ट्यादिकारणं सर्वानन्य एक एवाद्वितीयः परमात्मा। तथाचाम्नायते-'देवा रुद्रमपृच्छन् को भवानिति? सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासीद्वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्तः।' (अथर्वशिर. उ. १) इति। (आसीत्=आसं, व्यत्ययेन प्रथमः पुरुषः, वर्तामि=वर्ते, व्यत्ययेन परस्मैपदम्) अदितिः=अखण्डिता सर्वात्मिका:-चितिशक्तिः। अदितेः सर्वात्मत्वं विस्तरतः शुक्लयजुर्वेदशतकस्याध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्तौ प्रतिपादितम्। तत्रैवावगन्तव्यम्। विस्तरभयान्नेहाभिधीयते।

ब्रह्मणस्पतिः=बृहस्पतिः परमेश्वरः। एते पूर्वोक्ताः परमात्मानो विविधनामभिर्बहुत्वेन प्रतीता अपि वस्तुत एकात्मानः, सजोषसः=संगताः-संप्राप्ता भवन्तु। यद्वा सजोषसः=अस्मादृशेषु साधकेषु भक्तेषु प्रीतिसंयुक्ताः सन्तु, यद्वाऽस्माभिः परमया प्रीत्या सेव्यमाना भवन्तु इत्यर्थः। 'जुष प्रीतिसेवनयोः' इति स्मरणात्। यद्यपि परमात्मा एक एव न कथमप्यनेक इति निश्चितो निर्विवादः सिद्धान्तः; तथापि तत्तद्दिव्यगुणादिप्रतिपादकानां नाम्नां बहुत्वेन तस्यापि बहुत्वमुपचर्यते। यद्यप्यग्न्यादिशब्दा अर्थान्तरे प्रसिद्धाः सन्ति, तथापि तदर्थानां तद्विभूतित्वेन तदभेदाद्वृत्त्यन्तरमाश्रित्य तस्यापि प्रतिपादनं नासंगतमित्याकूतमपि विदांकुर्वन्तु सुधियः। अथवा मन्त्रेणानेन पर-

मण्डल में अवस्थित पुरुष। 'जो यह चन्द्र में पुरुष देखा जाता है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।' इस श्रुति से चन्द्रस्थित पुरुष साक्षी-आत्मा सिद्ध होता है। रुद्र यानी समस्त दुःखों का नाशक, सृष्टि आदि का कारण, समग्र विश्व से अभिन्न, एक ही अद्वितीय परमात्मा। तथा च अथर्वशिर उपनिषत् में कहा जाता है-'देवों ने रुद्र को पूछा-आप कौन हैं? ऐसा। वह बोला-मैं एक ही प्रथम था, अब भी हूँ, आगे भी रहूँगा, मुझसे पृथक्-अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है।' इति। अदिति यानी अखण्डिता-सर्वात्मिका चेतनशक्ति। अदिति के सर्वात्मत्व का विस्तार से हमने शुक्लयजुर्वेदशतक की अध्यात्म-ज्योत्स्नाविवृत्ति में प्रतिपादन किया है। वहाँ ही उस को जानना चाहिए, विस्तार के भय से यहाँ हम नहीं कहते हैं।'

ब्रह्मणस्पति यानी बृहस्पति परमेश्वर। ये पूर्वोक्त परमात्मा-जो विविधनामों से बहुरूप से प्रतीत हुए भी वस्तुतः एक रूप ही हैं-वे हमें सम्यक् प्राप्त हों। अथवा हमारे जैसे साधक-भक्तों के ऊपर प्रीतिसंयुक्त-प्रसन्न हों, यद्वा वे हमारे द्वारा परा प्रीति-भक्ति द्वारा सेव्यमान हों। 'जुष' धातु प्रीति एव सेवन अर्थ में स्मृत हुई है। यद्यपि परमात्मा एक ही है, किसी भी प्रकार से अनेक नहीं है, ऐसा निश्चित विवाद-रहित-सत्य सिद्धान्त है, तथापि उस-उस दिव्य गुणादि के प्रतिपादक-नामों का बहुत्व होने से उस नामी-परमात्मा में बहुत्व का आरोप होता है। यद्यपि अग्नि आदि शब्द, भूत-देवादि अन्य-अर्थ में प्रसिद्ध हैं, तथापि वे अन्य अर्थ भी परमात्मा की ही विभूति रूप हैं, इस लिए उनका उससे अभेद है, अतः अन्य वृत्ति का आश्रय करके उस परमात्मा का भी प्रतिपादन करना असंगत नहीं है, ऐसा रहस्य भी सुधी-विद्वान् जाने। अथवा-इस मन्त्र से-पर-

मात्मस्वरूपान्तःसारा एते अग्न्यादयो देवा औपाधिकभेदभिन्ना वस्तुत एकात्मान अपि प्रतिपादिता भवन्तु, तथापि न नः सिद्धान्ते किञ्चिद्विरुध्यते।

ननु–इन्द्रादिपदाभिधेयतत्तद्देवतासत्त्वाभ्युपगमेऽनेकेश्वरवादो विरुद्धः प्रसज्येत इति तन्न; तदा किलानेकेश्वरवादः प्रसक्तः स्यात्, यदा तत्सत्त्वं परमेश्वरात्स्वतन्त्रं पृथग्भूतञ्चाभ्युपगतं भवेताम्। सर्गादिसमये सन्ति ते देवा इन्द्रादिपदाभिधेयाः तत्तद्विशिष्टकार्येषु विनियुक्ताः, परञ्च तेषां नास्ति किञ्चित्स्वातन्त्र्यम्, परमेश्वरशक्त्यैव तेषामाविर्भूतत्वेन तत्रैवावस्थितत्वेन तिरोभूतत्वेन च तदधीनत्वात्। तथा चामनन्ति भूयस्य ऋचः— 'महत्तद्वः कवयश्चारु नाम यद्ध देवा भवथ विश्व इन्द्रे' (ऋ. ३।५४।१७) इति। अयमर्थः–हे कवयः!=विशिष्टज्ञानवन्तो देवाः! वः=युष्माकं, तत् महत् चारु=शोभनं आश्रयणं नाम अस्ति, यत्=यस्मात् ह=निश्चयेन, इन्द्रे=परमात्मनि महति, विश्वे=सर्वे यूयं देवा भवथ–इन्द्राश्रिताः स्थ इति। 'आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्' (अथर्व. ७।१११।१) इति। अयं परमात्मा देवादीनामात्मा पारमार्थिकस्वरूपमस्तीत्यर्थः। 'आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।' (ऋ. १०।१६८।४) इति। भुवनस्य=भवनधर्मकस्य भूतभौतिक-

मात्मा का स्वरूप है–अन्तर में सार रूप जिन्हों के, ऐसे अग्नि आदि देव–जो उपाधियों के भेद से भिन्न हुए भी वस्तुतः एक आत्मारूप हैं–वे भी प्रतिपादित हों, तथापि हमारे अद्वैत-सिद्धान्त में कुछ भी विरोध-प्राप्त नहीं होता।

शंका–इन्द्रादि पदों का वाच्य–उस उस देवता की सत्ता मानने पर अनेकेश्वर-वाद–जो विरुद्ध है–वह प्रसक्त हो जाता है।

समाधान–तब निश्चय से अनेकेश्वर-वाद प्रसक्त होता है, जब विन्उन देवताओं का सत्त्व परमेश्वर से स्वतन्त्र एवं पृथक् रूप माना जाय!। सृष्टि आदि के समय में वे इन्द्रादिपदों के वाच्य-देव, उस उस विशिष्ट कार्यों में परमेश्वर से विनियुक्त हुए हैं, परन्तु उन का कुछ स्वातन्त्र्य नहीं है, क्योंकि-वे परमेश्वर की शक्ति से ही आविर्भूत हुए हैं, उस में ही अवस्थित हैं एवं उसमें ही विलीन हो जाते हैं, इस लिए वे सब परमेश्वर के अधीन हैं। वैसा बहुत-ऋचाएँ कहती हैं–'हे कवि–विशिष्ट-ज्ञान वाले देव! तुम्हारा वह महान् अच्छा प्रसिद्ध आश्रय है, उस-इन्द्र-परमात्मा में 'तुम सब देव आश्रित हैं।' इति। इस का यह अर्थ है–हे कवयः यानी विशिष्ट-ज्ञान से संयुक्त देव! तुम लोगों का वह महान् चारु-शोभन आश्रयण प्रसिद्ध है, क्योंकि-निश्चय से महान् परमात्मा-इन्द्र में तुम सब देव हैं, अर्थात् इन्द्र के आश्रित हैं। इति। 'वह परमात्मा देवों का तथा मनुष्यों का भी आत्मा है।' इति। यह परमात्मा देवादियों का आत्मा अर्थात् पारमार्थिक-स्वरूप है। 'देवों का यह आत्मा-परमेश्वर, भुवन-जगत् का गर्भ-सार है, समस्त विश्व, जिस प्रकार वश में हो उस प्रकार यह देव स्वतन्त्र-शासक रूप से वर्तता है।' इति। भवन यानी उत्पत्ति धर्म वाला-भूतभौतिक-नामरूप-प्रपञ्च, उसके मध्य में, यह

प्रपञ्चस्य मध्ये अयं देवानामात्मा गर्भः=समनुस्यूतः सारभूतोऽस्ति, अत एव एष देवो विश्वं वशं यथा स्यात्तथा स्वाधीनतया चरति स्वयं, अन्याँश्च सर्वान् स्वशक्त्या चालयतीत्यर्थः। 'महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् श्रयन्ते य उ के च देवाः वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥' (अथर्व. १०।७।३८) इति। भुवनस्य=चराचरस्य विश्वस्य मध्ये अस्ति किमपि शुद्धबुद्धिगम्यं महत्=बृहत्-पूर्णं, यक्षं=परमपूज्यं ब्रह्मतत्त्वम्। तत् तपसि=प्रकाशस्वरूपे, क्रान्तं=अवस्थितम्। यद्वा क्रान्तं=अतिक्रान्तं पूर्वादिदैशिकातीतादिकालिकमर्यादारहितं-अनवधिकप्रकाशपूर्णमिति यावत्। तदेव सलिलस्य=जलस्य, पृष्ठे=उपर्यपि, उपलक्षणमिदं, सर्वेभ्यो भूतेभ्यः परस्तादपि भ्राजमानं वर्तते। तस्मिन् ये उ के च देवाः, सर्वे श्रयन्ते=आश्रित्य वर्तन्ते। इव=यथा, वृक्षस्य स्कन्धः-स्कन्धं-परितः शाखाः श्रयन्ते, तद्वत् इति। 'विश्वे त इन्द्र! वीर्यं देवा अनु क्रतुं ददुः।' (ऋ. ८।६२।७) इति। हे इन्द्र!=परमेश्वर! ते=तव, वीर्यं=सामर्थ्यं-शक्तिं, क्रतुं=प्रज्ञां चैतन्यञ्च, अनु=अनुसृत्य त्वां, विश्वे=सर्वे, देवाः ददुः=दधुः-धारयन्ति। तव बलेन प्रज्ञया च तेऽपि बलिनः प्रज्ञावन्तश्च भवन्तीत्यर्थः। 'स देवान् विश्वान् बिभर्ति।' (ऋ. ३।६०।८) सः=परमात्मा, बिभर्ति=स्वस्वरूपतया स्वस्मिन्नेव धारयतीत्यर्थः। 'तेन

देवों का आत्मा, गर्भ यानी सम्यग् अनुस्यूत हुआ सार रूप है, इस लिए यह देव, जिस प्रकार विश्व वश हो, तिस प्रकार स्वाधीन-स्वतन्त्र रूप से स्वयं चलता है—और अन्य सभी को अपनी शक्ति से चलाता है—प्रेरणा करता है, यह अर्थ है। 'भुवन के मध्य में महान् यक्ष-पूज्य परमात्मा है, वह तप.—पूर्ण प्रकाश स्वरूप में स्थित है, तथा वह सलिलादि भूतों के ऊपर भी विराजमान है, जिस प्रकार शाखाएँ वृक्ष के स्कन्ध का आश्रय करती हैं, तिस प्रकार जो कुछ देव हैं, वे सब उसमें ही आश्रित रहते हैं।' इति। भुवन—चराचर विश्व, उसके मध्य में—शुद्ध-बुद्धि से जानने योग्य-महान्-बड़ा पूर्ण, परमपूज्य-यक्ष, ब्रह्मतत्त्व, कुछ भी-अवर्णनीय है ही। वह तप—प्रकाश स्वरूप में क्रान्त—अवस्थित है। यद्वा क्रान्त यानी जिस ने अतिक्रमण किया है, अर्थात् जो पूर्वादि देश की एवं अतीतादि काल की मर्यादा से रहित, अवधि रहित-प्रकाश से पूर्ण है। वही सलिल-जल के पृष्ठ-ऊपर में भी है, यह उपलक्षण है, समस्त पृथिव्यादि भूतों के आगे-ऊपर भी जो प्रकाशमान हुआ रहता है। उस में—जो कुछ देव हैं, वे सब *आश्रय करके रहते हैं। इव-जैसे, वृक्ष के स्कन्ध* का चारों तरफ से शाखाएँ आश्रय करती है, तद्वत् इति। 'हे इन्द्र! तेरे सामर्थ्य एवं प्रज्ञा को—तेरा अनुसरण करते हुए सभी देव—धारण करते हैं।' इति। हे इन्द्र-परमेश्वर! तेरे वीर्य-सामर्थ्य शक्ति का तथा क्रतु प्रज्ञा चैतन्य का तेरा अनुसरण करते हुए समस्त देव धारण करते है, अर्थात् तेरे बल से एवं प्रज्ञा से वे सब देव भी बलवान् प्रज्ञावान् होते हैं। 'वह परमेश्वर समस्त देवों को धारण करता है।' अर्थात् वह परमात्मा स्वस्वरूप से समस्त देवो को अपने-स्वरूप में ही धारण करता है। 'उस परमात्मा के द्वारा

देवा देवतामग्र आयंस्तेन रोहमायन्नुप मेध्यासः।' (वा. यजु. १३।५१) इति। तेन=परमेश्वरेण कृत्वा देवाः, देवतां=देवभावं-देवत्वं, अग्रे=पूर्वं, आयन्=प्राप्ता अभूवन्। तेन=परमात्मानुग्रहेणैव, मेध्यासः=परमपावनाः सन्तः, रोहं=रोहणीयं सर्वोत्तमस्थानं स्वर्गलक्षणं उपायन्=उपजग्मुः इत्यर्थः। 'यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्' (ऋ. य. १०।१२१।८) (वा. य. २७।२६) इति। 'ततो देवानां समवर्ततासुरेकः' (ऋ. १०।१२१।७) इति। असुः=प्राणभूतः प्रियतम आत्मा एकः समवर्तत इत्यर्थः। 'तव श्रिया सुदृशो देव! देवाः पुरु दधाना अमृतं सपन्तः।' (ऋ. ५।३।४) इति। हे देव!=महादेव! तव श्रिया=शोभया-सौन्दर्येण, सर्वे इमे देवाः सुदृशः=सुदर्शनीया अभूवन् इति शेषः। अत एव ते त्वयि भगवति, पुरु=अत्यधिकं दधानाः=परमस्नेहं धारयन्तो भक्तियुक्ताः सन्तः, अमृतं=कैवल्यं सपन्तः=स्पृशन्ति-परमानन्दलक्षणं धाम प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। इत्यादिभिर्भगवद्वेदमन्त्रैः सम्यग्विचारितैः स्पष्टमवगम्यते-यद्देवानामौपाधिकपार्थक्येऽपि नास्ति खलु वास्तविकं पार्थक्यम्। तस्मादेव हेतोस्ते परमेश्वरविभूतित्वेन समाख्यायन्ते। तथाच सकलदेवादिविश्वसत्त्वस्फुरणादेः परमात्मसत्त्वाद्यायत्ततया तस्मात्र ह्यन्यत्किमपि परमार्थतोऽवगतमस्तीत्ययं परमात्मनः सर्वानन्यत्वलक्षणः सुनिश्चितः सत्यसनातनार्यवैदिकराद्धान्तो विजयतेतराम्। यदाहुः पुष्पदन्ताचार्य्या महिम्नस्तवे-'न विद्मस्तत्तत्वं

ही प्रथम सब देव, देव-भाव को प्राप्त हुए हैं, उस से ही पवित्र हुए सर्वोत्तमस्थान को प्राप्त हो गये हैं।' अर्थात् उस परमेश्वर से-करके देव, देवता-देवत्व को प्रथम प्राप्त हुए हैं, उस परमेश्वर के अनुग्रह से ही मेध्य-परम पावन हुए रोहणीय-आरूढ होने योग्य-स्वर्गरूप-सर्वोत्तमस्थान को प्राप्त हो गये हैं। 'देवों में एक ही अधि-अधिक महान् देव था।' 'इस लिए देवों का प्राण-रूप-एक ही परमात्मा रहा था।' अर्थात् असु यानी प्राणरूप-प्रियतम एक आत्मा सम्यक् वर्तमान था।' 'हे देव! भगवन्! आप के ही सौन्दर्य से ये सब देव दर्शनीय-सुन्दर हुए हैं, इस लिए वे आप में अधिक प्रेम धारण करते हुए अमृत-को प्राप्त होते हैं।' इति। हे देव-महादेव! तेरी-श्री-शोभा-सौन्दर्य से सभी ये देव सम्यक् दर्शनीय हुए हैं, 'अभूवन्' ऐसा क्रियापद शेष है। इस लिए वे तुझ-भगवान् में पुरु यानी बहु-अति-अधिक-परम-स्नेह-प्रेम का धारण करते हुए-अर्थात् भक्तियुक्त हुए, अमृत कैवल्य का स्पर्श करते हैं, अर्थात् परमानन्दरूप धाम को प्राप्त हो जाते हैं। इत्यादि-भगवान् वेद के मन्त्रों से-जिन का सम्यक् विचार करने पर-स्पष्ट जाना जाता है-कि-देवों का उपाधि प्रयुक्त काल्पनिक पार्थक्य होने पर भी निश्चय से वास्तविक पार्थक्य नहीं है, इसी कारण से वे देव परमेश्वर की विभूतिरूप से कहे जाते हैं। तथा च देवादि-समस्त विश्व की सत्ता स्फूर्ति आदि, परमात्मा की सत्ता स्फूर्ति आदि के आधीन होने के कारण, उस परमेश्वर से अन्य कुछ भी परमार्थतः नहीं जाना जाता है, इस प्रकार इस परमात्मा का सर्वानन्यत्वरूप-सत्य-सनातन-आर्यों का वैदिक-सिद्धान्त-सम्यक् निश्चित हुआ अतिशय करके विजयी है। इस लिए पुष्पदन्ताचार्य महिम्नस्तोत्र में कहते हैं-'जो तू नहीं है,

वयमिह तु यत्त्वं न भवसि।' इति। अत एवातिधन्येन भगवता वेदेन एकेश्वरसिद्धान्त एव प्रतिपाद्यते, न त्वनेकेश्वरवादः कथमपि समर्थ्यते; तथापि पाश्चात्यपण्डितानामाशयदोषाद्वा विशिष्टसद्गुरुलाभाभावाद्वाऽनेकेश्वरवादो वेदेषु काचादिदोषदूषितनयनस्य शुक्तिकायां रजतमिव प्रतिभाति, तत्किल तेषां महाभ्रान्तिरेव इत्यलमधिकलेखनेन।

ऐसी कोई भी वस्तु हम यहाँ नहीं जानते हैं। अर्थात् तू ही सब कुछ है, ऐसा हम निश्चय से जानते हैं।' इति। अत एव अतिधन्य-भगवान् वेद के द्वारा एकेश्वर–सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया जाता है, किसी भी प्रकार से अनेकेश्वर वाद का समर्थन नहीं किया जाता है। तथापि-युरोप आदि के-पश्चिमी-पण्डितों को अपने हृदय के दोष से या विशिष्ट-सद्गुरु का लाभ नहीं होने से 'काचादि दोष से दूषित-नेत्र वाले मनुष्य को शुक्ति में रजत की भाँति' वेदों में अनेकेश्वर–वाद-प्रतिभासित होता है, वह निश्चय से उनकी महाभ्रान्ति ही है। ऐसा अधिक लेखन से बस है।

(४३)

(शत्रुविजयाय भगवत्प्रार्थना)

(शत्रुविजय के लिए भगवान् की प्रार्थना)

'कः शत्रुर्वद? खेददानकुशलो दुर्वासनानाश्रयः' (जगन्नाथपण्डितः) 'के शत्रवः सन्ति? (विषयासक्तानि) निजेन्द्रियाणि' (आचार्यशङ्करः) 'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥' (गी. ३।३७) इत्यादिभिर्वचनैरिमे आभ्यन्तराः सहजाः शत्रवो विज्ञायन्ते। बाह्याश्च ये खलु सत्यधर्मद्रोहिणः स्वदेशस्वातन्त्र्यादिविघातकाः प्रजापीडका अन्यायात्याचारपरायणा असुरा म्लेच्छाः सन्ति, तेषां समेषां शत्रूणामभिभवं, निखिलशक्तिनिधानस्य तव परमेश्व-

'कह, शत्रु कौन है? दुर्वासनाओं का सञ्चय ही, खेद-सन्ताप देने में कुशल-निपुण शत्रु है।' 'शत्रु कौन है? विषयों में आसक्त अपनी इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं।' 'रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह ही महाअशन अर्थात् अग्नि के सदृश भोगों से तृप्त न होने वाला-अनल और बड़ा पापी है, इस विषय में इस को ही तू वैरी-दुश्मन जान।' इत्यादि वचनों से ये भीतर रहने वाले सहज–शरीर के साथ उत्पन्न होने वाले-शत्रु जाने जाते हैं। तथा निश्चय से जो–सत्य-सनातन धर्म के द्रोही हैं, एवं स्वदेश की स्वतन्त्रता आदि के विघातक, प्रजा को पीड़ा देने वाले, अन्याय-अत्याचार के परायण हुए–असुर-म्लेच्छ हैं, वे बाहर के शत्रु हैं, उन सभी बाहर-भीतर के शत्रुओं के अभिभव की–तथा निखिल दिव्य शक्तियों के भण्डार-तुझ-परमेश्वर के परिपुष्ट-सहाय से हमारे

रस परिपुष्टसाहाय्येनास्माकं विजयश्च त्वयि भगवति दृढबद्धसौहृदास्तावका वयमभिलषामः, इति भगवन्तं प्रार्थयमाना आहुः—

विजय की—तुझ भगवान् में बँधी हुई-दृढ प्रीति वाले तेरे हम—अभिलाषा करते हैं, ऐसी भगवान् की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

ॐ त्वयेदिन्द्र! युजा वयं प्रतिब्रुवीमहि स्पृधः।
त्वमस्माकं तव स्मसि॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्त. ९२ ऋक्. ३२)

'हे इन्द्र! परमेश्वर! तुझ-भगवान् की सहायता से स्पर्धा करने वाले इन समस्त-बाहर एवं भीतर के शत्रुओं का हम निराकरण करते हैं, क्योंकि-तू हमारा है, और हम तेरे हैं।'

हे इन्द्र! हे अखिलेश्वर! त्वयेत्=इत्—अवधारणे, त्वयैव युजा=सहायेन, स्पृधः=स्पर्धमानान्—बाह्यानान्तरान् सर्वानपि शत्रून् वयं प्रतिब्रुवीमहि=निराकुर्वीमहि। प्रतिवचनं—निराकरणम्। एवं पूर्वार्धेन शत्रुविजयं प्रार्थ्योत्तरार्धेन साहाय्यसमर्पणे प्रयोजकं सम्बन्धविशेषं दर्शयति—हे इन्द्र! त्वमस्माकं भवसि स्तुत्यस्तोतृयष्टृयष्टव्योपास्योपासकज्ञातृज्ञेयतया त्वमस्माकमसीत्यर्थः। अतो वयं तव स्मसि=त्वदेकशरणा भवामः। यद्वा यतस्त्वमस्माकमात्मा—स्वस्वरूपमसि, अतो वयं तव स्मसि=त्वदेकात्मतापन्नाः स्म इत्यर्थः॥ तथा चारण्यके—'त्वमिदं सर्वमसि, तव वयं स्मः, त्वमस्माकमसी'ति। त्वत्साचिव्य सहायेन शत्रून् हन्यामो विजयं स्वश्रेयश्च लभेमहीति।

हे इन्द्र—हे अखिलेश्वर! इत् यानी एव-अवधारण-ही। सहाय-शक्ति रूप तेरे द्वारा ही, स्पर्धा करने वाले बाहर के-एवं भीतर के समस्त शत्रुओं का हम निराकरण करते हैं। 'प्रतिब्रुवीमहि' पद में स्थित प्रतिवचन का निराकरण-दूर भगाना अर्थ है। इस प्रकार पूर्वार्ध से शत्रुविजय की प्रार्थना करके उत्तरार्ध से सहाय के समर्पण में प्रयोजक सम्बन्ध विशेष दिखाते हैं—हे इन्द्र! तू हमारा है, अर्थात् हम तेरे स्तोता-स्तुति—करने वाले, यष्टा-यजन-आराधना करने वाले, उपासक एवं ज्ञाता हैं, और तू हमारा स्तुत्य—यष्टव्य-उपास्य एवं ज्ञेय है। इस लिए हम तेरे हैं—तेरे ही एक-मात्र शरण होते हैं। यद्वा—अथवा जिस कारण से तू हमारा आत्मा-स्वस्वरूप है, इस लिए हम तेरे हैं अर्थात् तेरे ही एक मात्र-आत्म भाव को प्राप्त हुए हैं। तथा च आरण्यक-श्रुति भी कहती है—'तू ही यह सर्व है, तेरे ही हम हैं, तू हमारा है।' इति। इस लिए तेरी सहाय-शक्ति से हम शत्रुओं का हनन करें, तथा विजय एवं अपने श्रेय को प्राप्त हों। इति।

(४४)

(अनेकदेवरूपे तस्मिन्नेकस्मिन् परब्रह्मण्येव सर्वाः चित्तवृत्तयः स्थिरीकर्तव्याः)

(अनेक देव रूप-उस एक अद्वैत-परब्रह्म में ही चित्त की समस्त वृत्तियों को स्थिर करना चाहिए)

एक एवाद्वैतो निर्विशेषो निराधारो निराकारो निरवद्यो निरञ्जनः शान्तोऽखण्डानन्दैकरसः परमात्मा–'एकः सन् बहुधा विचारः' (तै. आ. ३।११) 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ. ६।४७।१८) (बृ. २। ५।१९) 'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति सप्तधा भवति नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः' (छां. ७।२६।२) 'एकधा च द्विधा चैव बहुधा च स एव हि। शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रशः॥' (म. भा. अनु. प. १६०।४३) 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥' (गी. ९।१५) 'बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया।' (भा. २।९।२) 'नित्यः सर्वगतोऽप्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न तु तत्त्वतः॥' इति श्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रवचनप्रामाण्यात् मायाकल्पितैः समष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिभिः 'विराट् हिरण्यगर्भ ईश्वरः' इति, व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिभिः 'विश्वतैजसः प्राज्ञः' इति, गुणत्रयोपाधितो 'ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरः' इति अवान्तरगुणादिकृतोपाधिभिः 'देवाः पितरः ऋषयो मनुष्याः तिर्यञ्चः' इति चारोपितनामरूपाण्यनुकुर्वन्नानेव प्रतीयते, इति वि-

एक ही अद्वैत, निर्विशेष (जाति-गुण-क्रियादि प्रयुक्त विशेषों से रहित) निराधार (आधार-रहित) निराकार, निरवद्य-निर्दोष, निरञ्जन, शान्त, अखण्ड-आनन्द-एकरस, परमात्मा–'एक हुआ भी वह बहु रूपों से विचरण करता है।' 'इन्द्र-परमात्मा माया के द्वारा बहु-रूप हुआ प्रतीत होता है।' 'वह एक-प्रकार से होता है, तीन-प्रकार से होता है, पंच-प्रकार से सप्त-प्रकार से होता है, नव-प्रकार से होता है, फिर वह एकादश रूप हुआ स्मृत-ज्ञात होता है।' 'निश्चय से एक-रूप से, दो रूप से, तथा बहु-रूप से भी वह ही है। शत-सैंकड़ों प्रकार के सहस्र-हजारों प्रकार के, तथा शत-सहस्र प्रकारों के रूपों से भी वही ही है।' 'मुझ विराट् स्वरूप परमात्मा को ज्ञान-यज्ञ के द्वारा यजन-पूजन करते हुए, एकत्व-भाव से अर्थात् जो कुछ है सब वासुदेव ही है, इस-अद्वैत भाव से उपासते हैं, और दूसरे लोग पृथक्त्व-भाव से अर्थात् स्वामी सेवक-पिता-पुत्रादि भाव से और कोई कोई बहुत प्रकार से भी उपासते हैं।' 'वह परमात्मा बहु रूप वाली-अनिर्वचनीय माया से बहु रूप हुआ-सा प्रतीत होता है।' 'नित्य-सर्वगत-भी आत्मा–जो कूटस्थ-दोषवर्जित है, वह एक-अद्वैत हुआ माया-भ्रान्ति से भिन्न(-सा प्रतीत)होता है, वस्तुतः भिन्न नहीं होता।' इन श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रवचनों के प्रामाण्य से, माया-कल्पित-समष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण-रूप उपाधियों के द्वारा विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर ऐसे, तथा व्यष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण रूप उपाधियों के द्वारा विश्व, तैजस, प्राज्ञ, ऐसे, तथा तीन गुणों की उपाधि से ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, ऐसे तथा अवान्तर गुण-क्रियादि-कृत-उपाधियों के द्वारा देव, पितर, ऋषि, मनुष्य, तिर्यक्-सर्पादि, ऐसे आरोपित-नाम एवं रूपों का अनुकरण करता हुआ–अनेक-सा प्रतीत होता है। ऐसा

निश्चित्य मुमुक्षुभिः परमानन्दार्थिभिः सर्ववेदवेदान्तप्रसिद्धं सच्चिदानन्दैकरसं सर्वात्मकं सर्वदेवमयं ब्रह्मैव–अविद्याकल्पितनामरूपभेदमगृहीत्वा–सर्वत्र बहिरन्तः सदा परमप्रेममयीभिः स्थिरबुद्धिवृत्तिभिश्चिन्तनीयम्। यतस्तस्य श्रद्धाप्रेमैकाग्र्यसमुपेताच्चिन्तनाभ्यासयोगादेव ज्ञानविज्ञानसम्पन्ना बहवो ब्रह्मनिष्ठा महर्षयो नित्यं निरतिशयं साधनानपेक्षमक्षय्यमनुत्तममनुपममात्मभूतमात्मैकवेद्यं ब्राह्मं सुखमानशिरे; तथैव तस्मात्तद्युष्माकमपि प्राप्तं भविष्यतीति बोधयितुं ब्रह्मनिष्ठहृदयानुभववर्णनमुखेन तद्बुद्धिवृत्तिनिष्ठाः प्रकटयति—

विशेष रूप से–दृढ़ निश्चय कर के परमानन्दार्थी-मुमुक्षुओं को—समस्त वेद-वेदान्त-में प्रसिद्ध, सच्चिदानन्द-एक-रस-सर्वात्मा-सर्वदेवमय-ब्रह्म का ही–अविद्याकल्पित-नाम रूपों के भेद का ग्रहण न करके, सर्वत्र-बाहर भीतर सदा, परम-प्रेम प्रचुर-स्थिर-एकाग्र-शुद्ध बुद्धि–वृत्तियों के द्वारा–चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि-उस परमात्मा का श्रद्धा-प्रेम-एकाग्रता सहित-चिन्तन के-दृढ़ अभ्यास योग से ही ज्ञान एवं विज्ञान-अनुभव से सम्पन्न-बहु-ब्रह्मनिष्ठ-महर्षि, नित्य-निरतिशय–साधनों की अपेक्षा से रहित-अर्थात् स्वतःसिद्ध-अक्षय्य-सर्वोत्तम-उपमा-रहित—आत्मरूप—एकमात्र-स्वसंवेद्य-ब्रह्म-सुख को प्राप्त हो गये हैं। तिस प्रकार उस-चिन्तनाभ्यास योग से ही वह ब्रह्मसुख तुम को भी प्राप्त होगा, ऐसा बोधन करने के लिए ब्रह्मनिष्ठों के हृदयों के अनुभवों के वर्णन द्वारा उन की बुद्धि-वृत्तियों की निष्ठा भगवान् वेद प्रकट करता है—

ॐ क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो, वेनन्ति वेनाः पतयन्त्यादिशः।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो, देवेषु मे अधि कामा अयंसत॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ६४ ऋक्. २)

'हम ब्रह्मवेत्ताओं के हृदयों में स्थापन करने योग्य या अवस्थित, सभी संकल्प, या वृत्तियाँ, एकमात्र विश्व-रूप पूर्ण-परमात्मा का ही चिन्तन करती हुई उनमें ही तन्मय होना चाहती हैं। तथा प्रेममयी-समस्त-अभिलाषाएँ उसी ही आनन्द-पूर्ण की चाहना करती हैं, तथा उसकी ही मंगल-मय प्रमोदभरी-सभी सद्भाव-पूर्ण-प्रेरणाएँ हमारे शुद्ध-हृदयों में आती रहती हैं। क्योंकि–उनसे अन्य कोई भी पदार्थ सुख-कारी नहीं है, अर्थात् वे ही एक मात्र पूर्ण-सुख-सिन्धु हैं, इस लिए उन्हींमें ही हमारी निखिल-कामनाएँ संलग्न-या विलीन हो गई हैं।'

विवेकादिसाधनसम्पन्नानामस्माकं ब्रह्मविदां हृत्सु=हृदयेषु, धीतयः=निधातव्याः–स्थापनार्हा निहिता वा क्रतवः=सर्वे संकल्पाः, बुद्धिवृत्तयो वा, क्रतूयन्ति=परमात्मानमेवैकमनेकरूपं सर्वदा चिन्तयितुमिच्छन्ति।

विवेकादि साधनों से सम्पन्न-हम ब्रह्मवेत्ताओं के हृदयों में स्थापन करने योग्य या निहित-अवस्थित सभी क्रतु-संकल्प या बुद्धिवृत्तियाँ माया से अनेक रूप हुए-एक ही-अद्वैत परमात्मा का सदा चिन्तन करना चाहती हैं। यद्वा सदा निरन्तर ध्यान-योग के

यद्वा क्रतूयन्ति=नित्यनिरन्तरध्यानेन ध्यातुर्ध्येयस्वरूपापत्तिमभिलपन्तीत्यर्थः । तथा वेनाः=कान्ताः–अनन्यप्रेमरसपूर्णाः संसारवासनाकृतान्यभावं परित्यज्य तदेकभावरूपावस्थितिविपयिण्यः सर्वा इच्छाः, इत्यर्थः। तदेव प्रत्यग्ज्योतिःस्वरूपमानन्दपूर्णं सौन्दर्यसारसर्वस्वमजस्रं वेनन्ति=कामयन्ते । वेनतिः कान्तिकर्मा इति यास्कः । कान्तिरिहेच्छा । तथा दिशः=अस्माभिर्निर्दिश्यमानाः–प्रेर्यमाणाः–शान्तितृप्तिपुष्टिसमुपेता मङ्गलमयाः प्रमोदविशेपाः सद्भावाः परमानन्दात्मकफलावाप्तये रागद्वेपादिदोपैर्निःशेपवियुक्तेपु निर्मलेष्वस्मद्धृदयेपु आपतयन्ति=आगच्छन्ति । एवं ब्रह्मवित्स्वान्तवृत्तिनिष्ठाः प्रतिपाद्येदानीं योऽसौ चिन्त्यमानः काम्यमानः प्रत्यक्स्वरूपो देव एवैकः सुखकरो विद्यते, नान्यपदार्थः कश्चनापीति प्रतिपादयितुमाह–एभ्यः=देवेभ्यः–आनन्त्यसार्वात्म्यद्योतनाय बहुवचनं–अस्माद्देवादित्यर्थः। अन्यः कश्चनापि देहेन्द्रियाद्यनात्मभूतः पदार्थः । मर्डिता=सुखयिता–सुखकरो न विद्यते । प्रत्यगभिन्नब्रह्मात्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्यापि पदार्थस्य मायिकत्वेन तुच्छत्वात्, सोपद्रवत्वात् दुःखबीजत्वात्, मिथ्यात्वाच्च सुखकरत्वं न सम्भवतीति भावः । यत एवमतः, देवेष्वधि=अधिशब्दः सप्तम्यर्थद्योतकः, तस्मिन् सर्वात्मके पूर्णानन्तेऽपारे परब्रह्मणि देवदेवे, मे=मदीयाः सर्वे कामाः,

द्वारा ध्याता की ध्येयस्वरूप की प्राप्ति की अभिलापा करती हैं, अर्थात् यह ध्यान-कर्ता साधक-ध्येयस्वरूप-पूर्ण-ब्रह्म ही बन जाय, ऐसी चाहना करती हैं। तथा वेन यानी कान्त–अनन्य-प्रेम-भक्ति-रस पूर्ण, अर्थात् संसार की रागद्वेषमयी वासना से किये गए–अन्य भावों का परित्याग करके–उस-परमात्मा के ही एक-भाव रूप की अवस्थिति को विषय करने वाली समस्त इच्छाएँ, उसी ही प्रत्यग्-ज्योतिस्वरूप-आनन्दपूर्ण-सौन्दर्य-सार-सर्वस्व-परमात्मा की निरन्तर कामना करती हैं। 'वेन' धातु कान्ति कर्म-क्रिया वाला है, ऐसा यास्क निरुक्त में कहता है। यहाँ कान्ति का इच्छा अर्थ है। तथा दिशः यानी हमारे द्वारा निर्दिश्यमान–प्रेरणा करने योग्य–शान्ति-तृप्ति-पुष्टि से संयुक्त, मंगलमय-प्रमोद विशेप रूप–सद्भाव, परमानन्द रूप-फल-प्राप्ति के लिए, राग द्वेपादि-दोपो से नि.शेप-सम्पूर्ण तया वियुक्त-रहित, हमारे-शुद्ध हृदयों में आते-रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताओं के हृदय की वृत्तियों की निष्ठा-स्थिति का प्रतिपादन करके अब–जो यह चिन्तन करने योग्य-चाहने-योग्य–प्रत्यगात्मा-रूप देव है, वही एक सुखकर-शङ्कर है अन्य कोई भी पदार्थ सुखकर नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करने के लिए कहते हैं—इन देव से, उसमें बहु-वचन उसके अनन्तत्व एवं सर्वात्मत्व के द्योतन के लिए है, अर्थात् इस देव से, अन्य कोई भी देह-इन्द्रियादि अनात्मरूप पदार्थ, मृड-सुख-कारी नहीं है। प्रत्यगभिन्न-ब्रह्मात्मा से व्यतिरिक्त-समस्त पदार्थ मायिक होने से तुच्छ हैं, उपद्रव-संताप से संयुक्त हैं, दुःख के ही कारण हैं, मिथ्या हैं, इसलिए वे कदापि सुख-कर नहीं हो सकते हैं, यह भाव है। जिस कारण से ऐसा है, इस लिए–उस सर्वात्मा पूर्ण-अनन्त-अपार-परब्रह्म-देव-देव में–अधि शब्द सप्तमी-विभक्ति के आधाररूप

नामरूपाद्यन्यचिन्तनं परित्यज्य चित्सुख-भावापन्नाः समुद्रप्रविष्टमहानदीजलानि स-मुद्रभावमिवाध्यात्मतत्त्वदृष्ट्या, अयंसत= नियम्यन्ते–प्रविलाप्यन्त इत्यर्थः । (य-च्छतेः कर्मणि लुङि रूपम्) इदमत्राकूतं–कूटस्थादात्मनो महादेवात् सर्वस्य विश्वस्यो-त्पत्तिस्तत्रैव च लय इति निखिलश्रुतिस्मृ-तिप्रसिद्धम् । तेनात्मदेवप्रभवानां सर्वेषां कामानां तत्रैव नियमनं श्रूयमाणं बहुप्र-माणविरोधान्न तेषां परमार्थतः पृथक्सत्त्वं साधयति, किन्त्वापामरप्रसिद्धं तेषां पृथक्-सत्त्वमभिप्रेत्य यथा 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ. ४।४।१९) इति श्रुत्या–इह=अस्मिन् परिदृश्यमाने प्रपञ्चे नाना=भिन्नं–ब्रह्मा-त्मातिरिक्तं–पृथक्–सत्त्वं किमपि नास्तीत्ये-वमप्यर्थबोधनपरया–आत्मनि कल्पितस्य प्रपञ्चस्य, तत्रैव निषेधेनान्यत्र सत्त्वस्य पृथ-क्सत्त्वस्य चानुपपत्तिर्बोध्यते । तथैवानया श्रुत्यापि कामानां प्रविलापनार्थकनियमन-बोधनमुखेन तेषां पृथक्सत्त्वं नास्तीति विज्ञा-प्यते । तथा च 'आत्मैवेदꣳ सर्वम्' (छां. ७।२५।२) 'ब्रह्मैवेदꣳ सर्वम्' (मु. २।२।११) 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रवि-

अर्थ का द्योतक है,–मेरी समस्त-कामनाएँ–अन्य-मिथ्या नामरूपादि के चिन्तन का परित्याग करके चित्सुख ब्रह्म-भाव को प्राप्त हुईं–'समुद्र में प्रविष्ट महानदियों के जलों के समुद्र-भाव की भाँति' अध्या-त्मतत्त्व की दिव्य-दृष्टि द्वारा नियमित-प्रविलापित की जाती हैं। इति। यह यहाँ आकूत–तात्पर्य है–कूटस्थ-महादेव-आत्मा से ही समस्त चराचर विश्व की उत्पत्ति, एवं उसमें ही सब का लय होता है, ऐसा श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इससे आत्मदेव से समुत्पन्न-समस्त-कामों का उस में ही नियमन–जो सुनने में आता है–वह, बहु प्रमाणों का विरोध होने से उनका पारमार्थिक–पृथक् सत्त्व को सिद्ध नहीं करता है, किन्तु उनका पृथक् सत्त्व, पामर-मूढ-मनुष्यपर्यन्त प्रसिद्ध है, इस लिए वह श्रुति तात्पर्य का विषय नहीं हो सकता है, ऐसा अभिप्राय रख कर–जिस प्रकार 'इस में नाना-भिन्न कुछ भी नहीं है' इस श्रुति से–अर्थात् इस परिदृश्यमान-प्रपञ्च में नाना यानी भिन्न–ब्रह्मात्मा से अतिरिक्त–पृथक्-सत्त्व कुछ भी नहीं है' इस प्रकार के भी अर्थ बोधन करने वाली–श्रुति से–आत्मा में कल्पित-प्रपञ्च का उस में ही निषेध-विलय करने से अन्यत्र सत्ता की एवं पृथक् सत्ता की अनुपपत्ति-असंभव का बोधन किया जाता है। तिस प्रकार इस प्रकृत श्रुति से भी कामों के प्रविलापन अर्थ वाले-नियमन के बोधन द्वारा उन की पृथक्–व्यतिरिक्त सत्ता नहीं है, ऐसा विज्ञापन किया जाता है । तथा च 'आत्मा ही यह सर्व-विश्व है' 'ब्रह्म ही यह सर्व है, अर्थात् ब्रह्मात्मा से पृथक् इसकी कुछ भी सत्ता-स्फूर्ति नहीं है।' 'जैसे सब ओर से परिपूर्ण-अचल-प्रतिष्ठा वाले-समुद्र के प्रति अनेक नदियों के जल-उस को चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिर-बुद्धि वाले-ब्रह्म-रूप-पुरुष के प्रति

शन्ति यद्वत् । तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥' (गी. २।७०) इत्यादयः श्रुतिस्मृतिवादाः संगच्छन्ते । कार्ये कारणसत्ताऽतिरिक्तसत्ताया अभावात् युक्तियुक्तश्चैतदित्यन्यत्र विस्तरः ।

अपि च श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठानां तेषां महात्मनां पावनमसाधारणं स्वरूपमभिवर्णयन्नन्यो निगमोऽप्याह—'ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः । विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥' (ऋ. १०।६७।२) इति । अयमर्थः—ऋतं=सत्यं—त्रिकालाबाध्यं परमात्मस्वरूपं मुमुक्षुभ्यो जिज्ञासुभ्यः समादरेण 'तत्त्वमसि' (छां. ६।८।७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. २।५।१९) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां. ३।१४।१) इत्यादिश्रुतिवाक्यैः शंसन्तः=उपदिशन्तः । अपि च स्वयं ऋजु=अकुटिलं—मायाख्यकौटिल्यरहितं शुद्धं—निरञ्जनं कल्याणं ब्रह्मतत्त्वं दीध्यानाः=सततं ध्यायमानाः सन्तो वर्तन्ते । पुनः कीदृशास्ते महात्मानः ? इत्यत आह—दिवः=द्योतनवतः सदा दीप्तस्य, असुरस्य=प्रज्ञावतः सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य, पुत्रासः=पुत्रवत्प्रियतमाः, तद्वत् योगक्षेमाभ्यां परमेश्वरपरिपाल्या वा । पुनः कथंभूताः ? वीराः=विविधानां शास्त्रीयाणा-

सम्पूर्ण कामनाएँ-किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये विना ही समा जाती हैं, वह तत्ववेत्ता-महा पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, न कि-कामभोगों को चाहने वाला ।' इत्यादि-श्रुति स्मृतियों के वाद-कथन सम्यक् उपपन्न हो जाते हैं। क्योंकि, कार्य में कारण की सत्ता से अतिरिक्त-सत्ता का अभाव है, और यह युक्तियुक्त भी है, ऐसा अन्य-आकर-ग्रन्थो में विस्तार है।

और श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-उन महात्माओं के पावन-असाधारण-स्वरूप का अभिवर्णन करता हुआ अन्य निगम-मन्त्र भी कहता है—'स्वयंप्रकाश-सर्वज्ञ-परमेश्वर के पुत्र की भाँति प्रियतम, विविधशास्त्रों के वक्ता, मेधावी वीर-दृढव्रत महात्मा, प्रत्यगात्म-स्वरूप को प्राप्त हुए-वे जिज्ञासुओ को सत्यतत्त्व का उपदेश देते हैं, और स्वय शुद्ध-निरञ्जन कल्याण-ब्रह्म का ध्यान करते रहते हैं। वे ज्ञान-यज्ञ के फल-रूप-मुख्य-कैवल्य-धाम को जीवितदशा में अपरोक्ष रूप से जानते हुए-पश्चात् विदेहदशा में विप्र-सर्वगत-पूर्ण-अद्वैत पद को स्वस्वरूप से धारण कर लेते हैं।' इति। इस का यह अर्थ है—ऋत-सत्य त्रिकाल में भी बाध रहित-परमात्म-स्वरूप का मुमुक्षु-जिज्ञासुओं के प्रति-सम्यक् आदर पूर्वक—'वह तू है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' 'निश्चय से सब कुछ ब्रह्म है' इत्यादि-श्रुति वाक्यों के द्वारा-शसन-उपदेश करते हैं । और स्वयं, ऋजु यानी अकुटिल—माया नाम के कौटिल्य से रहित, शुद्ध-निरञ्जन कल्याण-ब्रह्मतत्त्व का सतत-निरन्तर ध्यान करते हुए वर्तते है। फिर कैसे है वे महात्मा ? यह कहते हैं—दिव् यानी द्योतन-प्रकाश युक्त-सदा दीप्त, असुर यानी प्रज्ञावान्—सर्वज्ञ-सर्वेश्वर के 'पुत्र की भाँति' प्रियतम हैं, या पुत्र की भाँति योग-क्षेम द्वारा परमेश्वर से-लालन पालन करने योग्य है। फिर किस प्रकार के हैं वे ? वीर यानी विविध—श्रुत्यादि—शास्त्रों के

मर्थानां वक्तारः, मेधावित्वात् सकलशास्त्रविक्रान्तप्रज्ञत्वाच्च । एतेन तेषां 'आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि । यस्त्वाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥' इति श्लोकोक्तं श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वलक्षणमाचार्यत्वं सूचितम् । पुनः कीदृशाः ? अङ्गिरसः=सकलदेहाद्यङ्गरसभूतप्रत्यगात्मभावमापन्ना इत्यर्थः । 'तं वा एतं अङ्गरसं सन्तं अङ्गिरा इत्याचक्षते ।' (गो. ब्रा. ५।१७) 'रसो वै सः' (तै. २।७) इति च श्रुतेः । आह च यास्कः—'बहुरूपा ऋषयस्ते गम्भीरकर्माणो वा गम्भीरप्रज्ञा वा ते अङ्गिरसः' (११।१७) इति । बहुरूपाः=नानालक्षणाः जटिनो मुण्डिनः शिखिन इति यावत् । ऋषयः=अवितथस्य प्रत्यगभिन्नस्य ब्रह्मणो द्रष्टारः—अभेदेनानुभवितारः । गंभीरकर्माणः=सर्वजनासुलभगुह्यतमब्रह्मध्यानपरायणाः । गम्भीरप्रज्ञाः=गम्भीरपदार्थो हि वेदस्तत्र निष्णातबुद्धय इत्यर्थः । त एवैतल्लक्षणा अङ्गिरसो वेदितव्याः । अतस्ते यज्ञस्य=प्रशस्ततमस्य ज्ञानयज्ञस्य 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परन्तप ! ॥' (४।३३) इति गीतास्मरणात्, प्रथमं=मुख्यं-अनावृत्तिलक्षणं कैवल्यं, धाम=स्थानं जीवन्मुक्तिदशायां मनन्त=विजानन्तः, विभ्रं पदं=विप्राप्तं—सर्वतः—प्राप्तं, यद्वा

अर्थों के वक्ता हैं, क्योंकि वे मेधावी हैं, इस लिए उन्हों की सकल शास्त्रों में विक्रान्त-निष्णात प्रज्ञा है। इस कथन से उन्हों का—'जो शास्त्रार्थों का अपने हृदय में संचय-संग्रह करता है, अन्यों को भी आचार में स्थापन करता है, और स्वयं उस का आचरण करता है, इस लिए वह महात्मा आचार्य कहा जाता है।' इस श्लोक में कहा गया—श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्व रूप-आचार्यत्व सूचित किया गया। पुनः वे कैसे हैं ? अङ्गिरस हैं अर्थात्-सकल देहादि के—अङ्गरस-साररूप-प्रत्यगात्म-भाव को प्राप्त हो गये हैं। 'अङ्गों का रस-सार रूप हुए—उस-इस आत्मा को 'अङ्गिरा' ऐसा कहते हैं।' 'निश्चय से वह रस-रूप है' इस श्रुति से भी यही जाना जाता है । यास्क-ऋषि भी निरुक्त में कहता है—'बहु-रूप-वेष वाले, गम्भीर-कर्म वाले—या गम्भीर-प्रज्ञा-वाले, जो ऋषि हैं, वे ही अङ्गिरस हैं।' इति बहु रूप यानी अनेक लक्षण वाले—अर्थात्-जटा-वाले, मुण्डी, एवं शिखा से संयुक्त। ऋषि यानी प्रत्यगभिन्न-अवितथ-सत्य-ब्रह्म के द्रष्टा-अभेद-भाव से अनुभव करने वाले । गम्भीरकर्मा यानी सर्व जन के लिए जो सुलभ नहीं है—ऐसा अति गोप्य-जो ब्रह्म-ध्यान है, उस कर्म के परायण रहने वाले। गम्भीर प्रज्ञा यानी गम्भीर रहस्यमय पदार्थ वेद है, उस में निष्णात-पारंगत बुद्धि वाले। वे इस प्रकार के लक्षणों वाले ऋषि अङ्गिरस जानने चाहिए। इस लिए वे प्रशस्ततम-ज्ञान-यज्ञ का अर्थात् उस से प्राप्य प्रथम-मुख्य अनावृत्ति-लक्षण-वाला कैवल्य-धाम स्थान को जीवन्मुक्ति दशा में विशेष रूप से जानते हैं—अनुभव करते हैं। 'हे शत्रुतापन—अर्जुन ! सांसारिक-वस्तुओं से सिद्ध होने वाले—यज्ञ से ज्ञान-रूप यज्ञ, सब प्रकार से श्रेष्ठ है।' ऐसा गीता में भगवान् ने ज्ञान को श्रेष्ठ यज्ञ रूप से स्मरण किया है । विशेष रूप से अपरोक्षतः सर्व तरफ से

यत्पुरातनैः विप्रैः प्राप्तं पदं तत् दधानाः धारयन्तः-विदेहावस्थायां धारयन्ति अभ्याश्नुवते इत्यर्थः। 'ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।' (मुं. ३।२।५) इति श्रुतेः।

प्राप्त पद-धाम विप्रपद है। या जो पुरातन-विप्र-ब्रह्मनिष्ठ-ब्राह्मणों से प्राप्त किया हुआ पद है, उसको वे विदेह-अवस्था में धारण कर लेते हैं, अर्थात्-समन्ततः प्राप्त कर लेते हैं। 'वे धीर-निर्विकार-योगयुक्त-मन वाले, सर्व-तरफ से सर्वगत-पूर्ण-स्वरूप को प्राप्त कर के सर्व में ही समा जाते हैं।' इस मुण्डक श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। इति।

(४५)

(प्रशस्ततमविद्याधनलाभाय परमेश्वरप्रार्थनम्)

(अतिप्रशस्त-विद्याधन का लाभ के लिए परमेश्वर की प्रार्थना)

'विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्' (नीतिवचनम्) 'किं मित्रं? सततोपकाररसिकस्तत्त्वावबोधः सखे!' (जगन्नाथः) 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' (ईशा. ११) (मनु. १२।१०४) 'विद्यया च विमुच्यते' (म. भा. शां. प. २४३।७) 'विद्या या सा विमुक्तये' (वि. पु. १।१९।४१) 'नास्ति विद्यासमं चक्षुः, नास्ति विद्यासमं बल (फल) म्।' (म. भा. शां. प. २७८।३६) 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' (गी. ४।३८) ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।' (गी. ४।३९) इत्यादिभिः सद्वचनैरवगम्यते, यत् 'कृतकृत्यतायाः परमायाः पवित्रतायाः तुष्टेः शान्तेः तृप्तेश्च सम्पादकं साक्षाद्विमोक्षकारणं ब्रह्मात्मविद्यैव महत्प्रशस्ततमं धनमस्तीति।' अतो मुमुक्षुभिर्महता प्रयासेनापि तत्सम्पाद्यम्। परन्तु तद्धनं

'समस्त धनों में विद्याधन ही प्रधान धन है' 'मित्र कौन है? निरन्तर-उपकार-हित करने में रसिक, तत्त्व का विज्ञान ही है सखे! सच्चा मित्र है।' 'विद्या से अमृत-मोक्ष प्राप्त करता है।' 'विद्या से विमुक्त हो जाता है।' 'वह विद्या है, जो विमुक्ति के लिए हो, अर्थात् संसारबन्धन से विमुक्ति देने वाली ही सच्ची विद्या है।' 'विद्या के समान-प्रकाशक-नेत्र और कोई नहीं है, और विद्या के समान बल-शक्ति या फल-लाभ भी कोई और नहीं है।' 'इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निश्चय से कुछ भी नहीं है अर्थात् ज्ञान ही पवित्र करने वाला है।' 'ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्ति रूप-परम शान्ति को वह प्राप्त हो जाता है।' इत्यादि सद्वचनों के द्वारा यह--जाना जाता है कि--कृतकृत्यता का परम-सुन्दर पवित्रता का, तुष्टि का, शान्ति का एवं तृप्ति का सम्पादन कराने वाला, साक्षात् विमोक्ष का कारण, ब्रह्मात्मविद्या ही महान् अति प्रशस्त-शाश्वत धन है। इति। इस लिए मुमुक्षुओं को वह धन बड़े परिश्रम से भी सम्पादन करना चाहिए। परन्तु

कोऽवाप्तुं शक्नुयात्? यः खलु निर्विकारस्थिरप्रज्ञो विवेकविचारशीलो धीरो वीरः स्यात्, स एव तदवाप्य कृतकृत्यो भवति, नान्यः। अत एव तादृश्या योग्यतायाः, तद्धनस्य चावाप्तये सर्वविद्यानिधिं परमकरुणापाथोनिधिममितबलतेजःशक्तिसम्पन्नं जगद्गुरुं परमेश्वरं प्रार्थनयाऽनुकूलयति—

उस धन को कौन प्राप्त करने के लिए समर्थ-शक्तिमान् हो सकता है? निश्चय से जो निर्विकार-स्थिर प्रज्ञा-बुद्धि वाला-विवेकविचारशील-धीर-वीर हो, वही योग्य-साधक उस धन को प्राप्त कर के कृतकृत्य हो जाता है, अन्य नहीं। इस लिए उस प्रकार की योग्यता की तथा उस धन की प्राप्ति के लिए सर्व विद्यानिधि-परम कृपासागर—अपार तेज-बल-शक्ति-सम्पन्न-जगद्गुरु परमेश्वर को प्रार्थना के द्वारा अनुकूल-प्रसन्न करते हैं—

ॐ यद्वीळाविन्द्र! यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदाभर॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्त. ४५ ऋक्. ४१) (साम. २०७+१०७२) (अथर्व., २०।४३।२)

'हे इन्द्र! परमेश्वर! आपने जिस सर्व स्पृहणीय-धन को, दृढव्रत-धारी—निर्विकार-स्थिर-प्रज्ञा-वाले-विवेक-विचार-कुशल के प्रतिसमर्पण किया है, वह धन हमें भी समर्पण कर।'

हे इन्द्र!=परमेश्वर! त्वया कृपानिधानेन भगवता सर्वलोकगुरुणा वीळौ=वीडौ—दृढे-परैः रागद्वेषादिभिः शत्रुभिः कम्पयितुमशक्ये—निर्विकारे; यत्=धनं, पराभृतं, विन्यस्तं—समर्पितम्। यच्च, स्थिरे=स्थितप्रज्ञेऽन्तर्मुखे स्वयमचञ्चले पराभृतं, यच्चापि, पर्शाने=विमर्शनक्षमे-विवेकविचारदक्षे पराभृतं, तत्=प्रसिद्धं स्पार्हं=स्पृहणीयं—अभिलषणीयम्, वसु=धनं—सर्वोत्तममक्षय्यफलं, आभर=अस्मभ्यमाहर—समर्पय इत्यर्थः। यत्पदावृत्तिस्तस्य तत्परामृष्टस्य प्रसिद्ध्याद्रातिशयद्योतनाय। यद्यपि वेदमन्त्राणामतिगम्भीराणां सर्वतोमुखत्वादनेन सामान्यतो धनवाचकेन वसुशब्देन रुचीनां वैचि-

हे इन्द्र!—परमेश्वर! तुझ-कृपानिधान-सर्व लोक-गुरु-भगवान् ने वीड-दृढ-जो-पर-रागद्वेषादि-शत्रुओं से-कम्पायमान-चलायमान करने के लिए-अशक्य-निर्विकार है, उस में जो धन समर्पण किया है। तथा जो धन, स्थिर-स्थितप्रज्ञ-अन्तर्मुख-स्वयं चञ्चलता-बहिर्मुखता से रहित-में समर्पण किया है। तथा जो धन, पर्शान यानी विमर्श-विचार करने के लिए समर्थ है, अर्थात् जो विवेक विचार में दक्ष-कुशल है, उस में समर्पण किया है, वह प्रसिद्ध स्पार्ह-स्पृहा-अभिलाषा करने योग्य, वसु-धन जो सर्वोत्तम एवं अक्षय्य-फल वाला है-उस धन को हमारे लिए आहरण कर-अर्थात् हमें समर्पण कर। 'यत्' पद की तीन वार-आवृत्ति, 'तत्' पद से परामृष्ट-धन में प्रसिद्धि एवं आदर के अतिशय का द्योतन के लिए है। यद्यपि अति-गम्भीर होने से वेदमन्त्र सर्वतोमुख हैं, इस लिए सामान्यतया इस धन का वाचक वसु शब्द से रुचियों की विचित्रता होने के कारण प्रति-

स्याद् प्रातिस्विकस्पृहणीयमन्यविधमपि धनं प्रार्थयितुं शक्यते, तथापि मुमुक्षुभिस्तत्त्वबुभुत्सुभिरनेन विमुक्तिबीजं विद्यैव धनं सर्वतोभावेन स्पृहणीयं, तदवाप्तुमधिकारयोग्यता च प्रार्थ्यते इति भावः। अत एव निरुक्तव्याख्यायां गम्भीरपदार्थवेदशब्दविषये दुर्गाचार्याः प्राहुः—'अनुपक्षीणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दाः, यथाप्रज्ञपुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकार्थान् प्रब्रुवन्ति' (१।२०) इति।

व्यक्ति के लिए असाधारण-स्पृहणीय-अन्य प्रकार के भी धन की प्रार्थना करने के लिए शक्य है। तथापि मुमुक्षु-तत्त्वबुभुत्सुओं से इस मन्त्र द्वारा विमुक्ति का कारण विद्यारूप ही धन सर्व-प्रकार से स्पृहा-करने योग्य है, उसकी प्राप्ति के लिए अधिकार की योग्यता की भी प्रार्थना की जाती है, यह भाव है। अत एव निरुक्त की व्याख्या में गम्भीर पदार्थ-वेदों के शब्दों के विषय में दुर्गाचार्य्य कहते हैं—'वेद के शब्द निश्चय से विभु-व्यापक-सर्वतोमुख हैं, इस लिए उन की विविध पदार्थ बोधन की शक्तियों का उपक्षय ह्रास नहीं होता है, अर्थात् वे विविध अक्षय्य शक्तियों के भण्डार हैं, इस लिए जिस जिस प्रकार की प्रज्ञा-वाले पुरुषों के प्रति उस-उस अर्थों के प्रतिपादन में विशेषरूप से परिणत हुए वे सर्वतोमुख शब्द अनेक अविरुद्ध-अर्थों का वर्णन करते हैं। इति।

(४६)

(मुमुक्षुः प्रमादालस्यादिकं विहाय पुरुषार्थपरायणो भवेत्)

(मुमुक्षु, प्रमाद-आलस्य आदि का परित्याग कर के पुरुषार्थ परायण हो)

यस्माद्विद्वांसः सर्वानर्थबीजं प्रमादमेवास्माज्ञानाख्यं मृत्युं, पारमार्थिकस्वस्वरूपेणावस्थानात्मकमप्रमादमेवामृतञ्चाहुः—तस्मान्मुमुक्षुरात्मज्ञानालोकेन प्रमादं परित्यजेत्। अप्रमादेन चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावेनैवावतिष्ठेत। प्रमादरहिता निवृत्तमिथ्याज्ञानतत्कार्या एव ब्रह्मात्मनाऽवस्थिता भूत्वा देवा भवितुमर्हन्ति, नान्ये। तथा चाहुः—

जिस कारण से विद्वान् पण्डित, समस्त-अनर्थों का कारण-आत्मा का अज्ञान-नाम वाला प्रमाद ही को मृत्यु, तथा पारमार्थिक-स्वस्वरूप से अवस्थान रूप अप्रमाद को ही अमृत कहते हैं, इस लिए मुमुक्षु, आत्मज्ञान के आलोक प्रकाश के द्वारा प्रमाद का परित्याग करे। अप्रमाद-जो चित् सत्-आनन्द-अद्वितीय ब्रह्मभाव रूप है-उससे ही सदा अवस्थित रहे। जो प्रमाद से रहित हैं, मिथ्याज्ञान एवं उसके कार्य रागद्वेषादि दोष जिन के निवृत्त हो गये हैं—वे ही ब्रह्मात्मरूप से अवस्थित हो कर देव होने के लिए योग्य हैं,

'आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले। ते सुरा इति विख्याताः सूरयश्च सुरा मताः ॥' इति। प्रमादपरित्यागं शास्त्रसद्गुरुसदुपदेशमनुसृत्य प्रयत्नशीलः पुरुषार्थी एव कर्तुं शक्नोति, स एव देवकृपाभाजनं धन्यो भवति। तमेव देवाः सर्वात्मना रक्षितुमिच्छन्ति, नान्यं प्रमादालस्याद्युपेतमित्येतत्सर्वलोककल्याणावहो भगवान् वेदः प्रतिपादयति—

अन्य नहीं। तथा च शिष्ट-विद्वान् कहते हैं— 'जिन्हों की अचल-आत्मा-ब्रह्म स्वस्वरूप में ही रति-प्रेम है, वे ही 'सूर-देव' ऐसे नाम से विख्यात हैं, क्योंकि-सूरि-विद्वान् ही सुर-देव माने गये हैं।' इति। प्रमाद का परित्याग शास्त्र एवं सद्गुरु के सदुपदेश का अनुसरण करके प्रयत्न-साधना करने का स्वभाव वाला—उत्साही—पुरुषार्थी ही कर सकता है। वही देव कृपा का पात्र एवं धन्य होता है। उसकी ही देव, सर्व प्रकार से रक्षा करने की इच्छा करते हैं अन्य—प्रमाद-आलस्य आदि से संयुक्त-की रक्षा करने की इच्छा नहीं करते हैं, इति, ऐसा समस्त-लोक के कल्याण का वहन करने वाला भगवान् वेद प्रतिपादन करता है—

ॐ इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्त. २ ऋक्. १८) (साम. ७२१) (अथर्व. २०।१८।३)

'देव—मोक्ष के लिए प्रयत्न करने वाले-पुरुषार्थी-उत्साही का ही रक्षण करने की इच्छा करते हैं, आलस्य-निद्रा आदि दोष वाले प्रमादी का रक्षण आदि करने की स्पृहा नहीं करते हैं। आलस्यादि-दोष रहित-महापुरुष ही प्रमाद का नियमन-निराकरण करते हैं।'

सुन्वन्तं=सोमस्य=सर्वाभीप्सितस्यापरिमितशाश्वतसुखविशेषस्य प्रपञ्चोपशमस्य मोक्षस्य प्रादुर्भावं कर्तुं प्रयत्नशीलं पुरुषार्थपरायणमप्रमादिनं दृढोत्साहवन्तमालस्यादितामसदोषशून्यं पुरुषर्षभमेव, सर्वस्य वाक्यस्यासति प्रतिबन्धे सावधारणत्वात्। सर्वे देवाः=इन्द्रादयो दैवीसम्पत्संयुक्ता विद्वांसो वा, इच्छन्ति=शुभाशीर्वादैः संयोक्तुं, स्वशक्तिभिश्चाभिरक्षितुं सदुपदेशैश्च तत्त्वं विज्ञापयितुं धन्यवादैश्च भूषयितुमभिलषन्ती-

सुन्वन्तं यानी सर्व के लिए अभीप्सित-अपरिमित-अपार-शाश्वत सुख विशेष—प्रपञ्चोपशम-मोक्ष-रूप सोम का प्रादुर्भाव करने के लिए प्रयत्न-शील-पुरुषार्थ-परायण-अप्रमादी दृढ-उत्साह-युक्त तमोगुण के आलस्यादि दोषों से रहित-श्रेष्ठ-पुरुष की ही—सभी वाक्य प्रतिबन्ध के न होने पर अवधारण-एवकार सहित ही होते हैं—समस्त इन्द्रादि देव, या दैवी सम्पत्ति से संयुक्त विद्वान्—इच्छा करते हैं, अर्थात् शुभाशीर्वादों से सम्यक् योजने के लिए—अपनी शक्तियों द्वारा सर्व तरफ से रक्षा करने के लिए—सदुपदेशों के द्वारा तत्त्व-वस्तु का विज्ञापन करने के लिए एवं धन्यवादों से विभूषित करने के लिए—अभिलाषा करते हैं। तथा वे देव

त्यर्थः। स्वमायं=स्वमं-तद्वन्तं स्वपन्तं स्वमशब्देनात्र सोमस्यानादरो लक्ष्यते, तस्मादेवालस्यादिदोषयुक्तं प्रमादिनं विचाराचारवर्जितं मूढं जनं, न स्पृहयन्ति=रक्षणादिना समुद्धर्तुं न वाञ्छन्तीत्यर्थः। यत एवमतः कारणात्, विचारशीला मानवाः, अतन्द्राः=अनलसाः स्वाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धये निरन्तरं सदुपायानाश्रित्य प्रयत्नशीलाः पुरुषार्थिनः सावधानाः सन्तः प्रमादं=अज्ञानं तत्कार्यं प्रयत्नेन कर्तव्यकार्यस्य विस्मृत्याऽसावधानात्मकमपि वा प्रमादं यन्ति=नियमयन्ति-निराकुर्वन्तीत्यर्थः। प्रमादमुपलक्षणमालस्यनिद्रयोरपि, कर्तव्येऽपि कार्ये श्रद्धावैधुर्येणोत्साहाभाव आलस्यम्, बुद्धिजाड्याधिक्येन कर्तव्यं परित्यज्य स्वापो निद्रा। तयोरपि नियमनमत्र बोद्धव्यम्। यद्वा अतन्द्राः=प्रमादालस्यादिदोषरहिता योगिनः, प्रमादं=प्रकर्षेण मदकरं तुष्टितृप्तिशान्त्यानन्दसम्पादकं साधनफलं, यन्ति=प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। 'इण् गतौ' गतिः=प्राप्तिरपि। एतेन मुमुक्षुः प्रमादालस्यादिविकाराणामवशो भूत्वा तत्तद्विकारप्रतियोगिश्रद्धोत्साहयत्नादिगुणानवलम्ब्य प्रमोदकरं देवप्रसादं सम्पादयेदिति सूचितं भवति। अत एवान्यो निगमोऽपि प्रमादालस्यरहितं सदा

या विद्वान्, स्वमवाले-सोने वाले-स्वमशब्द से-यहाँ सोम-तत्त्व का अनादर लक्षित होता है-इसलिए-आलस्यादि-दोषयुक्त-प्रमादी विचार-आचार से वर्जित-मूढ-जन की स्पृहा नहीं करते हैं, अर्थात् रक्षण आदि द्वारा उसका समुद्धार करने की वाञ्छा नहीं करते हैं। जिस कारण से ऐसा है-इसलिए विचारशील मनुष्य, अतन्द्रा-यानी आलस्यरहित हुए-अपने अभ्युदय एवं निःश्रेयस की सिद्धि के लिए निरन्तर सदुपायों का आश्रय करके प्रयत्न करने के स्वभाव वाले-पुरुषार्थी-सावधान हुए प्रमाद यानी अज्ञान का या अज्ञान का कार्य-प्रयत्न से कर्तव्य कार्य का विस्मरण करके असावधान रूप प्रमाद का भी जो नियमन-निराकरण करते हैं। प्रमाद शब्द, आलस्य एवं निद्रा का भी उपलक्षक-बोधक है। कर्तव्य-कार्य में भी-श्रद्धा का अभाव होने के कारण-उत्साह का अभाव आलस्य है। बुद्धि में तामस-जडता की अधिकता होने के कारण कर्तव्य का परित्याग कर सो जाना निद्रा है। उन दोनों का भी नियमन-निराकरण यहाँ जानना चाहिए। अथवा-अतन्द्रा यानी प्रमाद-आलस्यादि दोष रहित योगी, प्रमाद यानी प्रकृष्ट रूप से मद-प्रहर्ष करने वाला तुष्टि-तृप्ति शान्ति-आनन्द का सम्पादक-जो साधन फल है-उसको प्राप्त हो जाते हैं। इण् धातु गति-अर्थ में है, गति का प्राप्ति-अर्थ भी है। इस कथन से-मुमुक्षु, प्रमाद-आलस्य आदि विकारों के वश में न होकर उस-उस विकारों के प्रतियोगी-विरोधी-श्रद्धा-उत्साह-यत्न आदि-गुणों का अवलम्बन करके प्रमोद का प्रयोजक-देव का प्रसाद सम्पादन करे' ऐसा सूचित होता है। इसलिए अन्य-निगम-वेदमन्त्र भी-'प्रमाद-आलस्य से रहित सदा जाग्रत्-सावधान-

१ न स्वमाय स्पृहयन्ति, 'स्पृहेरीप्सित' इति कर्मणि चतुर्थी। 'स्पृह ईप्सायां' चुरादिरदन्तः।

जागरूकं कर्तव्यपरायणं पुरुषर्षभमेव सर्वाणि ऋगादीनि शास्त्राणि तथ्यार्थवपुषा प्रादुर्भवितुं, तत्तन्मन्त्राधिष्ठातारो देवाश्च सततमवितुं, भगवान् सर्वेश्वरः सोमोऽपि कृपयितुं, कामयन्ते । ऐकाग्र्यसम्पादकं मधुरसामगानमपि स एवावाप्तं शक्नोति, इत्याह— 'यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति । यो जागार तमयं सोम आह तवाऽहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥' (ऋ. ५।४५।१४) इति । अयमर्थः—यः= महापुरुषः, जागार=प्रमादरहितः, सदा सावधानो जागरूकः स्वकर्तव्येऽर्थेऽनन्यचेताः सन् वर्तते तं=तमेव, ऋचः=सर्वशास्त्रात्मिकाः, अर्थविग्रहेण प्रकाशितुमिति कामयन्ते=अभिलषन्ति । ऋचः=उपलक्षणं तदधिष्ठातृदेवानाम् । यो जागार, तमु=तमेव सामानि=गीतिरूपाणि स्तोत्राणि, यन्ति= प्राप्नुवन्ति, तानि यथावत् सुस्वरेण गातुं स एव जागरूकः तदेकसंलग्नः प्रभवति, नान्य इति यावत् । यद्वा सर्वा ऋचः सामानि च कण्ठे सुशब्दतो हृदयेऽर्थतो धारयितुं जागरूक एव प्रभवतीति भावः । यो जागार, तमेव अयं=विश्वरूपेण पुरः स्थितः, सोमः=

कर्तव्य-परायण-महापुरुष के प्रति समस्त-ऋगादि-शास्त्र, सत्य-अर्थ-विग्रहद्वारा प्रादुर्भूत होने के लिए तथा ऐसे महापुरुष की ही—उस-उस मन्त्रों के अधिष्ठातृ-देव निरन्तर रक्षा करने के लिए कामना-इच्छा करते हैं, एवं भगवान् सर्वेश्वर सोम भी उसके ऊपर कृपा करने के लिए कामना करता है। तथा ऐकाग्र्य का सम्पादक-मधुर साम-गान को वही प्राप्त करने के लिए समर्थ होता है—यही स्वकल्याणाकाक्षी के प्रति कहता है—'जो जाग्रत्-सावधान-पुरुषार्थी होता है, उसकी ऋचाएँ भी कामना करती हैं, जो जाग्रत् होता है, उसके साम-मन्त्र भी अनुकूल होते हैं, जो जाग्रत् होता है, उसके प्रति यह सोम भगवान् कहता है—देख मुझे मैं सर्वत्र हूँ। एवं जाग्रत् पुरुष ही सोम के प्रति—'हे सोम ! तेरा ही मैं हूँ' 'तेरी मित्रता में ही मैं दृढ अवस्थित हूँ' ऐसा कह सकता है।' इति। इसका यह अर्थ है—जो महापुरुष, जागार यानी प्रमाद रहित-सदा सावधान-जाग्रत्—अपने कर्तव्य-अर्थ में अनन्य-चित्त हुआ वर्तता है, उसकी ही समस्त शास्त्र रूप-ऋचाएँ अर्थ-विग्रह-स्वरूप-द्वारा प्रकट होने की कामना-अभिलाषा करती हैं। 'ऋचः' यह पद उनके अधिष्ठातृ-देवताओं का भी उपलक्षक-बोधक है। जो जाग्रत् है, उस को ही गीतिरूप-साम-स्तोत्र प्राप्त होते हैं, अर्थात् वह यथावत् उन साममन्त्रों का सु-स्वर से गान करने के लिए—वही जाग्रत्—उनमें ही एक मात्र संलग्न-एकाग्रचित्तवाला-महापुरुष—समर्थ होता है, अन्य नहीं। यद्वा सभी ऋचाओं का एवं साम-मन्त्रों का-कण्ठ में शोभन-शुद्ध शब्द द्वारा एवं हृदय में, अर्थानुभव द्वारा-धारण करने के लिए जाग्रत्-पुरुष ही शक्तिमान् होता है, ऐसा भाव है। जो जाग्रत् है, उसके ही प्रति, यह विश्व-रूप से समक्ष स्थित-सोम-परमात्मा कहता है कि—

परमात्मा, आह=वक्ति, मां पश्य सर्वान्तर्बहिरिति शेषः। अथेदानीं साधकः प्रतिजानीते—हे भगवन्! तव=परमेश्वरस्य सख्ये=सखित्वे, न्योकाः=नियतस्थानः प्रतिष्ठितः, अहमस्मि=भवामि । यद्वा सख्ये=समानख्याने—सर्वहितकरे तव वेदादिरूपादेशे अहं न्योकाः=अचलितपदः—सदा दृढावरुद्धोऽहमस्मीति यावत् ।

'मुझ को देख सर्व के भीतर बाहर' ऐसा शेष-वाक्य है । अनन्तर-इस समय साधक प्रतिज्ञा करता है—हे भगवन् ! तुझ-परमेश्वर के सखित्व-मित्रता में मैं प्रतिष्ठित-दृढ अवस्थित होता हूँ। यद्वा-सख्य-यानी समान रूप से-पक्षपात रहित रूप से-ख्यान-प्रसिद्धि है जिसकी-ऐसे सर्व के हितकारी-तेरे वेदादि-रूप-आदेश-आज्ञा में मैं अचलित-पद हुआ सदा दृढ-बद्ध होता हूँ । इति ।

(४७)

(धनवान् कार्पण्यं विहाय सत्पात्रसत्कार्यादौ स्वकीयं धनं समर्पयेत्)

(धनवान् कृपणता का परित्याग करके सत्पात्र-सत्कार्य आदि में अपने-धन का समर्पण करे)

'दानं भोगो नाशः तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।' (भर्तृहरिः) इति वचनात् विद्यातपोयुक्तेभ्यः सत्पात्रेभ्योऽन्नक्षेत्रविद्याशालादिसत्कार्येभ्यश्च समर्पणरूपा द्रव्यस्य दानलक्षणा सर्वोत्तमा गतिः । स्वस्वकीयनिर्वाहादौ विनियुक्ता नीतिमर्यादोपेता भोगलक्षणा च मध्यमा गतिः, दानभोगाभ्यामन्तरेण द्रव्यस्य नाशरूपा चात्यधमा गतिस्त्ववश्यं भाविन्येवेत्यवगम्यते । अपि च चलच्चक्रनेमिक्रममिव चञ्चलमिदं धनं नैकत्र सदा तिष्ठति, अतो विवेकविचारशीलेन धनवता परहिते स्वहितबुद्धिं परसुखे स्वसुखबुद्धिञ्च विधाय निन्दानिदानं कार्पण्यं विहाय, प्रयत्नेन शाश्वतधर्मैकफलमशाश्वतं धनं विधेयं, औदार्यजन्यं सुयशः

'दान, भोग, एवं नाश, ऐसी धन की तीन गतियाँ होती हैं।' इस भर्तृहरि के वचन से—विद्या एवं तप से युक्त-सत्पात्रों के लिए, तथा अन्नक्षेत्र-विद्याशाला आदि-सत्कार्यों के लिए द्रव्य का समर्पण रूप-दान लक्षण वाली सर्वोत्तम गति है । अपना और अपने बन्धु-वर्ग का निर्वाह आदि में विनियोजन की हुई—नीति एवं मर्यादा से संयुक्त-भोग-रूपा धन की मध्यमा गति है । और दान एवं भोग के बिना द्रव्य की नाश रूपा, अत्यन्त अधम-गति तो अवश्य होती ही है—ऐसा जाना जाता है । और भी—यह चञ्चल-धन—'चलती हुई-चक्र के नेमि के क्रम की भाँति' एक स्थल में ही सदा नहीं ठहरता है, इसलिए विवेक-विचारशील-धनवान् को-अन्य के हित में अपने हित—बुद्धि की एवं अन्य के सुख में अपने सुख—बुद्धि की स्थापना करके, निन्दा का कारण-कृपणता का परित्याग करके—प्रयत्न से, शाश्वत-एकमात्र धर्म ही है—फल जिसका ऐसा अर्थात् शाश्वत-धर्म-फल-वाला, अशाश्वत धन बनाना चाहिए। उदारता से जन्य-शोभन-

समुपार्जनीयं, परोपकारसत्कीर्तिभगवत्कृपाश्च सम्पादनीयाः, इत्येतद्वाचोभङ्ग्यन्तरेण बोधयन् धनवन्तं पुरुषं धनस्य सर्वोत्तमगतिलक्षणाय दानाय प्रेरयति—

यश का सम्यक् उपार्जन करना चाहिए। और परोपकार, सत्कीर्ति एवं भगवत्कृपा-प्रसन्नता सम्पादन करनी चाहिए। ऐसा यह—वाणी की विभिन्न भङ्गी-रचना के द्वारा बोधन करता हुआ भगवान् वेद, धनवान् पुरुष को धन की सर्वोत्तम गतिरूप दान करने के लिए प्रेरणा करता है—

ॐ पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्, द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्। ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ११७ ऋक्. ५)

'धनवान् सत्कार्य के लिए याचना करने वाले-सत्पात्र को धन का अवश्य दान करे। वह दाता, उस दान के द्वारा—उस के फल रूप—अतिदीर्घ-शाश्वत-पुण्यमय-अभ्युदय-स्वर्गादि-मार्ग को देखे। 'रथ के चलते हुए-चक्रों की भाँति' निश्चय से धन, घूमते-फिरते रहते हैं, इस अन्य को छोड़ कर उस-अन्य के समीप चले जाते हैं, अर्थात् एक के समीप सदा स्थिर नहीं ठहरते हैं।'

तव्यान्=तवीयान्—धनैरतिशयेन प्रवृद्धः पुरुषः, नाधमानाय=याचमानाय ('नाधृ याञ्चायां' स्मरणात्) विद्यातपोयुक्ताय सत्पात्राय, सामान्यापेक्षमेकवचनं सत्कार्यविधानाय, पृणीयात्=धनानि दद्यात् इत्एव। ('पृ पालनपूरणयोः' क्र्यादि, प्वादीनां ह्रस्वः।) तथा च दानस्यावश्यमेव यथाशक्ति कर्तव्यतां तैत्तिरीयश्रुत्यन्तरमपि बोधयति—'श्रद्धया देयमश्रद्धयाऽदेयं श्रिया देयं ह्रिया देयं भिया देयं संविदा देयमिति' (तै.१।११।३)। एवं दानस्य कर्तव्यतामादिश्य तत्फलमादिशति—दानेन सदुपायेन दाता,द्राघीयांसं=दीर्घतमं (दीर्घशब्दादीयसुनि कृते' 'प्रियस्थिर' इत्यादिना 'द्राघि' इत्यादेशः) पन्थां=पन्थानं सुकृतमयाभ्युदयनिःश्रेयसमार्गं, अनुपश्येत=अनुपश्येत् (व्यत्ययेनात्मनेपदम्) अयम्भावः—दानेन ह्युपन-

तव्यान् यानी धनों से अतिशय करके बढ़ा हुआ-समृद्ध-धनी श्रेष्ठी-पुरुष-नाधमान-यानी सत्कार्य करने के लिए याचना करने वाला-जो विद्या एवं तप से युक्त-सत्पात्र है, सामान्य की अपेक्षा से यहाँ एकवचन है। उस सत्पात्र को धनों का प्रदान करे। तथा च 'दान अवश्य ही शक्ति के अनुसार करना चाहिए' ऐसा अन्य-तैत्तिरीय-श्रुति भी बोधन करती है—'श्रद्धा से देना चाहिए, अश्रद्धा से नहीं देना चाहिए, जगत् में अपनी-शोभा कीर्ति के लिए भी देना चाहिए, लोक-लज्जा से भी देना चाहिए, परलोक के भय से भी देना चाहिए, संवित्—विवेक-विचार से भी देना चाहिए।' इति। इस प्रकार वेद मन्त्र, दान की कर्तव्यता का आदेश—आज्ञा दे करके दान के फल का आदेश देता है—दान-रूप-सदुपाय द्वारा उदार-दाता, अति-दीर्घ-अर्थात् चिरकाल स्थिर-पुण्यमय-अभ्युदय एवं निःश्रेयस—कल्याण मार्ग को देखे। यह भाव है—निश्चय से दान द्वारा प्राणी दाता के सामने नम्र हो जाते हैं,

मन्ति प्राणिनः, दातारं प्रशंसन्ति; दानप्रभावाद् दाता पुण्यपुञ्जमवाप्योत्तमां गतिमवाप्नोति, कर्तृत्वाभिमानशून्यस्याकृतफलाभिसन्धिनो निष्कामस्य दानं खलु ज्ञानप्रतिबन्धकमलापकर्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतामादधातीति दानस्य महत्त्वं सर्वत्र जागरूकमेव, यत्रैतच्छ्रुतं भवति–'उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुः ।' (ऋ. १०।१०७।२) इति । दक्षिणावन्तः=दक्षिणा दत्तवन्तः दानशीलाः–उदाराशयाः यजमानाः, उच्चा=उच्चैः स्थिते दिवि=द्युलोके स्वर्गे, अस्थुः=तिष्ठन्तीत्यर्थः । 'दानं यज्ञानां वरूथं दक्षिणा लोके दातारᳫ् सर्वभूतान्युपजीवन्ति, दानेनारातीरपानुदन्त, दानेन द्विषन्तो मित्रा भवन्ति, दाने सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् दानं परमं वदन्ति ।' (तै. आ. प्र. १० अनु. ६३) इति । वरूथं=श्रेष्ठं, अरातीः=शत्रून्, अपानुदन्त=निराकृतवन्तः । सर्वं=अपेक्षितं फलं, दाने प्रतिष्ठितम् । परमं=परम्परया मुक्तिसाधनमित्यर्थः । कुतः खलु धनस्य त्यागलक्षणं दानं कर्तव्यं नातिसंग्रहः कर्तव्यः? तत्र कारणमाह–रायः=धनानि, ओ हि=आ उ, वर्तन्ते=निश्चयेनावर्तन्ते, एकत्र न तिष्ठन्तीत्यर्थः । तत्रैकत्रानवस्थाने दृष्टान्तमाह–रथ्येव=इव–यथा, रथ्या=रथ्यानि ('रथाद्यदि'ति 'तस्येदमि'त्यर्थे यत्प्रत्ययः) रथसम्बन्धीनि, चक्रा=चक्राणि, उपर्यधोभागेनावर्तन्ते तद्वत् । एकत्रानवस्थितिलक्षणामावृत्तिमेव दर्शयति–अन्यमन्यं पुरुषं परित्यज्यान्यमन्यं प्रति, तन्त्रेणोच्चारणमिदं, स्वस्वभाग्यवशात्, धनानि, उपतिष्ठन्त=उपतिष्ठन्ते-समवेतानि संगतानि भवन्ति, (उ-

दाता की सभी प्रशंसा करते हैं, दान के प्रभाव से दाता पुण्य-समूह को प्राप्त करके उत्तम गति को प्राप्त होता है । कर्तृत्व का अभिमान से रहित, फलासक्ति से रहित-निष्काम-मनुष्य का दान, निश्चय से ज्ञान के प्रतिबन्धक-मल-पाप की निवृत्ति द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति की योग्यता का आधान-स्थापन करता है, ऐसा दान का महत्त्व, सर्वत्र जाग्रत् ही है ।' दान के विषय में श्रुति में-यह सुना जाता है–'दक्षिणा देने वाले दाता-ऊपर के उत्तम स्वर्गादि लोक में रहते हैं ।' इति । अर्थात्-दक्षिणा देने वाले-दानशील-उदार आशय-हृदय वाले-यजमान, उच्च-ऊपर में स्थित-द्युलोक-स्वर्ग में रहते हैं ।' 'दान-दक्षिणा यज्ञो के मध्य में श्रेष्ठ है, इस-लोक में समस्त-भूत-प्राणी, दाता का उपजीवन–आश्रय-ग्रहण करते हैं, दान के द्वारा शत्रुओ का निराकरण हो जाता है, दान से द्वेषी भी मित्र हो जाते हैं, दान में सब कुछ प्रतिष्ठित है, इसलिए दान-परम प्रशस्त है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ।' इति । वरूथ यानी श्रेष्ठ । अराति यानी शत्रु । अपनोदन-निराकरण करते हैं । सर्व-अपेक्षित फल, दान में प्रतिष्ठित है । परमं अर्थात् परम्परा से दान मुक्ति का साधन है । धन का त्याग रूप-दान क्यो-करना चाहिए? एवं धन का अतिसंग्रह क्यों नहीं करना चाहिए? उसमें कारण कहते है– राय यानी धन, आ-समन्तत.-सर्व तरफ से निश्चय-पूर्वक-फिरते रहते हैं, अर्थात् एक स्थल में स्थिर नहीं रहते हैं । उसमें–एक स्थल में अवस्थान के अभाव में दृष्टान्त कहते हैं–रथ्या इव–जैसे रथ के सम्बन्धी चक्र-पैये, ऊपर-एवं नीचे के भाग में घूमते-फिरते रहते हैं, तिस प्रकार धन भी । एक स्थल में अनवस्थिति रूप-आवृत्ति को ही दिखाते हैं–अन्य-अन्य-पुरुष का परित्याग करके अन्य-अन्य के प्रति अपने-अपने भाग्य के वश से धन-संगत

पादेयपूजासङ्गतिकरणे'इत्यात्मनेपदम्)। तस्मादस्थिराणि धनानि कार्पण्यं विहाय स्थिरधर्मलाभाय देयानीति भावः।

संबद्ध हो जाते हैं। 'अन्यमन्यं' यह पद तन्त्र से उच्चरित है। इसलिए—अस्थिर-चंचल-धनों का—कृपणता का परित्याग करके, स्थिर-धर्म लाभ के लिए—दान करना चाहिए, यह भाव है।

(४८)

(देवताऽतिथ्यादिभ्योऽन्नस्यादाता निन्दितः पापजीवनो भवति)

(देवता-अतिथि आदियों के लिए अन्न-दान को नहीं करने वाला-कृपण निन्दित एवं पापमय-जीवन वाला होता है)

सर्वस्यापि कर्माधिकृतस्य यज्ञदानादिपरिशिष्टान्नाशनेनैव शास्त्रेण शरीरधारणस्य विहितत्वात्। यः कश्चिद्धर्मज्ञो दैनंदिनत्वेनावश्यकर्तव्यान् पञ्चमहायज्ञान् कृत्वा परिशिष्टान्नाशी भवति, स सर्वपापैर्विमुक्तो भवति, पापविमोकाच्च चित्तशुद्धिं,तया ज्ञानं, ततो मुक्तिञ्च विन्दति। परञ्च यः कश्चिदुच्छृङ्खलो देवताऽतिथ्यादिभ्योऽदत्त्वा स्वशरीरमेव पोषुमन्नं भुङ्क्ते, स खलु पापजीवनो देवादीनां चौरः, शिष्टानां निन्द्यश्च व्यर्थमेव जीवति, धिक् तस्य जीवनं, ततो मरणमेव वरम्। भुज्यमानं तदन्नं यद्यपि स्वदृष्ट्याऽन्नमिव भाति, तथापि शास्त्रदृष्ट्या देवतादृष्ट्या च पापमेव भवति, पापं भुञ्जानः पापिष्ठो भवतीत्यदातारं दूषयति—

वैदिक-कर्म के समस्त-अधिकारियों के प्रति, यज्ञ-दान-आदि-सत्कर्म करने के बाद परिशिष्ट-बचे हुए—अन्न के भोजन से ही शरीर धारण का शास्त्र ने विधान किया है। इसलिए जो कोई धर्मज्ञ-पुरुष, प्रतिदिन, अवश्य करने योग्य-पञ्चमहायज्ञों को करके परिशिष्ट-अन्न का अशन-भोजन करता है, वह समस्त-पापों से विमुक्त हो जाता है, पापों की निवृत्ति से वह चित्त की शुद्धि को प्राप्त हो जाता है, और चित्तशुद्धि द्वारा वह ज्ञान को एवं ज्ञान से मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। परञ्च जो कोई उच्छृङ्खल-शास्त्र-उपदिष्ट-धर्म-कर्म मर्यादा का पालन नहीं करने वाला-देवता अतिथि आदि को अन्न का दान न करके अपने शरीर को ही पुष्ट करने के लिए अन्न-भक्षण करता है, वह निश्चय से पापमय जीवन वाला हुआ—देव आदिओं का चोर होता है, शिष्ट-प्रामाणिक-पुरुषों के द्वारा निन्दित होता है, और वह व्यर्थ—फजूल ही जीता है, उसके जीवन को धिक्कार है, ऐसे जीवन से तो मरना अच्छा है। यद्यपि खाया जाने वाला वह अन्न अपनी दृष्टि से उस को अन्न की भाँति दिखता है, तथापि शास्त्र की दृष्टि से एवं देवता की दृष्टि से वह अन्न पाप-दोषयुक्त ही हो जाता है, पाप-अन्न का खाने वाला वह अति-पापी बन जाता है, इस प्रकार वेद मन्त्र अदाता-कृपण को दूषित करता है—

ॐ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ११७।६) (तै. ब्रा. २।८।८।३। नि. ७।३)

'तुच्छ-बुद्धि वाला-कृपण-धर्मविमुख, व्यर्थ ही पापमय-अन्न को प्राप्त करता है, यह मैं मन्त्र-द्रष्टा-ऋषि सत्य-यथार्थ ही कहता हूँ। वह अन्न, उस-यज्ञादि सत्कार्य से विमुख के लिए वध-मृत्यु रूप है। जो पुरुष, अर्यमा आदि देवों का हविः प्रदान द्वारा पोषण नहीं करता है, तथा साधु-ब्राह्मणादि-मित्र-बन्धुवर्गरूप-सखा का जो पोषण नहीं करता है, वह केवल-अन्न का भक्षण करने वाला केवल पापी ही हो जाता है।'

अप्रचेताः=यज्ञदानादिसत्कार्ये प्रकर्षेण चेतः=मनो यस्य न भवति सः, अप्रकृष्ट-ज्ञानः-तुच्छानुदारबुद्धिः, मोघं=व्यर्थमेवान्नं, विन्दते=लभते । ('विद्लृ लाभे' तौदादिकः 'शे मुचादीनामि'ति नुमागमः) इदं सत्यं=यथार्थमेवेति ब्रवीमि=मन्त्रदृक् ऋषिरहं वदामि। न केवलं व्यर्थं तदन्नं, किन्तु तस्य यज्ञादिसत्कार्यविमुखस्य पुरुषस्य, स वध इत्=तदन्नं वधः-मृत्युरेव। तच्छब्दस्यान्नं परामृशतो वधशब्दसामानाधिकरण्यात् पुंल्लिङ्गता, 'यत्कर्म स एव कर्ते'तिवत्। 'शैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्ये'त्यादौ लिङ्गव्यत्ययस्य दृष्टत्वात्, अथवा सः=अयमदत्तोऽन्नपदार्थ इत्यर्थः। तत्र वैयर्थ्यं तावत्स्पष्टीक्रियते-यः=पुरुषः, अर्यमणं=उपलक्षणमिदं सर्वान् देवानर्यमादीन् न पुष्यति=हविःप्रदानेन न पोषयति, नो=नापि सखायं=समानख्यानं साधुब्राह्मणादिकमभ्यागतं मित्रबन्धुवर्गं च न पुष्यति, ('पुष

अप्रचेता यानी यज्ञ-दानादि सत्कार्य में जिस का प्रकर्ष-श्रद्धा आदि पूर्वक चित्त-मन नहीं होता है, वह, प्रकृष्ट-ज्ञान से रहित, तुच्छ-उदारता रहित-बुद्धि वाला, मोघ-व्यर्थ ही अन्न को प्राप्त करता है। यह सत्य-यथार्थ ही है, ऐसा मैं मन्त्रद्रष्टा-ऋषि कहता हूँ। न केवल वह अन्न व्यर्थ है, किन्तु यज्ञादि सत्कार्य से विमुख उस पुरुष के प्रति वह अन्न, वध-मृत्यु रूप ही है। मूल-मन्त्र में 'तत्' शब्द अन्न का परामर्श करता है, इसलिए उसका वध शब्द के साथ सामानाधिकरण्य होने से वह पुल्लिङ्ग हो गया है। जिस प्रकार 'जो कर्म है वही कर्ता है' इस प्रयोग में 'यत्' यह नपुंसक-लिङ्ग-पद 'सः' ऐसा पुल्लिङ्ग हो जाता है, तद्वत्। 'जो शितलता है, वह निश्चय से जल की प्रकृति है यानी स्वाभाविक धर्म है।' इत्यादि प्रयोगो में 'यत्-सा' ऐसा लिङ्ग-व्यत्यय देखा गया है। अथवा 'सः' यानी अतिथि आदि के लिए नहीं दिया हुआ वह अन्न-पदार्थ। उसमें प्रथम अन्न की व्यर्थता स्पष्ट करते हैं-जो पुरुष, अर्यमा-यह उपलक्षण है, अर्थात् अर्यमा आदि देवों का हवि के प्रदान द्वारा पोषण नहीं करता है। तथा जो पुरुष, सखा-समान-ख्यान-प्रतीति वाले-साधु-ब्राह्मणादि-अभ्यागतों का एवं मित्र-बन्धु वर्ग का-पालन-पोषण नहीं करता है। उसका वह अन्न,

पुष्टौ' देवादिकः) तस्याग्नावाहुत्यभावात् दानाभावाच्च परलोकेऽनुपयोगेन वैयर्थ्यं ज्ञेयम्। अथ वधहेतुत्वं स्पष्टीक्रियते–केवलादी=केवलं भुङ्क्ते न तु ददातीत्यर्थः। (अदेः 'सुप्यजातावि'ति णिनिः। अत उपधालक्षणा वृद्धिः) केवलमसाक्षिकं देवपितृसाधुब्राह्मणाभ्यागतादौ विनियोगशून्यमन्नं भुञ्जान इति यावत्। स केवलाघो भवति=केवलपापवान् भवति–पापमेव सम्पादयति, अघमेव दुःखनिदानं केवलं तस्य शिष्यते, न किञ्चित्पुण्यम्। सोऽयं वध एव नरकहेतुत्वात्। यज्ञार्थमन्नदानादिकमकुर्वाणस्य काकादिवत्केवलं स्वोदरंभरिणः परमेश्वराऽऽज्ञोल्लङ्घनदोषेण विहिताकरणप्रत्यवायेन नित्यकृतपापसंघातेन च संपृक्तं सदद्यमानमन्नं विषसंपृक्तान्नमिव मृत्युरूपं सदनेककल्पपर्यन्तं चतुरशीतिलक्षजातिजातजन्ममरणादिकमहाकष्टसमर्पकं भवतीत्यदातारं दुराचारमभिलक्ष्यानुक्रोशति भगवान् वेदस्तस्माद्यथाकथञ्चिद्दातव्यमित्यभिप्रायः। एवमन्नदानकर्तारं क्षुद्व्याधिपीडितान् सुपात्रान् भोजयितारं पुरुषं प्रशंसन् तस्य सकलेष्टफलभाक्त्वञ्च वर्णयन्नर्थतोऽभोजयितारं नि-

अग्नि में आहुति का अभाव होने से, तथा दान का अभाव होने से, परलोक में उपयोगी न होने के कारण व्यर्थ ही है, ऐसा जानना चाहिए। अब उस अन्न में वध की कारणता को स्पष्ट करते हैं–केवलादी यानी केवल अन्न को आप ही खाता है, अन्य को नहीं देता है। अर्थात् केवल-साक्षिरहित, देव-पितृ-साधु-ब्राह्मण-अभ्यागतादि में जिस का विनियोग-समर्पण नहीं होता है, उस-अन्न को आप ही खाने वाला केवलादी है। वह केवल-अघपाप वाला ही हो जाता है, पाप का ही वह सम्पादन करता है, दुःख का कारण केवल पाप ही उसके लिए बच जाता है, कुछ पुण्य नहीं रहता है। नरक का हेतु होने से वही यह अन्न वध है। यज्ञ के लिए अन्न-दानादि नहीं करने वाले एवं काकआदि की भाँति केवल अपने पापी-पेट का ही भरण करने का स्वभाव वाले-उस मनुष्य को–परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन-दोष से, विहित-शुभ-कर्म के अकरण से होने वाले प्रत्यवाय से, एवं सदा किये हुए पापों के संघात से, सम्यक् मिला हुआ वह खाया जाने वाला अन्न, 'विष से संपृक्त-अन्न की भाँति' मृत्यु रूप हुआ, अनेक कल्पपर्यन्त-चौरासी लाख-जाति के प्राणियों में उत्पन्न होने वाले जन्म मरणादि-महाकष्टों का समर्पण करने वाला हो जाता है। इस प्रकार अदाता-दुराचारी को लक्ष्य करके भगवान् वेद, अनुक्रोश-उसकी निन्दा करता है, इसलिए किसी भी प्रकार से शक्ति के अनुसार कुछ दानादि करना ही चाहिये, ऐसा अभिप्राय है। इस प्रकार अन्न दान का कर्ता–जो क्षुधा व्याधि से पीडित सुपात्र-मनुष्यों को भोजन कराता है, उस पुरुष की प्रशंसा करता हुआ, तथा वही दाता सकल-इष्ट-फलों का भागी होता है, ऐसा वर्णन करता हुआ, अर्थात् अदाता-कृपण-भोजन नहीं करने वाले की निन्दा

न्दन्नन्योऽपि निगमः प्राह–'न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः। इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति' ॥ (ऋ. १०।१०७।८) इति । अयमर्थः–भोजाः=भोजयितारः–अन्नदानकर्तारः पुरुषाः, न मम्रुः=न म्रियन्ते–अपि तु देवत्वं भजन्ते इत्यर्थः । अत एव न्यर्थं=निकृष्टां गतिं, न ईयुः=न कदापि ते प्राप्नुवन्ति । तथा ते न रिष्यन्ति=न कैश्चिदपि दुष्टैः हिंसिता भवन्ति, न वा क्लेशैर्व्यथिता भवन्ति । अत एव भोजाः=सुपात्रेभ्योऽन्नभोजनं कारयितारः, न व्यथन्ते=संसारस्याधिव्याध्युपाधिभिश्च न बाधिता भवन्ति । ह=प्रसिद्धौ। अयमर्थो लोके प्रसिद्धः । अन्नदानकर्तुः सकलानिष्टनिवृत्तिः सद्यो लोके चकास्ति । एवमर्धर्चेनानिष्टनिवृत्तिमभिधायोत्तरार्धेन सकलेष्टसिद्धिमप्याह–इदं=परिदृश्यमानं, विश्वं=सर्वं, यद्भुवनं=भवनधर्मकमैहिकमभीष्टस्त्रीपुत्रधनकीर्त्यादिविषयजातमस्ति, स्वः=परत्र स्वर्गलोकश्चास्ति, एतत्सर्वं, दक्षिणा=अन्नदानं कर्तृपदमिदम् । एभ्यः=अन्नदानकर्तृभ्यो भोजयितृभ्यः, ददाति=प्रयच्छति–समर्पयतीत्यर्थः । अर्थादन्नदानस्याकर्तारः–अभोजयितारः–कृपणाः–कुत्सिताशयाः पुनःपुनर्म्रियन्ते, देवत्वं कदापि प्राप्तुं

करता हुआ अन्य भी निगम-वेद-मन्त्र कहता है–'भोजन कराने वाले-मनुष्य, मरते नहीं हैं, अर्थात् अमर हो जाते हैं, एवं निकृष्ट-अधोगति को प्राप्त नहीं होते हैं, एवं वे दुष्टों से हिंसित तथा क्लेशों से व्यथित भी नहीं होते हैं । यह जो समस्त-भुवन-विश्व है, तथा जो स्वर्ग-लोक है-उस सर्व को अन्न का दान, उन दाताओं को देता है ।' इति । इसका यह अर्थ है–भोजा यानी भोजन कराने वाले-अन्न दान करने वाले-पुरुष, मरते नहीं हैं, किन्तु देवत्व को प्राप्त कर अमर हो जाते हैं । इसलिए वे न्यर्थ यानी निकृष्ट-अधोगति को कदापि प्राप्त नहीं होते हैं । तथा वे किन्हीं-दुष्टों से भी हिंसित ताडित नहीं होते है, या क्लेशों से भी व्यथित नहीं होते हैं । अत एव भोज-सुपात्रों को अन्न का भोजन कराने वाले, संसार की आधि-व्याधि-एवं उपाधियों से बाधित नहीं होते हैं । 'ह' शब्द प्रसिद्धि-का बोधक है । अर्थात् यह बात लोक में भी प्रसिद्ध है । अन्नदान-कर्ता की सकल-अनिष्टों की निवृत्ति शीघ्र ही लोक में प्रकट हो जाती है । इस प्रकार आधी-ऋचा से अनिष्ट की निवृत्ति का प्रतिपादन करके उत्तरार्ध की ऋचा से समस्त इष्ट की सिद्धि का भी प्रतिपादन करते हैं–इद यानी यह परिदृश्यमान, विश्व-समस्त, जो भुवन यानी भवन-उत्पत्ति धर्म-स्वभाव वाला-इस लोक का-अभीष्ट-जो स्त्री-पुत्र-धन-कीर्ति आदि-विषय समुदाय है, तथा परलोक में जो सुख रूप स्वर्ग लोक है, यह सर्व, दक्षिणा-यानी अन्न का दान, यह कर्तृपद है, इन-अन्न दान के करने वाले-भोजन कराने वाले को देता है–समर्पण करता है । अर्थात् अन्न दान के अकर्ता-अतिथि आदि को भोजन नहीं कराने वाले-कृपण-खराब-आशय-हृदय वाले-बार बार मरते है, देवत्व को प्राप्त करने के लिए कदापि समर्थ नहीं होते हैं, निकृष्ट-

न प्रभवन्ति। निकृष्टां कपूयां श्वशूकरादियोनिं प्राप्नुवन्ति। चौरैश्च हिंसिता भवन्ति, आधिव्याध्यादिभिश्च बाधिता भवन्ति। न च ते ऐहिकं पारत्रिकञ्चेष्टविषयसुखमपि लब्धुं शक्नुवन्ति। इति हन्त!! कृपणस्य महतीं दुर्गतिं सूचयन्नयं तं निन्दति। तस्मान्निन्दानिदानं कार्पण्यं विहायाऽन्नदानं यथाशक्ति कर्तव्यमिति भावः।

अधम-कुत्सित-कुत्ता-सुव्वर आदि की नीच योनि को प्राप्त होते हैं, तथा वे चोरों से हिंसित होते हैं, आधि-व्याधि आदि से बाधित-व्यथित होते हैं। वे इस लोक के एवं परलोक के इष्ट-विषय सुख को भी प्राप्त करने के लिए समर्थ नहीं होते हैं। इस प्रकार हन्त बड़ा खेद का विषय है—यह वेद मन्त्र कृपण की महती दुर्गति की सूचना करता हुआ उसकी निन्दा करता है। इस लिए-निन्दा का कारण-कृपणता का परित्याग करके शक्ति के अनुसार अन्नदान अवश्य करना चाहिए, यह भाव है।

(४९)

(अखिलानर्थनिवारकः सकलाभीष्टार्थसम्पादकः परमेश्वर एव सद्भक्त्याऽभ्यर्थनीयः)

(समस्त-अनर्थों का निवारण करने वाला-एवं निखिल-अभीष्ट-अर्थों का सम्पादन कराने वाला परमेश्वर ही सद्भक्ति के द्वारा प्रार्थनीय है)

सर्वशक्तिसम्पन्नः परमात्मैवास्माभिः प्रणयरसेन प्रतिदिनमनुवेलं कायेन वाचा मनसा च समाराध्यः। तत्प्रसादाद्धि सर्वोऽप्यस्मदीयो मनोरथः पूर्णतां गमिष्यति, करुणावरुणालयो भगवानवश्यमेवास्मासु तरुणां करुणां करिष्यतीति चास्माभिः परिपूर्णो विश्वासो विधातव्यः। यस्य स्मरणमपि नूनं चिन्तितार्थपुञ्जपूर्तौ चिन्तामणिकल्पम्। तं भक्तलोकैकभक्तं प्रियतमं सुहृत्तममानन्दनिधिं विहायापरं कं वयमभ्यर्थयामहे?, हे प्रभो! हे महेन्द्र! प्रेमामृतार्द्राभिः सन्मङ्गलमयीभिः करुणादृग्भिः प्रणतानखिलानस्मान् पश्य, समस्तेभ्यः कामादिभ्यः शत्रुभ्यो जन्ममरणादिदुःखेभ्यश्च त्रायस्व,

सर्व-शक्ति-सम्पन्न-परमात्मा ही हमारे से प्रेम-भक्ति-रस द्वारा प्रतिदिन समय के अनुसार शरीर से वाणी से एवं मन से सम्यक् आराधना करने के लिए योग्य है। उस की प्रसन्नता से ही हमारा अखिल-मनोरथ पूर्णता को प्राप्त होगा, वह करुणा का सागर भगवान् अवश्य ही हमारे उपर पुष्ट-कृपा करेगा, ऐसा हमें परिपूर्ण विश्वास रखना चाहिए। जिसका स्मरण भी निश्चय से चिन्तित-अर्थ-समुदाय की पूर्ति में चिन्तामणि के समान है। उस भक्त लोग के एकमात्र भक्त—अतिप्रिय-अति सुहृद्-हितकर-आनन्दनिधि-सर्वात्मा भगवान् को छोड़ कर हम किस अन्य की अभ्यर्थना-प्रार्थना करें? हे प्रभो! हे महेन्द्र! प्रेमामृत से आर्द्र हुई-सत्य मंगल-कल्याणमयी-करुणा की-शोभन दृष्टियों से तेरे समक्ष अत्यन्त नम्र हुए-हम सब को देख, निखिल-कामादि-शत्रुओं से तथा जन्म-मरणादि दुःखों से

निखिलाभीप्सितां शान्तिं तुष्टिं पुष्टिं चास्मासु समाधत्स्व, ऋतम्भरां प्रज्ञां समर्पय, विमलाचलमानन्दञ्च स्थापय, भवाम्भोनिधेर्विज्ञानतर्या च तारयेत्यभ्यर्थयमाना आहुः—

हमारा परित्राण कर। सभी से चाहने या प्राप्त करने योग्य-शान्ति तुष्टि-एवं पुष्टि हमारे में स्थापन कर। ऋत-सत्य को ही धारण करने वाली निर्मल-स्थिर प्रज्ञा हमें समर्पण कर, विमल-अचल-आनन्द हमारे में स्थापन कर, और संसार-समुद्र से विज्ञान रूपी नौका के द्वारा हमें तार दे, इस प्रकार प्रार्थना करते हुऐ मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—

ॐ इन्द्र! प्र णः पुर एतेव पश्य, प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ।
भवा सुपारो अतिपारयो नो, भवा सुनीतिरुत वामनीतिः॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ६. सूक्त ४७ ऋक्. ७)

'हे इन्द्र—परमात्मन्! अग्र में गमन करने वाले-रक्षक की भाँति हम को कृपादृष्टि से देख, दरिद्रता आदि सङ्कटों से उद्धार करने वाला-सभी प्रकार का श्रेष्ठ-धन हमें प्राप्त करा। जन्म मरणादि कष्टों से हमें तार। हमारे अखिल-शत्रुओं का अभिभव कर। वरण-स्वीकार करने योग्य-कल्याण के समस्त साधन प्राप्त करा दे। तथा तू हमारे प्रति शोभन-दिव्य-प्रज्ञान दृष्टि का समर्पण करने वाला हो।'

हे इन्द्र!=हे अखिलेश्वर! त्वं पुर एतेव=पुरतः-अग्रतो गन्ता रक्षक इव, नः=अस्मान्, प्रपश्य=प्रकर्षेण कृपया ईक्षस्व, यथा मार्गरक्षकः स्वयं पुरतो गच्छन्, अनुगच्छतो रक्षणीयान् पथिकान् कृपादृष्ट्या पश्यति, तथा त्वदनुयायिनः प्रपन्नान्-प्रणतानस्मान् करुणामृतदृष्टिभिः पश्येत्यर्थः। तथा वस्यः=वसीयः-श्रेष्ठं, प्रतरं=प्रकर्षेण दारिद्र्यादिभ्यस्तारकमुद्धारकं ऐहलौकिकं पारलौकिकं पारमार्थिकं च तुष्टिपुष्टिशान्तिसुखसम्पादकमभ्यर्थ्यमानं धनं, अच्छ=यथा स्यात्तथा नः=अस्मान् प्रणय=प्रापय। तथा सुपारः=सुष्ठु पारयिता जन्ममरणादिदुःखेभ्यस्तारयिता भव। तथा नः=अस्मान्-त्वदाज्ञानुवर्तिनः स्तोतॄन्-भक्तान् अतिपारय=शत्रून-

हे इन्द्र! हे अखिलेश्वर! तू पुरः—अग्र में जाता हुआ रक्षक की भाँति हमारे को उत्तम कृपा दृष्टि से देख। अर्थात् जैसे मार्ग का रक्षक स्वयं आगे जाता हुआ, पीछे-चलने वाले रक्षा करने योग्य-पथिकों को कृपादृष्टि से देखता है, वैसे तेरे-अनुयायी-शरणागत-प्रणत-हम को करुणामृत की शोभन-दृष्टियों से देख। तथा वस्य यानी श्रेष्ठ, प्रतर यानी दरिद्रता आदि से उद्धार करने वाला-इस लोक का परलोक का एवं पारमार्थिक-तुष्टि-पुष्टि-शान्ति एवं सुख का सम्पादक-प्रार्थनीय-धन को—जैसे हो वैसे हमें प्राप्त करा। तथा तू सुष्ठु-अच्छी प्रकार से पार करने वाला-जन्म मरणादि दुःखों से—तारने वाला हो। तथा तेरी आज्ञा के अनुसार चलने वाले-तेरी ही स्तुति गुणानुवाद करने वाले-हम भक्तों को शत्रुओं का अति क्रमण करा, अर्थात् जिस प्रकार हम कामादि-सहज-अपने शत्रुओं का-अति क्रमण-अभिभव पराजय करें, तिस प्रकार हमको प्रकृष्ट-बल से युक्त बना। इति। तथा वामनीति अर्थात्

तिक्रामय, यथा वयं कामादिकान् सहजान् स्वशत्रूनतिक्रमामः–अभिभवामस्तथाऽस्मान् प्रकृष्टबलयुक्तान् विधेहीति यावत्। तथा वामनीतिः=वामानां–वननीयानां–सम्भजनीयानामभीप्सितधनरूपाणां भक्तिविरक्तिप्रभृतिकल्याणसाधनानां नीतिः=नेता-प्रापको भव। अस्मदर्थं हिततमान् श्रेष्ठसाधनार्थान् प्रापयेति यावत्। अत्र 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानि'ति न्यायेन सुनीतिपदात्पूर्वं वामनीतिपदं व्याख्यातुं योजितं, यतः साध्याभ्यर्थनात्पूर्वं साधनाभ्यर्थनमभ्यर्हितमिति बोध्यम्। उत–अपि च, सुनीतिः=सु–शोभना, नीतिः–प्रज्ञानयनमस्मभ्यं समर्पणीयं विद्यते यस्य सः, शोभनप्रज्ञाननेत्रसमर्पकोऽस्मत्कृते भव। अर्थादस्माकं बुद्धौ ब्रह्मात्मैक्यज्ञानदृष्टिमर्पय, यया ब्रह्माद्वैतभावनामय्या वयं स्वं सर्वञ्च ब्रह्मैव पश्येम, प्रकृष्टज्ञानाग्निनाऽविद्यातत्कार्यशोकमोहादीन् भस्मसात्कुर्याम, निरन्तरं ब्रह्मानन्दामृतरसेन निरङ्कुशां तृप्तिं चानुभवेम इति॥

वाम-सुन्दर, वननीय-वरण-संभजन-सेवन करने योग्य-अभीप्सित-धन रूप-जो भक्ति विरक्ति-आदि-कल्याण के साधन हैं–उनका नेता-प्राप्त कराने वाला तू हो। अर्थात् हमारे को अत्यन्त हित-कर-श्रेष्ठ-साधन रूप-अर्थों को प्राप्त करा। यहाँ–'पाठ क्रम से अर्थ क्रम अति बलवान् होता है' इस न्याय से 'सुनीति'पद से प्रथम 'वामनीति' पद का व्याख्यान के लिए योजन किया, क्योंकि-साध्य की प्रार्थना से प्रथम साधन की प्रार्थना प्रशस्त है, अर्थात् साधन की सिद्धि के विना साध्य की सिद्धि नहीं होती है, इसलिए प्रथम साधन की प्रार्थना होनी चाहिए,–ऐसा जानना चाहिए। और सुनीति अर्थात् सु-शोभन-नीति यानी प्रज्ञानेत्र-हम भक्तों के लिए समर्पण करने योग्य है जिसको, ऐसे आप हमारे को शोभन-पवित्र प्रज्ञानरूप नेत्र-का-दिव्य दृष्टि का समर्पण करने वाले हों। अर्थात् हमारी बुद्धि में तू ब्रह्मात्मा के ऐक्यज्ञान की दृष्टि समर्पण कर, जिस–ब्रह्माद्वैत की भावनामयी उस दिव्य-दृष्टि से हम अपने को एवं सर्व-विश्व को ब्रह्मरूप ही देखें, प्रदीप्त-ज्ञानाग्नि से अविद्या और अविद्या के कार्य शोक मोहादि को भसीभूत करें, तथा निरन्तर ब्रह्मानन्दामृत रस के द्वारा निरङ्कुश-तृप्ति का अनुभव करें। इति।

(५०)

(अभयाऽमृतपदप्राप्तये परमेश्वर एव तदभयं शरणं गृहीत्वा सततं सेवनीयः)

(अभय-अमृत-पद-धाम की प्राप्ति के लिए-परमेश्वर का ही–उस का अभय-शरण ग्रहण करके–निरन्तर सेवन करना चाहिए)

देवदुर्लभं महाभागधेयलब्धं साधनास्पदं भवाब्धितरणस्तरणं मोक्षद्वारममूल्यं मनुजशरीरमवाप्यावश्यं पूर्णात्मा वेदि-

देव-दुर्लभ-महा-भाग्य से प्राप्त-साधनों का धाम-संसार सागर से तरने का साधन-मोक्ष का द्वार-रूप-अमूल्य-मनुष्य शरीर को प्राप्त करके

तव्यः, तेन हि नित्यविज्ञानानन्दामृताभयस्वभावं परमं धाम पुनरावृत्तिवर्जितमासादयितव्यम्। तत एव मानवजन्मनः साफल्यमन्यथा जन्मजरारोगमरणादिप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणा महती विनष्टिरनिवार्या अनादिकालतः संलग्ना त्वस्त्येव। अत एव मतिमताऽभयपदावाप्तये कृपापारावारस्य परमेश्वरस्य विमलः प्रसादो विशुद्धप्रणयभरेण सविनयाभ्यर्थनोपेतेन तन्निरन्तरसेवनेनार्जनीयः। तत्प्रसादात्समुत्पन्ने परमतत्त्वविज्ञाने सति जगदखिलमिदं केवलमखण्डानन्दमयमभयामृतास्पदमेव सदा भासते। तदानीं शोकमोहादिकष्टं क्वास्तीति ज्ञातुमेव न शक्यते। यावच्च न प्रादुर्भवति तत्त्वविज्ञानं, तावत्तु विविधविपन्मयमेव जगत्प्रतिभाति, तस्मादभयपदसमर्पकतत्त्वविज्ञानप्रयोजकपरमेश्वरप्रसादमवाप्तुकामैस्तस्य विश्वेश्वरस्य चतुर्विधपुरुषार्थसम्पादकौ महान्तौ बाहू एव शरणत्वेनावलम्बनीयौ इत्येतन्मन्त्रदृशः सप्रश्रयाऽऽवेदयन्ति—

अवश्य ही पूर्णात्मा जानना चाहिए। उसके ज्ञान से ही नित्य विज्ञान-आनन्द-अमृत-अभय-स्वभाव वाला—जो पुनरावृत्ति से रहित-परम-कैवल्य धाम है—उसको प्राप्त करना चाहिए। इस से ही मनुष्य जन्म सफल होता है, अन्यथा—कैवल्य धाम, एवं उसका साधन-आत्मज्ञान न प्राप्त करने पर जन्म-जरा रोग-मरण आदि क्लेश-परम्परा की विच्छेदरहित-प्राप्ति रूप महान् विनाश-जो अनिवार्य है-वह तो अनादिकाल से सम्यक्—पीछे लगा हुआ है ही। इसलिए मतिमान् को—अभय पद की प्राप्ति के लिए, कृपासागर परमेश्वर की निर्मल प्रसन्नता—विशुद्ध प्रेम-भक्ति का भार—जो विनय-एवं प्रार्थना सहित है, एवं उसका निरन्तर सेवन भजन-पूर्वक है—उसके द्वारा अर्जन-सम्पादन करनी चाहिए। उस भगवान् की प्रसन्नता द्वारा परम-तत्त्व का विज्ञान सम्यक्-उत्पन्न होने पर यह समस्त जगत्-केवल-अखण्ड-आनन्द-मय अभय-अमृत का आश्रय ब्रह्म-रूप-हुआ ही सदा—प्रतीत होता है। उस समय शोक-मोहादि का कष्ट कहाँ है? ऐसा जानने में भी नहीं आ सकता। जब तक तत्त्वविज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं होता है, तब तक यह जगत् विविध विपत्तियों से भरा हुआ ही प्रतीत होता है। इसलिए—अभय पद का समर्पण करने वाला तत्त्वज्ञान है, उसका प्रयोजक परमेश्वर की प्रसन्नता है, उस की प्राप्ति की कामना-वालो को—उस विश्वेश्वर के चतुर्विध पुरुषार्थ के सम्पादक—महान्-बाहू ही शरण रूप से अवलम्बन करने चाहिए। ऐसा ये मन्त्रद्रष्टा-महर्षि, अपनी प्रवृत्ति द्वारा आवेदन-ज्ञापन करते हैं—

ॐ उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान् स्वर्वज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।
ऋष्वा त इन्द्र! स्थविरस्य बाहू, उप स्थेयाम शरणा बृहन्ता॥

(ऋग्वेद मण्ड ६ सूक्त० ४७ मन्त्र ८। अथर्व १९।१५।४। तै. स २।७।१३।३। नि ७।६)

'हे इन्द्र ! परमात्मन् ! आप विद्वान् हैं—अपने पूर्णात्मा को अपरोक्ष रूप से जानते हैं—इसलिए आप के भक्त-हम को उस विज्ञान के समर्पण द्वारा जो व्यापक-अपरिच्छिन्न-शाश्वत-सुख पूर्ण-अभय-स्वयं प्रकाश-पावन-स्वस्ति-कल्याण रूप-तुरीय-कैवल्य धाम है—उसको प्राप्त करा। इसके लिए-हम—अतिवृद्ध-अचल-सनातन-आप भगवान् के अति रमणीय-महान्-वरद-हस्तों का शरण रूप से—अवलम्बन करते हैं।'

हे इन्द्र!=परमात्मन्! परावरप्रभो! यतस्त्वं विद्वान्=पूर्णाद्वैतं स्वात्मानं जानन्—आपरोक्ष्येणानुभवन् वर्तसे, ततो नः=अस्मभ्यमपि तत्पूर्णात्मविज्ञानं समर्प्य, उरुं=विस्तीर्णं—व्यापकं-परिच्छेदशून्यं, लोकं=तुरीयस्थानं यदस्ति, तत्कीदृशं? स्वर्वत्=शाश्वतसुखवत्-विमलानन्द पूर्णं; अभयं=भयरहितं, ज्योतिः=स्वयंप्रकाशं, स्वस्ति=शोभनं कल्याणमयं तत् अनुनेषि=अनुगमय—प्रापय। एवमेव तन्निर्भयपदावाप्तये तत्प्रतिरोधकाज्ञानमिथ्याज्ञानलक्षणतमोविच्छित्तये चान्यत्र मुमुक्षुप्रार्थना समाम्नाता भवति—'उर्वश्यामभयं ज्योतिरिन्द्र! मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः।' (ऋ. २।२७।१४) 'अरिष्टा उरावा शर्मन्त्स्याम।' (ऋ. २।२८।१६) इति। अयमर्थः—हे इन्द्र! उरु=महत्—पूर्णं, अभयं, ज्योतिः=त्वदीयं स्वतःप्रकाशलक्षणं सत्यानन्दधाम, अश्याम्=अहं प्राप्नुयाम्। दीर्घाः=विस्तृताः—अनादिकालतः संलग्नाः, तमिस्राः=तमसा—अज्ञानाख्येन युक्ता विपरीतभ्रान्तिलक्षणा निशाः, नः—अस्मान् मा अभि नशन्=मा आभिमुख्येन प्राप्नुवन्तु। तथा वयं अरिष्टाः=कामादिभिः शत्रुभिरहिंसिताः सन्तः, उरौ=विस्तीर्णेऽपरिच्छिन्ने—पूर्णे शर्मन्=शर्मणि-अख-

हे इन्द्र! परमात्मन्! परावर-कार्य कारण के प्रभो! नियन्ता! जिस कारण से तू विद्वान् है अर्थात् पूर्णाद्वैत—स्वात्मा को तू अपरोक्ष रूप से अनुभव करता रहता है, इसलिए-हमारे को भी उस-पूर्णात्मा के विज्ञान का समर्पण करके, उरु-विस्तीर्ण-व्यापक-परिच्छेद शून्य-लोक यानी जो तुरीय-धाम-स्थान है, वह कैसा है? स्वर्वद् यानी शाश्वत-सुख युक्त-विमल आनन्द से पूर्ण-भयरहित-स्वयं प्रकाश-ज्योतिरूप-स्वस्ति-शोभन-कल्याणमय है—उस को प्राप्त करा। इस प्रकार ही उस निर्भय पद की प्राप्ति के लिए—उस के प्रतिरोधक-अज्ञान-मिथ्याज्ञान रूप तम के विच्छेद-विध्वंस के लिए अन्य मन्त्र में मुमुक्षुओं की प्रार्थना का प्रतिपादन किया गया है—'हे इन्द्र! पूर्ण-अभय-ज्योति रूप कैवल्य-धाम को मैं प्राप्त होऊँ, और तमः-अज्ञान से युक्त दीर्घ-भ्रान्ति रूप-निशा-रात्रि को हम न प्राप्त होवें।' 'कामादि-शत्रुओं से अप्रतिहत हुए-हम, पूर्ण सुख धाम में सदा के लिए अवस्थित हो जाँय।' ऐसी तू कृपा कर। इति। इस-मन्त्र का यह अर्थ है। उरु यानी महत्-पूर्ण, अभय-ज्योति यानी जो तेरा स्वतःप्रकाश स्वरूप सत्य-आनन्द का धाम है—उसे मैं प्राप्त हो जाऊँ। दीर्घ-विस्तृत-अनादि काल से संलग्न-तमिस्रा यानी अज्ञान नामक-तम से युक्त-विपरीत मिथ्या-भ्रान्ति रूप निशा हमारे अभिमुख मत प्राप्त हो। तथा हम अरिष्टा यानी कामादि-शत्रुओं से अहिंसित-अप्रतिहत हुए, उरु-विस्तीर्ण-अपरिच्छिन्न-पूर्ण-शर्म-अख-

ण्डनीये आनन्दे, आ=समन्तात् स्याम=वर्तमाना भवेम इति त्वया भगवता दयालुना दया विधेया इति प्रार्थना। एवं परमेश्वराद्विज्ञानं शाश्वतस्थानञ्च प्रार्थ्य तं प्रसादयितुं तद्वरदहस्तावलम्बनलक्षणं शरणग्रहणं कुर्वन्ति—स्थविरस्य=अतिवृद्धस्य—स्थिरस्य नित्याभिनवस्य, ते=तव, ऋष्वा=ऋष्वौ—दर्शनीयौ रमणीयौ बृहन्ता=बृहन्तौ—महान्तौ, बाहू=त्वदीयौ वरदौ हस्तौ, स्वप्रपन्नेभ्यः समर्पणीयचतुर्विधपुरुषार्थसंयुक्तौ कल्याणकारिणौ, शरणा=शरणौ—रक्षकौ, उपस्थेयाम=अवलम्बेमहि—आश्रयेमहि—सेवेमहीत्यर्थः।

[पूर्वं भगवत्प्रार्थनपुरुषार्थपरायणत्वधनान्नदानादिकमात्मज्ञानानुकूलसाधनजातं प्रतिपादितम्। इदानीमद्वैतब्रह्मसिद्धिसाधकं द्वैतमिथ्यात्वलक्षणमनिर्वचनीयत्वं प्रतिपादयति।]

ण्डनीय-आनन्द धाम में सब तरफ से सदा के लिए अवस्थित हो, ऐसी हमारे ऊपर तुझ दयालु-भगवान् को दया करनी चाहिए, यह प्रार्थना है। इस प्रकार परमेश्वर-सर्वात्मा से विज्ञान की एवं शाश्वत धाम की प्रार्थना करके उसको प्रसन्न करने के लिए उस के वरद-हस्त का अवलम्बन रूप शरण ग्रहण करते हैं—स्थविर यानी अति वृद्ध-स्थिर-नित्यनूतन-तुझ भगवान् के-ऋष्व-यानी दर्शनीय-रमणीय-बृहत्-महान् तेरे वरद-हस्त, जो अपने-प्रपन्न-भक्तों के लिए समर्पण करने योग्य-चतुर्विध-पुरुषार्थ से संयुक्त-कल्याण कारी—शरण-रक्षक हैं-उन का हम अवलम्बन-आश्रयण-सेवन करते हैं।

[प्रथम के मन्त्रों में आत्म-ब्रह्म ज्ञान के अनुकूल-भगवत्प्रार्थना-पुरुषार्थपरायणत्व-धन अन्नादि का दान आदि साधन समुदाय का प्रतिपादन किया। अब अद्वैत-ब्रह्मसिद्धि का साधक-द्वैत-मिथ्यात्व रूप अनिर्वचनीयत्व का प्रतिपादन करते हैं]

(५१)

(प्रलयवर्णनमुखेन ब्रह्मभिन्नस्य सर्वस्यानिर्वचनीयत्वप्रतिपादनम्)

(प्रलय-वर्णन के द्वारा ब्रह्म से भिन्न-समस्त-नाम रूप जगत् के अनिर्वचनीयत्व का प्रतिपादन)

वियदादिसृष्टेः प्राक् यस्यां निरस्तसमस्तप्रपञ्चायां प्रलयावस्थायां स्थितं यदनिर्वाच्यं कारणस्वरूपं तच्छ्रुत्याऽनया निरूप्यते—

आकाशादि सृष्टि से प्रथम—जो प्रलयावस्था है, जिसमें समस्त द्वैत प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव है—उसमें अवस्थित-जो अनिर्वचनीय-जगत् का कारणस्वरूप है—उसका इस श्रुति के द्वारा निरूपण किया जाता है—

ॐ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं, नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्म्मन्नम्भः किमासीत् गहनं गभीरम्॥

(ऋग्वेद मण्ड १० सूक्त १२९ ऋक्. १) (तै. ब्रा २।८।९।३) (श. ब्रा १०।५।३।२)

'उस प्रलय-समय में वह (जगत् का परिणामी उपादान कारण रूप तम.-अज्ञान) असत्-तुच्छ नहीं था, तथा वह सत्-पारमार्थिक-सत्य भी नहीं था, किन्तु सत्-असत् से विलक्षण-अनि-

वचनीय था। एवं उस समय पृथिव्यादि-लोक नहीं थे, अन्तरिक्ष-लोक नहीं था, एवं उसके ऊपर के लोक भी नहीं थे। उस समय आवरण करने वाले-भूत तथा आवृत होने योग्य-कोई तत्त्व भी नहीं था। किस देश में स्थित हो कर वह तत्त्व, किस भोक्ता-जीव के भोग के लिए आवरण करे? ऐसा कोई आधार-देश भी नहीं था, एवं कोई भोक्ता भी नहीं था। तथा उस समय गहन-गम्भीर अम्भ-जल भी क्या था? अर्थात् नहीं था।'

तदानीं=प्रलये वर्तमानं यदस्य वियदादिजगतो मूलकारणं परिणाम्युपादानभूतं तत्, न असत्=शशविषाणादिवन्निरुपाख्यं, न आसीत् तस्याकारणत्वात्; न ह्यसतो निःस्वरूपात् सतोऽस्य जगत उत्पत्त्यादिकं संभवति। 'कथमसतः सज्जायेत' (छां. ६। २।२) इत्यसत्कारणत्वप्रतिषेधश्रुतेः, असतः सदुत्पत्तौ दृष्टान्ताभावाच्च। बीजोपमर्दे जायमानोऽङ्कुरो दृष्टान्तः स्यादिति चेन्नैवम्; बीजावयवानां तत्संस्थानविशिष्टानां कार्येऽङ्कुरेऽनुवर्तमानत्वात्, न तेषामुपमर्दोऽङ्कुरोत्पत्तौ कारणीभूतो मन्तव्यः। यद्यभावलक्षणादसत एव घटादिकं कार्यमुत्पद्येत, तदा घटाद्यर्थिना मृत्पिण्डादिकं नोपादीयेत। अभावशब्दप्रत्ययानुवृत्तिश्च तत्र घटादौ प्रसज्येत, उपादेये तदुपादानशब्दप्रत्ययानुवृत्तेर्दृष्टत्वात्। तस्मादसद्विलक्षणमेव तत्कारणमभ्युपगन्तव्यम्। एवं तर्हि तत्किं सत्कारणमासीत्? इत्यपि प्रतिषेधति—नो-नैव,

तदानीं—यानी प्रलय समय में वर्तमान जो इस आकाशादि-जगत् का परिणामी-उपादान रूप मूल कारण था, वह असत् यानी शशविषाणादि की भाँति-निरुपाख्य-(शब्द-शक्ति की विषयता से रहित) तुच्छ नहीं था, क्योंकि-असत् किसी का कारण नहीं हो सकता है। निःस्वरूप-असत् से सद्रूप-इस जगत् की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती है। 'असत् से सत् कैसे उत्पन्न होय?' इस छान्दोग्य श्रुति से भी असत्कारणत्व का प्रतिषेध किया जाता है, और असत् से सत् की उत्पत्ति में दृष्टान्त का भी अभाव है। बीज का उपमर्द-विनाश होने पर उस से उत्पन्न होने वाला अङ्कुर दृष्टान्त होगा? ऐसा मत कहो, क्योंकि-बीज के अवयव-जो अंकुर के संस्थान-रचना विशेष से विशिष्ट हैं—उन की कार्य-अङ्कुर में अनुवृत्ति है, इसलिए उन अवयवों का उपमर्द अङ्कुर की उत्पत्ति में कारण रूप नहीं मानना चाहिए, क्योंकि-अङ्कुर में बीजावयवों का सद्भाव है, विनाश नहीं है। यदि-अभाव रूप-असत् से ही घटादि-कार्य उत्पन्न हो जाय, तब घटादि के अर्थी को मृत्पिण्डादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए। और उस घटादि में अभाव शब्द एवं अभाव प्रत्यय-प्रतीति की अनुवृत्ति भी प्रसक्त हो जायगी। क्योंकि-उपादेय-कार्य में उसके उपादान कारण का शब्द-एवं प्रत्यय की अनुवृत्ति देखी जाती है। इसलिए जगत् का उपादान कारण असद्भिन्न ही मानना चाहिए। एवं तब क्या वह सत् कारण था? इस का भी प्रतिषेध करता है—सत् यानी

सत्–आत्मवत् सत्त्वेन निर्वाच्यं पारमार्थिकं कालत्रयाबाध्यं कारणमासीत्?, सद्रूपस्य तद्विलक्षणजगत्परिणामित्वासंभवात्, तथा च सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेव परिणाम्युपादानकारणं मायाऽविद्याप्रकृतिप्रभृति-पदप्रतिपाद्यमासीदित्यर्थः। इदमत्र विज्ञेयं–तस्मादनिर्वाच्यात्कारणात्समुत्पद्यमानं वियदादि जगदप्यनिर्वाच्यमेव। न ह्यत्यन्तासतो निःस्वरूपस्य, सर्वकालेष्वबाध्यस्वरूपतयाऽवस्थितस्य वा पारमार्थिकसत उत्पत्तिर्नाशो वा सम्भवति, शशशृङ्गादेरात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गात्, अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेवोत्पद्यते नश्यति चेत्यवश्यमभ्युपेयम्। यद्यपि सदसदात्मकं मिलितमुभयं प्रत्येकविलक्षणं भवति, तथापि भावाभावयोः सहावस्थानमपि न संभवति, कुतस्तयोः तादात्म्यमित्युभयविलक्षणमेव तदनिर्वाच्यं न तूभयात्मकम्। ननु 'यदन्यद्वायोरन्तरिक्षाच्चैतत्सत्, वायुरन्तरिक्षं चैत्यसदि'ति श्रुतिप्रमाणानुरोधेन कथमत्रापि सदसच्छन्दौ पञ्चभूतपरौ न स्यातामिति

आत्मा की भाँति सत्त्व से निर्वचन करने योग्य-पारमार्थिक-तीन काल में भी अबाधित सत् कारण नहीं था। क्योंकि सद्रूप-अबाधित-अविकृत-कारण, उससे विलक्षण-असद्रूप-बाधित-जगत् रूप से परिणत नहीं हो सकता। तथा च सत् एवं असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय ही जगत् का परिणामी-उपादान कारण–जो माया, अविद्या, अज्ञान, प्रकृति-आदि पदों से प्रतिपादन करने योग्य है, वही–था। यहाँ यह जानना चाहिए–उस अनिर्वाच्य-कारण से उत्पन्न होने योग्य-आकाशादि जगत् भी अनिर्वाच्य ही है। क्योंकि–जो अत्यन्त असत्-निःस्वरूप-तुच्छ है–उसकी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं हो सकता है, और जो सभी कालों में अबाध्य रूप से अवस्थित-पारमार्थिक सद्वस्तु है–उसकी भी उत्पत्ति एवं विनाश नहीं हो सकता है। यदि असत् की उत्पत्ति आदि हो तो शशशृङ्गादि की भी होनी चाहिए, एवं यदि पारमार्थिक-सत् की उत्पत्ति आदि हो तो आत्मा की भी होनी चाहिए। इस लिए सत्-एवं असत् से विलक्षण-अनिर्वचनीय-पदार्थ ही उत्पन्न होता है तथा नष्ट होता है, ऐसा अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यद्यपि सदसद्रूप-जो मिला हुआ-उभय दो है, वह प्रत्येक से विलक्षण है, तथापि भाव एवं अभाव का सह-मिल कर अवस्थान भी नहीं हो सकता है, दोनों का तादात्म्य तो कैसे हो? इसलिए सत्-असत्-उभय से विलक्षण ही वह अनिर्वचनीय है, उभय रूप अनिर्वचनीय नहीं है।

शंका–'जो वायु से एवं अन्तरिक्ष-आकाश से अन्य-पृथिव्यादि है, वह सत् है, वायु और अन्तरिक्ष असत् है' इस श्रुति-प्रमाण के अनुरोध से यहाँ भी सत् एवं असत् शब्द पंच भूतों का बोधक क्यों न हो? अर्थात् सत् शब्द पृथिवी जल एवं तेज का, एवं असत् शब्द वायु-आकाश का बोधक क्यों न हो?

चेन्मैवम्; प्रसिद्धपरत्वे सम्भवति, अप्रसिद्धपरताया अयुक्तत्वात्, न हि भूते सदसच्छब्दौ प्रसिद्धौ, किन्तु पारमार्थिकापारमार्थिकयोरेव। यद्यपि भूतेषु पूर्वोक्तश्रौतप्रसिद्धिमात्रमस्ति, तथापि सत्यालीकयोस्तु शास्त्रीया लौकिकी च प्रसिद्धिरस्ति, अतस्तयोरेकापेक्षया बलवत्त्वं बोद्धव्यम्। ननु–'नो सदि'ति पारमार्थिकसत्त्वस्य निषेधश्चेत्तर्हि–आत्मनोऽप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गः; यद्युच्येत 'आनीदवातमि'त्यनेनाग्रे आत्मनः सत्त्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्परिशेषान्मायाया एवात्र पारमार्थिकसत्त्वं निषिध्यते इति। एवमपि तदानीमिति विशेषणवैयर्थ्यम्; सृष्टिव्यवहारदशायामपि तस्याः पारमार्थिकसत्त्वाभावात्, इति चेन्मैवम्; 'नासीद्रजो नो व्योमे'ति रजोनिषेधादावेव तदानीमित्यस्यान्वयाभ्युपगमान्न वैयर्थ्यदोषः; न हि रजःप्रभृतीनां सर्वदाऽस्तित्वाभावः, किन्तु प्रलय एव। वस्तुतो 'नासदासीन्नो सदासीदि'त्यस्य सदसद्भिन्नानिर्वचनीयपदार्थबोधकस्य वाक्यस्य 'तम आसीदि'त्यनेन वक्ष्यमाणेनैकवाक्यतया सदसद्भिन्नं तम आ-

समाधान–प्रसिद्ध-अर्थ के बोधन का संभव होने पर शब्द को अप्रसिद्ध-अर्थ के तरफ लगाना अयुक्त है। भूतों में सत्-असत् शब्द प्रसिद्ध नहीं है, किन्तु सत् शब्द पारमार्थिक-अबाधित-अर्थ में, तथा असत् शब्द, अपारमार्थिक-बाधित-अर्थ में प्रसिद्ध है। यद्यपि भूतों में पूर्वोक्त-श्रुति की एकमात्र-प्रसिद्धि है, तथापि सत्-असत् शब्द की सत्य एवं अलीक-तुच्छ अर्थ में शास्त्र की एवं लोक की दोनों की प्रसिद्धि है, इसलिए एक-प्रसिद्धि की अपेक्षा से दो प्रसिद्धियाँ बलवती समझनी चाहिए।

शंका–'नो सत्' इस वचन से यदि पारमार्थिक-सत्त्व का निषेध है, तब तो आत्मा की पारमार्थिक-सत्ता का भी निषेध होने पर वह भी अनिर्वचनीय हो जाता है? यदि कहें कि–'आनीदवातम्' इस मन्त्र के वचन से आगे आत्मा के सत्त्व का प्रतिपादन करना है, इसलिए परिशेष से माया के ही पारमार्थिक-सत्त्व का यहाँ निषेध किया जाता है। इस प्रकार मानने पर भी 'तदानीं' ऐसा विशेषण-व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि–सृष्टि-व्यवहार-दशा में भी माया के पारमार्थिक सत्त्व का अभाव है, इसलिए प्रलय में उसके पारमार्थिक-सत्त्व का प्रतिषेध क्यों किया जाता है?

समाधान–'नासीत् रजो नो व्योम' इस वचन से किये जाने वाले-रज के निषेध आदि में ही 'तदानीं' इस पद के अन्वय का स्वीकार होने से वैयर्थ्य दोष नहीं है, क्योंकि–रजः-लोक आदि पदार्थों के अस्तित्व का अभाव सर्वदा-सभी समय में नहीं है, किन्तु प्रलय में ही है। वस्तुतः 'नासदासीत् नो सदासीत्' यह वाक्य, सत्-असत् से भिन्न-अनिर्वचनीय-पदार्थ का बोधक है। इस वाक्य की 'तम आसीत्' इस वक्ष्यमाण-वाक्य से एक वाक्यता है, अर्थात् दोनों

सीदित्यर्थपर्यवसानसम्भवात्तदेकवाक्यतार्थमेव नासदित्यादौ तदानीमित्यन्वय आवश्यकः। अथ व्यावहारिकसतां पृथिव्यादीनां भावानां तदा विद्यमानत्वं प्रतिषेधति–रज इति। 'लोकाः रजांस्युच्यन्ते' इति यास्कः (नि. ४।१९) एकवचनन्तु सामान्यापेक्षम्। व्योमादेर्वक्ष्यमाणत्वात्तदन्यलोकास्तस्याधस्तनाः पातालादयः पृथिव्यन्तास्तदानीं नासन्नित्यर्थः। तथा व्योम=अन्तरिक्षलोकः, तदपि नो=नैवासीत्, परः=परस्तात् (पर इति सकारान्तं, परशब्दाच्छान्दसस्तासेरर्थे असि प्रत्ययः) व्योम्नः परस्तादुपरिदेशे द्युलोकादि सत्यलोकान्तं च यदपि तदपि नासीदित्यर्थः। न च 'नो सदासीदि'त्यनेनैव रजःप्रभृतिनिषेधे सिद्धे पृथङ्निषेधोऽनुपपन्न इति वाच्यम्, 'नो सदासीदि'त्यत्र सच्छब्दस्य परमार्थसत्परत्वेन व्यावहारिकसतो रजःप्रभृतेर्निषेधस्य ततः प्राप्त्यभावेन पृथङ्निषेधः समुपपन्न इति। एवं चतुर्दशभुवनगर्भब्रह्माण्डं निषिध्य तदावरकत्वेन पुराणप्रसिद्धानि वियदादिभूतानि, तेषामवस्थानप्रदेशं, तदावरणनिमित्तं चाक्षेपमुखेन क्रमेण निषेधति–किमावरीव इति।

वाक्य मिलकर एक वाक्य हो जाते हैं, इसलिए मिले-हुए उस-एक वाक्य का–'वह तमः-अज्ञान, सत्-एवं असत् से भिन्न-अनिर्वचनीय था' इस अर्थ में पर्यवसित हो जाता है, इसलिए इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता के लिए ही 'नासदि'त्यादि वाक्य में 'तदानीं' इस पद का अन्वय आवश्यक है। अथ-अनन्तर, व्यावहारिक-सत्ता वाले पृथिवी आदि-पदार्थों की उस-प्रलय समय में विद्यमानता का प्रतिषेध करते हैं–रज इति। 'रजः लोक कहे जाते हैं' ऐसा यास्क निरुक्त में कहता है। इस लिए रजः यानी लोक। एक वचन सामान्य की अपेक्षा से है। व्योम आदि आगे वक्ष्यमाण-कहे जायेंगे, इसलिए उससे अन्य लोक-जो उसके अधः-नीचे स्थित पाताल आदि-पृथिवी-पर्यन्त-लोक हैं, वे उस प्रलय में नहीं थे। तथा व्योम यानी अन्तरिक्ष–लोक, वह भी नहीं था, परः-यानी परस्तात्, व्योम से पर-उपर देश में अवस्थित द्युलोक से आदि लेकर सत्य-ब्रह्म–लोक पर्यन्त-जो लोकों का समुदाय है, वह भी नहीं था। 'नो सदासीत्' इस वचन से रजः-लोक प्रभृति-का निषेध सिद्ध होने पर उस का पृथक् निषेध अनुपपन्न है' ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि–'नो सदासीत्' इस श्रुति-वाक्य में सत् शब्द, परमार्थ-सत्य वस्तु का बोधक है, इसलिए-व्यावहारिक-व्यवहार समय में प्रतीत होने वाली–सत्ता वाले-रजः-लोक आदि का निषेध उस सत् शब्द से प्राप्त नहीं होता है, इसलिए उसका पृथक् निषेध करना सम्यक् उपपन्न–युक्तियुक्त है, इस प्रकार चतुर्दश-भुवन जिसके गर्भ में है, ऐसे ब्रह्माण्ड का निषेध करके, उस ब्रह्माण्ड के आवरक रूप से पुराण प्रसिद्ध-आकाशादि भूतों का-उनके अवस्थान के प्रदेश का, एवं उस के आवरण के निमित्त का आक्षेप के द्वारा क्रम से निषेध करता है—'किमावरीव' इति। आवरण

(आवृणोतेर्यङ्लुगन्ताच्छन्दसि लङि तिपि रूपमावरीव इति) किमावरणीयं तत्त्वमावरकानि भूतानि आवृण्वन्तु—आवृणुयुः, आवरणीयाभावात्, तदा नावारकाणि भूतान्यासन्नित्यर्थः। यद्वा किमिति प्रथमा विभक्तिः; किं तत्त्वमावरकमावृणुयात्, आवार्याभावात्, आव्रियमाणवत्तदपि स्वरूपेण नासीदित्यर्थः। आवृण्वत्तत्त्वं कुह=कुत्र देशे स्थित्वाऽऽवृणुयात्, तादृश आधारभूतो देशोऽपि तदा नासीदित्यर्थः। (किंशब्दात्सप्तम्यर्थे हप्रत्ययः 'कुति होरि'ति प्रकृतेः कु आदेशः) कस्य=भोक्तुः—जीवस्य, शर्मन्=शर्मणे-भोगाय-सुखदुःखसाक्षात्कारलक्षणाय निमित्तभूताय तदावरकं तत्त्वमावृणुयात्। जीवानामुपभोगार्थो हि सृष्टिः तस्यां हि सत्यां ब्रह्माण्डस्य भूतैरावरणं, प्रलयदशायाञ्च भोक्तारो जीवा उपाधिविलयात्प्रविलीनाः सन्तस्तदा नासन्नित्यर्थः। अतः कस्य कश्चिदपि भोक्ता तदानीं न सम्भवति, इत्यावरणस्य निमित्तत्वाभावादपि तन्न घटत इति यावत्। ('सुपां सुलुगि'ति शर्मणः चतुर्थ्या लुक्) एतेन भोग्यप्रपञ्चवत् भोक्तृप्रपञ्चोऽपि तदा नासीदित्युक्तं भवति। यद्यपि सावरणस्य ब्रह्माण्डस्य निषेधेन तदन्तर्गतं अप्सत्त्वमपि निराकृतं भवति, तथापि 'आपो वा इदमग्रे सलिलमासीदि'ति श्रुत्या प्राप्तं तदाऽम्भःसत्त्वभ्रमं निरस्यति—अम्भः किमासीदिति। गहनं=दुष्प्रवेशं, गभीरं=दुरवस्थानं-अत्यगाधं, ईदृशमम्भः

करने वाले आकाशादिभूत किस-आवरणीय-आवरण करने योग्य-तत्त्व-स्वरूप का आवरण करें, क्योंकि-उस समय आवरणीय-पदार्थ भी तो नहीं था। इसलिए आवरण करने वाले भूत भी उस समय नहीं थे। अथवा 'किं' यह प्रथमा विभक्ति है, कौन आवरक तत्त्व, आवरण करे? क्योंकि, उस समय आवार्य-आवृत होने वाला कोई-पदार्थ नहीं था, इसलिए आव्रियमाण की भाँति वह आवरक भी स्वरूप से नहीं था। आवरण करने वाला वह तत्त्व—पदार्थ किस देश में रह कर आवरण करे? क्योंकि-उस समय ऐसा आधार भूत देश-स्थान भी तो नहीं था। एवं किस-भोक्ता जीव के शर्म यानी सुख दुःख के साक्षात्कार रूप भोग—जो निमित्त भूत है—के लिए वह आवरक तत्त्व आवरण करे?। जीवों के उपभोग के लिए ही सृष्टि है, सृष्टि होने पर ही भूतों से ब्रह्माण्ड का आवरण होता है, प्रलयदशा में भोक्ता जीव, उपाधि के विलय होने से विलीन हुए—वे भी नहीं थे। इसलिए किसी भी पदार्थ का कोई भी भोक्ता उस समय नहीं हो सकता है। इस प्रकार आवरण का निमित्त न होने के कारण भी, वह आवरण नहीं हो सकता है। इस कथन से-भोग्य प्रपञ्च की भाँति भोक्ता-जीव-प्रपञ्च भी उस समय नहीं था? ऐसा कहा गया है। यद्यपि-भूत रूप आवरण सहित-ब्रह्माण्ड के निषेध से उसके अन्तर्गत-अप्-जल के सत्त्व का भी निराकरण हो जाता है, तथापि—'इस जगत् के आगे आप-सलिल-जल था' इस श्रुति के कथन से-प्राप्त उस समय जल के सत्त्व के भ्रम का भी निरास करता है—अम्भः जल भी क्या था?। इति। गहन यानी दुष्प्रवेश—जिस में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन-ऐसा। गभीर यानी दुरवस्थान-जिसमें स्थिर-रहना भी अत्यन्त कठिन अर्थात् अति-अगाध, इस प्रकार

किमासीत्तदपि नैवासीदित्यर्थः । अप्सद्भावबोधिका पूर्वोक्ता श्रुतिस्त्ववान्तरप्रलयविषया इति भावः । तथा चेमं कथञ्चिदनुवदन्तो भगवत्पादा अप्याहुः—'तुच्छत्वान्नासदासीद्गगनकुसुमवद्भेदकं नो सदासीत्, किं त्वाभ्यामन्यदासीद्व्यवहृतिगतिसन्नास लोकस्तदानीम् । किं त्वर्वागेव शुक्तौ रजतवदपरो नो विराड् व्योमपूर्वः, शर्मण्यात्मन्यथैतत्कुहकसलिलवत्किं भवेदावरीवः ॥२३॥ (शतश्लोकी) इति ।

केचन पुनरेवं व्याचक्षते—यदा पूर्वसृष्टिः प्रलीना, उत्तरसृष्टिश्च नोत्पन्ना, तदानीं सदसती द्वे अपि तत्त्वे नाभूताम् । नाम-

का अम्भ क्या था, अर्थात् वह भी नहीं था । जल के सद्भाव का बोधन करने वाली पूर्वोक्त-श्रुति अवान्तर-खण्ड प्रलय की स्थिति का वर्णन करती है, महाप्रलय विषयिणी वह श्रुति नहीं है, यह भाव है । तथा च इस मन्त्र का किसी-विलक्षण ढंग से अनुवाद करते हुए भगवत्पाद-आचार्य्य-जगद्गुरु-श्री शङ्करस्वामी भी कहते हैं—'प्रलयदशा में इस नामरूपात्मक-दृश्यमान-जगत् का परिणामी-उपादान कारण रूप-असत् पदार्थ नहीं था, क्योंकि-वह असत्—आकाश-कुसुम के समान तुच्छ असन्ताभावरूप है, इसलिए वह उपादान कारण नहीं हो सकता । इसी प्रकार ब्रह्म में भेद करने वाला कोई पारमार्थिक-अन्य सत्पदार्थ भी नहीं था [वास्तव में ब्रह्म से अन्य किसी-भेदक व्यावर्तक पदार्थ के होने की संभावना ही नहीं है, क्योंकि—'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म से अन्य पारमार्थिक पदार्थ का निषेध करती हैं] किन्तु इन सदसत् दोनों से विलक्षण-अनिर्वचनीय कोई और ही पदार्थ था । उस समय व्यवहार का विषयभूत यह लोक-समुदाय नहीं था, क्योंकि—यह सीपी में प्रतीत होने वाली चाँदी के समान पीछे से ही उत्पन्न हुआ है । उस समय ब्रह्माण्ड-रूप विराट् और उस का पूर्ववर्ती-आकाश भी नहीं था । ऐसी स्थिति में मायावी के मायानिर्मित-जल से जिस प्रकार पृथिवी का वास्तविक आवरण नहीं होता है, उसी प्रकार इस शुद्ध-आत्मा-सुखनिधि ब्रह्म का क्या पारमार्थिक आवरण हो सकता है ? ।' इति ।

कुछ विद्वान् इस मन्त्र का पुन. इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—जब पूर्व-कल्प की सृष्टि प्रलीन हो गई थी, और उत्तरकल्प की सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी, उस समय सत् एवं असत् दो तत्त्व नहीं थे । नाम रूप के वैशिष्ट्य-सम्बन्ध से

मर्थवत्त्वम् । 'तम आसीदि'त्यनेन गुणत्रयात्मकप्रकृतिसद्भावावगमात्, रजःपदेन तन्निषेधस्य विरोधग्रस्तत्वेनानुपपन्नत्वात् । इति ।

यद्यपि 'नासदासीदि'त्यादौ सदसतोः स्वतन्त्रनिषेधात्, तमःसामानाधिकरण्याप्रत्ययादनिर्वाच्यत्वं तमसि न सिद्ध्यतीत्यापाततः प्रतीयते, तथापि 'तम आसीत्' 'तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतमि'ति संवरणहेतुत्वेन प्रकृतौ प्रयुज्यमानेन तमःशब्देनास्मदभिमतस्याज्ञानस्योपाहरणात्, तस्य चावरकस्य तमसोऽपेक्षितस्वरूपपरतया 'यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थेनापि तस्य सः ।' इति न्यायात्, 'नासदासीदि'त्यादिना व्यवहितेनाप्यन्वीयमानत्वात्, आर्थक्रमेण 'तम आसीदि'त्यतोऽनन्तरमाकाङ्क्षावशेन तत्तमो नासदासीन्नो सदासीदित्यनुषङ्गेण पृथगेवार्थप्रत्ययोपगमात्तस्यानिर्वचनीयत्वं सुस्पष्टमवगम्यते । तस्यैव 'तमसा गूढं' 'तुच्छेनाभ्वपिहितमि'त्यर्थाभेदप्रत्यभिज्ञया आहत्य तुच्छत्वाभिधानात्पारमार्थिकसत्त्वाभावः स्पष्टमवबुद्ध्यते । अत एव

नहीं है । तथा 'तमः आसीत्' इस वचन से गुण त्रयरूप–प्रकृति के सद्भाव का बोध होता है, इसलिए रज पद से उस का निषेध उत्तर वचन के विरोध से ग्रस्त होने के कारण अनुपपन्न-असंगत है । इति ।

यद्यपि–'नासदासीत्' इत्यादि में सत् एवं असत् का स्वतन्त्र रूप से निषेध है, वहाँ तम-अज्ञान के सामानाधिकरण्य की प्रतीति नहीं है, इसलिए तम में सत्-असत् का निषेध रूप-अनिर्वचनीयत्व सिद्ध नहीं होता है' ऐसा आपातत -ऊपर-ऊपर से-स्थूलदृष्टि से प्रतीत होता है। तथापि 'तम था' 'वह अज्ञेय तत्त्व सृष्टि के आदि में तम से प्रच्छन्न था' इत्यादि वचनों में संवरण-आच्छादन के हेतु रूप से प्रकृति में प्रयुज्यमान-तम'शब्द से हमारे अभिमत-अज्ञान का समर्पण किया जाता है । उस आवरक-तम -अज्ञान का स्वरूप कैसा है ? ऐसी अपेक्षा होने से–'जिस का जिससे अर्थ का सम्बन्ध है, उसका दूरस्थ के साथ भी वही सम्बन्ध है' इस न्याय द्वारा–तम का अपेक्षित स्वरूप परत्व से 'नासदासीत्' इत्यादि-व्यवहित ग्रन्थ से भी 'तम' आसीत्' इस-वक्ष्यमाण दूरस्थ वाक्य का अन्वय किया जाता है। अर्थ सम्बन्धी क्रम-द्वारा 'तम आसीत्' इस वचन के साथ अनन्तर-आकाङ्क्षा के वश से 'वह तम न असत् था, न सत्'था' ऐसा अनुषङ्ग-सम्बन्ध करने से पृथक् ही अर्थ प्रत्यय-अवबोध का स्वीकार होने के कारण उस तम में अनिर्वचनीयत्व अति-स्पष्ट जाना जाता है। उस-अनिर्वचनीय-पदार्थ का ही–'तम से गूढ-आच्छन्न था' 'तुच्छ से आभु-व्यापक-स्वयम्भू-तत्त्व आच्छादित था' ऐसा अर्थ के अभेद की प्रत्यभिज्ञा द्वारा पूर्वोत्तर वचनो को मिला कर के उस अनिर्वचनीय तम में तुच्छत्व का कथन होने से पारमार्थिक सत्ता का अभाव स्पष्ट ही विज्ञात हो

तद्रूपविवरणं 'नासदासीदि'त्यादिना संयुज्यत एव। न चैवमनिर्वचनीयत्वं तस्य सामयिकमापद्यते, सर्वलये परिशिष्यमाणस्य तमसः पारमार्थिकसत्यत्वशङ्का मा भूदित्यनिर्वचनीयत्वमात्रपरे सदसत्त्वनिषेधे कालभेदसम्बन्धस्याविवक्षितत्वात्, अन्यार्थसम्पातायातस्यापि तस्य वस्तुस्वभाववैरूप्यायोगादिति।

तदेतदाम्नातं भूतभौतिकनिखिलविश्वपरिणाम्युपादानकारणीभूताया मायाया अनिर्वचनीयत्वं विवेकचूडामणौ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाः स्पष्टयन्ति—'सन्नाऽप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो, भिन्नाऽप्यभिन्नाऽप्युभयात्मिका नो। साङ्गाऽप्यसाङ्गाऽप्युभयात्मिका नो महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा॥' इति। अस्यायमर्थः—किमियं मायाऽविद्यातमःप्रकृत्यादिशब्दवाच्या सती? उताऽसती? यद्वा

जाता है। इसलिए उस तमः के स्वरूप का ही यह विवरण-स्पष्टीकरण-'नासदासीत्' इत्यादि-ग्रन्थ द्वारा किया गया सम्यक्—युक्तियुक्त ही हो जाता है। इस प्रकार उस तमः का अनिर्वचनीयत्व प्रलय समय में ही प्राप्त होता है, ऐसा नहीं है, क्योंकि-समस्त विश्व का विलय हो जाने पर उसका उपादानकारण अज्ञानरूप-अव्यक्त-तमः प्रलय में परिशिष्ट रहता है, उसमें किसीको पारमार्थिक-सत्यत्व की शङ्का मत हो। इसीलिए ही सत्त्व-असत्त्व का निषेध-जो एकमात्र-अनिर्वाच्यत्व का प्रतिपादक है—उसमें काल-विशेष का सम्बन्ध विवक्षित नहीं है। अन्य-अर्थ (प्रलय-निरूपण रूप) के संपात—सम्बन्ध से प्राप्त हुए-उस अज्ञान के वास्तविक स्वभाव-की विलक्षणता नहीं हो सकती है, अर्थात् प्रलय में अज्ञान जिस प्रकार का स्वभाव वाला सिद्ध होता है, वैसा सृष्टि समय में भी जानना चाहिए। इति।

वही यह वेद मन्त्र से निरूपण किये गये—भूत-भौतिक-निखिल-विश्व के परिणामी-उपादान-कारण रूप माया-अविद्या के—अनिर्वचनीयत्व को विवेक-चूडामणि नामक ग्रन्थमें भगवत्पाद श्रीमान् आचार्य-शङ्करस्वामी स्पष्ट रूप से कहते हैं—'वह माया-अविद्या न सत् है, न असत् है, और न सद्-सत्-उभय रूप है, न ब्रह्म से भिन्न है, न अभिन्न है, और न भिन्नाभिन्न-उभयरूप है; न अंग सहित है, न अंगरहित है, और न सांगानंग-उभयात्मिका ही है, किन्तु-अत्यन्त-अद्भुत-और अनिर्वचनीयरूप-सत्त्वादि से जो कही न जा सके ऐसी है।' इति। इस का 'यह' अर्थ है—क्या यह-अविद्या तमः-प्रकृति आदि शब्दों की वाच्य-माया सती—सत्या है? या असती है? यद्वा सत्-असत् उभयरूपा है? । उन तीन विकल्पों में आदि का 'सती है' यह विकल्प समीचीन-युक्तियुक्त नहीं

सदसदुभयरूपा ? । तत्र नाद्यः, आत्मवदबाध्यत्वप्रसङ्गात्, 'नाभावो विद्यते सतः' (२।१६) इति गीतासु भगवता प्रतिषेधाच्च । 'तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' (श्वे. १।१०) 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः' (गी. ५।१६) इति श्रुतिस्मृतिभ्यां तन्निवृत्तिप्रतिपादनाच्च । न द्वितीयः, भानानुपपत्तेः, बन्धस्य निर्मूलत्वापत्तेश्च । उभयरूपता तु विरोधादेवाऽसंभविनी । किञ्चेयमात्मनो भिन्ना ? उताऽभिन्ना ? भिन्नाभिन्नोभयरूपा वा ? । नाद्यः, अग्न्यौष्ण्यवदन्यत्रानुपलम्भेन भेदाऽयोगात् । आत्मन्यसङ्गे तत्सम्बन्धायोगादावरणाद्यनुपपत्तेश्च । न द्वितीयः, आत्मविरुद्धस्वभावत्वाऽनापत्तेः;

है, क्योंकि—माया को सती-सत्या मानने पर आत्मा की तरह वह अबाध्य हो जाती है । और 'सत् वस्तु का अभाव-बाध नहीं होता' ऐसा गीता में भगवान् ने सत्य-पदार्थ के बाध का प्रतिषेध किया है । 'उस-एक-अद्वैत सर्वात्मा-देव के चिन्तन से, उसमें मनोयोग करने से और उसके तत्त्व की भावना करने से प्रारब्ध की समाप्ति होने पर विश्वरूप-माया-अविद्या की निवृत्ति हो जाती है ।' 'परन्तु जिन्हों का वह आत्मा का अज्ञान, आत्मज्ञानद्वारा नष्ट हो गया है ।' इन श्रुति एवं स्मृति के वचनों के द्वारा माया की निवृत्ति का प्रतिपादन किया है, इसलिए माया सती नहीं हो सकती है । द्वितीय कल्प-पक्ष—'वह असती है'—भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि-माया को असत्-तुच्छ मानने पर उसके कार्य-द्वैत संसार का भान हो नहीं सकता है, संसार का बन्ध निर्मूल हो जाता है क्योंकि—असत् किसी का मूलकारण नहीं हो सकता । इसलिए माया को असत् नहीं मान सकते । विरोध होने से माया की उभयरूपता का असंभव है । और यह माया क्या आत्मा से भिन्न है ? या अभिन्न है ? या भिन्न-अभिन्न-उभयरूप है ? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि—यदि माया को ब्रह्म-आत्मा से भिन्न मानी जाय, तब तो आत्मा से भिन्न आश्रय में वह उपलब्ध होनी चाहिए, परन्तु वह अन्यत्र 'अग्नि की उष्णता की भाँति' उपलब्ध न होने से उसका आत्मा से अत्यन्त भेद नहीं हो सकता । और असंग-आत्मा में भिन्न-माया का सम्बन्ध न होने से आवरणादि की अनुपपत्ति हो जाती है, इसलिए 'वह भिन्न है' ऐसा भी नहीं कह सकते । द्वितीय अभिन्न-कल्प भी ठीक नहीं, क्योंकि—माया को आत्मा से अभिन्न मानने पर उसका आत्मा से विरुद्ध जडत्वादि स्वभाव नहीं होना चाहिए ? और माया के बाध होने पर आत्म-बाध की भी आपत्ति हो जाती है, इसलिए

तद्बाधे आत्मबाधाऽऽपत्तेश्च । तृतीयविधा तु पूर्ववत् । किञ्चेयं साङ्गा=सावयवा ? उतासाङ्गा=निरवयवा ? उभयात्मिका वा ? नाद्यः, जन्यत्वक्रियानाश्यत्वादिप्रसङ्गादनन्तावयवकल्पनागौरवान्मूलकारणत्वासंभवाच्च । न द्वितीयः, परिणामायोगात्, अवयवान्यथा–विन्यासमन्तरेण परिणामादर्शनात् । विरोधात्तृतीयप्रकारोऽपि न । तर्हि कथं साऽभ्युपगम्या इत्याह–महाद्भुता=प्रभूताश्चर्यास्पदा, स्वप्नेन्द्रजालादिवत्प्रतीतिमात्रसिद्धा सत्त्वादिभिर्निरूपयितुमशक्याऽनिर्वचनीया मिथ्याभूता इति यावत् ।

माया-आत्मा से अभिन्न है, ऐसा भी नहीं कह सकते । तृतीय भिन्नाभिन्न-कल्प तो पूर्व की तरह विरुद्ध होने से असंभव है । और यह माया क्या साङ्ग यानी अवयव वाली है ? या असाङ्ग यानी निरवयव है ? या उभयरूपा है ? । प्रथम साङ्ग पक्ष यथार्थ नहीं है, क्योंकि–माया को सावयव मानने पर जन्यत्व, क्रिया से नाश्यत्वादि की प्रसक्ति हो जाती है, अनन्त-अवयवों की कल्पना का गौरव हो जाता है, तथा मूलकारणत्व का भी असंभव हो जाता है । द्वितीय निरवयव पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि–निरवयव पदार्थ का परिणाम नहीं हो सकता है, अवयवों का अन्य रूप से हो जाने के विना परिणाम नहीं देखा जाता, अर्थात् दूध का दही की भाँति अवयवों का अन्य रूप से हो जाने का नाम ही परिणाम है । विरोध होने से तृतीय प्रकार भी समीचीन नहीं है । तब वह माया किस प्रकार की माननी चाहिए ? ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर कहते हैं–महाऽद्भुता–अर्थात् प्रभूत-आश्चर्य-विस्मय का आश्रयरूपा, स्वप्न, इन्द्रजालादि की भाँति प्रतीति मात्र सिद्धा-सत्त्वादियों से जिसका निरूपण करना अशक्य है–ऐसी मिथ्यारूपा-अनिर्वचनीया ।

(५२)

(महाप्रलये समायं ब्रह्मैव केवलमासीत् नान्यत् किमपि)

(महाप्रलय में माया सहित-ब्रह्म ही केवल था, अन्य कुछ भी नहीं था)

ननूक्तस्य प्रतिसंहारस्य संहर्त्रपेक्षत्वात्प्रलये स एव संहर्ता मृत्युः स्यादित्यत आह—

शंका–पूर्वोक्त प्रलय रूप-प्रतिसंहार, संहर्ता की अपेक्षा करता है, क्योंकि–कर्ता के विना कर्म नहीं हो सकता, इसलिए प्रलय में वही संहर्ता मृत्यु होगा ? इसका समाधान इस मन्त्र से कहते हैं—

ॐ न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि, न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. १२९ ऋक्. २) (तै. ब्रा. २।८।९।४ नि. ७।३)

'तब-उस प्रलय में मृत्यु नहीं था, अमृत-जीवन भी नहीं था, रात्रि का सूचक-चन्द्र, एवं दिवस का सूचक सूर्य भी नहीं था, अर्थात् रात्रि-दिन का ज्ञान भी नहीं था। किन्तु वहाँ वह वेदादि-शास्त्र प्रसिद्ध, एक-अद्वितीय-प्राणादिरहित-निश्चल-ब्रह्म, स्वधा-माया सहित था,. उससे अन्य कुछ भी उत्कृष्ट-एवं निकृष्ट वस्तु उस समय नहीं थी।'

न मृत्युरासीदिति। ननु-यदि मृत्युर्नासीत्तर्हि तदभावकृतं अमृतं=अमरणं-प्राणिनां जीवनमवस्थानं तदानीमपि स्यात्, निषेधस्य निषेधे प्रतियोगिसत्त्वापत्तिनियमात्, तत्राह-अमृतं न तर्हि, इति। तर्हि=तस्मिन् प्रतिसंहारसमये-महाप्रलये अमृतमपि नैवासीत्। अयम्भावः-सर्वेषां प्राणिनां परिपक्वं भोगहेतुभूतं सर्वं कर्म यदोपभुक्तं भवति, तदा भोगाभावात्, निष्प्रयोजनमिदं जगत् इति परमेश्वरस्य मनसि संजिहीर्षा जायते, तयैव मृत्युसहितं सर्वं जगत्संहरत इति। तथा च संहारसिद्धे सति किमनेन संहर्त्रा मृत्युना? इति मृत्योरपि संहारः क्रियते, एवं सति तदभावकृतं कथममरणं जगज्जीवनं सम्पद्येत? तत्कारणाभावात्। यत्र तु प्रतियोगिनिषेधयोरुभयोरपि निषेधस्तत्र न कथमपि प्रतियोगिसत्त्वमायाति,

मृत्यु नहीं था इति।

शंका-यदि मृत्यु नहीं था, तब मृत्यु के अभाव से होने वाला-अमृत-अमरण-प्राणियों का जीवन-अवस्थान उस समय में होगा? क्योंकि-निषेध का निषेध होने पर प्रतियोगी के सत्त्व की आपत्ति का नियम देखा गया है? अर्थात् जीवन का निषेध मृत्यु है, मृत्यु का निषेध होने से जीवन रूप-प्रतियोगी का सत्त्व होना चाहिए।

समाधान-तब-अमृत नहीं था। तर्हि यानी उस प्रतिसंहार का समय-महाप्रलय में अमृत भी नहीं था। यह भाव है-समस्त प्राणियों के भोग का कारण रूप-सब कर्म जब परिपक्व हुए उपभुक्त हो जाते है, तब भोग का अभाव हो जाने से यह सब जगत् निष्प्रयोजन हो जाता है, इसलिए परमेश्वर के मन में इसके संहार करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है, उसी इच्छा के द्वारा वह, मृत्यु सहित समस्त जगत् का संहार करता है। तथा च संहार सिद्ध होने पर इस संहर्ता-मृत्यु से क्या प्रयोजन? अर्थात् कुछ नहीं, इसलिए मृत्यु का भी संहार किया जाता है। ऐसा होने पर मृत्यु के अभाव से होने वाला अमरण रूप-जगत् का जीवन कैसे सम्पन्न हो सकता है?, क्योंकि-जीवन का कोई कारण नहीं है। जहाँ प्रतियोगी एवं निषेध-इन दोनों का भी निषेध किया जाता है, वहाँ किसी भी प्रकार से प्रतियोगी का सत्त्व प्राप्त नहीं होता है। स्वप्न में

स्वप्ने प्रतीयमानयोः प्रतियोगिनिषेधयोर्जागरणे निषेधस्य प्रतियोगिसत्त्वसमर्पकत्वादृष्टत्वात्, तथा च वेदान्तनये ब्रह्मणि प्रपञ्चस्तन्निषेधश्च नास्तीति निषेधवत्, प्राच्यन्यायनये ध्वंससमये अत्र घटस्तदत्यन्ताभावश्च नास्तीति निषेधवद्वाऽत्रापि प्रतियोगिसत्त्वापादानशङ्काऽनुचितैवेति । अत एतदभिप्रेत्य कठराम्नायते-'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥' (क. उ. १।२।२५) इति । यद्वा न मृत्युरासीत् कस्मात्? मर्त्यस्याभावात् । नाप्यमृतमासीत् कस्मात्? मृत्योरभावादेव । इतरेतरापेक्षया हि मृत्युश्चामृतं च व्यपदिश्येते । इति । तर्ह्येतस्य सर्वस्याधिकरणभूतः कालः स्यादित्यत आह-न रात्र्या इति । रात्र्याः=निशायाः, अह्नः=दिवसस्य, च प्रकेतः=प्रज्ञानं, नासीत्, तद्धेतुभूतयोः सूर्याचन्द्रमसोरभावात् । एते ह्यप्यहोरात्रे विवस्वतश्चन्द्रमसश्चोदयास्तमयाभ्यामुपलक्ष्येते इदानीं, तदभावे ह्येतेऽपि नास्तामित्येतदुपपद्यत एव । एतेनाहोरात्रनिषेधेन तदात्मको मासर्तुसंवत्सरप्रभृतिकः सर्वः कालः प्रत्याख्यातः । कथं तर्हि 'नो सदासीत्तदानीमि'ति कालवाची प्रत्ययः?

प्रतीयमान-प्रतियोगी एवं निषेध-दोनों का जाग्रत् में निषेध हो जाता है, तथापि वह निषेध का निषेध प्रतियोगी के सत्त्व का समर्पक नहीं देखा गया है । तथा च वेदान्त सिद्धान्त में-'ब्रह्म में प्रपञ्च और प्रपञ्च का निषेध भी नहीं है' इस प्रकार के निषेध की भाँति, तथा प्राचीन न्याय के सिद्धान्त में-ध्वंस के समय में 'यहाँ घट एवं घट का अत्यन्ताभाव नहीं है' इस प्रकार के निषेध की भाँति, यहाँ भी प्रतियोगी के सत्त्व की प्राप्ति की आशंका अनुचित ही है । इति । अत एव ऐसा अभिप्राय रख करके ही कठशाखा वाले-अपनी उपनिषत् में कहते हैं-'उस महाकाल भगवान् के लिए ब्रह्म-ब्राह्मणजाति, तथा क्षत्र-क्षत्रियजाति, दोनों ही ओदन-भात के समान हो जाती हैं। तथा जगत् का संहारक मृत्यु भी जिसको उपसेचन-दाल-शाक के समान हो जाता है, उसको इस प्रकार कौन जानता है कि-वह जिस स्थिति में है ।' इति । यद्वा मृत्यु नहीं था? क्योंकि-मर्त्य-मरने वाला नहीं था, अमृत भी नहीं था, क्योंकि-मृत्यु का अभाव था । एक-दूसरे की अपेक्षा से मृत्यु तथा अमृत का व्यपदेश-प्रतिपादन किया जाता है । इति । तब इस सर्व का अधिकरण-आधार-रूप काल होगा? ऐसा प्रश्न होने पर कहता है-रात्रि-निशा का, तथा अहः-दिवस का प्रकेत-प्रज्ञान नहीं था, क्योंकि-दिन-रात्रि का हेतुभूत-सूर्य एवं चन्द्र का भी अभाव था । ये भी दिन रात्रि, इस समय सूर्य के एवं चन्द्र के उदय एवं अस्त से उपलक्षित होते हैं, सूर्य-चन्द्र का अभाव होने पर ये दिन रात्रि भी नहीं थे, ऐसा उपपन्न हो जाता है । इस दिन-रात्रि के निषेध से दिन-रात्रिरूप-मास-ऋतु-संवत्सर आदिरूप निखिल काल का प्रत्याख्यान-प्रतिषेध कर दिया । तब 'उस समय सत् नहीं था' ऐसा भूतकालवाचक 'आ-

उपचारादिति ब्रूमः, 'अमुख्ये मुख्यव्यवहारो ह्युपचारः ।' तथा हि-यथेदानीन्तननिषेधस्य कालोऽवच्छेदकः, तथा मायाऽपि कालतन्निषेधावच्छेदहेतुरित्यवच्छेदकत्वसाम्येनाकालेऽपि कालवाची प्रत्ययः । यद्वा रात्रेः प्रकेतः=चिह्नं-चन्द्रनक्षत्रादि, अह्नः प्रकेतः=चिह्नं सूर्यः, तदुभयमपि नासीदित्यर्थः । यदवादिष्म—ब्रह्मणः परमार्थसत्त्वमग्रे वक्ष्यते इति, तदिदानीं दर्शयत्यानीदिति । तत्=सर्ववेदान्तप्रसिद्धं ब्रह्म, आनीत्=प्राणितवत्-जीवितवत् । नन्वेवं प्राणनकर्तुः जीवभावापन्नस्यैव ब्रह्मणः सत्त्वं स्यात्, न विवक्षितस्य निरुपाधिकस्य ब्रह्मणः 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः ।' (मुं. २।१) इति । तस्य प्राणसम्बन्धाभावात् कथं जीवनम्? तत्राह-अवातमिति । अवातं= वायुरहितं निश्चलमित्यर्थः । अयमाशयः- आनीदित्यत्र धात्वर्थः क्रिया, तत्कर्ता, तस्य च भूतकालसम्बन्ध इति त्रयोऽर्थाः प्रतीयन्ते, तत्र समुदायो न विधीयते । यथा 'अग्नयेऽष्टाकपालः' इति[1] । येन शुद्धस्य

सीत्' ऐसा प्रत्यय किस प्रकार हुआ? । उपचार से हुआ, ऐसा हम कहते हैं । अमुख्य में मुख्य व्यवहार का नाम उपचार गौणभाव है। तथा हि-यही दिखाते हैं-जिस प्रकार इस समय के निषेध का अवच्छेदक-भेदक काल है, तिस प्रकार माया भी काल और उसके निषेध के अवच्छेद-भेद का हेतु है, इसलिए-अवच्छेदकत्व के साम्य से काल के अभावरूप माया में भी काल-वाचक प्रत्यय हुआ। यद्वा रात्रि का प्रकेत-चिह्न सूचक चन्द्र नक्षत्रादि है, तथा अह दिवस का प्रकेत-चिह्न-सूर्य है, वह उभय सूर्य-चन्द्र भी उस समय नहीं थे। जो हमने कहा था कि-ब्रह्म का पारमार्थिक सत्त्व आगे कहेंगे? वह अब दिखाते हैं-आनीदिति । तत् यानी समस्तवेदान्त-उपनिषदों में प्रसिद्ध-ब्रह्म, आनीत् यानी प्राणन-जीवन युक्त था, अर्थात् विद्यमान था।

शंका-इस प्रकार प्राणन-व्यापार का कर्ता-जीवभाव को प्राप्त हुआ-सोपाधिक ब्रह्म का ही सत्त्व सिद्ध-होगा, विवक्षित-कहने के लिए-इष्ट-निरुपाधिक ब्रह्म का सत्त्व-सिद्ध नहीं होगा। 'वह प्राण रहित, मन रहित शुभ्र-शुद्ध-कूटस्थ है' इस मुण्डक-श्रुति से उस ब्रह्म में प्राण के सम्बन्ध का अभाव निश्चित होने से उसका जीवन-अस्तित्व, उस समय कैसे सिद्ध हो सकता है?

समाधान-अवातमिति। वह ब्रह्म वायु-प्राण रहित निश्चल है । यह तात्पर्य है-'आनीत्' इस क्रियापद में-धातु का अर्थ क्रिया, उसका कर्ता, ओर उस कर्ता का भूत-काल के साथ सम्बन्ध, ऐसे तीन-अर्थ प्रतीत होते हैं । उसमें समुदाय का विधान नहीं किया जाता है, 'जैसे अग्नि के लिए अष्टा-कपाल'-जिससे शुद्ध ब्रह्म का सत्त्व न हो। तत्र

[1] अत्र खलु अग्न्युद्देशेनाष्टसु कपालेषु संस्कृत पुरोडाशमेव विधीयते, न त्वष्टत्वविशिष्ट कपालमिति । यहाँ अग्नि के उद्देश से अष्ट-कपालों में संस्कृत पुरोडाश हवि का ही विधान किया जाता है, अष्ट संख्याविशिष्ट कपाल का विधान नहीं किया जाता।

ब्रह्मणः सत्त्वं न स्यात्, किं तर्हि—अनेन कर्तृत्वमनूद्य भूतकालसत्तालक्षणो गुणो विधीयते। 'दध्ना जुहोती'त्यत्र वाक्यान्तरविहिताग्निहोत्रानुवादेन दधिगुणविधानमिवात्राप्यनेन कर्तृत्वेनेदानींतनेनोपलक्षितं यन्निरुपाधिकं परं ब्रह्म तस्यैव भूतकालसत्ता विधीयत इति न कश्चिद् दोष इति। अथवा आसीदित्यर्थकमानीदित्युक्तं, तथा च नात्र प्राणनं चेष्टा किन्तु सद्भावमात्रमित्यभिप्रेत्यावातमिति विशेष्यते, एवं प्राणसम्बन्धमपेक्ष्य न दोषप्रसङ्ग इति भावः। नन्वीदृशस्य ब्रह्मणो मायया सह सम्बन्धाभावात् सा सांख्याभिमता स्वतन्त्रा सद्रूपा सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मूलप्रकृतिरेव सिद्धेदिति, कथं नो सदिति तस्या निषेधः? तत्राह—स्वधयेति। स्वस्मिन् धीयते—धार्यते—ध्रियते—आश्रित्य वर्तते वा इति स्वधा=माया, तया तद् ब्रह्म एकं=अविभागापन्नं, आसीत्; अथवा स्वधया=मायया सहितं एकं=अद्वितीयं—सर्वदा द्वैतशून्यम्, ('सह युक्तेऽप्रधाने' इति तृतीया सहशब्दयोगाभावेऽपि सहार्थयोगे भवति, 'वृद्धो यूना' इति लिङ्गात्) अत्र स्वधेत्यनेन सहार्थकतृतीयया च मायाया ईश्वरानाश्रितत्वमीश्वरेक्षणानपेक्षत्वञ्च सांख्योक्तं स्वातन्त्र्यं वार्यते। यद्यप्यसङ्गस्य ब्रह्मणः तया सह पार-

क्या विधान किया जाता है? इस 'आनीत्' क्रियापद से कर्तृत्व का अनुवाद करके उसमें भूतकाल की सत्तारूप गुण का ही विधान किया जाता है। जैसे 'दधि से होम करता है' इस वाक्य में अन्य-वाक्य से विहित-अग्नि-होत्र के अनुवाद द्वारा दधि-गुण का ही विधान किया जाता है, वैसे यहाँ भी इस 'आनीत्' पद से इस समय के प्राणनादि कर्म के कर्तृत्व से उपलक्षित-जो निरुपाधिक-पर ब्रह्म है, उसमें भूतकाल की सत्ता ही का विधान किया जाता है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है। अथवा 'आसीत्' अर्थ वाला ही 'आनीत्' पद कहा गया है। तथा च 'आनीत्' पद में प्राणन-चेष्टा नहीं है, किन्तु सद्भावमात्र है, ऐसा अभिप्राय रख कर ही 'अवातं' ऐसा विशेषण दिया गया है। इस प्रकार प्राण सम्बन्ध की अपेक्षा करके दोष की प्रसक्ति नहीं है, यह भाव है।

शंका—इस प्रकार के शुद्ध-ब्रह्म का माया के साथ सम्बन्ध न होने के कारण, वह सांख्य-मत के अभिमत-स्वतन्त्र-सद्रूपा-सत्त्व-रज-तमो गुण-रूपा मूल-प्रकृति ही सिद्ध होगी, तब 'नो सत्' इस वचन से उसकी सत्ता का निषेध क्यों किया जाता है?।

समाधान—स्वधयेति। स्वधा-यानी अपने में धारण की जाती है, या आश्रय करके जो वर्तती है, वह स्वधा माया है, उस से वह ब्रह्म एक-विभाग की प्राप्ति से रहित था, अर्थात् माया के साथ मिला हुआ ब्रह्म था। अथवा स्वधा-माया सहित, एक-अद्वितीय-सर्वदा द्वैतशून्य-ब्रह्म था। यहाँ 'स्वधा' इस शब्द से तथा सहार्थक तृतीया विभक्ति से 'माया-प्रकृति ईश्वर के आश्रित नहीं है, एवं ईश्वर के ज्ञानरूप-ईक्षण की अपेक्षा नहीं करती है' ऐसा सांख्य-शास्त्र से कहा हुआ प्रकृति के स्वातन्त्र्य का निवारण किया जाता है। यद्यपि—

र्थिकः सम्बन्धो न सम्भवति, तथापि तस्मिन्नविद्यया तत्स्वरूपमिव तत्सम्बन्धोऽप्यध्यस्यते, यथा शुक्तिकायां रजतस्य। एतेन सद्रूपत्वमपि तस्याः प्रत्याख्यातं, एवं स्वधासाहित्योक्तिरपि व्यवहारतो न परमार्थतः इति बोध्यम्। ननु-यदि तदा माया ब्रह्मणा सहाविभागापन्ना, तर्हि तस्या अनिर्वाच्यत्वाद्ब्रह्मणोऽपि तत्प्रसङ्गः इति कथं तस्य सत्त्वमुक्तमानीदवातमिति? ब्रह्मणो वा सत्त्वात्तस्या अपि सत्त्वप्रसङ्ग इति कथं 'नो सदासीदि'ति सत्त्वप्रतिषेधः? मैवम्-आपाततः ऐक्यावभासेऽपि युक्त्याऽनुभवदृष्ट्या च विविच्य मायांशस्याऽनिर्वाच्यत्वस्य ब्रह्मणः पारमार्थिकसत्त्वस्य च प्रतिपादितत्वात्। ननु-दृग्दृश्यौ जडचेतनौ द्वावेव प्रसिद्धौ पदार्थौ स्तः, 'आनीदवातं स्वधये'ति स्वधासहितस्य ब्रह्मणः प्रतिपादनात्, तौ चेदङ्गीक्रियेते, तत्किमपरमवशिष्यते, 'यन्नासीद्रजः' इत्यादिना प्रतिषिध्यते, न हि मायातोऽन्यद्रज आदिकं, तथा च 'न रजः'

असंग-ब्रह्म का माया के साथ पारमार्थिक-सम्बन्ध नहीं हो सकता है, तथापि उस-ब्रह्म में अविद्या के द्वारा माया के स्वरूप की भाँति उसके सम्बन्ध का भी अध्यारोप होता है, जैसे शुक्तिका में रजत का। इस कथन से माया के सद्रूपत्व का भी खण्डन किया गया। इस प्रकार स्वधा के सहितत्व का कथन भी व्यवहार से है, परमार्थ से नहीं है, ऐसा जानना चाहिए।

शंका—यदि उस समय माया, ब्रह्म के साथ अविभक्त-तादात्म्यापन्न थी, तब उस माया के अनिर्वचनीयत्व से ब्रह्म में भी अनिर्वचनीयत्व की प्रसक्ति हो जायगी। ऐसा होने पर उस ब्रह्म का सत्त्व 'आनीत् अवातम्' इस वचन से क्यों कहा ?। या ब्रह्म के सत्त्व से माया में भी सत्ता की प्रसक्ति हो जायगी, ऐसा होने पर 'नो सदासीत्' इस वचन से उसके सत्त्व का प्रतिषेध क्यों किया गया ?।

समाधान—ऐसा मत कहो। क्योंकि-आपाततः यानी अविचार से-स्थूलदृष्टि से-माया एवं ब्रह्म के ऐक्य की प्रतीति होने पर भी युक्ति से एवं अनुभव की दृष्टि से दोनो के स्वरूप का विवेचन पृथक्त्व करके माया-अंश में अनिर्वचनीयत्व का एवं ब्रह्म के पारमार्थिक-सत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

शंका—द्रष्टा-चेतन, एवं दृश्य-जड़ दो ही प्रसिद्ध पदार्थ हैं, 'आनीदवात स्वधया' इस वचन से स्वधासहित-ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, यदि इन दोनों—स्वधा-माया एवं ब्रह्म—को अङ्गीकार करते हो, तो और क्या परिशिष्ट रह जाता है कि-जिसका 'नासीद्रज.' इत्यादि ग्रन्थ से प्रतिषेध किया जाता है, क्योंकि-माया से अन्य रज आदि नहीं है, अर्थात् समग्र नाम रूपादि प्रपञ्च माया के अन्तर्भूत है, माया की सत्ता मानने पर समग्र

इत्याद्यसङ्गतम् । तत्राह–तस्मादिति । ह=खलु, तस्मात्पूर्वोक्तान्मायासहिताद्ब्रह्मणोऽन्यत्, किञ्चन=किमपि वस्तु–भूतभौतिकात्मकं जगत्, न आस=तदा न बभूव। ह-शब्देनानिर्वाच्यस्य कार्यजातस्य प्रसिद्धिं द्योतयति । ('छन्दस्युभयथे'ति लिटः सार्वधातुकत्वादस्तेर्भूभावाभावः) ननु–तदानीमन्यस्य सत्त्वे निषेधो न शक्यः, असत्त्वे चाप्रसक्तत्वान्न निषेधोपयोगः, इत्यत आह–पर इति । परः=परस्तात्, सृष्टेरूर्ध्वे वर्तमानमिदं जगत्तदानीं न बभूवेत्यर्थः। अन्यथोक्तरीत्या क्वचिदपि निषेधो न स्यादिति भावः। अथवा परः=उत्कृष्टं, नाऽऽस=नैवासीत्, जगतो निषिद्धत्वान्निकृष्टं पूर्वमेव निराकृतम् । तस्मादुत्कृष्टं निकृष्टञ्च किमपि ब्रह्मव्यतिरिक्तं तदा नासीदिति ॥

प्रपञ्च का भी अस्तित्व आ जाता है, तथा च 'न रजः' इत्यादि प्रतिषेध असंगत-हो जाता है।

समाधान—तस्मादिति । ह-खलु-निश्चय से, उस पूर्वोक्त-माया सहित ब्रह्म से, अन्य कुछ भी वस्तु-जो भूतभौतिक रूप-जगत् है, वह उस समय नहीं थी। 'ह' शब्द से अनिर्वचनीय-कार्य समुदाय की प्रसिद्धि का द्योतन किया जाता है।

शंका—उस समय अन्य का सत्त्व है, तब निषेध की शंका नहीं हो सकती, यदि अन्य का सत्त्व नहीं है, तब अन्य के सत्त्व की प्रसक्ति न होने से निषेध का उपयोग नहीं हो सकता। क्योंकि–'प्राप्तौ सत्या निषेधः' प्राप्ति होने पर ही निषेध होता है, अप्राप्त का क्या निषेध ? ।

समाधान—पर इति । पर यानी परस्तात्-सृष्टि के बाद का वर्तमान यह स्थूल-भूत-भौतिक जगत् उस समय नहीं था । अन्यथा-यानी वर्तमान-जगत् का स्थूलरूप उस समय नहीं था, ऐसा न मानने पर पूर्वोक्त-शंका की रीति से कहीं भी किसी का निषेध होगा ही नहीं, यह भाव है। अथवा पर यानी ब्रह्म से उत्कृष्ट नहीं था, जगत् का निषेध करने पर निकृष्ट पूर्व ही निराकृत हो गया। क्योंकि–ब्रह्म की अपेक्षा से जगत् निकृष्ट है। इसलिए उस समय ब्रह्म से उत्कृष्ट एवं निकृष्ट कुछ भी ब्रह्म से व्यतिरिक्त नहीं था। इति ।

(५३)

(महाप्रलये सर्वं जगदज्ञानावृतमज्ञायमानमासीत्, सर्वेश्वरसङ्कल्पात्तत्प्रादुरभूत्)

(महाप्रलय में समस्त जगत् अज्ञान से आवृत-अज्ञायमान था, वह सर्वेश्वर के सङ्कल्प से प्रादुर्भूत हुआ)

ननु–यदि तदा जगन्नासीत्, कथं तर्हि तस्य जन्म ? जायमानस्य जनिक्रियायां कर्तृत्वेन कारकत्वात्, कारकञ्च क्रियानिमित्तं

शंका—यदि उस समय जगत् नहीं था, तब उसका जन्म किस प्रकार से हो सकता है ? क्योंकि-जनि-उत्पत्ति रूप क्रिया में जायमान-कार्य-

कारणविशेषः, कारकस्य सतो नियतपूर्वक्ष-णवृत्तित्वस्यावश्यंभावात्, अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया जनिक्रियायाः प्रागपि तद्विद्यत इत्युच्यते कथं तर्हि तस्य जन्म? इत्यत आह—

पदार्थ ही कर्तृत्व रूप से कारक होता है। क्रिया का निमित्त-प्रयोजक कारणविशेष ही का नाम कारक है। सत् विद्यमान-कारक में कार्य-जन्म की अपेक्षा से नियमतः पूर्वक्षण में वृत्तिता का अवश्य ही सद्भाव होना चाहिए। अथ—पक्षान्तर में इस दोष के परिहार करने की इच्छा से जनि-क्रिया से प्रथम भी वह उत्पद्यमान-कार्य विद्यमान है, ऐसा कहते हो तो उसका जन्म कैसे होगा? क्योंकि-यह प्रथम ही मौजूद है, विद्यमान का क्या जन्म?। समाधान—मन्त्रार्थ से कहते हैं—

ॐ तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्, तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥

(ऋ. मं. १० सू. १२९ ऋ. ३। तै. ब्रा २।८।९।४ नि. ७।३)

'तम-अज्ञान था, सृष्टि के आगे यह जगत् तम से गूढ-आच्छादित था। इसलिए वह उस समय स्पष्ट-स्थूलरूप से जानने के लिए अशक्य था। यह जगत्-अपने कारण-रूप-तम में तादात्म्यापन्न हुआ अव्यक्त रूप से था। या दुग्ध में मिला हुआ—सलिल के समान अपने-कारण तम से मिला हुआ होने के कारण उसका पृथक् रूप से ज्ञान नहीं था। तुच्छ-पारमार्थिक-सत्ता से रहित-उस तम से आभु—भवनधर्मक-यह विस्तृत जगत् आच्छन्न हुआ एकीभूत हो गया था। वह सर्वेश्वर-परमात्मा के संकल्प से स्थूल-विचित्र रूप से आविर्भूत हो जाता है, या उस तुच्छ-तम से. एक-अद्वितीय-विभु-सर्वगत-ब्रह्म समावृत्त हुआ अपने मायिक-संकल्प द्वारा जगत् रूप से आविर्भूत हो जाता है।'

तमसा इति। तमःशब्देन मायाऽविद्याशक्त्यादिशब्दवाच्यं जगद्विकारोपादानमनिर्वचनीयं मूलाज्ञानमुच्यते। यथा नैशं तमः पदार्थानावृणोत्येवमिदमपि ब्रह्मतत्त्वमावृणोतीति तमःशब्देन व्यवहारः, तेन तमसा, अग्रे=सृष्टेः प्राक् प्रलयदशायां भूतभौतिकं सर्वं जगत्, गूढं=संवृतं, संस्काररूपापत्त्या स्ववशीकृतम्। यथा मृत्पिण्डे

तमः शब्द से माया, अविद्या, शक्ति, प्रकृति, आदि शब्दों का वाच्य-जगद्रूप-विकार का परिणामी-उपादान-कारण-अनिर्वचनीय-मूलाज्ञान कहा जाता है। जिस प्रकार रात्रि का तमः-अन्धकार घटादि-पदार्थों को आवृत्त करता है, इस प्रकार यह अज्ञान-तम भी ब्रह्म तत्त्व को आवृत्त कर देता है, इसलिए अज्ञान का तमः शब्द से इस मन्त्र में व्यवहार किया गया है। उस तम से, अग्रे यानी सृष्टि से प्रथम-प्रलयदशा में भूत-भौतिक समस्त जगत् गूढ-संवृत्त-आच्छादित था, अर्थात् संस्कार-अव्यक्त-रूप की प्राप्ति द्वारा अपने वश में किया गया था। जिस प्रकार प्रथम मिट्टी के पिण्डे में घड़ा गूढ होता है,

घटो गूढः, यथा वा बीजे वृक्षो गूढस्तद्वत्, कारणभूतेन तेन सर्वं कार्यमाच्छादितं भवति। आच्छादकात्तस्मात्तमसो नामरूपाभ्यां यदाविर्भवनं तदेव तस्य जन्मेत्युच्यते। एतेन कारणे पूर्वमविद्यमानमसदेव कार्यमुत्पद्यत इति वदन्तः काणादादयोऽसत्कार्यवादिनः प्रत्याख्याताः। पूर्वं कारणरूपेण विद्यमानमेव कार्यमव्यक्तं सत्कारकव्यापारेणाभिव्यक्तीभवतीत्याचक्षतां सांख्यमीमांसकादीनां सत्कार्यवादिनां मतमेव 'तमसा गूढमि'ति श्रुत्या समादृतमित्यत्र विज्ञेयम्। कारणे तमसि तज्जगदात्मकं कार्यं विद्यते चेत्कथं 'नासीद्रजः' इत्यादिना निषिध्यते? तत्राह–तम आसीत्। तमो भावरूपमज्ञानं मूलकारणं जगद्विकारनिष्पादनक्षमं ब्रह्मण्याश्रितं, तदात्मनां तद्रूपत्वात्, यतः सर्वं जगत् कार्यं प्राक्–अव्यक्तं तम आसीत्= अज्ञानाभिन्नं जगत्तदानीमप्यासीदित्यर्थः। तथा च स्थूलरूपताऽऽपत्तिरेवोत्पत्तिः–आविर्भावः कारणरूपसंस्कारावस्थैव नाशः, अतः स्थूलरूपेण तन्निषिध्यते इति भावः। ननु–आवरकत्वादावरकं तमः कर्तृ, आवरणीयत्वाज्जगत्कर्म, कथं तयोः कर्मकर्त्रोः ता-

या जिस प्रकार बीज में वृक्ष गूढ-छिपा हुआ होता है, तिस प्रकार कारण रूप उस तम से समस्त-कार्य रूप-जगत् गूढ-आच्छादित हो जाता है। आच्छादन करने वाले-उस तम से नाम रूप के द्वारा जो जगत् का आविर्भाव-प्राकट्य है, वही उसका जन्म कहा जाता है। इस कथन से-कारण में प्रथम अविद्यमान-असत् ही कार्य उत्पन्न होता है, ऐसा कहने वाले-काणाद-वैशेषिक-नैयायिक आदि-असत्कार्यवादियों के-वेद-विरुद्ध-मत का खण्डन हो गया। प्रथम कारण के रूप से विद्यमान ही अव्यक्त-कार्य, कारक के व्यापार द्वारा अभि-व्यक्त होता है, ऐसा प्रतिपादन करने वाले-सांख्य-मीमांसक आदि-सत्कार्यवादियों के मत का ही 'तमसा गूढं' इस श्रुति के द्वारा सम्यक् आदर किया गया है, ऐसा जानना चाहिए। कारण तम में वह जगद्रूप-कार्य विद्यमान है जब, तब 'नासीद्रज' इत्यादि वचन से उसका निषेध क्यों किया जाता है? ऐसी शंका के समाधान के लिए कहते हैं–तम आसीत्। तमः यानी भावरूप-अनादि-अज्ञान-मूलकारण–जो जगद्रूप-विकार के उत्पन्न करने में समर्थ है–तथा जो ब्रह्म में आश्रित है–था। वह कारण है, आत्मा–स्वरूप जिन्हों का, ऐसे कार्य, कारण रूप ही होते हैं, इसलिए समस्त जगत् कार्य, प्रथम अव्यक्त तमः-रूप या अर्थात् अज्ञान से अभिन्न-जगत् उस प्रलय समय में भी था। तथा च स्थूल-रूपता की प्राप्ति का नाम ही उत्पत्ति–आविर्भाव है, कारण रूप से संस्कार-अव्यक्त अवस्था रूप हो जाना ही कार्य का नाश है, इसलिए स्थूलरूप से ही जगत् का प्रलय में निषेध किया जाता है, यह भाव है।

शंका—आवरकत्व-धर्म के होने से आवरक-तम कर्ता है, आवरणीयत्व होनेसे जगत् आवरण का कर्म है, इस प्रकार उन-कर्म एवं कर्ता का तादात्म्य

दात्म्यं? तथा च तमसा गूढं तम इति विरुद्धं तत्राह–अप्रकेतमिति। अप्रकेतं=प्रकर्षेण ज्ञातुमशक्यम्। तमसोऽत्यन्तभिन्नत्वेनाज्ञायमानं, उक्तभेदे प्रमाणशून्यमिति यावत्। अयम्भावः–यद्यपि जगतः तमसश्च कर्मकर्तृभावो यौक्तिको विद्यते, तथापि व्यवहारदशायामिव तस्यां दशायां तन्नामरूपाभ्यां विस्पष्टं न ज्ञायते, इति तेन तादात्म्यवर्णनमविरुद्धम्। अत एव राजर्षिणा मनुना स्मर्यते–'आसीदिदं तमोभूतममज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥' (मनु. १।५) इति। इदं=जगत्, प्रलये तमोभूतं=तमसि स्थितं लीनमासीत्। यथा तमसि लीनाः पदार्थाः अध्यक्षेण न प्रकाश्यन्ते, एवं प्रकृतिलीना अपि सर्वे भावा नावगम्यन्ते, अत एवाप्रज्ञातं=प्रत्यक्षागोचरं, अलक्षणं=अननुमेयं, लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं लिङ्गं तदस्य नास्तीत्यलक्षणम्। अप्रतर्क्यं=तर्कयितुमशक्यं, तदानीं वाचकस्थूलशब्दाभावात्, शब्दतोऽप्यविज्ञेयम्। अत एव प्रसुप्तमिव सर्वतः। (प्रथमार्थे तसिः) स्वकार्याक्षममित्यर्थः।

कैसे हो सकता है? तथा च–तादात्म्य-सम्बन्ध मानने पर तम से गूढ तम था, ऐसा विरुद्ध हो जाता है, क्योंकि–आप ही अपने से आच्छादित नहीं हो सकता।

समाधान—अप्रकेतं-यानी प्रकर्ष-स्पष्टरूप से जानने के लिए अशक्य है। वह जगत् कार्य, तमः-कारण से अत्यन्त-भिन्न रूप से ज्ञायमान नहीं था, अर्थात् उक्त-दोनों के भेद में प्रमाण का अभाव था। यह तात्पर्य है–यद्यपि जगत् एवं तमः का कर्म-कर्तृभाव यौक्तिक-युक्ति से प्रतिपादित है, तथापि व्यवहारदशा में जिस प्रकार जगत्, नाम-रूप द्वारा स्पष्ट जाना जाता है, तिस प्रकार उस प्रलयदशा में वह नाम-रूप द्वारा विस्पष्ट नहीं जाना जाता है, इसलिए पूर्वोक्त वचन से जगत् एवं अज्ञान के तादात्म्य का वर्णन विरुद्ध नहीं है। अत एव यही राजर्षि मनु अपनी स्मृति में स्मरण करता है–'यह जगत् प्रथम-प्रलय में अप्रज्ञात-अलक्षण-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य–सर्व तरफ से प्रसुप्त की भाँति तम रूप था।' इति। यह जगत् प्रलय में तम में स्थित-लीन था। जैसे अन्धकार में लीन-घटादि पदार्थ चक्षु रूप प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रकाशित नहीं होते हैं, इस प्रकार प्रकृति-माया में लीन समस्त पदार्थ भी नहीं जाने जाते हैं, इसलिए वह प्रकृति लीन जगत्-अप्रज्ञात यानी प्रत्यक्ष प्रमाण का अविषय-अगोचर था। तथा अलक्षण यानी अनुमान-प्रमाण का भी अविषय था। लक्षित-ज्ञात होता–है जिससे, वह लक्षण-ज्ञापक-अनुमानरूप लिङ्ग है, वह इसका ज्ञापक नहीं है, इसलिए वह अलक्षण है। तथा अप्रतर्क्य यानी तर्क करने के लिए अशक्य है। एवं उस समय उसका वाचक-स्थूल शब्द का अभाव था, इसलिए वह शब्द से भी अविज्ञेय था। अत एव प्रसुप्त की भाँति सर्व तरफ से छिपा था अर्थात् अपने कार्य के लिए असमर्थ था। वह किस हेतु से

इति। कुतो न प्रज्ञायते? तत्राह–सलिलं= संगतं, तमसि तादात्म्येन सम्बद्धम् ('षल गतौ' इति धातोरौणादिक इलच् प्रत्ययः) इदं दृश्यमानं निखिलं जगत्तदानीं कारणेनाविभागापन्नं, आः=आसीत्। (अस्तेर्लुङि तिपि 'बहुलं छन्दसी'ति इडभावे 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति तिलोपे 'तिप्यनस्तेः' इति पर्युदासादकाराभावः) अथवा सलिलमिति लुप्तोपममिदम्, सलिलमिव, यथा नीरं क्षीरयुक्तमेकतापन्नं दुर्विज्ञानं, तथा तमसा कारणेनाविभागापन्नं जगत् न शक्यविज्ञानमित्यर्थः। यद्वा यथा वृष्टौ पतिता वर्षोपलाः सलिलमात्रत्वेनावशिष्यन्ते, तथा सर्वं जगदिदं तम आसीत् तमःकारणमात्ररूपेणावशिष्टमित्यर्थः। ननु–विविधविचित्ररूपभूयसः प्रपञ्चस्य कथमतितुच्छेन तमसा क्षीरेण नीरस्येवाभिभवः, अथ तमोऽपि क्षीरवद्बलवदित्येवोच्यते, तर्हि दुर्बलस्य जगतः सर्गसमयेऽपि नोद्भवसम्भव इत्यत आह–तुच्छ्येनेति। तुच्छ्येन=तुच्छेन (छान्दसो यकारोपजनः) तत्त्वज्ञानमात्रेण निवर्त्यत्वात्तत्कारणस्य मूलाज्ञानस्य तुच्छत्वम्। तुच्छकल्पेन सदसद्विलक्षणेन भावरूपेणाज्ञानेनानादिना, आभु=आसमन्ताद्भवतीति–आभु=भवनधर्मकं जगत्, अपिहितं=निगूढं–आच्छादितमासीत्। (दधातेः कर्मणि निष्ठा 'दधातेर्हिः') एकं=एकीभूतं–संस्काररूपैकाव्यक्तावस्थापन्नं कारणेन तमसाऽविभागतां प्राप्तमपि तत्=कार्यजातं, तपसः=ईश्वरस्य स्रष्टव्यपर्यालोचनरूपस्य, महिना=महिम्ना–माहात्म्येन, अजायत= स्थूलविचित्ररूपेण आविर्बभूवेत्यर्थः। तपसः

नहीं जाना जाता है?–यह कहते हैं–सलिल यानी संगत-तमः-कारण में तादात्म्य से सम्बद्ध था। अर्थात् यह दृश्यमान निखिल-जगत् उस समय में कारण-तम से अविभागापन्न-अविभक्त था। अथवा 'सलिल' यह लुप्त-उपमा वाला पद है, सलिल की भाँति, अर्थात् जैसे नीर-जल, दुग्ध से मिला हुआ–एक हुआ–दुर्विज्ञान (दुग्ध से पृथक् जल के ज्ञान का असंभव) हो जाता है। वैसे तम रूप-कारण से अविभक्त-सम्बद्ध हुआ जगत् पृथक् रूप से जानने के लिए अशक्य हो जाता है। यद्वा जिस प्रकार वृष्टि में गिरे हुए ओले–करे सलिल मात्र रूप से अवशिष्ट रह जाते हैं, तिस प्रकार यह समस्त जगत् तमरूप था अर्थात् प्रलय में तमःकारण मात्र रूप से अवशिष्ट हो जाता है।

शंका—विविध-विचित्र-रूपों से विस्तार वाले इस प्रपञ्च का-अतितुच्छ-तम से, 'दूध से जल के अभिभव की भाँति' कैसे अभिभव हुआ? यदि तम भी क्षीर की भाँति अभिभव करने में बलवान् है' ऐसा कहते हो तब दुर्बल-जगत् का सृष्टि के समय में भी उद्भव का सम्भव नहीं हो सकता।

समाधान—तुच्छ-तम। एकमात्र तत्त्वज्ञान से ही निवर्त्य-बाधित होने के कारण जगत् का कारण उस तमोरूप मूलाज्ञान में तुच्छत्व है। तुच्छ के सदृश-सदसत् से विलक्षण-भाव रूप-, अनादि-अज्ञान से आभु-यानी सर्व तरफ से जो उत्पन्न होता है–वह-भवन-उत्पत्ति-धर्म वाला जगत्-निगूढ-आच्छादित था। एक यानी एकीभूत-संस्कार रूप-एक-अव्यक्त-अवस्था को प्राप्त हुआ था–कारण तम से अविभागता को प्राप्त हुआ था, वह जगद्रूप-कार्य समुदाय, ईश्वर के स्रष्टव्य-पदार्थों के पर्यालोचन रूप-ज्ञानमय तप के-माहात्म्य-प्रभाव से, स्थूल-विचित्र रूप से आविर्भूत हुआ। तप की पर्यालोचन रूपता

पर्यालोचनरूपत्वं चाऽन्यत्राऽप्याम्नायते—'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुं० १।१।९) इति । अथवा अपिहितं=आवृतं, एकं=अद्वितीयं, आभु=विभु-संस्कारतापन्नजगदनुस्यूतं यत्=ब्रह्म जगद्विवर्तोपादानकारणमधिष्ठानमासीदित्यर्थः। कृष्ण-यजुर्वेदीयतैत्तिरीयब्राह्मणे 'तपसः' इत्यस्य स्थाने 'तमसः' इति पाठ उपलभ्यते, तत्र तमसः=पूर्वोक्ताज्ञानात्—अव्यक्तं जगत्, महिना=महत्त्वेनाभिव्यक्तविस्तृतनामरूपादिनाऽजायत, तदिदमज्ञानदृष्ट्या जगदाकारेण भासमानमपि परमार्थतः एकमस्तिभातिप्रियरूपेण वर्तमानं ब्रह्मैवास्तीति ।

एवमत्र संक्षेपत आम्नातं जगत्परिणामप्रकृतिभूतायाः तत्त्वप्रतिभासप्रतिबन्धहेतुभूताया मायायाः स्वरूपं नृसिंहोत्तरतापनीया श्रुतिः स्पष्टं प्रतिपादयति—'माया च तमोरूपाऽनुभूतेस्तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तं तुच्छमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मेव दृष्टाऽस्य सत्त्वमसत्त्वञ्च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव, तद्यथा वटबीजसामान्यमेकमनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् वटान् सबीजानुत्पाद्य तत्र तत्र पूर्णं सत्तिष्ठत्येवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवे-

अन्य-श्रुति में भी कहा गया है—'जो परमेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्ववित् है, जिसका विचारप्रधान-ज्ञानमय तप है।' इति । अथवा एक-अद्वितीय, आभु-विभु, संस्कारतापन्न-जगत् में अनुस्यूत जो ब्रह्म, जगत् का विवर्तोपादान—कारण अधिष्ठान है, वह उस तम से अपिहित-आवृत था । कृष्ण-यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'तपस.' इस पद के स्थान में 'तमसः' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, उसमें तम से यानी पूर्वोक्त—अज्ञान से अव्यक्त-जगत् महत्ता-द्वारा—विस्तृत-अभिव्यक्त-नाम-रूपादि द्वारा उत्पन्न हो गया। वह यह जगत् अज्ञान की दृष्टि से जगदाकार से विभिन्न भासमान हुआ भी परमार्थ से एक अस्ति-भाति-प्रिय रूप से वर्तमान ब्रह्म ही है। इति ।

इस प्रकार यहाँ संक्षेप से प्रतिपादन किया हुआ—जगत्परिणाम की प्रकृति-भूत तत्त्व-प्रतिभास के प्रतिबन्ध में हेतु-भूत-माया का स्वरूप—नृसिंहोत्तर-तापनीया श्रुति भी स्पष्ट प्रतिपादन करती है—'माया तमोरूपा है, अनुभूति होने से, उस का यह जड, मोहरूप, अनन्त एव तुच्छ, ऐसा रूप है, इस रूप को प्रकट करने वाली माया सदा निवृत्त-बाधित हुई भी मूढ़ों से आत्मा की भाँति सत्य-सी देखी जाती है। यह माया सृष्टि के समय में इस ससार के सत्त्व का, एवं प्रलय में असत्त्व का प्रदर्शन करती है। सिद्ध होने से वह स्वतन्त्र है, असिद्ध होने से वह परतन्त्र है, वही यह माया, वट बीज के सामान्य में अनेक वट निर्माण की एक-शक्ति की भाँति, अर्थात् जैसे वट-बीज-सामान्य यानी समग्र वट बीज, अपने से अव्यतिरिक्त-अभिन्न-सबीज-अनेक वटो को उत्पन्न करके उस-उस में पूर्ण-ओत-प्रोत हुआ रहता है। इस प्रकार यह माया, अपने से अव्यतिरिक्त-अभिन्न पूर्ण-क्षेत्र-शरीरों का प्रदर्शन करके

शवाभासेन करोति, माया चाविद्या च स्व-यमेव भवति सैषा चित्रा सुदृढा।' (९) अ-स्यायमर्थः—मायायाः किं रूपमित्यत आह—तमोरूपा। मायायास्तमोरूपत्वे किं प्रमाण-मित्याकाङ्क्षायां—अनुभूतेरिति। कोऽसावनु-भवः? इति प्रश्नस्योत्तरमाह—तदेतदित्या-दिना। जडं मोहं च प्रकृतेः कार्यमनन्तमिति आबालगोपालादीनां सर्वेषामनुभवोऽस्ति। चिदात्मभिन्नानां घटादीनां जाड्यं, वीर्या-ल्पघटधानादिनिष्पाद्यशरीरवृक्षादिपदार्थेषु चेतश्चमत्कृतिहेतुभूतं बुद्धिविचारकुण्ठितका-रित्वापरपर्यायं दुर्निरूपत्वलक्षणं मौढ्य-मानन्त्यञ्च स्पष्टमेवानुभूयते सर्वैरस्माभिः। यदाहुः—विद्यारण्यस्वामिपादाः—'देहेन्द्रि-यादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम्। कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम्॥ वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया। अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वन्ध्यवी-र्यतः[1]॥ न जानामि किमप्येतदित्यन्ते श-रणं तव। अत एव महान्तोऽस्य प्रवदन्तीन्द्रजालताम्॥ एतस्मात्किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं, रेतश्चेतति हस्तमस्तकपद-

जीव एवं ईश्वर का आभास द्वारा निर्माण करती है, और माया तथा अविद्या स्वयं ही होती है, वही यह विचित्रा एवं सुदृढा माया है।' इति। इसका यह अर्थ है—माया का क्या रूप है? कहते हैं—तमोरूप। माया के तमोरूपत्व में क्या प्रमाण है? ऐसी आकाङ्क्षा होने पर—अनुभूति ही प्रमाण है। कौन वह अनुभव है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—'तदेतत्' इत्यादि से। प्रकृति का जड, मोह रूप अनन्त-कार्य है, ऐसा बाल-गोपालादि पर्यन्त-सभी मनुष्यों का अनुभव है। चिदात्मा से भिन्न-घटादियों के जाड्य का, वीर्य-अल्प-घटधानादि से निष्पाद्य शरीर-वृक्षादि-पदार्थों में चित्त के चमत्कार का हेतुरूप-बुद्धि के विचारों का कुण्ठितकारित्व है अन्य नाम जिसका, ऐसा दुर्निरूपत्व रूप का-मौढ्य एवं आनन्त्य का हम सब को स्पष्ट अनुभव होता है। पूज्य-विद्यारण्यस्वामी यही कहते हैं—'देह-इन्द्रिय-प्राण आदि पदार्थ, वीर्य से किस प्रकार उत्पन्न हुए हैं? और उनमें चैतन्य किस प्रकार से आया है? ऐसा प्रश्न पूछने पर तेरा क्या उत्तर है?। यदि तू कहे कि—यह वीर्य का स्वभाव है? तो यह तूने किस प्रकार से जाना? यदि कहे कि-यह अन्वय-व्यतिरेक से जाना है, तो ये अन्वय-व्यतिरेक वंध्या में प्राप्त निष्फल वीर्य से भग्न हो जाते हैं। मैं नहीं जानता हूँ, क्या यह है? ऐसा ही अन्त में तेरा शरण होगा। इसलिए महान् विद्वान् इसको इन्द्रजाल के समान-दुर्निरूप्य कहते हैं। इससे अन्य क्या इन्द्रजाल हो सकता है? कि—जो गर्भवास में स्थित जड वीर्य, हाथ, मस्तक, पादादि रूप नाना-कार्य-रूप अङ्कुरों से परिणत हुआ चेतन बन जाता

१ वन्ध्याया वीर्यस्य व्यर्थत्वात् व्याप्तिर्न घटते, यत्र यत्र वीर्यं तत्र तत्र देहादिकमिति नान्वयोऽपि। वन्ध्या स्त्री में वीर्य व्यर्थ हो जाता है, इसलिए व्याप्ति नहीं हो सकती है। जहाँ जहाँ वीर्य है, वहाँ वहाँ देहादिक है, ऐसा अन्वय नहीं है।

प्रोद्भूतनानाङ्कुरम् । पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं, पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति ॥ देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् । क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥' (पंचदशी. चित्र० ६।१४४-१४५-१४६-१४७-१४८) इति । यद्यपि मूढलोकदृष्ट्या मायायाः तत्कार्यस्य नामरूपात्मकद्वैतप्रपञ्चस्य वास्तवं स्वरूपमवगम्यते, तथापि युक्तिप्रधानया नासदासीदिति पूर्वोक्तश्रुत्या सत्त्वेनासत्त्वेन चोभयत्वेन च निर्वक्तुमशक्यत्वलक्षणमनिर्वाच्यत्वं, ब्रह्मतत्त्वविदां विद्यादृष्ट्या च नित्यनिवृत्तत्वेन हेतुना तुच्छत्वमवबुद्ध्यते । तदप्युक्तम्–'इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत्सर्वैरप्यनुभूयते । युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥ नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् । विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्य नित्यनिवृत्तितः ॥ तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा । ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥ (पंच. चित्र. ६।१२८-१२९-१३०) इति । अत एव 'तुच्छेन तमसा' इति संहितामन्त्रेण सहैकार्थमभिदधानयाऽनया तापनीयश्रुत्या मूढैः आत्मेव सत्या दृष्टा=अनुभूताऽपि

है । और वह क्रमशः शिशुत्व, यौवन, वृद्धत्व आदि के अनेक वेषों से संयुक्त हुआ–देखता है, खाता है, सुनता है, सूँघता है, तथा जाता है एवं आता है ।' देह की भाँति वट के बीज आदि में अच्छी रीति से विचार करके देखें । कहाँ तो अल्प-बीज है, एवं कहाँ महान् वृक्ष है, इसलिए यह सब माया है, ऐसा तू निश्चय कर ।' इति । यद्यपि मूढ लोक की दृष्टि से माया का एवं माया कार्य–नाम-रूपात्मक द्वैत-प्रपञ्च का वास्तविक सत्य-स्वरूप जाना जाता है, तथापि युक्ति है प्रधान जिसमें–ऐसी 'नासदासीत्' इस पूर्वोक्त श्रुति द्वारा–सत्त्व से असत्त्व से, एवं सत्त्वासत्त्वोभय रूप से निर्वचन करने के लिए अशक्यत्व-रूप-अनिर्वाच्यत्व रूप जाना जाता है, तथा ब्रह्मतत्त्ववेत्ताओं की विद्यादृष्टि द्वारा माया नित्य-निवृत्त-बाधित होने से उसमें तुच्छत्व जाना जाता है । वह भी विद्यारण्यस्वामी ने कहा है—'इस प्रकार लौकिक दृष्टि से माया का वह रूप, सत्य-सा सभी को अनुभूत होता है । युक्ति की दृष्टि से अनिर्वचनीय है, 'नासदासीत्' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है । विभात-प्रतीत होने से माया का रूप असत् नहीं था, बाधित होने से सत् भी नहीं था, नित्य-निवृत्त होने के कारण विद्या की दृष्टि से उसका रूप तुच्छ सुना गया है। श्रौत-यौक्तिक एवं लौकिक ऐसे तीन प्रकार के बोध से-दृष्टि से वह माया तुच्छ, अनिर्वचनीय, एवं वास्तविक–ऐसी तीन प्रकार की जाननी चाहिए, अर्थात् श्रौत दृष्टि से माया तुच्छ-बाधित है, यौक्तिक दृष्टि से अनिर्वचनीय है, एवं लौकिक दृष्टि से वास्तविक-सत्य-सी है ।' इति । इसलिए–'तुच्छेन तमसा' इस संहिता मन्त्र के साथ, एक-अर्थ का प्रतिपादन करने वाली यह नृसिंह-तापनीय श्रुति–मूढों को वह माया, आत्मा की भाँति सत्य दृष्ट अनुभूत है,

नित्यनिवृत्ता सा तुच्छैव, तस्य कार्यरूपमपि तुच्छमेव वेदितव्यमिति स्पष्टं प्रतिपाद्यते। सम्प्रति तादृश्या मायायाः कृत्यमाह–अस्य सत्त्वमसत्त्वञ्च दर्शयति–अस्य=नामरूपात्मकस्य द्वैतप्रपञ्चस्य चित्रपटमिव सा माया संकोचप्रसारणाभ्यां सृष्टिकाले सत्त्वं प्रलयसमये चासत्त्वं दर्शयतीत्यर्थः। पुनः सा कीदृशी इत्यत आह–सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यामिति। नित्यशुद्धबुद्धमुक्ताकर्त्रभोक्तृत्वादिस्वरूपस्यासंगस्यात्मनोऽन्यथाकरणात् अस्याः प्रबलं पराक्रमं सर्वत्र सिद्धमित्यभिप्रेत्य सा स्वतन्त्राऽस्तीति वक्तुं शक्यते। परन्तु स्वभासकचैतन्यं विहाय सा स्वातन्त्र्येण न प्रकाशते, इति हेतोः चैतन्यप्रकाशायत्तस्फूर्तिकाऽस्वतन्त्रा इत्यप्यभिधीयते। तदप्युक्तम्–'अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ। प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा॥ अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम्। स्वतन्त्राऽपि तथैव स्यादसङ्गस्यान्यथाकृतेः॥' (पं. चि. १३२-१३३) इति। अथान्यथाकरणत्वमेव वटबीजदृष्टान्तेन स्पष्टयति–सैषेति। आभासेन=चिदाभासस्वरूपेण। जीवेश्वरौ, करोति=निर्माति। एवमसङ्गस्य निर्लेपस्यात्मनः कौटस्थ्यमनुपद्रुत्य तमेव जगत्त्वेन करोति। अत एव सा चित्रा=विचित्रा–दुर्घटैकवि-

तथापि वह नित्यनिवृत्त-बाधित होने से तुच्छ ही है, उसका कार्यरूप भी तुच्छ ही है, ऐसा जानना चाहिए–ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन करती है। अब उस प्रकार की माया का कृत्य कहते हैं–इसका सत्त्व एवं असत्त्व भी दीखाती है, अर्थात् इस नामरूपात्मक–द्वैत प्रपञ्च के–चित्रपट की भाँति वह माया-संकोच एवं प्रसारण के द्वारा सृष्टिकाल में-सत्त्व का एवं प्रलय समय में असत्त्व का दर्शन कराती है। फिर वह माया किस प्रकार की है? कहते हैं–सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यामिति। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-अकर्तृ-अभोक्तृ-आदिस्वरूप–असंग-आत्मा को अन्यथा करने से इस माया का प्रबल पराक्रम सर्वत्र सिद्ध है, ऐसा अभिप्राय रख-करके वह माया स्वतन्त्र है, ऐसा कहने के लिए शक्य है। परन्तु अपने भासक-चैतन्य को छोड़ कर उसका स्वतन्त्रता से प्रकाश नहीं होता है, इस हेतु से चैतन्य-प्रकाश के अधीन है स्फूर्ति–जिस की-ऐसी वह माया अस्वतन्त्रा है, ऐसा कहा जाता है। वह भी विद्यारण्य स्वामी ने कहा है–'जिस प्रकार चित्रपट संकोच से छिप जाता है एवं प्रसारण से प्रकट हो जाता है, तिस प्रकार यह माया संकोच से इस जगत् के असत्त्व को एवं प्रसारण से सत्त्व को दिखाती है। निश्चय से वह माया चेतन के बिना प्रतीत नहीं होने से अस्वतन्त्र है, तथा असंग-आत्मा को अन्यथा करने से स्वतन्त्र भी है।' इति। अब वटबीज के दृष्टान्त से माया में आत्मा का अन्यथाकरणत्व का ही स्पष्ट रूप से प्रदर्शन करते हैं–सैषेति। आभास-यानी चिदाभास स्वरूप से माया जीव-ईश्वर का निर्माण करती है। इस प्रकार माया असंग-निर्लेप-आत्मा के कूटस्थत्व का अभिभव न करके उस आत्मा को ही जगत्-रूप से बनाती है। अत एव यह माया चित्रा-विचित्रा अर्थात् दुर्घट-असंभव-अर्थ का ही

धायिनी—चेतश्चमत्कृतिहेतुभूता । सुदृढा=तत्त्वज्ञानमन्तरेण साधनान्तरेणोच्छेत्तुमशक्यत्वात् । स्वयमेव भवतीत्यनया तस्या अनादित्वमाह । यद्यपि माययैवाऽविद्या, नान्या, तत्त्वावभासविरोधित्वे सति विपरीतावभासहेतुत्वरूपलक्षणैक्यात् । न च स्वाश्रयव्यामोहहेतुरविद्या, स्वाश्रयमव्यामोहयन्ती सती याऽन्यव्यामोहहेतुर्मायेति लक्षणभेदाद्भेदोऽस्त्विति वाच्यम् । अव्यामोहस्य तत्त्वज्ञानप्रयुक्तत्वात् । अङ्गुल्यवष्टम्भादिना बुद्धिपूर्वकचन्द्रद्वित्वादिप्रतिभासे, मुकुरे मुखादिप्रतिभासे चाऽविद्याया अपि स्वाश्रयाऽव्यामोहदर्शनात् । अत एव कर्तुस्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामपि न तयोर्भेदप्रत्याशा । एतेनेश्वरस्याऽविद्याश्रयत्वे भ्रान्तत्वाऽऽपत्तिरपि निरस्ता । विरोधिज्ञानाऽनास्कन्दितविपर्य्ययस्यैव भ्रान्तत्वाऽऽपादकत्वात् । अन्यथा भ्रान्तभ्रान्तिज्ञसङ्करापत्तेः । तस्मात्—'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते । योगी मायाममेयाय तस्मै ज्ञाना-

एकमात्र निर्माण करने वाली-चित्त के चमत्कार-विस्मय की कारणरूपा है । तत्त्वज्ञान के विना अन्य साधन से उच्छेद करने के लिए-वह अशक्य है, इस लिये सुदृढा है । स्वयं ही होती है, इस कथन से उसका अनादित्व कहा गया है । यद्यपि माया ही अविद्या है, अन्य नहीं, क्योंकि-तत्त्व के अवभास का विरोधी रूप एवं विपरीत-अवभास का हेतुरूप, लक्षण दोनों का एक है ।

शंका—स्वाश्रय-जीव के व्यामोह-भ्रान्ति का जो हेतु है, वह अविद्या है, तथा स्वाश्रय-ईश्वर को व्यामोह नहीं करती हुई जो अन्य-जीवों के व्यामोह का हेतु है, वह माया है, इस प्रकार लक्षण का भेद होने से माया एव अविद्या का भेद हो ?

समाधान—अव्यामोह, तत्त्वज्ञान—प्रयुक्त है, अर्थात् तत्त्वज्ञान से व्यामोह की निवृत्ति होती है, अङ्गुली के अवष्टम्भ—नेत्रकोण में दबाना आदि के द्वारा बुद्धिपूर्वक चन्द्र के द्वित्वादि के प्रतिभास में, तथा दर्पण में मुखादि के प्रतिभास में अविद्या भी स्वाश्रय को व्यामोह नहीं करने वाली देखने में आती है, इसलिए माया एव अविद्या का लक्षण भेद नहीं है । अत एव कर्ता के स्वातन्त्र्य से एव पारतन्त्र्य से भी इन दोनों के भेद की प्रत्याशा नहीं है । इस वक्ष्यमाण के कथन से ईश्वर को अविद्या से अभिन्न-माया का आश्रय मानने पर भ्रान्तत्व की आपत्ति भी निरस्त हो जाती है । क्योंकि—विरोधि-ज्ञान से जो समाक्रान्त-अभिभूत नहीं है ऐसा विपरीत ज्ञान ही भ्रान्तत्व का आपादक-समर्पक माना गया है । अन्यथा—ऐसा न मानने पर भ्रान्त, एव भ्रान्ति के ज्ञाता की सङ्करापत्ति हो जायगी, अर्थात् दोनों में कुछ भेद नहीं रहेगा । इसलिए—'हृदय में जिस परमात्मा का निवेश—प्रकट-अवस्थान होने पर, योगी वितत-विस्तृत अविद्या-

त्मने नमः ॥' इति स्मृतौ अविद्यां मायामिति सामानाधिकरण्यात्, ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च न मायाऽविद्ययोर्भेदः। व्यवहारभेदस्तु स्वाश्रयव्यामोहाद्युपाधिभेदादुपपादनीय इति विवरणाचार्य्याः प्रकाशात्मश्रीचरणाः। भामतीकारा आचार्य-वाचस्पतिमिश्रास्तु-प्रतिजीवमविद्याभेदमङ्गीकृत्य व्यष्टिरूपेणाऽऽश्रयतासम्बन्धेन जीवेषु साऽविद्येत्युच्यते, समष्टिरूपेण विषयतया तु ब्रह्मणि सा मायेत्याहुः। शुद्धचैतन्यमात्राऽऽश्रयविषया सेति संक्षेपशारीरकाचार्य्याः सर्वज्ञात्ममुनयः। यथाहुः-'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नाऽपि गोचरः ॥' इति।

माया को तर जाता है, उस-अप्रमेय-ज्ञानात्मा को नमस्कार है।' इस स्मृति में अविद्या एवं माया का सामानाधिकरण्य है, अर्थात् समान-विभक्ति द्वारा एकार्थ का द्योतन किया गया है। और ज्ञान से निवर्त्य होने के कारण भी माया एवं अविद्या का भेद नहीं है। दोनों के व्यवहार का भेद तो स्वाश्रय के व्यामोहकत्वादि-उपाधि के भेद से उपपादन करना चाहिए, ऐसा विवरणाचार्य्य-प्रकाशात्म-श्रीचरणस्वामी कहते हैं। भामतीकार-आचार्य्य वाचस्पति मिश्र तो प्रत्येक जीव के प्रति अविद्या-भेद का अङ्गीकार करके व्यष्टिरूप से आश्रयता सम्बन्ध द्वारा जीवों में वह अविद्या है, ऐसा कहा जाता है, और समष्टिरूप से विषयता सम्बन्ध द्वारा ब्रह्म में वह माया है' ऐसा कहते हैं। शुद्ध-चैतन्य-मात्र के आश्रय में रहने वाली एवं उसको ही विषय करने वाली वह माया है ऐसा संक्षेपशारीरकाचार्य्य-सर्वज्ञात्म-मुनि कहते हैं। जैसा कि-संक्षेप शारीरक नाम के ग्रन्थ में कहते हैं-'माया की आश्रयता एवं विषयता का भजने वाला-विभागरहित-अपरिच्छिन्न-चैतन्य ही केवल है। पूर्व सिद्ध-तम -अज्ञान का पश्चाद्भावी-जीव न आश्रय हो सकता है, न तो विषय-गोचर होता है।' इति।

(५४)

(कामस्य कर्मणश्च सृष्टिकारणत्वात् तन्निरोधादेव संसारमोक्षः सिद्ध्यति)

(काम एवं कर्म सृष्टि के कारण हैं, इसलिए उन के निरोध से ही ससारमोक्ष सिद्ध होता है)

ननु-उक्तरीत्या यदीश्वरस्य पर्यालोचनं जगतः पुनरुत्पत्तौ कारणं तदेव किं निमित्तमित्यत आह—

शंका-पूर्वोक्त रीति से यदि-ईश्वर का पर्यालोचन जगत् की पुन उत्पत्ति में कारण है, उस-पर्यालोचन का प्रयोजक कौन है? इसका समाधान मन्त्रद्वारा कहते हैं—

ॐ कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्, हृदि प्रतिष्या कवयो मनीषा॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. १२९ ऋक्. ४) (तै. ब्रा. २।४।१।१०) (तै० आ० १।२३।१)

'सृष्टि के आदि में परमेश्वर के मन में काम (जगत्-सर्जन की इच्छा) प्रादुर्भूत हुआ। उस काम का प्रयोजक-प्रथम-अतीत कल्प में प्राणियों से किया गया-शुभाशुभ कर्म रूप-रेत-बीज था। इस समय सद्रूप से प्रतीयमान-इस जगत् की उत्पत्ति में कारण रूप-कर्म समुदाय को सर्वज्ञ-कवि-योगियो ने-हृदय में निरुद्ध की हुई-प्रज्ञा के द्वारा विचार करके असत्सदृश-अव्यक्त रूप-प्रकृति में पृथक्रूप से जाना।'

अग्रे=अस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां, परमेश्वरस्य मनसि कामः=सिसृक्षा-सर्जनेच्छा, समवर्तत=सम्यगजायत-प्रादुर्बभूवेत्यर्थः। ईश्वरस्य सिसृक्षा या किंहेतुका? इत्यत आह-मनस इति। मनसः=अन्तःकरणस्य, अधि=सम्बन्धि, वासनाशेषेण मायायां विलीनेऽन्तःकरणे समवेतं, सामान्यापेक्षमेकवचनम्। सर्वप्राण्यन्तःकरणेषु समवेतमित्यर्थः। एतेनात्मनो गुणाश्रयत्वं प्रत्याख्यातम्। स्मरति चैतद्भगवान् व्यासोऽपि-'शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः। अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्ममृत्युश्च नात्मनः॥' (भा. ११।२८।१५) इति। तादृशं रेतः=भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं, प्रथमं=अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पापपुण्यात्मकं शुभाशुभं कर्म, यत्=यतः

अग्रे यानी इस संसाररूप विकार-समुदाय की सृष्टि की प्रथम अवस्था में, परमेश्वर के मन में काम यानी सिसृक्षा-सर्जन करने की इच्छा, सम्यक्-उत्पन्न-प्रादुर्भूत हुई। ईश्वर को सर्जन की इच्छा किस कारण से हुई? ऐसा प्रश्न होने पर समाधान कहते हैं-मनस इति। मन यानी अन्तःकरण के अधि यानी सम्बन्धी, वासना-संस्कार शेष से माया में विलीन-अन्तःकरण में समवेत-सम्बद्ध-शुभाशुभ कर्म समुदाय ही सिसृक्षा का कारण है। 'मनसः' ऐसा एकवचन, सामान्य की अपेक्षा से है। व्यक्ति-अभिप्राय से समस्त-प्राणियों के अन्तःकरणो मे समवेत है, ऐसा अर्थ है। इस कथन से आत्मा में गुणाश्रयत्व का खण्डन किया। अर्थात् इच्छादि-गुणों का आश्रय मन है, आत्मा नहीं है। यह भगवान् व्यास श्रीमद्भागवत में स्मरण करता है-'शोक-हर्ष-भय क्रोध-लोभ-मोह-स्पृहा-आदि धर्म, अहङ्कार रूप-अन्तःकरण में देखे जाते हैं, आत्मा में नहीं देखे जाते, तथा जन्म मृत्यु भी अहंकार का आश्रय देह के हैं, आत्मा के नहीं है।' इति। इस प्रकार का रेत यानी भावी-प्रपञ्च का बीजरूप-प्रथम यानी अतीत-कल्प में प्राणियों के द्वारा किया गया-पुण्य पाप रूप-शुभाशुभ कर्म यत्-यानी जिस कारण से

कारणात्, सृष्टिसमये, आसीत्=अभवत् भूष्णु-वर्धिष्णु-अजायत, परिपक्वं सत्-फलोन्मुखमासीदित्यर्थः। तत्=ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि कामरूपा सिसृक्षाऽजायतेति पूर्वेणान्वयः। तस्यां हि जातायां स्रष्टव्यं पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति। तथा चाम्नायते—'सोऽकामयत, बहु स्यां प्रजायेयेति, स तपोऽतप्यत,स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्चेति।' (तै.२।६) इति। एकोऽद्वितीयरूपोऽहमेव बहुविधो भवेयम्, तत्रायमुपायः कामः, पूर्वमवस्थितमद्वितीयरूपमनुपमृद्य प्रकर्षेण मायाकल्पितजगद्रूपेणोत्पद्येयेत्यर्थः। श्रुतिरात्मनेत्थमवगमितेऽर्थे विद्वदनुभवमप्यनुग्राहकत्वेन प्रमाणयति—सत इति। सतः=सत्त्वेनेदानीं प्रतीयमानस्य सर्वस्य जगतः बन्धुं=बन्धकं हेतुभूतं कल्पान्तरे प्राण्यनुष्ठितं कर्मसमूहं, कवयः=क्रान्तदर्शनाः-अतीतानागतवर्तमानाभिज्ञा योगिनः, हृदि=हृदये निरुद्धया, मनीषा=मनीषया बुद्ध्या ('सुपां सुलुगि'ति तृतीयाया लुक्)प्रतीष्या=विचार्य, (अन्येषामपी'ति सांहितिको दीर्घः) असति=सद्विलक्षणे-अव्याकृते-कारणे निरविन्दन्=निष्कृष्यालभन्त-विविच्याजानन्नित्यर्थः। एतेन जगतः पुनरुत्पत्तौ ईश्वरस्य पर्यालोचनात्मकं तपः कारणं, तस्य कारणं सिसृक्षा-

सृष्टि के समय में था, अर्थात् सिद्ध हुआ-बढ़ा हुआ-वह कर्म परिपक्व हो कर फल को समर्पण करने के लिए तैयार हुआ था। इस हेतु से फल प्रदाता-सर्वसाक्षी-कर्माध्यक्ष-परमेश्वर के मन में कामरूपा-सिसृक्षा-उत्पन्न हुई, ऐसा पूर्व-वाक्य के साथ अन्वय है। निश्चय से सिसृक्षा-उत्पन्न होने पर स्रष्टव्य जगत् की पर्यालोचना करके परमेश्वर उससे सर्व जगत् का सर्जन करता है। तथा च तैत्तिरीय-श्रुति में कहा गया है—'उस परमेश्वर ने सृष्टि के आदि में सर्जन की कामना किया। मैं एक ही बहु-अनेक रूप से होऊँ, नाम-रूप के द्वारा प्रकट हो जाऊँ, ऐसी कामना करके उसने स्रष्टव्य-जगत् की पर्यालोचनारूप तप किया। उसने ऐसा तप करके इस समस्त जगत् का सर्जन किया—जो कुछ यह है।' इति। अर्थात् एक-अद्वितीय रूप में ही बहु प्रकार का हो जाऊँ, उस-बहु-भवन में यह उपाय-काम-कामना है। पूर्व में अवस्थित-अद्वितीय-ब्रह्म रूप का उपमर्दन न करके प्रकर्ष यानी -मायाकल्पित-जगत् रूप से उत्पन्न हो जाऊँ। अपने से इस प्रकार ज्ञात हुए-अर्थ में श्रुति, विद्वानों का अनुभव भी अनुग्राहक रूप से-प्रमाण रूप से प्रदर्शित करती है—सत इति। सद्रूप से इस समय -प्रतीयमान-समस्त-जगत् का बन्धु-यानी बन्धक-कारण रूप-जो अन्यकल्प में प्राणियों के द्वारा अनुष्ठित-कर्मों का समुदाय है—उसको-क्रान्त-दर्शी-कवि यानी अतीत-अनागत-वर्तमान-त्रिकाल के ज्ञाता योगियों ने हृदय में निरुद्ध-एकाग्र की हुई-मनीषा-बुद्धि के द्वारा विचार करके-असत्-सद्विलक्षण—अव्याकृत-कारण में निरविन्दन् यानी पृथक् रूप से विवेचन करके जाना। इस मन्त्र से—'जगत् की पुनः उत्पत्ति में ईश्वर का पर्यालोचन रूप-तपः कारण है, उस तप का कारण सिसृक्षा-रूप काम है, तथा

त्मकः कामः, तस्य कारणं कल्पान्तरानुष्ठितप्राणिकर्मसमुदायः । तथा च तयोः कामकर्मणोरज्ञानमूलयोः तत्त्वज्ञानेनाज्ञानसंहारद्वारा प्रतिसंहारे सत्येव मोक्षो लभ्यत इति सूचितं भवति ।

अथवा परब्रह्मसम्बन्धिनो मनसः, प्रथमं=आद्यं, रेतः=कार्यं यदासीत्, तत्कार्यमग्रे=सृष्ट्यादौ कामो भूत्वाऽधिसमवर्तत=आधिक्येनाऽऽविरभूत् । अयमर्थः-'यदेतदेकमेवाद्वितीयं' 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २।१) इत्येवं रूपं वस्तु सृष्टेः पूर्वं तमसाऽऽवृत्तमासीत्तस्य. तमोविशिष्टस्य ब्रह्मणः सिसृक्षारूपं यन्मन आदावुत्पन्नं, तस्य मनसः काम एव प्रथमकार्यभूतः पदार्थः । स चोपनिषदि स्पष्टमाम्नातः-'सोऽकामयत' (बृ. १।२।५) इति । स च कामः, सतः=सत्त्वेनानुभूयमानस्य भूतभौतिकरूपस्य जगतः, असति=असच्छब्दाभिधेये तमस्यव्यक्ते, बन्धुः=बन्धनहेतुः । कामो ह्यज्ञाने सर्वं व्यवहारं बध्नाति । यथा निद्राणे पुरुषे समुत्पन्ना कामरूपा चित्तवृत्तिर्नानाविधं स्वप्नव्यवहारं बध्नाति । यथा वा जागरणेऽप्यत्यन्तमलभ्येऽपि विषये समुत्पन्नाऽतिकामरूपा तृष्णा सुखदुःखपर्यन्तं मनोराज्यरूपं व्यवहारं बध्नाति । एवमयं परमेश्वरस्य कामो देवतिर्यङ्मनुष्यादिसर्वव्यवहारं बध्नाति । कवयः=विद्वांसो वेदान्तपारंगताः, हृदि मनीषया=स्वबुद्ध्या प्रतीष्य=विचार्य, असति=अव्यक्ते-तमसि-अज्ञाने, कामं, सतः=उत्पत्स्यमानस्य जगतो बन्धुं=बन्धनहेतुं, निरविन्दन्=निश्चितवन्तः । कामस्य सर्वव्यवहारहेतुत्वं

उस काम का अन्य कल्प में अनुष्ठित-प्राणियों का कर्म-समुदाय कारण है, तथा च अज्ञान है मूल-कारण जिन्हो का ऐसे काम एवं कर्म का तत्त्व ज्ञान से अज्ञान का सहार द्वारा प्रतिसंहार होने पर मोक्ष प्राप्त होता है' ऐसा सूचित होता है ।'

अथवा-परब्रह्मसम्बन्धी मन का प्रथम-आद्य, रेतः-कार्य जो था, वह कार्य अग्रे-सृष्टि के आदि में काम रूप होकर अतिशय करके आविर्भूत हुआ । यह अर्थ-रहस्य है-जो यह एक ही अद्वितीय 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म' इस श्रुति प्रतिपादित स्वरूप वाली वस्तु-सृष्टि के पूर्व में तम से आवृत्त थी, उस तम से विशिष्ट-संयुक्त ब्रह्म का सिसृक्षा-रूप वाला जो मन आदि में उत्पन्न था । उस मन का काम ही प्रथम कार्यरूप पदार्थ है । वह बृहदारण्यक-उपनिषत् में स्पष्ट ही कहा गया है-'उस परमेश्वर ने जगत्सर्जन की कामना किया ।' इति । वह काम, सद्रूप से अनुभूयमान-भूत-भौतिक रूप-जगत् का असत् यानी असच्छब्द से कथन करने योग्य-अव्यक्त-तम में बन्धु यानी बन्धन का हेतु है । काम ही अज्ञान में समस्त व्यवहार को बाँधता है । जिस प्रकार सोये हुए-पुरुष में समुत्पन्ना कामरूपा-चित्तवृत्ति नाना प्रकार के स्वप्न-दृश्य व्यवहार को बाँधती है। या जिस प्रकार जाग्रत् दशा में भी अत्यन्त-अलभ्य-राज्यादि विषय में समुत्पन्ना अतिकामरूपा तृष्णा, सुखदुःखपर्यन्त-मनोराज्यरूप सूक्ष्म-व्यवहार को बाँधती है । इस प्रकार परमेश्वर का यह काम, देव, तिर्यक्, मनुष्यादि विषयक-निखिल-संसार के व्यवहार को बाँधता है । वेदान्त के पारंगत-निष्णात विद्वान्-कवियों ने हृदय में वर्तमान-मनीषा-स्वबुद्धि से विचार करके असद्रूप-अव्यक्त-तम-अज्ञान में अवस्थित काम ही-व्यावहारिक-सत्ता-वाले-उत्पन्न होने वाले-जगत् के बन्धन का हेतु है-ऐसा निश्चय किया है । काम ही समस्त व्यव-

ऋग्वेदिनो वाजसनेयिनश्च समामनन्ति–'पुलुकामो हि मर्त्यः' (ऋ. १।७९।५) 'ऊर्वं इव पप्रथे कामो असे' (ऋ. ३।३०।१९) इति। अयमर्थः–रलयोरभेदात् पुलुरित्यस्य पुरु इत्यर्थः, पुरु=बहु, मर्त्यानामज्ञानां प्रवर्तका बहवः कामाः सन्ति, मर्त्या हि ते कामहताः सन्तः कामेन निरुद्धा एव प्रवर्तन्ते, 'यद्यद्धि कुरुते जन्तुः तत्तत्कामस्य चेष्टितम्।' (२।४) इति मनुस्मरणात्, जात्यभिप्रायतो मन्त्रे एकवचनम्। असे=अस्माकं, कामः=विविधविषयाभिलाषः, ऊर्वं इव=वाडवानल इव, पप्रथे=प्रभूतो वर्ततेऽशेषव्यवहारं निर्वर्तयितुमिति शेषः। 'अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः' (बृ. ४।४।५) इति। भगवान् व्यासोऽपि कामस्य संसारकारणत्वं स्मरति–'कामबन्धनमेवैकं नान्यदस्तीह बन्धनम्। कामबन्धविनिर्मुक्तो नेह भूयोऽपि जायते–(ब्रह्मभूयाय कल्पते)। इति। (म. भा. शां. २५१।७) अस्मदनुभवोऽपि तथा दृश्यते–सर्वो हि पुरुषः प्रथमं किञ्चित्कामयित्वा तदर्थं प्रयतमानः सुखं दुःखं वा लभते, तस्माच्छ्रुतिस्मृत्यनुभवसिद्धत्वात्काम एव सर्वव्यवहारहेतुरिति विदुषां निश्चयः।

हार का हेतु है' ऐसा ऋग्वेदी तथा वाजसनेयी भी कहते हैं—'निश्चय से यह मर्त्य-मरणधर्मा मनुष्य बहु-काम वाला है।' 'हमारे भीतर वाडवानल की तरह काम बड़ा भभक रहा है।' इति। इसका यह अर्थ है–'र' एवं 'ल' अक्षर का अभेद है, इसलिए 'पुलु' शब्द का 'पुरु' ऐसा अर्थ है। पुरु यानी बहु। अज्ञानी-मर्त्यों के प्रवर्तक बहु-असंख्य काम-कामनाएँ हैं। निश्चय से वे मर्त्य प्राणी, काम से हत-अभिभूत हुए काम से निरुद्ध-समाक्रान्त हो कर ही प्रवर्तमान होते हैं। मनु ने भी स्मरण किया है–'प्राणी जो जो कुछ-अच्छा या बुरा करता है, वह वह सब काम की चेष्टा से ही होता है।' इति। 'जाति के अभिप्राय से ही मन्त्र में 'मर्त्य' ऐसा एकवचन है। असे यानी अस्माकं-हमारे भीतर विविध विषयों की अभिलाषा रूप-काम, ऊर्व-इव यानी 'वाडवानल की भाँति' प्रभूत-बढ़ा हुआ रहता है, 'समस्त व्यवहार को सिद्ध करने के लिए' ऐसा शेष वाक्य है। 'अथ निश्चय से विद्वान् लोग कहते हैं कि–यह पुरुष-प्राणी काममय-काम की प्रचुरता से ही भरा हुआ है।' इति। महाभारत के शान्तिपर्व में भगवान् व्यास भी काम में ही संसार की कारणता का स्मरण करता है–'इस संसार में एकमात्र काम ही बन्धन है, अन्य बन्धन कुछ नहीं है, काम-बन्ध से विनिर्मुक्त हुआ वह, इस संसार में पुनः उत्पन्न नहीं होता है, ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के लिए समर्थ होता है।' इति। हम लोगों का अनुभव भी ऐसा ही देखा जाता है–सभी ही पुरुष प्रथम किसी-अभीष्ट-पदार्थ की कामना करके उसके लिए प्रयत्न करता हुआ सुख या दुःख को प्राप्त होता है। इसलिए-श्रुति-स्मृति-एवं अनुभव से सिद्ध होने के कारण काम ही समस्त व्यवहार का हेतु है, ऐसा विद्वानों का निश्चय है।

(५५)

(अविद्याकामकर्मभिः परमेश्वरो भोक्तृभोग्यादिलक्षणं प्रपञ्चम-विलम्बं विदधाति। अथवा स्वयंप्रकाशश्चैतन्यरूपो भगवान् सदा सर्वस्मिन् प्रपञ्चेऽन्तर्बहिर्व्याप्यावतिष्ठते)

('अविद्या-काम एवं कर्म के द्वारा ही परमेश्वर, भोक्ता-भोग्य-आदि लक्षणवाले-संसार-प्रपञ्च का विना विलम्ब ही निर्माण करता है। अथवा स्वयंप्रकाश चैतन्य रूप भगवान् सदा समस्त-प्रपञ्च में बाहर भीतर व्याप्त होकर अवस्थित रहता है।')

एवमविद्याकामकर्माणि सृष्टेर्हेतुत्वेनोक्तानि, अधुना तेषां स्वकार्यजनने शैघ्र्यं प्रतिपाद्यते। अथवा स्वयंप्रकाशपरमात्मनः स्वकार्येषु व्याप्त्या ओतप्रोतत्वमनेन निरूप्यते—

इस प्रकार अविद्या, काम एवं कर्मों को सृष्टि के कारण रूप से कथन किये। अब उन-तीनों की अपने कार्य के उत्पादन में शीघ्रता का प्रतिपादन करते हैं। अथवा—स्वय-प्रकाश परमात्मा के—अपने कार्यों में व्याप्ति के द्वारा होने वाले—ओत प्रोतत्व का इस मन्त्र से निरूपण करते हैं—

ॐ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषा—मधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्। रेतोधा आसन् महिमान आसन्, स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥

(ऋग्वेद, मण्ड. १० सूक्त १२९, ऋक् ५। शु य. ३३।७४। तै ब्रा. २।८।९।५)

'कार्य-वर्ग का सर्जन करने के लिए—इन अविद्या-काम एवं कर्मों का सूर्य-रश्मि के सदृश प्रथम बड़ा विस्तार था। उनसे उत्पन्न होने वाला-वह कार्य वर्ग, प्रथम क्या मध्य में टेढ़ा हुआ अवस्थित था? या क्या वह अधः में था ऊपर में स्थित हुआ था?, अर्थात् सूर्य-रश्मि की भाँति वह समग्र-कार्य-वर्ग, ऊपर नीचे मध्य में-समस्त दिशाओं में एक साथ प्रकट हो कर विस्तृत हो गया था। उन सृष्ट कार्यों में कोई पदार्थ, रेतरूप-कर्म के कर्ता-भोक्ता जीव थे, और कोई आकाशादि-बड़े पदार्थ भोग्य थे। इन भोक्ता एवं भोग्य में भोग्य निकृष्ट था और प्रयत्नशील-भोक्ता जीव उत्कृष्ट था।'

'अथवा स्वयं-प्रकाश परमात्मा, इन भूत-भौतिक-वस्तुओं में टेढ़ा वर्तमान हुआ क्या व्याप्त था? या अधोभाग में या ऊपर के भाग में क्या अवस्थित था?। अर्थात् सूर्यरश्मिसदृश वह चेतनात्मा इन सभी पदार्थों में जिधर देखें-उधर-सर्वत्र-ऊपर-नीचे मध्य में व्याप्त हो कर अवस्थित था। इसलिए ये सभी पदार्थ सार रूप-परमात्मस्वरूप को धारण करते हुए अवस्थित थे एव वे महान् थे। परमेश्वर के आश्रय में रहने वाली वह स्वधा-माया-शक्ति-निकृष्ट थी, एव शक्ति-प्रयत्न का आधार परमात्मा सर्वोत्तम था।'

येयं 'नासदासीदि'ति निरस्तसमस्तप्रपञ्चां प्रलयावस्थामनूद्य विश्वपरिणाम्युपादानकारणाऽविद्याऽनिर्वचनीया प्रतिपादिता,

जिसमें समस्त स्थूल-प्रपञ्च का विध्वंस है—ऐसी प्रलयावस्था का अनुवाद करके-जो यह 'विश्व-परिणाम का उपादानकारण रूपा-अनिर्वचनीया-

यश्च 'कामस्तदग्रे' इति कामः, 'मनसो रेतः प्रथमं यदासीदि'ति च यत्कर्म, एषां=अविद्याकामकर्मणां वियदादिभूतजातं सृजतां, रश्मिः=रश्मिसदृशः, यथा सूर्यरश्मिरुदयानन्तरं निमिषमात्रेण युगपत्सर्वं जगद्व्याप्नोति। तथा शीघ्रं सर्वत्र व्याप्नुवन् यः कार्यवर्गो विततः=सर्वत्र विस्तृत आसीत्, स्विदासीदिति वक्ष्यमाणमत्रापि सम्बध्यते। ('विचार्यमाणानामि'ति प्लुतः 'तत्रोदात्तः' इत्यनुवृत्तेः स चोदात्तः) स्विदिति वितर्के। स कार्यवर्गः प्रथमतः किं तिरश्चीनः=तिर्यग्‌वस्थितो मध्ये स्थित आसीत्? किं वा अधः=अधस्तात् आसीत्? आहोस्वित् उपरिष्टात् किमासीत्?। (उपरिस्विदासीदिति चानुदात्तः प्लुतः) 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः।' (तै. २।१) इत्यादिकया पञ्चमीश्रुत्या 'तत उद्गातारं ततो होतारमि'तिवत् क्रमप्रतिपत्तौ सत्यामपि विद्युत्प्रकाशवत् सर्गस्य शीघ्रव्यापनेन तस्य क्रमस्य दुर्लक्ष्यत्वात्, एतेषु त्रिषु तिर्यगादिस्थानेषु प्राथम्यं कुत्रेति विचार्यते? एवंनाम शीघ्रं सर्वतो दिक्षु सूर्यरश्मिवद्युगपत् सर्गो निष्पन्नः इत्यर्थः। अत एव तत्क्रमविचारो निरर्थक एव। एतदेव विभजते—सृष्टेषु कार्येषु मध्ये केचिद्भावा रेतोधाः=रेतसो-बीजभूतस्य कर्मणो विधातारः=कर्तारो भोक्तारश्च जीवा आसन्। अन्ये

अविद्या है—जिस का 'नासदासीत्' इस श्रुति से प्रतिपादन किया गया है। तथा जो 'कामस्तदग्रे' इस वचन से प्रतिपादित काम है, तथा 'मनसो रेत प्रथमं यदासीत्' इस वचन से प्रतिपादित जो कर्म है। आकाशादि भूतसमुदाय का सर्जन-निर्माण करने वाले इन-अविद्या काम एवं कर्म का—सूर्यरश्मि के सदृश, जिस प्रकार सूर्यरश्मि, उदय के अनन्तर निमिषमात्र से एक साथ समस्त जगत् को व्याप्त करता है, तिस प्रकार शीघ्र ही सर्वत्र व्याप्त-फैला हुआ—जो कार्य-वर्ग है, वह वितत यानी सर्वत्र विस्तृत था। 'स्वित्' एवं 'आसीत्' यह वक्ष्यमाण पद भी यहाँ पूर्व वाक्य में संबद्ध होते हैं। 'स्वित्' यह निपात वितर्क-विचार अर्थ में है। वह कार्य वर्ग प्रथम से क्या तिर्यक्-अवस्थित हो कर मध्य में स्थित था? किं वा अधः-नीचे स्थित था, या क्या ऊपर में स्थित था? यह वितर्क है। 'आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश के अनन्तर वायु, एवं वायु के अनन्तर अग्नि उत्पन्न हुआ।' इत्यादि-तैत्तिरीयोपनिषत् में प्रतिपादित पञ्चमी विभक्ति-वाली श्रुति के द्वारा 'उसके बाद उद्गाता को, एवं उसके बाद होता को' इस की भाँति क्रम की प्रतिपत्ति (बोध) होने पर भी विद्युत्प्रकाश की तरह आकाशादि की सृष्टि शीघ्र ही फैल गई, इसलिए उसका क्रम दुर्लक्ष्य है, अत एव इन-तीन-तिर्यगादि-विविध स्थानों में किसमें प्राथम्य है? इसका विचार किया जाता है। अर्थात् इस प्रकार शीघ्र ही समस्त पूर्वादि-दिशाओं में सूर्य-रश्मि की तरह एक साथ आकाशादि प्रपञ्च का सर्ग (सृष्टि) उत्पन्न हो गया, इसलिए उसके क्रम का विचार निरर्थक ही है। इसका ही विभाग करते हैं—इन सृष्ट कार्यों के मध्य में कुछ भावपदार्थ, रेतोधा थे अर्थात् रेत.—बीज-भूत कर्म के विधाता-कर्ता तथा कर्म-फल के भोक्ता जीव थे। अन्य-

भावा महिमानः=महान्तो विपुला ('स्वार्थिक इमनिच्') वियदादयो भोग्या आसन्, एवं मायासहितः परमेश्वरः सर्वं जगत् सृष्ट्वा स्वयं चानुप्रविश्य भोक्तृभोग्यादिरूपेण विभागं कृतवानित्यर्थः। अयमेवार्थः तैत्तिरीयकेऽपि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि'त्यारभ्य प्रतिपाद्यते। तत्र च भोक्तृभोग्ययोर्मध्ये स्वधा=भोग्यप्रपञ्चः, अन्ननामैतत्। अवस्तात्=अवरः–निकृष्ट आसीत्। प्रयतिः=प्रयतिता–भोक्ता, परस्तात्=परः–उत्कृष्ट आसीत्। भोग्यप्रपञ्चं भोक्तृप्रपञ्चस्य शेषभूतं कृतवानित्यर्थः। 'एतद्वा इद९ सर्वमन्नं चैवान्नादश्च' इति श्रुतेः ('विभाषा परावराभ्यामि'ति प्रथमार्थे अस्ताति, 'अस्ताति चे'त्यवरशब्दस्य अवादेशः, 'स्वधा अवस्तादि'त्यत्र 'संहितायां'ईषा अक्षादित्वात्प्रकृतिभावः)।

अथवा रश्मिः=सूर्यरश्मिसदृशः कश्चित्स्वयंप्रकाशश्चैतन्यपदार्थः। एषां=भूतभौतिकरूपाणां जगद्वस्तूनां मध्ये किं तिरश्चीनः=तिर्यग्वर्तमानः, विततः=व्याप्तः? । स चैतन्यरूपः परमात्माऽमीषां पदार्थानामधोभागेऽवस्थितः किं वोपरिभागेऽवस्थितः? स्विच्छब्दौ विकल्पितपक्षद्वयसूचनार्थौ, प्लुतिर्विचारद्वयद्योतनार्था। सोऽयं सद्रूपः प्रकाशः कश्चिच्चैतन्यपदार्थः सर्वेषां वस्तूनां मध्ये पर्यालोच्यमानो दीर्घतन्तुवत्तिर्यग्भूतो व्याप्यावभासते, अधःपर्यालोच्यमानस्तत्राप्यवभासते, उपर्यालोच्यमानस्तत्रावभासते, तस्मादधः ऊर्ध्वं मध्ये च भासमानत्वादेकत्रैवावस्थित इति वक्तुमशक्यः। यथा घटस्योपादानभूतो मृत्पिण्डो घटस्याधऊर्ध्वम-

पदार्थ, महिमा-महत्त्वयुक्त यानी महान्-विपुल-आकाशादि-भूत भोग्य रूप थे। अर्थात् इस प्रकार मायासहित परमेश्वर ने सर्व जगत् का सर्जन करके तथा स्वयं उसमें प्रविष्ट हो कर भोक्ता एवं भोग्य आदि रूप से प्रपञ्च का विभाग किया। यही अर्थ तैत्तिरीय-उपनिषत् में भी–'उस परमेश्वर ने विश्व का सर्जन करके, वही उसमें प्रविष्ट हो गया' ऐसा प्रारम्भ करके–प्रतिपादन किया जाता है। उस भोक्ता एवं भोग्य के मध्य में स्वधा यानी भोग्य-प्रपञ्च। स्वधा यह भोग्य–अन्न का नाम है। वह अवर-निकृष्ट था। प्रयत्न-कर्ता भोक्ता-पर-उत्कृष्ट था। अर्थात् उसने भोग्य-प्रपञ्च, भोक्तृ-जीव प्रपञ्च का शेष-अंगरूप किया। 'यही निश्चय से यह सर्व है, जो अन्न-भोग्य तथा अन्नाद-भोक्ता है' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।

अथवा, सूर्यरश्मि के सदृश, कोई स्वयं-प्रकाश चैतन्यपदार्थ, इन भूत-भौतिक रूप-जगत् की वस्तुओं के मध्य में क्या टेढ़ा वर्तमान हो कर व्याप्त है? या वह चैतन्यरूप परमात्मा क्या इन पदार्थों के अधोभाग में व्याप्त हुआ अवस्थित है? या क्या उपरिभाग में अवस्थित है?। दो स्वित् शब्द विकल्पित-पक्ष-द्वय की सूचना के लिए है, प्लुति विचार द्वय के द्योतन के लिए है। वही यह सद्रूप-प्रकाश कोई चैतन्य पदार्थ, समस्त-वस्तुओं के मध्य में पर्यालोच्यमान हुआ वहाँ भी दीर्घ तन्तु की भाँति तिर्यक् रूप से व्याप्त हो कर अवभासित होता है, अधः में पर्यालोच्यमान हुआ वहाँ भी अवभासित होता है। उपर में पर्यालोच्यमान हुआ वहाँ भी अवभासित होता है, इसलिए नीचे, ऊपर में एवं मध्य में भी भासमान होने के कारण एक-अमुक भाग में ही वह अवस्थित है, ऐसा कहना अशक्य है। जिस प्रकार घट का परिणामी उपादान कारणरूप, मिट्टी का पिण्ड-

ऽयभागेषु सर्वेष्वनुवर्तते। तदेतत्स्मरति भगवान् कृष्णद्वैपायनो व्यासः—'यस्मिन्निदं यतश्चेदं तिष्ठत्यप्येति जायते। मृन्मयेष्विव मृज्जातिस्तस्मै ते ब्रह्मणे नमः॥' (भा. ६।१६।२२) ···भगवत्यनन्ते जगदीश्वरे। ओतप्रोतमिदं यस्मिँस्तन्तुष्वङ्ग ! यथा पटः॥' (भा. १०। १६।३५) इति। एवं यथा तत्तत्पदार्थोपादानानि तत्तत्कार्येषु व्याप्यैव वर्तन्ते। एवमयं परमात्माऽपि स्वकार्येषु सर्वत्र व्याप्य वर्तमानः सन्नध आसीदित्येव वोपर्यासीदित्येव वा एकत्रैव निश्चेतुमशक्य इति। एवमेव निगमान्तरेण-साक्षात्कृतधर्मा कश्चिदृषिः कार्यरूपासु मर्त्यासु सर्वासु चराचरप्रजास्ववस्थितं महच्चैतन्यमविनाशि ज्योतिः परिपश्यन्नाचष्टे—'अपश्यमस्य महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।' (ऋ० १०।७९।१) इति। अयमर्थः—अस्य महतः=विभोः व्यापकस्य, अमर्त्यस्य=अविनाशिनो नित्यस्य परमात्मनः, महित्वं=सच्चिदानन्दपूर्णाद्वैतलक्षणं महत्त्वं, मर्त्यासु=मरणधर्मरूपासु—कार्यभूतासु सर्वासु विक्षु=चराचरप्रजासु—अवस्थितमहं अपश्यं=पश्यामि—अनुभवामीति यावत्। महतो महित्वमित्यत्र पुरुषस्य चैतन्यमितिवदभेदार्था षष्ठी। इति। तथैवापमा-

घट के नीचे-ऊपर मध्य-सर्व-भागों में अनुवर्तमान होता है। यही यह भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास स्मरण करता है—'जिस प्रकार मृत्तिका के पिण्डों में मृज्जाति-घटादि विकार उत्पन्न होते हैं, एवं स्थित हो कर उनमें ही विलीन हो जाते हैं, तिस प्रकार जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें रहता है, और जिसमें विलीन हो जाता है, उस-शुद्ध ब्रह्म को नमस्कार है।' 'हे अङ्ग—प्रिय ! जिस प्रकार तन्तुओं में पट ओत-प्रोत है, इस प्रकार जिस भगवान्-अनन्त-जगदीश्वर में यह समस्त जगत् ओत-प्रोत है।' इति। इस प्रकार जैसे उस-उस घटादि पदार्थों के उपादान-कारण-मृत्तिकादि, उस-उस घटादि कार्यों में व्याप्त हो कर वर्तते हैं, तद्वत् यह परमात्मा भी अपने कार्यों में सर्वत्र व्याप्त हो कर वर्तता है, इसलिए वह नीचे ही था, या ऊपर में ही था, इस प्रकार असुक-एक-भाग में ही निश्चय करने के लिए वह अशक्य है। इस प्रकार ही अन्य-वेद मन्त्र द्वारा—साक्षात् किया है-परब्रह्मरूप महान् धर्म जिसने, ऐसा कोई ऋषि, कार्य रूप-मर्त्य-समस्त-चराचर प्रजाओं में महान्-चैतन्य-अविनाशी-ज्योति का अपरोक्ष अनुभव करता हुआ कहता है—'मरने के स्वभाव वाली-चराचर-प्रजाओं में अवस्थित-इस अमर्त्य अविनाशी-महान्-व्यापक-परमात्मा के पूर्णाद्वैत रूप महत्त्व को मैंने अपरोक्ष देखा।' इति। इस मन्त्र का यह अर्थ है—इस महान्-विभु-व्यापक, अमर्त्य-अविनाशी-नित्य-परमात्मा का सच्चिदानन्द-पूर्ण-अद्वैत रूप-महित्व-महत्त्व-जो मरण धर्म-रूप कार्यरूप-समस्त चराचर प्रजाओं में अवस्थित है—उसको मैं देखता हूँ-अनुभव करता हूँ। 'महतो महित्व' इस वाक्य में 'पुरुषस्य चैतन्य' की भाँति षष्ठी विभक्ति-अभेद अर्थ में है। इति। इस प्रकार ही यह अथर्ववेद का मन्त्र भी कहता

थर्वणो निगमोऽप्याह–'असति सत्प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्।' (अथर्व. १७।१।१९) इति। अयमर्थः–'सदेव सोम्य!' (छां. ६।२।१) 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्।' (तै. ४।१) इत्यादिश्रुतिभिः सच्छन्देन ब्रह्माभिधानादत्र तद्भिन्नं जगत् असच्छन्देनाभिधीयते। असति=सद्भिन्ने–नामरूपात्मके सर्वस्मिन् जगति, सत्=ब्रह्म, प्रतिष्ठितं=अवस्थितं, अधिष्ठानतया सत्तास्फूर्तिप्रदतया वा। एवं, सति=ब्रह्मणि, भूतं=आकाशादिपञ्चभूतात्मकं सर्वं जगत् प्रतिष्ठितं=आश्रितं अध्यस्तम्। यथा इदमंशे शुक्तौ रजतं कल्पितं रज्ज्वां वा सर्पधारादि, तद्वत्। एवमात्मानात्मनोरत्यन्तविविक्तयोरपि युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्मिथः तादात्म्याध्यासोऽप्यत्रार्थाद्वर्णितो विज्ञेयः। एवमेवात्रैतदर्थप्रतिपादकानि मतिमद्भिः–'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥' (शु. य. ४०।६) 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥' (गी. ६।२९) 'आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम्। अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि॥' (भा. ३।२४।४६) इत्येवमादीनि श्रुतिस्मृतिपुराणवचांस्यपि समनुसंधातव्यानि। इति। अत एव सर्वे एते पदार्था भूतभौतिकरूपाः पूर्वोक्तस्य विततरश्मिरूपस्य स्वप्रकाशचैतन्यस्य रेतोधाः=सा-

है–'असत् में सत् प्रतिष्ठित है, और सत् में भूत प्रतिष्ठित है।' इति। इस का यह अर्थ है–'हे सोम्य–प्रियदर्शन! सत् ही था'। 'सत्य, ज्ञान, अनन्त' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सत् शब्द से ब्रह्म का कथन-प्रतिपादन होने से यहाँ असत् शब्द से सद्ब्रह्म से भिन्न-जगत् कहा जाता है। असत् अर्थात् सद्भिन्न नामरूपात्मक-समस्त-जगत् में सत् ब्रह्म अधिष्ठान रूप से एवं सत्ता-स्फूर्ति के प्रदातृत्व रूप से सदा प्रतिष्ठित-अवस्थित है। इस प्रकार सत्-ब्रह्म में भूत अर्थात् आकाशादि पञ्च-भूत रूप-समस्त-जगत् प्रतिष्ठित-आश्रित-अध्यस्त है। जिस प्रकार इदं–अंशरूप-शुक्ति में रजत कल्पित है, या रज्जु में सर्प-धारादि कल्पित-अध्यस्त हैं, तद्वत्। इस प्रकार-युष्मत्प्रत्यय-त्वं-का विषय एवं अस्मत्प्रत्यय-अहं-का विषय-आत्मा-एवं अनात्मा, जो अत्यन्त विविक्त-पृथक् रूप भी हैं–उन दोनों का यहाँ इस मन्त्र में परस्पर तादात्म्याध्यास भी अर्थात् वर्णन किया, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार ही मतिमानों को–यहाँ-उस अर्थ के प्रतिपादक–'जो कोई-विचारशील समस्त भूत-प्राणियों को आत्मा में ही देखता है, और समस्त-भूतो में आत्मा को देखता है, इस प्रकार के एकत्व दर्शन से वह किसी की घृणा नहीं करता है।' 'जिसने योग से अपने मन को युक्त बनाया है, वह सर्वत्र सम-तत्त्व का दर्शन करने वाला-योगी सब-भूतों में आत्मा को एवं आत्मा में सब-भूतों को देखता है।' 'सर्व-भूतों में आत्मा रूप-भगवान् अवस्थित है, और भगवान् रूप आत्मा में सर्व भूत अवस्थित हैं, ऐसा उसने देखा।'–इत्यादि-श्रुति-स्मृति एव पुराण के वचन–भी अच्छी प्रकार से अनुसंधान-समालोचन करने चाहिए। इति। अत एव ये भूत भौतिक रूप-समस्त पदार्थ, पूर्वोक्त-विततरश्मिरूप-स्वप्रकाश चैतन्य परमात्मा के रेतः यानी

रूपधारिण आसन्, चिदेकरसस्य हि वस्तुनः सद्रूपं सारं, तच्च सर्वे पदार्था धारयन्ति, अस्तीत्येवं रूपणैव सर्वेषामवभासमानत्वात्, ते च सद्रूपधारिणः सर्वे महिमानः=गिरिनद्यादिरूपेण महान्त आसन्, एवं स्वधाशब्दवाच्यमायाऽविद्यादिशब्देनाभिधीयमाना पारमेश्वरी शक्तिः, अवस्तात्=अधमं निकृष्टं कल्पितत्वात्परिणाम्युपादानकारणम्। प्रयतिः=सा शक्तिः प्रयतते यस्मिन्–परमात्मनि–यमाश्रित्य वा सोऽयं शक्तिप्रयत्नाधारः परमात्मा प्रयतिरित्यर्थः। परस्तात्=सर्वोत्तमः सर्वाधिष्ठानः परमार्थसत्य आसीदिति ॥

[अधस्ताद् द्वैतमिथ्यात्वलक्षणानिर्वचनीयत्वादिकं प्रतिपाद्याधुना द्वैतदुःखनिवृत्तिपूर्वकाद्वैतसुखप्राप्तिलक्षणसिद्ध्यादिसाधकमोहशोकाद्यामयनिवारकभगवत्स्तवनरसायनश्रद्धासद्भावनापरमेश्वरानुग्रहादिकमुत्तरमन्त्रैः प्रतिपादयति।]

साररूप को धारण किये हुए थे। चिदेकरस वस्तु का सद्रूप ही सार है, उसको सभी पदार्थ धारण करते हैं, क्योंकि-निखिल पदार्थ, 'अस्ति' रूप से सभी को सर्वत्र अवभासित होते हैं। वे सद्रूप-धारी समस्त पदार्थ गिरि-नदी आदि रूप से महान्-हुए। इस प्रकार स्वधाशब्दवाच्य, माया, अविद्या आदि शब्द से कथन करने योग्य, परमेश्वर की शक्ति, कल्पित होने से अधम निकृष्ट है, वही जगत्-का परिणामी-उपादान कारण है। तथा प्रयति यानी यह माया शक्ति, जिस परमात्मा में रह कर, या जिस का आश्रय-अवलम्बन ग्रहण कर प्रयत्न करती है, वही यह शक्ति-प्रयत्न का आधार परमात्मा प्रयति है। वह परस्तात् यानी सर्वोत्तम-सर्वाधिष्ठान परमार्थ सत्य था। इति।

[गये हुए मन्त्रों में द्वैत संसार के मिथ्यात्व लक्षण-अनिर्वचनीयत्व आदि का प्रतिपादन करके, अब द्वैत दुःख की निवृत्ति पूर्वक-अद्वैत-सुख की प्राप्ति-रूप सिद्धि आदि के साधक तथा मोह-शोकादि रूप रोग के निवारण करने वाले-भगवान् की स्तुति रूप रसायन, श्रद्धा, सद्भावना, परमेश्वरकृपा आदि-साधनों का उत्तर के-आनेवाले मन्त्रों से प्रतिपादन करते हैं]

(५६)

(स्वश्रेयस्कामाः परमया प्रीत्या रुद्रं विश्वपितरं परमेश्वरं स्तुवन्तु)

(अपने कल्याण की कामना करने वाले, परम-प्रीति द्वारा विश्व पिता रुद्र-परमेश्वर की स्तुति करें)

रुद्रप्रसादं विना न किमपि समीहितं शान्तिसुखादिकं सिद्ध्यति–यदाहुर्भगवन्तो वेदव्यासा महाभारते–'दिवसकरशशाङ्कवह्निनेत्रं त्रिभुवनसारमपारमाद्यमीशम्। अजर-

रुद्र प्रसाद प्रसन्नता के बिना कुछ भी अभीष्ट चाहने योग्य शान्ति-सुख आदि सिद्ध नहीं होते हैं। भगवान् वेदव्यास महाभारत में भी कहते हैं–'सूर्य-चन्द्र एवं अग्नि रूप तीन-अम्बक-नेत्र वाले त्र्यम्बक भगवान्–जो त्रिभुवन में सार-तत्त्व रूप हैं, अपार आद्य-अनादि ईश्वर अजर अमर हैं, उनको

ममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभेत शान्तिम् ॥' इति । अतः सिद्धिमिच्छता रुद्रोऽवश्यं प्रसादयितव्यः, तं प्रसादयितुं तत्स्तुतिः परमया प्रीत्याऽहर्निशं विधातव्येति समुपदिशति—

प्रसन्न न करके इस जगत् में कौन पुरुष शान्ति प्राप्त कर सकता है ?' अर्थात् रुद्र-भगवान् की प्रसन्नता से ही मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है ।' इसलिए सिद्धि की इच्छा करने वाले को रुद्र भगवान् अवश्य ही प्रसन्न करना चाहिए । उस को प्रसन्न करने के लिए-उसकी स्तुति परम-प्रीति से रात्रि दिन करनी चाहिए, ऐसा भगवान् वेद सम्यक् उपदेश करता है—

ॐ भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्न-मृधग्घुवेम कविनेषितासः ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ६ सूक्त ४९ ऋक् १०)

'चराचर विश्व रूप-भुवन के पिता-भगवान् रुद्र की वेदो में प्रसिद्ध-मन्त्र-स्तुति रूप-वाणियों के द्वारा दिन में तथा रात्रि में भी तू बधाई कर-रुद्र को प्रसन्न कर । कवि-सर्वज्ञ-अन्तर्यामी उस भगवान् से प्रेरित हुए-हम भी उस महान्-व्यापक-दर्शनीयतम-अजर-अमर-अखण्डानन्दनिधि-परमेश्वर-रुद्र की समृद्ध-ऐश्वर्य की सिद्धि के लिए स्तुति प्रार्थना-आराधना करते हैं ।'

भुवनस्य=चराचरभूतजातस्य-भवनधर्मकस्य, पितरं=जनयितारं-पालयितारं वा, रुद्रं=रुत्-त्रिविधं दुःखं, तस्य-द्रावयितारं परमेश्वरं, आभिः=वेदेषु प्रसिद्धाभिः, गीर्भिः=स्तुतिलक्षणाभिः-रुद्रप्रसादयित्रीभिः शोभनवाणीभिः, दिवा=अहनि, हे श्रेयस्काम ! वर्धय=प्रसादय, तथा अक्तौ=रात्र्यामपि, रुद्रं स्तुतिभिः वर्धय । न त्वामेव वयं रुद्रस्तुतये नियोजयामः, किन्तु कविना=क्रान्तदर्शिना-त्रिकालज्ञेन भगवता रुद्रेणाऽन्तर्यामिणा, इषितासः=प्रेषिताः-प्रेरिताः सन्तो वयमपि बृहन्तं=महान्तं विभुं व्यापकं, ऋष्वं=दर्शनीयतमं, अजरं=जरारहितं, सुषुम्नं=परमोत्तमसुखस्वरूपं, एवंगुणविशिष्टं, रुद्रं, ऋधक्=ऋद्धं समृद्धं-परमैश्वर्यं यथा सिद्धं भवेत्तथा हुवेम=स्तवाम; कर्णाभ्यां यथा श्रुतं,

भुवन यानी-भवन-उत्पत्ति धर्म वाला चराचर-भूत समुदाय, उसका पिता-उत्पादक या पालन-कर्ता, रुद्र यानी रुत् तिन प्रकार के दु.ख, उस को द्रावण-भगाने वाले-परमेश्वर की—वेदों में प्रसिद्ध रुद्र भगवान् को प्रसन्न करने वाली-स्तुतिरूप शोभन वाणियों के द्वारा दिवस में, हे कल्याण का कामुक ! तू बधाई कर—रुद्र को प्रसन्न कर । तथा रात्रि में भी स्तुतियों के द्वारा रुद्र को प्रसन्न कर । तुझ को ही हम रुद्र की स्तुति के लिए नियुक्त करते हैं, ऐसा नहीं है, किन्तु कवि-क्रान्त-अतीतादि का दर्शी-त्रिकालज्ञ भगवान्-अन्तर्यामी-रुद्र से प्रेषित-प्रेरित हुए हम भी, बृहत्-महान्-विभु-व्यापक, ऋष्व—अत्यन्त-दर्शनीय अजर—जरा-वार्धक्यरहित-सुषुम्न यानी परम-उत्तम सुखस्वरूप, इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट रुद्र-भगवान् की समृद्ध-परम-ऐश्वर्य जिस प्रकार सिद्ध हो, तिस प्रकार-स्तुति करते हैं । अर्थात् शास्त्रों के द्वारा जैसा कानों से सुना है,

नयनाभ्यां च यथा दृष्टं, मनसा च यथाऽनुभूतं, तथा भगवन्तं सकलदुःखविनाशकं रुद्रं पशुपतिं तं 'प्रियतमविरहज्वरातुरा युवतय इव' परमया प्रीत्या सार्त्तहुत्या स्तुतिभिः परिचिन्तयाम इति यावत् । अत्र वयमिति शब्दो मन्त्रद्रष्टृ-ऋषिपरामर्शी विज्ञेयः। रुद्रशब्दस्य व्युत्पत्तिभेदा इतस्ततः शास्त्रस्थलेषु वर्णिताः सन्ति, तानिह जिज्ञासुबुद्धिवैशद्यायास्माभिः प्रदर्श्यन्ते, तथाहि–तापत्रयात्मकं संसारदुःखं रोदनकरं रुत्, दुःखहेतुरज्ञानं वा रुत्, तं रुदं–स्वस्वरूपसाक्षात्कारेण द्रावयति-विनाशयतीति रुद्रः । तदुक्तं–'रुत्–दुःखं, दुःखहेतुर्वा द्रावयत्येष नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्माच्छिवः परमकारणम् ॥' (शि॰ पु॰ । वा॰ सं॰) इति । अत एव गुणत्रयीसन्तापरूपत्रिशूलनिर्मूलकत्त्वेन शूलपाणिरिति रहस्यसूचकं रुद्रस्य नामधेयान्तरमपि । मुमुक्षोः शूलं संसाररोगं विध्वंसितुं भद्रामुद्रायुक्तः पाणिर्हस्तो विद्यते यस्य स इति तद्व्युत्पत्तेः। उक्तञ्च–'नमः शिवाय निःशेषक्लेशप्रशमशालिने । त्रिगुणग्रन्थिदुर्भेद्यभवबन्धविभेदिने ॥' इति । रुत्या=वेदरूपया वाण्या धर्मादीन् चतुर्विधपुरुषार्थान् बोधयतीति वा रुद्रः । रुत्या=प्रणवरूपया–सम्यगनुष्ठितया स्वात्मानं पूर्णानन्दाद्वैतं प्रकाशय-

नेत्रों के द्वारा प्रतिमादि में जैसा देखा है तथा मन से ध्यान द्वारा जैसा अनुभव किया है, तिस प्रकार ही सकल-दुःखों के विनाश करने वाले-रुद्र-पशुपति-भगवान् का–'प्रियतम–पति के विरह से समुत्पन्न-ज्वर से आतुर-संतप्त हुई-युवतियों की भाँति' आर्त-पुकार के साथ परमप्रीति द्वारा स्तुतियों से परिचिन्तन करते हैं। यहाँ 'वयं' ऐसा शब्द मन्त्र-द्रष्टा-ऋषि का स्मारक है, ऐसा जानना चाहिए। रुद्रशब्द के व्युत्पत्ति-भेद, इधर-उधर के शास्त्रीय-स्थलों में वर्णित हैं। उन-विलक्षण-व्युत्पत्तियों को जिज्ञासु-बुद्धि की विशदता-स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए हम दिखाते हैं। तथा हि–रुदन कराने वाला-ताप त्रय रूप-संसार दुःख का नाम रुत् है, या सकल-दुःख का कारण अज्ञान रुत् है, उस रुत् को स्वस्वरूप के साक्षात्कार द्वारा जो द्रावण-विनाश करता है, वह रुद्र है। यह कहा है शिवपुराण में–'रुत्–दुःख है, या दुःख का हेतु-अज्ञान है, उस रुत् को हमारा यह प्रभु नष्ट करता है, इस लिए परम कारण रूप शिव भगवान् रुद्र कहे जाते हैं।' इति। इस लिए-गुणत्रयी जन्य सन्ताप रूप-तीन-शूलों के निर्मूल-विनाश कारी होने से भगवान् रुद्र का 'शूलपाणि' ऐसा रहस्य का सूचक अन्य नाम भी है। मुमुक्षु के संसार रोगरूप शूल के विध्वंस करने के लिए उपदेशप्रद-भद्रा-मुद्रा-युक्त पाणि-हस्त है जिसका ऐसी 'शूलपाणि' शब्द की व्युत्पत्ति है। कहा है–'समस्त-अविद्यादि-क्लेशों के प्रशम विध्वंस करने के स्वभाव वाले–दुर्भेद्य-भव-संसार-बन्ध रूप त्रिगुण ग्रन्थि के विभेदन करने वाले-शिव को नमस्कार है।' इति। या रुति-वेद रूप-वाणी द्वारा धर्मादि-चतुर्विध पुरुषार्थों का जो बोधन करता है, वह रुद्र है। या जो सम्यक्-अनुष्ठित-प्रणवरूप-रुति के द्वारा पूर्णानन्द-अद्वैत-अपने

ति-प्रापयतीति वा रुद्रः। 'रु शब्दे' स्मरणात्। ऋषिभिर्ज्ञानिभिर्द्रुतमधिगम्यते इति वा रुद्रः। उक्तञ्च-'अथ कस्मादुच्यते रुद्रः? यस्मादृषिभिर्वाऽन्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते, तस्मादुच्यते रुद्रः।' (अथर्वशिर. उ.) इति। रुत्=रोधिका च वन्धिका च शक्ती तयोर्भक्तेभ्यस्तत्त्वज्ञानवलसमर्पणेन द्रावयितेति वा रुद्रः। रुत्=वेदात्मकं शब्दं कल्पादौ ब्रह्मणे ददातीति वा रुद्रः। 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।' (श्वे. ३।१८) इति श्रुतेः। यद्वा रुणद्धि=आवृणोतीति रुत्, अज्ञानान्धकारादि, तत्-द्रणाति-विदारयतीति रुद्रः। यद्वा रुक्=तेजः, वर्णविनिमयेन रुद्रः= स्वयंप्रकाशः तेजस्वी वा कथ्यते। अथवा 'रु गतौ' ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः, रवणं रुत्=ज्ञानं (भावे क्विप् तुगागमः) राति= ददातीति रुद्रः-ज्ञानप्रदो मोहनिवारकः परमेश्वरः। यदाहुः-'वटविटपिसमीपे भूमिभागे निषण्णं सकलमुनिजनानां ज्ञानदातारमारात्। त्रिभुवनगुरुमीशं दक्षिणामूर्तिदेवं जननमरणदुःखच्छेददक्षं नमामि॥' इति। यद्वा पापिनो जनान् दुःखभोगेन रोदयतीति रुद्रः=जगच्छासक इत्यर्थः। यद्वा

आत्मा को प्रकाश करता है, प्राप्त कराता है, वह रुद्र है। 'रु' धातु शब्द अर्थ में स्मृत है। या जो ज्ञानवान्-ऋषियों के द्वारा शीघ्र ही साक्षात्-जाना जाता है, वह रुद्र है। अथर्वशिर-उपनिषत् में कहा है-'अथ' प्रश्न अर्थ में, 'रुद्र' ऐसा नाम किस कारण से कहा जाता है? जिस कारण से ऋषियों के द्वारा या अन्य भक्तों के द्वारा इस का स्वरूप शीघ्र ही उपलब्ध हो जाता है, इस लिए वह रुद्र कहा जाता है।' इति। या रुत् यानी प्रतिरोध करने वाली तथा बन्धन करने वाली आवरण एवं विक्षेप-शक्ति, उन दोनों शक्तियों का-जो भक्तों को तत्त्व ज्ञान का बल समर्पण द्वारा द्रावण-विध्वंस करता है, वह रुद्र है। या रुत् यानी वेद रूप-शब्द का कल्प के आदि में चतुर्मुख ब्रह्मा को जो दान करता है, वह रुद्र है। 'जो भगवान् सृष्टि के आदि में चतुर्मुख-ब्रह्मा का निर्माण करता है, तथा जो उसको वेदों का प्रदान करता है।' इस श्वेताश्वतर श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। यद्वा जो रोधन-आवरण करता है, वह अज्ञानान्धकारादि रुत् है, उसका जो विदारण करता है, वह रुद्र है। यद्वा वर्ण के विनिमय से रुत् रुक्-तेज है, वह स्वयंप्रकाश-तेजोरूप रुद्र है, या तेजस्वी रुद्र है। अथवा 'रु' गति-अर्थ की धातु है। जो धातु गति-अर्थक है, वे ज्ञानार्थक हैं, रवण यानी रुत्-ज्ञान, उसको जो देता है, वह ज्ञान प्रदाता-मोह-निवारक परमेश्वर रुद्र है। यह शिष्ट-विद्वान् भी कहते हैं-'जो वट-वृक्ष के समीप-भूमि-खण्ड में विराजमान है, समस्त सनकादि-मुनियों को जो ब्रह्म-ज्ञान देता है, जो जनन-मरण के दुःख के छेदन करने में दक्ष निपुण है, उस त्रिभुवन-गुरु-ईश्वर-दक्षिणा-मूर्ति-देव-भगवान् को नमस्कार है।' इति। यद्वा जो पापी-प्राणियों को दुःख भोग के द्वारा रुलाता है, वह जगत् का शासक-नियन्ता रुद्र है।

रुद्रः=रौति-शब्दायते-तारकं ब्रह्म उपदिशतीति रुद्रः। तथा च जाबालश्रुतिः-'अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे।' (जा. उ. १) इति। यद्वा रुतः=शब्दब्रह्मरूपा उपनिषदः-ताभिर्द्रूयते-गम्यते प्रतिपाद्यते इति रुद्रः। यद्वा रुत्=उपनिषद्वाणी, तत्प्रतिपाद्या ब्रह्मविद्या वा तामुपासकेभ्यो राति ददातीति रुद्रः। यद्वा रुद्रः=शब्दब्रह्मात्मना रोरूयमाणो द्रवति-प्रविशति मर्त्यानिति। तथा चाम्नायते-'वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्यानाविवेश' (शु. य. ३१।१९) 'प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।' (शु. य. १७।९१) इति। तदुक्तं यास्केन-'रुद्रो रौतीति सतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा।' (नि. १०।५) इति। यद्वा रुद्रः=अशुभं संसारबन्धनं द्रावयन् तारकोपदेशेन पुनर्भवादिकष्टं संहरतीति। तदुक्तं—'अशुभं द्रावयन् रुद्रो यज्जहार पुनर्भवम्। तारकमन्त्रदानेन तस्माद्रुद्रोऽभिधीयते॥' इति।

यद्वा जो तारक-ब्रह्म का उपदेश करता है, वह रुद्र है। तथा च जाबाल श्रुति कहती है-'इस काशी में प्राणी के प्राणों का उत्क्रमण होने पर रुद्र भगवान् तारक-ब्रह्म का उपदेश करता है।' इति। यद्वा रुत् यानी शब्द-ब्रह्मरूपा-उपनिषत् उनके द्वारा जो जाना जाता है-प्रतिपादित होता है वह रुद्र है। यद्वा रुत् यानी उपनिषत्-वाणी, या उससे प्रतिपादन करने योग्य ब्रह्मविद्या, उसको जो उपासकों को प्रदान करता है, वह रुद्र है। यद्वा शब्द-ब्रह्मरूप से पुकार करता हुआ मर्त्य-शरीरों में जो प्रविष्ट होता है, वह रुद्र है। तथा च श्रुति में कहा जाता है-'शब्द ब्रह्म रूप वृषभ-महादेव चिल्लाता है, वह मर्त्य-शरीरों में प्रविष्ट हुआ है।' 'प्रजापति-परमेश्वर गर्भ के भीतर रहता है, अजायमान हुआ भी बहु रूप से उत्पन्न होता है।' इति। वह निरुक्त में यास्क ने भी कहा है-'रुद्र चिल्लाता है, चिल्लाता हुआ विद्यमान-शरीरादियों में प्रविष्ट होता है, या रुलाता है, इसलिए रुद्र है।' इति। यद्वा अशुभ संसार बन्धन का विनाश करता हुआ तारक-मन्त्र 'ॐ नमः शिवाय' या 'ॐ' के उपदेश द्वारा जो पुनर्जन्मादि के कष्ट का संहार करता है, वह रुद्र है। वह कहा है-'तारक मन्त्र के दान द्वारा अशुभ-संसार का विनाश करता हुआ जो पुनर्जन्म का संहार करता है, इसलिए वह रुद्र कहा जाता है।' इति।

(५७)

(ज्ञानादिसाधनभावायाः सच्छ्रद्धाया देव्या आवाहनम्)

(ज्ञानादि के साधन रूप-सात्त्विकी श्रद्धा-देवी का आवाहन)

सच्छ्रद्धाविरहितानां जनानां न वैदिकं कर्म, न भगवदुपासना, न वा ज्ञानयोगो न वा किमपि पुरुषार्थजातं सिद्ध्यति, स-

सात्त्विकी-श्रद्धा से रहित-मनुष्यों को न वैदिक-कर्म, न भगवान् की उपासना, या न ज्ञानयोग, या न कुछ भी पुरुषार्थ समुदाय, सिद्ध होता है।

च्छ्रद्धावतामेव सज्जनानां शास्त्रसमीरितः सकलोऽपि पुमर्थः सर्वाणि च साधनानि सिद्ध्यन्ति। देवे, शास्त्रे, गुरौ, मन्त्रे, तीर्थे, महात्मनि, भेषजे, योगाद्यनुष्ठाने च यस्य यादृशी श्रद्धा प्रादुर्भवति, तादृशी सिद्धिरुदेति तस्य, तस्मात्कल्याणी सच्छ्रद्धा स्वश्रेयस्कामैरवश्यमेव समुपार्जनीयेत्याह—

सात्त्विकी-श्रद्धा वाले-सदाचारी सज्जनों को ही शास्त्र से प्रतिपादित-समस्त भी पुरुषार्थ तथा निखिल-साधन सिद्ध होते हैं। देव में, शास्त्र में, गुरु में, मन्त्र में, तीर्थ में, महात्मा में, ओषधि में एवं योगादि के अनुष्ठान में जिसको जिस प्रकार की श्रद्धा का प्रादुर्भाव होता है, उसको उस प्रकार की सिद्धि का उदय होता है। इसलिए—कल्याण करने वाली-सात्त्विकी श्रद्धा अपने कल्याण की कामना वालों को अवश्य ही सम्यक्-उपार्जन करनी चाहिए, यह मन्त्र कहता है—

ॐ श्रद्धां प्रातर्हवामहे, श्रद्धां मध्यं दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि, श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. १५१ ऋक्. ५) (तै. ब्रा. २।८।८।७)

'श्रद्धा-देवी का हम प्रातःकाल में आवाहन करते हैं, दिवस के मध्य में भी हम श्रद्धा का आवाहन करते हैं, सूर्य के अस्त समय में भी हम श्रद्धा का आवाहन करते हैं। हे श्रद्धे! इस हमारे हृदय में रह कर तू हमें श्रद्धालु बना।'

श्रद्धां=देवीं सत्त्वप्रचुरां शास्त्रगुरूपदिष्टार्थे इदमित्थमेवेत्यास्तिक्यबुद्धिलक्षणां, प्रातः=पूर्वाह्णे—प्रभाते साधनभजनानुष्ठानशुभवेलायामिति यावत्, हवामहे=आह्वयामहे—समादरपुरःसरं तां श्रद्धां हृदि धारयाम इति यावत्। तथा मध्यं दिनं परि=मध्यन्दिनं परिलक्ष्य मध्याह्ने इत्यर्थः। (लक्षणे परेः कर्मप्रवचनीयत्वं) दिनस्य मध्येऽपि तां श्रद्धां हवामहे। सूर्यस्य=सर्वस्य प्रेरकस्य प्रकाशकस्यादित्यस्य, निम्रुचि=अस्तमनवेलायां—सायंसमयेऽपि तामेव श्रद्धामाह्वयामहे। प्रातरादिषु त्रिषु कालसन्धिषु सन्ध्यादिलक्षणाया भगवदुपासनायाः शास्त्रेण विहितत्वात्तत्र श्रद्धाया अत्यावश्यकत्वात्तदावाहनभावनया तस्या हृदये धारणं

शास्त्र एवं गुरु से उपदिष्ट-अर्थ में 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार की दृढनिश्चय-पूर्वक आस्तिकता वाली बुद्धि रूप-सत्त्वगुण की प्रचुरता-बहुलता वाली-श्रद्धादेवी का हम प्रातः-प्रभात में अर्थात्-साधन-भजन के अनुष्ठान की शुभ-वेला-समय में आवाहन करते हैं, अर्थात् सम्यक् आदर-पूर्वक उस श्रद्धा-भगवती को हम हृदय में धारण करते हैं। तथा मध्यदिन परि-अर्थात् दिवस के मध्य में भी उस श्रद्धा का हम आवाहन करते हैं। तथा सर्व जगत् का प्रेरक-प्रकाशक-आदित्य-सूर्य के अस्तमन की वेला—सायं समय में भी उसी ही श्रद्धा का हम आवाहन करते हैं। प्रातः आदि तीनों काल की सन्धियों में सन्ध्या आदि रूप-भगवदुपासना का शास्त्र ने विधान किया है। इसलिए उस-उपासना में श्रद्धा की अतीव-आवश्यकता होती है, अतः श्रद्धा के आवाहन की भावना द्वारा श्रद्धा का

समुचितमेव । किञ्च केवलं भगवदुपासनायामेव त्रिषु कालेषु श्रद्धाधारणमत्यावश्यकं नान्यदा नान्यत्रेति न मन्तव्यमपि तु सर्वदा सर्वत्र हवनदानयज्ञतपआदिसत्कर्मस्वपि तदत्यावश्यकं, यतः श्रद्धामन्तरेण हुतं दत्तं तपस्तप्तं यच्चान्यत्किमपि कृतं शोभनं कर्म, 'मरुभूमौ बीजवपनमिव' न फलवद्भवति, किन्तु विगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्साधुभिर्निन्दितत्वाच्च तादृशं श्रद्धाविरहितं कर्मासाधुत्वेन परिगीतं भवति, तस्मात्सकलपुमर्थसिसाधयिषुभिः सदा सर्वत्र सर्वथाऽच्छश्रद्धालुभिर्भवितव्यमित्यभिसन्धाय पुनरपि श्रद्धां प्रार्थयन्ते । हे श्रद्धे ! नः=अस्मान्, इह=लोके वा कर्मणि वोपासनायां वा ज्ञाने वा प्रवर्तमानान् सदा सर्वत्र श्रद्धापय=श्रद्धावतः कुरु । 'श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ।' (ऋ. १०।१५१।१) अयमर्थः—भगस्य=भजनीयस्य सनातनार्यधर्मस्य, मूर्धनि=प्रधानभूते स्थाने, मूर्धा=शिरः प्रधानमिदमङ्गं शरीरस्य, तद्वन्मुख्याङ्गे, अवस्थिता श्रद्धाऽस्ति, तदभावे धर्मस्वरूपसिद्ध्यभावात् । अत एव तामेव वचसा=वचनेन, वेदयामसि=आवेदयामः—प्रख्यापयामः—अर्थात् तन्महत्त्वमाघोषयामः, नाश्रद्दधानस्य धर्मोऽस्ति । इति । 'श्रद्धया

हृदय में धारण करना समुचित ही है। और केवल भगवान् की उपासना में ही तीन-कालों में श्रद्धा का धारण अति-आवश्यक है, अन्य समय में-अन्य-प्रयोगों में श्रद्धा का धारण अत्यावश्यक नहीं है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। किन्तु सभी समय में समस्त हवन-होम-दान-यज्ञ-तप आदि सत्कर्मों में भी श्रद्धा का धारण करना अत्यावश्यक है। क्योंकि-श्रद्धा के बिना किया गया हवन, दान, तप, या अन्य भी जो कुछ शोभन-अच्छा कर्म है, वह सब 'मरु-उखर भूमि में बीज वपन की भाँति' सफल नही होता है। किन्तु विगुण होनेसे अपूर्व-पुण्यविशेष का उत्पादक न होने के कारण, तथा साधु-सज्जनों के द्वारा निन्दित होने के कारण उस प्रकार का श्रद्धारहित कर्म, असाधु-रूप से कहा जाता है। इसलिए-समस्त-धर्मादि-पुरुषार्थों को सिद्ध करने की इच्छा वाले सज्जनों को सदा सर्वत्र सर्वथा अच्छी-सात्त्विकी श्रद्धा युक्त ही होना चाहिए, ऐसा अभिप्राय रख कर फिर भी श्रद्धा की प्रार्थना करते हैं—हे श्रद्धे! इस लोक में या इस कर्म में या इस उपासना में या इस ज्ञान में प्रवर्तमान हम को सदा सर्वत्र श्रद्धालु ही बना। 'भजनीय-सनातन-धर्म के मस्तक में विराजमान-श्रद्धा का हम वचन द्वारा प्रख्यापन करते हैं।' इति। इसका यह अर्थ है—भग यानी भजनीय-सेवनीय-सनातन-वैदिक-आर्य धर्म-उसके मूर्धा-मस्तक-प्रधानभूत-स्थान में—शरीर का मूर्धा-शिर यह प्रधान-अंग है—तद्वत्—धर्म के मुख्य-अंग में श्रद्धा अवस्थित है, क्योंकि—श्रद्धा के बिना धर्म के स्वरूप की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए उस श्रद्धा को ही हम वचन के द्वारा आवेदन-प्रख्यापन करते हैं, अर्थात् उस के महत्त्व की घोषणा करते हैं, श्रद्धारहित मनुष्य के लिए धर्म नहीं है। इति। 'श्रद्धा द्वारा

सत्यमाप्यते' (शु. य. १९।३०) 'श्रद्धत्स्व सोम्य !' (छां. ३।१२।३) 'श्रद्धा देवानधिवस्ते श्रद्धा विश्वमिदं जगत् । श्रद्धा कामस्य मातरं हविषा वर्धयामसि ॥' (कृ. य. तै. २।८।८।९) 'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी ।' (तै. ब्रा. ३।१२।३) 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।' (गी. १७।३) 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् ।' (गी. ४।३९) 'श्रद्धैव कल्याणी जननीव योगिनं पाति ।' (यो. भा.) 'यया वस्तूपलभ्यते ।' (वि. चू. म.) इत्याद्याः समुपदिष्टाः श्रुतिस्मृतिवादाः श्रद्धाया महामहत्त्वं ख्यापयन्ति, यद्यपि श्रद्धामयानां मनुष्याणां त्रिगुणात्मकान्तःकरणवैचित्र्याद्विचित्राऽनेकरूपा श्रद्धाऽवतिष्ठते एव, सत्त्वप्रधाने सात्त्विकी, रजःप्रधाने राजसी, तमःप्रधाने तामसी चेति तथापि विवेकवैराग्याभ्यां राजसीं तामसीं च तामपहाय सत्त्वप्रधानं स्वान्तं विधाय सात्त्विकी एव श्रद्धा विधारणीयेति भावः ॥

ही सत्य-तत्त्व-परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।' 'हे सोम्य ! प्रिय ! श्रद्धा रख ।' 'दैवी सम्पत्ति वाले देव-मनुष्यों में ही सात्त्विकी श्रद्धा का निवास होता है, यह समस्त जगत् श्रद्धायुक्त ही है । काम्यमान-पुरुषार्थ-सिद्धि की माता-जननी श्रद्धा है, उस को हम हवि आदि से उपलक्षित शोमनकर्म द्वारा बढाते हैं ।' 'श्रद्धा के द्वारा ही मनुष्य देवत्व प्राप्त करता है—देव होता है । इस लोक की प्रतिष्ठा-आधार ही श्रद्धादेवी है ।' 'यह पुरुष श्रद्धामय है, जो जिस प्रकार की सात्त्विकी या राजसी या तामसी श्रद्धा वाला होता है, वह वैसा ही हो जाता है ।' 'श्रद्धावान् ही ज्ञान को प्राप्त करता है ।' 'कल्याणी-श्रद्धा ही 'माता की भाँति' योगी की रक्षा करती है ।' 'श्रद्धा से ही परमात्म-वस्तु उपलब्ध होती है ।' इत्यादि-सम्यक्-उपदेश किये गए-श्रुति-स्मृति के वाद-वचन, श्रद्धा के महा-महत्त्व का प्रख्यापन करते हैं । यद्यपि-श्रद्धामय-मनुष्यों में-त्रिगुणात्मक-अन्तःकरणों की विचित्रता से विचित्र-अनेकरूप वाली श्रद्धा रहती ही है, अर्थात् सत्त्व-प्रधान-सात्त्विक अन्तःकरण में सात्त्विकी, रजःप्रधान राजस-अन्तःकरण में राजसी तथा तमःप्रधान-तामस अन्तःकरण में तामसी श्रद्धा रहती है, तथापि, विवेक-वैराग्य के द्वारा राजसी-तामसी श्रद्धा का परित्याग करके अन्तःकरण को सत्त्वगुण-प्रधान सात्त्विक बना कर सात्त्विकी श्रद्धा ही धारण करनी चाहिए, यह भाव है ।

(५८)

(गङ्गादिदशप्रधाननदीषु नीराकारेण वर्तमानस्य सत्यानन्दनिधेब्रह्मणः समनुसन्धानं कर्तव्यम्)

(गंगा आदि दश-प्रधान नदियों में नीर-जल-आकार से वर्तमान-सत्य-आनन्दनिधि ब्रह्म का सम्यग् अनुसधान करना चाहिए)

'नराकारं भजन्त्येके निराकारं तथाऽपरे। संसारभयसंत्रस्ता नीराकारमुपास्महे ॥' इत्यभियुक्तसदुक्त्या श्रद्धेयानि जङ्गमतीर्थभूतानि गङ्गादिप्रधानदशनदीपावनजलानि ब्रह्मभावनयाऽनुसन्धेयानि स्तूयन्ते—

'कुछ एक भक्त, नर-मनुष्य के आकार रूप से परमात्मा को भजते हैं, तथा और भक्त-ज्ञानवान् लोग, निराकार-आकाररहित-व्यापक-पूर्ण रूप से परमात्मा को भजते हैं, परन्तु संसार के जन्म-मरणादि-विविधभयों से अत्यन्त-भीत हुए-हम तो नीर-जलाकार रूप से परमात्मा की उपासना करते हैं।' ऐसी अभियुक्त-प्रामाणिक-विद्वान् की सदुक्ति द्वारा-श्रद्धेय-श्रद्धा करने योग्य-जगम-तीर्थ रूप-गंगादि-प्रधान-दश नदियों के पावन-जल-जो ब्रह्मभावना से अनुसन्धान करने योग्य हैं—उन की स्तुति करते हैं—

ॐ इमं मे गङ्गे! यमुने! सरस्वति! शुतुद्रि! स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे! वितस्तया-ऽऽर्जीकीये! शृणुह्या सुषोमया ॥

(ऋग्वेद मण्ड १० सूक्त ७५ ऋक् ५। तै आ० १०।१।१३।) (नि० ९।२६)

'हे गंगे! हे यमुने! हे सरस्वति! हे शुतुद्रि! हे परुष्णि! हे असिक्नी के सहित मरुद्वृधे! हे वितस्ता तथा सुषोमा के सहित-आर्जीकीये! आप परमपावन् दश महानदियाँ ब्रह्मभावनामय—स्तुति प्रार्थना रूप मेरे इस स्तोत्र को सुनें, और उसका सेवन करें या मुझ को पवित्र करने के लिए जल के द्वारा आप मेरे आत्मस्वरूप में संयुक्त होवें।'

हे गङ्गे!=हरिद्वारकाशीसमीपस्थे! भागीरथि!, हे यमुने!=आदित्यतनये!, हे सरस्वति!=नदीरूपेणापि विद्यमाने! ब्रह्मपत्नि!, हे शुतुद्रि! हे परुष्णि! असिक्न्या नद्या सहिते हे मरुद्वृधे! वितस्तया सुषोमया च नद्या सहिते हे आर्जीकीये! यूयं पावना दश महानद्यः, मे=मम, इमं स्तोम=स्तुतिप्रार्थनामयमिदं स्तोत्रं, ब्रह्मभावनामयमिदं सुगानं वा, आ=समन्ततः, शृणुहि=व्यत्ययेन-शृणुत; तथा-आसचत=आसेवध्वम्। यद्वा आ सचत=जले आगत्य तद्द्वारेण मयि संगता भवत। यद्वा दूरे स्थिता अपि यूयमस्मदीयमिदमावाहनसंयुक्तं वाचा पठ्यमानं स्तुतिरूपम-

हे हरिद्वार एवं काशी के समीप में अवस्थित भागीरथि! गंगे! हे सूर्य-कन्ये! यमुने! हे नदीरूप से भी विद्यमान ब्रह्म पत्नीरूप-सरस्वति! हे शुतुद्रि! हे परुष्णि! असिक्नी नदी के सहित हे मरुद्वृधे!, वितस्ता तथा सुषोमा नदी के सहित-हे आर्जीकीये! आप पावन दश महानदियाँ, मेरे-इस स्तुति प्रार्थनामय-स्तोत्र को या ब्रह्मभावनामय मेरे इस अच्छे गान को सर्व तरफ से सुन। तथा उसका सेवन करें। यद्वा आसचत यानी जल में आ कर उसके द्वारा मुझमें संयुक्त होवें। यद्वा मेरे से दूर में स्थित भी आप मेरे-इस आवाहन संयुक्त-वाणी से पढने योग्य-स्तुतिरूप-मन्त्रसमुदाय रूप-स्तोत्र को सुनें, तथा सुन कर अपने-अपने स्थानों से 'इस प्रकृत-स्नान

श्रसमुदायलक्षणं स्तोत्रं शृणुत, श्रुत्वा च आसचत-युष्मद्युष्मत्स्थानेभ्योऽत्रागच्छत, मां पावयितुं यथावाञ्छितं दातुं च प्रकृतस्नानजलमध्ये इति शेषः। आगत्यास्मान् पवित्रयत अभीप्सितञ्च समर्पयत इति यावत्। यद्वा आसचत-निर्मलया ब्रह्मभावनया स्वस्वरूपतः समधिगता यूयं मयि पूर्णे प्रत्यगात्मनि तादात्म्येन समवेता भवत इत्यर्थः। अत एव आम्नायते-'महि ज्योतिर्निहितं वक्षणासु' (ऋ. ३।३०।१४) इति। वहन्ति यास्वुदकानीति वक्षणा-गङ्गाद्या नद्यः। नदीनामसु निघण्टौ वक्षणाया पाठात् (२।१४)। तासु वक्षणासु-वहनशीलासु नदीषु, महि=महत्, ज्योतिः-परब्रह्मलक्षणं, निहितं=अवस्थितम्। तद्विभावनीयं भावुकैरिति। एवं श्रीमद्भागवतेऽपि स्मर्यते-'न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः। (१२।१०।२३) इति।' गङ्गाद्यानि तीर्थानि चेतनोज्झितानि जलमयान्येव न मन्तव्यान्यपि तु ब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिःसंयुक्तानि श्रद्धावद्भिर्विभावनीयानीति तत्त्वम्। दूरस्थितस्य प्रार्थयितुरयमाशयः-यद्यप्यहमेतन्मन्त्रोक्तानामनुक्तानां च महानदीनां पवित्राणि रोधांसि गत्वा चिरकालं स्थित्वा स्नात्वा पीत्वा चात्मकल्याणसाधनैकपरायणो भूत्वा दिवसानतिधन्यान्यपनेतुमक्षमस्तथाप्यहं यत्र कुत्रचित् ह्रदकूपाद्युदकेन स्नानं कुर्वाणः, एतेन मन्त्रेण गङ्गाद्या नदीरुपतिष्ठे, उपस्थिताश्चागत्य ताः

के जल के मध्य में' इतना शेष है-मुझको पवित्र करने के लिए एवं यथेष्ट-पुरुषार्थ को देने के लिए-आवें। अर्थात् यहाँ आ कर हमें पवित्र करें, तथा अभीप्सित-पदार्थ समर्पण करें। यद्वा आसचत यानी निर्मल-ब्रह्म-भावना द्वारा स्वस्वरूप से सम्यक् विज्ञात हुई आप, मुझ-पूर्ण-प्रत्यगात्मा में तादात्म्य-सम्बन्ध से संयुक्त हों। इसलिए वेद मन्त्र में कहा गया है-'नदियों में महान् ब्रह्मज्योति अवस्थित है।' इति। वक्षणा यानी जिन्हों में उदक-जल बहता है, वे गंगादि नदियाँ वक्षणा हैं। निघण्टु-ग्रन्थ में नदियों के नामों में वक्षणा का भी पाठ है। उन-वहनशील-वक्षणा-नदियों में महि-महान् परब्रह्मरूप-ज्योति निहित-अवस्थित है, उस ज्योति की भावुकों को भावना करनी चाहिए। इति। इस प्रकार श्रीमद्भागवत में भी स्मरण किया जाता है-'चेतन-शक्ति रहित केवल-जलमय तीर्थ नहीं हैं, तथा चेतन-शक्ति-रहित-पाषाण मात्र ही देव नहीं हैं।' इति। गंगा आदि तीर्थ चेतन-रहित जलमय ही हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए, किन्तु वे तीर्थ ब्रह्मात्म-चैतन्य-ज्योति से संयुक्त हैं, ऐसी श्रद्धालुओं को भावना करनी चाहिए, यह रहस्य है। दूरस्थित प्रार्थना करने वाले-भक्त-का यह आशय है-यद्यपि मैं इस मन्त्र में कही हुई या नहीं कही हुई महानदियों के पवित्र-तट पर जा कर, चिरकाल तक वहाँ स्थिर रह कर, स्नान कर, पान कर, आत्मकल्याण के साधनों के ही एक-मात्र परायण हो कर अति-धन्य-दिवसों को गुजारने के लिए समर्थ नहीं हूँ, तथापि मैं जहाँ कहीं भी सरोवर-तालाब-कूप आदि के उदक द्वारा स्नान करता हुआ, इस मन्त्रद्वारा गंगा आदि नदियों का उपस्थान करता हूँ, वे आ कर उपस्थित हुई नदियाँ इस जल में सन्निहित रहें। सन्निहित रह करके मेरे महान

संनिदधताम्। सन्निधाय च मदीयानां महतामप्येनसां विनाशं विदधताम्। विधाय चैवं 'हे पुत्र! त्वं पूतोऽसि, शुद्धोऽसि, भुङ्क्ष्व भौमान्भोगान् सकुटुम्बः सपरिवारः साश्रितवर्गश्च, भुक्त्वा चान्ते यथेच्छं पुण्यकृतां लोकानाप्नुहि, इति मामभिदधताम्, यद्यहं युष्मत्कृपया वीतस्पृहः शान्तः परिव्राजको भूत्वा साक्षाद्युष्मत्तटेषु विविक्तेषु निवसन् भवतीनां सरिद्वराणां यथेच्छं दर्शनं स्नानं पानञ्च विदधनजस्रं परब्रह्मतत्त्वानुसन्धानपरायणो जीवन्मुक्तो भवेयं, तर्हि तु किमु वक्तव्यं युष्मत्स्तवनचिन्तनप्रसूताच्छानुग्रहपारावारस्य महत्त्वमिति। अत्र गङ्गायाः प्रथमं ग्रहणं–'सर्वतीर्थमयी गङ्गा' 'न गङ्गासदृशं तीर्थम्' 'पुनाति कीर्तिता पापं दृष्ट्वा भद्रं प्रयच्छति। अवगाढा च पीता च पुनात्यासप्तमं कुलम्॥ यावदस्थि मनुष्यस्य गङ्गायाः स्पृशते जलम्। तावत्स पुरुषो राजन्! स्वर्गे लोके महीयते॥' 'गङ्गायाः परमं नाम पापारण्यदवानलम्। भवव्याधिहरा गङ्गा तस्मात्सेव्या प्रयत्नतः॥' (नारदीयपुराणे. अ० ७।६५) 'अग्नौ प्राप्तं प्रधूयेत यथा तूलं द्विजोत्तम!। तथा गङ्गावगाहस्तु सर्वपापं प्रधूयते॥' (म. भा. अनु. प. २६।२८) 'उपासन्ते यथा बाला

पापों का भी विनाश करें। ऐसा कर के 'हे पुत्र! तू पवित्र है, शुद्ध है, अपने कुटुम्ब तथा परिवार तथा आश्रित-नौकरादि वर्ग सहित तू भूमि के भोगों को भोग, तथा भोग करके अन्त में इच्छा के अनुसार पुण्यवानों के उत्तम-लोकों को प्राप्त हो' ऐसा मेरे प्रति कहें। यदि मैं आप पावन नदियों की कृपा से स्पृहा-रहित निष्काम-शान्त-परिव्राजक-यति हो कर, साक्षात् आपके एकान्त-शान्त-तटों में निवास करता हुआ तथा आप-श्रेष्ठ-नदियों का इच्छा के अनुसार दर्शन, स्नान, एवं पान करता हुआ, निरन्तर परब्रह्म तत्त्व के अनुसंधान में परायण हो कर जीवन्मुक्त हो जाऊँ, तब तो आप के स्तवन-चिन्तन से समुत्पन्न-अच्छे-शोभन-अनुग्रह-कृपा-पारावार-समुद्र के महत्त्व का क्या कहना?। इति। इस मन्त्र में गंगा का प्रथम ग्रहण–'गंगा सर्वतीर्थमयी है' 'गंगा के सदृश अन्य कोई-तीर्थ नहीं है'। 'कीर्तन की हुई गंगा पाप का निवारण कर पवित्र निर्मल करती है, दर्शन करके भद्र-कल्याण का प्रदान करती है। अवगाहन-की हुई तथा पी हुई गंगा सात-पितृ-परम्परा वाले कुल को भी पवित्र कर-तार देती है।' 'जब तक मनुष्य का अस्थि-हड्डी, गंगा के जल का स्पर्श करती रहती है, तब तक वह पुरुष, हे राजन्! स्वर्ग-लोक में पूज्य-हुआ आनन्द से रहता है।' 'गंगा का परम पावन नाम, पाप रूप-अरण्य जंगल को जलाने वाला दावानल के समान है। संसार-व्याधि को हरने वाली गंगा है, इसलिए प्रयत्न से गंगा सेवन करने योग्य है।' 'हे द्विजोत्तम! जिस प्रकार अग्नि में डाला हुआ तूल (रुई) शीघ्र ही जल जाता है, तिस प्रकार गंगा का अवगाह-स्नान भी समस्त-पाप को शीघ्र ही जला डालता है।' 'जिस प्रकार क्षुधा से पीडित हुए-बालक माता की उपासना करते हैं, तिस प्रकार कल्याण

मातरं क्षुधयाऽर्दिताः । श्रेयस्कामास्तथा गङ्गामुपासन्तीह देहिनः ॥' (म० भा० अनु० २६।५०) 'वाङ्मनःकर्मजैर्ग्रस्तः पापैरपि पुमानिह। वीक्ष्य गङ्गां भवेत्पूतो अत्र मे नास्ति संशयः ॥' (म. भा. अनु. २६।४६) इत्यादिना वर्णितस्य गङ्गायाः प्रसिद्धस्य माहात्म्यस्य प्रख्यापनाचेति बोध्यम्। गङ्गायमुने प्रसिद्धे । सरस्वती बहुकालात्पूर्वं सम्पूर्णाऽऽसीत्, या खलु कैलासपर्वतस्य पार्श्ववर्तिनः प्लक्षसरोवरात् सम्भूताऽभूत्, कुरुक्षेत्रे मरुदेशेऽपि च याऽवहत्, सौराष्ट्रदेशस्य प्रभासतीर्थक्षेत्रे यस्याः समाप्तिरासीत्। सा सम्प्रति विच्छिन्ना 'प्राचीसरस्वती'इति नाम्ना प्रभासक्षेत्रे समुपलभ्यते। यस्याः प्रकृष्टं महत्त्वं— 'प्र क्षोदसा धायसा सस्र एषा सरस्वती धरुणमायसी पूः। प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्याः ॥ एकाऽचेतत्सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात् ॥' (ऋ. ७।९५।१×२) अयमर्थः—एषा=दृश्यमाना नदीरूपा सरस्वती, आयसी=अयसा लोहेन निर्मिता, पूः=पुरीव—नगरीव, धरुणं=धरुणा (लिङ्गव्यत्ययः) विशिष्टपावनतां विपुलतां वा धारयित्री, धायसा=लोकोत्तरपुण्यवर्चा धारकेण क्षोदसा=उदकेन, प्रसस्रे=प्रधावति—शीघ्रं गच्छति । सिन्धुः=आशुस्यन्दनशीला नदीरूपा सा, अन्याः विश्वाः=सर्वाः, अपः= आपगाः—नदीः, महिना=स्वकीयेनानन्य-

की कामना करने वाले देही-मनुष्य गंगा की उपासना करते हैं।' 'इस लोक में वाणी के, मन के एवं कर्म के पापों से ग्रस्त हुआ भी मनुष्य, गंगा का दर्शन करके पवित्र हो जाता है, इस विषय में मुझको संशय नहीं है।' इत्यादि-शास्त्रवचनद्वारा वर्णन किये गए-गंगा के प्रसिद्ध माहात्म्य के प्रख्यापन के लिए है, ऐसा जानना चाहिए। गंगा एवं यमुना प्रसिद्ध है। सरस्वती नदी बहु समय से प्रथम सम्पूर्ण थी, जो कैलास पर्वत के समीपस्थित प्लक्ष-सरोवर से निकलती थी, जो कुरुक्षेत्र में तथा मरुदेश-मारवाड़ में भी बहती थी, जिस की समुद्रमिलनरूपा-समाप्ति सौराष्ट्र-देश के प्रभास-तीर्थक्षेत्र में हो जाती थी। वह इस समय विच्छिन्न हुई 'प्राचीसरस्वती' इस नाम से प्रभासक्षेत्र में समुपलब्ध होती है। जिसका प्रकृष्ट-महत्त्व—'यह सरस्वती नदी लोहा से निर्मित-दृढ-नगरी की भाँति विशिष्ट पवित्रता को या विपुलता को धारण करती हुई-अलौकिक-पुण्यवत्ता को धारण करने वाले जल से दौड़ती रहती है। वेग से बहने वाली यह—नदी-अन्य सब नदियों को अपनी महिमा से अभिभूत करती हुई वीथी-राजमार्ग की भाँति विस्तीर्ण हो कर चलती रहती है। अन्य सब नदियों के मध्य में यह सरस्वती नदी अत्यन्त-शुद्ध-पवित्र है। जो हिमालय के उच्चतम गिरियों से निकल कर समुद्रपर्यन्त जाती है, वही यह मुख्य श्रेष्ठ नदी है, और भक्त-प्रार्थना को जानती है।' इति। इसका यह अर्थ है—यह दृश्यमान-नदीरूपा-सरस्वती, अयस्-लोह से निर्मित पुरी नगरी की भाँति, विशिष्ट-पावनता को या विपुलता-विशालता को धारण करती हुई-धायस्-यानी अलौकिक-पुण्यवत्ता को धारण करने वाले-उदक से धावन करती है-शीघ्र जाती-दौड़ती है। सिन्धु यानी शीघ्र-बहने के स्वभाव वाली नदी-रूपा यह सरस्वती है, अन्य-सब-आपगा-नदियों को

सामान्येन महिम्ना, प्रबाधमाना=भृशं बाधमाना, रथ्येव=प्रतोलीव–वीथी इव, विस्तीर्णा सती, याति=गच्छति । यद्वा रथ्येव=रथिनेव–यथा रथी रथेन मार्गस्थं तरुगुल्मादिकं चूर्णीकृत्य गच्छति । तद्वत् स्वकीयेन महता वेगेन सर्वं संपिषती गच्छतीत्यर्थः । नदीनां–अन्यासां मध्ये सरस्वतीयं शुचिः=शुद्धा–परमपवित्रा, हिमालयस्य गिरिभ्यः सकाशात् निःसृत्य आ समुद्रात्=समुद्रपर्यन्तं, याती=गच्छन्ती, एका=मुख्या नदी, अचेतत्=भक्तप्रार्थनामज्ञासीत्–जानाति इत्यर्थः । 'अम्बितमे ! नदीतमे ! देवीतमे ! सरस्वति !' (ऋ. २।४१।१६) 'यत्र प्राची सरस्वती । यत्र सोमेश्वरो देवः तत्र माममृतं कृधि ।' (ऋग्वेदपरिशिष्ट. १०।५) 'ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ।' (ऐ० ब्रा० २।१९) 'पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः ।' (म० भा० शां० प० ३४।११) इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु स्पष्टमवगम्यते । शुतुद्री सम्प्रति 'सतलज' इति प्राकृतनाम्ना, परुष्णी=इरावती लवपुरपार्श्ववर्तिनी 'रावी' इति नाम्ना, आर्जीकीया=विपाशा सम्प्रति 'व्यासा' इति नाम्ना, असिक्नी=चन्द्रभागा 'चिनाव' इति नाम्ना, वितस्ता काश्मीरीयतक्षकसरःसमुद्भवा 'झेलम' इति नाम्ना पञ्चापदेशे प्रसिद्धाः सन्ति। पञ्चभिस्ताभिर्नदीभिः पञ्चाप इति 'पञ्जाब' -देशस्यान्वर्थं नामधेयमभवत् । सुषोमा–मरुद्वृधा इत्यन्ययोर्नद्योर्नामधेयम् । सुषोमा=सिन्धुनदी, असिक्न्या वितस्तया सुषोमयेति पदत्रयं तृतीयान्तं नदीत्रयवाचकम्।

अपने-अनन्य-सामान्य-महिमा से अत्यन्त-बाधन-अभिभूत करती हुई-रथ्या-प्रतोली-वीथी (शेरी) की भाँति विस्तीर्ण हुई जाती है। यद्वा रथ्या-इव-यानी रथी की भाँति-जैसे रथवाला-योद्धा रथद्वारा मार्गस्थित-वृक्ष-लता आदि को चूर्ण करता हुआ जाता है। तद्वत् सरस्वती नदी अपने-महान्-प्रवाह वेग से सब को सम्यक् पीसती हुई-जाती है। अन्य-नदियों के मध्य में यह सरस्वती शुचि यानी शुद्ध-परम-पवित्र है। हिमालय के उच्चतम-गिरियों से निकल कर समुद्रपर्यन्त जाती है, यही एका-मुख्या नदी है, भक्तप्रार्थना को जानती है।' इति। 'हे माताओं में श्रेष्ठ मातः ! हे नदियों में श्रेष्ठ नदीरूप ! हे देवियों में श्रेष्ठ देवीरूप ! भगवति-सरस्वति !।' 'जहाँ प्राची सरस्वती है, जहाँ सोमेश्वर देव है, वहाँ मुझ को अमृतरूप बना।' 'ऋषियों ने सरस्वती-नदी के तट पर ही सत्र-बहु वर्ष पर्यन्त अनुष्ठान करने योग्य-यज्ञ विशेष-का प्रारम्भ किया।' 'अनेक-स्रोतें-सहित पांच नदियाँ सरस्वती में मिल जाती हैं।'–इत्यादि श्रुति स्मृतियों में–स्पष्ट जाना जाता है। शुतुद्री इस समय 'सतलज' इस प्राकृत-भाषा के नाम से, परुष्णी यानी इरावती-लवपुर-लाहौर के समीप बहने वाली 'रावी' इस नाम से, आर्जीकिया यानी विपाशा इस समय 'व्यासा' इस नामसे, असिक्नी यानी चन्द्रभागा 'चिनाव' इस नाम से, वितस्ता यानी कश्मीर देश के तक्षक-सरोवर से उद्भूत होने वाली 'झेलम' इस नाम से 'पञ्चाप' देश में प्रसिद्ध हैं। इन पांच-नदियों से 'पञ्चाप' ऐसा पञ्जाब देश का अन्वर्थ-नाम हुआ है। 'सुषोमा एवं मरुद्वृधा' यह अन्य-दो नदियों के नाम हैं। सुषोमा यानी सिन्धु नदी। 'असिक्न्या वितस्तया सुषोम्या' ये तीन तृतीया-विभक्त्यन्त-पद तीन नदियों के बोधक हैं। कुछ विद्वान् 'परुष्ण्या'

केचन 'परुष्ण्या' इत्यपि तृतीयान्तं पदमभ्युपयन्ति। परुष्णि=आ इति पदच्छेदं विधायान्ये सम्बोधनमभ्युपगच्छन्ति। इति॥

अथ गङ्गादिनदीनां व्युत्पत्तयः-गङ्गा गमनात्, सा हि विशिष्टं स्थानं गच्छति, गमयति वा प्राणिनः स्वजले स्नातान् विशिष्टं स्वर्गादिकं स्थानमिति गङ्गा। यमुना-प्रयुवती गच्छति-प्रकर्षेण मिश्रयन्त्यन्याभिर्नदीभिः स्वान्युदकानि गच्छति, 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' स्मरणात्। प्रवियुतं गच्छतीति वा स्तिमितमिव तरङ्गैर्गच्छतीत्यर्थः। सरस्वती-सर इत्युदकनाम, ('सृ गतौ' इत्यस्य सर्तेः रूपं सर इति) तेन सरसा-विशिष्टेनोदकेन तद्वती। तज्जलवैशिष्ट्यमवगम्यते हि राजसूये यज्ञे, तत्र हि सारस्वतीनामेवापामभिषेकार्थं विनियोगः। शुतुद्री=शुद्राविणी-क्षिप्रद्राविणी, शु इति क्षिप्रनाम। क्षिप्रमसौ तुन्नेव=विद्धेव केनचित् द्रवतीत्यर्थः। इरावतीं परुष्णीत्याहुः-मन्त्रार्थविद एतस्मिन्मन्त्रे। परुष्णी=पर्ववती-कुटिलगामिनीत्यर्थः। कुटिलानि तानि पर्वाणीव तस्या गमनानि तैस्तद्वतीति यावत्। असिक्नी=असिता अशुक्ला-कृष्णोदका इत्यर्थः। वितस्ता=विस्तीर्णा-विवृद्धा महाकूला इत्यर्थः। आर्जीकीया=ऋजीकपर्वतप्रभवा इत्यर्थः। यद्वा ऋजुगामिनी सा। लोके तां विपाट् इत्याहुः। आह च यास्कः-'पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते' (नि० ९।२६) इति। वसिष्ठः

ऐसा तृतीयान्त-पद मानते हैं। अन्य-'परुष्णि-आ' ऐसा पदच्छेद करके सम्बोधन स्वीकार करते हैं। इति।

अब गंगा आदि नदियों की व्युत्पत्तियाँ दिखाते हैं-गमन से गंगा, वह विशिष्ट-स्थान के प्रति जाती है, तथा अपने पावन-जल में स्नान करने वाले प्राणियों को विशिष्ट-स्वर्गादि-स्थान के प्रति गमन करवाती है, इसलिए वह गंगा कही जाती है। यमुना-मिलती हुई जाती है-अन्य नदियों से अपने जलों का मिश्रण करती हुई जाती है 'यु' धातु का मिश्रण एवं अमिश्रण अर्थ में स्मरण है। या यमुना गम्भीर हुई स्तिमित-स्तब्ध की भाँति चुपचाप तरङ्गों से जाती है। सरस्वती यानी सर ऐसा उदक-जल का नाम है, उस-सर से-विशिष्ट-उदक से वह सरस्वती है। सरस्वती के जल का वैशिष्ट्य-महत्त्व राजसूय-यज्ञ में जाना जाता है, वहाँ सरस्वती के जलों का ही अभिषेक के लिए विनियोग होता है। शुतुद्री-शु-क्षिप्र-द्राविणी-दौड़ने वाली। शु यह क्षिप्र-शीघ्र का नाम है। क्षिप्र ही यह किसी से तुन्न विद्ध-प्रेरित-सी हुई दौड़ती है। इस मन्त्र में मन्त्रार्थ के विद्वान् इरावती को परुष्णी नाम से कहते हैं। परुष्णी यानी पर्ववाली-कुटिल-टेढ़ी गमन करने वाली। टेढ़े उन-पर्व-ऊँची-नीची ग्रन्थियों की तरह उस परुष्णी-नदी के गमन हैं, उन से वह वैसी है। असिक्नी यानी असित-अशुक्ल-कृष्ण-काला-जल वाली नदी। वितस्ता यानी विस्तीर्ण विशेष बढ़ने के स्वभाव वाली-महातट वाली। आर्जीकीया यानी ऋजीक-पर्वत से प्रकट होने वाली। या जो ऋजु-सरल-शान्त रूप से गमन करने वाली है, वह नदी। लोक में उसको विपाट् कहते हैं। यास्क-ऋषि निरुक्त में कहता है-'मरने की इच्छा वाले-वसिष्ठ के पाश-बन्धन-रस्सियाँ इस में टूट गई थीं, इसलिए यह विपाट्

किल ममज्जासां मुमूर्षुः, पुत्रमरणशोकार्तः, पाशैरात्मानं बद्ध्वा, तस्य किल ते पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त=व्यमुच्यन्त-उदकेन; ततः प्रभृति सा विपाट् अभवदित्यर्थः। सुषोमा=सिन्धुः, यदेनामभिप्रसुवन्ति-अभिगच्छन्त्यन्याः प्रभूता नद्यः इत्यर्थः। स्यन्दनात् सिन्धुः सा ह्यविच्छेदेन विशेषतः स्यन्दत इति। केचन मरुद्वृधा इति सर्वासां नदीनां विशेषणत्वेन योजयन्ति। मरुतः सर्वा नदीः वर्धयन्ति वर्षणेन, तस्मात्प्रत्येकनदीविशेषणं 'हे मरुद्वृधे! गङ्गे! हे मरुद्वृधे! यमुने! इति। अपरे पृथग्भूतां नदीं मन्यन्ते। इति॥

कही जाती है।' इति। पुत्र मरण के प्रभूत शोक से दुःखी हुआ-रस्सियों से अपने शरीर को बाँध करके मरने की इच्छावाला वसिष्ठ, निश्चय ही इस नदी में डूबा था। उस की वे बन्धन की रस्सियाँ इस में उदक से सड़ करके टूट गई थीं, इस दुर्घटना के अनन्तर यह आर्जीकीया 'विपाट् नाम वाली' हुई। सुषोमा यानी सिन्धु नदी। इस को अन्य बहुत नदियाँ मिलती हैं, इसलिए यह सुषोमा कही जाती है। स्यन्दन से-वेगवाले प्रवाह से सिन्धु है, वह विच्छेद से रहित हुई विशेष रूप से दौड़ती है। कुछ विद्वान् 'मरुद्वृधा' इस पद को सभी नदियों के विशेषण रूप से जोड़ते हैं। मरुत्-पवन सभी नदियो को वृष्टि के द्वारा बढ़ाते हैं। इसलिए 'मरुद्वृधा' यह प्रत्येक नदी का विशेषण है, जैसा-हे मरुद्वृधे! गंगे! हे मरुद्वृधे! यमुने इत्यादि। अपर-विद्वान् 'मरुद्वृधा' को पृथक् नदी मानते हैं। इति।

(५९)

(स्वयंप्रकाशानन्दधामप्राप्तये परमपावनपरमेश्वरकृपायाचनम्)

(स्वयंप्रकाश-आनन्दरूप-मोक्ष-धाम की प्राप्ति के लिए परम पावन-परमेश्वर की कृपा की याचना)

जन्ममरणादिसंसारदुःखेभ्यः समुद्विग्नो वीतरागः परब्रह्मानन्दावाप्तिकामुकः कश्चित् सद्भाग्यशाली मन्त्रदृक् ऋषिः स्वीयां महत्त्वाकांक्षां प्रकटयन् तन्महत्पदञ्च वर्णयन् परमेश्वरं प्रत्यग्भूतं तत्पदलाभाय प्रार्थयते—

संसार के जन्ममरणादि-असंख्य दुःखों से सम्यक्-उद्विग्न हुआ-वीतराग-परब्रह्म के आनन्द की प्राप्ति की कामना करने वाला-कोई अच्छा-भाग्यशाली मन्त्रद्रष्टा ऋषि, अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा को प्रकट करता हुआ, तथा उस महान्-प्राप्य-पद का वर्णन करता हुआ प्रत्यगात्मा रूप परमेश्वर की उस पद के लाभ के लिए-प्रार्थना करता है—

ॐ यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो! परिस्रव॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ९ सूक्त ११३ ऋक्. ७)

'हे पवमान! परम-पावन परमेश्वर! हे इन्दो-परम शान्त-भगवन्! जिस मोक्ष-धाम में निरन्तर

चैतन्य-ज्योति विराजमान है, जिसमें सदा अखण्ड आनन्द रहा करता है। उस अमृत-मृत्युरहित-अक्षित-क्षयरहित-निर्भय-लोक-परमपद में मुझको तू स्थापन कर। तथा इन्द्र-परमात्म-भाव की प्राप्ति के लिए मेरे-उपर कृपाऽमृत का सिञ्चन कर।'

हे पवमान! अतीवपवित्र! निर्विकार-शुद्धस्वरूप! हे इन्दो!=द्वैतप्रपञ्चोपशमशान्तस्वरूप! यत्र=यस्मिन्, लोके=तुरीयाख्ये-स्वयं-प्रकाशधामनि, अजस्रं=सर्वदा शाश्वतमविनश्वरं निरावरणं, ज्योतिः=चैतन्यं-पूर्णं प्रसन्नं वर्तते, एवं यत्र स्वः=अखण्डानन्दः, हितं=निहितो वर्तमानोऽस्ति। तस्मिन् अमृते=मरणधर्मरहिते निर्भये, अक्षिते=क्षयवर्जिते-कूटस्थे स्वमहिमनि सदा प्रतिष्ठिते शिवे सत्ये परमसुन्दरे लोके=स्वस्वरूपतया लोक्यमाने दिव्यातिदिव्ये पदे मां=मुमुक्षुं, धेहि=स्थापय, इन्द्राय=इन्द्रभावाप्तये, परिस्रव=परितः क्षर-परमानुग्रहसुधावृष्ट्या मां सिञ्चयेत्यर्थः। त्वत्प्रसादभाजनं मां विधेहीति यावत्। येन तत्परमदुर्लभं पदमहमवाप्य कृतकृत्यो मुक्तो भवानीति भावः॥

हे पवमान!—अत्यन्त-पवित्र! निर्विकार-शुद्ध-स्वरूप! हे इन्दो! द्वैत प्रपञ्च का जिस में उपशम-विलय है ऐसा शान्तस्वरूप!, जिस तुरीय-नाम के स्वयं प्रकाश-लोक-धाम में अजस्र-सर्वदा-शाश्वत, अविनश्वर-आवरणरहित-ज्योति—पूर्ण-प्रसन्न चैतन्य-ज्ञान वर्तता है। एवं जिस में स्वः यानी अखण्ड आनन्द निहित-अवस्थित हुआ वर्तमान है। उस-अमृत-मरण धर्म रहित-शाश्वत-निर्भय-अक्षित-क्षयवर्जित कूटस्थ-स्व-महिमा-जो सदा प्रतिष्ठित शिव-सत्य परम सुन्दर है—उस लोक में यानी स्वस्वरूप से लोक्यमान-अनुभव करने योग्य—दिव्यातिदिव्य कैवल्य मोक्ष पद में मुझ-मुमुक्षु को स्थापन कर। इन्द्राय यानी इन्द्र-परमात्म-भाव की प्राप्ति के लिए परिस्रव-यानी परम-अनुग्रह-कृपा रूप-अमृत की वृष्टि से मुझे सिञ्चन कर। अर्थात् आप की कृपा का पात्र मुझ को बना। जिससे मैं उस परम-दुर्लभपद को प्राप्त करके कृतकृत्य-मुक्त हो जाऊँ, यह भाव है।'

(६०)

(पुनरपि तत्पदलाभाय परमेश्वरप्रार्थनम्)

(फिर भी उस पद के लाभ के लिए परमेश्वर की प्रार्थना)

भूयोऽपि तदेव प्रार्थयते—

फिर भी उस की ही प्रार्थना करता है—

ॐ यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो! परिस्रव॥

(ऋग्वेद मण्ड ९ सूक्त ११३ ऋक ११)

'जिस मोक्ष-पद में आनन्द, मोद, मुद्, एव प्रमुद् शाश्वतरूप से वर्तमान हुए रहते हैं, जिस में कामना वाले मनुष्य की समस्त कामनाएँ सम्पूर्ण इतिश्री हो जाती हैं। उस पद में मुझको स्थापन कर अमृत-अभय रूप बना। इन्द्र-परमात्म भाव की प्राप्ति के लिए हे इन्दो! मेरे उपर कृपाऽमृत का सिञ्चन कर।'

यत्र=यस्मिन् कैवल्यधामनि ब्रह्मनिर्वाणाख्ये विष्णोः परमे पदे, आनन्दाः=निरतिशयसुखविशेषाः, आसते=विद्यन्ते, मोदाः=शोकाभावसूचका निर्विषयान्तरहर्षविशेषाः, मुदः=निरङ्कुशतृप्तिसूचकाः प्रसादविशेषाः, प्रमुदः=स्वनिष्ठधन्यत्वकृतकृत्यत्वसूचका अनुपमेयाह्लादविशेषा आसते इत्यन्वयः। इत्येवं तेषामल्पो भेदः कथञ्चिद् द्रष्टव्यः। बहुवचनं तेषामानन्त्यं द्योतयितुम्। वस्तुतस्तत्र समरसाखण्डपूर्णस्वात्मानन्द एव सदा सन्ततो वर्तते, यतो मोदादिपदानां पर्यायत्वेनानन्दैकार्थबोधकत्वात्। अथवा तत्रानन्दपदं दुःखाभावस्य, मोदपदं शोकाभावस्य, मुत्पदमसंतोषाभावस्य, प्रमुत्पदं क्षुद्रविषयानन्देच्छाख्यविकाराभावस्य, ज्ञापनाय प्रयुक्तमिति विज्ञेयम्। यत्र=यस्मिन् कामस्य=कामो विद्यते यस्य स कामः, (मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः) तस्य कामुकस्याखिलाः कामाः=इहामुत्रार्थानन्दाभिलाषविशेषाः, आप्ताः=प्राप्ता भवन्ति। मोक्षानन्दसमुद्रे स्वर्गाद्यानन्दानामपि शीकरत्वेनान्तर्भावात्तत्प्राप्तस्य तदभिलाषपूर्तिसम्भवादिति भावः। यद्वा परमार्थाद्वैतात्मवस्तुदर्शनप्रभावात् कामयितव्यस्यान्यस्याभावे सति सकलकामपूर्णताऽर्थात्सिद्ध्यतीति भावः। तत्र=तस्मिन्

जिस कैवल्य धाम-ब्रह्मनिर्वाण नामक-विष्णु के परम पद में-आनन्द यानी निरतिशय-न्यूनाधिक भाव रहित-अखण्ड-निर्मल-सुख विशेष हैं। तथा मोद यानी शोकाभाव के सूचक-ज्ञापक-हर्ष विशेष-जो अन्य विषय-विषयक नहीं हैं। तथा मुद यानी निरङ्कुश-तृप्ति के सूचक-प्रसाद-प्रसन्नता-विशेष। तथा प्रमुद यानी अपने को धन्यत्व एवं कृतकृत्यत्व के सूचक-उपमारहित-आह्लादविशेष हैं, 'आसते' इस क्रियापद का मोदादि पदों के साथ भी अन्वय है। इस प्रकार उन मोदादियों का किसी भी रीति से परस्पर-अल्प भेद जानना चाहिए। आनन्दादि कों के साथ बहुवचन, उन में अनन्तत्व के द्योतन के लिए है। वस्तुतः उस पद में समरस-अखण्ड-पूर्ण-स्वात्मानन्द ही सदा निरन्तर वर्तमान रहता है। क्योंकि-मोदादि पद पर्याय हैं, अर्थात् आनन्द रूप-एकार्थ के बोधक हैं। अथवा-इस मन्त्र में आनन्द पद दुःखाभाव के, मोदपद शोकाभाव के, मुत्पद असंतोषाभाव के, प्रमुत्पद क्षुद्रविषयानन्द की इच्छा नामक-मानसिक विकार के अभाव के ज्ञापन के लिए प्रयुक्त हैं, ऐसा जानना चाहिए। जिस में काम यानी काम-है जिस को वह-कामुक-कामना वाले-मनुष्य के काम यानी-समस्त इस लोक एवं परलोक के पदार्थों के आनन्द का अभिलाषा विशेष, प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि-मोक्षानन्द समुद्र में-स्वर्गादियों के आनन्द-बिन्दुओं के समान होने के कारण अन्तर्भूत हो जाते हैं। इसलिए-मोक्षानन्द को प्राप्त करने वाले-तत्त्वदर्शी महापुरुष को स्वर्गादि के आनन्द की अभिलाषा की समाप्ति हो जाती है, यह भाव है। यद्वा परमार्थ-अद्वैत-आत्म-वस्तु के दर्शन-साक्षात्कार के प्रभाव से कामना करने योग्य-अन्य-पदार्थ का अभाव होने पर सकल-कामों की पूर्णता अर्थात् सिद्ध हो जाती है, यह

पदे मां संस्थाप्येति शेषः । अमृतं=मृत्युवर्जितं निर्भयं ब्रह्मस्वरूपं, कृधि=कुरु, एतत्तु हे परमेश्वर! सर्वात्मन्! त्वदनुग्रहमन्तरेण न घटते, इत्यतः हे इन्दो!=हे सोम! इन्द्राय=ब्रह्मभूयाय त्वं परिस्रव=कृपावृष्टिं ममोपरि विधेहीत्यर्थः ।

अथवा कामस्य=आत्मकामस्य ब्रह्मविदः, कामाः सर्वे आप्ता भवन्ति । कथमाप्यन्ते सर्वे कामाः? यस्य खल्वात्मैवानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानानन्दघन एकरसः सर्वत्र सन्ततो वर्तते, नोर्ध्वं न तिर्यङ् नाधो न पुरस्तादात्मनोऽन्यत्कामयितव्यं वस्त्वन्तरं विद्यते । यस्य सर्वमात्मैवाभूत्, तदन्यत्केन कथं कः पश्येच्छृणुयान्मन्वीत विजानीयाद्वा, एवमखिलमात्माभिन्नं विजानन् कं वा कथं वा कामयेत? यतोऽन्यत्वेन ज्ञायमानः पदार्थः कामयितव्यो भवति, यस्य सर्वमात्मैवानन्यं भवति, तस्यानात्मा कथं पृथग्भूतः सन् कामयितव्यः स्यात्? तस्मात्सर्वात्मदर्शिनो ब्रह्मविदः कामयितव्याभावात्सर्वाप्तकामत्वं, निष्कामत्वममृताभयपूर्णानन्दपदभाक्त्वञ्च स्वतःसिद्धं भवतीति भावः ॥

[सम्प्रति भगवदनुग्रहं भजमानं भक्तं प्रति तस्य विश्वरूपं वर्णयित्वा तद्विश्वातीतं शुद्धस्वरूपमन्वेष्टुमवाप्तुञ्च परमं साधनं तपः परवर्तिभिर्मन्त्रैः समुपदिशति ।]

भाव है । उस पद में मुझ को 'सम्यक् स्थापन करके' इतना शेष वाक्य है । अमृत-मृत्युरहित, निर्भय ब्रह्मस्वरूप-बना । यह हे परमेश्वर! सर्वात्मन्! तेरी कृपा के बिना नहीं हो सकता है । इसलिए हे इन्दो!-हे सोम, इन्द्र-रूप-ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए मेरे ऊपर कृपा की वृष्टि कर ।

अथवा काम यानी आत्मा की ही कामना करने वाले-ब्रह्मवित् के समस्त काम (कामनाएँ) प्राप्त-समाप्त हो जाते हैं । क्यों समस्त काम प्राप्त हो जाते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं-जिस-ब्रह्मवेत्ता को निश्चय से आत्मा ही अनन्तर (अन्तर-भेद-रहित) अबाह्य (बाह्य-भेद-रहित) सम्पूर्ण-प्रज्ञान-आनन्दघन, एकरस सर्वत्र निरन्तर वर्तमान रहता है । न ऊपर में, न तिर्यङ् में, न नीचे में, न सामने में आत्मा से अन्य कामयितव्य भिन्न-वस्तु रहती है । जिस को यह समस्त विश्व आत्मा-स्वस्वरूप ही हो गया है, उससे-अन्य-अनात्म वस्तु को किस-प्रमाण से कैसे कौन देखे? सुने, माने या जाने? । इस प्रकार समस्त विश्व को आत्मा से अभिन्न जानता हुआ, वह किस की या किस प्रकार कामना करे? । क्योंकि-आत्मा से अन्य-भिन्न रूप से ज्ञायमान-जाना गया-पदार्थ ही कामयितव्य होता है । जिस को सर्व-विश्व आत्मा ही अनन्य हो जाता है, उसको अनात्म-पदार्थ-पृथक् रूप हुआ किस प्रकार कामयितव्य हो? अर्थात् नहीं हो सकता । इसलिए-सर्वात्मदर्शी-ब्रह्म-वित् में कामयितव्य का अभाव होने से सर्वाप्तकामत्व, निष्कामत्व, एवं अमृत-अभय पूर्णानन्द-पद का भजन-सेवनशीलत्व स्वतःसिद्ध हो जाता है, यह भाव है ।'

[अब भगवान् के अनुग्रह का सेवन करने वाले- भक्त के प्रति उस भगवान् के विश्वरूप का वर्णन करके भगवान् के उस विश्वातीत-शुद्ध-स्वरूप का अन्वेषण करने के लिए तथा प्राप्त करने के लिए परम साधन तप का आगे के उत्तर मन्त्रों से सम्यक् उपदेश करते हैं]

(६१)

(एकस्याद्वितीयस्य पूर्णस्य परमात्मनो मायया सोपाधिकानेकरूपवर्णनम्)

(एक-अद्वितीय-पूर्ण-परमात्मा के माया द्वारा होने वाले सोपाधिक-अनेक रूपों का वर्णन)

यस्माद्वस्तुतः सर्वात्माऽऽनन्दनिधिः प्रत्यक् चेतनोऽयमेकोऽप्येकरूपोऽपि सन् मायया कल्पितदेहाद्युपाधिभिरनेकोऽनेकरूप इव च विभाव्यमानः स उपाध्यावृत्तनिजस्वरूपोऽपि विविधसुखदुःखाद्याकारवृत्तिभाग्भवति, तस्मान्मुमुक्षुभिरात्मज्ञानेनाज्ञानाद्युपाध्यावरणं निराकृत्य तद्विशुद्धस्वरूपसाक्षात्काराय यत्न आस्थेय इति श्रद्धेया भगवती श्रुतिरुपदिशति—

जिस कारण से—वस्तुतः सर्वात्मा आनन्दनिधि प्रत्यक्-चेतन, यह एक हुआ भी एक-रूप हुआ भी माया से कल्पित-देहादि-उपाधियों के द्वारा अनेक-सा तथा अनेक-रूपवाला-सा विभाव्यमान हुआ—जिसका उपाधि से अपना पारमार्थिक-स्वरूप आवृत्त हो गया है; इसलिए—वह विविध-सुख-दुःखादि आकारों वाली-असंख्य वृत्तियों का सेवन करने वाला होता है। इसलिए-मुमुक्षुओं को-आत्म-ज्ञान के द्वारा अज्ञानादि-उपाधियों के आवरण का निराकरण करके उसके विशुद्ध-स्वरूप के साक्षात्कार के लिए-यत्न करना चाहिए, ऐसा श्रद्धा करने योग्य-भगवती श्रुति-उपदेश करती है—

ॐ रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते, युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ६ सूक्त. ४७ ऋक्. १८। श. ब्रा. १४।५।५।१९। बृ. उ. २।५।१९)

'वह परमात्मा शरीरादि-अनेक-उपाधियों के रूपों से अनुरूप-सा हो गया है। उसका वह विशिष्ट रूप, शुद्ध-स्वरूप के बोधन के लिए निमित्त है। इन्द्र-परमात्मा, माया-शक्तियों के द्वारा बहुरूप-सा-हुआ प्रतीत हो रहा है। इसके साथ दश-सहस्र इन्द्रियों की वृत्तियाँ रूप-घोड़े, लगे हुए हैं।

अथवा वह परमैश्वर्यवान् भगवान् अपनी-अचिन्त्यशक्तियों के द्वारा राम-कृष्णादि-अनेक अवतारों के रूपों से बहुरूप-हुआ प्रादुर्भूत हो जाता है। इसके वे साकार बहु रूप-भक्त जनों के दर्शन-उपासना के लिए हैं। जिस-जिस प्रकार के रूप से भगवान् को भक्त देखना चाहते हैं, उस-उस रूप से वह प्रकट हो जाता है। इस प्रकार के उसके मनोहारी-सैंकड़ों रूप-धर्म स्थापन-दुष्ट-विध्वंसादि-कार्य के लिए नियुक्त हैं। परन्तु उनमें दशरूप मुख्य हैं।

अयमिन्द्रः=अपरिच्छिन्नत्वेन सर्वोपाधिसम्बन्धात् नानारूपप्राप्तौ प्रभुः परमात्मा, 'इदि परमैश्वर्ये' इत्यस्य धातोरर्था-

यह इन्द्र यानी अपरिच्छिन्न-पूर्ण व्यापक होने से समस्त-उपाधियों के साथ सम्बन्ध होने के कारण, नाना-अनेक-रूपों की प्राप्ति में प्रभु-समर्थ परमात्मा है। 'इदि' धातु परम-ऐश्वर्य-अर्थ में है, इस

नुगमात्, स चाकाशवत्सर्वगतः सदानन्दरूपः, रूपं रूपं=रूप्यते नामादिना निरूप्यते इति रूपं=शरीरादि, प्रतिरूपः=प्रतिशरीरमवच्छिन्नः सन् 'दार्वादिदाह्यभेदावच्छिन्न उपाधिरूपेण प्रतिरूपवान् वह्निरिव' 'विभिन्नप्राणिदेहानुप्रविष्टः प्रतिरूपवान् वायुरिव' प्रतिरूपो रूपान्तरं बभूवेत्यर्थः। वास्तविकं सच्चिदानन्दस्वरूपं स्वमविद्यया विस्मृत्याऽसज्जडदुःखात्मको बभूवेति यावत्। अथवा प्रतिरूपः=अनुरूपः, यादृक्संस्थानौ मातापितरौ, तत्संस्थानस्तदनुरूप एव पुत्रो जायते, न हि चतुष्पदो द्विपाज्जायते, द्विपदो वा चतुष्पात्। स एव हि चिद्रूपः परमेश्वरो मायया वियदादिजगदात्मना विवर्तमानो नामरूपे व्याकुर्वाण उपाधिभिरन्तःकरणैः प्रतिरूपः=प्रतिबिम्बरूपः सन् रूपं रूपं=सर्वाणि शरीराणि, बभूव=प्राप्नोत् 'भू प्राप्तौ' स्मरणात्। शरीराद्यवच्छिन्नः सन् स एव जीवात्मेति व्यपदिश्यते। तदेतदृगन्तरमप्याह–'परि त्मना विषुरूपो जिगासि' (ऋ. ५।१५।४) 'यो अप्सु चन्द्रमा इव सोमश्चमूषु ददृशे' (ऋ. ८।८२।८) इति। विषुरूपः=नानारूपः सन्, त्मना=

धातु के अर्थ का अनुसरण करने से यह आकाश की तरह सर्वगत-सदानन्द रूप सिद्ध होता है। रूप-रूप यानी नाम आदि द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है, वह शरीरादि-द्वैतप्रपञ्चरूप है, उसके प्रतिरूप यानी उस-उस प्रत्येक शरीरादि के साथ अवच्छिन्न हुआ, 'दारु-लकड़ी आदि दाह्य-विशेष उपाधियों से अवच्छिन्न हुआ–उपाधि के रूप से प्रतिरूप-वाले अग्नि की भाँति' 'विभिन्न प्राणियों के असंख्य देहों में अनुप्रविष्ट हुआ-प्रतिरूप वाले वायु की भाँति' प्रतिरूप यानी औपाधिकरूप वाला हुआ, अर्थात् वास्तविक-अपने-सच्चिदानन्द स्वरूप का अविद्या से विस्मरण करके असत्-जड-दुःखमय शरीरादिरूप हो गया। अथवा प्रतिरूप यानी अनुरूप। जिस प्रकार के आकार वाले-माता पिता होते हैं, उस प्रकार के आकार-वाला उनके अनुरूप ही पुत्र उत्पन्न होता है। चतुष्पात्-पशु से द्विपात्-मनुष्य उत्पन्न नहीं होता है, या द्विपात्-मनुष्य से चतुष्पात्-पशु नहीं उत्पन्न होता। अर्थात् पशु से पशु आकार वाला, मनुष्य से मनुष्य-आकार वाला संतान पैदा होता है। वही चिद्रूप परमेश्वर, माया द्वारा वियद्-आदि विविध जगत् रूप से विवर्तित हुआ–नाम रूप का व्याकरण करता हुआ–अन्तःकरण रूप-उपाधियों से प्रतिरूप यानी प्रतिबिम्ब रूप वाला हुआ–रूप रूप यानी समस्त शरीरों को बभूव प्राप्त हो गया। 'भू' धातु प्राप्ति अर्थ में भी स्मरण की गई है। वही परमात्मा शरीरादि से अवच्छिन्न-संयुक्त हुआ 'जीवात्मा' ऐसा कहा जाता है। वही यह अन्य-ऋचा भी कहती है–'नानारूप हुआ परमात्मा, आत्म-स्वरूप से समस्त भूत-प्राणियों को व्याप्त करता है।' 'जलों में चन्द्रमा की भाँति जो परमात्मा सोम, चमस-सदृश-अनेक शरीरों में अनेक रूप-सा प्रतीत होता है।' इति। विषुरूप यानी नानारूप-सा हुआ

आत्मना स्वस्वरूपेण, परिजिगासि=सर्वाणि भूतानि-परिगच्छसि-व्याप्नोषि । उदकेषु यथा एक एव चन्द्रमा प्रतिबिम्बतया नानाविधो दृश्यते, तथा चमूषु=चमसपात्रकल्पेषु-शरीराद्युपाधिषु एक एव सोमो महेश्वरः अनेकरूप इव ददृशे=विभातीत्यर्थः । 'यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति' (अथर्व. १३।३।१७) इति । 'एकं यदङ्गं अकृणोत् सहस्रधा' (अथर्व. १०।७।५) इति च । स्मर्यते च-'एक एव महानात्मा बहुधाभूय तिष्ठति । यथा सौभरिरेकः सन् बहुधा योगतोऽभवत् । बहुधांशावतारेषु यथा वा भगवानभूत् ।' (ऋग्वेदानुक्रमणिकायाम्) इति । कस्मै प्रयोजनाय तस्य प्रतिरूपभवनमिति ? उच्यते-तत्-अस्य=परमात्मनो यद्वास्तवं निरुपाधिकं प्रज्ञानानन्दघनाख्यं रूपं, तस्य प्रतिचक्षणाय=प्रतिनियतदर्शनाय निमित्तं भवति । सर्वं चराचरं विश्वं तस्य परमकारणस्य प्रवर्तकस्य प्रकाशकस्य व्यापकस्य परमात्मनः कार्यं, तेनैव प्रवर्त्यं प्रकाश्यं व्याप्यञ्च । कार्यप्रवर्त्यादिदर्शनस्य कारणप्रवर्तकादिदर्शनं प्रति निमित्तत्वस्य प्रसिद्धत्वात्, एवं सोपाधिकस्य विशिष्टस्य दर्शनं निरुपाधिकस्य शुद्धस्य दर्शनं प्रति हेतुभावं प्रपद्यत इति भावः । यद्वा प्रतिचक्षणाय=प्रतिख्यापनाय, यदा च कार्यकारणरूपेण नामरूपात्मकं विश्वं तस्माद्व्याकृतं भवति । तदाऽस्यात्मनो मूलभूतं महदधिष्ठानरूपं प्रतिख्यातं भवति, यदि तद्व्याकृतं न भवेत्;

त्मना-यानी आत्म-स्वस्वरूप से समस्त-चराचरभूतों को तू व्याप्त करता है। जिस प्रकार उदक-जलों में एक ही चन्द्रमा प्रतिबिम्ब रूप से नाना-प्रकार का-सा प्रतीत होता है। तिस प्रकार चमू यानी चमस पात्र के सदृश-शरीरादि-उपाधियों में एक ही सोम-महेश्वर-परमात्मा अनेक रूप-सा हुआ विभासित होता है।' इति। 'जो एक परमात्म-ज्योति है, वह बहु-रूप से भासित होती है।' इति। 'जो एक स्वरूप था, उस को उसने सहस्र-असंख्य प्रकार से किया।' इति। तथा ऋग्वेदानुक्रमणिका में माधव भट्ट ने भी स्मरण किया है-'एक ही महान् आत्मा बहुरूप-सा होकर रहता है, जिस प्रकार एक ही सौभरि ऋषि, योगशक्ति से बहुरूप हो गया था, या जिस प्रकार अंशावतारों में भगवान् बहुरूप हुआ था।' इति। किस-प्रयोजन के लिए उसका प्रतिरूप भवन है ? इसका समाधान कहते हैं-वह-प्रतिरूप-भवन, इस परमात्मा का जो वास्तविक-निरुपाधिक-प्रज्ञान-आनन्दघन-नामक-स्वरूप है, उसके प्रतिचक्षण यानी प्रतिनियत-दर्शन के लिए निमित्त होता है। समस्त चराचर विश्व, उस परम कारण-प्रवर्तक-प्रकाशक-व्यापक-परमात्मा का कार्य है, उसीसे ही प्रवर्त्य-प्रकाश्य एवं व्याप्य है। कार्य एवं प्रवर्त्य आदि का दर्शन, कारण, प्रवर्तक आदि के दर्शन के प्रति निमित्त होता है, ऐसा लोक में भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार सोपाधिक-विशिष्ट-रूप का दर्शन, निरुपाधिक-शुद्ध रूप के दर्शन के प्रति कारणता को प्राप्त होता है, यह भाव है। यद्वा प्रतिचक्षण यानी प्रतिख्यापन के लिए, अर्थात् जब कार्य-कारण-व्यक्ताव्यक्त-रूप से नाम-रूपात्मक-विश्व, उससे व्याकृत-अभिव्यक्त होता है, तब इस आत्मा का मूल पारमार्थिक-रूप-जो महान् अधिष्ठान भूत है-वह प्रतिख्यात हो जाता है। यदि वह-जगत् उससे व्याकृत न हो, तब इस का

तदाऽस्य रूपं कथं कस्मै प्रतिख्यातं स्यात् ? स चेन्द्रः=परमेश्वरः, एकरूप एव प्रज्ञानानन्दघनः सन्, मायाभिः=मायाशक्तिभिः-अविद्याप्रज्ञाभिः नामरूपभूतकृतमिथ्याभिमानैर्वा हेतुभिः न तु परमार्थतः, पुरुरूपः=बहुरूपः-वियदादिभिर्बहुविधरूपैरुपेतः सन्, ईयते=प्रतीयते-गम्यते चेष्टते वेति यावत्। तत्पुनः कस्मै प्रयोजनाय बहुरूपभवनम् ? अस्य परमात्मनः, हि=यस्मात्, हरयः=इन्द्रियाणि शब्दादिविषयाहरणशीलत्वात्। यद्वा प्रतीचो विषयान् प्रति हरणात्-आकर्षणात्-इन्द्रियाणां हरित्वम्। शता=शतानि दश च, सहस्रसंख्याकाः प्राणिभेदबाहुल्यात् असंख्याताः, युक्ताः=विषयेषु संयुक्ताः सन्ति, तथा च तस्यासंख्येयहरिभिर्विविधशब्दादिविषयाहरणलक्षणं प्रयोजनमनुसंधाय मायया बहुरूपभवनमत्राधिगम्यते। अत एव मायिकेन्द्रियविषयोपाधिबाहुल्यादपि प्रत्यगात्मा एकोऽपि बहुरूपो विभाति। एतदप्यस्य परमात्मनः प्रतिचक्षणाय-याथात्म्यदर्शनाय निमित्तं भवति। यदाहुः श्रीविद्यारण्यस्वामिपादाः-'रूपं रूपमितीयं तु स्पष्टमृक्प्रत्यगात्मनः। याथात्म्यदर्शनायैव सृष्ट्यादीन्यभ्यभाषत॥' (बृहदारण्यकशाङ्करभाष्यवार्तिकसारः) इति। यद्वा बहुरूपभवनमस्यानर्थायैवाभूदित्याह-शता दश हरयः=अनन्ता इन्द्रियवृत्तयः, युक्ताः='रथ

विशुद्ध रूप किस प्रकार किसके लिए प्रतिख्यात हो ? अर्थात्-प्रसिद्ध प्रतिख्यात नहीं हो सकता। वह इन्द्र-परमेश्वर, एक-रूप-प्रज्ञानानन्दघन ही हुआ, मायाशक्तियों-के या अविद्या-वृत्तियों के द्वारा या नामरूप वाले-अनात्म-भूतों मे ,किये हुए-मिथ्या अभिमान रूप हेतुओ के द्वारा, परमार्थ से नहीं, पुरु रूप-बहुरूप अर्थात् आकाशादि-बहु प्रकार के रूपो से संयुक्त हुआ, प्रतीत होता है-जाना जाता है, या चेष्टा करता है। उसका पुनः किस-प्रयोजन के लिए-बहुरूप से भवन-उद्भव हुआ है ? इस परमात्मा को जिस कारण से इन्द्रिय रूप-असख्य हरि सयुक्त हुए हैं। शब्दादि-विषयो के आहरण का स्वभाव होने से इन्द्रियो में हरित्व है। यद्वा प्रत्यगात्मा को विषयो के प्रति हरण-आकर्षण करने से इन्द्रियों में हरित्व है। वे हरि शत-दश हैं अर्थात् सहस्रसंख्या से युक्त हैं, प्राणियों के भेदों की बहुलता होने से असख्य हरि हैं, वे विषयो में संयुक्त हैं। तथा च उस इन्द्र-परमेश्वर का असंख्येय-हरि-इन्द्रियो के द्वारा विविध-शब्दादि-विषयो का आहरण रूप प्रयोजन का अनुसधान करके माया के द्वारा बहुरूप भवन यहाँ जाना जाता है। इसलिए-मायिक-माया से कल्पित इन्द्रिय-विषय-रूप उपाधियों के बाहुल्य से भी प्रत्यगात्मा एक भी बहुरूप-सा विभासित होता है। यह भी इस परमात्मा के प्रति-चक्षण-याथात्म्यदर्शन के लिए निमित्त होता है। यही श्री विद्यारण्य-स्वामिपाद, बृहदारण्यक-उपनिषद् के शाङ्करभाष्य के वार्तिकसार में कहते हैं-'रूपं रूप इत्यादि' ऋक्, प्रत्यगात्मा के यथावत् दर्शन के लिए सृष्टि-आदि का कथन करती है।' इति। यद्वा बहुरूप का भवन, इस को अनर्थ के लिए ही हुआ है-यह कहते है-शत-दश हरि अर्थात् अनन्त-इन्द्रियों की वृत्तियाँ, 'रथ में जोड़े हुए

इव वाजिनः'- स्वस्वविषयग्रहणायोद्युक्ताः सन्ति; तस्मादिन्द्रियविषयबाहुल्याच्चतत्प्रकाशनायैव च युक्तानि तानीन्द्रियाणि नात्मप्रकाशनाय.।' तथा काठके चाम्नायते—'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।' (कठ. २।४।१) इति । अतस्तैरेवायमिन्द्रो देहेन्द्रियविषयस्वरूपैरीयते, न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तपूर्णानन्दघनैकरसेन स्वरूपेणेति मायाकल्पितान्यथाभावोऽयमनर्थायैवावगन्तव्यः । तथापि तत्तदिन्द्रियादिरूपेणाऽऽत्मन एवाविद्यया भानात् आरोपितसम्बन्धस्य च कल्पितत्वात् नाद्वैतक्षतिः । अथवा यथा व्यष्टिसमष्टिप्रपञ्चरूपेण बहुभवनमस्यात्मनो ज्ञानाय निमित्तम् । तथा सकलेन्द्रियप्रवृत्तयोऽप्यस्यात्मनो ज्ञानाय निमित्तं विज्ञेयम् । तथा च स्मर्यते मुनिना पाणिनिना 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा'(५।२।९३)इति । इन्द्रः=आत्मा, तस्य लिङ्गं, करणेन कर्तुरनुमानात्तानि तदनुमापकानीन्द्रियाणि साक्षिरूपेण तेनेन्द्रेण स्वात्मना दृष्टानि, मम चक्षुः मम श्रोत्र-

घोड़े की भाँति' अपने-अपने विषयों के ग्रहण के लिए-उद्युक्त-यत्नशील हैं । इसलिए-इन्द्रिय-विषयों की बहुलता होने से विषयों के प्रकाश के लिए वे इन्द्रियाँ युक्त हुई हैं, आत्मप्रकाश के लिए नहीं। तथा काठकोपनिषत् में कहा है—'श्रोत्रादि-इन्द्रियों को बहिर्मुख-विषयासक्त बना कर उस स्वयंभू-आत्मा ने आप ही अपनी हिंसा किया । इसलिए सभी बहिर्मुख-मूढ़-प्राणी बाहर के शब्दादि-विषयों को ही जानता है, अन्तरात्मा को नहीं जानता है।' इति । अतः यह इन्द्र-आत्मा, इन-देह-इन्द्रियादि-एवं विषयों के-अनात्म स्वरूपों से ही प्रतीत होता है, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त पूर्ण-आनन्दघन-एकरस-स्वस्वरूप से प्रतीत नहीं होता है, इस प्रकार यह माया-अविद्या-कल्पित-अन्यथाभाव-अनर्थ के लिए ही हुआ है, ऐसा जानना चाहिए। तथापि उस-उस इन्द्रियादिकों के रूप से अविद्या द्वारा आत्मा का ही भान होता है, आरोपित-सम्बन्ध कल्पित-मिथ्या होता है, इसलिए इन्द्र के पारमार्थिक-अद्वैतस्वरूप में क्षति नहीं हो सकती है । अथवा जिस प्रकार व्यष्टि एवं समष्टि-प्रपञ्च रूप से इस-आत्मा का बहुभवन, आत्म-ज्ञान का निमित्त है । तिस प्रकार समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्तियाँ भी इस आत्मा के ज्ञान का निमित्त जाननी चाहिए। तथा पाणिनि-मुनि व्याकरण के सूत्रों में स्मरण करते हैं—'इन्द्र का लिङ्ग, इन्द्र से दृष्ट, इन्द्र से सृष्ट, इन्द्र से जुष्ट-सेवित, एवं इन्द्र से दत्त होने से इन्द्रिय है ।' इति । इन्द्र-आत्मा है, उसका लिङ्ग-ज्ञापक इन्द्रिय है, करण से-कर्ता का अनुमान होता है, इसलिए वे करण-इन्द्रियाँ आत्मा-कर्ता का अनुमान के द्वारा बोधन करती हैं । साक्षी रूप-उस इन्द्र-स्वात्मा द्वारा वे इन्द्रियाँ दृष्ट-अनुभूत होती हैं। या उस इन्द्र आत्मा से ही वे इन्द्रियाँ 'मेरा चक्षु, मेरा श्रोत्र' इस प्रकार के अभिमान

मित्येवं तेनैवाभिमतानि वा, जुष्टानि=सेवितानि वा राज्ञेव नगराणि, तेनैव वा सृष्टानि, तेन वा दत्तान्यस्य शब्दादिग्रहणार्थं धार्मिकनृपतिना श्रोत्रियेभ्यः कुलपतिभ्यो विद्याक्षेत्रादिनिर्वाहार्थं स्वर्णादिकमिवेत्यर्थः।

अथवा-इन्द्रः=परमैश्वर्यवान् परमात्मा, मायाभिः=स्वनिष्ठाचिन्त्यशक्तिविशेषैः, पुरुरूपः=बहुरूपः-रामकृष्णाद्यसंख्येयावताररूपेणानेकप्रकारः सन्, ईयते=प्रतीयते-प्रादुर्भवतीति वा, 'सम्भवाम्यात्ममायया' (गी. ४।६) इति स्मृतेः। किमर्थमेकस्यारूपस्य तस्य बहुभवनं रूपवत्त्वञ्चेति? अत आह-अस्य=परमेश्वरस्य, तत्=रूपं, प्रतिचक्षणाय=भक्तजनदर्शनाय-उपासकध्यानसौकर्यायेति यावत्, यदि ध्यानसौकर्यायैव विग्रहवत्त्वं भगवतोऽलं तर्हि रामादिविग्रहेण, वैकुण्ठस्थविग्रहेणैवाभिलषितसिद्धेः, अत आह-रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव=यदा यदा यादृशं यादृशं रूपं भक्तजना द्रष्टुमभिवाञ्छन्ति, तदा तदा तादृशं रूपं दधार इत्यर्थः। 'भक्तभावानुसारेण जायते भगवानजः।' इति स्मरणात्। कति रूपाणि जगृहे भगवान्? इत्यत आह-युक्ता ह्यस्येति। अस्य=परमात्मनः, हरयः=

द्वारा ग्रहण की जाती हैं। या-'राजा के द्वारा नगरों की भाँति' उस इन्द्र से ही ये इन्द्रियाँ सेवित होती हैं। यद्वा उससे ही ये इन्द्रियाँ सृष्ट हैं-सर्जन की गई हैं। यद्वा उसके द्वारा ही इस जीवात्मा को शब्दादि-विषयों के ग्रहण के लिए-'धार्मिक नृपति द्वारा श्रोत्रिय-कुलपति-आचार्यों को विद्या-क्षेत्रादि के निर्वाह के लिए स्वर्ण आदि की भाँति' इन्द्रियाँ दी गई हैं, यह सूत्र का अर्थ है।

अथवा-इन्द्र-परम-ऐश्वर्यवान्-परमात्मा, अपनी-अचिन्त्य-शक्ति-विशेषरूप विविध मायाओं के द्वारा, पुरुरूप-बहुरूप-राम-कृष्णादि-असंख्येय-अवतारों के रूप से अनेक प्रकार का हुआ प्रतीत होता है, या प्रादुर्भूत होता है। 'अपनी माया से मैं भगवान् प्रादुर्भूत होता हूँ' ऐसा गीता में भगवान् ने स्मरण किया है। एक-अरूप-उस परमात्मा का बहु भवन-एवं विविध-रूपवत्त्व किस लिए है? इस प्रश्न का समाधान कहते हैं-इस-परमेश्वर के उस रूप के प्रतिचक्षण यानी भक्तजनों के दर्शन के लिए-उपासकों के ध्यान के सौकर्य के लिए। यदि ध्यान-सौकर्य के लिए ही भगवान् की विग्रहवत्ता है, तब तो राम-कृष्ण आदि के विग्रहों की क्या आवश्यकता है?, क्योंकि-वैकुण्ठ में अवस्थित-विष्णु भगवान् के विग्रह से ही ध्यानादि-अभीष्ट की सिद्धि हो जायगी? ऐसे प्रश्न का समाधान कहते हैं-'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' यानी जब जब भक्तजन-जिस-जिस प्रकार के रामादि के रूप को देखने की अभिलाषा करते हैं, तब तब तिस-तिस प्रकार के रूप को भगवान् धारण करता है। 'भक्तों के भावों के-अनुसार ही अजन्मा-भगवान् प्रकट होता है।' ऐसा स्मरण किया गया है। कितने रूपों को भगवान् ने ग्रहण किया है? ऐसे प्रश्न का उत्तर कहते हैं-युक्ता ह्यस्येति। इस परमात्मा के हरि यानी संसार के दुःखों के

संसारदुःखहारकाणि मनोहराणि, शता=शतानि-अनन्तानि-अवताररूपाणि, युक्ता=नियुक्तानि-धर्मस्थापनदुष्टदलनादिकार्ये बद्धपरिकराणि सन्ति 'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।' (१।३।२९) इति भागवतस्मरणात्। परञ्च तेषु दशरूपाणि स्वतिप्रसिद्धानि सन्ति, इत्यत्रत्यो दशशब्दः सूचयति॥

अन्ये पुनरेवमधिदैवपक्षं मन्यमाना व्याचक्षते-अयमिन्द्रः=सगुणः साकारो मायाविशिष्टो भगवान्, प्रतिरूपः=दिव्यरूपाणां प्रतिनिधिः सन्, अतीवमनोरमप्रशस्तविग्रहोऽपि, रूपं रूपं=तत्तदग्न्यादिदेवतास्वरूपं बभूव=प्राप्नोति (लकारव्यत्ययः) इन्द्रः स्वमाहात्म्येन तत्तद्देवतारूपो भवतीत्यर्थः। अस्य चेन्द्रस्य तत्प्राप्तमग्न्यादिदेवतास्वरूपं प्रतिचक्षणाय=प्रतिनियतदर्शनाय 'अयमग्निरयं विष्णुरयं रुद्रः' इत्येवमसंकीर्णदर्शनाय निमित्तं भवति। अपि चायमिन्द्रो मायाभिः=ज्ञाननामैतत्, ज्ञानैरात्मीयैः संकल्पैः, पुरुरूपः=बहुविधशरीरः सन्, ईयते=बहून् यजमानान् स्वभक्ताननुग्रहीतुं गच्छति। ननु-कथमयं गमनाय विशिष्टसाधनरहितो युगपद्बहून् गच्छति? इत्याशङ्क्य विशिष्टसाधनानि प्रदर्शयितुमाह-अस्य=इन्द्रस्य, हरयः=अश्वाः, रथेषु योजिताः, शता दश=सहस्रसंख्याकाः-अपरिमिताः सन्ति, हरिग्रहणमत्रोपलक्षणाभिप्रायेण।

हरने वाले-मनोहर-शत यानी अनन्त-अवतारों के स्वरूप हैं। वे धर्म की स्थापना एवं दुष्टों का विध्वंस आदि कार्य में नियुक्त हैं, अर्थात् बद्ध-परिकर-उद्युक्त हैं। श्रीमद्भागवत में भी स्मरण किया गया है कि-'हे द्विज! सत्त्वगुण के भण्डार-हरि-विष्णु भगवान् के असंख्य-अवतार हैं।' परञ्च उन अनन्त-अवतारों के रूपों में दशरूप तो अत्यन्त-प्रसिद्ध हैं, यह इस मन्त्र में स्थित-दश-शब्द सूचित करता है।

अन्य कुछ विद्वान् पुनः अधिदैव पक्ष को मानते हुए इस मन्त्र का इस प्रकार व्याख्यान करते हैं-यह इन्द्र यानी सगुण-साकार-मायाविशिष्ट भगवान् प्रतिरूप यानी दिव्य-रूपों का प्रतिनिधि हुआ, अत्यन्त-प्रशस्त-मनोरम विग्रहवान् हुआ भी उस-उस अग्न्यादि-देवताओं के रूपों को प्राप्त होता है। अर्थात् इन्द्र-परमेश्वर अपनी महिमा से उस-उस देवतारूप हो जाता है। प्राप्त हुआ वह अग्नि-आदि देवताओं का स्वरूप, इस इन्द्र के प्रति-चक्षण-प्रतिनियतदर्शन यानी 'यह अग्नि है' 'यह विष्णु है' 'यह रुद्र है' इस प्रकार असंकीर्ण-पृथक्-पृथक् रूप से दर्शन के लिए निमित्त होता है। और यह इन्द्र, मायाओं से-अपने-ज्ञानमय-संकल्पों से-माया यह ज्ञान का भी नाम है-पुरुरूप-यानी बहु प्रकार के शरीरों वाला हो कर अपने अनेक-यजमान-भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए जाता है।

शंका-गमन के लिए विशिष्ट-साधनों से रहित यह इन्द्र परमात्मा एकसाथ बहु-यजमानों के प्रति किस प्रकार जाता है? ऐसी शंका करके विशिष्ट-साधनों के प्रदर्शन द्वारा समाधान कहते हैं-इस इन्द्र के हरि-अश्व-घोडे-रथों में जुते हुए-सहस्र संख्या वाले यानी अपरिमित हैं। मन्त्र में हरि का ग्रहण उपलक्षण के अभिप्राय से है। अन्य भी बहुत

सन्त्यन्यान्यपि भूयांसि दिव्यसाधनानि, हि=यस्मादेवं तस्मात्, युगपद्बहुशरीराणि विशिष्टसाधनानि च परिगृह्य यजमानान् प्रयत्नानाह्वानतत्परान् सपदि गच्छतीति यावत्।

भगवतोऽनेकदिव्यविग्रहधारणप्रयोजकातुलैश्वर्ययोगप्रख्यापकोऽन्योऽपि निगमो भवति–'रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्। त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥' (ऋ. ३।५३।८) इति। अयमर्थः–मघवा=निरतिशयानन्तैश्वर्यसम्पन्नः परमेश्वरो महेन्द्रः, रूपं रूपं=यद्यदिष्टं रूपमिच्छति द्रष्टुं भक्तः तत्तद्रूपं भगवानपि ग्रहीतुं कामयते, तानि सर्वाणि रूपाणि एवं कामयित्वाऽप्रतिबन्धेन बोभवीति=पुनः पुनः तत्तद्रूपात्मको भवतीत्यर्थः। तदुक्तं निरुक्ते–'यद्यद्रूपं कामयते तत्तद्देवता भवति' (नि. १०।१८) इति। कथं? तत्र कारणमुच्यते—मायाः=वस्तुतोऽरूपोऽप्यहमिदं रूपं भवानि, इदं रूपं भवानीत्येवं संकल्पयित्वाऽनेकरूपग्रहणसामर्थ्यरूपाः शक्तीः, कृण्वानः=प्रकटीकुर्वन्, तन्वं परि स्वां=स्वां तनुं तत्तद्विशि-

दिव्य साधन हैं, जिस कारण से ऐसा है, इसलिए वह इन्द्र भगवान् एक साथ अनेक-शरीरों का एवं विशिष्ट-रथविमानादि साधनों का परिग्रहण करके अपने शरणागत-अपने को आह्वान करने में तत्पर-यजमानों के प्रति शीघ्र ही जाता है।

भगवान् के अनेक-दिव्य-विग्रहों के धारण का प्रयोजक-अतुल-ऐश्वर्य के योग का प्रख्यापन करने वाला-अन्य निगम-वेद मन्त्र भी है–'परम-ऐश्वर्य से सम्पन्न-भगवान् जिस-जिस रूप को धारण करने की इच्छा करता है, उस-उस रूप से वह पुनः पुनः प्रकट हो जाता है। विचित्र दिव्य-शक्तिरूप माया को प्रकट करता हुआ भगवान् अपने विग्रह को अनेक रूप से बनाता है। अपने-पवित्र मन्त्रों के द्वारा भक्तों से आहूत हुआ वह सत्य-संकल्प वाला भगवान् ब्रह्मलोक से एक मुहूर्त में अति शीघ्र तीन बार आता है, और सभी समय में भक्तसमर्पित-दुग्धादि का पान करता है।' इति। इसका यह अर्थ है–मघवा यानी निरतिशय-अनन्त-ऐश्वर्य से सम्पन्न, परमेश्वर सर्वशक्तिमान्-महान् इन्द्र, जिस जिस इष्ट-रूप को भक्त देखने की इच्छा करता है, उस-उस रूप के ग्रहण करने की कामना स्वयं भगवान् भी करता है। अर्थात् इस प्रकार उन-सर्व भक्त-कामित रूपों के ग्रहण करने की कामना करके प्रतिबन्ध से रहित हो कर वह पुनः पुनः उस उस रूप वाला हो जाता है। यह निरुक्त में भी कहा है–'जिस जिस रूप की कामना करता है, उस-उस रूप वाला देवता होता है।' इति। किस प्रकार? उसमें–उस-उस रूपों के ग्रहण करने में कारण कहते हैं–मायाओं को–अर्थात् वस्तुतः रूपरहित भी मैं 'इस रूप वाला होऊँ' 'इस रूप वाला होऊँ' इस प्रकार संकल्प करके अनेक रूपों के ग्रहण करने की सामर्थ्यरूप-शक्तियों को प्रकट करता हुआ अपने एक ही विग्रह को उस-उस विशिष्ट-आकृति के

ष्टाकृत्याऽनेकविधां कुर्वाणः। यद्वा परि=पञ्चम्यर्थे स्वकीयान्मायिकाच्छरीराद्वैकुण्ठ-स्थादेकस्मात् नानाविधान्यवतारशरीराणि निर्मिमीते। यद्वा स्वां तनुं नानाविधरूपोपेतां करोति। यत्=यस्मात्, स्वैः—मन्त्रैः=श्रद्धाभक्तिपुरःसरं सम्यस्तैः प्रणवगायत्र्यादिपावनदिव्यस्वनामभिः स्तुतिलक्षणैर्वेदादिवाक्यैर्वा, आहूतः परमेश्वरः, कथंभूतोऽसौ? ऋतावा=सत्यसंकल्पवान्। दिवः=स्वर्गात्—ब्रह्मलोकात्, परि=अधि, मुहूर्तं=मुहूर्तकालं प्रति, यत्=यः, त्रिः—आगात्=त्रिवारं—आगच्छति, भक्तगृहे, यज्ञस्थाने वा। नैकत्र किन्तु बहुषु स्थलेष्वपि बहूनि विग्रहाणि धृत्वाऽतिशीघ्रं स्वलोकादागच्छतीति यावत्। आगत्य चासौ, अनृतुपा भवति। अनृतुपाः=न केवलमृतुष्वेव भक्तैः प्रेम्णा समर्पितं दुग्धादिकं, यज्ञे समर्पितं द्रवद्रव्यं वा पिबति, किन्तु अनृतुष्वपि सर्वसमयेषु पिबति। पानमशनोपलक्षकम्। पेयं सर्वं पिबति, भक्ष्यादिकमखिलमश्नाति सर्वकाले इति यावत्। अनेनापीदमवगम्यते नूनं—अचिन्त्यप्रभावाच्छक्नोति तत्तद्रूपं परिग्रहीतुमसौ। गृहीत्वा चैकस्मिन्नेव मुहूर्ते नानादेशवर्तिषु—यज्ञादिस्थानेषु, तत्रापि त्रिषु प्रातरादिसवनेष्वपि गन्तुं शक्नोति। इति। (बोभवीति—भवतेर्यङ्लुकि तिपि 'यङो वा' इतीडागमः। अगात्—इणो लुङि रूपम्) इति। अन्योऽपि निगमोऽप्यनुसंधेयः स्पष्टावगतिकामेन—'यद्-

द्वारा अनेक प्रकार का बनाता है। यद्वा 'परि' यह उपसर्ग पञ्चमी-अर्थ में है, अर्थात् वैकुण्ठ-स्थित-अपने-मायिक-एक ही शरीर से नाना प्रकार के मत्स्य-कूर्मादि-रामकृष्णादि-अनेक अवतारों के शरीरों का निर्माण करता है। यद्वा अपने ही उस विग्रह को नाना-प्रकार के रूपों से युक्त कर देता है। जिस कारण से—अपने मन्त्रों से—यानी श्रद्धाभक्तिपूर्वक-अच्छी प्रकार अभ्यास किये गए प्रणव, गायत्री, आदि पावन-दिव्य-अपने नामों के द्वारा या स्तुति-ज्ञापक वेदादि वाक्यों के द्वारा, आहूत-बुलाया हुआ परमेश्वर, किस प्रकार का है वह?—सत्य संकल्प वाला—स्वर्गरूप-ब्रह्मलोक से एक-मुहूर्त में तीन वार भक्तों के गृह में या यज्ञस्थान में आ जाता है। एक ही स्थान में नहीं, किन्तु बहु-स्थलों में भी बहु-विग्रहों को धारण करके अति-शीघ्र अपने लोक से आता है, यह तात्पर्य है। आ करके वह अनृतुपा होता है, अर्थात् केवल वसन्तादि ऋतुओं में ही भक्तों के द्वारा प्रेम से समर्पित-दुग्धादि का या यज्ञ में समर्पित-सोमादि-द्रव द्रव्य का पान करता है, यह नहीं, किन्तु अनृतु-यानी सर्व समयों में पान करता है। पान अशन-भक्षण का बोधक है। पीने योग्य-दुग्धादि सर्व पीता है, भक्षण करने योग्य-अपूपादि-सर्व का सर्व समय में भक्षण करता है। इस कथन से यह निश्चयपूर्वक जाना जाता है कि—वह भगवान् अपने अचिन्त्य-प्रभाव से उस-उस-भक्तेष्ट-रूप को ग्रहण करने के लिए समर्थ होता है। ग्रहण करके एक ही मुहूर्त में अनेक-देशों में स्थित-यज्ञादि-स्थानों में, उनमें भी प्रातः आदि तीन-सवनों में भी जाने के लिए समर्थ होता है। इति। इस विषय को स्पष्टरूप से जानने की इच्छा वाले-सज्जन को यह अन्य वेदमन्त्र भी अनुसंधान करने योग्य है—'अपने विग्रह से अनेक रूपों द्वारा बढ़ा हुआ भगवान् भक्त-जनो

चरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र ! प्रब्रुवाणो जनेषु ।' (ऋ. १०।५४।२) इति । तन्वा=शरीरेण विग्रहवान् भूत्वा वावृधानः=पुनः पुनस्त्वं नानारूपैर्वर्द्धमानः, जनेषु=भक्तजनेभ्यः, बलानि=आत्मीयानि वीर्याणि—सामर्थ्यविशेषान्,' हे इन्द्र—परमात्मन् ! प्रब्रुवाणः=प्रख्यापयन् सन् यत् त्वमचरः=अवतारकार्याणि दुष्टादुष्टनिग्रहानुग्रहादिलक्षणानि आचरितवानसीत्यर्थः । एतेन केचन वेदाभिमानिनः—निराकारस्य भगवतः स्वशक्त्याऽद्भुतयाऽपि मायिकसाकारविग्रहधारणं नोपपद्यते, इति प्रमाणयुक्त्यादिशून्यं ब्रुवाणाः प्रत्युक्ताः । इति ।

के प्रति अपने सामर्थ्यों का प्रख्यापन करता हुआ तू अवतार कार्यों का आचरण करता है ।' इति । तनु शरीर से साकार-विग्रह वाला हो कर पुनः पुन तू अनेक रूपों के द्वारा बढा हुआ, भक्तजनो के प्रति अपने-बल-वीर्य-सामर्थ्य-विशेषो का प्रख्यापन करता हुआ हे इन्द्र ! परमात्मन् ! जो तू दुष्ट-निग्रह, साधु-अनुग्रह, धर्मस्थापन-आदि रूप-अवतार-कार्यों का आचरण करता है, यह अर्थ है । इस कथन से—'कुछ वेदाभिमानी लोग—'निराकार-भगवान् का अपनी अद्भुत-दिव्य-अलौकिक-शक्ति के द्वारा भी माया-रचित-साकार-विग्रहो का धारण नहीं हो सकता है' ऐसा प्रमाण-युक्ति आदि से शून्य बोलने वाले प्रत्युक्त-खण्डित हो गये । इति ।

(६२)

(अन्तरात्मा भगवानन्वेष्टव्यः)

(अन्तरात्मा-भगवान् का अन्वेषण करना चाहिए)

सद्विचारयोगसहकृतयाऽन्तर्मुखवृत्त्याऽन्तरात्मा भगवान् सदाशिवः स्वहृदय एवान्वेष्टव्यो द्रष्टव्यश्च, तद्दर्शनेन हि जिह्वादिसर्वेन्द्रियेषु दिव्यरसाद्युपलब्ध्या पूर्णप्रसन्नताया निरङ्कुशतृप्तेश्च लाभो भवतीत्युपदिशति—

सद्विचाररूप योग के सहकृत-अन्तर्मुख शान्त-वृत्ति के द्वारा अन्तरात्मा सदाशिव भगवान् अपने हृदय मे ही अन्वेषण करने योग्य—एव दर्शन करने योग्य है । उसके दर्शन से ही जिह्वा आदि-समस्त-इन्द्रियो मे दिव्य-रसादि की उपलब्धि होती है, उससे पूर्ण-प्रसन्नता का एव निरङ्कुश तृप्ति का लाभ होता है—ऐसा भगवान् वेद उपदेश करता है—

ॐ अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया ।
गृभ्णन्ति जिह्वया ससम् ॥

(ऋग्वेद मण्ड ८ सूक्त ७२ ऋक ३)

'साधक-भक्त समस्त प्राणियो में अवस्थित—देहादि से पर-अतीत-उस अन्तरात्मारूप-रुद्र का शुद्ध-एकाग्र शान्त-बुद्धि के द्वारा अन्वेपण-एव दर्शन करने की इच्छा करते हैं । उसके दर्शन से जिह्वा द्वारा वे दिव्य-रस का ग्रहण करते हैं । या वे जिह्वा द्वारा उसके अन्तर्यामी-स्वरूप का अन्य-मुमुक्षुओं के प्रति उपदेश करते हैं ।'

तं=प्रसिद्धं, रुद्रं=रुत्-संसारदुःखं, तस्य स्वसाक्षात्कारेण द्रावयितारं देवं, अथवा रुद्रं=स्तुत्यं, रुत्=स्तुतिः, तयाऽधिगन्तव्यं-तदनन्तगुणमहत्त्वचिन्तनेन विज्ञेयमिति यावत्। तादृशं परमेश्वरं साधका यतयो मुमुक्षवः, मनीषया=मनसो नियमनशीलया पवित्रया सूक्ष्मयैकाग्र्यया बुद्ध्या, जने=जनेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु प्राणिसमुदायेषु, सामान्यापेक्षमेकवचनम्। अन्तः=अन्तर्यामितयाऽवस्थितं, परः=परस्तात् समष्टिव्यष्टिलक्षणसमस्तदेहाद्युपाधिभ्यो व्यतिरिक्तं-अनृतजडदुःखमयपरिच्छिन्ननामरूपेभ्यस्तेभ्यो विलक्षणं सत्यज्ञानानन्दापरिच्छिन्नरूपम्। यद्वा परः=परं सर्वोत्कृष्टमनुत्तमं तं, इच्छन्ति=अन्वेष्टुं-सततमनुसन्धातुं-स्वात्मरूपेण ध्यातुं सर्वत्रान्तर्बहिः पूर्णानन्दस्वरूपेण साक्षादनुभवितुं वा, अभिलषन्ति-तीव्रश्रद्धाजिज्ञासाऽधिमात्रवैराग्याद्युपायानवलम्ब्य आसन्नसमाधिलाभभाजो ये भवितुमिच्छन्ति। अत एव कविकुलगुरुणा कालिदासेनाप्युक्तं-'अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते[1]। स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥' (विक्रमो. ना. १।१) इति। ते च खलु

वह प्रसिद्ध रुद्र, रुत् यानी संसारदुःख, उसका अपने साक्षात्कार द्वारा भगाने वाला देव रुद्र है, अथवा रुद्र यानी स्तुत्य, रुत् अर्थात् स्तुति, उससे जो जाना जाता है, अर्थात् उसके अनन्त-गुणों के महत्त्व के चिन्तन-योग द्वारा जो विज्ञेय होता है, वह रुद्र भगवान् है। उस प्रकार के रुद्र परमेश्वर का साधक-यति-मुमुक्षु—मन का नियमन करने के स्वभाव वाली-मनीषा—पवित्र-सूक्ष्म-एकाग्र-बुद्धि के द्वारा ब्रह्मादि-स्थावर पर्यन्त प्राणिसमुदायरूप-जनों में—'जने' ऐसा एकवचन सामान्य की अपेक्षा से है, अन्तः यानी अन्तर्यामीरूप से अवस्थित एवं पर यानी समष्टि-व्यष्टिरूप पिण्ड-ब्रह्माण्डादि समस्त-उपाधियों से व्यतिरिक्त-अर्थात् उन—अनृत-जड-दुःखमय-परिच्छिन्न-नामरूपों से विलक्षण-सत्य-ज्ञान-आनन्द अपरिच्छिन्न-रूप। यद्वा पर यानी सर्वोत्कृष्ट-अनुत्तम-जिससे उत्तम और कोई पदार्थ नहीं है—उसका अन्वेषण करने की इच्छा करते हैं, निरन्तर उसका ही अनुसंधान करने की एवं स्वात्मरूप से ध्यान करने की एवं सर्वत्र-बाहर-भीतर पूर्ण-आनन्द-स्वरूप से साक्षात् अनुभव करने की वे मुमुक्षु अभिलाषा रखते हैं, अर्थात् जो तीव्र-श्रद्धा, तीव्र जिज्ञासा, अधिमात्र वैराग्य, आदि उपायों का अवलम्बन करके आसन्न-समाधि लाभ के भजने वाले—होने की इच्छा करते हैं। अत एव कविकुल-गुरु कालिदास ने भी विक्रमोर्वशीय-नाटक में कहा है—'प्राण-इन्द्रियादियों के नियमन द्वारा मुमुक्षु-गण—अपने भीतर जिसका अन्वेषण करते हैं, वह निर्विकार-शाश्वत-स्थाणु-भगवान्-भर्ग, जो स्थिर-अनन्य-भक्ति-योग से ही प्राप्त होने योग्य है—वह तुम लोगों के कल्याण के लिए हो।' इति। वे

---

१ मृग्यते=अन्विष्यते चिन्त्यते इत्यर्थः। मुमुक्षुभिः=संसारकारागारादिति शेषः। स्थाणुः=अविक्रियमाणस्वरूपतया सदा स्थायी कूटस्थो भगवान् रुद्रः।

परमेशानानुग्रहसाधनवीर्यलब्धाभीष्टसिद्ध्यनन्तरं तत्त्वदर्शिनो जीवन्मुक्ता भूत्वाऽहैतुक्या करुणया, प्रेरिताः सन्तः जिह्वया=जिह्वाप्रभवेण तत्सदुपदेशेन, जन्ये जनकशब्दस्यात्रोपचारः 'गोभिः श्रुणीत मत्सरमि'त्यस्येव, ससं=सर्वत्रान्तः स्वपन्तं तं पूर्णं प्रत्यञ्चमात्मानम् । तदुक्तं निरुक्ते–ससं स्वपनमित्युच्यते स्वपनशीलमित्यर्थः (५।३) इति । गृभ्णन्ति=गृह्णन्ति–ग्राहयन्ति–बोधयन्ति, (अन्तर्गर्भितणिजन्तोऽयं) मुमुक्षून् तत्त्वबुभुत्सूनिति शेषः । यद्वा ते परमैकरसवस्त्वनुभवानन्तरं ससं=रसं वर्णव्यत्ययः । पूर्णानन्दामृतं, जिह्वयेत्युपलक्षणं जिह्वादिभिः सर्वैर्बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियैः, गृभ्णन्ति=आस्वादयन्ति–अनुभवन्तीत्यर्थः । यद्वा ससं=सस्यविकारभूतं सरसमनुत्तममन्नं जिह्वया गृह्णन्ति इति वाच्योऽर्थः । सरसान्नोपलक्षितविविधसम्मानपूजाधन्यवादादिभाजो भवन्ति ते रुद्रान्तर्यामिध्यायिनः । ये त्वतिकुतर्कव्यसनिनः पाखण्डिनस्तमन्तर्यामिणं रुद्रं वन्दितुमार्चितुं स्मर्तुं ध्यातुं वा नेच्छन्ति, ते जिह्वया पुरीषमेव शिवद्रोहनिन्दादिरूपं गृह्णन्ति, अतिनिन्दिता धिक्कृताश्च भवन्ति ते इति गम्योऽर्थः । स च

साधक यति, निश्चय से परमेश्वर के अनुग्रह से एवं साधनों के बल से प्राप्त-अभीष्ट-सिद्धि के अनन्तर-तत्त्वदर्शी जीवन्मुक्त हो कर, कारणरहित-करुणा के द्वारा प्रेरित हुए–जिह्वा से होने वाले-उस परब्रह्म के सदुपदेश द्वारा–जन्य-उपदेशरूप कार्य में जनक-जिह्वारूप कारण का यहाँ उपचार-गौण प्रयोग है–'गायों से यानी गौ से उत्पन्न होने वाले-घृतादियों से-मत्सर-यानी पुरोडाश-हवि को संयुक्त करें' इस वाक्य की भाँति–सस यानी सर्व के भीतर साक्षीरूप से शयन करने वाले-उस पूर्ण-प्रत्यगात्मा का ग्रहण करवाते हैं–बोधन करते हैं, मुमुक्षु-तत्त्वबुभुत्सुओं के प्रति, इतना शेषवाक्य है। 'सस' पद का अर्थ निरुक्त में कहा है–'सस-स्वपन कहा जाता है अर्थात् स्वपन-हृदय में सोने का स्वभाव वाला-आत्मा सस है।' इति । यद्वा वे साधक यति, परम-एकरस-वस्तु के अनुभव के अनन्तर, सस यानी रस, वर्ण का व्यत्यय 'स' के स्थान में 'र' हुआ है । रस अर्थात् पूर्णानन्द-अमृत का–जिह्वा के द्वारा, जिह्वा यहाँ उपलक्षण है । जिह्वा आदि बाहर एवं भीतर की समस्त इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण-आस्वादन-अनुभव करते हैं । यद्वा सस यानी सस्य-धान्य का विकाररूप-सरस-सर्वोत्तम-अन्न को जिह्वा द्वारा ग्रहण करते हैं, यह वाच्य-अर्थ है । सरस-अन्न से उपलक्षित-विविध-प्रकार का सम्मान, पूजा, धन्यवादादि के भजन-सेवन करने वाले होते हैं, वे अन्तर्यामी-रुद्र-शिव के ध्यान करने वाले–साधक । जो अति कुतर्क के व्यसनी-पाखण्डी हैं, एवं जो उस अन्तर्यामी-रुद्र-सदाशिव भगवान् का वन्दन-अर्चन-स्मरण एवं ध्यान करने की इच्छा नहीं करते हैं, वे जिह्वा के द्वारा पुरीष-विष्ठा–जो शिवद्रोह एवं निन्दारूपा है–उसी को ही ग्रहण करते हैं, वे शिवद्रोही-शिवनिन्दक अत्यन्त-निन्दित एवं धिक्कृत होते हैं, यह गम्य-

शिवद्वेषिणामतिगर्हितवृत्तित्वं स्पष्टयति । तदुक्तं पराशरस्मृतौ–'अन्तरिच्छति यो रुद्रं सदा वन्द्यं मनीषया । गृह्णाति जिह्वया सोऽयं रसं पूर्णामृतोपमम् ॥ अन्तर्नेच्छन्ति ये रुद्रं भवानीसहितं भवम् । पुरीषमेव गृह्णन्ति जिह्वया ते न संशयः ॥' इति ॥ एतेन बृहदारण्यकीयान्तर्यामिब्राह्मणोक्तं सर्वान्तर्यामित्वं परब्रह्मत्वाविनाभूतं शिवस्यैव सूचितं भवति । किञ्च हृदयान्तरेव तस्य सर्वात्मनः सर्वप्रकाशकस्य ज्ञानध्यानाभ्यां परिपक्वेन शुद्धेन मनसा साक्षात्कारो भवति । तं साक्षात्कृत्य सर्वेन्द्रियाणां माता[1] तत्र ज्ञानशक्तिनिर्मात्री यशोदा सद्बुद्धिः तस्यावर्णनीयं विमलानन्दमजस्रमास्वादयति–इत्यन्यो निगमोऽप्याह–'एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे । तं पाकेन मनसाऽपश्यमन्तितः तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम् ॥' (ऋ. १०।११४।४) इति । अयमर्थः–एकः=अद्वितीयः सजातीयविजाती-

लक्ष्य अर्थ है। यह शिव-द्वेषियों की अति-गर्हित-वृत्तिता-व्यवहार को स्पष्टरूप से दिखाता है। वह पराशरस्मृति में कहा है–'जो साधक-भक्त, सदा वन्दन करने योग्य-रुद्र-सदाशिव-भगवान् का मनीषा-सद्बुद्धि के द्वारा भीतर अन्वेषण या ध्यान करने की इच्छा करता है; वह जिह्वा के द्वारा पूर्ण-अमृत के सदृश दिव्य रस को ग्रहण करता है। जो भवानी-भगवती-शक्ति के सहित-रुद्र-विश्वस्रष्टा-भव-परमेश्वर का भीतर अन्वेषण या ध्यान करने की इच्छा नहीं करते हैं, वे जिह्वा से पुरीष का ही ग्रहण करते हैं, इसमें संशय नहीं है।' इति। इससे–'बृहदारण्यक-उपनिषत् के अन्तर्यामी-ब्राह्मण में कहा गया–सर्वान्तर्यामित्व–जो परब्रह्मत्व के अविनाभूत-सहकृत है–वह शिव-महादेव में ही है' –ऐसा सूचित होता है। और हृदय के भीतर ही उस सर्वात्मा–सर्वप्रकाशक-भगवान् का–ज्ञान एवं ध्यान के द्वारा परिपक्व-शुद्ध-मन से साक्षात्कार होता है। उसका साक्षात्कार करके सर्व-इन्द्रियों की माता–उनमें ज्ञानशक्ति का निर्माण करने वाली–यशोदा–सद्बुद्धि उसका-अवर्णनीय-विमल-आनन्द का निरन्तर आस्वादन करती है, ऐसा अन्य निगम-वेदमन्त्र भी कहता है–'वह एक ही सुपर्ण-परमात्मा संसार-समुद्र में आविष्ट-व्याप्त हुआ है। वही इस भूतसमुदायरूप-समग्र-भुवन को विशेषरूप से देखता है। उसको ज्ञान-ध्यान से परिपक्व मन के द्वारा मैं ने हृदय के भीतर ही साक्षात् देखा। माता-बुद्धि उस-आनन्द-निधि का आस्वादन करती है, और वह माता-बुद्धि को स्वादयुक्त बनाता है।' इति। इसका यह अर्थ है–एक-यानी अद्वितीय सजातीय-विजातीय-स्वगत

१ इन्द्रियैः स्वोपकारकत्वेन मान्यते पूज्यते या सा माता, मान पूजायाम् । माति इन्द्रियेषु स्वशक्त्या समाविशति या सा, निर्माति तेषु स्वज्ञानशक्तिं वा, मा माने इति व्युत्पत्तेः, बुद्धेरिन्द्रियमातृत्वमवगन्तव्यमिति ॥

यत्स्वगतभेदरहितः परमात्मा। स कीदृशः? इत्याह-सुपर्णः=सुपूर्णः-सु-शोभनैः सच्चिदानन्दादिलक्षणैः पूर्णः, सः=प्रसिद्धः, समुद्रं=समुद्रवं-सर्वतोगमनं तच्छीलं प्रतिक्षण-परिणमनस्वभावं नामरूपात्मकं द्वैतप्रपञ्च-जातं प्रसिद्धसमुद्रवदपारमगाधं, समुद्रवन्ति-प्राणिनः कर्मफलभोगार्थं यस्मिन् स इति निरुक्तेः। आविवेश=प्रविष्टवान्, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि'ति श्रुतेः। आविश्य च स इदं विश्वं=सर्वं, भुवनं=भूतजातं, विचष्टे=अनुग्राह्यतयाऽभिपश्यति। तं सर्व-प्रकाशकं स्वात्मारामं देवं, उपासकोऽहं पाकेन=ज्ञानध्यानाभ्यां परिपक्केन-शुद्धेन मनसा, अन्तितः=अन्तिके समीपे स्वहृदये एव, अपश्यं=अदर्शं साक्षात्कृतवानस्मि। तं=सत्यानन्दनिधिं साक्षात्कृतं भगवन्तं माता=शोभना बुद्धिः, रेळिह-आस्वादयति, लिह आस्वादने धातुः। सेयं तत्स्वानन्दा-स्वादं स्वपुत्रस्थानीयेषु सर्वेन्द्रियेष्वपि प्रय-च्छति। स उ=परमात्मा, मातरं-बुद्धिं, रेळिह-स्वानन्दास्वादयुक्तां करोतीत्यर्थः।

भेदरहित-परमात्मा। वह किस प्रकारका है? यह कहते हैं-सुपर्ण यानी सुपूर्ण, सु-शोभन-सत्-चित्-आनन्दादि लक्षणों से पूर्ण है, वह प्रसिद्ध परमात्मा, समुद्र यानी संसार-सागर में आविष्ट-प्रविष्ट हुआ है। समुद्र यानी सर्व तरफ से द्रवण-गमन करने का स्वभाव वाला, अर्थात् प्रतिक्षण में परिणत होने का स्वभाव वाला-जो यह नामरूपात्मक-द्वैत-प्रपञ्चसमुदाय है-जो प्रसिद्ध-समुद्र की भाँति अपार एवं अगाध है, जिस में कर्मफल-भोग के लिए प्राणी सम्यक्-द्रवण-गमनागमन करते रहते हैं, वह संसार समुद्र है, ऐसी उसकी निरुक्ति-व्युत्पत्ति है। 'इस विश्व का सर्जन करके वही इसमें प्रविष्ट हुआ है' इस तैत्तिरीय-श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। प्रविष्ट हो कर वह इस विश्व-समग्र भूतसमुदायरूप-भुवन को अनुग्राह्य-दयनीयरूप से देखता है। उस सर्व-प्रकाशक-स्वात्माराम-देव का उपासक-मैं ने ज्ञानध्यान से पाक-परिपक्व-शुद्ध मन से समीप में अर्थात् अपने हृदय के मध्य में ही साक्षात्कार कर लिया है। साक्षात् किये हुए-उस सत्य-आनन्दनिधि भगवान् का शोभन-बुद्धिरूप माता आस्वादन करती है। 'लिह' आस्वादन अर्थ की धातु है। वह बुद्धि उस परमात्मा के आनन्द के स्वाद का अपने पुत्र-स्थानापन्न-समस्त-इन्द्रियों में भी प्रदान करती है। वह परमात्मा माता-बुद्धि को अपने-आनन्द के आस्वाद से युक्त करता है। इति।

(६३)

(तपोऽनुष्ठानेन पवित्रः पुमानेव पूर्णात्मानं परमेश्वरं प्राप्तुं शक्नोति नान्यः)

(तप के अनुष्ठान से पवित्र हुआ पुरुष ही पूर्णात्मा-परमेश्वर को प्राप्त होने के लिए समर्थ होता है, अन्य नहीं)

शरीरवाङ्मनोभिः सम्यगनुष्ठितेन सात्त्विकेन तपसा स्वान्तशुद्धिमापन्नः पवित्रः पुमानेव सर्वव्यापिनं सर्वात्मानं भगवन्तं शास्त्रादिभिर्यथावज्ज्ञातुं निदिध्यासनपरिपाकेन तत्त्वतः साक्षात्कर्तुं तद्रूपतयाऽप्याप्तुं शक्नोति नान्य इत्युपदिशति—

शरीर, वाणी एवं मन से अच्छीप्रकार-अनुष्ठान किये गए—सात्त्विक-तप द्वारा अपने अन्तःकरण की शुद्धि को प्राप्त हुआ—पवित्र पुरुष ही सर्वव्यापी-सर्वात्मा-भगवान् को शास्त्र-आदि के द्वारा यथार्थ रूप से जानने के लिए—निदिध्यासन के परिपाक से वस्तुतः साक्षात्कार करने के लिए एवं तद्रूप से प्राप्त करने के लिए समर्थ होता है, अन्य नहीं, ऐसा वेदमन्त्र उपदेश देता है—

ॐ पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ! प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते, शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ९ सूक्त. ८३ ऋक्. १) (साम. ५६५।८७५। तै. आ. १।११।१। शां. मा. ११।२८)

'हे ब्रह्मणस्पते ! परमात्मन् ! तेरा पवित्र-पावनस्वरूप, सर्वत्र वितत-व्याप्त है । प्रभु-समर्थ तू समस्त-चराचर-पदार्थों के स्वरूपों को बाहर-भीतर व्याप्त कर रहा है । तप के द्वारा जिसने अपना तनु-सूक्ष्मशरीर परिशुद्ध नहीं किया है, ऐसा कच्चा-अशुद्धान्तःकरण-मनुष्य, आप के उस-पूर्ण-व्यापक स्वरूप को प्राप्त नहीं होता है । जो तप द्वारा परिपक्व-शुद्ध हुए हैं, एवं योगसाधन में तत्पर रहते हैं, वे ही उस पवित्र-स्वरूप को प्राप्त होते हैं ।'

हे ब्रह्मणस्पते !=हिरण्यगर्भस्य सूत्रात्मनोऽपि पालक ! यद्वा ब्रह्मणः=वेदस्य, पते !=रक्षक ! ते=तव, पवित्रं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं निर्विकारं परमं पावनं स्वरूपं, विततं=सर्वत्र विस्तृतं, वर्तते इति शेषः । यद्वा पवित्रं=पविः—वज्रं तत्सदृशं भयहेतुभूतमज्ञानं 'महद्भयं वज्रमुद्यतमि' (कठ. २।६।२) ति श्रुतेः । तस्मात्त्रायते स्वभक्तं भेदभ्रान्तिमुन्मूल्य निरातङ्के निजमहिमन्यवस्थापयन् रक्षतीति तत्तादृशं पवित्रं भवभयहरं परमसुखकरं ते स्वरूपं सर्वत्र समनुस्यूतं वर्तते इति । अतस्त्वं प्रभुः=प्रभविता—सर्वसमर्थो विश्वनियन्ता नारायणः, विश्वतः=विश्वेषां चराचरपदार्थानां ('सार्वविभक्तिकस्तसिः') गात्राणि=कलेवराणि—स्वरूपाणि, विश्वतः इति तन्त्रेणोचरितमि-

हे ब्रह्मणस्पते ! यानी सूत्रात्मा-हिरण्यगर्भ का भी पालक ! यद्वा ब्रह्म-वेद का पति-रक्षक ! । तेरा पवित्र-नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव वाला-निर्विकार-परम-पावन स्वरूप सर्वत्र वितत-विस्तृत-वर्तमान है । 'वर्तते' ऐसा शेष है । यद्वा पवित्र यानी पवि-वज्र, उसके समान भय का हेतुरूप-अज्ञान-पवि है । 'महान् भयरूप उठाया हुआ वज्र' ऐसा कठ श्रुति भी कहती है । उससे जो त्राण करता है—अपने भक्त का—भेदभ्रान्ति का उन्मूलन करके-निरातङ्क-उपद्रववर्जित-अपनी महिमा में जो स्थापित करता हुआ—रक्षण करता है, इस प्रकार का पवित्र-भवभय का हरने वाला-परम-सुखकर तेरा स्वरूप सर्वत्र सम्यक्-अनुस्यूत हो कर वर्तता है । इसलिए तू प्रभु-सर्वसमर्थ-विश्व का नियन्ता नारायण है । विश्व के चराचर-पदार्थों के गात्र यानी कलेवर-स्वरूपों को-मन्त्र का—'विश्वतः' यह पद तन्त्र से

दम्। विश्वतः=अन्तर्बहिरूर्ध्वमधः सर्वतः, पर्येषि=परिगच्छसि-समाप्नोपि। एवं तव तत्पवित्रं व्यापकं स्वरूपं-अतप्ततनूः=तपसाऽसंतप्तगात्रः-तपोऽनुष्ठानेन येन पुंसा तनुः=स्वकीयं सूक्ष्मशरीरं न सन्तापितं-'हुताशने कनकमिव' न परिशोधितं-न विशुद्धं विहितमिति यावत्। स पुमान् आमः=अपरिपक्वः-अशुद्धान्तःकरणः, नाश्नुते=न समाप्नोति। एवमतप्ततपसो भगवत्स्वरूपप्राप्त्यभावमुक्त्वा तप्ततपसस्तत्प्राप्तिमाह-शृतासः=शृताः-परिपक्वाः-तपसा शुद्धस्वान्ताः पापमलवर्जिताः, इत्=एव, वहन्तः=योगाभ्यासं निर्वहन्तः-साधयन्तः केचन महाभागाः तत्पवित्रं भगवत्स्वरूपं समाशत=समाप्नुवन्तीत्यर्थः। अत एव तपसो माहात्म्यं तपःपरायणानां महानुभावानां संगतिश्च कर्तुमादेशं ऋगन्तरमप्याभनति-'तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः। तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥' (ऋ. १०।१५४।२) इति। अयमर्थः-ये=महोदयाः, तपसा=सत्यब्रह्मचर्यादिना युक्ताः सन्तः, अनाधृष्याः=पापैरप्रधृष्याःसदा पुण्यजीवनाः पावनाः तेजस्विनो भवन्ति। ये च तपसा=श्रेयःसाधनेन, स्वः=तुष्टिपुष्टिशान्तिपुरःसरं विमलानन्दं, ययुः=यान्ति ये-प्राप्नुवन्ति च महः=महत् स्तुत्यं वा तपः=शास्त्रप्रतिपादितं शिष्टानुष्ठितं सत्कर्मोपासनादिलक्षणं तपः, चक्रिरे=कुर्वन्ति। तांश्चित्=तानेव महानुभावान् तपस्विनः, हे स्वश्रेयोऽभिलाषुक! त्वं अपिगच्छ=प्राप्नुहि, तेषां सङ्गतिं कुरु। तत्सङ्गत्या त्वं तादृशो

उच्चरित है-अन्तर्बहिः ऊपर नीचे-सर्व तरफ से तू सम्यक् व्याप्त कर रहा है। इस प्रकार के तेरे उस पवित्र-व्यापक-पूर्णस्वरूप को-जो अतप्ततनू है अर्थात् जिस पुरुष ने तप के अनुष्ठान से अपना तनु-सूक्ष्मशरीर संतप्त-'अग्नि में सुवर्ण की भाँति' परिशुद्ध-नहीं किया है-ऐसा आम-अपरिपक्व अर्थात्-अशुद्धान्तःकरण पुरुष प्राप्त नहीं होता है। इस प्रकार तप से तप्त-शुद्ध नहीं होने वाले-मनुष्य को भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति के अभाव को कह करके, तप से तप्त-शुद्ध हुए-मनुष्य को उसकी प्राप्ति कहते हैं-शृतासः यानी परिपक्व-तप से जिनका स्वान्त-हृदय-शुद्ध हो गया है, जो पाप-मल से वर्जित-रहित हैं, जो-योगाभ्यास का वहन-साधन करते हैं, वे ही-कोई महाभाग, उस पवित्र-भगवान् के पूर्ण-स्वरूप को प्राप्त होते हैं। इसलिए तप के माहात्म्य का-एवं तपःपरायण महानुभावों की संगति करने का-उपदेश अन्य-ऋक्-मन्त्र भी करता है-'तप द्वारा जो पापादि से अभिभूत नहीं हुए हैं, एवं जो तप द्वारा विमल आनन्द को प्राप्त हुए हैं। जो महान् तप को करते रहते हैं, उन तपस्वी-महानुभावों को तू प्राप्त हो अर्थात् तू उनकी संगति कर।' इति। इसका यह अर्थ है-जो महोदय, सत्य-ब्रह्मचर्यादि-रूप-तप से युक्त हुए-अनृतादि-पापों से अप्रधृष्य-अनभिभूत हैं, अर्थात् जो सदा पुण्यजीवन, पावन एवं तेजस्वी हैं तथा जो कल्याण का साधनरूप तप द्वारा तुष्टि-पुष्टि-शान्ति-पूर्वक स्व यानी विमल-दिव्य आनन्द को प्राप्त होते हैं। तथा जो महान् या स्तुत्य शास्त्रप्रतिपादित-शिष्टों से अनुष्ठित-सत्कर्म-सदुपासनादिरूप तप को करते हैं, उन ही महानुभाव-तपस्वियों को-हे अपने श्रेयः-कल्याण की अभिलाषा करने वाला! सज्जन! तू प्राप्त हो, अर्थात् उनकी संगति कर। उनकी संगति द्वारा तू उस प्रकार

भूत्वा नूनं निःश्रेयसमवाप्स्यसि इति भावः। तपः कर्तुं आदेशं च प्रतिज्ञामप्याह—'त्वं तपः परितप्य अजयः स्वः' (ऋ. १०।१६७।१) 'अग्ने! तपस्तप्यामह उपतप्यामहे तपः।' (अथर्व. ७।६३।२) इति। एवं तपसःपरमं महत्त्वं तैत्तिरीयारण्यकेऽप्यभिहितम्—'तपसा देवा देवतामग्र आयन्, तपसर्षयः सुवरन्वविन्दन्, तपसा सपत्नान्प्रणुदामारातीः, तपसि सर्वं प्रतिष्ठितम्, तस्मात्तपः परमं वदन्ति।' (परिशिष्टः ७९) इति। अयमर्थः—देवाः=अग्नीन्द्रादयो अग्रे=पूर्वजन्मनि, अनुष्ठितेन तपसा, देवतां=देवत्वं, आयन्=प्राप्तवन्तः। तथा ऋषयः=वसिष्ठविश्वामित्रादयो महर्षयः, तपसा, सुवः=स्वर्गलोकं अन्वविन्दन्=क्रमशः लब्धवन्तः। तथा वयमपि साधकाः, तपसा सपत्नान्=शत्रून् कामादीन्, अरातीः=मोक्षपरिपन्थिनः, प्रणुदाम=निराकुर्मः। अन्यदपि सर्वाभीप्सितमखिलं फलजातं तपसि प्रतिष्ठितम्, तस्मात् तपः परमं मोक्षसाधनमिति वदन्तीत्यर्थः। 'तपसा युजा विजहि शत्रून्' (ऋ. १०।८३।३) 'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्।' 'एतत्खलु वाव तपः इत्याहुः यत् स्वं ददाति।' (तै. सं. ६।१।६) 'तपसा वै लोकं जयन्ति।' (शत, ३।४।४।२७) इत्यादिकमपि श्रौतवचनजातमत्रानुसंधेयम्।

एवं तपोमहत्त्वं योगभाष्ये परमर्षिणा भगवता बादरायणाचार्येणाप्यभ्यधायि—'नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति, अनादिकर्मक्लेशवासनाविचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला

का हो कर निश्चय से कल्याण को प्राप्त होगा, यह भाव है। तप करने का आदेश, तथा तप की प्रतिज्ञा का प्रतिपादन ये मन्त्र करते हैं—'तू तप कर एवं तप के द्वारा तू दिव्य-सुख का विजय कर।' इति। 'हे अग्ने! भगवन्! हम तप करते हैं, शीघ्र ही तप करते हैं।' इति। इस प्रकार तप का परम-महत्त्व तैत्तिरीय-आरण्यक में भी कहा है—'तप के द्वारा इन्द्रादि देव, देवत्व को प्राप्त हुए हैं, तप के द्वारा ही ऋषिगण स्वर्गलोक को प्राप्त हुए हैं। तप के द्वारा ही हम कल्याणपरिपन्थी कामादि शत्रुओं का निराकरण करते हैं। तप में ही सब कुछ प्रतिष्ठित है, इसलिए तप ही परम-श्रेष्ठ है, ऐसा कहते हैं।' इति। इसका यह अर्थ है—अग्नि-इन्द्र-आदि देव, अग्रे यानी पूर्व-जन्म में अनुष्ठित-तप के द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए हैं। तथा वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि ऋषि-महर्षि, तप के द्वारा सुवः यानी स्वर्गलोक को क्रमशः प्राप्त हुए हैं। तथा हम भी साधक, तप के द्वारा कामादि शत्रुओं का—जो मोक्ष के परिपन्थी हैं—निराकरण करते हैं। अन्य भी—सब से अभीप्सित-समस्त फल-समुदाय तप में प्रतिष्ठित है, इसलिए तप ही श्रेष्ठ मोक्ष का साधन है, ऐसा शास्त्राचार्य्य कहते हैं। इति। 'सहायक-तप के द्वारा ही तू शत्रुओं का विध्वंस कर।' 'भृगु-एवं अङ्गिरा-महर्षियों के तप जैसा ही तुम तप करो।' 'यही निश्चय से तप है, ऐसा कहते हैं, जो दिव्य-सुख का दान करता है।' 'निश्चय से तप से ही अभीष्ट-लोक का जय करते हैं।' इत्यादिक-श्रुतियों के वचनसमुदाय का भी यहाँ अनुसंधान करना चाहिए।

इस प्रकार तप का महत्त्व योगभाष्य में परमर्षि-भगवान्-बादरायणाचार्य्य ने भी कहा है—'अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता है, अनादि-कर्म-क्लेश एवं वासनाओं से विचित्र हुई—तथा प्रत्युपस्थित-

चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यते इति ।' (२।१)। मनुनापि प्रत्यपादि-'यद् दुस्तरं यद् दुरापं च यद् दुर्गं यच्च दुष्करम् । सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥' (मनु. ११।२४१) इति । श्रीमद्भागवतेऽपि-'तपसैव परं ज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजम् । सर्वभूतगुहावासमञ्जसा विन्दते पुमान् ॥' (३।१२।१९) इति । महाभारतेऽपि—'तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः । तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान् मनसेच्छति ॥' (शां. प. मो. २३२।२२) इति । तपसः स्वरूपभेदाश्च शास्त्रेषु वर्ण्यन्ते-तथाहि-'तपसाऽनाशकेन' (बृ. ४।४। २२) इति । तपःशब्देनात्र कामानशनत्वं हितमितमेध्याशित्वञ्च गृह्यते । धातुवैषम्याधापादकं शरीरातिशोषणं चिरोपवासादिलक्षणं तामसं तपः चित्तप्रसादविरोधित्वान्नानुष्ठेयमिति श्रौतमनाशकं पदं सूचयति इत्यर्थः । अत एवैतादृशेन-'ऋषयस्तपसा वेदानध्यैषन्त दिवानिशम् ॥' (म. भा. शां. २३२।२४) इति । भगवान् कृष्णोऽपि गीतासु शारीरादिभेदेन तपसस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् । ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं

वर्तमान विषयों की जाल से ग्रथित हुई-हृदय की अशुद्धि, तप के विना-विध्वस्त नहीं होती है ।' इति । मनु ने भी प्रतिपादन किया है-'जो दुस्तर-दुष्पार है, जो दुराप-बड़े-दुःख द्वारा प्राप्य है, जो दुर्ग-अनेक विघ्नसंयुक्त है, एवं जो दुष्कर है, वह सब तप से साध्य है, क्यों कि-तप दुरतिक्रम है-अर्थात् अभीष्टार्थसाधक-तप का वेग, किसी से भी अभिभूत नहीं होता ।' इति । श्रीमद्भागवत में भी कहा है-'तप से ही-परं ज्योति भगवान् अधोक्षज (अक्ष-इन्द्रिय-जन्य ज्ञान जिसने अधः-तिरस्कृत कर दिया है वह)-जिसका सर्वभूत-प्राणियों की बुद्धि-गुहा में निवास है-उसको पुरुष शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ।' इति । महाभारत में भी कहा है-'मनुष्य के लिए तप ही कल्याण का साधन है, उसका मूल-कारण शम एवं दम है । उस तप के द्वारा-मन से जिन कामों की इच्छा करता है-उन सब को प्राप्त कर लेता है ।' इति । और तप के स्वरूप-विशेषों का शास्त्रों में वर्णन किया है-तथाहि-'अनाशक-तप से' इति । तपः शब्द से यहाँ इन्द्रियास्वाद की कामना से अशन-भोजन नहीं करना, किन्तु हित-मित-मेध्य (पवित्र)-आहार का ही भोजन करना रूप तप का भी ग्रहण किया जाता है । धातुओं की विषमता का आपक-शरीर का अतिशोषणरूप-चिर-उपवासादिरूप तामस तप, चित्त की प्रसन्नता का विरोधी होने से अनुष्ठेय नहीं है, ऐसा बृहदारण्यक-श्रुति में स्थित 'अनाशक' पद सूचित करता है । इति । अत एव इस प्रकार के 'सात्त्विक तप द्वारा ही ऋषिगणों ने रात्रि दिन वेदों का अध्ययन किया था ।' इति । भगवान् कृष्ण भी गीता में शारीर आदि के भेद से तप के त्रैविध्य का-तीन श्लोकों के द्वारा प्रतिपादन करते हैं-'देव, द्विज, गुरु एवं विद्वानो का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा यह

तप उच्यते ॥ अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत् । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ मनःप्रसादसौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः । भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते" ॥ (१७।१४+१५+१६) इति । अत एव कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयारण्यके ऋतादीनां तपःस्वरूपतयाऽभिवर्णयन्नाह–'ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपो भूर्भुवःसुवर्ब्रह्मैतदुपास्यैतत्तपः ।' (१०।१) इति । ऋतं=ऐकाग्र्येण मनसा यथार्थवस्तुचिन्तनम् । सत्यं=वाचा यथार्थभाषणम् । श्रुतं=वेदादिशास्त्राणां गुरुमुखाच्छ्रवणम् । शान्तं=शान्तिः–सकलकामनानिवृत्तिः । दमः=बाह्येन्द्रियाणां विषयासक्तिनिवृत्तिः । शमः=चाञ्चल्याभावः क्रोधादिराहित्यं वा, दानं=परोपकारः, धनेषु स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परेभ्यः सत्पात्रेभ्यः स्वत्वापादनं वा । यज्ञः–अग्निहोत्रादीनि श्रौतस्मार्तशुभकर्माणि–तदेतत्सर्वं साधनजातं तपः । भूरादिलोकत्रयात्मकविराड्देवरूपं यद्विश्वरूपं ब्रह्मास्ति 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितं तदेतत् हे मुमुक्षो ! त्वमुपास्व=विजातीयप्रत्ययरहितं तद्विषयकसजातीयप्रत्ययप्रवाहं कुरु । एतदुपासनमपि तप एवेत्यर्थः । भागवते च

शारीरक-तप कहा जाता है । किसी को उद्विग्न नहीं करने वाला–सत्य-प्रिय एवं हितकर-वचन, तथा स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप कहा जाता है । मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, मनोनिग्रह एवं भावों की संशुद्धि-निष्कपटता-सद्भावना-शिवसंकल्प आदि मानसिक तप कहा जाता है ।' इति । अत एव कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीयारण्यक में ऋत आदिकों का तपःस्वरूप से वर्णन करता हुआ वेद कहता है–'ऋत तप है, सत्य तप है, श्रुत तप है, शान्त तप है, दम तप है, शम तप है, दान तप है, यज्ञ तप है, भूर्भुवःसुवःरूप-विश्वरूप-ब्रह्म की तू उपासना कर, यह भी तप है ।' इति । ऋत यानी एकाग्र-मन से यथार्थ-पारमार्थिक-वस्तु का चिन्तन । सत्य यानी वाणी के द्वारा यथार्थ भाषण । श्रुत यानी वेदादि शास्त्रों का गुरुमुख से श्रवण । शान्त यानी शान्ति-सकल-कामनाओं की निवृत्ति । दम यानी बाह्य-इन्द्रियों की विषयासक्ति की निवृत्ति-संयम । शम यानी चञ्चलता-बहिर्मुखता का अभाव या क्रोधादि का अभाव । दान यानी परोपकार, या धनों में अपने स्वत्व-मेरापन की निवृत्तिपूर्वक अन्य-सत्पात्रों के लिए स्वत्व का आपादन । यज्ञ यानी अग्नि-होत्रादि-श्रौत-स्मार्त शुभ कर्म, वही यह समस्त साधनसमुदाय तप है ।' भूः आदि लोकत्रयात्मक-विराट्देवरूप-जो विश्वरूप-ब्रह्म–'सहस्रशीर्षा' आदि श्रुति से प्रतिपादित है–उसकी हे मुमुक्षो ! तू उपासना कर अर्थात् विजातीय-वृत्तियों से रहित एवं ब्रह्मविषयक सजातीय-वृत्तियों का एकतान-प्रवाह कर । इस ब्रह्म की उपासना भी तप है । इति । तथा

[1] प्रसादः–स्वच्छता–प्रसन्नता वेत्यर्थः । सौम्यत्वं=विषयचिन्ताव्याकुलत्वाभावः । मौनं=एकाग्रतया तत्त्वचिन्तनम् । आत्मविनिग्रह=मनोवृत्तिनिरोधः समाधिरिति यावत् । भावसंशुद्धिः=व्यवहारेषु मायाराहित्यम् । सर्वलोकहितचिन्तनलक्षणसद्भावनावत्त्वम् इत्यर्थः ।

'किं तपः ?' इत्युद्धवेन पृष्टो भगवान्-'कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।' (११।२०।२७) इति, तपसः सकलसंसारकामनात्याग एव स्वरूपमाह । योगभाष्ये-'तपो द्वन्द्वसहनम् । द्वन्द्वश्च जिघत्सापिपासे, शीतोष्णे स्थानासने काष्ठमौनाकारमौने च । व्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि ।' (२।३२) इति । तैत्तिरीयोपनिषद्यपि प्रतिपाद्यते-'स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः, तद्धि तपस्तद्धि तपः' (१।९) इति । स्वाध्यायः=वेदाध्ययनं, प्रवचनं=तदध्यापनं तत्सदुपदेशप्रचारो वा । जाबालदर्शनोपनिषद्यपि निरूप्यते-'वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥ को वा मोक्षः कथं बन्धः संसारं प्रतिपन्नवान् । इत्यालोचनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः॥' (२।३+४) इति । अथर्वसंहितायामपि-'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।' (११।१७) इति । अन्यत्रापि च-'मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।' (म. भा. शां. प. २५।४) इति । अपरोक्षानुभूतावपि श्रीमदस्मदाचार्येण-'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात् ।' इति । योगभाष्ये पुनरप्यभिधीयते-'तपो न परं प्रा-

भागवत में 'तप क्या है ?' ऐसा उद्धव से पूछा गया भगवान् श्रीकृष्ण-'कामों का त्याग ही तपः स्मृत है ।' इस उत्तर से संसार की समस्त-कामनाओं का त्याग ही तप का स्वरूप है-ऐसा कहते हैं । योगभाष्य में कहा है-सुखदु.खादि-द्वन्द्वों का सहन तप है, जिघत्सा-खाने की इच्छा, पिपासा-पीने की इच्छा, शीत-उष्ण, स्थान-आसन, काष्ठ-मौन एव आकार-मौन ये सब भी द्वन्द्व हैं । योग्यता के अनुसार कृच्छ्र-चान्द्रायण, सान्तपन आदि व्रत करना भी तप है ।' इति । तैत्तिरीय-उपनिषत् में भी प्रतिपादन किया गया है-'स्वाध्याय एव प्रवचन ही श्रेष्ठ कर्म है' ऐसा नाकमौद्गल्य नाम का प्रसिद्ध ऋषि कहता है, क्योंकि 'वही तप है, वही तप है ।' इति । स्वाध्याय यानी वेदादि शास्त्रों का अध्ययन । प्रवचन यानी वेदादि का अध्यापन पढाना, या उसके सदुपदेशों का प्रचार। जाबाल-दर्शन-उपनिषत् में भी निरूपण किया है-'वेदोक्त-प्रकार से कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि के द्वारा जो शरीर का शोषण किया जाता है, वह तप है ऐसा पण्डित कहते हैं । मोक्ष क्या है ? तथा बंध क्या है ? इस संसार को मैं कैसे प्राप्त हुआ हूँ ? इस प्रकार का आलोचन-विचार को अर्थज्ञ-पण्डित तप कहते हैं ।' इति । अथर्व-संहिता में भी कहा है-'ब्रह्मचर्यरूप तप के द्वारा देवों ने मृत्यु का विध्वंस किया ।' इति । अन्य शास्त्र में भी कहा है-'मन की एवं इन्द्रियों की एकाग्रता का नाम ही परम तप है ।' इति । अपरोक्षानुभूति नाम के ग्रन्थ में अस्मदाचार्य श्रीमान् शंकरस्वामी ने भी कहा है-'अपने वर्ण एवं आश्रम के धर्मों का पालन करना भी तप है, उससे श्रीहरि संतुष्ट होता है ।' इति । पुनः योगभाष्य में भी कहा जाता है-'प्राणायाम से बढ़ कर और कोई तप नहीं है, क्योंकि-प्राणायाम से

१ काष्ठमौन-इङ्गितेनापि स्वाभिप्रायाऽप्रकाशनम् । अवचनमात्रमाकारमौनम् । इति ।

णायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।' (२।५२) इति। किञ्च व्रताद्यात्मकं तपोऽपि यावच्चित्तप्रसादनमबाधमानं भवेत्तावत्तदनुष्ठेयं, धर्मसर्वस्वभूतस्य शरीरस्यापि प्रयत्नतो रक्षणीयत्वात्। अतस्तावन्मात्रमेव तपश्चरणीयं न यावता धातुवैषम्यमापद्येत इति।

केचनात्र वैष्णवाभासाः—'लोहादिधातुनिर्मितयाऽनलतप्तया शङ्खचक्राकारमुद्रया यावन्न संतप्तगात्रो भवति, तावद्भगवत्सामीप्यं नाप्नोतीत्यनेन 'अतप्ततनूर्नाश्नुते' इति श्रुतिवचनेन वर्णयन्ति। तदुपहासास्पदमेव, श्रुतौ तप्तमुद्रापदाभावात्; अन्यथा तप्तशिलारोहणादिकं जैनमतमप्यनेन कथं न समर्थितं भवेत्? किमपराद्धं तेन? मुद्रादग्धगात्रसामीप्यमोक्षयोः साध्यसाधकभावाभावाच्च, अन्यथा दग्धगात्राणां सर्वेषां साधनान्तरमन्तरेण मोक्षापातात्। श्रुत्यादौ वर्णितं—प्रसिद्धञ्च तपः परित्यज्य कपोलकल्पनयाऽप्रसिद्धं तद्वर्णयन्तोऽयुक्तिकञ्च ब्रुवाणास्ते वराका दण्डेनापि न निवारिता भवन्तीत्यनुसन्धायोपेक्षणीया विद्वद्भिरेते 'न हि रुतमनुरौति ग्रामसिंहस्य सिंहः' इति न्यायादिति॥

ही मल-पापों की विशुद्धि होती है, एवं महात्म-ज्ञान की दीप्ति होती है।' इति। और व्रत आदि रूप तप भी जब तक चित्त की प्रसन्नता का बाध न हो, तब तक ही अनुष्ठेय है, क्योंकि—धर्म का सर्वस्वरूप-शरीर की भी प्रयत्न से रक्षा करने योग्य है। इसलिये व्रतादि रूप तप उतना ही करने योग्य है कि—जितने से वात-पित्तादि-धातुओं की विषमता प्राप्त न हो। इति।

यहाँ कुछ वैष्णवाभास—'लोह आदि धातु से निर्मित-अग्नि से संतप्त—शंख-चक्राकार मुद्रा से मनुष्य, जब तक अपने शरीर को संतप्त-अंकित-नहीं करता है, तब तक वह भगवान् के सामीप्य मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है' ऐसा 'अतप्ततनूर्नाश्नुते' इस श्रुतिवचन के द्वारा वर्णन करते हैं। यह श्रुति का वर्णन केवल उपहासास्पद ही है, क्योंकि—इस श्रुति में तप्तमुद्रा पद का अभाव है। अन्यथा—तप्तमुद्रा पद की कल्पना करने पर—तप्त-शिला का आरोहण आदि जैनों का मत भी इस श्रुति से क्यों न समर्थित हो? उस मत ने क्या अपराध किया? और मुद्रा से दग्ध गात्र का एवं सामीप्यमोक्ष का साध्य-साधकभाव भी तो नहीं है, अन्यथा-साध्य-साधकभाव मानने पर-समस्त दग्ध गात्र-मनुष्यों का अन्य साधन के बिना ही मोक्ष हो जाना चाहिए। श्रुति आदि-शास्त्रों में वर्णित-प्रसिद्ध तप का परित्याग करके कपोल-कल्पना से अप्रसिद्ध-उस मुद्रा-दग्ध-गात्रत्व आदि का वर्णन करते हुए—युक्तिरहित-बोलते हुए वे वराक-दुराग्रही दण्डे से भी निवारित नहीं होते हैं, ऐसा अनुसंधान—विचार करके विद्वानों को—'सिंह कुत्ते के भौंकनेके पीछे नहीं भौंकता है।' इस न्याय से-उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। इति।

(६४)

(परमेशानस्तुतयः सर्वाभीप्सितार्थसाधिकाः सन्ति)

(परमेश्वर की स्तुतियाँ समस्त-अभीष्ट-अर्थ को सिद्ध करती हैं)

श्रद्धाभक्तिभरसमुपेतया स्तुत्या परमेशानमजस्रं चिन्तयतां निखिला अभीप्सितार्थाः सिद्ध्यन्तीत्युपदिशन्ति मन्त्रद्रष्टारो महर्षयः—

श्रद्धा एवं भक्ति के भार से संयुक्त-स्तुति द्वारा परमेश्वर का निरन्तर चिन्तन करने वाले साधक भक्तों के निखिल-अभीष्ट-अर्थ सिद्ध होते हैं, ऐसा मन्त्रद्रष्टा-महर्षि उपदेश करते हैं—

ॐ अभि त्वा शूर! नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र! तस्थुषः॥

(ऋग्वेद, मण्ड. ७ सूक्त. ३२, ऋक् २२। साम. २३३।६८०। अथर्व. २०।१२१।१। शु. य. २७।३५। तै. सं. २।४।१४।२)

'हे शूर!—अनन्तबलनिधे! हे इन्द्र-परमात्मन्! जिस प्रकार क्षुधार्त-पयःपान के इच्छुक-बछड़े, अपनी गौ-माता का चिन्तन करते हुए पुकारते हैं, इस प्रकार हम, स्थावर एवं जंगम-समस्त विश्व के नियामक-निरतिशय-सुख-एवं सौन्दर्यनिधि-दर्शनीय-तुझ परमेश्वर की स्तुति-चिन्तन करते हुए पुकारते हैं। अथवा जिस प्रकार नहीं दुही हुई दुध वाली पुष्ट-गायें दुग्धामृत को समर्पण करती हैं, तिस प्रकार तेरी स्तुतियाँ सकलेष्टार्थ को सिद्ध करती हैं।'

हे शूर!=अनन्तवीर्यामितपराक्रम! हे इन्द्र!=परमैश्वर्यसम्पन्न! सम्बोधने चेमे परमेशानस्य। त्वा=त्वां परमेशानं, अभिनोनुमः=भृशमभिष्टुमः—सर्वतोऽतिशयेन स्तुतिं कुर्म इत्यर्थः। इव=यथा, अदुग्धाः=न पीतं दुग्धं यैस्ते—दुग्धपानरहिताः क्षुधार्ताः पयोऽर्थिनो वत्साः, धेनवः=दोग्ध्रीर्गाः, (द्वितीयाऽर्थे प्रथमा) मातृगुणमनुसन्धाय 'हम्वा'रवेण पौनःपुन्येनाकारयन्तश्चिन्तयन्ति, तथा तावका वयं तव दिव्यसद्गुणानसकृदभिधायाभिमुख्येनाजस्रं त्वामेवाकारयन्तश्चिन्तयामः। 'स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः' (६।११।२६) इति श्रीमद्भागवतेऽपि स्मरणात्। अदुग्धाः पय-

हे शूर! यानी अनन्तवीर्य एवं अमित-पराक्रम से संयुक्त! हे इन्द्र! परम-ऐश्वर्य से सम्पन्न!। ये दो सम्बोधन-परमेशान-भगवान् के हैं। तुझ-परम-ईशान की हम अतिशय करके सर्वतोभावेन स्तुति करते हैं। इव-यथा—जैसे, अदुग्धा—जिन्हों ने दुग्ध का पान नहीं किया है, ऐसे दुग्धपानरहित-क्षुधार्त्त-पयःपान के इच्छुक-बछड़े, दूध देने वाली अपनी माता गायों का—माता के स्नेहादि-गुणों का अनुसंधान करके 'हम्बा-रव' से पुनः पुनः पुकारते हुए चिन्तन करते हैं, तद्वत् तेरे हम, तेरे दिव्य सद्गुणों का बार बार कथन करके अभिमुखता-एकाग्रतापूर्वक निरन्तर तुझ को ही पुकारते हुए तेरा ही चिन्तन करते हैं। 'जिस प्रकार क्षुधा से पीड़ित-छोटे बछड़े स्तन्य-दूध के लिए पुकारते हैं।' ऐसा श्रीमद्भागवत में भी स्मरण किया गया है। नहीं

स्नुता धेनवो वत्सानिवेति न व्याख्यातम्। यतः स्नेहसाम्येऽप्युपासकस्य मातृतोपास्यस्य वत्सतेति हीनोपमादोषप्रसङ्गात्। अथवा— तव भगवतः क्रियमाणाः स्तुतयो मनुष्याणामखिलमभीप्सितं दुग्धामृतं प्रस्रवन्तीत्येतद्दृष्टान्तेनाह—अदुग्धा इव धेनवः= अदत्तं दुग्धं याभिस्ताः—अदुग्धाः—घटोध्न्यः स्तनभारमन्थराः स्वयं च्युतपयसा भूमिं कर्दमीकुर्वन्त्यो 'हम्बारवेण' दोग्धारमाकारयन्त्यो गावो यथा स्वादुतरं स्फीतं क्षीरामृतं समर्पयन्ति, तद्वत् त्वदीयाः स्तुतयः सकलमभीष्टं स्तोतृभ्योऽनायासतः समर्पयन्तीति शेषः। स्तोतारः कीदृशं त्वां मत्वा स्तुवन्ति ? इत्यत आह—अस्य=विविधप्रमाणगम्यस्य, जगतः=कार्यकारणात्मकस्य प्रपञ्चस्य जङ्गमस्य, ईशानं=नियन्तारं, जंगमभागस्य नियन्तृत्वमुक्त्वा स्थावरभागस्य तदाह—ईशानं=ईश्वरं, तस्थुषः=स्थावरस्य जगतोऽपि। ईशानमिति पदस्यावृत्तिरादरार्था। पुनः कीदृशं त्वां ? स्वः=निरतिशयसुखं, दृशं=दर्शनीयं सौन्दर्यनिधिं परमप्रेमास्पदं—स्वयंप्रकाशमानन्दात्मानमिति

दोही हुई-दूध जिन्हों का स्तनों से चू रहा है—ऐसी गायें जैसे बछड़ों का चिन्तन करती हैं' ऐसा व्याख्यान यहाँ नहीं किया। क्योंकि—स्नेह की समानता होने पर भी उपासक में मातृत्व, एवं उपास्य में वत्सत्वरूप हीन-उपमा का दोष प्राप्त हो जाता है। अथवा—तुझ भगवान् की की जाने वाली स्तुतियाँ मनुष्यों के समस्त-अभीष्ट-जो दुग्ध के समान-अमृतरूप-आह्लादक है—उसका प्रस्रवण-समर्पण करती हैं, यही दृष्टान्त से कहते हैं— 'अदुग्धा इव धेनवः' नहीं दिया है दुग्ध जिन्हों ने वे अदुग्धा-गायें—जिन्हों का घड़े के समान-विपुल-ऊध-स्तन हैं—जो विपुल-स्तन के भार से धीरे-धीरे अलसाती हुई चलती हैं—जो आप ही गिरने वाले-दूध से भूमि को किचड़ वाली करती जाती हैं एवं जो 'हम्बा' रव-आवाज से दोग्धा गोपाल को पुकारती हैं, ऐसी गायें जिस प्रकार अत्यन्त-स्वादु-सफेद-दुग्धामृत का समर्पण करती हैं, तद्वत् तुझ-परमेश्वर की स्तुतियाँ सकल-अभीष्ट का स्तोताओं के लिए अनायास से समर्पण करती हैं, इतना शेषवाक्य है। स्तुति करने वाले-भक्त तुझ को किस प्रकार का मान करके स्तुति करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—इस जगत् का—जो प्रत्यक्षादि विविध-प्रमाणों से जाना जाता है—जो कार्यकारण रूप है—जंगम-चेष्टा करने वाले-प्राणधारियों का समुदायरूप-प्रपञ्च है—उसका-ईशान-नियन्ता परमेश्वर है। जंगम-भाग के नियन्तृत्व का कथन करके अब स्थावर भाग के नियन्तृत्व को कहते हैं—तस्थिवान् स्थावर-जड़-जगत् का भी वह ईशान-ईश्वर है। 'ईशानं' इस पद की आवृत्ति आदर-सम्मान के लिए है। पुनः किस प्रकार का मान करके भक्त तेरी स्तुति करते हैं ? स्वः यानी निरतिशय-अखण्ड-सुखरूप, दृश यानी दर्शनीय-सौन्दर्य-निधि-परम-प्रेमास्पद अर्थात् स्वयंप्रकाश-आनन्द-आत्मारूप मान कर

यावत्। केचन स्वर्दृशं=सर्वदृशमिति, स्वः= आदित्य इव दृश्यते यः सः स्वर्दृक् तमिति, स्वः पश्यतीति स्वर्दृक् तमिति च व्याचक्षते।

एवमेव परमेश्वरस्तुतिः स्तोतॄनुपसन्नान् सकलाभीप्सितार्थमर्पयित्वा सर्वतोभावेन रक्षति इत्यामनन्ति ऋगन्तराण्यपि-'वयमिन्द्र! त्वे सचा वयं त्वाऽभिनोनुमः। अस्माँ अस्माँ इदुदव ॥' (ऋ. ४।३२।४) इति। अयमर्थः-हे इन्द्र! सर्वात्मन्! वयं त्वामुपसन्नाः तावकाः त्वे=त्वय्येव, सचा= सर्वतोभावेन संगताः तन्मया भवामः। अत एव वयं त्वा=त्वामेव, अभिनोनुमः=अतिशयेनाभिष्टुमः=सकलेष्टार्थसाधिकया स्तुत्या त्वामेव परिचिन्तयामः। हे इन्द्र! त्वमपि अस्मान् अस्मान् इत्=सर्वानस्मानेव, उदव= उत्कर्षेण रक्ष। इति। तथा च 'यच्चिद्धि शश्वतामसीन्द्र! साधारणस्त्वम्। तं त्वा वयं हवामहे।' (ऋ. ४।३२।१३) इति। हे इन्द्र! त्वं, यत्-चित्-हि=यद्यपि खलु, शश्वतां=भूयसां सर्वेषां जनानां, साधारणः= सामान्यः, असि=भवसि, न ते कश्चिद् द्वेष्योऽस्ति, न च कश्चित्प्रियः। तथापि तं= समं, त्वा=त्वामेव सर्वात्मानं वयं स्तोतारः, हवामहे=आह्वयामः। भक्त्याऽनन्यया त्वामेव ग्रहीतुमभिलषामः इति यावत्। अयम्भावः-यद्यपि भगवानिन्द्रः सर्वत्र समः तथापि ये स्तोतारो भक्ताः तत्सततह्वानगम्यभजनपरिशुद्धान्तःकरणतया तदेका-

भक्त तेरी स्तुति करते है। कुछ विद्वान्-स्वर्दृशं यानी सर्वदृशं सर्व का द्रष्टा ऐसा, अथवा स्वः- आदित्य की भाँति जो ज्योतिरूप से देखा जाता है, वह स्वर्दृक् है, या स्वः-आदित्य एवं स्वर्ग को जो देखता है-जानता है वह स्वर्दृक् है, ऐसा व्याख्यान करते हैं।

इस प्रकार ही परमेश्वर की स्तुति, शरणागतस्तोता-भक्तों का-समस्त-अभीप्सित-अर्थ का समर्पण करके-सर्व-प्रकार से रक्षण करती है, ऐसा अन्य-ऋचाएँ भी कथन करती हैं-'हे इन्द्र!-परमात्मन्! हम तेरे हैं, इसलिए तुझ में ही हम संगत-तन्मय होते हैं, तेरी ही सर्व प्रकार से स्तुति करते हैं। तू हम सब की भली प्रकार से रक्षा कर।' इति। इसका यह अर्थ है-हे इन्द्र! सर्वात्मन्! परमेश्वर! हम तेरे उपसन्न-शरणागत, तुझ में ही सर्व प्रकार से संगत-तन्मय होते हैं। इसलिए हम तेरी ही अतिशय करके स्तुति करते हैं, अर्थात् सकल-इष्टार्थ की साधिका-स्तुति द्वारा तेरा ही हम परि-चिन्तन करते हैं। हे इन्द्र! तू भी हम सब का भली प्रकार से रक्षण कर। इति। तथा-'हे इन्द्र! भगवन्! यद्यपि तू समस्त-प्राणियों में साधारण-समान है, सब के प्रति तेरा समभाव है, ऐसे आप-समरूप-भगवान् का हम आह्वान करते हैं।' इति। हे इन्द्र! तू 'यत्-चित्-हि' यानी यद्यपि खलु, बहुत-समस्त-जनो के मध्य में साधारण-सामान्य है। तेरा न कोई द्वेष्य है, न कोई प्रिय है। तथापि उस समरूप-तुझ सर्वात्मा का हम स्तोताभक्त आह्वान करते हैं। अर्थात् अनन्य भक्ति के द्वारा तेरा ही ग्रहण करने की अभिलाषा रखते हैं। यह भाव है-यद्यपि भगवान् इन्द्र सर्व में सम है, तथापि जो स्तोता-भक्त हैं, वे उस परमात्मा इन्द्र का निरन्तर आह्वान से गम्य भजन द्वारा परिशुद्ध-अन्त करण होने के कारण उसके ही साथ एकाकार-तन्मय-वृत्तियों

कारवृत्तयो भवन्ति। तेष्वेवायं परमेशानोऽभिव्यक्तः सन् तदखिलेष्टं समर्पयन् तान् सर्वतोऽभिरक्षति। अथापि न तस्य रागद्वेषकृतः पक्षपातो भक्तानेवानुगृह्णाति नाभक्तानिति सम्भावनीयः, यतो यथा सर्वत्र प्रसृतः सौरालोकः स्वच्छे दर्पणादावेवाभिव्यज्यते न त्वस्वच्छे घटादौ, न हि तावता दर्पणे स रज्यति, न वा घटं द्वेष्टि। तथा सर्वत्र समोऽपि भगवान् स्वच्छे भक्तचित्तेऽभिव्यज्यमानोऽस्वच्छे चाभक्तचित्तेऽनभिव्यज्यमानो न कुत्रचित् रज्यति, न वा कञ्चिद् द्वेष्टि, वस्तुस्वभावमर्यादया जायमानस्य कार्यस्यापर्यनुयोज्यत्वात्। स्वच्छद्रव्यस्यायं स्वभावो येन सम्बध्यते तदाकारं गृह्णातीति। स्वच्छद्रव्यसम्बन्धिवस्तुनश्चायं स्वभावो यत्तत्र प्रतिफलतीति। तथा अस्वच्छद्रव्यस्याप्येष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिद्रव्यस्याकारं न गृह्णातीति। अस्वच्छद्रव्यसम्बन्धिवस्तुनोऽप्ययं स्वभावो यत्तत्र न प्रतिफलतीति। एवं वह्निवत्कल्पतरुवच्चावैषम्यं-सामान्यं भगवतोऽवगन्तव्यमिति।

'भूरिदा भूरि देहि नो मा दभ्रं भूर्याभर।

वाले होते हैं। उन एकाग्र-भक्तों में ही यह परमेश्वर अभिव्यक्त-प्रकट हुआ, उनको अखिल-इष्ट-पदार्थ का समर्पण करता हुआ-उनका सर्व तरफ से रक्षण करता है। तथापि उस परमात्मा में रागद्वेषकृत-पक्षपात की सम्भावना नहीं करनी चाहिए कि-भगवान् अपने भक्तों के ऊपर ही अनुग्रह-कृपा करता है, अभक्तों के ऊपर अनुग्रह नहीं करता है। क्योंकि-जिस प्रकार सर्वत्र फैला हुआ-सूर्यप्रकाश, स्वच्छ-दर्पण-आदि में ही अभिव्यक्त होता है, अस्वच्छ-मलीन-घटादि में अभिव्यक्त नहीं होता है। इतने से वह प्रकाश, दर्पण में राग करता है एवं घट का द्वेष करता है, ऐसा नहीं माना जाता। तथा-सर्वत्र सम भी भगवान् स्वच्छ-भक्तों के-चित्त में अभिव्यक्त होता है, अस्वच्छ-अभक्तों के चित्त में अभिव्यक्त नहीं होता है, इसलिए वह किसी में राग करता है, एवं किसी का द्वेष करता है, ऐसा नहीं माना जाता। क्योंकि-वस्तु-स्वभाव की मर्यादा से जायमान-कार्य, पर्यनुयोज्य-नहीं होता अर्थात् ऐसा क्यों हुआ? ऐसी शंका का विषय नहीं होता है। स्वच्छ द्रव्य का यह स्वभाव है कि-जिसके साथ वह संयुक्त होता है, उसके आकार को अपने में ग्रहण कर लेता है। स्वच्छ-द्रव्य के सम्बन्ध वाली वस्तु का भी यह स्वभाव है कि-वह उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है। तथा अस्वच्छ-मलीन द्रव्य का भी यह प्रसिद्ध-स्वभाव है कि-वह अपने सम्बन्धी द्रव्य के आकार का ग्रहण नहीं करता है। अस्वच्छ द्रव्य के सम्बन्धी वस्तु का भी यह स्वभाव है कि-वह उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होती है। इति। इस प्रकार अग्नि के समान-एवं कल्पतरु के समान-भगवान् की अविषमता-समानता जाननी चाहिए। इति। 'हे इन्द्र! तू भूरि-बहु का दाता है, इसलिए तू हम को भूरि ही दे। अल्प-थोडा मत दे, भूरि-बहु ही हमें

भूरि घेदिन्द्र ! दित्ससि ॥' (ऋ. ४।३२।२०) इति । हे इन्द्र ! विश्वात्मन् ! त्वं भूरिदाः=बहुप्रदोऽसि भक्तेभ्य इत्येवं त्वं विख्यातोऽसि । अतस्त्वं नः=अस्मभ्यं त्वामेवोपसन्नेभ्यः स्तुवद्भ्यो भक्तेभ्यः, भूरि=बहु यद्यदिष्टं तदपरिमितं, देहि=प्रयच्छ । दभ्रं=अल्पं तत् मा प्रयच्छ । अल्पस्याधिकेच्छोद्भावकतया दुःखप्रयोजकत्वात् । अतस्त्वं भूरि=बहुलं अस्मभ्यं, आ भर=आहर-समर्पय । किं मेऽनया प्रार्थनया ? कृपाकूपारोऽनन्यसामान्यौदार्यनिधिस्त्वं भक्तेभ्यः, भूरि इत्=अदभ्रमेव पर्याप्तं-अधिकेच्छाव्यवच्छेदकमभीप्सितं वस्तुजातमपरिमितमेव दित्ससि घ=दातुमिच्छसि खलु । नियोगपर्यनुयोगानर्होऽनुग्रहस्वभावोऽयं तव भूर्येव दत्त्वा भक्तान् पूर्णतुष्टान् विदधातीति भावः । अथवा प्रपन्नेभ्यः प्रीतिपूर्वकं भजद्भ्यः स्वानुग्रहभाजनेभ्यः, त्वं भूरिदाः=भूरि-अनवधिकं-अनन्तमपारं स्वीयमानन्दपूर्णमद्वैतं सर्वात्मभूतं भूमस्वरूपं ददासि । अतस्त्वमस्मभ्योऽपि भूरि=तदेव बहुलक्षणं प्रत्यगात्मस्वरूपं देहि=प्रयच्छ, विज्ञानालोकेनाविद्याद्यावरणं तमो निरस्य संगमय । दभ्रं=अल्पं परिच्छिन्न-शरीरादिग्रहणहेतुकं मिथ्याज्ञानादिलक्षणं दुःखमयं तुच्छसंसारं मा देहि । 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (छां. ७।२३।१) इति ब्राह्मणश्रुतेः । अस्यायमर्थः-

समर्पण कर । तू भगवान् निश्चय से भूरि देने की ही इच्छा करता है ।' इति । हे इन्द्र ! विश्वात्मन् ! तू भूरिदा यानी भक्तों के लिए बहुप्रद है, इस प्रकार तू विख्यात है । इसलिए तू तेरे ही शरणागत तेरी ही स्तुति करने वाले-हम भक्तो के लिए भूरि-बहु-जो जो इष्ट है-वह सब अपरिमित ही दे । दभ्र-अल्प वह मत दे । क्योंकि-अल्प, अधिक की इच्छा का उद्भावक होने से दुःख का प्रयोजक होता है । इसलिए तू भूरि-बहुल, हमारे लिए-भरण-समर्पण कर । मेरी इस प्रार्थना से क्या ? कृपासागर अनन्य-सामान्य-उदारता की निधि-भण्डार तू भक्तो के लिए भूरि-अदभ्र-अनल्प-पूर्ण ही अर्थात् पर्याप्त-अधिक की इच्छा का व्यवच्छेदक-अभीप्सित-अपरिमित ही वस्तु-समुदाय का दान करने की निश्चय से इच्छा करता है । नियोग-(ऐसा करना चाहिए ? ऐसी आज्ञा)-एवं पर्यनुयोग-(ऐसा क्यों नहीं किया ? इस प्रकार का प्रतिरोध) के अयोग्य ही अनुग्रह-करने का तेरा यह स्वभाव है, इसलिए तू अपने भक्तों को भूरि ही दे करके पूर्ण तुष्ट बनाता है, यह भाव है । अथवा-प्रीतिपूर्वक-भजन करने वाले-अपने शरणागत-कृपापात्र भक्तो को तू भूरि-अवधिरहित-अनन्त-अपार अपना-आनन्द-पूर्ण-अद्वैत-सर्वात्मरूप-भूमस्वरूप का दान करता है । इसलिए तू हमारे को भी भूरि यानी वही बहुलक्षण वाला-प्रत्यगात्मा के स्वरूप का दान कर, अर्थात् विज्ञान के आलोक से अविद्यादिरूप-आवरणभूत-तम का निरास करके उस स्वस्वरूप को प्राप्त करा । दभ्र यानी अल्प-परिच्छिन्न-शरीरादि के ग्रहण का हेतुरूप-मिथ्याज्ञानादि लक्षण वाला-दुःखमय-तुच्छ-संसार मत दे । 'जो भूमा-महान् है वही निश्चय से सुखरूप है, अल्प में सुख नहीं है ।' इस छांदोग्य-ब्राह्मण की श्रुति से भी यही सिद्ध होता है । इस श्रुति का यह अर्थ है-निश्चय

द्वौ हि पदार्थौ स्तः, भूमा अल्पश्चेति । तत्र बहोर्भावो भूमेति व्युत्पत्तेर्बाहुल्यात्मको यः परिपूर्णः पदार्थस्तदेव सुखम्, न तु भूम्नः पृथग्भूतेऽल्पपदार्थे यस्मिन् कस्मिँश्चित् सुखमस्ति । भूमा तु सुखं भवत्येव । तयोर्भूमाल्पयोर्लक्षणभेदस्तत्रैवाम्नातः—'यत्र नान्यत्पश्यति स भूमा' 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पम्' (छां. ७।२३।२) इति । अन्यो द्रष्टा स्वातिरिक्तमन्यद् द्रष्टव्यमिदन्तारूपं पश्यतीत्यादयस्त्रिपुट्यो यस्मिन्नद्वैतपदार्थे न सन्ति, सोऽयमद्वैतपदार्थो भूमा प्रत्यगभिन्नब्रह्मलक्षणः परिपूर्णानन्दघनः । त्रिपुटीरूपं द्वैतं यस्मिञ्जगत्यस्ति तज्जगदल्पम् । तयोर्भूमाल्पयोर्नित्यत्वानित्यत्वे च तत्रैवाऽऽम्नायेते—'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्' (छां. ७।२४।२) इति । द्वैतावस्थयोर्जाग्रत्स्वप्नयोर्दुःखमेव प्रायेणानुभूयते सर्वैरस्माभिः । यदि क्वचित् कदाचिद्विषयजन्यं सुखमनुभूतं स्यात्तदपि साधनप्रयासतारतम्यविनाशित्वादिभिर्बहुभिर्दोषैरुपेतत्वात् दुःखमेव । यदाहुः शिष्टाः—'इह बत दुर्लभलाभाः सुखलेशा भङ्गिनो यतः शरीरभृताम् । तेऽपि च दुःखायातो दुःखानि पुनस्ततोऽपि दुःखानि ॥' इति । अनेनाभिप्रायेण नाल्पे सुखमस्तीत्युक्तम् । अद्वैतावस्थयोस्तु सुषुप्तिसमाध्योः सुखमेवाखण्डं स्वप्रकाशमवतिष्ठते । न च तस्य दुःखा-

से दो पदार्थ हैं, भूमा एवं अल्प । उनमें बहु का भाव भूमा है, इस व्युत्पत्ति से बाहुल्यरूप जो परिपूर्ण-पदार्थ है, वही सुखरूप है । भूमा से पृथक्भूत-जिस किसी-अल्प पदार्थ में सुख नहीं है । भूमा-ब्रह्म तो सुखरूप है ही । उन-भूमा एवं अल्प-पदार्थों का लक्षणभेद, उस श्रुति में ही कहा गया है—'जहाँ अन्य अन्य को नहीं देखता है, वह भूमा है ।' 'और जहाँ अन्य-अन्य को देखता है, वह अल्प है ।' इति । अन्य द्रष्टा अपने से अतिरिक्त-अन्य-इदन्तारूप-द्रष्टव्य को देखता है, इत्यादि त्रिपुटियाँ जिस-अद्वैत पदार्थ में नहीं हैं, वही यह अद्वैत-पदार्थ-परिपूर्ण-आनन्दघन-ब्रह्मात्मा से अभिन्न-ब्रह्मरूप-भूमा है । द्रष्टा-दृश्य-दर्शन त्रिपुटीरूप-द्वैत जिस जगत् में है, वह जगत् अल्प है । उस-भूमा एवं अल्प के नित्यत्व एवं अनित्यत्व उसी ही श्रुति में कहे गये हैं—'जो भूमा है, वह निश्चय से अमृत-अविनाशी है, जो अल्प है, वह-मर्त्य-विनाशी है ।' इति । द्वैत की अवस्था वाले-जाग्रत् एवं स्वप्न में प्रायः करके दुःख का ही हम अनुभव करते हैं । यदि कहीं कदाचित् विषयजन्य-सुख अनुभूत होता है, वह भी साधन-प्रयास, तारतम्य-न्यूनाधिकभाव, विनाशित्व आदि बहु-दोषों से संयुक्त होने से दुःख ही है । इस अभिप्राय से शिष्ट-विद्वान् भी कहते हैं—'इस संसार में समस्त-अभीष्ट-विषयों का लाभ दुर्लभ-असंभव है । उनसे शरीरधारियों को लेश-क्षणिक सुख का ही अनुभव होता है, क्योंकि—वे विषय क्षणभङ्गुर हैं । इसलिए वे प्रारम्भ में भी दुःख के लिए ही होते हैं । कुछ मिलने पर भी उनसे दुःख एवं नष्ट होने पर भी उनसे दुःख ही होते रहते हैं ।' इति । इस अभिप्राय से ही 'अल्प में सुख नहीं है' ऐसा कहा है । अद्वैत की अवस्था-रूप-सुषुप्ति एवं समाधि में स्वयंप्रकाश-अखण्ड-सुख ही रहता है । सुषुप्ति एवं समाधि में अनुभूयमान-

भावत्वं शङ्कनीयम्। अभावस्य स्वप्रकाशत्वासंभवात्। प्रमाणेन विना भासमानत्वात् स्वप्रकाशत्वम्। न खल्वद्वैतं भूमा सुखरूपं तदा प्रमाणेन प्रमीयते। तथा सति द्वैतापत्त्या सुषुप्तिसमाधिभङ्गप्रसङ्गात्। भासमानत्वञ्च विप्रतिपत्त्यभावादवगन्तव्यम्। यथा जाग्रत्स्वप्नौ विप्रतिपत्तिमकृत्वा सर्वोऽपि जनोऽभ्युपगच्छति तथा सुषुप्तिसमाधी अप्यविप्रतिपत्त्याऽभ्युपसंगच्छत्येव। तस्मात्साधनमन्तरेण भासमानतया स्वप्रकाशत्वादद्वैतस्य न दुःखाभावत्वम्। किन्तु विषयलाभवत् सुषुप्तिसमाध्योः प्रीतिविषयत्वादद्वैतं भूमस्वरूपमेव सुखम्। अत एवासति कर्तव्यान्तरे सर्वे जनाः सौषुप्तं सुखमाकाङ्क्षन्तः शेरते। तत्त्वज्ञानिनश्च महात्मानो मुनयः सुखाभिलाषेणैव निर्विकल्पं समाधिमनुतिष्ठन्ति। उभयेऽपीमे तदुत्तरकाले 'सुखमहमस्वाप्सं' 'सुखमहं समाहितवानस्मी'ति तत्सुखं परामृशन्ति। तस्मात् जाग्रत्स्वप्नावस्थयोरनुभूयमानं द्वैतमल्पं विक्षेपजनकत्वात् दुःखमेव। सुषुप्तिसमाध्यवस्थयोरनुभूयमानमद्वैतं भूमतत्त्वमेव निरंकुशतृप्तिजनकत्वात् सुखरूपमेवेति निर्णयो निष्प्रत्यूह एव। तथा च तदेव मतिमद्भिः परमेश्वरप्रार्थनयाऽभिलषणीयम्, नान्यत्। अत एव भक्तकल्याण-

सुख दुःखाभावरूप है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि–अभाव में स्वप्रकाशत्व का असंभव है। प्रमाण के विना भासमान होने से ही सुख स्वप्रकाश माना जाता है। सुखरूप-अद्वैत-भूमा उस समय में प्रमाण द्वारा प्रमित-ज्ञात नहीं होता है। यदि वह प्रमाण से प्रमित माना जाय तो द्वैत की आपत्ति होने से सुषुप्ति एवं समाधि के भङ्ग का प्रसंग प्राप्त हो जाता है। अद्वैत-सुख की भासमानता विप्रतिपत्ति-विवाद-संशय के अभाव से जाननी चाहिए। जिस प्रकार जाग्रत् एवं स्वप्न को विप्रतिपत्ति न करके सभी मनुष्य मानते हैं। तिस प्रकार सुषुप्ति एवं समाधि को भी विप्रतिपत्ति न होने से सभी मानते ही हैं। इसलिए प्रमाणादि-साधन के विना भासमानता होने से स्वप्रकाशत्व है, इसलिए सुषुप्ति एवं समाधि में अनुभूत-स्वप्रकाश-अद्वैत सुख में दुःखाभावत्व नहीं है। किन्तु विषयलाभ की भाँति सुषुप्ति एवं समाधि में प्रीति का विषय होने से अद्वैत-भूमस्वरूप ही सुख है। इसलिए अन्य कर्तव्य न होने पर समस्त-प्राणी, सुषुप्ति के सुख की आकाक्षा करते हुए सो जाते हैं। तथा तत्त्वज्ञानवान्-महात्मा-मुनि, सुख की अभिलाषा से ही निर्विकल्प समाधि का अनुष्ठान करते हैं। दोनो भी ये, सुषुप्ति एवं समाधि के पश्चात् 'सुखपूर्वक मैं सोया था' 'सुखपूर्वक मैं समाहित-तन्मय हो गया था' इस प्रकार उसके सुख का स्मरण करते हैं। इसलिए जाग्रत्-एवं स्वप्नावस्था में अनुभूयमान-अल्प-परिच्छिन्न-द्वैत, विक्षेप का जनक होने से दुःख ही है। सुषुप्ति-एवं समाधि-अवस्था में अनुभूयमान-अद्वैत-भूमा-स्वरूप ही निरंकुश-तृप्ति का जनक होने से सुखरूप ही है, ऐसा निर्णय विवाद-विरोधरहित ही है। तथा च वही मतिमानों को परमेश्वर की प्रार्थना द्वारा अभिलाषा करने योग्य है, अन्य नहीं। इसलिए भक्तों के कल्याण

कामुकः पुरुषोत्तमः-प्रभुः करुणावरुणालयो भगवानपि गीतासु तदेव प्रतिपादयति-'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥' (९।१०) इति। निष्कामभक्तेभ्यो भूमब्रह्मभावापत्तिरेव भगवत्समर्पितं भूरिदानम्। सा च ज्ञानमन्तरा न सिद्ध्यति, अतस्तेभ्यस्तज्ज्ञानेन तदेव भूरि ददातीति भावः। न च भूरिपदमात्रेण भूम्नो ब्रह्मणो ग्रहणं विधाय कथमेवं व्याख्यानं विधीयते इति शङ्क्यम्। 'एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति' इति यास्केन निरुक्ते समाहितत्वात्। मन्त्राणामध्यात्माधिदैवतादिविविधमर्थं परिज्ञाय पुमान् परमोत्तमं श्रेयः साधयितुं प्रभवतीति-उक्तप्रायमेव।

की कामना करने वाला-करुणासागर-प्रभु-भगवान् पुरुषोत्तम भी गीता में यही प्रतिपादन करता है-'प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करने वाले निरन्तर मेरे ही साथ चित्त को युक्त-तन्मय करने वाले-उन भक्तों को मैं ज्ञानयोग देता हूँ, जिससे वे मुझ को प्राप्त हो जाते हैं।' इति। निष्काम भक्तों के लिए-भूम-ब्रह्म-भाव की प्राप्ति ही भगवान् से समर्पण किया गया भूरिदान है। यह ब्रह्मभाव की प्राप्ति ज्ञान के विना सिद्ध नहीं होती है, इसलिए-उनको ज्ञानदान द्वारा वही भूरि-भूमा का दान करता है, यह भाव है। 'भूरि पद मात्र से भूमा-ब्रह्म का ग्रहण करके इस प्रकार क्यों व्याख्यान करते हैं?' ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि-'इस प्रकार के उच्च-अवच-गूढ़-एवं प्रकट-अभिप्रायों से ऋषियों की मन्त्र-दृष्टियाँ होती हैं।' ऐसा यास्क ने निरुक्त में समाधान किया है। मन्त्रों के अध्यात्म-अधिदैव-आदि विविध अर्थों का परिज्ञान प्राप्त करके पुरुष परम-श्रेष्ठ-कल्याण को सिद्ध करने के लिए समर्थ होता है, यह प्रायः प्रथम भी कहा गया है। इति।

(६५)

(विश्वपतिर्भगवान् निखिलेभ्यो भयेभ्योऽस्मानजस्रं परिरक्षतु, निर्भयममृतं कल्याणपदश्चास्मभ्यं वितरतु)

(विश्वपति-भगवान् समस्त-भयों से निरन्तर हमारा परिरक्षण करे, एवं निर्भय-अमृतरूप-कल्याणपद हमें समर्पण करे)

सर्वभयनिवारकं निर्भयकल्याणपदसमर्पकं भगवन्तं महेश्वरं शिवेन्द्रं समाराध्य नूनं भक्ता विधूतभयव्राताः सर्वार्थसिद्धिसम्पन्नाश्च भवन्ति। अतः स एव विश्वपतिर्महादेवः पौनःपुन्येन स्वाभ्युदयनिः-

सर्व भयों का निवारण करने वाले एवं निर्भय-कल्याण-पद के समर्पण करने वाले-भगवान्-महेश्वर-शिवेन्द्र की सम्यक् आराधना करके निश्चय ही भक्त-गण, भयसमूह से रहित एवं समस्तेष्ट-अर्थ की सिद्धियों से सम्पन्न हो जाते हैं। इसलिए वही विश्वपति-महादेव, पुनः पुनः अपने अभ्युदय-एवं

श्रेयसकामुकैः प्रार्थनया समाराधनीय इत्यभिप्रयन् श्रद्धेयो भगवान् वेदः प्रार्थनाप्रकारमावेदयति—

कल्याण की कामना करने वाले-सज्जनों को प्रार्थना द्वारा अच्छी रीति से आराधना करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय रखता हुआ—श्रद्धेय-भगवान् वेद, प्रार्थना के प्रकार का ज्ञापन करता है—

ॐ बृहस्पतिर्नः परिपातु पश्चा-दुतोत्तरस्मादधराद्घायोः ।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः, सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ४२ ऋक्. ११। सू. ४३ ऋ. ११। सू. ४४।११। अथर्व. ७।५१।१+२०।१७।११+२०।८९।११+२०।९४।११। तै. सं. ३।३।११।१)

'बृहस्पति-भगवान् पश्चिम से, उत्तर से एवं दक्षिण से आने वाले-पापी संतापकारी शत्रु से हमारा परिरक्षण करें। इन्द्र-परमात्मा पूर्व से एवं मध्य से भी आने वाले पापी-शत्रु से हमारा परिरक्षण करें। और हम-सखाओं को वह हमारा प्यारा-सखा भगवान् श्रेष्ठ-अभ्युदय-एवं निःश्रेयस समर्पण करें।'

बृहस्पतिः=बृहत्या वेदवाण्याः पतिः, यद्वा बृहत्याः=विपुलायाः—विपुलद्वैतप्रपञ्चोपादानकारणरूपाया मायायाः पतिः परमेश्वरः, पश्चात्=पश्चिमतः, उत=अपि च, उत्तरस्मात्=उत्तरतः, अधरात्=दक्षिणतश्च यः, अघायुः=पापजीवनः संतापप्रदः शत्रुर्बाह्यो वाऽऽभ्यन्तरो वाऽऽगच्छति, आभ्यन्तरशत्रुकामादेरपि पश्चिमादिदिक्स्थस्त्र्यादिपदार्थान्निमित्तीकृत्य संभूतत्वात्तस्मादागमनमविरुद्धं ज्ञेयम्। तस्मादघायोः सन्तापप्रदादरातेः, नः=अस्मान्-प्रपन्नान् परिपातु=परिरक्षतु। उत=अपि च, इन्द्रः=महैश्वर्यसंयुक्तो विश्वेश्वरः, पुरस्तात्=पूर्वतः; मध्यतश्च, योऽघायुः शत्रुरागच्छति, तस्मादपि नः=अस्मान् परिपातु—भयसन्तापप्रदान् शत्रूनखिलान् सपदि हत्वाऽस्मान् निर्भयान् सुखिनः करोत्विति यावत्। हिततमस्य प्रियतमस्य परमात्मनः शत्रुनाशमुखेन स्वरक्षणाय प्रार्थनां विधाय स्वाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धये पुनरपि तां विद-

बृहस्पति यानी बृहती-वेदवाणी का पति, यद्वा बृहती-विपुल-विस्तृत-द्वैत-प्रपञ्च का परिणामी-उपादान-कारणरूप-माया का पति-परमेश्वर। पश्चात्-पश्चिम से, उत-तथा उत्तर से तथा अधर-दक्षिण से जो अघायु-पाप-मय-जीवन वाला-संतापप्रद-बाहर का एवं भीतर का शत्रु आता है। भीतर के शत्रु-कामादि को भी पश्चिमादि-दिशा में स्थित-स्त्री आदि पदार्थों को निमित्त करके संभूत-उत्पन्न होने से उससे उसका आगमन विरुद्ध नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। उस अघायु-सन्तापप्रद-अराति-शत्रु से हम शरणागत-भक्तों की बृहस्पति भगवान् रक्षा करे। उत-तथा महा-ऐश्वर्य से संयुक्त-विश्वेश्वर-इन्द्र, पुरस्तात्-पूर्व से तथा मध्य से जो अघायु-शत्रु आता है, उससे भी हमारा परिरक्षण करे। अर्थात् भय एवं संताप के देने वाले—उन-अखिल-शत्रुओं का शीघ्र ही विध्वंस करके हम को निर्भय एवं सुखी करे। हित-तम, प्रिय-तम परमात्मा की—शत्रु-नाश के द्वारा अपने रक्षण के लिए प्रार्थना करके अपने अभ्युदय-एवं निःश्रेयस की सिद्धि के लिए पुनः भी प्रार्थना करते हैं—सखा-सत्-चित्-एवं आनन्दस्वरूप से

धाति–सखा=सच्चिदानन्दस्वरूपेण समानः ख्यायते पण्डितैर्यः, स सखाऽभिन्नस्वरूपो भगवान् सर्वात्मा, यस्य समानमेव ख्यानं नान्यादृशं सोऽसौ। यद्वा सखा=सुहृद् सर्वतो रक्षां कुर्वन् मित्रभूतोऽतीवहितकारी, प्रियतमो वा परमेश्वरः, सखिभ्यः=अभिन्नस्वरूपेभ्यः प्रियेभ्यो वाऽस्मभ्यं स्वभक्तेभ्यः, वरिवः=पूजितमभीप्सितमैहलौकिकं पारलौकिकमभ्युदयं पारमार्थिकं निःश्रेयसं वा, कृणोतु=करोतु–सम्पादयत्वित्यर्थः, ददात्विति यावत्। इयमृक् ऋक्संहितायां त्रिवारं, अथर्वसंहितायां चतुर्वारं समाम्नाता इति ॥

[पूर्वं परमेशस्तुतिं कामादिपरिपन्थिभ्यो भगवत्कृतरक्षणादिकञ्च प्रतिपाद्येदानीं योग्याधिकारिणः कृते सर्वश्रुतिमौलिरत्नायमानमहावाक्यविज्ञानमुपदिशति]

पण्डितों के द्वारा जो समान-एकरूप से ही ख्यान-विज्ञात होता है, वह सखा-अभिन्नस्वरूप वाला सर्वात्मा-भगवान्, जिसका समान ही ख्यान-ज्ञान है, अन्य प्रकार का-विलक्षण ख्यान नहीं है, वह यह है। यद्वा सखा-सुहृद्-सब तरफ से रक्षा करता हुआ, मित्ररूप-अत्यन्त हितकारी या प्रियतम-परमेश्वर, अभिन्न स्वरूप वाले-या प्रिय इन अपने भक्त-सखाओं को—वरिवः यानी पूजित-अभीप्सित-इस लोक का एवं परलोक का अभ्युदय-सुख-सम्पत्ति तथा पारमार्थिक-कल्याण समर्पण करें, अर्थात् देवें। यह ऋचा, ऋग्वेदसंहिता में तीन बार, अथर्ववेदसंहिता में चार बार पढी गई है। इति।

[प्रथम परमेश्वर की स्तुति का एवं कामादि शत्रुओं से भगवान् द्वारा किये गये रक्षण आदि का प्रतिपादन करके अब योग्य-साधनसम्पन्न अधिकारी के लिए—समस्त-श्रुतियों के मस्तक में रत्न के समानसुशोभित-महावाक्य के विज्ञान का सम्यक् उपदेश करते हैं]

(६६)

(जीवात्मपरमात्मैक्यबोधकस्य महावाक्यस्योपदेशः)

(जीवात्मा एवं परमात्मा के एकत्व का बोधक-महावाक्य का उपदेश)

भगवदर्पणबुद्ध्यैव निष्कामकर्मानुष्ठानाच्छुद्धान्तःकरणस्य भगवदुपासनया विधूतविक्षेपस्यान्तर्मुखस्य निरवग्रहभगवदनुग्रहभाजनभावं भजतो नित्यानित्यवस्तुविवेकवत इहामुत्रार्थभोगरागशून्यस्य शमदमादिसाधनवतो मोक्षमात्राकांक्षिणो भाग्य-

भगवदर्पण-बुद्धि से ही निष्काम-कर्म के अनुष्ठान द्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, तथा भगवान् की उपासना से जिसके चित्त का विक्षेप-चाञ्चल्य दूर हो गया है एवं जो अन्तर्मुख-एकाग्र-शान्त मन वाला है, तथा जो भगवान् के अवग्रह-प्रतिरोध-शून्य-अनुग्रह-कृपा-पात्रता का भजन-सेवन करता है, एवं जो नित्य-अनित्य-वस्तु के विवेक से युक्त है, इस लोक के एवं परलोक के पदार्थों के भोग राग से रहित है, शम-दम-आदि साधनों से युक्त है, तथा जो मोक्षमात्र की आकांक्षा करता

हारेणायं ब्रह्मतादात्म्योपदेशः प्रत्यगभिन्नब्रह्मणोऽखण्डैकरसत्वसिद्धये बुभुत्सुहितैपिण्या श्रुत्या विहितः। नन्वेवं प्रत्यग्ब्रह्मणोरन्योऽन्यतादात्म्याङ्गीकारे सत्यपि ब्रह्मणि नाखण्डैकरसत्वं सिद्ध्यति, यतः 'नीलमुत्पलमि'त्यत्र सत्यपि तादात्म्ये गुणद्रव्यभेदस्यापि सद्भावात्, एवमत्राप्यहंत्वत्वंत्वात्मत्वब्रह्मत्वादिकृतो भेदोऽपि प्रसज्येतेति चेन्न, द्रव्यगुणयोः परस्परव्यभिचारेण वैषम्यात्। नैल्यगुणो मेघादावपि वर्तमान उत्पलत्वं व्यभिचरति, एवमुत्पलत्वमपि शुक्लरक्तोत्पलयोर्वर्तमानत्वान्नैल्यगुणं व्यभिचरति, अतस्तत्रार्थभेदान्नाखण्डार्थत्वम्। इह त्वात्मब्रह्मणोः 'सोऽयं देवदत्त' इतिवत्, परस्परव्यभिचाराभावात्, एकार्थत्वे सत्यखण्डैकरसत्वसिद्धिः। तदेतद्विश्वरूपाचार्यैरपि प्रदर्शितम्—'नात्मता ब्रह्मणोऽन्यत्र ब्रह्मता नात्मनोऽन्यतः। तादात्म्यमनयोस्तस्मान्नीलोत्पलविलक्षणम् ॥' इति। त्वन्त्वाऽहन्त्वादिकं तु—'अविद्वत्क-

तादात्म्य का उपदेश, प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्म में-अखण्ड-एकरसत्व की सिद्धि के लिए बुभुत्सु-जिज्ञासु के हित-कल्याण की अभिलाषा रखने वाली श्रुति ने किया है।

शंका—इस प्रकार प्रत्यगात्मा एवं ब्रह्म के परस्पर तादात्म्य का अङ्गीकार करने पर भी ब्रह्म में अखण्ड-एकरसत्व की सिद्धि नहीं होती है। क्यों कि—'नील उत्पल-कमल' इसमें नैल्य का उत्पल के साथ तादात्म्य होने पर भी गुण एवं द्रव्य के भेद का सद्भाव रहता है। इस प्रकार प्रकृत में भी अहंत्व, त्वंत्व, आत्मत्व, ब्रह्मत्व आदि विलक्षण धर्मों से किया गया—भेद भी प्रसक्त हो जायगा।

समाधान—नील-उत्पल के दृष्टान्त में द्रव्य एवं गुण का परस्पर व्यभिचार होने के कारण दृष्टान्त से दार्ष्टान्त की विषमता है। क्योंकि—नैल्यगुण, मेघ आदि में वर्तमान है, परन्तु वह उत्पलत्व को छोड़ कर रहता है, इसलिए वह व्यभिचरित है। इस प्रकार उत्पलत्व भी शुक्ल-उत्पल, रक्त-उत्पल आदि में भी वर्तमान है, इसलिए वह नैल्यगुण को छोड़ कर रहता है, अतः वह व्यभिचारी है। इसलिए उस दृष्टान्त में अर्थभेद होने के कारण अखण्डार्थत्व नहीं है। यहाँ सिद्धान्त में तो आत्मा एवं ब्रह्म का 'सोऽयं देवदत्त की भाँति' परस्पर व्यभिचार न होने के कारण एकार्थत्व है, इसलिए अखण्डैकरसत्व की सिद्धि हो जाती है। वही यह सिद्धान्त विश्वरूपाचार्य ने भी प्रदर्शित किया है—'आत्मत्व ब्रह्म से अन्य वस्तु में नहीं है, एवं आत्मा से अन्य वस्तु में ब्रह्मत्व नहीं है, इसलिए आत्मा एवं ब्रह्म का नीलोत्पल दृष्टान्त से विलक्षण तादात्म्य-अभेद ही है।' इति। त्वंत्व, अहंत्व आदि तो 'अविद्वान्-अज्ञानी की मिथ्या कल्पना से सिद्ध है, उसका अनुवाद

१ जीवेश्वरयोर्मिथो विशेषणविशेष्यभावो व्यतिहारः। जीव एवं ईश्वर का परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव व्यतिहार है।

ल्पनासिद्धमनूद्यैव निषेधति ।' इति बोध्यम् । एवं पर एवात्माऽहमस्मि, न परमात्मनः कथञ्चिदपि विलक्षण इति दृढं प्रतिपत्तुं–'यदग्ने ! मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः ।' (ऋ. ८।१९।२५) इति । अयमर्थः–हे मित्रमहः !=अभीप्सितपरमानन्दपूर्णदीप्तिमन् ! हे अग्ने ! अज्ञानदशायां मर्त्यः=मरणधर्मकदेहात्मबुद्ध्या तद्रूपोऽहं जातः, यत्–यदि त्वदुपासनया त्वद्विज्ञानेन च त्वं स्यां=त्वद्रूपमापन्नो भवेयम् । 'ये यथा यथोपासते ते तदेव भवन्ति' इति श्रुतेः । तर्हि अहं अमर्त्यः=मरणधर्मरहितोऽमृतोऽभयः पूर्णानन्दनिधिः सत्यो देव एव त्वदभिन्नो भवेयमित्यर्थः । यद्वा यद् सच्चिदानन्दादिपूर्णलक्षणं स्वरूपं त्वं स्याः, तदेव मर्त्योऽहं स्याम् । यत्त्वमसि तदेवाहमसीति यावत् । अत एव मर्त्यभावमुत्सृज्यामर्त्योऽहं भवामीत्यर्थः । 'पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः । समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ॥' (ऋ.१०। १७७।१) इति । अयमर्थः–असुरस्य=आसनकुशलस्य–अचलस्य–ध्रुवस्य–सर्वोपाधिविहीनस्य परब्रह्मणः सम्बन्धिन्या मायया=

करके पश्चात् निषेध किया जाता है ।' ऐसा समझना चाहिए । इस प्रकार 'पर आत्मा ही मैं हूँ, परमात्मा से मैं किसी भी प्रकार से विलक्षण-भिन्न नहीं हूँ' ऐसा दृढ-निश्चयरूप से जानने के लिए–'हे अग्ने ! परमात्मन् ! हे मित्रमह ! यद्यपि मैं अज्ञानदशा में मर्त्य हो गया था, तथापि तुझ परमात्मा की उपासना करके मैं अमर्त्य-अमृत-स्वरूप हो जाता हूँ ।' इति । इस मन्त्र का यह अर्थ है–हे मित्रमहः ! यानी अभीप्सित-चाहने योग्य-परमानन्द से पूर्ण दीप्ति-प्रकाश वाले ! हे अग्ने ! परमात्मन् ! अज्ञानदशा में मैं मर्त्य-मरणधर्म-वाले देह में आत्मबुद्धि से तद्रूप-मर्त्य हो गया हूँ, यदि मैं आप की उपासना से एवं आप के विज्ञान से आप के स्वरूप को प्राप्त हो जाऊँ–तब तो मैं अमर्त्य-मरणधर्म से रहित, अमृत-अभय-पूर्ण-आनन्द का निधि-सत्य-देव ही आप से अभिन्न हो जाऊँगा । क्योंकि–'जो जिस-जिस प्रकार से-भाव से परमात्मा की उपासना करते हैं, वे वैसे ही हो जाते हैं' इस श्रुति से भी यही सिद्ध होता है । यद्वा सत्-चित्-आनन्द-आदि से पूर्ण लक्षण वाला जो स्वरूप तू होता है, वही मैं मर्त्य होता हूँ, अर्थात् जो स्वरूप तू है, वही मैं हूँ । इसलिए मर्त्य-भाव का परित्याग करके मैं अमर्त्य-अमृत होता हूँ । 'असुर-अचल-परब्रह्म की माया से जो चैतन्य जीवरूप से अभिव्यक्त हुआ है, उसका तत्त्वदर्शी-विद्वान्, हृदय में निरुद्ध-एकाग्र-शुद्ध-शान्त मन के द्वारा परमात्मरूप से अनुभव करते हैं । कवि-ब्रह्मनिष्ठ-महात्मा, समुद्ररूप-सर्वाधिष्ठान-परमात्मा के मध्य में समस्त-द्वैत प्रपञ्च को अध्यस्त देखते हैं । सदा सर्वत्र ब्रह्म-भावना करने वाले वे ज्ञानवान्, ब्रह्माकार-वृत्तियों के पद-अधिष्ठानरूप-ब्रह्मभाव-प्राप्ति की इच्छा करते हैं ।' इति । यह अर्थ है–असुर यानी आसन-कुशल-अचल-ध्रुव-सर्वोपाधि से विहीन-परब्रह्म के सम्बन्धिनी-माया-त्रिगुणात्मिका-

त्रिगुणात्मिकयाऽविद्यया, अर्क्कं=जीवरूपेणाऽभिव्यक्तं-आत्मानं, विपश्चितः=वेदान्ताभिज्ञाः परमहंसाः विद्वांसः, हृदा=हृत्स्थेन-'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यं' हृदि निरुद्धेन-अन्तर्मुखेन मनसा, पतङ्गं=परमात्मानं पतति व्याप्नोतीति पतङ्ग इति व्युत्पत्तेः, पश्यन्ति=उपाधिपरित्यागेन जीवात्मनः स्वस्य परमात्मना सहाभेदलक्षणं तादात्म्यं साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः। अपि च ते कवयः=क्रान्तदर्शिनो ब्रह्मनिष्ठा महात्मानः, समुद्रे=समुद्रवन्त्यस्माद् भूतानीति समुद्रः=परमात्मा तस्मिन् सर्वाधिष्ठाने, अन्तः=मध्ये सर्वं दृश्यजातमध्यस्तत्वेन विचक्षते=विपश्यन्ति, यतो दृग्व्यतिरिक्तस्य नामरूपात्मकस्य सर्वस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वात्; वेधसः=विधातारः-बाधसामानाधिकरण्येन सर्वत्र सदा सर्वमिदमहञ्च ब्रह्मैवेति सच्चिदानन्दात्मना ब्रह्मभावनायाः कर्तारः-ते मरीचीनां-ब्रह्माकारवृत्तिज्ञानानां पदं=अधिष्ठानं सच्चित्सुखात्मकं यत्परं ब्रह्म तदेव-इच्छन्ति=तद्भावापत्तिमेव कामयन्ते, तस्य निदिध्यासनरूपया परिपक्वभावनया तदेवाभेदेन प्राप्नुवन्ति-तदेव सन्तः, आवरणापोहेन तदेव भवन्तीति यावत्। 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मासीति' (बृ० १।४।१०) 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' (बृ. ४।४।२०) 'वेनस्तत्पश्यन्' (शु. य. ३२।८) 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' (ऋ. ४।२६।१) 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छां. ६।१०।३) 'तदेवाग्निः' (शु. य. ३२।१) 'अहमेवाधस्तात्'

अविद्या के द्वारा, अर्क यानी जीवरूप से अभिव्यक्त-आत्मा को-विपश्चित यानी वेदान्त के अभिज्ञ-परमहंस-विद्वान्, हृदा-यानी हृदय में स्थित-उसमें स्थित होने से उसके बोधक शब्द से वह अभिहित-कथित होता है-अर्थात् हृदय में निरुद्ध-अन्तर्मुख-शान्त मन के द्वारा पतङ्ग यानी परमात्मरूप से देखते हैं। पतति यानी सर्वत्र व्याप्त होता है, इसलिए वह परमात्मा पतंग है, ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् उपाधि के परित्याग द्वारा अपने जीवात्मा का परमात्मा के साथ अभेदरूप-तादात्म्य का साक्षात्कार करते हैं। और वे कवि-क्रान्त-अतीतादि के दर्शी-ब्रह्मनिष्ठ-महात्मा, समुद्र-सर्वाधिष्ठान-उस परमात्मा के अन्तः-मध्य में-इससे सब भूत-सम्यक् उद्भूत होते हैं, इसलिए वह परमात्मा समुद्र है-सर्व-दृश्य समुदाय-द्वैतप्रपञ्च को अध्यस्तरूप से देखते हैं। क्योंकि-द्रष्टा-आत्मा से व्यतिरिक्त-नामरूपात्मक-सर्व-प्रपञ्च मिथ्या-कल्पित है। वेधसः यानी विधातारः अर्थात् बाधसामानाधिकरण्य से सर्व में सदा 'यह सर्व और मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी सत्-चित्-आनन्द-रूप से ब्रह्मभावना करने वाले-वे ज्ञानवान्, मरीचि यानी ब्रह्माकारवृत्ति-ज्ञानों का पद-अधिष्ठान-सत्-चित्-सुखरूप-जो पर-ब्रह्म है, उसकी ही इच्छा करते हैं, अर्थात् ब्रह्मभाव-प्राप्ति की ही कामना करते हैं, उस ब्रह्म की निदिध्यासनरूप-परिपक्व-भावना से उसको ही अभेद से प्राप्त करते हैं, प्रथम भी वही हुए-आवरण की निवृत्ति द्वारा वही होते हैं। 'उसने अपने आत्मा को जाना-'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार।' 'एकरूप से ही-शास्त्र-आचार्य्य के उपदेश के बाद-अनुभव करना चाहिए।' 'वेन नाम के ऋषि ने उसका आत्मारूप से दर्शन किया।' 'मैं वामदेव मनु एवं सूर्य हो गया हूँ।' 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।' 'वही अग्नि है' 'मैं ही नीचे हूँ' 'आत्मा ही नीचे है' 'जिस ज्ञान-

(छां. ७।२५।१) 'आत्मैवाधस्तात्' (छां. ७।२५।२) यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ. ४।५।१५) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. आ. २।६) 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी' (श्वे. उ. ६।११) 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मु. २।१।२) 'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।' (गी. २।१७) 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' (गी. १३।३१) 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गी. १३।२) 'अहमात्मा गुडाकेश !' (गी. १०।२०) 'अहं भवान् न चान्यस्त्वं' (भा. ४।२९।६३) सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्' (वि. पु. २।१६।२३) जीवो ब्रह्माभिन्नो भवितुमर्हति, तज्ज्ञाननिवर्त्यबन्धाश्रयत्वात्, यो यज्ज्ञाननिवर्त्यबन्धाश्रयः स तदभिन्नः, यथा रज्जुज्ञाननिवर्त्यबन्धाश्रय इदमंशो रज्जभिन्नः' इत्याद्या ब्रह्मात्मैक्यसमर्पकाः श्रुतिस्मृतिपुराणयुक्तिवादाः तत्त्वबुभुत्सुभिरत्र समनुसन्धातव्याः। एवं प्रत्यक्षतः कर्तृत्वभोक्तृत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वपरिच्छिन्नत्वादिधर्मकलुषितत्वेन प्रतीतस्य त्वंपदार्थस्य जीवात्मनः, तथोपासनपरश्रुतिवाक्यैः सर्वज्ञत्वजगत्कारणत्वसर्वशक्तित्ववामनीत्वभामनीत्वसर्वकामगन्धरसस्पर्शत्वादिवत्तया प्रतीतस्य तत्पदार्थस्येश्वरस्यानेन व्यतिहारप्रकारेण भागत्यागलक्षणामाश्रित्यौपाधिकधर्मानपाकृत्य शुद्धात्मनैक्यमभिहितम्। इदानीं तादृशाभेदज्ञानस्यापरोक्षानुभवसिद्ध्यर्थं परमेश्वरस्यानुग्रहमभिलषन्नाह-इह=

दशा में इस महात्मा को सब कुछ आत्मा ही हो गया।' 'उस विश्व का सर्जन करके वही उसमें अनुप्रविष्ट हुआ।' 'एक ही देव, सर्व-भूतों में छिपा है, वह सर्वव्यापी है।' 'वह अजन्मा परमात्मा निश्चय से बाहर-भीतर पूर्ण है।' 'उस आत्मा को तू अविनाशी जान, क्योंकि-उससे यह सर्व विश्व व्याप्त हुआ है।' 'यह आत्मा अनादि है, निर्गुण है।' 'क्षेत्रज्ञ-आत्मा मैं परमात्मा हूँ ऐसा जान' 'हे गुडाकेश! अर्जुन! मैं आत्मा हूँ।' 'मैं आप-जीवात्मा हूँ, अन्य तू मुझ से नहीं है।' 'वह मैं हूँ, वह तू है, तथा वही यह सर्व विश्व आत्मस्वरूप है, भेद के मोह का त्याग कर।' 'जीव ब्रह्म से अभिन्न होने योग्य है, उस ब्रह्म के ज्ञान से निवृत्ति करने योग्य-बन्ध का आश्रय होने से, जो जिसके ज्ञान से निवर्त्य-बन्ध का आश्रय होता है, वह उससे अभिन्न होता है, जिस प्रकार रज्जु-ज्ञान से निवर्त्य-बन्ध का आश्रय-इदं अंश, रज्जु से अभिन्न है।' इत्यादि-ब्रह्म-आत्मा के एकत्व का समर्पण करने वाले-श्रुति-स्मृति-पुराण एवं युक्तियों के वाद-तत्त्वजिज्ञासुओं को यहाँ अच्छी प्रकार से अनुसंधान करने चाहिए। इस प्रकार प्रत्यक्ष से कर्तृत्व-भोक्तृत्व किञ्चिज्ज्ञत्व-परिच्छिन्नत्व आदि धर्मों द्वारा कलुषित-मलिनरूप से प्रतीत होने वाले-त्वंपदार्थ-जीवात्मा का-तथा, उपासना परक-श्रुति-वाक्यों के द्वारा सर्वज्ञत्व-जगत्कारणत्व-सर्वशक्तित्व-वामनीत्व-भामनीत्व-सर्वकामगन्धरसस्पर्शत्व-आदि रूप से प्रतीत होने वाले-तत्पदार्थ-ईश्वर का-इस व्यतिहार-प्रकार से भाग-त्यागलक्षणा का आश्रय करके औपाधिक-धर्मों का निराकरण करके शुद्ध-स्वरूप से ऐक्य का प्रतिपादन किया। अब उस प्रकार के अभेद-अद्वैत-ज्ञान का अपरोक्ष-अनुभव की सिद्धि के लिए परमेश्वर-कृपा की अभिलाषा करता हुआ मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहता है-इस-अभेदज्ञान के

अभेदज्ञाने, विषयत्वं सप्तम्यर्थः । ते=तव परमात्मनः, आशिषः=आशासनानि–'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' (ऐतरेयशाखायाम्) 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते! अहं वै त्वमसि भगवो देवते! (जाबालशाखायाम्) 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा. ६।८।७) 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ. २।५।१९। मां. १।२) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. २।५।२) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १।४।१०) इत्याद्यात्मकानि वेदात्मना त्वया समुपदिष्टानि सदुपदेशलक्षणानि, सत्या=सत्यानि त्वदनुग्रहवशात् यथार्थानुभवसम्पादकानि स्युः=भवेयुः–इत्यहमाशासे । यद्वा इह=अस्मिन् साधके त्वद्भक्ते मयि, निष्ठत्वं सप्तम्यर्थः । ते=परमेश्वरस्य, आशिषः=शुभाशीर्वादाः, सत्याः=अनृताभिसन्धत्वं निराकृत्य सत्याभिसन्धत्वस्य सम्पादकाः स्युः । यतः तस्करदृष्टान्तेन छान्दोग्यश्रुत्या 'अनृताभिसन्धो बध्यते, सत्याभिसन्धस्तु मुच्यते ।' (छां. ६।९) इत्युपदिष्टत्वात् । तत्र किंलक्षणमिदमनृतं? तच्च प्रकृते किंरूपं? तदभिसन्धस्य च बन्धो नाम कः? इति विमर्शे कठश्रुत्यन्तरं स्वयमेव विवृणोति–'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥' (२।४।११) इति । अस्यायमर्थः–इह=ब्रह्मणि–प्रत्यगात्मनि, नाना=स्वाज्ञानकल्पितजगज्जीवेश्वरादिप्रतियोगिकभेदः, किञ्चन=कश्चिदपि वस्तुतो नास्ति । एवं परमार्थतो निर्भेदे–इह=ब्रह्मणि यः कश्चित् भेददृष्टिलक्षणयाऽविद्यया मोहितः सन्, नानेव=परमात्मादन्योऽहं मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति

विषय में, विषयत्व सप्तमी-विभक्ति का अर्थ है–तुझ परमात्मा के-आशिषः यानी आशासन–'जो मैं हूँ, वह वही है, जो वह है, वही मैं हूँ।' 'निश्चय से तू मैं हूँ, हे भगवो देवते! मैं निश्चय से तू हूँ, हे भगवो देवते!।' 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।' 'यह आत्मा ब्रह्म है।' 'प्रज्ञान-क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है।' 'मैं ब्रह्म हूँ।' इत्यादि-रूप–वेदरूप तुझ-परमात्मा से सम्यक्-उपदिष्ट-सदुपदेशरूप-लक्षण वाले–सत्य हों, अर्थात् आप के अनुग्रह के वश से यथार्थ-अनुभव के सम्पादक हों, ऐसी मैं आशा रखता हूँ। यद्वा इस-साधक-तेरे भक्त-मुझ में–निष्ठत्व सप्तमी-विभक्ति का अर्थ है–तुझ परमेश्वर के आशीष् यानी शुभाशीर्वाद–सत्य हों, अर्थात् अनृताभिसंधत्व का निराकरण करके सत्याभिसंधत्व के सम्पादक हों। क्योंकि–तस्कर-चौर के दृष्टान्त द्वारा छान्दोग्य-श्रुति ने 'अनृत-मिथ्या में अभिसंध-दुराग्रह रखने वाला-मनुष्य बन्धन को प्राप्त होता है, और सत्य में अभिसंध-सदाग्रह रखने वाला मुक्त हो जाता है।' ऐसा उपदेश दिया है। उसमें यह अनृत-मिथ्या किस लक्षण वाला है? वह प्रकृत में किस रूप वाला है? अनृताभिसंध-का बन्ध क्या है? इस प्रकार का विमर्श-विचार होने पर अन्य-कठश्रुति स्वयं ही स्पष्टरूप से उसका वर्णन करती है–'शुद्ध-मन से ही उस ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए, उस ब्रह्म में नाना-भिन्न कुछ भी नहीं है। जो इस ब्रह्म में नाना-भिन्न की तरह देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।' इति । इसका यह अर्थ है–इस प्रत्यगात्मा-ब्रह्म में नाना यानी अपने अज्ञान से कल्पित-जगत्-जीव-ईश्वरादि का भेद कुछ भी वस्तुतः नहीं है। इस प्रकार परमार्थ से-भेदरहित-इस ब्रह्म में, जो कोई–भेददृष्टिरूप-अविद्या से मोहित हुआ–नाना इव यानी 'परमात्मा से अन्य मैं हूँ, मुझ से अन्य परब्रह्म है'

भिन्नमिव पश्यति, इवशब्देन नानात्वस्यानृतत्वं स्वाभिमतमभिव्यनक्ति। सो भेददर्शी पौनःपुनिकजन्ममरणसन्तानमाप्नोतीत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—वस्तुतः स्वाभावस्थले प्रतीयमानत्वमेवानृतस्य लक्षणम्। तथा प्रतीयमानत्वश्चानानाभूते ब्रह्मणि नानात्वमनृतं, तदभिसन्ध एवानृताभिसन्धः, तस्य च बन्धः पौनःपुनिकजन्ममरणरूप इति। तदेतत्स्मरति भगवान् वेदव्यासोऽपि—'यस्मिन्नविद्यारचितं निरर्थकं पश्यन्ति नानात्वमपि प्रतीतम्।' (भा. ४।१७।१९) त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति।' (भा. १०।१४।२२) इति। एतेन सत्याभिसन्धमोक्षौ व्याख्यातौ। निर्भेदं सर्वसंसारधर्मवर्जितं नित्यविज्ञानानन्दघनस्वभावं परिपूर्णं ब्रह्मैव सत्यं, तद्दर्शी च सत्याभिसन्धः। आत्यन्तिको जननमरणप्रवाहविच्छेद एव च मोक्ष इति। तदेवं भगवदनुग्रहप्रयुक्तशुभाशीर्वादप्रभावात्सत्याभिसन्धत्वरूपमहावाक्यार्थानुभवसिद्धौ सत्यामखिलानर्थबीजभूताज्ञाननिवृत्त्या निरतिशयानन्दमात्रस्वरूपब्रह्मभावो मोक्षः कृतकृत्यता च सिध्यतीति भावः। इत्यलं पल्लवितेन।

ऐसा भिन्न की तरह देखता है। इव शब्द से वेदमन्त्र, नानात्व में अपने अभिमत-अनृतत्व-मिथ्यात्व को अभिव्यक्त करता है। वह भेददर्शी पुनः पुनः जन्ममरण की परम्परा को प्राप्त होता है। उसमें यह तात्पर्य कहा गया है—'वस्तुतः अपने अभाव के स्थान में अपना प्रतीयमानत्व ही अनृत मिथ्यात्व का लक्षण है। तिस प्रकार का प्रतीयमानत्व, अनानाभूत-ब्रह्म में नानात्व-द्वैतप्रपञ्च का है, इसलिए वह अनृत है, उस अनृत में अभिसंध दुराग्रह रखने वाला-मनुष्य अनृताभिसंध है। उसको बन्ध, पुनः पुनः जन्ममरणरूप है। इति। वही यह श्रीमद्भागवत में भगवान् वेदव्यास भी स्मरण करता है—'जिस परमात्मा में मूढ़-लोग, अविद्या से रचित-प्रतीति का विषय-निरर्थक-नानात्व-द्वैत-प्रपञ्च को देखते हैं।' 'तुझ-नित्य-सुख-बोध-अनन्त-स्वरूप में माया से उद्भासित यह असत् प्रपञ्च सत् की भाँति प्रतीत होता है।' इति। इस वक्ष्यमाण के कथन से—सत्याभिसंध एवं मोक्ष व्याख्यात हो गये। जीवेश्वरादि-भेदरहित-संसार के समस्त-कर्तृत्वादि धर्मों से रहित—नित्य विज्ञान-आनन्दघनस्वभाव-परिपूर्ण-ब्रह्म ही सत्य है, और उस सत्य-तत्त्व का दर्शी ही सत्याभिसंध है। जनन-मरण के प्रवाह का आत्यन्तिक विच्छेद ही मोक्ष है। इस प्रकार भगवान् के अनुग्रह-प्रयुक्त-शुभाशीर्वाद के प्रभाव से सत्याभिसन्धत्वरूप-महावाक्य के अखण्डैकरसत्वार्थ के अनुभव की सिद्धि होने पर अखिल-अनर्थ का बीजरूप-अज्ञान की निवृत्ति द्वारा निरतिशय-आनन्दमात्र-स्वरूप-ब्रह्मभाव ही मोक्ष एवं कृतकृत्यता सिद्ध होती है, यह भाव है। विस्तार से बस है।'

(६७)

(सर्वस्येशानो योगक्षेमनिर्वाहक इन्द्रः परमात्मैव सदा सद्भिर्यष्टव्यः)

(सबका ईश्वर—योग-क्षेम का निर्वाहक—इन्द्र परमात्मा ही सदा सत्पुरुषों के द्वारा यजन करने योग्य है)

राज्ञः प्रशासने राज्यस्येव कस्यचित्परमेश्वरस्य प्रशासने सत्येवास्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य विश्वस्यास्फुटितनियमवद्धत्वेन वर्तमानत्वादवगम्यतेऽस्ति कश्चिदीशिता, स एवास्माभिः परया श्रद्धयाऽऽह्वातव्यो यष्टव्यश्चेति प्रतिपादयन्नाह—

'राजा के प्रशासन में राज्य की भाँति' किसी एक-परम-ईश्वर का प्रशासन होने पर ही इस स्थावर-जंगमरूप-विश्व की अस्फुटित-त्रुटिहीन-नियमबद्धत्व से-वर्तमानता होने से निश्चयपूर्वक जाना जाता है कि—है कोई इसका नियन्ता। वही हमारे से परम श्रद्धा के द्वारा आह्वान करने योग्य है, तथा यजन-भजन करने योग्य है, ऐसा प्रतिपादन करता हुआ वेदमन्त्र कहता है—

ॐ इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः, इन्द्रो अपामिन्द्र इत्पर्वतानाम्।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणा-मिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ८९ ऋक्. १०) (नि. ७१२)

'इन्द्र परमात्मा, स्वर्गलोक का तथा पृथिवीलोक का भी नियन्ता है, तथा इन्द्र भगवान्, जलों का या पाताल-लोक का तथा पर्वतों का भी नियन्ता है। इन्द्र परमेश्वर, स्थावर-जगत् का तथा मेधा-बुद्धि वाले-चेतन जगत् का भी नियन्ता है। वह सर्वेश्वर-इन्द्र हमारे योग एवं क्षेम के सम्पादन में समर्थ है, इसलिए वही हमारे से आह्वान एवं यजन करने योग्य है।'

इन्द्रः=परमेश्वरः, दिवः=द्युलोकस्य स्वर्गस्य, ईशे=इष्टे-नियामकः-ईश्वरोऽन्तः प्रविश्य शास्ता भवतीत्यर्थः। 'ईशे' इत्यस्य सर्वत्रानुषङ्गः। पृथिव्याः=भूमेः, अपां=उदकानां-पातालस्य वा। पर्वतानां=भूधराणां-मेघानां वा। वृधां=वृद्धानां-वीरुधां-स्थावराणां वा। मेधिराणां=मेधावतां-जङ्गमानामिति यावत्। इत्=एवेत्यर्थे। इन्द्रपदस्यावृत्तिरादरार्था पुण्यपाठार्था वा। योगे=ऐहिकस्य शरीरयात्राद्यर्थधनादिपदार्थस्यामुष्मिकस्य स्वर्गस्य च ब्रह्मावाप्त्यात्मकस्य मोक्षस्य चाप्राप्तस्य प्रापणे, क्षेमे=प्राप्तस्यैहिकपदार्थस्यामुष्मिकस्यापुनरावृत्त्यात्मकस्य मोक्षस्य च रक्षणे, इन्द्रः इष्टे-समर्थो भवति। अत एवैतादृश इन्द्रः परमात्मैव, हव्यः=ह्वातव्यो यष्टव्यो वा भवतीत्यर्थः।

इन्द्र-परमेश्वर, दिव्-द्युलोक-स्वर्ग का ईशिता-नियामक-ईश्वर है, भीतर में प्रविष्ट हो कर शास्ता है। 'ईशे' इस क्रियापद का सर्व में अनुषङ्ग-अन्वय है। पृथिवी-भूमि का, अप्-उदकों का या पाताल का, पर्वत-भूधरों का या मेघ-बादलों का, वृध्-वृद्धों का या 'वीरुध्-वृक्षलतादि-स्थावर-जड पदार्थों का, तथा मेधिर-मेधा-बुद्धि-वाले-जंगम-प्राणियों का नियन्ता है। 'इत्' एव अर्थ में है। इन्द्र पद की आवृत्ति, आदर के लिए है, या पुण्य-पाठ के लिए है। योग में—यानी ऐहिक-शरीर-निर्वाहादि के लिए धनादि पदार्थ तथा आमुष्मिक-स्वर्ग एवं ब्रह्मप्राप्तिरूप-मोक्ष—जो अप्राप्त है—उनकी प्राप्ति में, तथा क्षेम में यानी प्राप्त-ऐहिक पदार्थ के एवं आमुष्मिक-स्वर्गादि एवं अपुनरावृत्तिरूप-मोक्ष के रक्षण में इन्द्र-समर्थ है। इसलिए इस प्रकार का सर्वसमर्थ-इन्द्र-परमात्मा ही हमारे से हव्य-आह्वान एवं यजन करने योग्य है। इस प्रकार

एवमिन्द्रस्य भगवतो महेशानत्वं ऋगन्तरमप्याह–'इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरुहूतः। महान् महीभिः शचीभिः ॥' (ऋ. ८।१६।७) इति। अयमिन्द्रः, ब्रह्मा=परिवृढः सर्वेभ्योऽधिकः सर्वेशानः। स एवेन्द्रः ऋषिः=सर्वस्य शब्दार्थजातस्य द्वैतप्रपञ्चस्य द्रष्टा। स इन्द्रः पुरुः=बहुरूपः–विश्वरूपः, अत एव, पुरुहूतः=बहुभिराहूतश्च, महीभिः=महतीभिः–दिव्याभिः शचीभिः=शक्तिभिः प्रशस्तजन्मगुणकर्मभिर्वा महान्=प्रभूतः सर्वाराध्यो भवतीत्यर्थः। एवमिदमपि–'तवेमाः प्रजा दिव्यस्य रेतसः त्वं विश्वस्य भुवनस्य राजसि। अथेदं विश्वं पवमान! ते वशे त्वमिन्दो! प्रथमो धामधा असि ॥' (ऋ. ९।८६।२८) इति। तव दिव्यस्य=लोकोत्तरस्य रेतसः=सर्वशक्तेः सकाशात्, इमाः प्रजाः=स्थावरजंगमरूपाः समुत्पन्नाः सन्ति। अत एव त्वं विश्वस्य=सर्वस्य भुवनस्य=भूतभौतिकजातस्य राजसि=ईश्वरो भवसि। अथापि चेदं विश्वं हे पवमान! शुद्धनिर्विकार! ते वशे=त्वदधीनं सद्वर्तते। हे इन्दो!=सदा शान्तस्वरूप! प्रथमः=मुख्यस्त्वं सर्वोत्तमतमः, धामधाः=धाम्नः–अखण्डस्वयंप्रकाशदीप्तेः धर्ता असि=भवसीत्यर्थः ॥

इन्द्र भगवान् के महेशानत्व का अन्य ऋक्-मन्त्र भी प्रतिपादन करता है–'यह इन्द्र ब्रह्म है अर्थात् सर्व से महान् है, यह इन्द्र ऋषि है, अर्थात् विश्व का द्रष्टा-साक्षी है, यह इन्द्र पुरु है अर्थात् बहुरूप है, इसलिए यह पुरुहूत है–बहुतों से आह्वान करने योग्य है, महती-शक्तियों से या महान्-दिव्य गुणकर्मादियों से यह महान् है।' इति। यह इन्द्र ब्रह्मा–परिवृढ यानी सबों से अधिक–महान् सर्वेश्वर है। वही इन्द्र ऋषि यानी समस्त-शब्द-अर्थ के समुदायरूप द्वैतप्रपञ्च का द्रष्टा है। यह इन्द्र पुरू यानी बहुरूप-विश्वरूप है, इसलिए–पुरुहूत यानी बहु-सुरासुर-मनुजादियों से आहूत है। तथा यह महती-दिव्य-शची-शक्तियों के द्वारा या प्रशस्त-जन्म-गुणकर्मों के द्वारा महान्-प्रभूत सर्वाराध्य हुआ है। इस प्रकार यह भी मन्त्र कहता है–'हे पवमान! हे इन्दो! सर्वात्मन्! तेरी दिव्यशक्ति से ही यह स्थावर-जंगमरूप-समस्त-प्रजा उत्पन्न हुई है। तू ही अखिल-भुवन का राजा है। और यह निखिल-विश्व तेरे वश में है। तू ही सब में प्रथम-मुख्य है, और तू ही अखण्ड-स्वयंप्रकाशदीप्ति का धारणकर्ता है।' इति। तुझ-दिव्य-लोकोत्तर रेतस्-सर्वशक्ति वाले परात्मा के सकाश से ही यह दृश्यमान स्थावर-जंगमरूप-प्रजा सम्यक्-उत्पन्न हुई हैं। इसलिए तू विश्व-सर्व, भुवन-भूतभौतिकसमुदाय का राजा-ईश्वर है। और भी यह विश्व, हे पवमान! यानी शुद्ध निर्विकार! तेरे वश में-आधीन हुआ वर्तता है। हे इन्दो! सदा शान्तस्वरूप! प्रथम यानी मुख्य-अतिशय करके सर्व से उत्तम तू, अखण्ड-स्वयंप्रकाशदीप्तिरूप धाम का धर्ता-धारक है। इति।

(६८)

(स्त्र्यादिविषयासक्तेर्महानर्थकरत्वस्य वर्णनम्)

(स्त्री-आदि विषयों की आसक्ति के महा-अनर्थ-करत्व का वर्णन)

अनादिभवपरम्परानुभूतानेकस्त्र्यादिविषयवासनावासितान्तःकरणान्, वासनापरवशतया तेष्वेव प्रवर्तमानान् विषयासक्तमानसान् प्रति तेषां विषयप्रवणतां परावर्तयितुं, पुरूरव-उर्वशीसम्वादमुखेन स्त्र्यादिविषयेषु सुखाभावं पुरुदुःखदुःखञ्च बोधयितुं, विषयासक्तानीमानीन्द्रियाणि वृका इव तेजोबलबुद्धिशान्तिधर्मादिभक्षणपराणि सन्तीत्येतत्, तथा वृकाणां हृदयमिवाऽसतीनां स्त्रीणां हृदयमतीव क्रूरञ्चास्तीत्येतद्वर्णयन् सर्वमनुजहितबोधको वेदः समुपदिशति—

अनादि-भव-जन्मों की परम्परा में अनुभूत-अनेक-स्त्री आदि विषयों की वासनाओं से वासित-संयुक्त अन्तःकरण वाले—जो वासनाओं के परवशता से उन विषयों में ही प्रवर्तमान होते रहते हैं—ऐसे विषयासक्त-मन-वालों के प्रति—उनकी विषय-प्रवणता-अभिमुखता का परावर्तन-निराकरण करने के लिए, पुरूरवा एवं उर्वशी के संवाद द्वारा स्त्री आदि विषयों में सुख के अभाव का एवं बहु दुःख ही दुःख का बोधन करने के लिए, विषयासक्त ये इन्द्रियाँ—'वृक-भेडियों की भाँति' तेज-बल-बुद्धि-शान्ति-धर्म आदि के भक्षण करने में तत्पर रहती हैं, इसका—तथा 'वृकों के हृदय की भाँति' असती-कुलटा स्त्रियों का हृदय, अत्यन्त क्रूर होता है, इसका वर्णन करता हुआ—समस्त मनुष्यों के हित का बोधक भगवान् वेद सम्यक् उपदेश करता है—

ॐ पुरूरवो मा मृथा मा प्रपप्तो, मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति, सालावृकाणां हृदयान्येता ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ९५ ऋक् १५। अ. मा. ११५।१।९)

'हे पुरूरवः ! राजन् ! तू स्त्री आदि विषयों की आसक्तिरूप-विष से मत मर, अपना अधःपतन मत कर। तुझ को विषयविमोहित-इन्द्रियरूप-क्रूर-संतापप्रद-वृक-भेडियें मत खा जाँय। स्त्रियों के द्वारा किये गये स्नेह-प्रधानरूप सख्य, कदापि सुखकारी नहीं होते हैं। क्योंकि—दुष्ट-स्त्रियों के क्रूर हृदय, जंगली-कुत्तों के हृदय के समान घातुक होते हैं।'

उर्वशी स्वर्लोकसुन्दरी स्वासक्तं विवेकविकलं पुरूरवसं राजानं प्रत्युवाच—हे पुरूरवः! त्वं मा मृथाः=स्त्र्यादिविषयासक्त्यात्मकदुष्टविषभक्षणेन मृतिं मा प्राप्नुहि। (म्रियतेर्लुङि थासि 'ह्रस्वादङ्गादिति' सिचो लोपः) यदाहुः 'न विषं विषमित्याहुर्विषया विषमुच्यते।' इति। तथा मा प्रपप्तः=स्त्रीपिण्डसम्पर्कसम्भूतकामकलुषितचेतस्त्वेन विषयविषान्ध्यमवाप्यात्मनोऽधःपतनं त्वं

स्वर्गलोक की सुन्दरी उर्वशी, अपने में आसक्त-विवेकरहित-पुरूरवा नाम के राजा के प्रति बोली—हे पुरूरवः ! तू मत मर अर्थात् स्त्री-आदि-विषयों की आसक्तिरूप-दुष्ट विष के भक्षण से मृत्यु को मत प्राप्त हो।' यह कहते हैं—'प्रसिद्ध विष को विद्वान् विष नहीं कहते हैं, किन्तु विषय ही विष कहा जाता है।' इति। तथा तू मत नीचे गिर, अर्थात् स्त्रीशरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न होते वाले-काम-मन्मथ से कलुषित चित्त वाला हो कर विषय-विष से अन्धत्व को प्राप्त करके अपना अधःपतन तू

मा कार्षीः । (पततेर्लुङि लृदित्वात्पुषादीत्यादिना च्लेरङ् 'पतः पुमि'ति पुम्) तथा त्वा=त्वां, अशिवासः=अशुभाः-क्रूराः सन्तापप्रदाः, वृकासः=विषयविमोहितेन्द्रियरूपा वृकाः, मा उ क्षन्=उ इत्येवकारार्थः, क्षन्=अक्षन्-माक्षन्-माऽभ्यवहरन्तु-यथा त्वां मा भक्षयन्तु-मा मारयन्तु । तथा त्वमनित्यत्वाशुचित्वदुःखानुविद्धतया स्त्र्यादिविषयाननादृत्य तेभ्यः-इन्द्रियात्मकवृकेभ्यः सदा सावधानस्तत्त्वानुभवनिष्ठो मृत्योर्मृत्युस्त्वं भवेति यावत् । उक्तञ्च-'विषयप्रीतिसंहारं यः करोति विवेकतः । मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वानात्मवित्कविः ॥' इति । (अदेर्लुङि 'लुङ् सनो घस्लृ' इति घसादेशे 'मन्त्रे घसे'ति च्लेर्लुकि 'गमहने'त्युपधालोपे 'शासिवसी'त्यादिना षत्वे 'खरि चे' ति चर्त्वे बाहुलकादडभावे 'क्षन्' इति रूपं सिद्ध्यति) तदेवं विषयासक्तिलक्षणमृत्युनिवारणमधःपातत्राणमिन्द्रियवृकसावधानञ्च कर्तव्यत्वेनोक्त्वा विषयवैराग्यं दृढं जनयितुं स्त्र्यादिविषयस्नेहस्यासारतां सुखाभावरूपतां शोकसन्तापाद्यनर्थप्रदताञ्चाह-स्त्रैणानि=स्त्रीणामिमानि-ताभिः कुलटाभिः कृतानि, सख्यानि=स्नेहप्रधानानि गाढमैत्रीरूपाणि, न वै सन्ति=सुखकराणि न सन्ति खलु । तत्र कारणमाह-एता=एतानि सख्यानि, सालावृकाणां=आरण्यशुनां हृदयानि, तेषां क्रूराणि हृदयानि यथा वत्सादीनां विश्वासापन्नानां घातुकानि भवन्ति, तद्वत् कुलटानां स्त्रीणामतिलोलानि पापानि हृदयान्यपि घातुकानि भवन्ति । अतः स्त्रैणानि सख्यानि प्रभूत-

मत कर । तथा तुझ को-अशिवास-यानी अशुभ-क्रूर-संतापप्रद, वृकास यानी विषयों में विमोहित-इन्द्रियरूप-वृक-भेड़िये मत खा जाँय । अर्थात् जिस प्रकार तेरा इन्द्रियरूप वृक न भक्षण करें, तुझ को न मारें, तिस प्रकार तू अनित्यत्व-अपवित्रत्व-एवं दुःख से अनुविद्धस्वरूप से स्त्री आदि-विषयों का अनादर करके, उन इन्द्रियरूप वृकों से सदा सावधान, तत्त्व-परमार्थ-वस्तु के अनुभव में निष्ठा वाला, मृत्यु का भी मृत्यु तू हो । तथा कहा गया है-'जो विवेक-वैराग्य से विषयप्रीति का संहार करता है, वह विद्वान्-आत्मवेत्ता-कवि, मृत्यु का भी मृत्युरूप से विश्व में प्रख्यात हो जाता है।' इति । इस प्रकार विषयासक्तिरूप-मृत्यु के निवारण का, अधःपतन से रक्षण का, एवं इन्द्रियरूप वृकों से सावधान का, कर्तव्य रूप से कथन करके, दृढ-विषयवैराग्य को उत्पन्न करवाने के लिए-स्त्री आदि विषयों के स्नेह की असारता का, सुखाभावरूपता का, एवं शोक-संतापादि-अनर्थप्रदता का प्रतिपादन करते हैं-स्त्रैणानि यानी स्त्रियों के ये-अर्थात् उन कुलटा-व्यभिचारिणी-स्त्रियों से किये गये सख्य-जो स्नेहप्रधान-गाढ मैत्रीरूप हैं-वे कदापि निश्चय से सुखकारी नहीं होते हैं। उसमें कारण कहते हैं-ये सख्य, सालावृक यानी जंगली-कुत्तों के हृदयों के समान हैं । जिस प्रकार जंगली कुत्तों के क्रूर हृदय, विश्वासापन्न-बछड़े आदि के घात-मृत्यु के कारण होते हैं, तिस प्रकार कुलटा-स्त्रियों के अतिचंचल-पापी-दुष्ट हृदय भी घातक ही होते हैं। इसलिए स्त्रियों के सख्य, प्रभूत-दुःखों के देने

दुःखप्रदान्येव सन्तीति निःसंशयमवगन्तव्यं सुधीभिरिति । यदाहुः—श्रीमन्महाभारते श्रीमद्भागवते च भगवन्तो वेदव्यासाः—'कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते ।' (शान्तिपर्व, मोक्षधर्म. १७७) 'यन्मैथुनादिगृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् । तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥' (भा. ७।९।४५) इति । अस्मिन् विषये वाजसनेयकं ब्राह्मणं श्रीमद्भागवतञ्च द्रष्टव्यम्—'मा एतदादृथा न वै स्त्रैणᳫ सख्यमस्ति पुनर्गृहानैहि इति हैवैनं तदुवाचेति।' (श. ब्रा. ११।५।१।९) 'मुञ्च मुञ्चाश्वपसर बाहू मद्गात्रवेष्टितौ । अतीव कातरो हा! त्वं मायया योऽतिलम्पटः ॥ मा मृथाः पुरुषोऽसि त्वं मा स त्वाद्युर्वृका इमे । क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ॥ स्त्रियो ह्यकरुणाः क्रूराः दुर्मर्षाः प्रियसाहसाः । घ्नन्त्यल्पार्थेऽपि विश्रब्धं पतिं भ्रातरमप्युत । विधायालीकविश्रम्भमज्ञेषु त्यक्तसौहृदाः । नवं

वाले ही होते हैं, ऐसा निःसंशय शोभन-बुद्धिमानों को जानना चाहिए। यही श्रीमन्महाभारत में तथा श्रीमद्भागवत में भगवान् वेदव्यास कहते हैं—'काम के वश में हुआ मनुष्य सदा दुःख को ही प्राप्त होता है।' 'गृहस्थों का जो मैथुनादि का सुख है, वह निश्चय से तुच्छ है। दद्रु-दाद-वाले हाथों के कण्डूयन-खुजाने से जैसे तुच्छ-क्षणिक सुख का अनुभव होता है, परन्तु परिणाम में जलन आदि से दुःख ही दुःख का अनुभव होता है, तैसे ही मैथुनादि के क्षणिक-तुच्छ-सुख के बाद दुःख ही दुःख का अनुभव होता है। तथापि कण्डूति-खुजाने की भाँति विषयासक्त-कृपण-प्राणी—इस मैथुनादि में बहु-दुःखों का भजन-अनुभव करते हुए भी उससे तृप्त नहीं होते हैं। इसलिए धीर विवेकी विचारवान् मनसिज-काम का विशेषरूप से सहन करे, उसके वश में न होवे।' इति। इस पुरुरवा एवं उर्वशी के विषय में वाजसनेयक-शतपथब्राह्मण, तथा श्रीमद्भागवत भी देखना चाहिए। 'इसका तू मत आदर कर, स्त्रियों का सख्य निश्चय से सुखकर नहीं है, पुनः अपने गृह के प्रति जा, इस प्रकार वह उर्वशी राजा पुरुरवा के प्रति बोली।' इति। 'मेरे शरीर को वेष्टन किये हुए तेरे बाहु-हाथों को शीघ्र तू छोड़ छोड़, जल्दी भाग यहाँ से। हा! तू अत्यन्त कातर-दीन है, माया-मिथ्या भ्रान्ति से जो तू अति-लम्पट हो गया है। तू मत मर, पुरुष है तू? ये इन्द्रियरूप-वृक तुझ को न खा जाँय? न मार डाले? जिस प्रकार वृकों के हृदय दुःखप्रद हैं, तिस प्रकार स्त्रियों के सख्य कहीं भी सुखकर नहीं होते हैं, किन्तु दुःखप्रद ही होते हैं। स्त्रियाँ दुष्ट-करुणा-रहित-क्रूर-दुर्मर्ष एवं प्रियसाहस-वाली होती हैं। अल्प-प्रयोजन के लिए भी विश्वासापन्न-पति एवं भाई को भी मार डालती हैं। अलीक-तुच्छ-झूठा स्नेह करके, उन अज्ञानी-पति आदि के प्रति सौहार्द

नवमभीप्सन्त्यः पुंश्चल्यः स्वैरवृत्तयः ॥' (भा. ९।१४।३०+३६+३७+३८) इति। 'सालावृकाणां स्त्रीणां च स्वैरिणीनां सुरद्विपः। सख्यान्याहुरनित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम् ॥' (भा. ८।९।१०) इति। एतैः-उर्वशीसमाकृष्टचेतसं पुरुरवसं प्रति उर्वश्युद्गाररूपैर्विषयासक्तानां घृणातिरस्कारद्योतकैर्वचनविशेषैः-'विषयाणामेषामाकर्षकता व्यामोहकताऽविवेकजनकता तृष्णाविवर्धकताऽतृप्तिकरता परिणामविरसता प्रभूतदुःखशोकप्रदता च, स्फुटतरा सूचिता भवति।

उर्वशीपुरुरवसोरयं वृत्तान्तः-पुरुरवाः कश्चन प्राक्तनो राजा, उर्वशीनाम्नी काचित् सुविचक्षणाऽतिशयितरूपलावण्यवती गन्धर्विणी वेश्या चासीत्। कदाचित् तां सुन्दरीं वीक्ष्य कामवशीभूतो राजा तस्याः-'ममातीवप्रियौ इमौ मेषौ त्वया यत्नतो रक्षणीयौ' 'सदाऽहं घृतमेव भक्षयिष्यामि' 'मैथुनादन्यत्र समयेऽहं त्वां नग्नं नेक्षिष्ये' इत्येवं त्रयं समयबन्धमभ्युपेत्य तां भोगार्थे जग्राह। यद्यस्य समयबन्धस्य भङ्गो भविष्यति, तदाऽहं त्वां त्यक्त्वा गमिष्यामीत्यपि तया स्वीकारितम्। एकदा मेघाडम्बरेण प्रवर्द्धिते गाढतमसि निशि तमुर्वश्या रममाणमालक्ष्य केचन चौराः तौ मेषौ बलादपजह्रुः। ह्रियमाणौ च तौ चक्रन्दतुः। तयोः क्रन्दितमाकर्ण्य सोर्वशी विललाप। विलपन्तीं प्राणप्रियां तां दृष्ट्वा विमोहितो राजा नग्न एव तूर्णं धावमान-

का त्याग करती हुईं-स्वेच्छा के अनुसार चलने वाली-पुंश्चली-कुलटा स्त्रियाँ नवीन-नवीन-पुरुष की इच्छा करती हैं।' इति। 'नवीन-नवीन की खोज करने वाले-सालावृकों के, स्वैरिणी-दुष्ट-स्त्रियों के, एवं देवद्रोही-राक्षसों के सख्य-मैत्री, अनित्य-क्षणिक ही है, ऐसा कहते हैं।' इति। इन-उर्वशी के प्रति समाकृष्ट-चित्त वाले पुरुरवा राजा के प्रति उर्वशी के उद्गाररूप-विषयासक्त-मनुष्यों के घृणा-तिरस्कार-के द्योतक-वचनविशेषों से-'इन स्त्री-आदि विषयों की आकर्षकता, व्यामोहकता, अविवेकजनकता, तृष्णाविवर्धकता, अतृप्तिकरता, परिणामविरसता तथा प्रभूत-दुःख-शोक-प्रदता' अतिस्पष्ट सूचित होती है।

उर्वशी एवं पुरुरवा का यह वृत्तान्त है-पुरुरवा कोई प्राचीन राजा था, और उर्वशी नाम वाली कोई सुविचक्षण-अतिशयित-रूप-लावण्य वाली, गन्धर्व जाति की वेश्या-स्त्री थी। कदाचित् उस सुन्दरी-उर्वशी को देख करके काम के वशीभूत हुआ राजा-उसके-'मेरे ये दो अत्यन्त प्रिय-मेष-मेढ तुझ को यत्न से रक्षण करने होंगे।' 'सदा मैं घृत-घी का ही भक्षण करूँगी।' 'मैथुन से अन्य समय में मैं तुझ को-नग्न नहीं देखूँगी।' इस प्रकार के तीन समय-नियमबन्ध का स्वीकार करके-राजा ने उसका भोग के लिए ग्रहण किया। 'यदि इस समय-बन्ध का भंग होगा, तब मैं तुझ को छोड़ कर चली जाऊँगी' ऐसा भी उस-उर्वशी ने राजा से स्वीकार करवा लिया। एक समय में मेघाडम्बर से अति बढ़े-हुए-अन्धकार वाली रात्रि में उर्वशी के साथ रमण करने वाले-उस राजा को जान करके किन्हीं चोरों ने बलपूर्वक उन दो मेषों का हरण किया। अपहृत होने वाले ये मेष चिल्लाने लगे। उनका चिल्लाना सुन कर वह उर्वशी विलाप करने लगी। विलाप करती हुई-उस प्राणप्रिया को देख कर विमोहित हुआ राजा नंगा ही शीघ्र

स्तयोः पृष्ठतोऽनुससार । चौरेभ्योऽपहृत्य तौ गृहीत्वा च नग्न एवातिहृष्टः पुरुरवाः प्रियान्तिकमाजगाम। दैवात्समयुत्पन्ने विद्युत्प्रकाशे नग्नीभूतं तं दृष्ट्वा समयबन्धभङ्गात्, ततः सा सपदि पलायिताऽभूत्। प्रियावियोगात् व्यथितहृदयो राजा बहु विललाप। तया हीनो दीनश्च क्षणमप्यवस्थातुं न शशाक। स चोन्मत्तः सन् देशाद् देशान्तरमनुधावन्नकस्मात्कुरुक्षेत्रे तां ददर्श। दृष्ट्वैव च स हृष्टवदनः प्रेमोत्फुल्लमनाः—'हे प्रिये! त्वन्मानसं वशगमनागसं मां त्यक्तुं नार्हसी'त्यादिवचनजातेन तामनुनिनाय। 'त्वया त्यक्तोऽयं मे देहो नूनं पतिष्यती'त्यादिकं प्रजल्पन् दीनचेता स तस्याः क्रूरायाः अन्तिके बहु विललाप। एवमनुनयन्तं विलपन्तञ्च तं पुरुरवसं राजानमुर्वशी परिभर्त्सयन्तीव प्रकृतमन्त्रोक्तं सर्वमुवाच, तदेतच्छतपथब्राह्मणभागवतपुराणादावपि विस्तरतो वर्णितम्। 'मूर्खोऽसि नृपशार्दूल! ज्ञानं कुत्र गतं तव। वृका इव स्त्रियस्तासां केन सख्यं क्व कीदृशम्॥' इत्यादिकमभिधाय तिरस्कृत्य च रुदन्तं तं विहाय स्वच्छन्दतः स्वस्थानं ज-

दौड़ता हुआ उन मेषों के पीछे गया। चोरों से मेषों को छिन कर एवं उनको ग्रहण कर नंगा ही अतिहर्षित हुआ पुरुरवा राजा प्रिया के समीप आया। दैवयोग से उस समय विद्युत् का प्रकाश हुआ, उस प्रकाश में उसको नग्न देख कर समयबंध के भंग हो जाने से, वह उर्वशी शीघ्र ही उस राजा के समीप से भाग निकली। प्रिया के वियोग से व्यथित-हृदय वाला राजा बहु विलाप करने लगा। उस उर्वशी से हीन एवं दीन हुआ राजा क्षण भर भी वहाँ अवस्थित होने के लिए समर्थ नहीं हुआ। वह उन्मत्त-पागल हो कर देश-देशान्तर में दौड़ता हुआ, अकस्मात् कुरुक्षेत्र में उसने उर्वशी को देखा। देख करके ही वह हर्षित-मुख वाला एवं प्रेम से विकसित मन वाला हो कर—'हे प्रिये! तेरे में ही आसक्त-मन-वाले—तेरे ही वशीभूत-अपराधरहित-मुझ का त्याग करने के लिए तू योग्य नहीं है' इत्यादि वचन-समुदाय से वह राजा उर्वशी से अनुनय-विनय करने लगा। 'तुझ से त्याग किया हुआ यह मेरा देह निश्चय से मर जायगा' इत्यादि बकवाद करता हुआ दीन-चित्त-वाला वह उस क्रूर-उर्वशी के समीप में बहु विलाप करने लगा। इस प्रकार अनुनय-विनय एवं विलाप करते हुए—उस राजा पुरुरवा की परि-भर्त्सना-तिरस्कारादि करती हुई उस-उर्वशी ने इस प्रकृत मन्त्र में कहा हुआ—सब कहा। वही यह शतपथब्राह्मण-भागवतपुराण आदि में भी विस्तार से वर्णन किया गया है। 'हे नृपव्याघ्र! तू मूर्ख है, तेरा ज्ञान कहाँ चला गया, वृक-की भाँति दुष्ट-स्त्रियाँ फाड़ खाने वाली होती हैं, उनका किस से कहाँ कैसा सख्य-मैत्री होती है? अर्थात् किसी से कहीं भी उनकी मैत्री सची-सुखकारिणी नहीं होती।' इत्यादि कह करके, उसका तिरस्कार करके, रोते हुए उस राजा को छोड़ कर स्वच्छन्द से वह अपने स्थान के प्रति चली गई। उस उर्वशी से तिरस्कृत हुआ—एवं

गाम। तयाऽवहेलितोऽतिदुःखितश्च राजा शिष्टैर्बहुविधं प्रबोधितोऽपि स्वैरिणीस्नेहापहृतचित्तो यावज्जीवनमवससाद। यथा च तस्य राज्ञस्तत्कृते विलापं, तं प्रति तस्याः तिरस्कारश्चाऽन्योऽपि निगमो वर्णयन्नाह—'ह ये जाये! मनसा तिष्ठ घोरे! वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।' (ऋ. १०।९५।१) इति। उर्वशीकामव्याकुलः पुरुरवाः तां पश्यन् वदति-ह ये-हे घोरे=मम घोरदुःखकारिणि! जाये! प्रिये! मनसा=अस्मदुपर्यनुरागवता मनसा युक्ता सती तिष्ठ=क्षणमात्रं सन्निधावेव निवस। मा शीघ्रं गच्छ। किमर्थं संस्थानमिति तत्राह-वचांसि=वाक्यानि, मिश्रा=मिश्राणि-उक्तिप्रत्युक्तिरूपाणि, प्रेमसंलापमिश्रितानि वा नु=क्षिप्रं, अद्य कृणवावहै=करवावहै। 'पुरुरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि।' (ऋ. १०।९५।२) इति। तं स्वकामुकं राजानं तिरस्कुर्वती अनयर्चा प्रत्युवाच-हे पुरुरवः! त्वं पुनरस्मत्सकाशादस्तं=स्वगृहं, परेहि=परागच्छ, मय्यभिलापं मा कार्षीः। स्वस्याग्रहत्वमाह-अहं वात इव=वायुरिव दुरापना=दुष्प्रापा अस्मि। इति दृढं जानीहि। इतीतिहासेनानेन स्त्रीविषयासक्तिः प्रभूतानर्थदायिन्यस्तीति सिद्ध्यतीति।

अत्यन्त दुःखी राजा, शिष्ट-विद्वानों के द्वारा अनेक प्रकार से प्रबोधित हुआ भी, उस स्वैरिणी-कुलटा स्त्री के स्नेह से अपहृत चित्त-वाला राजा जीवन-पर्यन्त दुःखी रहा। जिस प्रकार या-उस राजा का उर्वशी के लिए विलाप था, और राजा के प्रति उस उर्वशी का तिरस्कार था, उसका अन्य वेदमन्त्र भी वर्णन करता हुआ कहता है—'हे जाये! प्रिये!, हे घोरे! प्रभूत दुःखदायिनि! कृपा-वाले मन से तू खड़ी रह, हम दोनों स्नेह-मिश्रित वार्तालाप करें।' इति। उर्वशी की कामना से व्याकुल-पुरुरवा राजा उसको देख कर बोलता है—हे घोरे! मेरे को घोर-भयंकर-दुःख-सताप देने वाली, हे जाये! प्रिये! मेरे ऊपर अनुराग-वाले मन से युक्त हुई तू क्षणमात्र तो मेरे समीप में खड़ी रह, जल्दी मत भाग। किस लिए मैं खड़ी रहूँ? ऐसा प्रश्न होने पर राजा कहता है—कथन-प्रतिकथन रूप-मिश्रित वाक्य, या प्रेमसलापमिश्रित वाक्य, इस समय हम दोनों करें, अर्थात् परस्पर प्रेमालाप करें। उर्वशी बोली—'हे पुररव! तू पुनः अपने घर में लौट जा, वायु की भाँति मैं दुष्प्राप्य हूँ।' इति। अपनी कामना करने वाले-उस राजा का तिरस्कार करती हुई वह-उर्वशी, इस ऋचा के द्वारा उसके प्रति बोली—हे पुररव! तू पुनः मेरे समीप से अपने गृह में लौट जा, मेरी अभिलाषा मत कर। अपने अग्रहत्व को उर्वशी कहती है—मैं वायु की तरह दुष्प्राप हूँ, ऐसा तू निश्चयपूर्वक जान। इस इतिहास से स्त्रीविषय की आसक्ति, महान्-अनर्थ दुःखशोकादि-देने वाली है, ऐसा सिद्ध होता है। इति।

(६९)

(साधनसंपद्विधुरः कुतर्कादिसंयुक्तः शास्त्रश्रवणादि कुर्वन्नपि ज्ञानं तत्फलञ्च न प्राप्तुं शक्नोति)

(साधनसम्पत्ति से रहित-कुतर्कादि से संयुक्त-शास्त्र-श्रवण आदि करता हुआ भी ज्ञान को एवं उस के फल को प्राप्त करने के लिए समर्थ नहीं होता है)

इह किल यद्यपि भूयांसः पण्डिताः श्रुत्यादिशास्त्राण्यधीयते-अध्यापयन्ति च। बहवः छात्राः तानि शृण्वन्ति श्रावयन्ति च, तथापि चेतसः पराक्प्रवणतया कुतर्कग्रस्ततया च ते तत्प्रधानार्थभूतं प्रत्यगात्मब्रह्मतत्त्वं साक्षात्कर्तुं न पारयन्ति। स एव खलु श्रुत्याचार्योपदिष्टवागर्थमधिगन्तुं शक्नोति, यः किलानेकजन्मार्जितसुकृतचयावाप्तेशप्रसादासादितशुद्धबुद्धिः कामादिकुतर्कादिविमुखोऽमानित्वादिदैवीसम्पत्संयुक्तो भवतीत्यभिप्रेत्याह—

यद्यपि इस आर्यावर्त में बहुत पण्डित, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन एवं अध्यापन करते रहते हैं। तथा बहुत छात्र-विद्यार्थी उन शास्त्रों का श्रवण करते कराते हैं। तथापि चित्त की बहिर्मुखता होने के कारण एवं कुतर्क से ग्रस्त होने के कारण वे उन शास्त्रों का मुख्य-अर्थरूप-प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए समर्थ नहीं होते हैं। वही निश्चय से श्रुति एवं आचार्य्य से उपदिष्ट-वाणी के तात्त्विक अर्थ को जानने के लिए शक्तिमान् होता है, जिसने अनेक जन्मों में अर्जन किये गये-पुण्यसमुदाय से प्राप्त-परमेश्वर की प्रसन्नता से विशुद्ध-बुद्धि प्राप्त की है, एवं जो कामादि दोष एवं कुतर्कादि से विमुख है, अमानित्वादि-दैवीसम्पत्ति से संयुक्त होता है, ऐसा अभिप्राय रख कर मन्त्र कहता है—

ॐ उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं, उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त ७१ ऋक्. ४) (नि. १।८।१९)

'कोई-एक-अनधिकारी मनुष्य, श्रुति-आचार्य्य से उपदिष्ट वाणी को-लिपिरूप से देखता हुआ भी तात्त्विक-अर्थ का साक्षात्कार न होने के कारण-नहीं देखता है। तथा-वह उस वाणी का श्रवण करता हुआ भी सुमेधा-निर्मल-बुद्धि न होने के कारण नहीं सुनता है। किसी एक-अधिकारी-योग्य पुरुष के प्रति ही वह वाणी-जिस प्रकार अच्छे वस्त्र पहनी हुई-संभोग की कामना करती हुई जाया पत्नी, पति के प्रति अपने शरीर को सम्पूर्णरूप से प्रकट कर देती है-तिस प्रकार अपने वास्तविक-सम्पूर्ण-अर्थ-स्वरूप को प्रकट कर देती है।'

अत्र उतशब्दोऽप्यर्थे खल्वर्थे वा, त्वशब्द एकार्थे अन्यार्थे वा। उत त्वः=अपि खल्वेकः कश्चित् यः संस्कृतात्प्रत्यक्प्रवणादन्यः, पराक्प्रवणोऽसंस्कृतः-अनधिकारी,

इस मन्त्र में 'उत' शब्द, 'अपि' अर्थ में या 'खलु' अर्थ में है, एवं 'त्व' शब्द 'एक' अर्थ में या 'अन्य' अर्थ में है। 'उत त्व' यानी अपि खलु-कोई एक, जो प्रत्यगात्मा के अभिमुख-संस्कृत-पुरुष से अन्य, पराक्-प्रवण-बहिर्मुख-असंस्कृत-

१ अपूर्वत्वेन तात्पर्यविषयीभूतोऽर्थः प्रधानार्थः, अपूर्वत्वञ्च प्रमाणान्तरानधिगतत्वेन।

वाचं=श्रुत्याचार्योपदिष्टां वाणीं, लिपिरूपेण पश्यन्नपि=सम्यग्पश्यन्नपि–कुतर्ककामाद्युपहतेन मनसा पर्यालोचयन्नपि, न ददर्श=न तदर्थमपरोक्षतः पश्यति–नानुभवति, शुद्धैकाग्रबुद्ध्यभावादिति शेषः। एवं उत त्वः=अपि खल्वेकः, एनां वाचं स्वरूपेण शृण्वन्नपि न शृणोति, उक्तहेतोरेव। दर्शन-श्रवणफलाभावात् दर्शने श्रवणे चादर्शनत्वमश्रवणत्वञ्चोपचर्यते। निष्फलं कार्यं कृतमप्यकृतमिव भवतीति न्यायात्, अर्थपरिज्ञानफलत्वाद्वाचः, य एव ह्यर्थं सम्यगवबुध्यते, तेनैव सा सम्यक् श्रुता दृष्टा च भवति। यो ह्यर्थं साक्षात्कर्तुं न प्रभ-

अनधिकारी है, वह निश्चय से वाक्-श्रुति-आचार्य से उपदिष्ट-वाणी को लिपिरूप से देखता हुआ भी–उसका अच्छी प्रकार से अभ्यास करता हुआ भी–कुतर्क-कामादि से उपहत-मन से पर्यालोचन करता हुआ भी, उसके रहस्यभूत-अर्थ को अपरोक्ष-रूप से नहीं देखता है, अनुभव नहीं करता है, क्योंकि–'उसकी शुद्ध एवं एकाग्र-बुद्धि न होने से' इतना शेष है। इस प्रकार कोई एक-अनधिकारी इस वाणी का स्वरूप से श्रवण करता हुआ भी, नहीं सुनता है, पूर्वोक्त-कारण से ही। दर्शन एवं श्रवण के फल का अभाव होने से दर्शन में अदर्शनत्व का एवं श्रवण में अश्रवणत्व का उपचार किया जाता है। क्योंकि–'निष्फल-कार्य किया हुआ भी नहीं किया हुआ-सा हो जाता है' इस न्याय से। वाणी का अर्थ-परिज्ञान ही फल है। जो निश्चय से अर्थ को अच्छी रीति से जानता है, उससे ही वह वाणी, अच्छी प्रकार से सुनी हुई-एवं देखी हुई होती है। जो अर्थ का साक्षात्कार करने के लिए समर्थ नहीं होता है, वह निश्चय से उस अर्थ का

---

१ शब्दात्मिकाया वाचश्चाक्षुषप्रत्यक्षत्वाभावात्, वाचो दर्शनस्यानुपपत्तिरतस्तस्याः परिहाराय वैदिकसमयेऽपि लेखनप्रचारोऽवश्यं स्वीकर्त्तव्यः, तथा च शब्दपरिचायकलिपिरूपेण तस्या दर्शनसम्भवात्, 'उत त्वः पश्यन्' इति कथनं समुपपन्नमेव। एतेन प्राक्तनैर्महर्षिभिः परम्परया गुरोर्मुखाच्छ्रुत्वैव न तु लिखित्वा वेदा बुद्धाववस्थापयन्त, अत एव वेदानां श्रुतिरिति संज्ञा प्रथिता, तथा च वेदकालिको नायं लेखनप्रचारोऽपि त्वर्वाचीन एवेति ब्रुवाणाः पाश्चात्यपण्डिता निरस्ताः। श्रूयते एवायं वेदो न त्वस्य कश्चिच्छरीरी कर्तोपलभ्यते, 'इत्यर्थपरतया श्रुतिशब्दस्य साधुत्वाभ्युपगमात्, अन्यथा स्मृतिरिति नाम्नापि स्मृतिसमयेऽपि लेखनप्रचाराभावः कल्पनीयः स्यादित्यलं मिथ्याविवादेन।

शब्दरूप-वाणी की चाक्षुष-प्रत्यक्षता न होनेसे वाणी के दर्शन की अनुपपत्ति है, इसलिए उसके परिहार के लिए वैदिकसमय में भी लेखनप्रचार अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए। तथा शब्द-परिचायक-लिपिरूप से उस वाणी के दर्शन का सम्भव है। इसलिए 'उत त्वः पश्यन्' ऐसा श्रुति का कथन सम्यक् उपपन्न हो जाता है। इस से–'प्राचीन महर्षि परम्परा से गुरु के मुख से सुन करके ही–लिख करके नहीं–अपनी बुद्धि में वेदों को स्थापित करते रहे, इसलिए वेदों का 'श्रुति' ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ है। तथा च वेदकाल में लेखन का प्रचार नहीं था, किन्तु लेखनकला आधुनिक ही है।' ऐसा कहने वाले पाश्चात्य युरोपादि के पण्डितों का कथन खण्डित हो गया। यह वेद सुना ही जाता है, इसका कर्ता कोई शरीरधारी उपलब्ध नहीं होता है, इस अर्थ का बोधन करने से श्रुति शब्द में साधुत्व आजाता है। अन्यथा 'स्मृति' इस नाम से स्मृति समय में भी लेखन-प्रचार के अभाव की कल्पना करनी होगी। ऐसे मिथ्याविवाद से अलं-बस है।

वति, स खलु तदभिधायिनीं वाचं शृण्वन्नपि लिपिरूपेण पश्यन्नपि न पश्यति न च शृणोतीति युक्तमेव । इत्येवमनेनार्धर्चेनाधिकारसम्पद्विधुरो बहिर्मुखोऽज्ञो निष्फलायासमात्रफलककार्यकारित्वेन निन्दितः, तृतीयपादेनाधिकारसम्पत्संयुक्तमधिगताधिगन्तव्याधिगमं विज्ञं सफलकार्यतया स्तौति-उतो त्वस्मै=उत-अपि, उ-निश्चयेन, त्वस्मै=एकस्मै-पूर्वोक्तादन्यस्मै-साधनसम्पत्तिमते, तन्वं=तनुं-अर्थरूपं शरीरं, विसस्रे=विवृणुते-प्रकाशयतीत्यर्थः । अर्थो हि वाचः शरीरं, अर्थस्य सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनम् । (सृधातोः 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' इति वर्तमाने लिट्) धातूनामनेकार्थत्वात्प्रकाशने वृत्तिः । एवं ददर्शेत्यत्रापि वर्तमानकालत्वं बोध्यम् । अथेदानीं दृष्टान्तेन सादृश्यरूपेण तमेवार्थानुभवकर्तारं विज्ञं स्तुवन्नाह—जायेव=यथा जाया, उशती=संभोगं कामयमाना, सुवासाः=शोभनवस्त्रा, यद्वा सुवासाः=निर्णिक्तवासाः-नीरजस्का, जाया=गर्भग्रहणधारणादियोग्या पत्नी, पत्ये=भर्त्रे, ऋतुकाले संभोगार्थं विवृतसर्वाङ्गावयवा भूत्वा प्रेम्णा स्वयं स्वीयसकलस्वरूपं विवृणोति-प्रकटयति-दर्शयति, तदा ह्यतितमां स्त्री पुरुषं प्रार्थयते, यथा तत्पुरुषस्तां यथावत्साकल्येनादरयुक्तः पश्यति शृणोति च तद्वचनार्थं, नान्यदा घनपटप्रावृतशरीराम् । तद्वत्सा

प्रतिपादन करने वाली-वाणी को सुनता हुआ भी, एवं लिपिरूप से देखता हुआ भी नहीं देखता है, नहीं सुनता है, ऐसा युक्त ही है । इस प्रकार इस आधी-ऋचा से अधिकार-सम्पत्ति से रहित, बहिर्मुख, अज्ञानी-मूढ की-निष्फल-आयास-परिश्रम-मात्र-फल वाले-कार्य का कारी होने से-निन्दा किया । तीसरे पाद-से अधिकार-सम्पत्ति से संयुक्त-ज्ञेयविषयक-यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करने वाले-विज्ञ-की-सफल कार्य का कारी होने से-स्तुति करता है-'उतो त्वस्मै' उत-अपि, उ-निश्चय से, पूर्वोक्त-अनधिकारी से अन्य-कोई एक-साधनसम्पत्ति वाले योग्य-अधिकारी के लिए ही वह वाणी अपने अर्थरूप विग्रह-स्वरूप को प्रकाशित करती है । अर्थ ही वाणी का शरीर-विग्रह है, अर्थ का सम्यक् ज्ञान ही उसका प्रकाशन है । धातुओं का अनेकार्थ होने के कारण यहाँ सृधातु का प्रकाशन अर्थ में वृत्ति-व्यवहार है । इस प्रकार 'ददर्श' इस भूतकाल के प्रयोग में भी वर्तमानकालता समझनी चाहिए । अब सादृश्यरूप-दृष्टान्त से उसी ही-अर्थ का अनुभव करने वाले-विज्ञ की स्तुति करता हुआ मन्त्र कहता है-जिस प्रकार संभोग की कामना करने वाली शोभनवस्त्रों को धारण करने वाली-जाया, या सुवासा यानी रजःस्राव से मुक्त हो कर धोये हुए-स्वच्छ वस्त्र-पहनी हुई, जाया यानी गर्भ के ग्रहण-धारणादि के लिए योग्य पत्नी, पति-भर्ता के लिए-ऋतुकाल में संभोगार्थ-प्रकट किये हैं-शरीर के समस्त-अंग एवं अवयव जिसने-ऐसी हो कर प्रेम से स्वयं ही अपने शरीर के समस्त स्वरूप को प्रकट कर देती है-दिखा देती है । उस समय स्त्री पुरुष की अतिशयरूप से प्रार्थना करती है । जिस प्रकार उसका पुरुष, उस समय उसको यथावत् सकलरूप से आदरयुक्त-हुआ देखता है, उसके वचन के अर्थ को सुनता है, तिस प्रकार अन्य समय में सान्द्र-वस्त्रों से आवृत-शरीर वाली

वाक् उत्तमाधिकारयुजे तस्मै स्वात्मानमर्थं विवृणोति, स एव चेतसः शुद्ध्यैकाग्र्यकाले एनामर्थस्वरूपां वाचं यथावत्पश्यति शृणोति च, नान्यदा नान्यः। तथा च वागर्थप्रतिपत्तये श्रेयस्कामैर्महता प्रयत्नेनाप्यधिकारसम्पत् सम्पादनीयेति भावः।

पत्नी को समग्ररूप से नहीं देखता है। तद्वत् यह वाणी, उत्तम-अधिकार वाले, उस योग्य-पुरुष के लिए ही अपने अर्थस्वरूप को प्रकट कर देती है। वही चित्त की शुद्धि-एवं एकाग्रता के समय में ही अर्थस्वरूप वाली-इस वाणी को यथावत् देखता है, एवं सुनता है, अन्य समय में एवं अन्य नहीं यथावत् देखता एवं सुनता है। तथा च वाणी के अर्थ की प्रतिपत्ति-अनुभव के लिए श्रेयः की कामना करने वाले को महान्-प्रयास के द्वारा भी अधिकार-सम्पत्ति का सम्पादन करना चाहिए, यह भाव है।

(७०)

(यस्य वागनृतादिभिरदुष्टा मनश्च रागद्वेषादिभिरदूषितं भवति, स एव वेदोपदिष्टं सर्वं फलमवाप्तुं शक्नोति)

(जिसकी वाणी अनृत आदि-दोषों से दुष्ट नहीं है, मन भी रागद्वेषादियों से दूषित नहीं है, वही वेद से उपदिष्ट-सर्व फल को प्राप्त कर सकता है)

सत्यब्रह्मचर्यादीनि सम्यग्ज्ञानसहकारीणि[1] सन्ति साधनानि कैवल्यस्य। तेभ्य एव साध्यममीप्सितं फलं साधकेनावाप्यते। परन्तु यावत्तद्विपक्षेभ्योऽनृतमैथुनादिभ्यस्तानि विविक्तानि रक्षितानि च न भवेयुः, तावत्तानि न सिद्ध्यन्ति। अतः साधनप्रतिष्ठायै तावदादौ विपक्षविजयो विधातव्यः। अपि च कथञ्चिद्विपक्षेभ्यो निषिद्धविषयेभ्यस्तेभ्यो व्यावृत्तान्यपि वागादीनीन्द्रियाणि मनोदोषैः कामादिभिः पुनस्तानन्यदा गृह्णन्ति। अतः सद्विचारवैराग्यादिभ्यस्तत्तद्दोषानवधूय मनोजयोऽप्यवश्यं

सत्य, ब्रह्मचर्य आदि साधन, सम्यक्-ज्ञान के सहकारी-सहायक हैं, और कैवल्यमोक्ष के परम्परया साधन हैं। उन साधनों से ही अभीप्सित-साध्य-फल को साधक प्राप्त कर लेता है। परन्तु जबतक सत्यादि के विपक्षी-विरोधी-अनृत-मैथुन आदि दोषों से वे सत्यादि साधन, पृथक्कृत एवं रक्षित न होवें, तब तक वे सिद्ध नहीं होते हैं। इसलिए प्रथम साधनों की प्रतिष्ठा के लिए विपक्ष-दोषों का विजय करना चाहिए। और किसी भी उपवासादि प्रकार से विपक्षरूप उन निषिद्ध-विषयों से व्यावृत्त की हुई भी वागादि-इन्द्रियाँ, मन के कामादि दोषों से पुनः उन निषिद्ध विषयों को अन्य-समय में ग्रहण करती हैं। इसलिए सद्विचार-वैराग्य आदि साधनों से उस उस कामादि दोषों को हटा कर मन का जय भी अवश्य

१ अत्र सम्यग्ज्ञानमपरिपक्वं तत्त्वावगतिफलावसानं वाक्यार्थज्ञानं बोध्यम्। अतस्तस्य परिपक्वज्ञानलाभाय सत्यादीनां सहकार इष्यत एव। परिपक्वज्ञानस्य स्वकार्येऽविद्यानिवृत्तौ सहकार्यपेक्षाया मानाभावादिति ध्येयम्।

कर्तव्यः । सेन्द्रियमनोजयेनैव श्रुत्याचार्येश्वरप्रसादः, तेन च ब्रह्मविद्या, तया च कैवल्यं लभ्यते इत्येतदुपदिशति—

करना चाहिए । इन्द्रियसहित-मन के जय से ही श्रुति आचार्य एवं परमेश्वर की प्रसन्नता प्राप्त होती है, उससे ब्रह्मविद्या सिद्ध होती है, और ब्रह्मविद्या से कैवल्य-मोक्ष प्राप्त होता है । इस तत्त्व-रहस्य का यह मन्त्र सम्यक् उपदेश देता है—

ॐ सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. ७१ ऋक् २) (नि. ४।१०)

'जिस प्रकार चाल्नी या शूर्प से सक्तु को लोक परिशुद्ध करते हैं, तिस प्रकार शास्त्र एवं आचार्य्य का उपदेश प्राप्त होने पर धीर-बुद्धिमान्-विवेकी पवित्र मन से वाणी को पवित्र करते हैं, अर्थात् वाणी आदि सभी इन्द्रियों को विपक्ष-दोषों से परिशुद्ध बनाते हैं । इस प्रकार की परिशुद्धि होने पर ही समभाव वाले—सखा-ज्ञानवान्, सख्यरूप-स्वच्छ-अभ्युदय-निःश्रेयसरूप-इष्टफलों को प्राप्त करते हैं । उस समय वेदवाणी में प्रतिपादित-भद्रालक्ष्मी—कल्याणी-आनन्दमयी चितिशक्ति—उसके समक्ष सर्वत्र प्रकट हो कर अवस्थित हो जाती है ।'

इव=यथा, तितउना—चालन्या—शूर्पेण वा, सक्तुं=भर्जितयवचणकादिचूर्णं खाद्यविशेषं, पुनन्तः=तुषाद्यपनीय पुनन्ति—शोधयन्ति जनाः । तथा, यत्र=यस्मिन्—श्रुत्याचार्योपदेशे प्राप्ते सति, धीराः=धीमन्तो वेदार्थध्यानवन्तो धैर्यशालिनः, मनसा=विवेकविचारशीलेन—शुद्धेन—एकाग्रेण चेतसा, वाचं=वाणीं, अक्रत=अकृषत—अनृताप्रियासाधुशब्देभ्यो विविक्तां शुद्धां सत्यहितप्रियमितसाधुशब्दभाषिणीं कृतवन्त इत्यर्थः । तितउ—ततेन चर्मणा नद्धं—परिशोधनसाधनं परिपूयतेऽनेन तत्परिपवनं शूर्पम् । यद्वा तितउ=ततवत्—ततं—विस्तृतं भृष्टयवादिचूर्णं यत्रेति चालनी इत्यर्थः । तुन्नवद्वा—तुन्नानि तिलमात्राणि—छिद्राणि यस्य सन्ति (इति भूम्नि मतुप्) 'क्षुद्रच्छिद्रशतोपेतं चालनं तितउः स्मृतः ।' 'चालनी तितउः पुमान् ।' इति कोशवच-

इव—यथा—जैसे, तितउ-चाल्नी या शूर्प-सुप से, सक्तु-भुने हुए—जव-चने आदि का पिष्ट—जो एक प्रकार का खाद्यविशेष है—उसको तुष आदि हटा कर लोक शुद्ध करते हैं । तथा-तैसे जिस-श्रुति-आचार्य्य का उपदेश प्राप्त होने पर, धीर-धीमान्—वेदार्थ का सम्यक् ध्यान करने वाले—धैर्यशाली, मन से यानी विवेकविचारशील-शुद्ध-एकाग्र-चित्त से, वाणी को अनृत-अप्रिय एवं असाधु-शब्दों से विविक्त-पृथक्-शुद्ध-करके सत्य-हित-प्रिय-मित-साधु-शब्द बोलने वाली करते हैं । तितउ-यानी तत-विस्तृत-चर्म से नद्ध-बधा हुआ—परिशोधन का साधन-जिससे परिपवन-शोधन किया जाता है, वह परिपवन-शूर्प है । यद्वा तितउ—यानी ततवत्—तत-विस्तृत है भृष्टयवादि का चूर्ण जिसमें वह चाल्नी है, या तुन्नवत्-तुन्न-तिलमात्र-छिद्र हैं जिसके वह तितउ-चाल्नी है । 'छोटे-छोटे-सैंकड़ों-छिद्रों से संयुक्त चालन—तितउ माना गया है ।' चाल्नी तितउ है । इस अमरादि-कोश के वचन से तितउ

नात्–तितउशब्दः पुल्लिङ्गोऽपि । (तनो-
तेर्डउः सन्वच्चेति सन्वद्भावाद्द्वित्वं, तुद-
तेर्वा । धाधातोरौणादिके क्रनि 'घुमास्थे'-
तीत्वे धीरा इति रूपम्) धातूनामनेकार्थ-
त्वात् ध्यानाद्यर्थे वृत्तिः । यद्वा 'ध्यै चि-
न्तायां' इत्यस्माद्धातोः तथा रूपमौणादि-
कात्साधनीयम् (करोतेर्लुङि 'मन्त्रेघस'
इति लेर्लुकि सति 'अक्रत' इति रूपम्) अत्र
वाचमित्यन्येषामपि चक्षुरादीनामिन्द्रिया-
णामुपलक्षणम् । यथा सक्तोस्तुषाद्यपनी-
यते तच्छुद्धिकामैः, तथा चक्षुरादिभ्योऽपि
निषिद्धाभद्रदर्शनादिकं मोहकरं कश्मलम-
पसार्यते धीधनैर्धीरैः । तेन तानि विशु-
ध्यन्ति, शुद्धेषु तेषु सत्वादीनि साधनानि
प्रतितिष्ठन्ति । अपि च सर्वेन्द्रियनायका-
न्मनसोऽपि निषिद्धविषयचिन्ताप्रवाहो निरु-
ध्यते तैः, तं विना मनो न शुद्ध्यति ।
तच्छुद्धिमन्तरेण बाह्येन्द्रियाणि कियत्कालं
निरुद्धान्यपि पुनस्तदभिमुखानि भवन्ति,
अतः सद्विचारवैराग्ययोगाभ्यासादिना ता
वन्मनःशुद्धिः सम्पाद्यते, ततो बाह्येन्द्रि-
याणामनायासतो दृढा शुद्धिः सिद्ध्य-
तीति तत्त्वम् । एवं सबाह्याभ्यन्तरेन्द्रि-
यशुद्धिमभीप्सितसाधनसम्पादिकामुपवर्ण्ये-
दानीं शुद्धेन्द्रियचित्तैर्धीमद्भिर्लभ्यं सर्व-
जनस्पृहणीयमभ्युदयनिःश्रेयसं वर्णयति–
अत्रा सखाय इति । अत्र=अस्यामीदृश्यां
परिशुद्धौ सत्यां, सखायः=समानख्यातयो
नान्यादृशख्यातयः सर्वपदार्थेषु भ्रमात्मै-

शब्द पुल्लिङ्ग भी है। धीर शब्द धा धातु से
निष्पन्न हुआ है, परन्तु धातुओं का अनेकार्थ होने
से ध्यानादि-अर्थ में इसकी वृत्ति है। यद्वा 'ध्यै
चिन्तायां' इस धातु से धीर ऐसा रूप औणादिक
से सिद्ध कर लेना चाहिए। इस मन्त्र में 'वाचं'
यह पद अन्य-चक्षुरादि-इन्द्रियों का भी उपलक्षक
है। जिस प्रकार सक्तु की शुद्धि की कामना करने
वाले-मनुष्य सक्तु से तुषादि को हटाते हैं, तिस प्रकार
चक्षुरादि-इन्द्रियों से, धी-बुद्धिरूप-धन वाले-धीर-
पुरुष, निषिद्ध-अभद्रदर्शनादिरूप-मोहकर-कश्मल
को हटा देते हैं। तादृश-कश्मल के अपसारण से
वे इन्द्रियाँ विशुद्ध हो जाती हैं, शुद्ध उन-इन्द्रियों में
सत्त्व आदि-साधन, प्रतिष्ठित-सुस्थिर हो जाते हैं।
और भी समस्त इन्द्रियों के नायक सञ्चालक मन से
भी वे धीर-पुरुष, निषिद्ध-विषयों की चिन्ताओं के
प्रवाह का भी निरोध करते हैं, क्योंकि–उस प्रकार के
निरोध बिना मन की शुद्धि नहीं होती है। मन
की शुद्धि बिना, बाहर की चक्षुरादि-इन्द्रियाँ–कुछ
समय तक निषिद्ध-विषयों से निरुद्ध की हुई भी–
पुनः निषिद्ध-विषयों के अभिमुख हो जाती हैं,
इसलिए धीर-पुरुष, प्रथम सद्विचार वैराग्य-योगा-
भ्यास आदि साधनों के द्वारा मन की शुद्धि सम्पादन
करते हैं। उससे बाह्येन्द्रियों की अनायास ही दृढ-
शुद्धि सिद्ध हो जाती है, यह रहस्य है। इस प्रकार
बाह्येन्द्रियसहित-आभ्यन्तर इन्द्रिय की शुद्धि-अभी-
प्सित-साधनों की सम्पादिका है, इसका वर्णन करके
अब–शुद्ध है–इन्द्रिय एवं चित्त जिन्हों के ऐसे
धीमान्-महापुरुषों से प्राप्त करने योग्य–समस्त
मनुष्यों से स्पृहा-वाञ्छा करने योग्य–अभ्युदय एवं
निःश्रेयस का वर्णन करता है–'अत्रा सखायः' इति।
अत्र यानी इस प्रकार की परि-शुद्धि होने पर, सखा
यानि समान एकरूप की ख्याति प्रतीति-वाले–अन्य
प्रकार की विषम-ख्याति वाले नहीं–अर्थात् समस्त-

कत्वसमत्वपूर्णत्वज्ञानवन्तः–त्यक्तनामरूपभेदभावनाः–ब्रह्माभेददर्शिनः, सख्यानि=तादृशसखिषु भवानि–सायुज्यानि–स्वच्छाभ्युदयफलानि–अपूर्वशान्ति–तृप्ति–कृतकृत्यता–धन्यता–पूज्यतारूपाणि, जानते=लभन्ते-प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यत एषां=परिशुद्धवागादीन्द्रियव्यापाराणां रागद्वेषादिकश्मलादूषितान्तःकरणानां निवृत्तभेदग्रहाणां सर्वत्रात्मैकत्वमनुपश्यतां विदुषां, निष्ठत्वं षष्ठ्यर्थः। वाचि=वेदाख्ये शब्दे ब्रह्मणि प्रतिपादिता या भद्रा=कल्याणी निःश्रेयसभूता, लक्ष्मीः=सर्वभासकस्वतःप्रकाशपरमार्थब्रह्मसंविल्लक्षणा चितिशक्तिः–परमानन्दविग्रहाऽज्ञानतत्कार्यशोकमोहादिसंसारनिवर्तने प्रभ्वी, अधिनिहिता=अवस्थिता–स्वात्माभेदेन भवतीत्यर्थः। लक्ष्मीर्लक्षणात्–भासनात्–ब्रह्मरूपा सर्वानुगतसंविल्लक्षणाऽत्रोच्यते। (भासनार्थात् 'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः' इत्यस्माद्धातोरौणादिको 'लक्षेर्मुट्‌चे'ति ईकार इति लक्ष्मीरूपसिद्धिः)

इदमत्रावधेयं सुधीभिः–भद्रलक्ष्मीपदगम्या या–यदधीनोऽस्य कृत्स्नस्य विश्वस्य प्रकाशः सत्त्वञ्च सा एकैव निर्लेपा नित्या स्वयंप्रकाशा परमात्मरूपा संविच्छक्तिः सदा सर्वत्र स्वात्माभेदेन विमलाशयैर्विभावनीयेति। ननु–'घटोऽस्ति, घटः प्रकाशते' इत्यादिना घटादिनिष्ठं स्वीयमेव सत्त्वं प्रकाशमानत्वञ्च प्रत्यक्षेण गृह्यते, तथा च घटाद्यवच्छेदेन भासमानं तत्सचिदात्म-

पदार्थों में ब्रह्मात्मैकत्व, समत्व-पूर्णत्व के दृढ-ज्ञान वाले-जिन्हो ने नामरूप की भेदभावना का परित्याग कर दिया है–ऐसे ब्रह्माभेददर्शी-महापुरुष सख्यों को प्राप्त करते हैं, सख्य यानी उस प्रकार के लक्षणों वाले उन-ज्ञानवान् सखाओं में होने वाले–सायुज्य-स्वच्छ-अभ्युदय-फल–जो अपूर्व-शान्ति-तृप्ति-कृतकृत्यता-धन्यता-पूज्यता-रूप हैं, उनका अभूतपूर्वलाभ वे प्राप्त करते हैं। क्योंकि–परिशुद्ध-है–वागादि-इन्द्रियों के व्यापार जिन्हों के–जिन्हों के अन्तःकरण रागद्वेषादि कश्मलों से दूषित नहीं है, जिन्हों का भेदज्ञान दूर हो गया है–जो सर्वत्र आत्मा के एकत्व-समत्व का ही दर्शन करते हैं–ऐसे विद्वानों में–निष्ठत्व षष्ठी विभक्ति का अर्थ है, वाचि-यानी वेद नाम वाले शब्द-ब्रह्म में प्रतिपादित–जो भद्रा-कल्याणी-निःश्रेयसरूपा-लक्ष्मी-सर्वभासक-स्वतःप्रकाश-परमार्थ-ब्रह्मसंवित्‌रूपा चितिशक्ति-जो परमानन्द-स्वरूपा है–अज्ञान और अज्ञान के कार्य–शोक-मोहादिरूप संसार के निवर्तन करने में प्रभ्वी-समर्था है–वह-अधिनिहित-अपने आत्मा के साथ अभेदरूप से अवस्थित-सुस्थिर हो जाती है। लक्ष्मी–लक्षण से-भासन से, ब्रह्मरूपा-सर्वानुगत-संवित्-ज्ञानरूपा यहाँ कही जाती है।

सुधियों को यहाँ यह जानना चाहिए–भद्र-लक्ष्मी पद से गम्य-ज्ञाप्य-जो संवित्-शक्ति है–जिसके अधीन ही इस समग्र-विश्व का प्रकाश है, एवं सत्त्व है, वह एक ही निर्लेप-नित्य-स्वयंप्रकाश-परमात्मरूपा है। उसकी–सदा सर्वत्र स्वात्मा के साथ अभेदरूप से शुद्ध-हृदय-वाले–सज्जनों को भावना करनी चाहिए।

शंका—'घट है' 'घट प्रकाशता है' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से घटादिनिष्ठ अपने ही सत्त्व का एवं प्रकाशमानत्व का ग्रहण किया जाता है। तथा च घटादि के द्वारा भासमान-वह सत्त्व-चित्त्व,

ब्रह्मनिष्ठमेवास्ति न घटादिनिष्ठमिति केवलागमबलात्कथं वर्ण्यते ? प्रत्यक्षस्य ज्येष्ठत्वेन श्रेष्ठत्वेन च प्राबल्यादिति चेन्मैवम्, प्रत्यक्षदृष्टस्य वस्तुस्वरूपस्य बहुशो व्यभिचारदर्शनात्, तस्य ज्येष्ठत्वेन श्रेष्ठत्वेन च प्राबल्यं नास्थेयं, किन्तु बाध्यत्वेन दौर्बल्यमेवाभ्युपेयम्। तथाहि—'तलवत् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव। न तलं विद्यते व्योम्नि न खद्योतो हुताशनः॥ वितस्तिमात्रं गगने प्रत्यक्षेणेन्दुमण्डलम्। दृश्यतां बालिशैस्तत्र प्रमाणं शास्त्रदृष्टितः॥' इति। किञ्च 'नभसि नैल्यं' 'सोमतेजसि शैत्यमि'त्येवं संकीर्णतया प्रतीयमानानां मध्ये 'नैल्यं पृथिव्या एव गुणः' 'नभस्तु शब्दमात्रगुणकं' 'शैत्यमपां गुणः' 'तेजस्तूष्णस्पर्शगुणकमि'त्येवं व्यवस्थाया आगमं विना केवलं प्रत्यक्षमवलम्ब्यास्मदादिभिः कर्तुमशक्यत्वादागमस्यैव निर्विशङ्कं प्राबल्यमास्थेयं सुधीभिः। ननु—पृथिव्यादीनां भूतानां प्रायः परस्परं संसृष्टतया (संश्लिष्टतया)ऽन्यगुणस्यान्यत्राप्यवभासः संभवतीति शङ्कितदोषं प्रत्यक्षं तत्रागमेन बाध्यतामिति चेत्, तर्हि प्रकृतेऽपि ब्रह्मप्रपञ्चयोरुपादानोपादेय-

सच्चिदात्म-ब्रह्मनिष्ठ है, घटादिनिष्ठ नहीं है, यह केवल-आगम-शास्त्र के बल से ही क्यों वर्णन करते हो ? क्योंकि—प्रत्यक्ष-प्रमाण, आगम-प्रमाण की अपेक्षा से ज्येष्ठ-एवं श्रेष्ठ होने के कारण प्रबल है।

समाधान—प्रत्यक्ष से दृष्ट वस्तुस्वरूप का बहुस्थलों में व्यभिचार देखा जाता है, अर्थात् होता कुछ और है एवं देखा जाता कुछ और है। इसलिए—प्रत्यक्षप्रमाण में ज्येष्ठत्व एवं श्रेष्ठत्वरूप हेतु से प्रबलता नहीं माननी चाहिए। किन्तु बाध्यत्वरूप हेतु से दुर्बलता ही माननी चाहिए। तथाहि—यह व्यभिचार दृष्टान्तों से बतलाते हैं—'तल कटाहाकार की भाँति आकाश देखा जाता है, अग्नि की भाँति खद्योत-जुगनु देखा जाता है। परन्तु विचार करने पर आकाश में तल नहीं होता, न खद्योत, हुताशन-अग्नि ही हो जाता है। आकाश में प्रत्यक्ष से चन्द्र-मण्डल, वितस्ति-बिलस्तमात्र मूर्खों के द्वारा देखा जाता है, परन्तु वह शास्त्र की दृष्टि से प्रमाण नहीं है।' इति। और भी—'नभ-आकाश में नीलता है' 'सोम-चन्द्र के तेज में शैत्य है' इस प्रकार संकीर्ण-सम्मिलितरूप से प्रतीयमान-नैल्यादियों के मध्य में 'नैल्य पृथिवी का ही गुण है' 'आकाश तो शब्द-मात्र गुण वाला है' 'शैत्य जलों का गुण है' 'तेजः-अग्नितत्त्व तो ऊष्ण स्पर्श-गुण वाला है' इस प्रकार की व्यवस्था आगम-शास्त्र के बिना केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण का अवलम्बन करके हम नहीं कर सकते हैं, इसलिए आगम-प्रमाण में ही सुधियों को निःसंशय प्रबलता माननी चाहिए।

शंका—पृथिवी आदि भूत, प्रायः परस्पर संसृष्ट-संश्लिष्ट-होने के कारण अन्य-भूत के गुण का अन्य-भूत में भी अवभास हो सकता है, इसलिए शङ्कित दोष वाला प्रत्यक्षप्रमाण, उस स्थल में आगमप्रमाण से बाधित हो जाता है।

समाधान—तब तो प्रकृत सिद्धान्त में भी ब्रह्म एवं प्रपञ्च का उपादान-उपादेयभाव होने से परस्पर

भावेन परस्परं संसृष्टत्वाद्ब्रह्मसत्यत्वस्य ब्रह्म-प्रकाशस्य च प्रपञ्चेऽवभासः सम्भाव्यत एवेति शङ्कितदोषं घटादिसत्यत्वादिग्राहकं प्रत्यक्षं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै. २।१) 'पुरुष एवेदꣳ सर्वम्' (ऋ. १०।९०।२) (अथर्व. १९।६।४) (शु. य. ३१।२) (साम. ६१९) (तै. ३।१२।१)। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (क. २।४।१०) (बृ. ४।४।१९) 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ. २।४।६) इत्यादिभिरागमैर्बाध्यत एवेति तुल्यम्। अपि च प्रत्यक्षस्य ज्येष्ठत्वादिकं न प्राबल्यस्य बाधकत्वस्य च प्रयोजकं 'नेदं रजतमि'ति कनिष्ठेनापि शब्दप्रमाणेन 'इदं रजतमि'ति प्रत्यक्षस्य बाध्यत्वेन दौर्बल्यनिश्चयात्। आगमसिद्धेऽस्मिन्नर्थे प्रमाणमनुमानमप्यस्ति। तथाहि—'विमता घटादयो भावा न स्वतः सत्तावन्तः कदाचिदेवोपलभ्यमानत्वात्, मृगजलादिवत्।' तथा 'विप्रतिपन्ना घटादयो न स्वतः-प्रकाशमाना अन्याधीनसत्ताकत्वात् शुक्तिरजतवदिति।' एवञ्चारोपितस्य मृगजलादेरधिष्ठानभूतमिहिरमरीच्यतिरेकेण स्वरूपाभावात्——यथा नातिरिक्तौ सत्ताप्रकाशौ, तथैवारोपितस्य द्वैतप्रपञ्चस्याधिष्ठानभूतब्रह्म-व्यतिरेकेण स्वरूपाभावान्नातिरिक्तौ सत्त्व-प्रकाशौ, किन्तु सच्चिदात्मन्यध्यस्तान्तः-करणसम्बद्धेन्द्रियप्रणालिकया सच्चिदात्मन एव सत्ताप्रकाशौ, जडान् घटपटादीन् विप-

ये संश्लिष्ट-मिलित हैं, इसलिए ब्रह्म की सत्यता का एवं ब्रह्म के चित्-प्रकाश का प्रपञ्च में अवभास की संभावना की जाती है, अतः शंकित दोष वाला—घटादि के सत्यत्वादि का ग्राहक—प्रत्यक्षप्रमाण—'वह ब्रह्म सत्य ज्ञान एवं अनन्त है' 'पुरुष ही यह सर्व है' 'इस ब्रह्म में नाना-द्वैतप्रपञ्च कुछ भी नहीं है' 'उस भेददर्शी का वह सर्व पदार्थ, तिरस्कार करे, जो आत्मा से अन्य सर्व पदार्थ को जानता है।' इत्यादि-आगम-प्रमाणों से बाधित हो जाता है, इस प्रकार दृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक में समानता है। और भी प्रत्यक्षप्रमाण का ज्येष्ठत्वादि, उसके प्राबल्य का एवं बाधकत्व का प्रयोजक नहीं है, क्योंकि—'यह रजत नहीं है' ऐसे कनिष्ठ-पश्चाद्-भावी शब्दप्रमाण से भी ''यह रजत है' ऐसा प्रत्यक्ष-प्रमाण बाधित हो जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण में शब्दप्रमाण की अपेक्षा से दुर्बलता का ही निश्चय होता है। आगम-शास्त्र सिद्ध-इस सिद्धान्त-भूत अर्थ में अनुमान-भी प्रमाण है। तथाहि—अनुमान-प्रमाण का प्रदर्शन करते हैं—'विवाद के विषय घटादि पदार्थ, स्वतः सत्ता वाले नहीं हैं, कदाचित् ही उपलभ्यमान होने से, 'मृगजलादि की भाँति।' तथा 'विप्रतिपत्ति के विषय घटादि पदार्थ, स्वतः प्रकाशमान नहीं हैं, अन्य के आधीन सत्ता वाले होने से, शुक्तिरजत'की भाँति।' इस प्रकार आरोपित-मृगजलादि के—अधिष्ठानभूत-सूर्यकिरणों से पृथक् रूप से—स्वरूप का अभाव होने के कारण जिस प्रकार उस मृगजलादि की सत्ता एवं प्रकाश उस अधिष्ठान से अतिरिक्त नहीं है, तिस प्रकार ही आरोपित-द्वैतप्रपञ्च के-अधिष्ठानभूत-ब्रह्म से पृथक्'रूप से—स्वरूप का अभाव होने के कारण, उस द्वैतप्रपञ्च की सत्ता-एवं प्रकाश उस अधिष्ठान-ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, किन्तु सत्-चित्-आत्मा में अध्यस्त-अन्तःकरण से सम्बद्ध-इन्द्रिय-द्वारा सच्चिदात्मा का ही सत्त्व एवं प्रकाश जड घट-

थान् व्याप्नुतः। यदि मन्यसे घटादयः स्वयमेव सन्तः प्रकाशन्ते इति, तदा 'अहं जानामी'ति ज्ञानाश्रयत्वेन घटाद्यनुसंधातुः स्फुरणमनर्थकं स्यात्। मा भूत्तत्स्फुरणमिति चेत्, सुषुप्ताविव जागृतावपि जगदस्फुरणं स्यात्, तथा सति सर्वव्यवहारलोपः प्रसज्येतेति दुर्निवारं विषमसुपस्थितं तव भवेत्, 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे।' इति न्यायात्। तस्माज्जगतः स्फुरणमन्याधीनमित्यनिच्छताऽप्यच्छमतिना त्वयाऽभ्युपगन्तव्यम्। ततश्च यद्यदधीनसत्तास्फूर्तिकं तत्तस्मिन् कल्पितं, यथा जलाधीनसत्तास्फूर्तिकं तरङ्गबुद्बुदादिकं जले परिकल्पितं, तथेदं विश्वमपि सच्चिदात्माधीनसत्तास्फूर्तिमत्त्वात् सच्चिदात्मन्येव कल्पितमिति शास्त्राशयं विमलबुद्धयो विदाङ्कुर्वन्तु। एवं श्रुत्यन्तरेऽपि स्पष्टमाम्नायते—'यो अदधाज्ज्योतिषि ज्योतिरन्तर्यो असृजन्मधुना संमधूनि।' (ऋ. १०।५४।६) इति। यः=चैतन्याऽऽनन्दनिधिः परमात्मेन्द्रः, ज्योतिषि=ज्योतिष्मति-आदित्यादौ अन्तः स्वकीयं ज्योतिः अदधात्=स्थापितवान्। अर्थादादित्यादिषु स्थितं यज्जगद्भासकं तेजः तत्सर्वं परमात्मन एव। एवं मधुना=मधुरेण रसेन स्वेनानन्देन कृत्वा मधूनि=मधुराणि—प्रियाणि द्रव्याणि समसृजत्=सर्जितवान्। अर्था-

पटादि-विषयों को व्यापन करता है। यदि तू मानता है कि—घटादि-पदार्थ स्वयं ही सत्ता वाले हुए प्रकाशते हैं, तब 'मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञान के आश्रयरूप से घटादि का अनुसंधान करने वाले—आत्मा का स्फुरण-मान अनर्थक हो जायगा। उस आत्मा का स्फुरण मत हो? ऐसा यदि तू कहे, तो सुषुप्ति की भाँति जाग्रत् में भी जगत् का स्फुरण न होगा, ऐसा होने पर समस्त-व्यवहार के लोप की प्रसक्ति हो जायगी, इस प्रकार 'अन्धे के पीछे लगे हुए अन्धे का पद-पद में जैसे विनिपात होता है' इस न्याय से तुझ को दुर्निवार-विषम-उपस्थित होगा। इसलिए—जगत् का स्फुरण अन्य के आधीन है, ऐसा मानने की इच्छा नहीं करने वाले—अच्छी-विचारशील-बुद्धि वाले—तुझ को स्वीकार करना होगा। इसलिए जो जो पदार्थ, जिस जिस-पदार्थ के आधीन सत्ता-एवं स्फूर्ति वाला होता है, वह वह उस उसमें कल्पित होता है, जिस प्रकार जल के आधीन-सत्ता-स्फूर्ति वाला-तरंग बुद्बुदादि जल में परिकल्पित है, तिस प्रकार यह नामरूपात्मक-विश्व भी सत् चित्-आत्मा के आधीन सत्ता-स्फूर्ति वाला होने के कारण सच्चिद्रूप-आत्मा में ही कल्पित है, ऐसे शास्त्र के आशय को विमल-बुद्धि वाले सज्जन जानें। इस प्रकार अन्य-श्रुति में भी स्पष्ट कहा जाता है—'जिस परमात्मा ने ज्योति वाले—सूर्यादि के भीतर अपनी ज्योति को स्थापन किया, एवं जिसने अपने माधुर्य से ही मधुर पदार्थों का सर्जन किया।' इति। जिस चैतन्य-आनन्दनिधि, परमात्मा इन्द्र ने ज्योतिष्मान्-आदित्यादियों के भीतर अपने ज्योति को स्थापन किया है। अर्थात् आदित्यादियों में स्थित-जो जगत् का भासक-तेज है, वह सब परमात्मा का ही है। इस प्रकार जिसने मधु-मधुररस-अपने आनन्द करके मधु-मधुर प्रिय द्रव्य-पदार्थों का सर्जन किया है। अर्थात् इस लोक

लोकेऽस्मिन् प्रतीयमानाः सर्वे पदार्थाः अस्य निरतिशयमाधुर्येणैव संयुक्ताः सन्तः प्रियतया विभाव्यन्ते। तथा च परमात्मप्रकाशानन्दाधीनमेव सर्वस्य वस्तुजातस्य प्रकाशानन्दवत्त्वम्, न तु स्वत इति सिद्धम्। 'त्वं भासा रोदसी आततन्थाजस्रेण शोचिषा शोशुचानः।' (ऋ. ७।५।४) इति। अयमर्थः—त्वं हे परमात्मन्! अजस्रेण=नित्येन, शोचिषा=प्रकाशेन, शोशुचानः=सदा स्वतःप्रकाशमानः सन्, भासा=दीप्त्या—प्रकाशेन, रोदसी=द्यावापृथिव्यौ, उपलक्षणमिदं सर्वपदार्थान् द्यावापृथिव्यादीन् आ ततन्थ=विस्तारयामास-विस्तरतः प्रकटयामासेत्यर्थः। 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' (मुं. २।२।१०) (क. २।५।१५) (श्वे. ६।१४) 'अहं सर्वमिदं विजानामी'ति स्वात्मगतेन निरपेक्षप्रकाशेन विषयानवभासयन् यः स्वयं भाति, तमेव भान्तं=प्रकाशमानं, अनु=अनुसृत्य, सर्वं=सूर्यचन्द्राद्युपलक्षितं सकलं जगत् भाति=प्रकाशते न तु स्वतः इति श्रुत्यर्थः। तस्माद्यदधीनोऽस्य विश्वस्य प्रकाशः, स एक एव नित्यः सर्वगतः स्वयंप्रकाशः संविद्रूपः परमात्मा भद्रलक्ष्मीगम्यः सर्वत्र स्वस्वरूपेणाजस्रं विभावनीय इति सिद्धम्॥

में प्रतीयमान-सर्व पदार्थ, इस परमात्मा के निरतिशय-माधुर्य से ही संयुक्त हुए प्रियरूप से विभावित होते हैं। तथा च परमात्मा के प्रकाश एवं आनन्द के आधीन ही समस्त-वस्तुसमुदाय, प्रकाश एवं आनन्द से युक्त है, स्वतः नहीं है, यह सिद्ध हुआ। 'तू अपने नित्य-प्रकाश से ही प्रकाशमान हुआ अपनी-भा-दीप्ति से ही द्यावा-पृथिवी आदि समस्त जगत् को विस्तार से प्रकट कर रहा है।' इति। इसका यह अर्थ है—'हे परमात्मन्! अपने अजस्र-नित्य, शोचिष्-प्रकाश से, सदा स्वतः प्रकाशमान-हुए तू ने-अपनी भा-दीप्ति-प्रकाश से, रोदसी यानी द्यौ-पृथिवी, यह उपलक्षण है, स्वर्ग-भूमि आदि समस्त-पदार्थों को विस्तार से प्रकट किया है। 'तिस-परमात्मा को न सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्र एवं तारागण भी, न ये विजलियाँ भी प्रकाशती हैं, तब यह प्रत्यक्ष-अग्नि, कैसे प्रकाशे? स्वतः प्रकाशमान उसके ही पीछे यह सब-विश्व प्रकाशता है, उसके ही प्रकाश से यह सब प्रकाशता है।' इति। 'मैं इस सर्व को जानता हूँ' इस प्रकार के स्वात्मा में स्थित-निरपेक्ष-प्रकाश से विषयों का अवभास करता हुआ जो स्वयं भासित होता है, उसी ही प्रकाशमान-आत्मा का अनुसरण करके सूर्य-चन्द्रादि से उपलक्षित-सकल जगत् प्रकाशता है, स्वतः नहीं, यह पूर्वोक्त मुण्डक-कठ-श्वेताश्वतर-श्रुति का तात्पर्य-अर्थ है। इसलिए जिसके आधीन इस विश्व का प्रकाश है, वह एक ही नित्य, सर्वगत, स्वयंप्रकाश, संवित्-ज्ञानरूप परात्मा, जो-प्रकृत मन्त्र के भद्र-लक्ष्मीपद से गम्य है—जाना जाता है-उसकी सर्वत्र स्वस्वरूप से निरन्तर भावना करनी चाहिए, यह सिद्ध हुआ।

(७१)

(परमात्मनः सविशेषनिर्विशेषरूपप्रतिपत्त्युपयोगिनां विभूतिविशेषाणां वर्णनम्)

(परमात्मा के सविशेष-एवं निर्विशेषस्वरूप की प्रतिपत्ति में उपयोगी विभूति-विशेषों का वर्णन)

मुमुक्षूणां मन्दप्रज्ञानां चित्तशुद्ध्यै परमेश्वरभावनयोपास्यान् सविशेषध्याने निर्विशेषज्ञाने चोपायभूतान् विभूतिविशेषान् संक्षेपतो निरूपयति—

मन्द प्रज्ञा वाले-मुमुक्षुओं की चित्त-शुद्धि के लिए परमेश्वर की भावना से उपासना करने योग्य, एवं सविशेष-ब्रह्म के ध्यान में तथा निर्विशेष-ब्रह्म के ज्ञान में उपायभूत-विभूति विशेषों का संक्षेप से निरूपण करते हैं—

ॐ ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥

(ऋ. मण्ड. ९ सू. ९६ म. ६) (साम. १४४) (तै. सं. ३।४।११।१)
(तै. आ. १०।१०।१) (नि. १४।१३)

'सोम-महेश्वर-भगवान्, देवों के मध्य में ब्रह्मारूप से है, कवियों के मध्य मे व्यासादिरूप से है, विप्र-ब्राह्मणों के मध्य में ऋषिरूप से है। मृग-पशुओ के मध्य मे महिषरूप से है, गृध्रादि-पक्षियों के मध्य में श्येन-गरुड़रूप से है, वनों के मध्य मे स्वधितिरूप से है। इस प्रकार उस-उस-अनेक प्रकार की विभूतियों के प्रतिपादक-वचनों से जाना गया परमपावन-परमात्मा सर्व विश्व का अतिक्रमण करके निरतिशयरूप से वर्तमान है।'

सोमः=उमया-महामायया शक्त्या सह वर्तमानो महेश्वरः सविशेषः परमपावनो निखिलशक्तिनिधानो भगवान्, देवानां=अग्नीन्द्रादीनां मध्ये ब्रह्मा=चतुर्मुखो महासरस्वतीसहचरः सर्वदेवनियन्तृत्वशक्तिविशिष्टः तदैश्वर्यनिदानैश्वर्यसम्पन्नः प्रख्यातमहत्त्वो भूत्वा परमेश्वरो विद्यासंप्रदायप्रवर्तनाय सर्वस्य लोकस्य शिक्षकत्वेनावस्थितोऽभूत्। तथा मुण्डके-'ब्रह्मा देवानां······स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय······प्राह' (१।१) इति ब्रह्मविद्यासम्प्रदायप्रवर्तकत्वं ब्रह्मणः स्पष्टमाम्नायते। इति। तथा कवीनां=क्रान्तप्रज्ञानां काव्येतिहासपुराणादिकर्तृणां पुरुषधौरेयाणां मध्ये,

सोम यानी उमा महामाया-शक्ति के साथ वर्तमान महेश्वर, सविशेष परमपावन निखिल शक्तियो का आधार भगवान्। अग्नि इन्द्र आदि-देवो के मध्य में ब्रह्मा-चतुर्मुख-महासरस्वती का सहचारी, सर्व-देवो के नियन्तृत्व की शक्ति से संयुक्त, उस परब्रह्म का ऐश्वर्य है निदान-कारण जिसका ऐसे ऐश्वर्य से सम्पन्न, प्रख्यात है महत्त्व जिसका ऐसा ब्रह्मारूप हो कर परमेश्वर, विद्या-सम्प्रदाय के प्रवर्तन के लिए समस्त-लोक के शिक्षकरूप से अवस्थित हुआ है। तथा मुण्डक-उपनिषत् मे—'देवों के मध्य में श्रेष्ठ उस ब्रह्मा ने समस्त विद्याओं की प्रतिष्ठा है जिसमें ऐसी ब्रह्मविद्या अथर्व नाम के शिष्य के प्रति कहा।' इस प्रकार ब्रह्मविद्या के सम्प्रदाय का प्रवर्तक ब्रह्मा है, ऐसा स्पष्ट कहा गया है। तथा क्रान्त-अतीतादि विषयिणी है प्रज्ञा जिन्हों की, ऐसे काव्य-इतिहास-पुराणादि के कर्ता-पुरुष-श्रेष्ठ कवियों के मध्य में पदवी यानी कविता

पदवीः=रचनचातुर्यप्रवर्तनौपयिकविलक्षणज्ञानशक्तिसम्पन्नः-पदवाक्यादिसामर्थ्याभिज्ञो व्यासवाल्मीक्यादिरूपो भूत्वाऽवस्थितोऽभूत्। पदं-व्याकरणादौ निष्पन्नः साधुशब्दविशेषः तद्वेत्ति-जानातीति, स्खलन्ति पदानि साधुत्वेन यो योजयतीति वा पदवीपदनिरुक्तिः। विप्राणां=वैदिकधर्मपथपथिकानां ब्राह्मणानां मेधाविनां मध्ये ऋषिः=विशिष्टविद्यातपोमहिम्ना सर्वविप्रातिशायिविलक्षणशक्तिसम्पन्नस्तत्तद्गोत्रप्रवर्तको वसिष्ठविश्वामित्रपराशरादिरूपो भूत्वाऽवस्थितोऽभूत्। यः परोक्षं पश्यति यथावत् सोऽतीन्द्रियवस्तुद्रष्टा ऋषिः 'ऋषिर्दर्शनादिति' (नि. २।१।११)। मृगाणां=चतुष्पदां पशूनां मध्ये महिषः=बलाधिक्येन मदमहिम्ना च युक्तः स्वेतरमृगपरिभवकरणौपयिकशक्तिविशेषसम्पन्नो भूत्वाऽवस्थितोऽभूत्। गृध्राणां=पक्ष्यन्तरेभ्यो हठादामिषादिग्रहणचतुराणां मध्ये, श्येनः=तेभ्योऽपि हठादामिषादिग्रहणशक्तः प्रबलः पक्षिविशेषो भूत्वाऽवस्थितः। यद्वा गृध्राणां=गृध्रोपलक्षितानां सर्वेषां पक्षिणां मध्ये श्येनः=शंसनीयः पक्षिराजो गरुडो भूत्वाऽवस्थितोऽभूत्। तथा वनानां=तरुगुल्मलतादिसमूहरूपाणां विस्तृतानामरण्यानां मध्ये तच्छेदनशक्तिसम्पन्नः स्वधितिः=परशुर्भूत्वाऽवस्थितः। यद्वाऽत्र स्वधितिशब्देन करवालादिवत्-दृढस्वरूपः श्रेष्ठो भास्वान् वृक्षो ग्राह्यः। यद्वा वनतिर्हिंसा-

करने की चतुरता की प्रवर्तना में उपायभूत-विलक्षण-ज्ञानशक्ति से सम्पन्न-पद-वाक्यादि के सामर्थ्य के अभिज्ञ-व्यास वाल्मीकी आदिरूप हो कर परमात्मा अवस्थित हुआ है। पद यानी व्याकरण आदि में निष्पन्न-साधुशब्दविशेष, उसको जो जानता है, या स्खलित-अशुद्ध-पदों की जो साधुरूप से योजना करता है, वह पदवी कहाता है, ऐसी पदवी पद की व्युत्पत्ति है। विप्र यानी वैदिक धर्म-मार्ग के अनुगामी-मेधावी-ब्राह्मणों के मध्य में ऋषि यानी विशिष्ट-विद्या एवं तप की महिमा से समस्त विप्रों की अपेक्षा से अतिशयित-विलक्षण-शक्ति से सम्पन्न, उस-उस ब्राह्मणादि के गोत्रों के प्रवर्तक वसिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर, भारद्वाज आदिरूप हो कर भगवान् अवस्थित हुआ है। 'दर्शन से ऋषि है' इस निरुक्त-वचन के अनुसार जो परोक्ष वस्तु को यथावत् देखता है, वह अतीन्द्रिय-वस्तु का द्रष्टा ऋषि है। मृग यानी चार पैर वाले-पशुओं के मध्य में महिष—जो बल की अधिकता से एवं मद की महिमा से युक्त है, अपने से भिन्न पशुओं के परिभव करने में उपायभूत शक्तिविशेष से सम्पन्न है, उस महिषरूप से भगवान् अवस्थित हुआ है। गृध्र-गीध-जो अन्य-पक्षियों से जबरदस्ती से आमिष-माँस आदि के ग्रहण करने में चतुर हैं, उनके मध्य में श्येन, जो उन गृध्रों से भी हठ-बल से आमिषादि के ग्रहण करने में शक्तिमान्-प्रबल पक्षिविशेष हो कर भगवान् अवस्थित हुआ है। यद्वा गृध्र यानी उससे उपलक्षित समस्त-पक्षियों के मध्य में श्येन यानी प्रशंसा करने योग्य-पक्षिराज गरुड हो कर वह अवस्थित हुआ है। तथा वन यानी तरु, गुल्म, लता आदि का समुदायरूप विस्तृत-अरण्यों के मध्य में, उनके छेदन करने की शक्ति से सम्पन्न, स्वधिति-परशु हो कर वह भगवान् अवस्थित हुआ है। यद्वा यहाँ स्वधिति शब्द से करवालादि की भाँति, दृढस्वरूप-श्रेष्ठ भास्वान् वृक्ष का ग्रहण करना

कर्मा, वनानां=हिंसकानां-छेदकानां मध्ये स्वधितिनामकः प्रबलः छेदकः शस्त्रविशेषो भूत्वाऽवस्थितः। एते सर्वे निर्देशाः सादृश्यमुखेन प्रदर्शिततत्तच्छक्तिविशिष्टप्रकृष्टविभूतिसजातीयसर्वविधशक्त्यन्तरसम्पन्ननिखिलविभूतिप्रदर्शनपरा वेदितव्याः। एवंविधनिखिलविभूतिविशेषरूपः परमेश्वरः रेभन्=शब्दायमानः-तत्तद्विभूतिविशेषप्रतिपादकशब्दैरवगम्यमानः सन्, स्तूयमानः सन् वा, पवित्रं=परमपावनः, (सामान्ये नपुंसकं पुल्लिङ्गत्वेन विपरिणेयम्) अत्येति=सर्वान् सातिशयान् विभूतिविशेषस्वरूपानतिक्रम्य, एति=गच्छति-निरतिशयस्वरूपेण सर्वाधिष्ठातृत्वेन सर्वोपरि वर्तत इत्यर्थः। तत्तच्छक्तिविशिष्टानां ब्रह्मादीनां भगवद्रूपत्वेन तदीयतत्तच्छक्तिनिदानभूतं परमैश्वर्यं भगवत एवेति भावः।

यद्वाऽऽत्ममहत्त्वख्यापनपरोऽयं मन्त्रस्तत्त्वेन व्याख्यायते-सोमः=आत्मा, स कीदृशः? देवानां=देवन-द्योतन-कर्मणामिन्द्रियाणां, ब्रह्मा=वर्धयिता भवति, 'बृह वृद्धौ' स्मरणात्, अयमात्मा इन्द्रियाणि वर्धयति-विपरिणमयतीति यावत्। कवीनां=कवीयमानानां-गमनशीलानां विषयेषु सञ्चरणस्वभावानामिन्द्रियाणां, पदवीः=तत्स्वरूपज्ञाता भवति, अर्थेषु सञ्चरन्ति तान्ययं जानातीति यावत्। विप्राणां=व्यापनकर्मणां-तत्तदर्थाकारवृत्तिमतामिन्द्रियाणामयं ऋषिः=द्रष्टा भवति। व्याप्नुवन्ति तान्ययं पश्यतीति यावत्। मृगाणां=मार्गण-अन्वेषण-कर्मणामिन्द्रियाणां म-

चाहिए। यद्वा वनति हिंसाकर्म-क्रिया वाली धातु है। इसलिए वनानां यानी हिंसक-छेदकों के मध्य में स्वधिति नाम वाला प्रबल-छेदनकर्ता-शस्त्रविशेष हो कर वह भगवान् अवस्थित हुआ है। ये सब निर्देश, सादृश्य-उपमा के द्वारा प्रदर्शित-उस-उस शक्ति से विशिष्ट-प्रकृष्ट-विभूतियों की सजातीय-सर्व प्रकार की अन्य-शक्तियों से सम्पन्न-निखिल-विभूतियों के प्रदर्शन के लिए हैं, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार निखिल-विभूतिविशेषरूप-परमेश्वर, रेभन् यानी उस-उस-विभूति-विशेषों के प्रतिपादक-शब्दों से अवगम्यमान-हुआ या स्तूयमान हुआ, पवित्र-परमपावन, समस्त-सातिशय-विभूति-विशेषस्वरूपों का अतिक्रमण करके एति-यानी निरतिशय-स्वरूप से सर्वाधिष्ठातृस्वरूप से सर्व के ऊपर में वर्तमान रहता है। उस-उस शक्तियों से विशिष्ट-ब्रह्मादियों को भगवद्रूप होने से उन्हों की उस-उस शक्तियों के कारणरूप परम-ऐश्वर्य भगवान् का ही है, यह भाव है।

यद्वा आत्मा के महत्त्व का ख्यापन करने वाला यह मन्त्र है, इसलिये उस रूप से व्याख्यान करते हैं-सोम आत्मा है। वह किस प्रकार का है? देवानां यानी देवन-द्योतन-प्रकाशन कर्म वाली-इन्द्रियों को ब्रह्मा यानी बढ़ाने वाला है 'बृह धातु' का वृद्धि-अर्थ में स्मरण किया है। यह आत्मा इन्द्रियों को बढ़ाता है-अर्थात् विपरिणाम करता है। कवीनां यानी कवीयमान-गमनशील-विषयों में संचरण करने के स्वभाव वाली-इन्द्रियों का पदवी अर्थात् उनके स्वरूप का ज्ञाता है, अर्थात्-अर्थ-विषयों में सञ्चरण करने के स्वभाव वाली-इन्द्रियों को यह जानता है। विप्राणां-यानी व्यापन कर्म वाली-उस-उस अर्थ-विषय के आकाररूप वृत्ति वाली-इन्द्रियों का यह ऋषि यानी द्रष्टा है अर्थात्-विषयों में व्याप्त होने वाली-इन्द्रियों को यह देखता है। मृगाणां यानी मार्गण-अन्वेषण-कर्म वाली-इन्द्रियों के मध्य में यह महिष

द्विषः=महत्तरो भवति, तेभ्योऽत्यधिकः श्रेष्ठो महानात्मेति यावत् । गृध्राणां= ज्ञानसाधनानां 'गृध्यतिः ज्ञानकर्मा' इति निरुक्ते स्मरणात् । यद्वा 'गृधु अभिकांक्षायाम्'–नुशासनात्–गृध्राणां=विषयाभिकांक्षावतामिन्द्रियाणां श्येनः=स्याता भवति । तादृशेषु तेषु सत्सु अयमपि तद्विषयज्ञानार्थं तन्मयतया तिष्ठतीति यावत् । 'श्यैङ् गतौ' इत्यस्मात् श्येनशब्दनिरुक्तेः । वनानां=वनन–संभजन–कर्मणामिन्द्रियाणां स्वधितिः=स्व–स्वयं धितिः=धत्ते कर्माणीति शेषः । तादृशेषु तेषु एष आत्मा स्वयं कर्माणि दधातीति यावत् । एवंभूत आत्मा आत्मविद्भिः रेभन्=स्तूयमानः, 'रेभ धातुः' वेदे स्तवनार्थेऽपि प्रयुक्त उपलभ्यते । पवित्रं= पवित्राणि (वचनव्यत्ययः) पावनज्ञान-साधनानीन्द्रियाणि अत्येति=तेभ्यो विशिष्टगुणैरभ्यधिको भवति, आत्मा पावन-ज्ञानमेव, इन्द्रियाणि तु तदभिव्यञ्जनसाधनानि, तत्सर्वमयमनुभवतीति तस्य श्रेष्ठत्वमत्र वर्ण्यते ।

यद्वाऽधिदैवपक्षमाश्रित्य–सोमः=सूर्यः– आदित्यो मण्डलात्मकः, स देवादिपद-गम्यान् स्वरश्मीन् वर्धयति, गमनकर्मणस्तान् जानाति, व्याप्नुवतस्तान् पश्यति, तेभ्यो महत्तरो भवति, तेषु तिष्ठति, तेषु कर्माणि आधत्ते, तेभ्योऽयमतिशयेनाधिकः तस्मादादित्यः स्तुतिमर्हतीत्यर्थः ।

यानी अति महान् है, अर्थात् उनकी अपेक्षा यह आत्मा अति-अधिक-श्रेष्ठ महान् है । गृध्राणां यानी ज्ञान के साधन-इन्द्रियों के मध्य में–'गृध्यति धातु ज्ञानकर्म वाली है' ऐसा निरुक्त में स्मरण किया है। यद्वा 'गृधु' धातु का अभिकांक्षा-अभिलाषा अर्थ में अनुशासन है, इसलिए–गृध्र-यानी विषयों की अभिकांक्षा करने वाली-इन्द्रियों के मध्य में यह आत्मा श्येन यानी स्याता है, अर्थात् तिस प्रकार विषयाभिमुख-इन्द्रियों के होने पर यह आत्मा भी उनके ज्ञान के लिए तन्मयता से अवस्थित रहता है । 'श्यैङ् गतौ' इस धातु से श्येन शब्द की निरुक्ति है। वनानां यानी वनन-संभजन-कर्म-वाली इन्द्रियों के मध्य में यह स्वधिति है, स्व यानी स्वयं धिति यानी कर्मों को करता है, 'कर्माणि' इतना शेष पद है । अर्थात् तिस प्रकार की इन्द्रियों के मध्य में यह आत्मा स्वयं कर्मों को करता-कराता रहता है । इस प्रकार का आत्मा आत्मवेत्ताओं के द्वारा रेभन् यानी स्तूयमान-प्रशंसनीय होता है । 'रेभ धातु' वेद में स्तवन अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ उपलब्ध होता है । पवित्र-अर्थात् पावन-ज्ञान के साधन-इन्द्रियों का अतिक्रमण करता है, अर्थात् उनकी अपेक्षा यह आत्मा विशिष्ट-ज्ञानादि गुणों से अभ्यधिक होता है । आत्मा पावनज्ञान ही है, इन्द्रियाँ तो उस ज्ञान के अभिव्यञ्जन की साधन हैं, उस सर्व का यह अनुभव करता है, इसलिए उसके श्रेष्ठत्व का यहाँ वर्णन किया जाता है ।

यद्वा अधिदैवपक्ष का आश्रय करके सोम-मण्डलरूप-आदित्य-सूर्य है । वह देवादिपदों से गम्य-अपनी रश्मियों को बढाता है, गमनक्रिया वाली उनको जानता है, व्याप्त होने वाली उनको देखता है, उनसे यह अति महान् है, उनमें स्थित रहता है, उनमें कर्मों का आधान करता है, उनसे यह अतिशय करके अधिक है, इसलिए आदित्य स्तुति के योग्य है ।

(७२)

(स्वकुटुम्बस्य निर्वाहाय धनार्जनाय च स्वाधिकारानुरूपाण्यच्छ-साधनान्युपादेयानि, न तु कदाचित्पापप्रधानानि)

(अपने कुटुम्ब के निर्वाह के लिए एवं धन के अर्जन-कमाने के लिए अपने अधिकार-योग्यता के अनुरूप अच्छे-साधनों का ग्रहण करना चाहिए, कदापि पापप्रधान-साधनों का नहीं)

गृहमेधिभिः स्वकुटुम्बस्य निर्वाहोऽवश्यं कर्तव्यः। तदर्थं धनमप्यर्जनीयमेव। परन्तु तन्न्याय्येन-धर्म्येण मार्गेण। अन्याय्येनाध्वना धनमुपाददाना जना न जातु प्रसीदन्ति, प्रत्युत विषीदन्त्येव। लोके तु प्रायो विपरीतमेव दृश्यते? इति चेन्मैवम्, स्थूलदृष्ट्या तथा क्वचित् दृश्यत्वेऽपि सूक्ष्मदृष्ट्या निरीक्ष्यमाणेऽन्यायं कुर्वद्भिः स्वकीया महती दुर्दशैव सम्पाद्यते, तदुदर्के स्पष्टं प्रतीयते च। अतः सुखप्रसादार्थिभिः कथमपि निषिद्धमन्यायं कार्यं महते धनलाभायापि न करणीयमपि तु जगदीश्वरस्य स्वान्तस्य शिष्टजनस्य च प्रसन्नताप्रयोजकं स्वयोग्यतानुकूलं देशकालाद्यनुरूपं न्याय्यं धर्म्यमेव कार्यं कर्तव्यमित्युपदिशति-अतिधन्यो भगवान् वेदः—

गृहस्थों को अपने कुटुम्ब का निर्वाह-पालन अवश्य ही करना चाहिए। उसके लिए धन का भी उपार्जन करना चाहिए। परन्तु वह नीति-धर्म के मार्ग से। क्योंकि—अनीति के मार्ग से धन को कमाने वाले मनुष्य कदापि प्रसन्न-सुखी नहीं होते हैं, प्रत्युत वे विषाद-दुःख को ही प्राप्त होते हैं। लोक में तो बहुत करके विपरीत ही देखनेमें आता है अर्थात् अनीति करने वाले सुखी एवं नीति-वाले दुःखी। ऐसी कोई शंका करे तो 'मैवम्'—ऐसी शंका समीचीन नहीं है। अर्थात् स्थूलदृष्टि से ऐसा विपरीत कहीं देखने में आवे तो भी सूक्ष्म-विचार-दृष्टि से निरीक्षण करने पर अन्याय-करने वाले मनुष्य अपनी बडी भारी दुर्दशा का सम्पादन करते हैं। यह भावि-फल परिणाम में स्पष्ट प्रतीत-अनुभूत हो जाता है। इसलिए सुख एवं प्रसन्नता के अर्थी-चाहने वाले मनुष्यों को किसी भी प्रकार से निषिद्ध-अनीति का खराब कार्य, बड़े-भारी धन-लाभ के लिए भी नहीं करना चाहिए, किन्तु जगदीश्वर की अपने हृदय की एवं शिष्ट-बड़े-पुरुष की प्रसन्नता का सम्पादक—अपनी योग्यता के अनुकूल देश-कालादि के अनुरूप-न्याय-नीतियुक्त-धर्मसंयुक्त-कार्य ही करने चाहिए, ऐसा अतिधन्य-माननीय भगवान् वेद उपदेश करता है—

ॐ अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव ! तत्र जाया, तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः॥

(ऋग्वेद, मण्ड. १० सूक्त. ३४ ऋक्. १३)

'हे कितव! अक्ष-पाशों से तू जुआ मत खेल। जीवननिर्वाह के लिए तू कृषि-खेती कर। नीति

के मार्ग से प्राप्त-हुए-धन को बहुमानता हुआ तू उसमें ही रमण कर—संतोष करके प्रसन्न रह। उस उत्तम व्यवसायरूप-कृषि में ही गौ-आदि पशु रक्षित होते हैं, एवं उसमें ही स्त्री आदि कुटुम्बी लोग प्रसन्न रहते हैं। ऐसा मुझ-मन्त्रद्रष्टा-ऋषि के प्रति इस विश्वस्वामी सवितादेव ने लोगों को उपदेश देने के लिए—कहा है।'

हे कितव !=किं तवास्ति ? सर्वं मयैव द्रव्यं जितमिति योऽन्यायेनान्यं प्रति ब्रुवाणः कितव इत्युच्यते, धूतकारक ! वञ्चक ! अनृतान्यायप्रिय ! खल ! विश्वासघातक ! स्वपरपीडाप्रयोजक ! इत्यर्थः । अक्षैः=द्यूतसाधनपाशकादिभिः, मा दीव्यः=मा क्रीड, द्यूतं मा कुरु इत्यर्थः । तत्र हि बहवोऽनर्थाः सन्ति । तदाम्नातञ्च–'अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति।' (ऋ० १०।३४।९) इति । शीताः=शीतस्पर्शाः सन्तोऽपीमे—अङ्गाराः=अङ्गारसदृशाः-अक्षा इरिणे=इन्धनरहिते देशे न्युप्ताः=प्रक्षिप्ताः, हृदयं=कितवानामन्तःकरणं निर्दहन्ति=पराजयजनितसन्तापेन भस्मीकुर्वन्तीत्यर्थः । इत्येवं भगवतः सर्वजनहितैषिणो वेदस्याज्ञा सर्वैरपि मनुजैः परिपालनीया, तत्परिपालने सर्वविधोऽभ्युदयः सिद्ध्यति, अन्यथा नलयुधिष्ठिरादीनामिव महती दुर्दशैव भविष्यतीति न विस्मरणीयम् । इदमिह हि धनार्थिभिः सम्प्रति विधीयमानं 'सट्टा'प्रभृतिकमप्यकर्तव्यमेव बोधयति, तदपि विभिन्नप्रकारकं द्यूतमेव विज्ञेयमतोऽर्थिभिः तद-

हे कितव ! यानी क्या तेरा है ? जुआ में सब द्रव्य मैं ने ही जित लिया है, इस प्रकार जो अन्याय से अन्य के प्रति कहता है, वह दुष्ट-मनुष्य कितव कहा जाता है। अर्थात् हे धूत-जुआ खेलने वाला, वञ्चना-ठगाई करने वाला-झूठ-और अन्याय जिस को प्रिय है, ऐसा विश्वास-घाती—अपने को एवं दूसरों को पीडा-दुःख देने वाला—खल, यह सब कितव शब्द का अर्थ है। अक्ष यानी द्यूत-जुआ खेलने का साधन-पाशा आदि से मत क्रीडा कर, अर्थात् जुआ मत कर। उसमें बहु-अनर्थ हैं। यह अन्य ऋचा में कहा गया है—'शीत-अक्ष-पाशे अङ्गारों के समान हैं, काष्ठरहित-देश में डाले हुए भी, वे कितवों के हृदय को जला देते हैं।' इति। शीत यानी शीत-स्पर्श-वाले-ठण्डे हुए भी, ये अङ्गारों के सदृश अक्ष-पाशे बडे-उष्ण हैं, इरिण-इन्धन-काष्ठरहित देश में प्रक्षिप्त—डाले हुए, कितव-जुआरियों के हृदय-अन्तःकरण को—जला देते हैं, अर्थात् पराजय-जनित सन्ताप के द्वारा भस्म कर देते हैं। इस प्रकार की समस्त-जनों के हित की इच्छा रखने वाले-वेद की आज्ञा का सभी मनुष्यों को पालन करना चाहिए। उसके परिपालन में सर्व प्रकार का अभ्युदय सिद्ध होता है। अन्यथा—आज्ञा का पालन न करने पर नल, युधिष्ठिर आदिकों की भाँति महान् दुर्दशा ही होगी, ऐसा विस्मरण नहीं करना चाहिए। यह यहाँ धनार्थी-वेपारी,लोगों के द्वारा इस समय किया जाने वाला 'सट्टा' आदि भी अकर्तव्य है, ऐसा बोधन करता है, क्योंकि—वह भी विलक्षण-प्रकार का जुआ ही है, ऐसा जानना

नर्थसाधनं परित्याज्यमेव । द्यूतसम्बन्धाच्छठत्वासत्यभाषित्वानार्यसङ्गित्वपरवञ्चकत्वस्वपरोद्वेजकत्वचौर्यादयो दुर्गुणाः स्वयमेव समायान्ति । तैश्च मानवा महतीमनर्थपरम्परामाप्नुवन्तीत्यत्र नास्ति संशयलेशोऽपि । अतोऽभ्युदयार्थिभिः सर्वानर्थमूलं द्यूतं दूरतः सद्यः परिवर्जनीयम् । अपि च द्यूतं किल द्वाभ्यां निमित्ताभ्यां दुर्जना रोचयन्ते-एकं-विशेषप्रयासं विना समृद्धिलाभस्य प्रबलो लोभः, द्वितीयं-भाग्यनिर्भरत्वम् । द्वे अपीमे निमित्ते सदसद्विचारशक्तिं तिरोधाय सत्पुरुषार्थात्प्रच्याव्य मनुजान् निषिद्धमार्गावलम्बिनः कुरुतः । निषिद्धमार्गावलम्बनात् सकुटुम्बास्ते दुःखिताः पतिताश्च भवन्ति । अत एव तद्दुर्दशां प्रदर्शयत् ऋगन्तरमप्याह-'जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित् । ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥' (ऋ० १०।३४। १०) इति । क्वस्वित्=क्वचित्-क्वापि चरतः=निर्वेदोद्वेगाभ्यां इतस्ततो गच्छतः, कितवस्य=शठस्य धूर्तस्य द्यूतादिकारिणः, जाया=भार्या, हीना=भोजनवस्त्रादिसाधनविहीना तेन परित्यक्ता च सती, तप्यते=सन्तप्ता-दुःखिता भवति । पुत्रस्य कितवस्य सम्बन्धात् माता=तज्जनन्यपि शोकेन सन्तप्ता भवति । एवं तस्य दुष्टस्य सम्बन्धि-

चाहिए, इसलिए धनार्थियों को उस अनर्थ के साधन जुआ-सट्टा-आदि का परित्याग ही कर देना चाहिए। द्यूत के सम्बन्ध से शठत्व, असत्यभाषित्व, अनार्य-दुष्ट-संगित्व, परवञ्चकत्व, स्व-पर-उद्वेजकत्व, चौर्य आदि दुर्गुण स्वयं ही प्राप्त हो जाते हैं। और उन दुर्गुणों से मनुष्य, महान्-अनेक अनर्थों की परम्परा को प्राप्त होते जाते हैं, इस विषय में संशय का लेश भी नहीं है। इसलिए-अभ्युदयार्थियों को समस्त-अनर्थों के मूल-कारण द्यूत का दूर से ही परिवर्जन कर देना चाहिए। और भी-द्यूत निश्चय से दो निमित्तों से दुर्जनों को रुचिकर प्रतीत होता है, एक-विशेष प्रयास के बिना समृद्धिलाभ का प्रबल लोभ, और द्वितीय निमित्त, भाग्य की निर्भरता। दो भी ये निमित्त, मनुष्यों को-सत्-असत्-अच्छा-बुरा के विचार की शक्ति का तिरोधान करके सत्पुरुषार्थ से गिरा करके निषिद्ध-मार्ग के अवलम्बी बना-देते हैं। निषिद्ध-अनीति-मार्ग के अवलम्बन से कुटुम्ब-सहित वे दुःखी एवं पतित हो जाते हैं। इसलिए उनकी दुर्दशा का प्रदर्शन करती हुई अन्य-ऋचा भी कहती है-'कितव-जुआरी की पत्नी-स्त्री भोजनादि साधनों से विहीन हुई संतप्त होती है, और इधर-उधर घूमने वाले उस-अनारी-जुआरी पुत्र की माता भी दुःखी होती है। ऋणवान्-कर्जदार हुआ वह सदा भयभीत बना रहता है, धन की इच्छा करता हुआ वह रात्रि में अन्य-धनवानों के गृह में चोरी करने के लिए जाता है।' इति। क्वस्वित् यानी कहीं भी-स्थलविशेषों में निर्वेद-एवं उद्वेग से इधर-उधर जाने वाले-कितव-शठ-धूर्त-उस द्यूतादि के करने वाले-जुआरी की भार्या-स्त्री भोजनवस्त्रादि-साधनों से विहीन हुई एवं उससे परित्यक्त हुई सन्तप्त-दुःखी होती है। एवं कितव-पुत्र के सम्बन्ध से उसकी जननी-माता भी शोक से संतप्त होती है। इस प्रकार उस-दुष्ट के सम्बन्धी अन्य भी पोषण करने

नोऽन्येऽपि पोष्या बान्धवाः सन्तप्ता भवन्ति। ऋणावा=धनादिपराजयात् ऋणवान् कितवः सर्वतो विभ्यत्=भयमनुभवन्, धनं स्तेयलभ्यं इच्छमानः=कामयमानः, अन्येषां=धनिकानां, अस्तं=गृहम् । 'अस्तं पस्त्यमिति' गृहनामसु पाठात् । नक्तं=रात्रौ उप-एति=चौर्यार्थमुपगच्छतीति तदर्थः । 'पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतत्।' (ऋ० १०।३४।४) इति । पित्रादयः एनं=कितवं न वयं जानीमः, इत्येवं तं तिरस्कुर्वाणाः-उपेक्षमाणाः आहुः=वदन्ति । हे कितवाः! रज्ज्वा बद्धमेतं कितवं यूयं नयत=यत्र-कुत्रापि स्थितं तं दुष्टं यथेष्टदेशं कारागारं वा प्रापयत, नास्माकं तेन सह सम्बन्धलेशोऽप्यस्तीति । तस्मादतिनिन्द्यं द्यूतादिकं कर्म कृत्वाऽनिन्द्योऽप्ययमात्मा न निन्द्यतां नेयः । 'अच्छाभ्युदयलिप्सा चेत् तदा माऽघे रतिं कुरु।' दुष्कर्मानृतकपटप्रपञ्चरचनाचातुर्यं परिणतौ कॉस्कानतुतापान्नार्पयति? दुःसङ्गान्निषिद्धाचाराच्च कति कति दुःसहानि दुःखानि मानवैर्न सह्यन्ते? इति पुनः पुनर्विचारणीयम् इति । तर्हि जीवननिर्वाहाय धनलाभाय च किं करणीयमित्यत आह–कृषिं=भूमिकर्षणाद्यात्मकोऽन्नाद्युत्पादनानुकूलो व्यापारविशेषो हि कृषिः तां, इत्-एव, कृषस्व=कुरु। तस्यां हि बहवो गुणाः सन्ति । यतः स्वास्थ्यवर्धकबहलपरिश्रमोपेतावास्तस्याः अनृतवंचनादिपापप्राचुर्यस्य क्रयविक्रयादिलक्षणव्यापा-

लायक-बान्धव दुःखी होते हैं। धनादि के पराजय से ऋणवान् हुआ वह कितव, सर्व से भय का अनुभव करता हुआ–चोरी से लभ्य-धन की इच्छा-कामना करता हुआ, अन्य-धनवानों के अस्त-गृह में 'अस्त पस्त्य' ऐसा निघण्टु में गृह के नामों में पाठ है–नक्त-रात्रि में चोरी करने के लिए जाता है, यह पूर्वोक्त-मन्त्र का अर्थ है। 'पिता, माता तथा भाई इस जुआरी को कहते हैं कि–'हम उसको नहीं जानते हैं, इसको–जहाँ कहीं भी हो–बाँध करके तुम ले जाओ।' इति। पिता आदि–इस कितव को 'हम नहीं जानते हैं' इस प्रकार उसका तिरस्कार करते हुए–उपेक्षा करते हुए कहते हैं–हे कितवाः! जुआ खेलने वालो! रस्सी से बाँध करके उस कितव को तुम ले जाओ अर्थात् जहाँ कहीं भी वह अवस्थित हो उस दुष्ट को यथेष्टस्थान में या कारागार-जेल में डाल दो, उसके साथ हमारा लेश भी सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अतिनिन्द्य-द्यूत आदि दुष्ट-कर्म करके अनिन्द्य-निर्दोष भी इस आत्मा को निन्द्य-निन्दित नहीं बनाना चाहिए। 'अच्छं-निर्मल अभ्युदय के लाभ की इच्छा है तुझे यदि, तब अघ-पापकार्य में तू प्रेम मत कर।' दुष्कर्म-अनृत-कपट-प्रपञ्च की रचना की चतुरता परिणाम में किन-किन पश्चात्तापों को समर्पण नहीं करती है? । खोटी-संगति से एवं निषिद्ध-दुराचार से मनुष्य कितने कितने दुःसह दुःखों का सहन नहीं करते हैं? ऐसा पुनः पुनः विचार करना चाहिए। इति। तब जीवननिर्वाह के लिए तथा धनलाभ के लिए क्या करना चाहिए? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं–कृषि-खेती कर । भूमि का कर्षण-विलेखन आदिरूप-अन्नादि का उत्पादन के अनुकूल-व्यापारविशेष का नाम कृषि-खेती है। उसमें बहु गुण हैं। क्योंकि–स्वास्थ्य बढ़ाने वाले–बहुल-परिश्रम से संयुक्त-वह कृषि, झूठ-ठगाई-आदि पापों की बहुलता है जिसमें–ऐसे क्रय-विक्रय-खरीदना-बेचना आदि-

रस श्ववृत्तिसमाख्यातस्य कैङ्कर्यस्य चापेक्षया श्रेष्ठत्वात् । किञ्च जीवननिर्वाहकस्य धनप्रापकस्य च साधनस्य यावद्यावान्नैर्मल्यं सम्पाद्यते, तावत्तावन्नूनं स्वान्तमपि निर्मलं प्रसन्नञ्च भवति, अतस्तां सर्वश्रेष्ठां सर्वाभ्युदयमूलां कृषिमेव विधेहीति भावः । अत एव श्रुत्यन्तराण्यपि—कृषेः सर्वजनोपजीव्यत्वलक्षणं महत्त्वं, तस्याः तज्जन्यलाभस्य च सिद्धये परमेश्वरादेशञ्च तत्प्रशस्तप्रभूतसस्यलक्षणं फलं सम्पादयितुं भगवदभ्यर्थनञ्च दर्शयन्ति—'ते कृषिं च सस्यञ्च मनुष्या उपजीवन्ति' (अथर्व. ८।१०।१२) 'कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा' (शु. य. ९।२२) 'सुसस्याः कृषीस्कृधि' (शु. य. ४।१०) इति । कृष्यै=कृषिसिद्ध्यर्थं त्वा=त्वां . यजमानमहमुपयोजयामीति सर्वत्र शेषः, परमेश्वरस्यायमादेशः । क्षेमाय=कृषिलब्धधान्यादिपरिपालनाय त्वा, रय्यै=धनाय त्वा, पोषाय=पशुपुत्रादिपुष्ट्यै त्वा—इत्यर्थः । सुसस्याः=शोभनं सस्यं यासु ताः, सस्यं=व्रीहियवगोधूमादि, तदर्थो भूम्युल्लेखः कृषिः, ताः सर्वाः हे परमेश्वर ! विश्वपितः ! अनुकूलवृष्ट्यादिना शोभनधान्याः कृधि=कुर्वित्यर्थः । कृष्यास्पदां भूमिं मातृत्वेन सस्यजनकं पर्जन्यञ्च पितृत्वेन भावयितुमाह—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः पर्जन्यः

रूप व्यापार की, एवं कुत्ते की तुच्छ-वृत्ति की संज्ञा वाली नौकरी की अपेक्षा से श्रेष्ठ है । और जीवननिर्वाह-एवं धनप्राप्ति का साधन, जितना जितना निर्मल-अनीतिरहित सम्पादन किया जाता है, उतना-उतना निश्चय से हृदय भी निर्मल एवं प्रसन्न होता जाता है । इसलिए उस सर्वश्रेष्ठ-सर्व के अभ्युदय का मूल-कारण कृषि को ही तू कर, यह भाव है । अत एव अन्य श्रुतियाँ भी—कृषि के-सर्व जनों का उपजीव्यत्वरूप-महत्त्व का, उस कृषि की एवं उससे होने वाले लाभ की सिद्धि के लिए—परमेश्वर के आदेश का—कृषि के प्रशस्त-प्रभूत-बहुत सस्य-धान्यरूप-फल को सम्पादन करने के लिए भगवान्-जगदीश्वर की प्रार्थना का प्रदर्शन करती हैं—'वे सब मनुष्य कृषि एवं धान्य का उपजीवन करते हैं ।' 'कृषि के लिए, क्षेम के लिए, रयि-धन के लिए एवं पोष के लिए मैं परमेश्वर तुझ-मनुष्य को नियुक्त करता हूँ ।' 'अच्छे धान्य को पैदा करने वाली कृषि को तू कर ।' इति । कृषि की सिद्धि के लिए तुझ-यजमान को मैं योजन-नियुक्त करता हूँ, ऐसा 'उपयोजयामि' 'क्षेमाय त्वा' आदि सर्व पदों में शेष है । परमेश्वर का यह आदेश है । क्षेम यानी कृषि से लब्ध-धान्यादि के परिपालन-संग्रह के लिए तुझ को, रयि-धन के लिए तुझ को, पोष-पशु-पुत्रादि की पुष्टि के लिये तुझ को मैं नियुक्त करता हूँ । सुसस्या यानी शोभन-अच्छा है सस्य जिनमें ऐसी कृषि, सस्य यानी व्रीहि-यव-गोधूम-गेहूँ आदि-अनेक प्रकार का धान्य, उसके लिए भूमि का उल्लेख-कर्षणादि का नाम कृषि है, उन सभी कृषियों को-हे विश्व के पिता परमेश्वर ! भगवन् ! अनुकूल-वृष्टि आदि के द्वारा शोभन-अच्छे धान्य वाली बना । कृषि की आस्पद-आधाररूप भूमि को मातारूप से और सस्य का जनक-उत्पादक पर्जन्य-वृष्टि को पितारूप से भावना करने के लिए अन्य मन्त्र कहता है—'भूमि-माता है, मैं पृथिवी-माता का पुत्र हूँ, पर्जन्य मेरा

पिता स उ नः पिपर्तु।' (अथर्व. १२।१।१२) पिपर्तु=पालयतु इत्यर्थः। 'द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।' (ऋ. १।१६४।३३) नाभिरत्र=नाभिभूतो भौमो रसोऽत्र तिष्ठति। ततश्चान्नं जायते, अन्नाद्रेतो रेतसो मनुष्यः, इत्येवं पारम्पर्येण जनिता=जनयिता। बन्धुः=बन्धिका, इयं-मही=महती इत्यर्थः। कृतघ्नतानिवृत्तये श्रद्धावृद्ध्यै च मात्रे पृथिव्यै पुनःपुनर्नमस्कारं कर्तव्यत्वेनाह-'नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै' (शु. य. ९।२२) मातृरूपायै भूदेव्यै नमस्कारोऽस्तु। 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (नि. १०।४२) इति द्विरुक्तिः। माता पृथिवी विपुलसस्येन वर्धमाना अस्मान् स्वपुत्रान् वर्धयतु इत्याह-'सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना' (अथर्व. १२।१।१३) इति। राजापि कृषिविस्तारार्थं साहाय्यं करोतु इत्याह-'नो राजा नि कृषिं तनोतु' (अथर्व. ३।१२।४) इति। ननु-न तया केवलया कृष्या प्रभूतस्य धनस्य लाभो भवति, वयन्तु प्रभूतं धनमभिलषाम इत्यत आह-वित्ते=कृष्या सम्पादिते जीवननिर्वाहयोग्ये स्वल्पेऽपि पापवर्जिते न्याय्ये धने रमस्व=रतिं-प्रीतिं कुरुष्व। तस्य वित्तस्य बहुमन्यमानः=परसन्तापमकृत्वा दैन्यमादाय खलमन्दिरष्वागत्वा सतां वर्त्म अनुत्सृज्य, यत्स्वल्पमपि सन्तोषात्तद्बहु मन्यमानः, वि-

पिता है, वे माता-पिता मेरा पालन करें।' पिपर्तु यानी पालन-रक्षण करें। 'द्यौ-अन्तरिक्ष मेरा पिता है, वह मेरा उत्पादक है, इसमें नाभि विविध रसों का भण्डार है, यह बड़ी पृथिवी मेरी माता एवं बन्धु है।' नाभि-अत्र अर्थात् नाभि-रूप-भूमि के विविध रस इसमें रहते हैं। उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से रेत-वीर्य, एवं वीर्य से मनुष्य उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार परम्परा से वह-अन्तरिक्ष जनयिता-उत्पादक है। बन्धु-अपने में बाँधने वाली यह पृथिवी मही-महती-बड़ी-भारी प्रशंसनीया माता है। कृतघ्नता की निवृत्ति के लिए तथा श्रद्धा की वृद्धि के लिए माता पृथिवी के प्रति पुनः पुनः नमस्कार कर्तव्यरूप से कहते हैं-'पृथिवी-माता को नमस्कार है, पृथिवीमाता को नमस्कार है।' मातारूप भूदेवी को नमस्कार हो। 'अभ्यास-बार बार कहने में बड़ा स्तुत्य-अर्थ-प्रयोजन है, ऐसा विद्वान् मानते हैं।' इसलिए पूर्वोक्त मन्त्र में द्विरुक्ति-दो बार कथन है। पृथिवीमाता विपुल-सस्य के द्वारा बढी हुई-हम अपने-पुत्रों को बढावे-उन्नत करे, यह मन्त्र कहता है-'बढी हुई वह भूमि, हमें सभी प्रकार से बढावे।' इति। राजा भी कृषि के विस्तार के लिए सहायता करे, यह भी मन्त्र कहता है-'हमारा राजा कृषि का अच्छी रीति से विस्तार करे।' इति।

शंका-उस केवल कृषि से बहुत-धन का लाभ नहीं होता है, हम तो प्रभूत-धन की अभिलाषा रखते हैं?

समाधान-वित्ते-कृषि से सम्पादित-जीवन-निर्वाह के योग्य स्वल्प भी पापवर्जित-न्याय्य-नीति-युक्त धन में तू रमण-रति-प्रीति कर। उस वित्त को बहु मानता हुआ अर्थात् अन्य को सताप न दे करके, दीनता ग्रहण करके खल-धनवानों के मंदिर में न जा करके सत्पुरुषों के पावन-मार्ग को न छोड़ करके जो स्वल्प भी धन कृषि से प्राप्त हुआ है, उसको संतोष से बहु मानता हुआ, विदेश के

देशीयोद्धतवस्त्रालङ्काराडम्बरादिकं परित्यज्य निर्वाहसाधनेषु सारल्यं विधायातिलोभञ्च सम्मर्द्य प्रसन्नचेतास्त्वं भवेत्यादेशः। कृषेर्माहात्म्यमाह—तत्र=तस्यां कृषौ सत्यां, गावः=धेनवो रक्षिताः प्रसन्नाश्च भवन्ति। तासां रक्षणात्प्रसादाच्च सर्वं रक्षितं प्रसादोपेतञ्च भवति। एवं तत्र=कृषौ, जाया=भार्या प्रसन्ना भवति, जायेत्युपलक्षणं समग्रस्य कुटुम्बस्य। तत्=तदेव धर्मरहस्यं निर्वाहसाधनसंयुक्तं, सविता=सर्वस्य प्रेरकः, अर्यः=सूर्यमण्डलेऽपि प्रकाशरूपेण दृष्टिगोचरः, अर्यः=लोकस्यास्य स्वामी नियामकः परमेश्वरः, मे=मह्यं—मन्त्रदर्शिने सर्वलोकहितचिन्तकाय—ऋषये विचष्टे=विविधं यथा स्यात्तथा आख्यातवान्—उपदिदेश—लोकानामुपदेशार्थम्। तस्मात्परमेश्वरेण यन्निषिद्धं तत्पापं कर्म न कर्तव्यम्। यच्च कर्तव्यत्वेन समुपदिष्टं तत्पुण्यं कर्म समनुष्ठेयमेवेति भावः।

[एवं महावाक्यविज्ञानं तत्साधनानि विषयासक्तिकुतर्काश्रद्धाऽनृतादिप्रतिबन्धनिवृत्तिजीवननिर्वाहकस्वच्छवृत्त्युपादानादीनि चोपदिश्याऽधुना तत्फलमुपदिशति।]

उद्धत-जैन्टलमैनी-वस्त्र-अलंकार-आडंबर आदि का परित्याग करके निर्वाह के अन्न-वस्त्रादि साधनों में सरलता—सादापन-रख करके अति-लोभ का सम्यक् मर्दन करके व प्रसन्नचित्त रहा कर, यह वेद-भगवान् का आदेश है। कृषि का माहात्म्य कहते हैं—उस-कृषि के होने पर गौ धेनु रक्षित-एवं प्रसन्न होती हैं। उनके रक्षण से एवं उनकी प्रसन्नता से सब-मानव-समाज रक्षित तथा प्रसन्नता युक्त हो जाता है। इस प्रकार उस कृषि के होने पर जाया-भार्या प्रसन्न होती है, 'जाया' यह उपलक्षण है—समग्र-कुटुम्ब का। तत् यानी वही धर्म का कृषिरूप रहस्य—जो जीवन निर्वाह के साधन से संयुक्त है—उसका—सविता-सर्व का प्रेरक, सूर्यमण्डल में भी जो यह प्रकाशरूप से दृष्टि का विषय है, जो इस समस्त लोक का स्वामी नियामक-परमेश्वर है—उसने मुझ-सर्वलोकों का हितचिन्तक-मन्त्रद्रष्टा ऋषि के लिए विविधरूप से जैसे हो वैसे—उपदेश दिया है, लोकों को उपदेश देने के लिए। इसलिए—परमेश्वर ने जिसका निषेध किया है—ऐसा जुआ आदि पापकर्म नहीं करना चाहिए। जिसका कर्तव्यरूप से सम्यक् उपदेश दिया है—उस-पुण्यकर्म-कृषि आदि का सम्यक् अनुष्ठान करना चाहिए, यह भाव है।

[प्रथम के मन्त्रों में महावाक्य के विज्ञान का उसके साधन-विषयासक्ति कुतर्क-अश्रद्धा-अनृत आदि प्रतिबन्धों की निवृत्ति, जीवन के निर्वाहक-स्वच्छ-वृत्ति के उपादान आदि का उपदेश करके अब उसके फल का उपदेश करते हैं]

(७३)

(पवित्रेऽन्तःकरणे भगवान् विरक्तिभक्तिज्ञानानि समर्प्य पश्चात्स्वसखित्वमपि समर्पयति)

(पवित्र-अन्तःकरण में भगवान् विरक्ति-भक्ति एवं ज्ञान का समर्पण करके पश्चात् अपने सख्य का भी समर्पण करता है)

शोभनैर्निष्कामकर्मभिः पुंसो भक्तियोगोत्पादिका चित्तशुद्धिरुदेति। शुद्धे पवित्रे चेतसि खलु परमपावनो भगवान् सर्वसाधनफलभूतां प्रेमप्रकर्षलक्षणां भक्तिं कृपया मुक्तिमिच्छोः पुरुषस्योत्पादयति। यद्यपि चित्तं हि द्रव्यं जतुवत्स्वभावतः कठोरं अनादिकालतो विषयेष्वासक्तं—तस्य विषयविरतिं विना तादृशप्रेमोत्पत्तिर्दुर्लभा, तथापि श्रवणकीर्तनादिभिश्चित्तजतुद्रावकैर्भक्तिसाधनैर्भगवतोऽन्यपदार्थेभ्यो दोषदृष्टिद्वारा वैराग्यमुत्पाद्यैव प्रेमप्रकर्षोत्पादनं क्रियते। प्रेमप्रकर्षश्चावर्जनीयतया तत्त्वज्ञानमप्युत्पाद्य सकलानर्थनिवृत्त्युपलक्षिताद्वयानन्दाविर्भावरूपं भगवत्सखित्वलक्षणं मोक्षं सम्पादयतीत्यभिप्रेत्य मोक्षैकनिष्ठैर्विधीयमानां भगवत्प्रार्थनामभिदधाति—

शोभन-निष्काम कर्मों के द्वारा पुरुष को भक्तियोग को उत्पन्न करने वाली चित्त-शुद्धि का उदय होता है। शुद्ध-पवित्र-चित्त में निश्चय से परमपावन-भगवान् समस्त साधनों की फलरूपा-प्रेम-प्रकर्ष के लक्षण वाली-भक्ति को अपनी कृपा द्वारा मुक्ति की इच्छा करने वाले-पुरुष में उत्पन्न करवाता है। यद्यपि चित्त-द्रव्य, जतु-लाक्षा की भाँति स्वभाव से कठोर है—अनादिकाल से विषयों में आसक्त है—विषयविरक्ति के बिना उस-कठोर चित्त में तादृश-प्रेम की उत्पत्ति दुर्लभ है, तथापि चित्त-जतु को द्रवीभूत करने वाले—भक्ति के साधन-श्रवण-कीर्तनादि के द्वारा—भगवान् से अन्य जो पदार्थ हैं, उनसे दोषदृष्टि द्वारा वैराग्य को उत्पन्न करके ही प्रेम-प्रकर्ष-अनन्यभक्ति का उत्पादन किया जाता है। और प्रेमप्रकर्ष, अवर्जनीयरूप से तत्त्वज्ञान को भी उत्पन्न करके सकल-शोकमोहादि-अनर्थों की निवृत्ति से उपलक्षित-अद्वय-आनन्द का आविर्भावरूप-भगवत्सख्य-लक्षण वाले—मोक्ष का सम्पादन करता है, ऐसा अभिप्राय रख कर एकमात्र—मोक्ष में निष्ठा रखने वाले-पुरुषों के द्वारा उसके लिए की जाने वाली भगवान् की प्रार्थना का कथन करते हैं—

ॐ पवमानस्य ते वयं पवित्रमभ्युन्दतः।
सखित्वमावृणीमहे॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ९ सूक्त ६१ ऋक्. ४) (साम. ७८७)

'निष्काम-कर्म के द्वारा पवित्र-शुद्ध हुए-हृदय को भक्तियोग द्वारा द्रवीभूत-तन्मय बनाने वाले-सुपरमपावन नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाले-परमात्मा के मोक्षरूप-सखित्व की हम प्रार्थना करते हैं।'

कर्तृत्वाभिमानमुत्सृज्य परमेश्वरप्रीत्यर्थं निष्कामभावनया विहितैः पावनैः कर्मभिः, पवित्रं=परिशुद्धं—मलदोषरहितं—आस्माकीनमन्तःकरणं, अभ्युन्दतः=भक्तियोगरसेनाभिक्लेदयतः—आर्द्रयतः—विषयासक्तिलक्षणं काठिन्यं दूरीकृत्य द्रवीभूतमापाद-

कर्तृत्व-अभिमान का परित्याग करके, परमेश्वर की प्रीति-प्रसन्नता के लिए ही निष्काम-भावना से किये गये पावन-शोभन कर्मों के द्वारा पवित्र-परिशुद्ध-मलदोषरहित हुए हमारे अन्तःकरण को भक्ति-योग-रस द्वारा विषयासक्तिरूप-काठिन्य को दूर करके अभिक्लिन्न-आर्द्र-द्रवीभूत

यतः—स्वान्तरात्मन्येव त्वयि सततं प्रवाहशीलं तन्मयञ्च कृतवतः, ते=तव—परमेश्वरस्य, पवमानस्य=परमपावनस्य—नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य, सखित्वं=सख्यं—समानख्यानत्वं आवृणीमहे=प्रार्थयामहे। शास्त्रेषु हि सालोक्यसामीप्यसारूप्यसार्ष्टिसायुज्यकैवल्यभेदात् भगवत्सखित्वं षड्धा विभक्तं वर्णितमुपलभ्यते। तत्र यस्य यादृशं प्रार्थितं तादृशं समर्प्य कृपाकूपारो भगवान् तमनुगृह्णाति। तत्रादिमानि त्रीणि स्पष्टान्येव। चतुर्थी सार्ष्टिस्तु भगवत्समानैश्वर्यम्। आ=समन्तात्, ऋष्टिः=समृद्धिः—आर्ष्टिः, समाना आर्ष्टिः सार्ष्टिरिति व्युत्पत्तेः। पञ्चमं सायुज्यं किल भगवतैकीभावः, सह युज्यत इति सयुक्, सयुजो भावः सायुज्यमिति शब्दनिरुक्तेः। तत्र तावत्पूर्वोक्तं पञ्चविधं सखित्वं साकारस्य सुरम्यभव्यदिव्यलीलाविग्रहवतो भगवतो दिव्यानन्दसान्द्रसुधामधुरिमास्वादविलुब्धमनसः श्रौतस्मार्तसिद्धान्तानुगाः परमशैवभागवता भक्ताः अभिप्रयन्ति। ब्रह्मनिर्वाणापरपर्यायं कैवल्यमन्तिमन्तु ब्रह्मवादिन औपनिषदविज्ञानरसिकास्तत्त्वदर्शिनोऽभिरोचयन्ते। 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'

बनाने वाले—एवं अपने-अन्तरात्मारूप-तुझ में ही सतत-प्रवाहशील-करने वाले तुझ पवमान-परम-पावन-नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव-परमेश्वर के—समानख्यानत्वरूप-सखित्व का हम आ—समन्ततः वरण करते हैं अर्थात् उसकी-प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं। शास्त्रों में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सार्ष्टि, सायुज्य एवं कैवल्य के भेद से भगवत्सखित्व-रूपमोक्ष छः प्रकार का पृथक्-पृथक् वर्णन किया हुआ उपलब्ध होता है। उनमें जिसको जिस प्रकार का सखित्व प्रार्थित होता है, उसको उस प्रकार के सखित्व का समर्पण करके कृपा-समुद्र भगवान् उसके ऊपर अनुग्रह करता है। उनमें आदि के तीन—सालोक्य-भगवान् के लोक में निवास करना, सामीप्य—भगवान् के समीप में निवास करना, एव सारूप्य—भगवान् के समानरूप वाला हो कर उसके साथ रहना, स्पष्ट हैं। चतुर्थी-सार्ष्टि तो भगवान् के समान ऐश्वर्य प्राप्त करना। आ—समन्तात्-ऋष्टि-समृद्धि, आर्ष्टि है, समाना आर्ष्टि सार्ष्टि कही जाती है, ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। पञ्चम सायुज्यरूप सखित्व है—भगवान् के साथ एकीभाव-अभिन्न हो जाना। सह-साथ, युज्यते-संलग्न-तद्रूप हो जाना वह सयुक् है, उसका भाव सायुज्य है ऐसी उस-शब्द की व्युत्पत्ति है। उनमें पूर्वोक्त सालोक्यादि-पञ्च प्रकार का सखित्व साकार-भगवान् का है, जो सुरम्य-भव्य-दिव्य-लीला-विग्रहधारी हैं। उस पञ्चविध सखित्व को श्रौतस्मार्तसिद्धान्त के अनुयायी-परम-शैव-वैष्णव-भक्त चाहते हैं, जिन्हों के मन, साकार भगवान् के दिव्य-आनन्द-घन-सुधा की मधुरता के आस्वादन में विशेष करके लुब्ध-आसक्त हैं। ब्रह्मनिर्वाण है अन्य नाम जिसका ऐसा अन्तिम कैवल्यमोक्षरूप-सखित्व—तो ब्रह्मवादी—जो उपनिषदों के विज्ञान-ब्रह्मविद्या के रसिक-तत्त्वदर्शी हैं—उनको अति रुचिकर प्रतीत होता है।

(मुं. ३।२।९) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ. ४।४।७) 'स एव तदभवत्' (बृ. १।८।१०) 'ब्रह्म निर्वाणमृच्छति' (गी. २।७२) 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्' (गी. ५।१५) इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रतिपन्नं ज्ञाननिष्ठाफलं ब्रह्मभावावाप्तिलक्षणं कैवल्यं निर्वाणं जीवतां जीवन्मुक्तिरूपं मृतानाञ्च विदेहमुक्तिरूपं 'विमुक्तश्च विमुच्यते।' (२।५।१) इति कठश्रुतिगम्यं परिपूर्णाद्वयानन्दाखण्डाविर्भावलक्षणं मुख्यं मोक्षं ते धन्यधन्याः सुधीवरमूर्धन्याः महात्मानः समधिगच्छन्तीति तत्त्वम्। अत एव ऋगन्तरमप्याह— 'देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुरध्वरे। शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्ने! सख्ये मा रिषामा वयं तव॥' (ऋ. १।९४।१३) इति। अस्या ह्ययमर्थः— हे अग्ने! सत्यानन्दनिधे! परमात्मन्! त्वं देवानां=इन्द्रवरुणादीनामपि देवोऽसि=प्रकाशकोऽसि। यद्वा त्वमेक एव महान् देवस्तेषामनेकेषां देवानामुत्पादकोऽसि परमपिताऽसि स्वभूतसत्तास्फूर्त्यादिप्रदातासि। यद्वा देवः=स्वतोद्योतमानस्त्वं, देवानां सर्वेषां अद्भुतः=कृपाकटाक्षमात्रतः सकलेष्टसम्पादकत्वेनाश्चर्यकरः प्रौढो मित्रः=सखाऽसि। तथा अध्वरे=समस्ताभ्युदयनिः-

'जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।' 'ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म में विलीन हो जाता है।' 'जो उसको जान गया, वह वही हो गया।' 'ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है।' 'ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होते हैं।' इत्यादि श्रुति-स्मृतियों के द्वारा निश्चयरूप से जो ज्ञात होता है, जो ब्रह्मभाव की प्राप्तिरूप कैवल्य-निर्वाण मोक्ष-ज्ञाननिष्ठा का फलरूप है—जीने वाले-सदेह ब्रह्मवेत्ताओं को जो जीवन्मुक्तिरूप से प्राप्त होता है, मृत-ब्रह्मवेत्ताओं को—जो विदेहमुक्तिरूप से प्राप्त होता है। 'विमुक्त हुआ ही वह विमुक्त होता है।' इस कठ श्रुति के द्वारा जीवन्मुक्ति एव विदेह-मुक्ति का ज्ञापन होता है। जो परिपूर्ण-अद्वयानन्द का अखण्ड आविर्भावरूप-मुख्य मोक्ष है—उसको—वे धन्यों से भी धन्य उत्तम-शोभन पवित्र बुद्धि वालों के मूर्धन्य-श्रेष्ठ-महात्मा सम्यक् प्राप्त होते हैं, यह रहस्य है। अत एव-अन्य ऋक्-मन्त्र भी कहता है—'हे अग्ने! परमात्मन्! तू देवों का देव है, सखा है, अद्भुत है, अध्वर-यज्ञ में वसु इष्ट-फलों के मध्य में भी तू चारु-सुन्दर, वसु-परम-इष्ट फलरूप है। इसलिए तेरे अति-विस्तृत-अपरिच्छिन्न इष्टतम-शर्म-सुखस्वरूप में हम सदा अवस्थित रहें। तेरे इस प्रकार के सख्य से हम कदापि अलग न रहें।' इति। इस ऋचा का यह अर्थ है—हे अग्ने!—सत्य-आनन्दनिधे! परमात्मन्! तू इन्द्र-वरुणादि-देवों का भी देव है—प्रकाशक है। यद्वा तू एक ही महान् देव, उन-अनेक-देवों का उत्पादक है—परमपिता है—स्वस्वरूपभूत-सत्ता-स्फूर्ति आदि का प्रदाता है। यद्वा स्वत घोतमान प्रकाशमान तू सकल देवों के मध्य में अद्भुत है—कृपा-कटाक्षमात्र से सकल-इष्टों का सम्पादक होने के कारण आश्चर्यकारी है। प्रौढ मित्र-सखा है। तथा अध्वर यानी समस्त-अभ्युदयों को एवं निःश्रेयस-कल्याण को

श्रेयसावहे शोभनकर्मोपासनज्ञानलक्षणे यज्ञे वर्तमानस्सन् त्वं चारुः=शोभनः, वसूनां= इष्टफलानां मध्ये वसुः=परमेष्टफललक्षणः परमानन्दनिधिरसि । अतः सप्रथस्तमे= सर्वतः पृथुतमे—अतिशयेन विस्तीर्णे व्यापके अपरिच्छिन्ने तस्मिन्, तव=त्वत्स्वरूपभूते शर्मन्=शर्मणि=परमेष्टतमे मोक्षलक्षणे सुखे स्याम=वयं सदा वर्तमाना भवेम । तव सख्ये=तादृशे सखित्वे वयं मा रिषाम= हिंसिता न भवाम इत्यर्थः । तव सखित्वात् वयं कदापि पृथक्कृता न भवेम इति प्रार्थयामहे । 'रिष हिंसायां' स्मरणात् । इष्टपदार्थलाभात् पृथकरणमेव हिंसनमत्र प्रत्येतव्यम् । एवमिदमप्याह—'इन्द्रस्य सख्यमृभवः समानशुः' (ऋ. ३।६०।३) ऋभवः=ऋतेन—सत्येन ज्ञानेन ये भान्ति— दीप्यन्ते ते ऋभवः—सत्यतत्त्वज्ञानपरायणा योगिनः, इन्द्रस्य=सर्वात्मनः परब्रह्मणः सख्यं=समानख्यानत्वं सच्चिदानन्दामृत-धामरूपमोक्षलक्षणं यत्र तत्प्राप्तानां मुक्तानां तस्मात्प्राप्यस्वरूपादन्यादृशख्यानत्वं न कथमपि भवति, तादृशं सख्यं समानशुः= सम्यक् प्राप्नुवन् इत्यर्थः । 'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (३।१।३) इति मुण्डकश्रुतेः । तथैवायमपि—'येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् ।' (अथर्व. ४।११।६) इति । येन=सर्वात्मना भगवता कृत्वा तद्विमलानुग्रहं तत्तत्त्वज्ञानञ्च प्राप्य देवाः= दैवीसम्पद्भाजो विद्वांसः—देवमनुष्याः, स्वः= अखण्डानन्दलक्षणं कैवल्यं, आरुरुहुः=

प्राप्त कराने वाले—शोभनकर्म-उपासन-एवं ज्ञान-रूप यज्ञ में वर्तमान हुआ तू चारु-शोभन-सुंदर, वसु-रूप इष्ट फलों के मध्य में वसु-परम इष्ट-फलरूप-परमानन्दनिधि है। इसलिए—सर्वतः पृथुतम-अर्थात् अतिशय-अपाररूप से विस्तीर्ण-व्यापक-उस अपरिच्छिन्न तेरे स्वरूपभूत-परम इष्टतम-मोक्षरूप-शर्म-सुख में हम सदा वर्तमान-अवस्थित हों। तेरे उस प्रकार के सखित्व में हम कदापि हिंसित न हों, अर्थात् तेरे सखित्व से हम कदापि पृथक्कृत न हों, ऐसी हम आपसे प्रार्थना करते हैं। 'रिष' धातु का हिंसा अर्थ में स्मरण है । इष्ट-पदार्थ के लाभ से पृथक्करण ही यहाँ हिंसन है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार यह भी मन्त्र कहता है—'सत्यतत्त्वज्ञान-परायण-योगी इन्द्र-परमात्मा के मोक्षरूप-सख्य को सम्यक् प्राप्त हो गये हैं ।' ऋभव यानी ऋत-सत्य ज्ञान द्वारा जो दीप्त-तेजस्वी होते हैं वे सत्य-तत्त्वज्ञान के परायण योगी-ऋभु, इन्द्र-सर्वात्मा-परब्रह्म के सख्य को सम्यक् प्राप्त हो गये हैं। सख्य यानी समान-रूप से ख्यानत्व—जो सत्-चित्-आनन्द-अमृतधामरूप-मोक्ष के लक्षण से युक्त है, जिसमें उसको प्राप्त होने वाले मुक्त पुरुषों का उस-प्राप्य स्वरूप से अन्य प्रकार का ख्यान-भान किसी भी प्रकार से नहीं होता है। 'अञ्जनरूप अविद्यादि—कालुष्य से मुक्त हुआ तत्त्वज्ञानी-निरञ्जन पुरुष, परम साम्य को प्राप्त होता है' इस मुण्डक श्रुति से भी यही सिद्ध होता है । तथैव यह मन्त्र भी कहता है—'शरीर का त्याग कर दैवी सम्पत्ति वाले-देव मनुष्य, अमृत की नाभिरूप स्वः-निरतिशय सुखरूप-धाम में जिसके द्वारा आरूढ हुए हैं।' इति। जिस-सर्वात्मा-भगवान् करके, अर्थात् उसके विमल-अनुग्रह को एवं उसके तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके, दैवीसम्पत्ति का भजन-सेवन करने वाले-विद्वान्-देव-मनुष्य स्वः यानी अखण्डानन्दरूप-कैवल्य मोक्षधाम

प्राप्तवन्तः। कीदृशं तत्? अमृतस्य=अमरणभावस्यापुनरावृत्तिलक्षणस्य नाभिं=बन्धकं केन्द्रभूतमित्यर्थः। 'मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते।' (गी. ८।१६) इति स्मृतेः। किं कृत्वा? शरीरं पार्थिवमेतत् हित्वा=परित्यज्येत्यर्थः। अत एव श्रुत्यन्तरेष्वपि भगवतः सर्वात्मनो वामं-शिवं सुन्दरं प्रशंसनीयं तदेव सखित्वं कामयमाना भक्ताः पुनः पुनः तं प्रार्थयन्ते– 'वामं नो अस्त्वर्यमन्! वामं वरुण! शंस्यम्। वामं ह्यावृणीमहे।' (ऋ. ८।८३।४) इति। हे अर्यमन्! हे वरुण! सम्बोधने इमे भगवतः। वामं=वननीयं–सम्भजनीयं शिवं सत्यं सुन्दरं तव परमं सखित्वं, नः=अस्माकमस्तु=प्राप्तं भवतु। कीदृशं तत्? शंस्यं= सर्वैरपि प्रशंसनीयं–स्तुत्यम्। हि=निश्चयेन तदेव वामं वयं त्वामेवोपसन्ना आवृणीमहे=पुनः पुनः याचयामहे इत्यर्थः।

को आरूढ-प्राप्त हुए हैं। वह स्वः किस प्रकार का है? अमृत यानी अपुनरावृत्ति-लक्षण वाला-अमरण अभय-भाव, उसकी नाभि-बन्धक-अर्थात् केन्द्रभूत। 'हे कौन्तेय! मुझ-परमात्मा को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है।' ऐसा गीता स्मृति से भी सिद्ध होता है। क्या करके? इस पार्थिव-मर्त्य-शरीर का परित्याग करके। इसलिए–अन्य-श्रुतियों में भी सर्वात्मा-भगवान् का वाम-शिव-सुन्दर-प्रशंसनीय-उसी ही मोक्षरूप-सखित्व की कामना करने वाले–भक्त-गण पुनः पुनः उसकी ही प्रार्थना करते हैं–'हे अर्यमन्! हे वरुण! तेरा-वाम-सुन्दर सखित्व हमें प्राप्त हो, प्रशंसनीय-वाम-सुन्दर वही हमें मिले, उस वाम की ही हम सदा याचना करते हैं।' इति। हे अर्यमन्! हे वरुण! ये दो सम्बोधन भगवान् के हैं। वाम यानी वननीय-अच्छी प्रकार से जो भजन-सेवन करने योग्य–शिव-सत्य-सुन्दर तेरा परम सखित्व है, वह हमें प्राप्त हो। किस प्रकार का है वह? शंस्य यानी सभी के द्वारा प्रशंसा करने योग्य-स्तुत्य। हि निश्चय से उसी ही वाम-सुन्दर की हम तेरे शरणागत भक्त पुनः पुनः याचना करते हैं।

(७४)

(भगवदुपासनतत्पराणां महानुभावानां कृते न किञ्चिदपि दुर्लभम्)

(भगवान् की उपासना में तत्पर रहने वाले–महानुभावों के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है)

जीवस्य भगवद्वैमुख्यमेव सकलानर्थहेतुः, तदाभिमुख्यमेव निखिलाज्ञानदुःखदौर्भाग्यनिवृत्त्युपलक्षिताशेषज्योतिःसौभाग्यनिरतिशयानन्दाविर्भावहेतुरिति श्रुतिकमलिनीविहाररसिकराजहंसायमानहृदयैः सहृदयैर्महद्भिर्मन्त्रदृग्भिः ऋषिभिर्विनिर्णीत-

जीव के सकल जन्म-मरणादि-अनर्थों का कारण, भगवान् से उसकी विमुखता ही है। निखिल-अज्ञान-दुःख एवं दौर्भाग्य की निवृत्ति से उपलक्षित-अशेषज्योतिः सौभाग्य-एवं निरतिशय-आनन्द के आविर्भाव का हेतु, भगवान् के प्रति जीव की अभिमुखता ही है, ऐसा-श्रुतिरूपी कमलिनी के साथ विहार करने में रसिक-राजहंस के समान आचरण करने वाले जिन्हों के हृदय हैं ऐसे सहृदय-महान् मन्त्रदृष्टा-ऋषियों ने विशेष-

मिदम्। तथा चाखिलसौन्दर्यमाधुर्यसौष्ठवाद्यनन्तकल्याणगुणगणालंकृते परमप्रेमास्पदेऽवश्यं भजनीये सर्वात्मनि भगवति परमेश्वरे समाराधिते सति सर्वेषां सर्वं पुमर्थजातं सुलभं सिद्धं भवति। यथेह दरिद्रा जना धनेच्छया धनवन्तमत्यादरेणाराधयन्ति–स्तुवन्ति–प्रार्थयन्ते च, तथा यदीमे विश्वेश्वरं परमात्मानमत्यादरेणाराधयेयुः–स्तुवीयुः–प्रार्थयेरन्, तदा च तेषां कृते न किंचिदपि दुर्लभमवतिष्ठेत। अतो निखिलसौभाग्यादिसिद्धये भगवान् सोम एवाजस्रं दृढश्रद्धयाऽऽराधनीयः प्रार्थनीयश्चेत्याशयं विज्ञापयन् प्रार्थनाप्रकारमयमाह—

रूप से निर्णय किया है। तथा च समस्त-सौन्दर्य-माधुर्य-सौष्ठव-(सुष्ठुत्व-अच्छापन) आदि अनन्त-कल्याणगुणों के गण-समूहों से अलंकृत-परम-प्रेमास्पद-अवश्य भजने योग्य-सर्वात्मा भगवान्-परमेश्वर की सम्यक् आराधना करने पर सभी मनुष्यों का समस्त पुरुषार्थसमुदाय सुलभ रीति से सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार इस लोक में दरिद्रजन, धन की इच्छा से धनवान् की अति आदर के साथ आराधना करते हैं, स्तुति करते हैं, एवं प्रार्थना करते हैं, तिस प्रकार यदि ये जन विश्वेश्वर-परमात्मा की अति आदर से आराधन करें, स्तुति करें एवं प्रार्थना करें, तब उनके लिए कुछ भी पुरुषार्थ दुर्लभ न रहे। इसलिए–निखिल-सौभाग्य आदि की सिद्धि के लिए भगवान् सोम की ही निरन्तर दृढ श्रद्धा से आराधना करनी चाहिए तथा प्रार्थना करनी चाहिए, इस आशय को विज्ञापन करता हुआ यह मन्त्र प्रार्थना के प्रकार का कथन करता है—

ॐ सना ज्योतिः सना स्वः विश्वा च सोम! सौभगा।
अथा नो वस्यसस्कृधि॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ९ सूक्त. ४ ऋक् २) (साम. १०४८)

'हे सोम! परमात्मन्! तू हमें ज्योतिः-ज्ञानप्रकाश का प्रदान कर, निरतिशय-सुख का प्रदान कर एवं समस्त-सौभाग्यों को भी समर्पण कर। अनन्तर हमारा कल्याण कर।'

हे सोम!=सकलाचिन्त्यशक्तिसम्पन्नपरमेश्वर! त्वं नः=अस्मभ्यं तवाराधकेभ्यः, ज्योतिः=ज्ञानप्रकाशं, सन=प्रयच्छ। अपि च स्वः=स्वर्गं निरतिशयं विमलं सुखं, सन=अस्मभ्यं देहि। विश्वा=विश्वानि–सर्वाणि, सौभगा=सौभाग्यानि धर्मादिरूपपुरुषार्थचतुष्टयसिद्धिलक्षणानि च सन=समर्पय। अथ=अनन्तरं, वस्यसः=श्रेयः निरङ्कुशतृप्तेः परमकृतकृत्यतायाश्चैकमात्रनिधानं कल्याणं कृधि=कुरु इत्यर्थः। ('सना' इत्यत्र छान्दसो दीर्घः)

हे सोम! यानी सकल-अचिन्त्य-शक्तियों से सम्पन्न! परमेश्वर! तू तेरी आराधना करने वाले हम भक्तों को ज्योतिः-ज्ञानप्रकाश का प्रदान कर। और स्वः यानी स्वर्ग-निरतिशय-विमल-अखण्ड-मोक्ष सुख भी हमें दे। और समस्त-धर्मादिरूप-पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि लक्षण-सौभाग्यों को भी तू हमें समर्पण कर। अनन्तर हमारा, वस्यसः–यानी श्रेयः-कल्याण कर, जो निरङ्कुश-तृप्ति का एवं परम कृतकृत्यता का एकमात्र आश्रय है। इति।

(७५)

(बलविज्ञानसमर्पणेन शत्रुविध्वंसेन च भगवानस्माकं कल्याणं करोतु)

(बल एव विज्ञान के समर्पण द्वारा तथा शत्रुओं के विध्वस द्वारा भगवान् हमारा कल्याण करे)

समस्तनिगमागमस्तोमसंस्तुतोन्नतमहिमशोभमानो महति महसि शुद्धे भ्राजमानोऽपरिमितविमलबलविज्ञानपरिपूर्णो भगवान् प्रपन्नानस्मान् विमलबलविज्ञानसमर्पणेन पुष्णातु। यतः समुचिताभ्यां मिथो बलविज्ञानाभ्यां सौजन्यं समेधते, वाकायमनांसि सत्पथेऽप्रत्यूहं प्रवर्तन्ते। राजसाः तामसाश्च भावाः प्रवृत्तयश्च सद्यः तिरोभवन्ति, प्रादुर्भवन्ति च सहसा सात्त्विका भावाः प्रवृत्तयश्च। संसारकुकथाश्रवणप्रकटनैकलग्नचित्तता, भोगाभ्यासप्रवणता च निमीलति; शङ्करकथाश्रवणकथनैकनिमग्नचित्तता, योगाभ्यासनिपुणता चोन्मीलति। ईर्ष्यासूयाव्यतिषङ्गकलहप्रियता चाशान्तचपलचित्तता च क्षीयते, सदाचारोदारसत्त्वसौहार्दवदान्यता चाप्रधृष्यप्रशान्तगम्भीरधीरचित्तता च विद्योतते। इत्येवं प्रसिद्धमाहात्म्ये बलविज्ञाने प्रपन्नैरस्माभिः परमेश्वरादभ्यर्थ्येते। याभ्यां विना लोकाः समृद्धदौर्जन्याः कुपथगामिनो दृश्यन्ते।

समस्त-वेद शास्त्र के समुदाय से सम्यक् स्तुत-उन्नत-महिमा-महत्त्व से शोभमान, महान्-शुद्ध-महः-प्रकाश में भ्राजमान, अपरिमित विमल-बल एव विज्ञान से परिपूर्ण भगवान् हम शरणागतों का विमल-बल एव विज्ञान के समर्पण द्वारा पोषण करे। क्योंकि—परस्पर समुचित-समिलित बल एव विज्ञान के द्वारा सुजनता की अच्छी प्रकार से वृद्धि होती है, वाणी, शरीर एव मन सन्मार्ग में प्रतिबन्धरहित हुए प्रवृत्त होते हैं। राजस-तामस भाव तथा राजस-तामस प्रवृत्तियाँ शीघ्र ही विलीन हो जाती हैं, और सहसा-एकदम सात्त्विक भाव एवं सात्त्विक प्रवृत्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। ससार की कुत्सित कथाओं के श्रवण तथा प्रकट करने में एकमात्र सलग्न चित्तता एवं भोगाभ्यास की प्रवणता विलीन हो जाती है, और शङ्कर-परमात्मा की कथा के श्रवण एवं कथन करने में एकमात्र-निमग्नचित्तता, एव योगाभ्यास की निपुणता का उन्मीलन-प्रादुर्भाव होता है। और ईर्ष्या-असूया का विशेषरूप से जिसमें सम्बन्ध है, ऐसी कलहप्रियता तथा अशान्त चपल-बहिर्मुख चित्तता क्षीण हो जाती है। और सदाचार-उदारहृदय, सुहृदता एवं वदान्यता का तथा अप्रधृष्य-किसी से भी अभिभूत-पराजित करने के लिए अयोग्य-प्रशान्त-गम्भीर-धीर-चित्तता का विद्योतन होता है। इस प्रकार का प्रसिद्ध है माहात्म्य जिन्हों के ऐसे बल एवं विज्ञान, हम प्रपन्न-शरणागत-भक्तों के द्वारा आप परमेश्वर से अभ्यर्थित हैं। जिनके बिना लोग, समृद्ध हुई है दुर्जनता जिन्हों में ऐसे हुए कुपथगामी देखने में आते हैं। और इस कल्याण-

अपि चास्मिन् श्रेयोऽध्वनि सन्ति भूयांसः कामक्रोधलोभदम्भाहङ्कारादयः प्रतीपाः स्वान्तरवस्थिताः सहजाः शत्रवः। यद्भया-त्ससप्तसागरानप्युल्लङ्घ्य ज्ञानभक्तिवैराग्यादीनि श्रेयःसाधनानि प्रपलायन्ते। तेषां समेषां दुःखदायिनां ज्ञानादिविद्रोहिणां शत्रूणां विध्वंसनेन करुणावरुणालयो महादेवः सोमोऽस्माकं कल्याणं करोत्वित्याशयं हृदि धृत्वा प्रार्थयते—

मार्ग में-अपने भीतर में अवस्थित-सहज-शत्रु-काम-क्रोध-लोभ-दम्भ-अहङ्कार आदि-प्रतिबन्ध बहुत हैं। जिनके भय से सप्त-सागरों का भी उल्लङ्घन करके कल्याण के साधन-ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-आदि भाग जाते हैं। उन सभी-दुःख-दायी-ज्ञानादि के विद्रोही-शत्रुओं के विध्वंस द्वारा करुणासागर-महादेव-सोम हमारा कल्याण करे, इस प्रकार के आशय को हृदय में धारण करके प्रार्थना करते हैं—

ॐ सना दक्षमुत क्रतु-मप सोम मृधो जहि।
अथा नो वस्यसस्कृधि॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ९ सूक्त. ४ ऋक् ३) (साम. १०४९)

'हे सोम! भगवन्! तू हमें दक्ष-बल का प्रदान कर तथा क्रतु-विज्ञान का भी प्रदान कर। और मारने वाले-हिंसक-कामादि शत्रुओं का विध्वंस कर। अनन्तर हमारा कल्याण कर।'

हे सोम!=महादेव! भगवन्! त्वं दक्षं=बलं, सन=अस्मभ्यं देहि, उत=अपि च क्रतुं=प्रज्ञानं-विज्ञानं सन=प्रयच्छ। मृधः=मारकान्-हिंसकान्-शत्रून्, अपजहि=मारय। अथ=अनन्तरं, नः=अस्माकं, वस्यसः=श्रेयः, कृधि=कुरु-कल्याणमस्मभ्यं देहीत्यर्थः। ('सना' 'अथा' इत्यत्र छान्दसो दीर्घः)

हे सोम! महादेव! भगवन्! तू दक्ष यानी बल, हमारे को दे। और क्रतु यानी प्रज्ञान-विज्ञान हमारे को दे। मृध यानी मारक-हिंसक-शत्रुओं को मार दे। अनन्तर हमारा श्रेयः-कर, हमें आत्मकल्याण का दान कर।

एवमेवात्र-ऋगन्तराण्यपि भगवद्बलविज्ञानशत्रुविनाशाभ्यर्थनपराणीमानि-अनुसन्धेयानि-'आ ते शुष्मो वृषभ! एतु पश्चादोत्तरादधरादा पुरस्तात्।' (ऋ. ६।१९।९) इति। हे वृषभ! सर्वश्रेष्ठ! परमात्मन्! सकलेष्टकामानां वर्षितः वा भगवन्! ते=तव सर्वव्यापकस्यानन्तबलनिधेः, शुष्मं=बलं, पश्चात्=पश्चिमभागात्, उत्तरात्=उत्तरभागात्, अधरात्=दक्षिणभागात्, पुरस्तात्=पूर्वभागात्, सर्व-

इस प्रकार ही यहाँ-अन्य-ये वेदों की ऋचाएँ-जो भगवान् से बल-विज्ञान एवं शत्रुविनाश की अभ्यर्थना का बोधन करती हैं-वे अनुसंधान करने योग्य है-'हे वृषभ! भगवन्! तेरा बल, पश्चिम से, उत्तर से, दक्षिण से, एवं पूर्व से हमारे में प्राप्त हो।' इति। हे वृषभ! सर्वश्रेष्ठ! परमात्मन्! या सकल-इष्ट-कामों का वर्षण करने वाला-भगवन्! तुझ-अनन्तबलनिधि-सर्वव्यापक के शुष्म यानी बल का-पश्चिमभाग से, उत्तरभाग से, दक्षिणभाग से एवं पूर्वभाग से अर्थात् समस्त-दिशाओं के भाग से

सादृदिग्भागादिति यावत्, अस्मासु आ-एतु=आगच्छतु। सर्वतोऽवस्थितं त्वदीयं वलमवाप्य वयं सदा वलिनो विजयिनश्च भवेम इत्यभिप्रायः। 'शतं ते राजन्! भिषजः सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु।' (ऋ. १।२४।९) इति। हे राजन्! भगवन्! वरुण! ते=तव परमेश्वरस्य, शतं=शतसंख्याकानि, सहस्रं=सहस्रसंख्याकानि—अनन्तानीति यावत्। भिषजः=अज्ञानादिभवरोगनिवारकाणि विज्ञानादिलक्षणानि—औषधानि सन्ति। तेषु या उर्वी=विस्तीर्णा समुदारा, गभीरा=गाम्भीर्योपेता—स्थिरा—सुमतिः=शोभनप्रज्ञाऽस्ति सा-अस्मासु अस्तु। 'जही शत्रूँरप मृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः।' (ऋ. ३।४७।२) इति। मृधः=हिंसकान्-पीडयितॄन्-शत्रून्—आभ्यन्तरानरातीन्, जहि। यद्वा मृधः=मृध्यन्ते—हिंसन्तेऽत्र प्राणिन इति मृधः=सङ्ग्रामाः, तत्र वर्तमानान्—बाह्यान् शत्रून् अप-नुदस्व=अपबाधस्व—विनाशय, अथ=अनन्तरं, नः=अस्माकं, विश्वतः=सर्वतः, अभयं कृणुहि=कुरु। सर्वतो भयरहितानस्मान् कुर्वित्यर्थः॥

हमारे में आगमन हो। सर्व में अवस्थित-तेरे वल को प्राप्त करके हम सदा बली तथा विजयी हो, ऐसा अभिप्राय है। 'हे राजन्! तेरे में शतसहस्र-अनन्त-विज्ञानादिरूप औषध मौजूद हैं, उनमें जो उर्वी-समुदारा-गम्भीरा सुमति-स्थिरप्रज्ञा है, वह हमें प्राप्त हो।' इति। हे राजन्! भगवन्! वरुण! तुझ परमेश्वर में शत-संख्या वाले सहस्र-संख्या वाले अर्थात् अनन्त-अपरिमित भिषज-विज्ञानादिरूप औषध विद्यमान हैं—जो अज्ञानादिरूप-भवरोगों के निवारक हैं। उनमें जो उर्वी-यानी विस्तीर्णा, समुदारा, गमीरा यानी गम्भीरता से संयुक्ता-स्थिरा,सुमति यानी शोभनप्रज्ञा है, वह हमारे मे हो। 'आभ्यन्तर-शत्रुओं का विध्वंस कर, संग्राम में वर्तमान-बाह्य-शत्रुओ का भी विनाश कर, अनन्तर हमारे को सर्व तरफ से अभय कर।' इति। मृध—हिंसक-पीडा देने वाले-आभ्यन्तर-कामादि-शत्रुओं का ध्वंस कर। जिनमें प्राणियों का मृधन-हिंसन होता है, ऐसे मृध-संग्राम हैं, उनमें वर्तमान-बाह्य-शत्रुओं का अपनोदन-विनाश कर, अथ-अनन्तर विश्व-सर्व तरफ से हमारे को अभय कर। अर्थात् सब से हमें भयरहित कर।

(७६)

(श्रेयस्कामैर्मूढाः खलाः पाखण्डिनः पातकिनश्च दूरतो वर्जनीयाः)

(श्रेय-कल्याण की कामना करने वालों को मूढ, खल, पाखण्डी, एवं पापी दूर से ही वर्जन करने योग्य हैं)

महता प्रयासेन सम्पादितमपि भक्तिज्ञानादिकं श्रेयस्साधनमरक्ष्यमाणं दुःसङ्गादिना विनश्यति। अतः कामक्रोधमोहलोभरतानां दम्भाहङ्कारेर्ष्याद्वेषवैरसमाकुलचे-

महा-प्रयास से सम्पादन किया हुआ भी भक्ति-ज्ञानादि-कल्याण का साधन, दुःसंग आदि से रक्ष्यमाण न हो तो नष्ट हो जाता है। इसलिए—काम-क्रोध-मोह-लोभ में रत-प्रीति वालों का, दम्भ-अहङ्कार-ईर्ष्या-द्वेष-एवं वैर से समाकुल-संयुक्त है

तस्मां विवेकविचारभ्रष्टानां दुराचारपरायणानां विविधाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखानां खलानां धूर्तानां पातकिनामसतां सङ्गस्तु सर्वथा त्याज्य एव। नीचैर्हीनैः सह समागमात् सतां सुमतिरपि हीयते। तत्रापि पाखण्डिनं पुरतो दृष्ट्वा दूरतोऽपसरेद्विद्वान्। सुधीः पाखण्डिनं शत्रुवद्विजानीयात्। ननु सदुपदेशेन ते खलाः दुर्जनाः सज्जनाः कर्तव्याः, किमिति तदुपेक्षणेन? इति चेन्नैवम्, उपदेशकोटिभिरपि कुटिलप्रकृतीनां दुरहङ्कारपङ्काविलानां धर्मध्वजिनां सदा लुब्धानां खलानां पटूकर्तुमशक्यत्वात्। न हि शुनः पुच्छो वर्षपूगप्रयत्नेनापि केनचित्सरलीकर्तुं शक्यः। स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानास्ते हितोपदेशमपि–अनादृत्य प्रत्युतोपदेष्टारमभिलक्ष्योपहसन्ति। अतस्तेषामुपदेशादिनिर्बन्धं चित्तविक्षेपहेतुत्वेन विमलमतिर्जह्यादेव। अमीभिः सह यत्किञ्चित्सहजं भाषणमपि महानर्थकरत्वेन शिष्टैर्विगर्हितम्। तस्मात्तेषु पापेषूपेक्षाभावनया तत्संसर्गपापनिवृत्तये तेभ्यः सावधानतां विधातुं सज्जनानुपदिशति—

चित्त जिन्हों के, ऐसे दुर्जनों का, विवेकविचार से भ्रष्टों का, दुराचार में परायणों का, विविध-आक्षेपों से रुक्ष-अक्षर-शब्दों के द्वारा बड़बड़ करने वाले मुख हैं जिन्हों के ऐसों का एवं खल धूर्त-पापी-असत्पुरुषों का संग तो सर्वथा त्याग करने योग्य ही है। क्योंकि–नीच-हीन-दुर्जनों के साथ समागम रखने से सत्पुरुषों की सुमति का भी हान-ध्वस हो जाता है। उनमें भी पाखण्डी-धर्मध्वजी को सामने से देख करके विद्वान् दूर से भाग जाय। अच्छी बुद्धि वाला पाखण्डी को शत्रु की भाँति जाने।

शंका—वे खल दुर्जन, सदुपदेश से सज्जन करने चाहिए, उनकी उपेक्षा करने से क्या?

समाधान—कुटिल-प्रकृति-स्वभाव वालों को, दुष्ट-अहंकार के पङ्क-कीचड से सदा सने-लिप्त रहने वाले को, धर्मध्वजियों को एवं सदा लुब्ध-लोभी खलों को करोडों उपदेशों के द्वारा भी अच्छा करना अशक्य है। कुत्ते के पूँछ को वर्ष-समूह के प्रयत्न से भी कोई सीधी नहीं कर सकता है। स्वय धीर एव पण्डितमानी वे, हितोपदेश का भी अनादर करके प्रत्युत उपदेष्टा को अभिलक्ष्य करके उसका उपहास करते है। इसलिए विमलमति वाला–विद्वान्, उनके प्रति उपदेश आदि देने के दुराग्रह का–चित्तविक्षेप का हेतु होने से–परित्याग कर दे। उनके साथ थोडा-सा सहज भाषण भी महा-अनर्थकारी होने से–शिष्टो ने विशेषरूप से गर्हित-कुत्सित माना है। इसलिए–उन पापियों में उपेक्षा की भावना द्वारा उनके ससर्ग-जन्य पाप की निवृत्ति के लिए उनसे सावधानता रखने के लिए वेदमन्त्र सज्जनों को उपदेश देता है—

ॐ मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आदभन्।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥

(ऋग्वेद. मं. ८ सू. ४५ ऋ. २३) (सा. ७३२) (अथर्व. २०।२२।२)

'तुझ-सज्जन का मूढ़-अविवेकी लोग, एवं शिश्नोदरपरायण-दुराचारी लोग, तथा उपहास करने वाले-वक्रवादी उच्छृङ्खल लोग, अभिभव मत करें अर्थात् तुझ में अपने दोषों एवं पापों का अभिसंक्रमण-मत करें। ब्रह्मवित्-विद्याविनयसम्पन्न-ब्राह्मणों के द्वेषी-कुटिल-खलों की तू थोड़ी भी संगति मत कर।'

हे सज्जन! शोभनमतिमन्! सदाचारिन्! त्वा=त्वां, मूराः[1]=मूढाः-विवेकविचारभ्रष्टाः-आत्महितोपायमजानन्तः पापा मनुष्याः, मा आदभन्=मा हिंसन्तु-दोषपापसंक्रमणेन तव शोभनां मतिं सदाचारव्रतञ्च माऽपबाधन्ताम्-मा त्वामभिभवन्तु-स्वकुविचारदुराचारादीन् त्वयि माऽभिसंक्रामयन्तु इत्यर्थः। तथा अविष्यवः=शिश्नोदरैकपालनकामाः-कामादिदोषकोशरक्षणतत्पराः खला दुर्जनाः पाखण्डाः, मा आदभन्; इत्यावृत्त्या योजनीयम्। तथा-उपहस्वानः=उपहसनकर्तारः-साक्षेपरूक्षाक्षरमुखाः त्वां मा आदभन्, इति तेभ्यो मध्वास्येभ्यो छुरिकोदरेभ्यो विषवृक्षसमाकारेभ्यस्त्वया सावधानेन भाव्यम्, प्रयत्नतः सुमत्यादिकञ्च संरक्षणीयम्। पुनरपि तेषां पापीयसामल्पीयांसमपि संसर्गं निषेद्धुमाह-ब्रह्मद्विषः=ब्राह्मणानां वेदविदां साधूनां शुचिचरितानामखिलसत्त्वसुहृद्भूतानामस्त-

हे सज्जन! शोभन मति वाले! सदाचारिन्! तुझ को मूरा यानी मूढ़-विवेक एवं विचार से भ्रष्ट, आत्मकल्याण के उपाय को नहीं जानने वाले-पापी-मनुष्य, आदभन-हिंसन न करें, दोष एवं पापों के संक्रमण द्वारा तेरी शोभन-मति का तथा सदाचारव्रत का बाधन मत करें, तेरा अभिभव न करें, अर्थात् अपने कुत्सित-गन्दे विचारों का एवं दुराचार आदि दोषों का तेरे में अभिसंक्रमण मत करें। तथा अविष्यव यानी शिश्न एवं उदर का ही एकमात्र पालन करने की कामना रखने वाले-कामादि-दोषों के कोश-खजाना के रक्षण करने में तत्पर, दुराचारी खल-दुर्जन-पाखण्डी, तेरा आदभन-अभिभव न करें। 'मा आदभन्' इसकी आवृत्ति के द्वारा योजना करनी चाहिए। तथा उपहस्वानः यानी उपहसन-समीप में रह कर हँसी-करने वाले-आक्षेप वाले-रूक्ष-अक्षर हैं मुख में जिन्हों के-ऐसे वक्रवादी भी तेरा आदभन न करें। इस प्रकार उन-मधु-मधुर वाणी है आस्य-मुख में जिन्हों के एवं छूरी है उदर में जिन्हों के, ऐसे विष-वृक्ष के समान-भयंकर आकार वालों से भी तुझ को सावधान रहना चाहिए। प्रयत्न से अपनी सुमति आदि का संरक्षण करना चाहिए। पुनः-फिर भी उन अति पापियों का अल्पतर-थोड़ा-सा भी संसर्ग का निषेध करने के लिए मन्त्र पढ़ता है-ब्रह्मद्विषः यानी वेदवित्-साधु-पवित्र चरित्र वाले-समस्त प्राणियों के निःस्वार्थ-मित्र-जिन्हों के मान एवं मोह अस्त-विलीन हो

[1] मूराऽन्दन्य मूढत्वं याचतां यास्क आह-'मूरा अमूर न वयं चिकित्वः। मूढा वयं स्मः अमूढस्त्वमसीति (नि. ६।८) इति।

मानमोहानां सतां द्वेष्टॄन्-द्रोहिणः-कुटिलप्रकृतीन्, माकीं वेनः=त्वं मा भजेथाः स्वल्पमपि तत्संसर्गं मा कार्षीरित्यर्थः। माकीमिति शब्दो मा शब्दपर्यायो वर्जने-निषेधेऽर्थे अव्ययो निपातः।

महानर्थकरस्य दुष्टसङ्गस्य निवारणाय परमेशानप्रार्थनं सूचयन्नेतत् ऋगन्तरमप्याह-'न यातव इन्द्र! जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ! वेद्याभिः। स शर्धदर्यो विषुणस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥' (ऋ० ७।२१।५) इति। अयमर्थः-हे इन्द्र! परमेश्वर! शविष्ठ!=बलिष्ठ! अपारबलनिधे! भगवन्! तथाऽच्छानुग्रहमस्म्यं विधेहि। यथा नः=अस्माकं त्वत्प्रपन्नानां ऋतं=सत्यव्रतं सदाचारसद्विचारादिलक्षणं बाधितुं इति शेषः-यातवः=यातयितारः-यातना-(पीडा) दातारो व्रतविघ्नकर्तारो दुष्टाः-पापाः न जूजुवुः=न आगच्छेयुः, अस्माकं समीपे इति शेषः। तथा य एते वन्दनाः=वन्दितारः स्वार्थैकसाधनकामाः चाटुभाषणाः पामराः, वेद्याभिः=चपलाकृतिभिर्युक्ताः यद्वा वेद्याभिः=आवे-

गये हैं-ऐसे सच्चे-ब्राह्मणों के द्वेषी-द्रोही-कुटिल-प्रकृति-स्वभाव वालों का तू भजन-सेवन मत कर, अर्थात् उनका स्वल्प-थोड़ा भी संसर्ग मत कर। 'माकीं' यह शब्द 'मा' शब्द का पर्याय-समानार्थक है, वर्जननिषेध-अर्थ में अव्यय-निपात है।

महा-अनर्थ-कारी-दुष्ट-संग के निवारण के लिए परमेश्वर-विश्वनाथ की प्रार्थना की सूचना करता हुआ-वही यह अन्य-ऋक्-मन्त्र भी कहता है-'हे इन्द्र! हे शविष्ठ! भगवन्! जिस प्रकार हमारे ऋत-सत्य-व्रत का बाध-नाश करने के लिए-विघ्नकारी-दुष्ट-पापी हमारे समीप न आवें, तथा ये ऊपर से मीठा बोलने वाले-कपटी-पामर-चपल-आकृति वाले मनुष्य भी हमारे समीप न आवें। तथा जो ये शिश्न-देव-व्यभिचारी-पाखण्डी-धर्मध्वजी मनुष्य हैं, वे भी हमारे समीप न आवें, तिस प्रकार हे प्रभो! तू हमारी सहायता कर। वही हमारे व्रतधारियों के समीप में आने के लिए उत्साहित हो कि-जो अर्य-जितेन्द्रिय-सदाचारी है, विषम-दुष्ट-मनुष्य के निग्रह के लिए समर्थ है।' इति। इसका यह अर्थ है-हे इन्द्र! परमेश्वर! शविष्ठ यानी बलिष्ठ! अपारबलनिधे! भगवन्! तिस प्रकार का अच्छा-अनुग्रह हमारे ऊपर तू कर कि-जिस प्रकार तेरे शरणागत-हम लोगों के ऋत यानी सत्यव्रत-जो सदाचार एवं सद्विचारादिरूप है-उसका बाध करने के लिए-यातव यानी यातना-पीडा देने वाले-व्रत में विघ्न डालने वाले-दुष्ट-पापी-दुराचारी न आवें 'हमारे समीप' इतना शेष है। तथा जो ये वन्दन यानी एकमात्र अपने स्वार्थ के साधन की ही कामना रखने वाले-ऊपर से चाटु-मधुर-खुशामती-भाषण करने वाले-पामर जो वेद्य यानी चपलाकृतियों से युक्त बहिर्मुख हैं यद्वा

१ 'वन संभक्तौ' लङ् मध्यमैकवचनम्। 'न माङ् योगे' इति अडभावः। अवि-रक्षणं पालनं कर्तुमिच्छन्तः-अविष्यवः। अविशब्दात्क्यच् 'क्याच्छन्दसि' इति उप्रत्ययः। उपहस्वान=उपपूर्वात् हसतेः 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वनिप्।

दितव्याभिः–अनृतदम्भपापमयप्रवृत्तिभि-र्युक्तास्तेऽपि नागच्छेयुः। किञ्च येऽपि चैते श्रोत्रिया अधीतविविधविद्याः स्वयं स्वं लोक-गुरुं पूज्यं मन्यमाना अपि सन्तः, शिश्नदेवाः =शिश्नेन–उपस्थेन नित्यमेव प्रकीर्णाभिः स्त्रीभिः साकं दिव्यन्ति–सदाचारं–श्रौतं कर्म चोत्सृज्य क्रीडन्त आसते ते शिश्नदेवाः–ब्रह्मचर्यरहिताः–दुराचाराः–पाखण्डाः भव-दनुग्रहादिदमस्माकं ऋतं–सत्यव्रतं बाधितुं मा अपिगुः=मा आगच्छन्तु। 'शिश्नदेवा-अब्रह्मचर्याः' (४।१९) इति निरुक्तेऽपि यास्क आह। एतेन केचन 'शिश्नदेवाः' इतीदं वचनं पुरस्कृत्य शिश्नमेव देवरूपेण हिन्दवः पूजयन्तीति ब्रुवाणा निन्दका धूर्ता निराकृताः। पूज्यमानं शिवलिङ्गं तु न शिश्नम्, अपि तु गोलब्रह्माण्डप्रतिकृति-लक्षणं विश्वरूपदर्शनमेवेति, अत्र भूयोभिः सूरिभिः कृतमन्यत्र विस्तरतः समाधान-मतो नेहाऽस्माभिः प्रयत्यते। ब्रुवन्तु भवन्तः? कीदृशास्तर्हि युष्माकं समीपे आगच्छ-न्त्विति? उच्यते–स शर्धत्=स एवोत्सहतां, अस्मत्समीपमागन्तुं यः अर्यः=ईश्वरः–आ-

वेद्य यानी आवेदितव्य-अनृत-मिथ्या-दम्भ-पापमयी-प्रवृत्तियों से युक्त हैं, वे प्रमादी भी हमारे समीप न आवें। और जो भी ये श्रोत्रिय–वेद पढे हुए–विविध-विद्याओं का अध्ययन किये हुए–पठित-साक्षर स्वयं अपने को लोकों का पूज्य गुरु मानते हुए भी जो शिश्नदेव हैं अर्थात्–शिश्न-उपस्थ-इन्द्रिय के द्वारा नित्य ही प्रकीर्ण-इधर-उधर की स्त्रियों के साथ–सदाचार एवं श्रौतकर्म का परित्याग करके–देवन-क्रीडा-करते रहते हैं, वे ब्रह्मचर्य से रहित-दुराचारी-पाखण्डी-शिश्नदेव हैं, वे भी आप-भगवान् के अनुग्रह से इस हमारे-ऋत-सत्यव्रत का बाध-नाश करने के लिए हमारे समीप न आवें। 'ब्रह्मचर्य-रहित-व्यभिचारी शिश्नदेव हैं।' ऐसा निरुक्त में भी यास्क-ऋषि कहता है। इससे–कोई 'शिश्न-देवाः' इस वचन का अवलम्बन करके 'शिश्न को ही देवरूप से हिन्दु पूजते हैं' ऐसा बोलने वाले-निन्दक-धूर्त निराकृत हो गये। पूज्यमान-शिवलिङ्ग तो शिश्न-नहीं है, किन्तु-गोल-ब्रह्माण्ड की प्रति-कृति-प्रतिमारूप है, जिसमें भगवान्-महादेव के विश्वरूप का दर्शन होता है। इस विषय में बहुत-विद्वानों ने अन्य-ग्रन्थों में विस्तार से समाधान किया है। इसलिए हम यहाँ इसके लिए प्रयत्न नहीं करते हैं। कहें आप? तब किस प्रकार के तुम्हारे समीप में आवें? इति। कहते हैं–वही हमारे समीप आने के लिए उत्साहित–प्रयत्नशील हो, जो अर्य-ईश्वर नियन्ता है-अपनी-इन्द्रियों का

---

१ परान् विप्रलब्धुं स्वमहत्त्वञ्च प्रत्यापयितुं वेषभाषाक्रियाचातुर्यादिभिः धर्माद्याचरणं पाखण्डः स येषामस्ति तेऽपि पाखण्डाः। अन्यों को ठगने के लिए–एवं अपने महत्त्व का प्रत्यापन करने के लिए, वेष–भाषा-क्रिया की चतुरता आदि के द्वारा जो धर्मादि का आचरण है, वह पाखण्ड है, जिन्हों को ऐसा पाखण्ड है, वे पाखण्डी भी पाखण्ड नाम से कहे जाते हैं।

२ युक्तश्चैतद्व्याख्यानमस्माकं–'यदि वाऽहमनृतदेव आस' (ऋ. ७।१०४।१४) 'विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु' (ऋ. ७।१०४।२४) इत्यादिमन्त्रेष्वपि तथैव व्याख्यातत्वात्। तथाहि–अनृतदेवः=अनृतेन–असत्येन–दिव्यति–क्रीडति व्यवहरतीति अनृतदेवः–असत्यव्यवहारकारीत्यर्थः। यद्वा अनृताः–असत्यभूता देवाः=व्यवहारा यस्य तादृशः, अनृतदेवो यदि अहं–आस=अस्मि, तर्हि हे अग्ने! त्वं मां बाधस्व, परं च न यदहं तथा-

रमीयानामिन्द्रियाणामिति शेषः, जितेन्द्रियः कामक्रोधादिवियुक्तः सदाचाररतः । यश्च विपुणस्य=विषमस्य सत्यव्रतबाधकस्य दुष्टस्य जन्तोः=मनुष्यस्य निग्रहाय समर्थः स्यादिति शेषः । येन श्रेष्ठेन महापुरुषेण सदुपदेशाच्छादर्शद्वारा परिपाल्यमाना वयमपि निर्विघ्नमस्मदीयं प्रारब्धं सत्यव्रतं परिपालयामः, तेनैव वयं संगताः स्याम इत्यभिप्रायः । यद्वा ऋतं=यज्ञं प्रति दुष्टा एते नागच्छेयुः, किन्तु साधवोऽर्या एव समागच्छेयुः इति प्रार्थयामहे इति । उक्तञ्च निरुक्ते–'ऋतं सत्यं वा यज्ञं वा' (४।१९) इति ॥

इतना शेष है–अर्थात् जो जितेन्द्रिय-कामक्रोधादि से वियुक्त-सदाचार में रत-प्रीति वाला पवित्र-मनुष्य है। तथा जो विपुण यानी विषम-सत्य-व्रत का बाधक-दुष्ट-जन्तु-मनुष्य के निग्रह-पराभव के लिए समर्थ हो, इतना शेष है । जिस-श्रेष्ठ-महापुरुष से–सदुपदेश एवं अपने अच्छे-आदर्श के द्वारा परिपालित-सुरक्षित हुए हम भी निर्विघ्न-हमारे से प्रारम्भ किये हुए–सत्य-व्रत-ब्रह्मचर्यादि का परिपालन करे,–उससे ही हम संगत-संयुक्त हो, ऐसा अभिप्राय है । यद्वा ऋत यानी हमारे यज्ञ के प्रति ये दुष्ट न आवे, किन्तु साधु-अर्य-सदाचारी ही आवें, ऐसी हम प्रार्थना करते हैं । इति। निरुक्त में भी कहा है–'ऋत-सत्य या यज्ञ है।' इति ।

(७७)

(परमेण प्रेम्णाऽऽहूयमानो भगवान् भक्तहृदये प्रकटीभूय तस्य कल्याणं तनोति)

(परम-प्रेम से बुलाया हुआ भगवान्, भक्त के हृदय में प्रकट हो करके उसके कल्याण का विस्तार करता है)

विधोऽस्मि । मूरदेवाः=मूरेण–मारणेन निमित्तेन कृत्वा, यद्वा मूरेण=मौढ्येन हेतुना ये दिव्यन्ति–प्रवर्तन्ते ते मूरदेवाः, यद्वा मूरदेवाः=मूराः–मारणरूपाः मूढरूपाः वा देवाः क्रीडा-व्यवहारा येषां राक्षसानां ते मूरदेवाः राक्षसाः ऋदन्तु=नश्यन्तु, कथंभूतास्ते ? विग्रीवासः=विच्छिन्नग्रीवाः सन्तस्ते इत्यर्थः । न ह्यनृताऽनृतरूपो देवः=इन्द्रादिरनृतदेवः, मूराः–मूढा देवाः शिवादयो मूरदेवा इति व्याख्यानं कथमपि सङ्गतं प्रकरणानुकूलं वा भवितुमर्हति, इति पूर्वोक्तं पाश्चात्यपण्डितानां सामाजिकानामेतद्देशीयानाञ्च शिश्नदेवविषयकं व्याख्यानमौढ्यं पौरस्त्याः सुधियो विद्वांसः समालोचयन्तु । इति ।

'यह हमारा 'शिश्नदेव' विषयक पूर्वोक्तव्याख्यान-युक्त-समीचीन ही है। क्योंकि–'यदि मैं 'अनृतदेव' हूँ' 'ग्रीवा-रहित हो कर 'मूरदेव' नष्ट हो जाँय' इत्यादिमन्त्रों में तिस प्रकार का ही समीचीन-व्याख्यान किया गया हैं। तथाहि–यह दिखाते हैं–अनृतदेव यानी अनृत से-असत्य से जो देवन-क्रीडा करता है–व्यवहार करता है, वह अनृत-देव है-अर्थात् असत्य-व्यवहारकारी है । यद्वा अनृत-असत्यरूप-देवा यानी व्यवहार हैं जिसका-तिस प्रकारका अनृतदेव यदि मैं हूँ, तब हे अग्ने ! तू मेरा बाध-नाश कर । परन्तु मैं तिस प्रकार का नहीं हूँ। मूरदेवाः यानी मूर-मारणरूप निमित्त द्वारा, या मूर-मूढतारूप हेतु से जो दिव्यन्ति यानी प्रवृत्त होते हैं, वे मूरदेव हैं । यद्वा मूरा-मारणरूपा या मूढरूपा देवा यानी क्रीडा-व्यवहार हैं जिन राक्षसों का, वे मूरदेव हैं, वे ऋदन्तु-अर्थात् नष्ट हो जाँय, किस प्रकार के हुए वे राक्षस नष्ट हों ? विग्रीवास–विच्छिन्न-ग्रीवा वाले हुए। यहाँ अनृतरूपदेव-इन्द्रादि-अनृतदेव है, या मूर-मूढ-देव शिवआदि मूरदेव हैं, ऐसा व्याख्यान किसीभी प्रकार से सगत-युक्त या प्रकरण के अनुकूल नहीं हो सकता है । इति । पूर्वोक्त-पाश्चात्य-पण्डितों का तथा इस देश के समाजियों के 'शिश्नदेव' विषयक-व्याख्यान की मूढता की पौरस्त्य-यानी इस आर्यावर्त के सुधी-निष्पक्षपात-विद्वान् समालोचना करें ।इति।

रहोवासनिषेवण–हितमितमेध्याशन–ब्रह्मचर्य–जप–ध्यानादिसाधनपरिपाकज-याऽन्तर्निष्ठयाऽसकृदाहूयमानो भगवान-वश्यं भक्तस्य हृदयकमलमध्ये विद्योतमा-नविशुद्धज्ञानानन्दात्मकं रूपमाविष्कुर्वन् प्राचाकशीति। क्व सोऽस्ति भगवान्? कु-साद्वाऽऽगत्य यः परमेण प्रेम्णाऽभिप्रेप्स्य-मानः सद्योऽन्तरेव प्रकटीभवति? इति न शङ्कितव्यम्, यतो देवादिरूपेण बहिर-न्तरन्तरात्मरूपेण च सर्वं विश्वं व्याप्य खलु तस्य विभ्राजमानत्वात्। एवमपि बहि-र्दृष्टीनां कुमेधसां दूरे विद्यमानो जन्मको-टिभिरपि न विभाति। अन्तर्दृशां सुमेधसां तु समीपतरवर्ती सद्योऽन्तरेव सञ्चकास्ति। तं स्वयंप्रकाशमानं भगवन्तं तदभिनिवेशितेन विमलेन मनसाऽन्तरात्मरूपेणानुभूयमान-मनवरतमनुसन्दधानोऽखण्डानन्दपीयूष-सन्दोहसंप्लुततयोत्पुलकाकुलकायः कोऽपि खलु महाभागः स्वात्मानं कृतार्थयति स्वस्ति-भाजं करोति, इत्यभिप्रेत्य सर्वाधारस्य भज-नीयस्य भक्तवाञ्छितकल्पद्रुमस्य भगवतः प्रादुर्भूत्यै तदभिमुखीभूतो भक्तस्तद्विशिष्ट-गुणान् संस्मरन् प्रार्थनया तमाकारयति—

एकान्तवास का सेवन—हित-मित-पवित्र-भोजन का अशन—ब्रह्मचर्य-जप-ध्यानादि-साधनों के परि-पाक से जायमान-अन्तर्निष्ठा के द्वारा वार वार बुलाया हुआ भगवान् अवश्य ही भक्त के हृदय-कमल के मध्य में—विद्योतमान-विशुद्ध-ज्ञान-आनन्दात्मक-रूप का आविष्कार-प्राकट्य करता हुआ अत्यन्त प्रकाशित हो जाता है। कहाँ है वह भगवान्? कहाँ से वा आ करके जो भक्तों के द्वारा परम प्रेम से—प्राप्त करने की इच्छा का विषय हुआ—वह शीघ्र-भीतर ही प्रकट हो जाता है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि—देवादिरूप से बाहर, तथा भीतर अन्त-रात्मारूप से समस्त-विश्व को व्याप्त करके निश्चय से वह सर्वत्र विभ्राजमान है। ऐसा होने पर भी बहि-र्मुख-कुत्सित-बुद्धि वालों को वह दूर में विद्यमान है—उनके करोडों-जन्मों से भी वह परमात्मा उनको वि-भासित नहीं होता है। अन्तर्मुख-सुमेधा-एकाग्रशान्त-बुद्धि वालों के वह अत्यन्त-समीप में वर्तमान है, शी-घ्र-भीतर ही सम्यक् प्रत्यगात्मरूप से प्रकाशित होता है। उस स्वयंप्रकाशमान-भगवान् का—उसमें अभि-निवेशित-विमल-एकाग्र मन के द्वारा-अन्तरात्मा-रूप से अनुभव करता हुआ जो अनवरत—उसका अनु-संधान करता हुआ—अखण्ड-आनन्द के अमृतस-न्दोह-सागर में सम्यक्-प्लुत-निमग्न होने के कारण वह-उत्पुलक-रोमाञ्च से व्याप्त शरीर वाला हुआ कोई एक-महाभाग्यशाली-निश्चय से अपने आत्मा को कृतार्थ कर देता है, स्वस्ति-कल्याण का भजन-सेवन करने वाला बनाता है। ऐसा अभिप्राय रख करके सर्वाधार-भजनीय-भक्त-वाञ्छित का सम-र्पक-कल्पवृक्षरूप-भगवान् के प्रादुर्भाव के लिए—उसके अभिमुख हुआ भक्त—उस परमात्मा के विशिष्टगुणों का सम्यक् स्मरण करता हुआ वह प्रार्थना के द्वारा उसको पुकारता है—

१ अभ्याप्तुमिच्छाविषयभूत इत्यर्थः।

ॐ ऐतु पूषा रयिर्भगः स्वस्ति सर्वधातमः ।
उरुरध्वा स्वस्तये ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्त. ३१ ऋच् ११)

'पूषा-विश्वपोषक, रयि-आनन्दपूर्ण प्रशान्त, भग-भजनीय, सर्वधातम सर्वधारक, स्वस्ति-मंगलमय-भगवान्-परमात्मा हमारे सामने या हृदय में आवे-प्रकट होवे। उसके अनुग्रह से महान्-विस्तीर्ण-भक्तिज्ञानादि मार्ग हमारे कल्याण के लिए समर्थ होगा।'

पूषा=सर्वपोषको महादेवः, रयिः=विमलविज्ञानानन्दघनात्मकपूर्णधनराशिः, यद्वा रयिः=चन्द्रमा-तद्वत् द्वैतप्रपञ्चसन्तापोपशमः-शान्तः परिपूर्णोऽद्वैतः । 'रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वम्' (१।५) इति प्रश्नोपनिषच्छ्रुतेः । भगः=भजनीयः सर्वैः । सर्वधातमः=सर्वेषां धारयितृतमः-सर्वेषां वा स्वस्वकर्मानुसारेण धनादिपदार्थैः पोषयितृतमः । स्वस्ति=मङ्गलमयः कल्याणरूपः-परमेश्वरः, ऐतु=आ-एतु-आगच्छतु तत्संलग्नचित्तानामस्माकं भक्तानां हृदयपुण्डरीके प्रकटीभवतु, पुरोदेशे वाऽऽविर्भवतु प्राकट्यमन्तरा सर्वाधारस्य व्यापकस्यागमनासम्भवात्, साकारविग्रहमादाय त्वागमनमपि सम्भवति । यतो यो यो भक्तो यद्यद्रूपभावनया भगवन्तमन्तर्ध्यायति, तत्तद्रूपेण सर्वगतोऽनन्तरूपो भगवानेवान्तर्बहिः प्रस्फुरति । तदाह-भगवान् सनत्कुमारः-'ध्यातुमिच्छन्ति यद्रूपं भक्ता भगवतो मुने ! । तदेव करुणस्तेषां प्रभुर्दर्शयतीच्छया ॥' इति । रामतापनीयोपनिषद्यपि-'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥' इति ।

पूषा यानी सर्व का पोषक महादेव, रयि यानी विमल-विज्ञान-आनन्दघनरूप-पूर्ण-धनराशि, यद्वा रयि यानी चन्द्रमा, तद्वत् द्वैत-प्रपञ्च का संताप जिस में उपशम-अत्यन्ताभाव है ऐसा शान्त-परिपूर्ण-अद्वैत-परमात्मा । 'रयि ही चन्द्रमा है, रयि ही यह सर्व है।' इस प्रश्नोपनिषत् की श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। भग यानी सर्व से भजने योग्य-भगवान् । सर्वधातम यानी सर्वों का अतिशय से धारणकर्ता, या सर्वों का अपने-अपने कर्मों के अनुसार धनादिपदार्थों के द्वारा अतिशय करके पोषणकर्ता । स्वस्ति यानी मंगलमय-कल्याणरूप परमेश्वर, आ-समन्ततः आवे-उसमें संलग्न चित्त-वाले-हम भक्तों के हृदय-कमल में प्रकट हो या सामने मे आविर्भूत हो । प्राकट्य के विना सर्वाधार-व्यापक-परमेश्वर का आगमन असंभव है । साकारविग्रह ग्रहण करके तो उसका आगमन भी हो सकता है । क्योंकि-जो जो भक्त जिस जिस रूप की भावना से भगवान् का अन्तर में ध्यान करता है, उस-उस रूप से सर्वगत-अनन्तरूप भगवान् ही अन्त एवं बहि प्रस्फुरित प्रकट हो जाता है। वही भगवान्-सनत्कुमार कहता है-'हे मुने ! भक्तगण, भगवान् के जिस अभीष्ट रूप का ध्यान करने की इच्छा करते हैं। उनके प्रति उसी ही रूप को करुणाशाली सत्यानन्दनिधि भगवान् अपनी इच्छा से दिखाता है।' इति। राम-तापनीय-उपनिषत् में भी कहा है-'चिन्मय-अद्वितीय निष्कल अशरीरी-ब्रह्म की रूप-कल्पना उपासक-भक्तों के कार्य के लिए है।' इति ।

एवं ऋगन्तरेऽपि निखिलवरणीयस्य परमरमणीयस्य परमानन्दनिधेः साकारस्य भगवतः प्रियभक्तसमीपे तदभीप्सितविग्रहेणागमनं दृष्टान्तचतुष्टयपुरःसरमाम्नायते–'गाव इव ग्रामं' 'यूयुधिरिवाश्वान्' 'वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।' 'पतिरिव जायां' 'अभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः।' (ऋ. १०।१४९।४) इति । अयमर्थः–इव=यथा, गावः=अरण्ये सञ्चरन्त्यो धेनवः, ग्रामं शीघ्रमभिगच्छन्ति । इव=यथा च यूयुधिः=युयुधिः–योद्धा–शूरवीरो युद्धार्थमश्वानभिगच्छति । इव=यथा च सुमनाः=शोभनमनस्का–स्नेहभरितेन मनसा प्रियतमं स्वीयं वत्समभिसरन्ती इति यावत् । दुहाना=दोग्ध्री–बहुपयस्का, वाश्रा=हम्भारवात्मकं शब्दं कुर्वती, गौर्यथा–आत्मीयं वत्सं अभिगच्छति । इव=यथा च पतिः=स्वामी भर्ता, जायां=स्वभार्यां सम्मिलितुं शीघ्रमभिगच्छति; एवमेव सविता=विश्वप्रसविता–जगदीश्वरः, कीदृशः ? दिवः=द्युलोकस्य धर्ता=धारयिताऽवस्थापयिता वा । अत एव विश्ववारः=विश्वैः–सर्वैः–वरणीयः परमरमणीयः सत्यानन्दसिन्धुः परमात्मा, नः=अस्मानुपसन्नान् भक्तान् तत्स्मरणध्यानपरान्, अभ्येतु=नितरामभिगच्छतु–इति प्रार्थना । अयं भावः–गौरिव मातृभूतः

इस प्रकार अन्य ऋक्-मन्त्र में भी निखिल-वरणीय-परमरमणीय-परमानन्दनिधि-साकार-भगवान् का प्रिय-भक्त के समीप में उसके अभीष्ट-विग्रह के द्वारा आगमन का चार-दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन किया है–'जैसे गायें ग्राम के प्रति शीघ्र ही जाती हैं, जैसे योद्धा-शूरवीर अपने प्रिय-घोड़े के ऊपर बैठने के लिए जाता है । जैसे स्नेह-पूरित मन वाली–बहु दूध देने वाली–हम्भा रव-ध्वनि करती हुई–गाय, अपने प्रिय बछड़े के प्रति शीघ्र जाती है। एवं जैसे पति अपनी प्रियतमा-सुन्दरी पत्नी को मिलने के लिए शीघ्र जाता है, तैसे समस्त-विश्व से वरण करने योग्य–स्वर्गलोक का धारण करने वाला–सविता भगवान् हम-शरणागत-भक्तों के समीप में आवे।' इति। इस मन्त्र का यह अर्थ है–इव-यथा-जैसे अरण्य-जंगल में संचरण करती हुई–धेनु-गायें ग्राम के प्रति शीघ्र जाती हैं। इव-यथा यूयुधि योद्धा-शूरवीर युद्ध के लिए अश्वों के प्रति जाता है । इव-यथा सुमना-शोभन मन वाली-अर्थात् स्नेहभरित-मन से अपने प्रियतम-वत्स का स्मरण करती हुई, दुहाना यानी दोग्ध्री-बहु-दूध देने वाली–वाश्रा यानी हम्भा-रव-रूप शब्द को करती हुई गौ जैसे अपने प्रिय-बछड़े के प्रति जाती है। तथा जैसे पति-स्वामी भर्ता, अपनी जाया-भार्या को मिलने के लिए शीघ्र ही जाता है । इस प्रकार ही सविता-यानी विश्व का प्रसविता-उत्पादक-जगदीश्वर;किस प्रकार का है वह ? द्युलोक का धारण करने वाला–या स्थापन करने वाला, इसलिए वह विश्ववार है यानी सर्व-विश्व से वरण-स्वीकार करने योग्य-परमरमणीय-सत्य-आनन्द का सागर-परमात्मा, हम-उपसन्न-शरणागत-उसके स्मरण-एवं ध्यान के परायण रहने वाले भक्तों के प्रति अच्छी प्रकार से आवे, ऐसी प्रार्थना है । यह भाव है–गौ की भाँति मातारूप परम-स्नेहामृत का भण्डार भगवान्

परमस्नेहसुधानिधिर्भगवान् ग्राममिव भक्त-गृहे तद्धृदये वा निवस्तुं वत्सस्थानीयं स्वस्नेहकृपाभाजनं भक्तं ज्ञानामृतं पाययितुं वा योद्धा वीर इव सर्वविधबलनिधिर्महाप्रभुः—अश्वानिव भक्तस्यान्तःकरणबाह्यकरणाख्यान्–अश्वान्–नियमयितुं तद्वशे स्थापयितुं वा, पतिरिव–पशुपतिः–विश्वपतिः परमेश्वरः प्रियतमजायास्थानीयं भक्तं परिरब्धुमनुग्रहीतुं वा तं सर्वात्मना सन्तोषयितुं वा स्वलोकोत्तरसाक्षात्कारेण कृतार्थयितुं वा भगवान् झटिति तत्प्रार्थनामात्रेणाऽऽगच्छतीति (यूयुधिः–'युध सम्प्रहारे' किन् प्रत्ययः छान्दसं सांहितिकमभ्यासदीर्घत्वम्)।

ग्राम की तरह भक्त के गृह में या उसके हृदय में निवास करने के लिए, वत्सस्थानापन्न-अपने-स्नेह एवं कृपा के भाजन-पात्र भक्त को ज्ञानामृत पिलाने के लिए, या योद्धा शूर-वीर की भाँति सर्व प्रकार के बलों का भण्डार-महाप्रभु, अश्वों की भाँति भक्त के अन्तःकरण एवं बाह्यकरणरूप-अश्वों का नियमन करने के लिए, या उसके वश में स्थापन करने के लिए, तथा पति की भाँति पशुपति-विश्वपति-परमेश्वर, प्रियतम जाया के स्थानापन्न-भक्त का परिरम्भण-आलिङ्गन करने के लिए या उसके ऊपर अनुग्रह-कृपा करने के लिए या उसको सर्व प्रकार से संतुष्ट-संतृप्त करने के लिए या अपने-अलौकिक-साक्षात्कार के द्वारा कृतार्थ-धन्य करने के लिए भगवान् झटिति-शीघ्र उस-भक्त की प्रार्थना-मात्र से आ जाता है। इति।

ततः पूषणि भगवति हृदये प्रकटिते सति, अस्माकं, उरुः=विस्तीर्णः अनाद्यविच्छिन्नगुरुशिष्यशास्त्रपरम्पराप्राप्तः, अध्वा=मार्गः–भक्तिज्ञानयोगादिपथः, अविद्यादिप्रतिबन्धरहितो यथा स्यात्तथा, स्वस्तये=कल्याणाय–अमृताभयशाश्वतपदमवाप्तुं नूनं समर्थो भविष्यतीत्यभिप्रायः। तदाह–भगवान् व्यासः–'यस्य नारायणो देवो भगवान् हृद्गतः सदा। भक्त्या केवलयाऽज्ञानं धुनोति ध्वान्तमर्कवत्॥' (भा. ७।१३।२१) इति।

उससे पूषा भगवान् को हृदय में प्रकट होने पर, हमारा उरु-विस्तीर्ण-अनादि-अविच्छिन्न-गुरु-शिष्य-एवं शास्त्र की परंपरा से प्राप्त अध्वा यानी मार्ग-भक्ति-ज्ञान-योगादि पन्था, अविद्यादि-प्रतिबन्ध से रहित हुआ-जैसे हो वैसे, स्वस्ति-कल्याण के लिए—अमृत-अभय-शाश्वत-पद को प्राप्त कराने के लिए निश्चय से समर्थ होगा, यह अभिप्राय है। वही भगवान् व्यास श्रीमद्भागवत में कहता है—'केवल-अनन्यभक्ति के द्वारा जिसके हृदय में भगवान्-नारायणदेव-सदा अवस्थित रहता है, उसके अज्ञान-ध्वान्त-अन्धकार को सूर्य की भाँति वही प्रकट हुआ भगवान् विध्वस्त कर देता है।' इति।

(७८)

(विश्वात्मकः सन् यः सर्वत्र स्फुरति स एष विष्णुरहमित्यभेदभावनया निष्कलङ्कसदानन्दाविर्भावः कृतकृत्यता च सिद्ध्यति)

(विश्वरूप हुआ जो सर्व में स्फुरित होता है, वही यह विष्णु मैं हूँ, ऐसी अभेद-भावना से कलंकरहित-सदानन्द का आविर्भाव तथा कृतकृत्यता सिद्ध हो जाती है)

स्वमहिमप्रतिष्ठः परमात्मैव स्वयोगमायाशक्त्या कार्यकारणात्मकमिदं सर्वं बभूव- जगदात्मना विवृत्ते, अतस्ततोऽन्यत्किञ्चिदपि नाभूत्, नास्ति, न भविष्यतीति भगवदभेदभावनया विश्वरूपे परिपूर्णे परमात्मनि मनो निवेश्य तत्स्वरूपध्यानानन्दस्वाराज्यदीक्षितो भवति कश्चिदतिधन्यो महाभागः। तं 'सर्वमिदमहञ्च परमात्मैवे'- त्येकत्वमध्यवसितवन्तं मतिमन्तं जनमाकुलयितुं न कल्पेते शोको मोहश्च, 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।' (ई. उ. ७) इति श्रुतेः। यतः कारणसत्ताऽतिरिक्तकार्यसत्ताया अनभ्युपगमात्, विश्वरूपकार्याकारेण सम्भूयमानस्य सोपाधिकस्य ब्रह्मणो निरुपाधिके शुद्धे पारमार्थिके ब्रह्मणि कल्पितत्वात्; कल्पितस्य चाधिष्ठानानतिरेकात्, ततः सर्वकल्पनाधिष्ठानतया परमार्थसत्यमेकं निरुपाधिकं ब्रह्मैव वास्तवं तत्त्वं नान्यदित्यद्वैतब्रह्मविज्ञानबलेन सर्वं विश्वमधिष्ठानाज्ञानतः पृथक् प्रतीतमपि ब्रह्ममात्रमेवेति सुधीभिः पौनःपुन्येन काल्पनिकनामरूपमाननामुत्सृज्य सच्छ्रद्धयाऽधिष्ठानतत्त्वमेवाचिरतं सदा सर्वत्र स्वस्वरूपेण विभावनीयम्। यदाहुः—'त्वदात्मकं

अपनी-महिमा में प्रतिष्ठित-परमात्मा ही अपनी-योग-मायाशक्ति के द्वारा कार्य-कारणात्मक-यह सर्व-चराचर विश्वरूप हो गया है—जगद्रूप से विवर्तित हुआ है। इसलिए उस परमात्मा से अन्य कुछ भी न था, न है, न होगा, ऐसी भगवान् के साथ अभेद-भावना के द्वारा विश्वरूप-परिपूर्ण-परमात्मा में मन को एकाग्रता से लगा कर, उस-स्वरूप के ध्यान के आनन्द-स्वाराज्य में दीक्षित होता है—कोई अतिधन्य महाभाग्यशाली-महापुरुष। 'यह सर्व-विश्व और मैं परमात्मा ही हूँ' ऐसे एकत्व के निश्चय वाले—उस मतिमान्-जन को व्याकुल उद्विग्न करने के लिए शोक एवं मोह समर्थ नहीं हो सकते हैं। 'उस ज्ञानदशा में एकत्व का ही दर्शन-करने वाले—तत्त्वदर्शी महानुभाव को कौन मोह एवं कौन शोक? अर्थात् ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर अज्ञान-के कार्य-शोक-मोह-उस विद्वान् में रह नहीं सकते।' इस ईशावास्योपनिषत् की श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। क्योंकि—कारण की सत्ता से अतिरिक्त-पृथक् कार्यसत्ता का अभ्युपगम-स्वीकार नहीं हो सकता। इसलिए विश्वरूप-कार्य के आकार से जो सम्भूयमान है, ऐसा सोपाधिक-ब्रह्म, निरुपाधिक-पारमार्थिक-शुद्ध-ब्रह्म में कल्पित है, और कल्पित पदार्थ-अधिष्ठान से अतिरिक्त नहीं होता है, इसलिए सर्व कल्पनाओं का अधिष्ठान-होने के कारण परमार्थ-सत्य-एक-निरुपाधिक-ब्रह्म ही वास्तविक-तत्त्व है, अन्य नहीं, इस प्रकार के अद्वैत-ब्रह्म-विज्ञान के बल-प्रभाव से—समस्त-विश्व, अधिष्ठान के अज्ञान से पृथक्-प्रतीत होने पर भी—ब्रह्ममात्र ही है, ऐसा शोभन-बुद्धि वालों को—पुनः पुनः करके काल्पनिक-नामरूप की भावना का परित्याग करके सच्छ्रद्धा के द्वारा अधिष्ठानतत्त्व की ही निरन्तर स्वस्वरूप से सदा सर्वत्र विभावना करना चाहिये। यही शिष्ट-विद्वान् भी कहते हैं—'हे

विश्वमिदं समस्तं त्वत्तो विभिन्नं न हि किञ्चिदस्ति। तव प्रसादेन तव स्वरूपं विदन्ति ये ते सुखिनो भवन्ति ॥' इति। इति विशदतात्पर्यप्रख्यापनाय भगवती श्रुतिरग्न्यादिदृष्टान्तैरेकस्यानेकात्मना विभवनमाचष्टे—

परमात्मन्! यह समस्त विश्व त्वद्रूप ही है, निश्चय ही तुझ से विभिन्न कुछ भी नहीं है। तेरे-प्रसाद-अनुग्रह से जो तेरे स्वरूप को जानते हैं, वे सदा के लिए सुखी हो जाते हैं।' इति। इस प्रकार के विशद-तात्पर्य के प्रख्यापन-प्रसिद्ध करने के लिए भगवती-श्रुति, अग्नि आदि-के अनेक-दृष्टान्तों के द्वारा एक का ही अनेकरूप से विभवन का प्रतिपादन करती है—

ॐ एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं विबभूव सर्वम् ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्त. ५८ ऋक् २) (वालखिल्यकाण्डे सू. १०)

'जैसे एक ही अग्नि तत्त्व, बहु प्रकार से—वाडव-जाठर-वैद्युत-आदि—अनेक रूपों से समिद्ध-प्रदीप्त हो जाता है। जैसे एक ही सूर्य, जलतरङ्ग-दर्पणादि-समस्त-उपाधियों का अनुसरण करके अनेक-प्रतिबिम्बरूप से प्रकट हो जाता है। एवं जैसे एक ही उषा इस सर्व-विश्व को विभासित करती है। तैसे एक ही ब्रह्मतत्त्व, यह विविध-निखिल-विश्वरूप हो गया है।'

यथेति पदं दृष्टान्तद्योतनार्थमध्याहार्यम्। यथा एक एव अग्निः=दानादिगुणयुक्तो देवः बहुधा=वाडवजाठरवैद्युताद्यनेकप्रकारेण, समिद्धः=सम्यक् दीप्तो भवति। यद्वा एक एव=सर्वत्र दाहकत्वप्रकाशकत्वादिनैकरूपेण विद्यमान एवाग्निः=प्रसिद्धः, बहुधा=दार्वादिदाह्योपाधिभेदेन बहुविधः सन्, समिद्धः=सम्यक् प्रकाशितः—प्रतीतो भवति। तदाह भगवान् व्यासः—'स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते। योनीनां गुणवैषम्यात्तथाऽऽत्मा प्रकृतौ स्थितः ॥' (भा. ३।२८।४३) इति। तथा, यथा एक एव, सूर्यः=प्राणिनां सुष्ठु कर्मस्वीरयिता देवः, विश्वं=सर्वं जगत्, अनु-

'यथा'-जैसे-पद का दृष्टान्त के द्योतन के लिए अध्याहार करना चाहिए। जैसे एक ही दानादि गुण वाला—अग्नि-देव, बहुधा यानी वाडव-जाठर-वैद्युत आदि—अनेक प्रकार से समिद्ध-सम्यक्-दीप्त होता है। यद्वा जैसे एक ही सर्वत्र दाहकत्व-प्रकाशकत्व आदि—एक-रूप से विद्यमान ही प्रसिद्ध-भौतिक-अग्नि, बहुधा यानी दारु-लकडी आदि दाह्य-उपाधि के अनेक-भेद से बहु प्रकार का हुआ, सम्यक् प्रकाशित-प्रतीत होता है। यही भगवान् वेदव्यास श्रीमद्भागवत में कहते हैं—'जिस प्रकार एक ही ज्योति -अग्नि-तत्त्व, अपनी-योनि-उद्भव-स्थानरूप-लकडी आदि में, योनियों के गुण-धर्मों की विषमता होने के कारण, नानारूप से प्रतीत हो जाता है। तथा एक ही आत्मा, विविधरूप वाली-प्रकृति में स्थित हुआ नानारूपों से प्रतीत हो जाता है।' इति। तथा, जिस प्रकार एक ही सूर्य, प्राणियों को अच्छी प्रकार से कर्मों में प्रेरणा करने वाला—देव सर्व जगत् में

प्रविश्य, 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै. उ. २।६) इति श्रुतेः । प्रभूतः=अनेकात्मतया प्रादुर्भूतोऽस्ति, 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (ऋ. १।११५।१) इति श्रुतेः । यद्वा एकः सूर्यः चक्षुरिन्द्रियं भूत्वा विश्वं=सर्वं—अक्षिगोलकसमुदायं, अनु=अनुप्रविश्य, प्रभूतः=अनेकचक्षुरात्मना प्रादुर्भूतो बभूव, 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् ।' (२।४) इत्यैतरेयश्रुतेः । अथवा यथा एकः सूर्यः=आकाशमण्डलस्थ एक एवादित्यः,विश्वं=सर्वं जलतरङ्गदर्पणाद्युपाधिजातं, अनुसृत्य प्रभूतः=अनेकप्रतिबिम्बात्मना प्रकटीभूतो भवति । तथा च श्रुतिस्मृती भवतः—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥' इति । 'आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथक् भवेत् । तथाऽऽत्मैको ह्यनेकश्च जलाधारेष्विवांशुमान् ॥' (या. स्मृ. ३।१४४) इति । एवं महाभारते प्रकारान्तरतोऽप्येतत्स्मर्यते—'एको हुताशो बहुधा समिध्यते, एकः सूर्यस्तपसो योनिरेका । एको वायुर्बहुधा वाति लोके महोदधिश्चाम्भसां योनिरेकः । पुरुषश्चैको निर्गुणो विश्वरूपस्तं निर्गुणं पुरुषश्चाविशन्ति ॥' (शान्तिपर्व मो. ३५१।१०) इति । किञ्च यथा एका=एकाकिन्येव उषाः=रात्रेरवसा-

अनुप्रविष्ट हो कर, प्रभूत-अनेकरूप से प्रादुर्भूत हो जाता है । 'उसका सर्जन करके वही उसमें अनुप्रविष्ट हुआ है ।' इस तैत्तिरीय-श्रुति से भी यही सिद्ध होता है । 'सूर्य ही स्थावर-जंगम-चराचर विश्व का आत्मा है ।' ऐसा ऋगादि-श्रुति भी कहती है । यद्वा जैसे एक ही सूर्य, चक्षु-इन्द्रिय हो कर समस्त-चक्षु के गोलकों के समुदाय में अनुप्रविष्ट हो कर अनेक चक्षुरूप से प्रादुर्भूत हो गया है । 'आदित्य चक्षु हो कर अक्षि-गोलकों में प्रविष्ट हुआ है ।' इस ऐतरेय-श्रुति से भी यह सिद्ध होता है । अथवा जैसे एक ही आकाशमण्डल में स्थित आदित्य, समस्त-जल-तरंग दर्पणादि-उपाधिसमुदाय का अनुसरण करके अनेक-प्रतिबिम्बरूप से प्रकट हो जाता है । तथा च इस विषय में श्रुति एवं स्मृति प्रमाणरूप से होते हैं—'जैसे यह ज्योतिरूप-एक-सूर्य, भिन्न-भिन्न-जलों का अनुसरण करता हुआ अनेक-प्रतिबिम्बरूप से प्रतीत होता है । तैसे यह अज-एक-आत्मा-देव, क्षेत्र-शरीरों में उपाधि से ही भिन्न-भिन्नरूप वाला किया जाता है ।' इति । 'जिस प्रकार एक ही आकाश घटादि में पृथक्-पृथक्-सा होता है । तथा एक ही आत्मा 'जलाधार-घटादि में सूर्य की भाँति' अनेक-सा हुआ प्रतीत होता है ।' इति । इस प्रकार महाभारत के शान्तिपर्व-मोक्षधर्म में प्रकारान्तर से यह स्मरण किया जाता है—'एक ही हुताश-अग्नि, बहु प्रकार से समिद्ध होता है, एक ही सूर्य, तपः यानी समस्त-तेज की मुख्य-योनि-केन्द्र-स्थान है । एक ही वायु लोक में प्राणापानादि-बहु-रूप से बह रहा है । तथा एक ही महोदधि-महासागर समस्त-जलों का योनि-निधान-आश्रय है। तद्वत् एक-ही निर्गुण-विश्वरूप-पुरुष है, उस निर्गुण-पुरुष में ज्ञानवान् प्रविष्ट हो जाते हैं ।' इति । और जैसे एक-एकाकिनी ही उषा यानी रात्रि के

नसमये काचित् तमोनिवारिका प्रभातविधायिका सूर्यस्य पूर्वदिशि प्रसृता रक्तवर्णा दीप्तिः,सर्वं=समस्तं,इदं=दृश्यमानं रूपजातं, वि-भाति=विशेषेण दीपयति । उषारूपेण सर्वाणि रूपाणि सर्वत्र प्रतीयन्ते इति भावः। तथा एकं वै=एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, इदं= आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं जगत्, विबभूव=विशेषेणाभवत्, इति दृष्टान्तानुरोधेन युक्तमेव। यदा ह्यग्न्यादयो देवा अप्येकाकिनः सन्तोऽनेकभवनसमर्थास्तदा परं ब्रह्म-एकं सदनेकं भवेदित्यत्र किमु वक्तव्यम्? यदा चोपाधिभेदमनुसृत्यैकाकिनौ सूर्याग्नी-अनेकधा प्रतीयेते, तदैकं ब्रह्म मायोपाधिना जगद्रूपेण बहुधा प्रतीयेतेत्यत्र किमु आश्चर्यम्? यदा हि एकैवोषा स्वभासा सर्वं रूपजातं भासयति, तदैकं ब्रह्म स्वभासा सर्वं विभासयेदित्यत्र किमु दुर्घटम्? इत्यादिकं यथासम्भवं सादृश्यमूह्यमित्यभिप्रायः।

अवसानसमय में तमः-अन्धकार का निवारण करने वाली एवं प्रभात-प्रातःकाल बनाने वाली सूर्य की पूर्वदिशा में फैली हुई-रक्तवर्ण वाली कोई एक-दीप्ति, यह समस्त-इस दृश्यमान-रूपसमुदाय का विभासन-विशेषरूप से दीपन करती है। उस उषा के रूप से ही सब रूप सर्व में प्रतीत होते हैं, यह भाव है। तथा एक ही अद्वितीय-ब्रह्म, ब्रह्मा से ले कर स्तम्बपर्यन्त जो चराचर-जगत् है, उस रूप से ही हो गया है। ऐसा-दृष्टान्तों के अनुरोध से युक्त-समीचीन ही है। जब अग्नि आदि देव, एकाकी हुए भी अनेक होने में समर्थ होते हैं, तब एक हुआ परब्रह्म, अनेक हो, इसमें क्या कहना चाहिए? जब उपाधि-विशेष का अनुसरण करके एकाकी सूर्य एवं अग्नि, अनेकरूप से प्रतीत होते हैं, तब एक ही ब्रह्म, माया-उपाधि के द्वारा जगद्रूप से बहु-प्रकार से प्रतीत हो, इसमें क्या आश्चर्य है? जब एक ही उषा, अपने-प्रकाश से समस्त-रूपों के समुदाय को भासित करती है, तब एक ही ब्रह्म, अपने प्रकाश से सर्व-विश्व को विभासित करे, इसमें क्या दुर्घट है? इत्यादि-सम्भवानुसारी-सादृश्य की कल्पना करनी चाहिए, यह अभिप्राय है।

(७९)

(त्रिविधसन्तापानां भवरोगस्य च शमनायाऽस्त्येकं सिद्धौषधं भगवदाराधनम्)

(त्रिविध संतापों के एवं भवरोग के शमन के लिए है एक भगवान् की आराधनारूप सिद्धौषध)

संसारिणो जीवाः किल मूत्रद्वारेण निष्क्रम्य निष्क्रम्य भूयो भूयो निष्क्रामन्ति, मृत्वा मृत्वा च पुनःपुनर्मृत्युमापद्यन्ते, एवं तेषां क्रूराः क्लेशा दुरन्ता नाम। विद्यते चात्र 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।' इत्याचार्यभ-

संसारी-मूढ जीव, निश्चय से मूत्र के द्वार से निकल कर-निकल कर बार बार निकलते रहते हैं, तथा मर-मर करके पुनः पुनः मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं, इस प्रकार उन-जीवों के क्रूर क्लेश, दुरन्त हैं, अर्थात् उन क्लेशों का अन्त होना बड़ा कठिन है। इस विषय में-'फिर भी जन्म है, फिर भी

णितिरपि । विविधाश्च सन्तापाः खलु चेतसाऽनाकलिता अपि मुहुर्मुहुरभ्युपयन्ति । तेषां समेषामात्यन्तिकमुपशमनं कथं स्यात्? इति सदैन्याः सर्वे ते विजिज्ञासन्ते । भगवान् सर्वज्ञो वेदः तान् समाश्वासयन् तत्साधनमुपदिशति । अस्ति खलु भगवतो महेश्वरस्य रुद्रस्य समाराधनमेव विविधसन्तापजालस्य भवगदस्य च समूलमुपशमनाय सिद्धौषधम् । तद्धि कायवाङ्मनोभिः क्रियमाणं त्रिविधं भवति । तत्राद्यं कायिकं पूजननमस्कारादिरूपं प्रशस्तम् । द्वितीयं वाचिकं स्तुतिपठन-नामकीर्तनादिरूपं प्रशस्ततरम् । तृतीयं मानसिकं स्मरणध्यानादिरूपं प्रशस्ततमम् । आद्यं द्वयं साधनभूतं, यथावत्सुचिरविहितस्य तस्य चित्तशुद्धिहेतुत्वात् । तृतीयन्तु साध्यभूतं मनोनिर्वृत्तिसद्मनो द्वारं; एकान्तभक्तिज्ञानरसभाविते तस्मिन् सिद्धे सति साधकः कृतकृत्यो भवति । परमेश्वरं समाराध्यैव मानवः सर्वदुःखभयातिगो भूत्वाऽलौकिकं ब्रह्मरसायनमास्वदते, नित्यनिर्भयानन्तपरमसुखशेवधिमहाराजधानीमध्यास्ते । अत एव स्वार्थसाधनकामैर्मानवैरवश्यं सुबहु-

मरण है, 'फिर भी माता के उदर में शयन है'।' ऐसा आचार्य-श्रीशंकर भगवत्पाद का कथन भी है। तथा विविध-प्रकार के संताप निश्चय से—जो चित्त से आकलित—विचारित भी नहीं होते—वे भी बार बार अकस्मात् आ धमकते हैं। उन-समस्त-क्लेश-संतापों का आत्यन्तिक-उपशमन कैसे हो?—किस साधन से हो? इस प्रकार दीनतापूर्वक वे सब जीव, विशेषरूप से जानने की इच्छा करते हैं। भगवान्-सर्वज्ञ-वेद, उनको सम्यक्-आश्वासन देता हुआ उसके साधन का उपदेश देता है। निश्चय से है—भगवान्-महेश्वर-रुद्र का सम्यक्-आराधन ही विविध-सन्तापों की जाल का—एवं संसाररोग का—मूलसहित उपशमन के लिए—सिद्ध-औषध। वह भगवान् का आराधन-उपासन शरीर, वाणी, एवं मन के द्वारा किया जाने वाला तिन प्रकार का होता है। उनमें आद्य-कायिक-पूजन नमस्कारादिरूप आराधन प्रशस्त है। द्वितीय आराधन जो वाणी के द्वारा होने वाला स्तुतिपाठ, नामकीर्तन आदिरूप है, वह अति-प्रशस्त है। तृतीय मन का-आराधन जो स्मरण-ध्यान आदि-रूप है, वह अत्यन्त ही प्रशस्त है। प्रथम के दो आराधन साधनरूप हैं, यथावत्-आदरपूर्वक-दीर्घ समय तक किया गया वह चित्त-शुद्धि का हेतु हो जाता है। तृतीय-आराधन तो साध्यरूप है, मन के-सौख्य-शान्तिरूप गृह का द्वाररूप है। एकान्त-अनन्य-भक्ति एवं अद्वैत-ज्ञानरस से भावित हुए—उस आराधन को सिद्ध होने पर साधक कृतकृत्य हो जाता है। परमेश्वर की सम्यक् आराधना करके ही मानव समस्त-दुःख एवं भयों का अतिक्रमण करके अलौकिक-ब्रह्म-रसायन का आस्वादन करता है। नित्य-निर्भय-अनन्त-परम सुख के भण्डाररूप महाराजधानी के ऊपर अध्यासन करता है। इसलिए स्वार्थसाधन की कामना

फलकं परमेश्वराराधनं कर्तव्यम् । चतुर्विंशतिहोरात्मकेऽहोरात्रे नियमेन होरां 'होरा-र्द्धमपि वृत्तिरोधेन परमेश्वरचिन्तने को नामातिप्रयासः? कश्च वित्तव्ययः? इति दृशौ विस्फार्य स्वयमन्तर्विचारणीयम् । तत्कर्तुमसामर्थ्यं चेत्? स्तुतिपाठकीर्तनार्चनादौ कोऽतिभारः? । तदपि कर्तुं ये न शक्नुवन्ति ते किल स्वार्थान्धा जगति जाता अपि न जाता एवेति । अथवा विवेकविकलाः शृङ्गपुच्छरहिता द्विपदपशवः इति मन्तव्याः । इत्याशयमन्तर्निधाय जीवानां हितकामनया समस्तपुमर्थमूलं भगवदाराधनं कर्तव्यत्वेनाभिदधाति—अपौरुषेयी महागवी—

वाले—मानवों को अवश्य ही शोभन-बहु प्रशस्त फल वाला—परमेश्वर का आराधन करना चाहिए। चौबीस घण्टारूप-दिन-रात्रि में नियम से घण्टा आधा घण्टा भी संसारगामिनी-वृत्तियों के निरोध द्वारा परमेश्वर के चिन्तन करने में कौन-सा अतिप्रयास है? या कौन-सा धन का व्यय होता है? ऐसा नेत्रों को फाड़ करके स्वयं भीतर ही विचार करना चाहिए। ऐसा एकाग्रता से परमेश्वर का चिन्तन करने के लिए सामर्थ्य नहीं है? तो स्तुतिपाठ, कीर्तन, अर्चन आदि में कौनसा अतिभार—बोजा है?। उसको भी करने के लिए जो समर्थ नहीं होते हैं, वे निश्चय से अपने स्वार्थ में भी अन्धे-प्रमादी हैं, जगत् में पैदा हुए भी नहीं पैदा होने के बराबर ही हैं। इति। अथवा—विवेक-विकल-शींग-पूंछ से रहित, दो पैर वाले पशु हैं, ऐसा मानना चाहिए। ऐसे आशय को भीतर में स्थापन करके जीवों के हित-कल्याण की कामना से समस्त-पुरुषार्थों का मूलकारण भगवान् की आराधना का-कर्तव्यरूप से भगवान् के निःश्वासरूप अपौरुषेयी वेद की महावाणी—प्रतिपादन करती है—

ॐ तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य ।
यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ५ सूक्त. ४२ ऋक् ११)

'हे जीवात्मन्! उस महादेव-भगवान् की तू प्रेम से स्तुति कर। जो भगवान् अपने हाथों में शोभन-बाण तथा शोभन-धनुष् धारण करता है। एवं जो समस्त-संसार के संताप, एवं जन्ममरणादि भवरोग के निवारक-ज्ञान-भक्ति-योगादिरूप-सिद्ध-औषध का स्वामी-वैद्यनाथ है। उस-औषध के समर्पण द्वारा जो अपने शरणागत-आराधक-भक्तों के शाश्वत-स्वास्थ्य सम्पादन करने में समर्थ है। और तू उस दुःखादि के द्रावण-निवारण करने वाले—रुद्र-परमेश्वर का मन की महान्-सु-शान्ति के लिए यजन कर—एकाग्र मन से चिन्तन कर। और नमस्कारों के द्वारा या हविः समर्पण आदि-विविध-उपचारों के द्वारा असुर-बलवान् उस देव-रुद्र भगवान् की परिचर्या-सेवा कर।'

---

१ भाषायां 'घण्टा' 'कलाक' इत्यादिनामभिः प्रसिद्धिः 'होरा' इत्यस्य ।

हे जीवात्मन् ! तमु=तमेव, रुद्रं=कात्यायनीसहचरं भगवन्तं महादेवं ष्टुहि=स्तुहि; तस्य प्रेम्णा स्तुतिं कुरु इत्यर्थः । ननु–परमात्माऽसौ स्तोतॄणां भक्तानां किं हितं करोति ? येनायं स्तोतव्यो भवति इत्याशङ्क्याह–यः=परमेश्वरो वस्तुतो निराकारोऽपि सन् भक्तेष्टं साकारविग्रहं धृत्वाऽऽत्ममायया भक्तभयध्वंसाय स्विपुः सुधन्वा=सर्वश्रेष्ठधनुर्बाणधारी भवति, स्विपुः=सु–शोभनः, इपुः–बाणो यस्य सः । सुधन्वा=शोभनं धनुर्यस्य सः । एकान्ततो भक्तविरोधिसंतापक्लेशादिहन्तृत्वात् तयोः चापशरयोः सुष्ठुत्वम् । ननु–पुनः कीदृशोऽसौ ? यं यथावद्विदित्वा सर्वेऽत्यादरेणाभिष्टुवन्तु इत्यत आह–यः=परमेश्वरः, विश्वस्य=सर्वस्य, भेषजस्य=औषधस्य–विविधसंसारसंतापजननमरणादिभीषणरोगनिवारणहेतुभूतस्य ज्ञानयोगादिलक्षणस्य, क्षयति–ईश्वरो भवति–तत्प्रदानेन शाश्वतं स्वास्थ्यं विधातुं समर्थो भवति; यतः सांसारिकस्य समग्रस्यारिष्टस्य, जननादिलक्षणस्य दीर्घभवरोगस्य च प्रशमनाय परमेश्वरप्रसादव्यतिरिक्तस्य सिद्धौषधस्याभावात् । तादृशसिद्धौषधनिधित्वात् भिषक्तमत्वाचास्य भेषजस्वामित्वमुपपद्यते । तथा च श्रूयते स्मर्यते च–'भिषक्तमं

हे जीवात्मन् ! कात्यायनी-भगवती-भवानी के सहचर-उसी ही भगवान्-रुद्र महादेव की तू प्रेम से स्तुति कर ।

शंका—वह परमात्मा स्तुति करने वाले-भक्तों का क्या हित-भला करता है, जिससे वह स्तुति करने योग्य माना जाता है ?

समाधान—जो परमेश्वर वस्तुतः निराकार हुआ भी अपनी माया से—भक्त के लिए इष्ट-साकार विग्रह को धारण करके, भक्त-भय के विध्वंस के लिए स्विपु एवं सुधन्वा अर्थात् श्रेष्ठ-धनुष् एवं श्रेष्ठ बाण को धारण करता है । सु-शोभन, इषु-बाण है जिसको वह स्विपु है । सु-शोभन, धनुः है जिसको वह सुधन्वा है । एकान्त-यानी नियम से भक्त के विरोधी-संताप-क्लेश आदि का हनन-ध्वंस करने से उन-चाप-शर-धनुर्बाण में सुष्ठुत्व-अच्छत्व है ।

शंका—फिर भी वह भगवान् किस प्रकार का है ? जिसको सभी यथावत् जान करके अति-आदर से उसकी अभिस्तुति करें ?

समाधान—जो परमेश्वर विश्व-सर्व, भेषज-औषध–जो संसार के विविध-संताप एवं जनन-मरणादि-भीषण-भव-रोग के निवारण का हेतुभूत-ज्ञानयोगादिरूप है, उसका ईश्वर है, अर्थात् उस औषध के प्रदान द्वारा शाश्वत-स्वास्थ्य के सम्पादन करने में समर्थ है । क्योंकि–संसार के समस्त-अरिष्ट-उपद्रव-अनर्थ के एवं जननादिरूप-दीर्घ भवरोग के प्रशमन के लिए परमेश्वर की प्रसन्नता के व्यतिरिक्त-अन्य कोई भी सिद्धौषध नहीं है । तिस प्रकार के सिद्ध-औषधों का निधि-आधार होने से, अतिशय करके भिषक्-वैद्य होने से इस परमेश्वर में भेषजस्वामित्व उपपन्न हो जाता है । तथा च श्रुति में सुना जाता है–एवं स्मृति में स्मृत होता है–'भिषक्-वैद्यों के मध्य में मैं तुम्र-भगवान् को

त्वा भिषजां शृणोमि' (ऋ. २।३३।४) 'भिषजे भवरोगिणां दक्षिणामूर्तये नमः।' (दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्) इति च । किञ्च तमेव रुद्रं=दुःखात्तत्साधनाद् दुरिताद्वा मोचयितारं देवं, यक्ष्व=यज-अर्च, तस्मै मनो देहि वा तस्मिन् तदाधत्स्व वा । यजतेर्दानार्थकत्वस्यापि स्मरणात् । तन्मयेन चेतसा तमेव चिन्तयेति यावत् । ननु-तद्यजनं किं दृष्टं तात्कालिकं स्वेष्टप्रयोजनं साधयति? इत्यत आह-महे=महते, सौमनसाय=सुमनस्त्वाय-मनसो महत्यै सुशान्तये, सौमनसे महत्त्वं चिरकालव्यापित्वादिलक्षणम् । ईश्वराराधनाच्चिरकालिका शाश्वती चित्तशान्तिः प्रसिद्धा, सैव तात्कालिकमिष्टं फलम् । शान्ते च चेतसि तस्मिन्नप्रतिबन्धेन विमलसुखाविर्भावः सद्यः स्वतः सिद्ध्यतीति भावः । किञ्च नमोभिः=नमस्कारैः, तदुद्देशेन हविरादिप्रदानैर्वा, देवं=द्योतमानं, असुरं=प्रकृष्टासुं-अतिबलवन्तमित्यर्थः, यद्वा असुरं=प्राणदातारं असुं-प्राणं राति ददातीति व्युत्पत्तेः । तादृशं भगवन्तं रुद्रं दुवस्य=त्वं सच्छ्रद्धया परिचर-सेवस्वेत्यर्थः । नमस्करणं विविधोपचाराणामप्युपलक्षणम् । विविधोपचारैरपि तमेव परिचरेति यावत् । तदुक्तं-'यदि चिकीर्षसि सौहृदमात्मनः परिजिहीर्षसि यद्यघबन्धनम् । यदि तितीर्षसि संसृतिसागरं श्रय मयस्करमीश्वरसेवनम् ॥' (स्तु. कु. १०।४६) इति ।

अति-श्रेष्ठ-वैद्यरूप से सुनता हूँ ।' इति । 'भव-संसार-रोग वालों के वैद्य-दक्षिणामूर्ति-जगद्गुरु भगवान्-शिव को नमस्कार है ।' इति । और दुःख से एवं उसके साधन-पाप से मोचन-छुड़ाने वाले उसी ही रुद्र-देव का तू यजन कर, अर्चन कर, उसके लिए मन का दान कर या उस में उसको स्थापन कर। यज धातु का दान-अर्थ में भी स्मरण है, अर्थात् तन्मयचित्त से उसी का ही तू चिन्तन कर।

शंका-उस रुद्र भगवान् का यजन, दृष्ट-प्रत्यक्ष, तात्कालिक-शीघ्र-कौन अपने-इष्ट-प्रयोजन को सिद्ध करता है?

समाधान-महान्-सौमनस्-सुमनस्त्व-अर्थात् मन की महती सुशान्ति के लिए उसका यजन-उपासन कर। सौमनस में महत्त्व चिरकाल-व्यापित्वादि-रूप है । ईश्वर-भगवान् की आराधना से चिरकाल तक रहने वाली-शाश्वती-चित्तशान्ति-प्रसिद्ध है, वही तात्कालिक इष्ट-फल प्रयोजन है । और उस शान्त-चित्त में अप्रतिबन्ध से विमल-सुख का आविर्भाव स्वतः सद्यः-शीघ्र ही सिद्ध होजाता है, यह भाव है । और नमस्कारों के द्वारा या उसके उद्देश से हवि आदि-उपचार द्रव्यों के प्रदानों के द्वारा, देव-द्योतमान असुर-प्रकृष्ट-असु-प्राण वाला अर्थात् अतिबलवान् यद्वा असुर यानी प्राणदाता, असु-प्राण को जो राति-देता है, वह असुर है ऐसी व्युत्पत्ति है । उस प्रकार के भगवान्-रुद्र की तू सच्छ्रद्धा के द्वारा परिचर्या-सेवा कर । नमस्कार विविध-उपचारों का भी उपलक्षण है, अर्थात् विविध-पाद्य-अर्घ्यादि उपचारों से भी उसीकी ही परिचर्या कर । वह स्तुतिकुसुमाञ्जलि में कहा है-'यदि तू अपने आत्मा का कल्याण करने की इच्छा करता है, एवं यदि तू अविद्यादि-पापबन्धनों का परिहार करने की इच्छा करता है, तथा यदि तू संसारसागर तरने की इच्छा करता है; तब तो तू मयः-सुखकर ईश्वर-भगवान् विश्वनाथ की सेवा का आश्रय कर ।' इति ।

(८०)

(सर्वत्रावस्थितस्य व्यापकस्य परमात्मनः समनुसन्धानेन सर्वमभिलपितं सिद्ध्यति)

(सर्वत्र-अवस्थित-व्यापक-परमात्मा के सम्यक्-अनुसन्धान से समग्र-अभिलषित सिद्ध हो जाता है)

विश्वस्य प्रसविता परमपिता परमेश्वरः चतसृषु दिक्ष्ववस्थितो विभाव्यते भक्तैरस्माभिः, यत्र यत्र वयं दृष्टीर्निपातयामस्तत्र तत्र स एव सर्वसाक्षी विश्वपतिः परमात्मा समुपलभ्यते। यदाहुः—'प्राच्यां दिशायां दिशि पश्चिमायां दिश्युत्तरस्यां दिशि दक्षिणस्याम्। ऊर्ध्वं ह्यधस्ताच्च तथैव तिर्यक्, अन्तर्बहिस्त्वं विभुरेक एव॥' इति। एवं सर्वत्रान्तर्बहिः तदनुभवेनास्माकं सर्वात्मना तदुपसन्नानां सर्वाः चित्तवृत्तयो निर्मलीभवन्ति। निर्मलासु तासु परमप्रसादसमन्वितस्तस्य विमलानन्दः सुतरां प्रकटीभवति। अपि च निरन्तरं भगवत्पदं भजतां निर्मलस्वान्तानां सानन्दानां भक्तानां कृते किं वस्तुजातं दुराप्यं भवति भो?। भजदन्तर्बहिराविर्भवदभिरामधाम्नः कामकल्पधारिणः प्रत्यग्रूपस्य परमात्मनः समुपासनया समस्तमभीष्टं सिद्ध्यतीति विज्ञापयितुकामो भगवान् वेदो भक्तमुखेन प्रतिपादयति—

विश्व का प्रसविता-उत्पादक-परमपिता-परमेश्वर, पूर्वादि-चार-दिशाओं में अवस्थित हुआ हम-भक्तों से विभावित होता है। जहाँ जहाँ हम दृष्टियों को फैलाते हैं, वहाँ वहाँ वही सर्व का साक्षी, विश्वपति-परमात्मा हमसे सम्यक् उपलब्ध हो जाता है। यह कहते हैं—'पूर्व-दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में, दक्षिण दिशा में, ऊपर में, नीचे में तथा तिर्यक्-टेढे में, अन्तर्बाहर तू ही एक विभु-व्यापक परमात्मा सदा रहा हुआ है।' इति। इस प्रकार सर्वत्र, अन्तर्-बाहर, उस परमात्मा के अनुभव से सर्व प्रकार से उसके शरणागत हुए-हम भक्तों की समस्त-चित्त की वृत्तियाँ निर्मल-प्रसन्न हो जाती हैं। निर्मल-उन वृत्तियों में परम-प्रसाद से समन्वित, उसका विमल-आनन्द, अच्छी प्रकार से प्रकट हो जाता है। और निरन्तर भगवत्स्वरूप का भजन करने वाले—निर्मल-स्वान्त-हृदय वाले—आनन्दी भक्तों के लिए कौन वस्तुसमुदाय भो! दुराप्य दु:ख से प्राप्य होता है?—अर्थात् कोई नहीं, भगवदनुग्रह से सर्व-इष्ट पदार्थ सुलभरीति से उनको प्राप्त हो जाते हैं, भजन करने वाले—भक्तों के अन्तर्-बाहर-आविर्भूत होता है—अभिराम-शोभास्पद-धाम-दिव्य शान्त-तेज-जिसका, ऐसे कामपूरक-कल्प-वृक्ष के समान, प्रत्यक्-आत्मारूप-परमात्मा की सम्यक्-उपासना से समस्त-अभीष्ट सिद्ध हो जाता है, ऐसा विज्ञापन करने की कामना वाला भगवान् वेद भक्त के द्वारा प्रतिपादन करता है—

ॐ सविता पश्चातात्सविता पुरस्तात्, सवितोत्तरात्तात् सविताधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं, सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त, ३६ ऋक्, १४)

'सविता-विश्वस्रष्टा भगवान्-नारायण, पश्चिमदिशा में स्थित है, सविता-भगवान् पूर्वदिशा में स्थित है, सविता-भगवान् उत्तरदिशा में स्थित है, एवं सविता-भगवान् दक्षिण-दिशा में स्थित है। वह सविता महादेव, हम-सब को अभीष्ट-ऐहिक एवं पारत्रिक-अभ्युदय तथा पारमार्थिक-निःश्रेयस समर्पण करे, और सविता-देव हम सब को दीर्घ-कालीन-शोभन-पवित्र जीवन प्रदान करे।'

पश्चातात्=पश्चिमतः-पश्चिमायां दिशि स्थितः, सविता=जगत्स्रष्टा, विश्वाधिष्ठाता परमेश्वरः, पुरस्तात्=पूर्वतः-पूर्वस्यां दिशि स्थितः सविता, उत्तरात्तात्=उत्तरतः-उत्तरस्यां दिशि स्थितः, अधरात्तात्=दक्षिणतः-दक्षिणस्यां दिशि स्थितः सविता, नः=अस्माकं तदभिमुखानां सर्वासु दिक्षु तं पश्यतां, अजस्रमनन्यचित्ततया तमेवान्तर्बहिर्दिदृक्षतां वा, सर्वतातिं=सर्वमभिलषितं-ऐहिकं धनादिकं, आमुष्मिकं-स्वर्गादिकं, पारमार्थिकं-निःश्रेयसं वा, सुवतु=सुवति-समर्पयतीत्यर्थः। किञ्च सवितैव नः=अस्मभ्यं, दीर्घं=बहुकालीनं, शोभनं-पवित्रं आयुः=जीवनं, रासतां=रासते-ददातीत्यर्थः। प्रार्थनामन्तरेणापि स दयालुः परमात्मा भजद्भ्यः तदपेक्षितं सर्वं वितीर्य तद्योगक्षेमं निर्वहति। तथा च निरञ्जनः पुमान् गीतायामर्जुनं प्रति प्रतिजानीते-'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।' (९।२२) इति। धर्मराजं प्रति भविष्येऽपि-'इहामुत्र च भोगेच्छां त्यक्त्वा ये मामुपाश्रिताः। तेभ्यो ददामि राजेन्द्र! भोगान् भक्तिश्च मद्गतिम् ॥' इति। तदेवमनायासतः सर्वा-

सविता यानी जगत् का स्रष्टा विश्व का अधिष्ठाता परमेश्वर, पश्चातात् यानी पश्चिम-दिशा में स्थित है। सविता पुरस्तात् यानी पूर्व-दिशा में स्थित है, सविता उत्तरात्तात् यानी उत्तर-दिशा में स्थित है, सविता अधरात्तात् यानी दक्षिण-दिशा में स्थित है। समस्त दिशाओं में उसका दर्शन करने वाले-या निरन्तर अनन्य-चित्त से उसी ही सर्वगत-भगवान् का अन्तर्बाहर दर्शन करने की इच्छा रखने वाले-उसके अभिमुख-हम भक्तों को वह भगवान् सर्वताति-यानी समस्त-अभिलषित-इस लोक का धन आदि, एवं परलोक का स्वर्ग आदि एवं पारमार्थिक-निःश्रेयस-कल्याण सुवतु यानी समर्पण करता है और सविता भगवान् ही हम को दीर्घ यानी बहुकालीन-शोभन-पवित्र आयु-जीवन, रासतां अर्थात् देता है। प्रार्थना के विना भी वह दयालु-परमात्मा, भजन करने वाले-भक्तों को अपेक्षित वह सब दे करके उनके योग-क्षेम का निर्वाह करता है। तथा च निरञ्जन-पुरुष-भगवान् श्रीकृष्ण, गीता में अर्जुन के प्रति प्रतिज्ञा करता है-'सदा एकत्वभाव से मुझ-अद्वैत परब्रह्म में निष्ठा रखने वाले-महापुरुषों का योग-क्षेम मैं स्वयं वहन-प्राप्त कर देता हूँ।' इति। एवं भविष्य-पुराण में धर्मराज के प्रति स्वयं भगवान् कहते हैं-'इस लोक की एवं परलोक की भोगेच्छा का त्याग करके जो मेरे शरणागत हुए हैं, उनको मैं हे राजेन्द्र! भोगों का, भक्ति का एवं मेरी गति-मुक्ति-धाम का भी दान करता हूँ।' इति। इस प्रकार

मीष्टार्थसाधकं विमलानन्दाविर्भावकं सर्वतो भगवदनुसन्धानं यस्मै न रोचते सोऽसौ जडधीरेव। यद्वा—सुवतु=प्रेरयतु, रासतां= ददातु, इति यथाश्रुतमपि साधु। अनेक-सवितृपदग्रहणमत्यन्तमादरार्थं, परमपितुः पौनःपुन्येनानुसन्धानार्थमपि वा ॥

अनायास से सर्व-अभीष्ट-अर्थ का साधक, विमल-आनन्द का आविर्भाव करने वाला—सर्व चराचर-विश्व में सर्व तरफ से किया जाने वाला भगवान् का अनुसंधान जिसको रुचिकर नहीं होता है, वह जड-बुद्धि-वाला पशु ही है। यद्वा सुवतु यानी प्रेरणा करे, रासतां यानी देवे, ऐसा यथाश्रुत अर्थ भी साधु-शोभन है। मन्त्र में अनेक-सविता पदों का ग्रहण, अत्यन्त-आदर के लिए है, या परमपिता-परमेश्वर का पुनः पुनः अनुसंधान-स्मरण के लिए है। इति।

(८१)

(पूर्णानन्दस्वरूपं चिन्मात्रमन्तरात्मानं प्राप्य सर्वे जीवा आनन्दिनो भवन्ति)

(पूर्णानन्द-स्वरूप-चिन्मात्र-अन्तरात्मा को प्राप्त करके सब जीव आनन्दी हो जाते हैं)

आनन्दो हि जीवनसाधनम्। न हि सर्वथा निरानन्दः कश्चन प्राणी प्राणितुं क्षमते। 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' (तै. उ. २।७) इति श्रुतेः। स चानन्द आत्मस्वरूपभूतः। यतः 'सुखमहमस्वाप्समि'ति सुप्तोत्थितस्य स्वापसुखपरामर्शदर्शनात् स्वापे स्वरूपभूतमेव सुखमनुभूतमिति गम्यते। जागरेऽपि स्रक्-चन्दनवनिताद्यैः साधनैः स्वरूपानन्दाविर्भावप्रतिबन्धकस्य बहिर्विषयाभिमुख्यस्य तिरोधानादन्तर्मुखमनोवृत्तौ सत्यां स्वयं-प्रकाशात्मसुखमेव स्वयमवभासते। तदुक्तं—विद्यारण्यस्वामिभिः—'विषयेष्वपि लब्धेषु

आनन्द ही जीवन का साधन-उपाय है। सर्वथा कोई प्राणी आनन्दरहित हुआ जीने के लिए समर्थ नहीं होता है। 'यदि यह आकाशरूप-विभु-आनन्दरूप-चिदात्मा न हो, तो कौन प्राणी अपान का व्यापार तथा प्राण का व्यापार करता?' इस तैत्तिरीय-श्रुति से भी यही-अर्थ सिद्ध होता है। वह आनन्द आत्म-स्वरूपभूत है। क्योंकि 'सुखपूर्वक मैं सोया था' इस प्रकार सुप्तोत्थित—यानी सुषुप्ति से उठे हुए मनुष्य को सुषुप्ति के सुख का स्मरण देखने में आता है, इसलिए सुषुप्ति में स्वरूपभूत ही सुख का अनुभव हुआ है, ऐसा जाना जाता है। जाग्रत्-अवस्था में भी माला-चन्दन-युवति-आदि-साधनों के द्वारा स्वरूपानन्द के आविर्भाव-प्राकट्य में प्रतिबन्धक-बाहर के शब्दादि-विषयों की अभिमुखता का तिरोधान होने से, अन्तर्मुख मन की एकाग्र-वृत्ति होने पर स्वयं-प्रकाश आत्मा का सुख ही स्वयं अवभासित होता है।' यह कहा है—पञ्चदशी ग्रन्थ में-आचार्य विद्यारण्यस्वामी ने—'स्रक्-

तदिच्छोपरमे सति । अन्तर्मुखमनोवृत्तावा-नन्दः प्रतिविम्बति ।। यद्यत्सुखं भवेत्तत्त-द्ब्रह्मैव प्रतिविम्बनात् । वृत्तिष्वन्तर्मुखा-स्वस्य निर्विघ्नं प्रतिविम्बनम् ।।' (पञ्चदशी. ब्र. यो. ८६, वि. १९) इति । ननु-सुषुप्तौ दुःखाभाव एवानुभूयते न तु सुखम्, तज्जनकसामग्र्यभावात्, न च जन्यसुखा-भावेऽपि नित्यं स्वरूपसुखं निर्विकल्पकमनु-भूयते इति वाच्यम्; विषयानन्दातिरिक्त-स्वरूपानन्दे मानाभावात् । यदि सुषुप्तौ ब्रह्मानन्दोऽनुभूयेत, तर्हि 'कामिनीमन्तरे-णेयं यामिनी विरसा गता' इति सुषुप्तादु-त्थितानां कामुकानां विषयासक्तानां पुरु-षाणां तुच्छेन्द्रियसुखहानिनिमित्तको निर्वेदः कथमपि नोपपद्येत । को हि महान्तमान-न्दमनुभूय स्वल्पेन्द्रियसुखार्थं शोकं कुर्यात्? अथोच्येत 'तत्सुखं विस्मृतमतस्ते निर्विद्यन्ते,' इति चेन्मैवम्, तत्सुखस्य विसरणे 'सुखम-हमस्वाप्समि'त्ययं व्यवहारः कथमुपपन्नः स्यात्?, तस्मादात्मनः स्वापे सुखात्मत्व-मसिद्धम् । एवं जागरेऽपि विषयेन्द्रियसं-

चन्दन आदि विषयों का लाभ होने पर जब विषयों की इच्छा की निवृत्ति होती है, तब अन्तर्मुख मन की-एकाग्र वृत्ति में आत्मानन्द का प्रतिविम्ब पडता है। जो जो विषयों के द्वारा भी सुख होता है, वह वह-सब ब्रह्म का प्रतिविम्ब होने से ब्रह्मरूप ही है, क्योंकि-अन्तर्मुख-वृत्तियों में ब्रह्म के आनन्द का निर्विघ्न प्रतिविम्ब पडता है।' इति।

शंका—सुषुप्ति में दुःखाभाव का ही अनुभव होता है, सुख का अनुभव नहीं होता, क्योंकि-उस समय सुख के उत्पादक-सामग्री का अभाव है। 'उस समय जन्य-सुख का अभाव होने पर भी नित्य-निर्विकल्प-स्वरूपसुख का अनुभव होता है' ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि-विषया-नन्द से अतिरिक्त स्वरूपानन्द में कोई भी प्रमाण नहीं है। यदि सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता हो, तब 'कामिनी के विना यह रात्रि विरस व्यतीत हो गई' इस प्रकार का-सुषुप्ति से उठे हुए-कामी विषयासक्त-पुरुषों का-तुच्छ-इन्द्रिय-सुख की हानि-है निमित्त जिसमें, ऐसा निर्वेद-खेद किसी भी प्रकार से उपपन्न-युक्त नहीं हो सकता है। कौन ऐसा प्राणी है कि-जो सुषुप्ति में महान्-आनन्द का अनुभव करके स्वल्प तुच्छ-इन्द्रिय-सुख के लिए शोक-संताप करे? अर्थात् नहीं कर सकता। अतः महान्-सुख का अनुभव वहाँ नहीं हुआ है, इसलिए तुच्छ-सुख के लिए वह खेद प्रकट करता है, ऐसा मानना चाहिए। यदि कहो कि-वह सुषुप्ति का महान्-सुख उनको विस्मृत हो गया है, इसलिए वे कामीजन इन्द्रियसुख के लिए खिन्न होते हैं। तब ऐसा मत कहो? क्योंकि-उस महान् सुख का विस्मरण होने पर 'सुख-पूर्वक मैं सोया था' ऐसा शब्द-प्रयोगरूप व्यवहार कैसे उपपन्न-युक्तियुक्त होगा?, इसलिए आत्मा का सुषुप्ति में सुखरूपत्व असिद्ध है। इस प्रकार जाग्रत् में भी विषय एवं इन्द्रियों के संयोग से

योगादेव जायमानमनित्यं सुखं सर्वेऽनुभवन्ति, नित्यमात्मभूतं सुखं तु न केनाप्यनुभूयते। अपि चात्मनः सदासिद्धत्वात्, नित्यत्वाच्च तद्रूपस्य सुखस्यापि तथात्वात् जगति केनापि दुःखं नानुभूयेत ? सुखार्थं साधनान्वेषणा च विलुप्येत ? तस्माज्जागरितेऽप्यात्मनः सुखात्मत्वमसिद्धमिति। अत्रोच्यते—सुप्तोत्थितस्य विषयसुखसामग्र्यभावेऽपि तूष्णींभावमुखप्रसादादिलिङ्गदर्शनेनाऽनुभूतसुखसंस्कारसम्भवात्, न हि सुषुप्तौ स्वरूपसुखानुभवं विना स सम्भवति, आकस्मिकत्वापत्तेः। न च तत्र दुःखाभाव एवानुभूयते इति वक्तुं युक्तम्। दुःखाभावमेवावेदिषं न सुखमिति परामर्शप्रसङ्गात्, न चेष्टापत्तिः, 'सुखमहमस्वाप्समि'ति परामर्शविरोधात्। अपि च स्वापसमये धर्मि-(अनुयोगि-धर्माश्रय) ग्रहणादिमन्तरेण कथमभावानुभवः स्यात् ? तथा च धर्मिग्रहणाद्यभावे सति दुःखाभावानुभवासम्भवात्; परिशेषात् विषयसुखानुभवासम्भवे सति स्वरूपसुखस्यैव स्वयंप्रकाशत्वेनानुभवः तत्र समाश्रयणीयः। अनेन विषया-

ही उत्पन्न होने वाले—अनित्य-सुख का ही सब-प्राणी अनुभव करते हैं। नित्य-आत्मरूप-सुख तो किसी से भी अनुभूत नहीं होता है। और आत्मा-स्वस्वरूप तो सदा सिद्ध है एवं नित्य है, इसलिए आत्मरूप-सुख भी वैसा ही सदासिद्ध एवं नित्य है, अतः जगत् में किसी से भी दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए ? तथा सुख के लिए साधनों की खोज भी विलुप्त होनी चाहिए ? इसलिए जाग्रत् में भी आत्मा का सुखरूपत्व असिद्ध है।

समाधान—सुषुप्ति में विषयसुख की सामग्री-कारणकलाप का अभाव होने पर भी सुप्तोत्थित-मनुष्य के तूष्णींभाव-चुपचापस्थिति-मुख की प्रसन्नता आदि-लिङ्ग-चिह्नों के दर्शन से उस समय अनुभूत-सुख के संस्कारों की सम्भावना की जाती है। क्योंकि—सुषुप्ति में स्वरूप-सुख के अनुभव के विना वह सुख-संस्कार नहीं हो सकता है। क्योंकि आकस्मिकत्व की—कारण के विना कार्योत्पत्ति की आपत्ति-प्राप्ति हो जाती है। उस समय दुःख का अभाव ही अनुभूत होता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि—'दुःखाभाव को ही मैं जानता था, न सुख को' ऐसे स्मरण का प्रसङ्ग-प्राप्त हो जाता है। इष्ट की आपत्ति है अर्थात् ऐसे स्मरण का प्रसङ्ग इष्ट है, अनिष्ट नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—'मैं सुखपूर्वक सोया था' ऐसे परामर्श का विरोध हो जाता है। और सुषुप्ति-समय में धर्मी—जो धर्म का आश्रय-अनुयोगी है—उसके ग्रहण-ज्ञान आदि के हुए विना अभाव का अनुभव कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता। तथा च धर्मी के ग्रहण आदि का अभाव होने पर दुःखाभाव के अनुभव का असंभव होने से परिशेष से—विषयसुख के अनुभव का असंभव होने पर—स्वरूपसुख का ही स्वयंप्रकाश-रूप से अनुभव होता है, ऐसा सुषुप्ति में निश्चय से मानना चाहिए। इस कथन से विषयानन्द से

नन्दातिरिक्तस्वरूपानन्दे प्रमाणमप्युपदर्शितम्। किञ्च तुच्छं विषयसुखमनादृत्य समाधिदशायां महद्भिः परमाप्तैः सिद्धैः सनकवामदेवशुकदेवादिभिश्चाप्रतिबन्धेनानुभूतस्य निर्विषयस्य स्वरूपसुखस्य, शास्त्रोक्तशुभकर्मभिः फलासङ्गादित्यागेन सत्त्वशुद्धिभगवदनुग्रहसम्पादनद्वारा भूयोभिर्मतिमद्भिर्मुमुक्षुभिरेकान्ततः काम्यमानस्य तस्य न विषयलम्पटपामरजननिर्वेदमात्रेणापलापः कर्तुं शक्यते। अनेकश्रुतिस्मृत्यनुभवविरोधप्रसङ्गात्। अपि च सापेऽज्ञानेन स्वस्वरूपभूतस्य ब्रह्मानन्दस्याच्छादितत्वात्, मूढाः तं सामान्यतो जानन्तोऽपि विशेषतो न जानन्ति, अत एव तेषां सम्प्रलापो निर्वेदः पूर्वोक्त उपपद्यत एव। तथा चाम्नायते—'तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्ब्रह्म गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढाः।'[1] (छां. ८।३।२) इति। तस्मात्सुषुप्तौ आत्मनः सुखरूपत्वं सिद्धम्। एवं जागरिते विषयेन्द्रियसंयोगस्य सुखजनकत्वं नास्ति, प्रत्युत तस्य पुनः पुनरधिकतृष्णा

अतिरिक्त-स्वरूपानन्द में प्रमाण का भी प्रदर्शन किया गया। और तुच्छ-विषयसुख का अनादर करके समाधिदशा में महान्-परम प्रामाणिक-सनकवामदेव-शुकदेव आदि वीतराग-तत्त्वदर्शी सिद्ध-पुरुषों से प्रतिबन्धरहित-अनुभूत-निर्विषय-स्वरूप-सुख, जिसकी-फल की आसक्ति आदि के त्याग-पूर्वक-शास्त्रोक्त-शुभ कर्मों के द्वारा एवं अन्तःकरण की शुद्धि-भगवान् की कृपा-प्रसन्नता के सम्पादन द्वारा बहुत-मतिमान्-मुमुक्षुओं से नियमतः कामना की जाती है—उस महान्-शुद्ध-सुख का विषय-लम्पट-पामरजन के-पूर्वोक्त खेद मात्र से अपलाप नहीं किया जा सकता है, क्योंकि—अपलाप करने पर अनेक-श्रुति-स्मृति-एवं अनुभवों के विरोध का प्रसङ्ग हो जाता है। और सुषुप्ति में अज्ञान से स्वस्वरूपभूत-ब्रह्मानन्द आच्छादित हो जाता है, इसलिए मूढलोग, उस-आनन्द को सामान्यरूप से जानते हुए भी विशेषरूप से नहीं जानते हैं। इसलिए उन मूढों का बकवाद-पूर्वक-पूर्वोक्त-निर्वेद-संताप उपपन्न हो जाता है। तथा च छान्दोग्य-उपनिषद् में भी कहा जाता है—'जिस प्रकार हिरण्य-सुवर्ण की निधि, क्षेत्र में निहित-गडी है, परन्तु उसको नहीं जानने वाले लोग, उसके ऊपर ऊपर घूमते हुए भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, इस प्रकार ही यह सब प्राणी, प्रतिदिन सुषुप्ति में सत्या-नन्दनिधि-ब्रह्म को प्राप्त होते रहते हैं, तथापि इस ब्रह्मलोक को नहीं जानते हैं, क्योंकि—वे सब प्राणी अनृत-मिथ्या-अविद्या से आच्छादित हुए हैं।' इति। इसलिए सुषुप्ति में आत्मा का सुखरूपत्व सिद्ध हो गया। इस प्रकार जाग्रत्-अवस्था में विषय-इन्द्रिय का संयोग, सुख का जनक-उत्पादक नहीं है, प्रत्युत वह पुनः पुनः अधिक-विषय-भोगतृष्णा

[1] प्रजाः=जीवाः अहरहः=प्रतिदिनं, सुषुप्तौ ब्रह्म गच्छन्त्योऽपि स्थूलसूक्ष्मोपाधिलयेन तदभिमानकृतब्रह्मभेदशून्या अपि ब्रह्म स्वप्रकाशं न जानन्ति, हि=यस्मात्—अनृतेन=मिथ्याभूतेनाज्ञानेन प्रत्यूढाः=आच्छादितस्वरूपकाः, ऋतं=सत्यं ब्रह्म, तद्भिन्नमज्ञानमनृतमित्यर्थः।

समुज्जृम्भकतया सर्वथा दुःखजनकत्वमेवास्ति, तृष्णा च प्रभूतं दुःखमिति प्रसिद्धम्। तर्हि सर्वेऽपि खल्वमी प्राणभृतः सुखसंपिपादयिषया विशृङ्खलं विषयेषु कुतो व्याप्रियन्ते? इति चेत् अन्यथाग्रहादेवेति वदामः। तथा हि–विषयेषु प्राणभृतां सुखाभिलाषस्तावत्तद्याथार्थ्यानवबोधप्रयुक्तभ्रान्तिनिबन्धन एव। विषयसन्निधाने सति प्राक्तनवासनासध्रीचीनस्य चेतसो योऽयं विकारो रणरणिकामुत्पाद्य तदलाभे महद् दुःखं ददाति; स एव विषयाभिलाषो नाम। स च तत्तदभीष्टविषयप्राप्तिपर्यन्तं हृदयाभ्यन्तरे कोमलकण्टकवदवतिष्ठमानः तत्प्रयुक्तभाविदुःखानामङ्कुरायमाणो भवति, समुद्धृतकण्टके चरणे सुखप्राप्त्यभिमानवत्; विषयलाभे सति हृदयकण्टकायमानस्य तादृगभिलाषस्य तात्कालिकोपशमनमेव सुखं सुखमित्यभिमन्यन्ते विवेकविकला मूढाः। यथा ललाटन्तपतपनतापपापच्यमानकलेवरः कश्चन काष्ठवाहकः क्वचन शीतलच्छायातरुमूले काष्ठभारमवरोप्य विश्राम्यन्

का सम्यक् उत्पादक होने के कारण सर्वथा दुःख का ही जनक है–कारण है, क्योंकि–तृष्णा बड़ा भारी दुःख है, ऐसा प्रसिद्ध है।

शंका–तब ये सब प्राणधारी जीव, सुख सम्पादन करने की इच्छा से विशृङ्खल-मर्यादारहित हो करके भी विषयों में किस-हेतु से प्रवृत्त होते हैं?।

समाधान–अन्यथा-ज्ञान-मिथ्या-भ्रान्ति से ही वे प्रवृत्त होते हैं, ऐसा हम कहते हैं। तथाहि–यह स्पष्ट रूप से दिखाते हैं–विषयों में प्राणियों की सुख की अभिलाषा–उन विषयों के यथार्थ स्वरूप के अज्ञान से होने वाली भ्रान्तिरूप कारण से ही होती है। स्त्रीआदि-विषयों के समीप स्थित होने पर पूर्व की वासना के सहकृत-चित्त का जो यह–अनुभववेद्य–विकार है, वह रणरणिका यानी विषय-भोग की उत्सुकताविशेष का उत्पादन करके–विषय का लाभ न होने पर महान् दुःख देता है, वही विषयाभिलाष प्रसिद्ध है। वह उस उस अभीष्ट-विषयों की प्राप्ति-पर्यन्त हृदय के भीतर कोमल-काँटे की तरह चुभ कर रहता हुआ–उससे ही भविष्य में होने वाले दुःखों के अङ्कुर की भाँति–कारणरूप होता है। पैर में लगे हुए–काँटे के निकाल देने पर जिस प्रकार सुखप्राप्ति की भ्रान्ति होती है, तद्वत् विषयों का लाभ होने पर हृदय में कण्टक के समान आचरण करने वाले–उस प्रकार के विषयाभिलाष का तात्कालिक-उपशमन ही सुख है, सुख है, ऐसा विवेक से विकल-मूढ-लोग अभिमान करते हैं। जैसे कोई लकड़ियों का ढोने वाला–लकड़हारा, ललाट तक को भी संतप्त करने वाले–सूर्य के ताप से अत्यन्त व्यथित हुआ है–शरीर जिसका–ऐसा हुआ–वह किसी शीतल-छाया वाले–वृक्ष के मूल में काष्ठ के भार को उतार कर विश्राम

सुखितोऽस्मीति मन्यते; तद्वत्, न हि तस्य शिरस्यारोपितकाष्ठभारापगमेन प्राक्तनदुःखोपशान्तिमन्तरा वस्तुतः सुखप्राप्तिरपि सुवचा स्यात्। तदाह विवेचनचतुरो राजर्षिर्भर्तृहरिः—'तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं शीतमधुरं, क्षुधार्तः शाल्यन्नं कवलयति सूपादिकलितम्। प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमालिङ्गति वधूं, प्रतीकारं व्याधेः सुखमिति विपर्यस्यति जनः॥' इति। तस्माद्विषयेन्द्रियसंयोगादेव जायमानमेव सुखं सर्वेऽनुभवन्तीति कथनं भ्रान्तिनिदानत्वेनालीकमेव। अपि च यो हि स्वाभीप्सितविषयलाभे सति विषयाभिलाषुकाणां तात्कालिकमनःशान्तिलेशनिबन्धनः तात्कालिकः कश्चन सुखाभासो लक्ष्यते, सोऽपि नित्यस्यात्मसुखस्यैव प्रतिबिम्बभूतोऽनुभूयते तैर्न तस्मात्पृथग्भूतः। प्राक्तनपुण्यैस्तेषु तेषु विषयेषु कथञ्चिदनुभवयोग्यतामापादितेषु सत्सु तद्विषयकाभिलाषस्य तदुद्दीपितचापल्यस्य तत्प्रयुक्तदुःखस्य च किञ्चिदपगमेन तात्कालिकचित्तोपशम-

लेता हुआ—'मैं सुखी हो गया हूँ' ऐसा मानता है, तद्वत् प्रकृत सिद्धान्त में भी समझना चाहिए। उस-काष्ठग्राहक के शिर पर रखे हुए—काष्ठ-भार की निवृत्ति से—पूर्व के काष्ठभारजन्य दुःख की उपशान्ति के बिना वस्तुतः उसको सुख की प्राप्ति भी हुई है, ऐसा कहना योग्य नहीं है। वही विवेचन करने में कुशल राजर्षि भर्तृहरि भी कहता है—"प्यास से मुख के सुखने पर प्राणी शीतल-मधुर जल पीता है, क्षुधा से पीडित होने पर मनुष्य, दाल आदि से संयुक्त-भात आदि अन्न को खाता है। एवं कामाग्नि-प्रदीप्त होने पर प्राणी, वधू-स्त्री का सुदृढतर आलिङ्गन करता है। यह जलपान-अन्नभक्षण-स्त्रीसम्बन्धादि-सब उपाय, पिपासा-क्षुधा-कामादि-व्याधि के निवारक हैं। परन्तु उस-उस व्याधिजन्य-पीडा की निवृत्ति को विपरीत-भ्रान्ति से मनुष्य सुखरूप मानता है।' इति। इसलिए विषय-इन्द्रिय के संयोग से जायमान ही-अनित्य-सुख को सब लोग अनुभव करते हैं, ऐसा कथन भ्रान्तिरूप-कारण से होने के कारण तुच्छ-अप्रामाणिक ही है। और अपने-अभीप्सित-विषयों का लाभ होने पर विषयों के अभिलाषियों को—तात्कालिक-मन की शान्ति के लेश से होने वाला जो कोई तात्कालिक-तत्काल में होने वाला-सुख का आभास लक्षित होता है, वह भी नित्य-आत्म-सुख का ही प्रतिबिम्बरूप उन्हों से अनुभूत होता है, आत्मसुख के प्रतिबिम्ब से वह पृथक्-रूप से अनुभूत नहीं होता है। पूर्व के पुण्यों से उन-उन विषयों को कथञ्चित् अनुभव के योग्य होने पर विषयविषयक-अभिलाषा की, उस अभिलाषा से संदीप्त-चंचलता विक्षेप की एवं उस चंचलता से उत्पन्न होने वाले—दुःख की किञ्चित् निवृत्ति होने पर तात्कालिक-चित्त-के उपशम का सम्भव होने पर तिस प्रकार-के

सम्भवे सति तादृशप्रशान्तसात्त्विकचित्तवृत्तौ प्रतिबन्धाभावादानन्दस्वरूपस्य ब्रह्मणः प्रतिफलनं सम्भवत्येव। न च निरवयवनीरूपब्रह्मसुखप्रतिबिम्बो न स्यादिति वाच्यम्। निरवयवनीरूपशब्दस्य प्रतिध्वनिरूपप्रतिबिम्बदर्शनात्। प्रतिबिम्बत्वञ्च तद्धर्मानुविधायित्वम्, न तु दर्पणादिगतप्रतिबिम्बसदृशत्वमिति बोध्यम्। न च विषयेन्द्रियसंयोगादेव चित्तोपशमनस्य तत्प्रयुक्तसुखाभासस्य च प्रादुर्भावदर्शनात्तस्यैव तादृक्सुखसाधनताऽस्तु इति वाच्यम्, तथा सति योगाभ्याससंपादितचित्तोपशान्तिमतां वीतरागाणामपि महात्मनां विषयसंयोगे सति प्राकृतजनानामिव सुखपारवश्यप्रसङ्गात्, सरागाणाञ्च प्रियेष्वपि विषयेषु कदाचित् द्वेषाभावप्रसङ्गाच्च। दृश्यन्ते हि तादृशा अपि विषया ये खलु कस्यचित् कदाचिदत्यन्तप्रियतमा अपि कालान्तरे तस्यैव द्वेषास्पदतां प्रतिपद्यन्ते इति। यदि पुनः स्रक्चन्दनवनितादयो विषया एकान्ततः सुखसाधनान्येव भवेयुस्तर्हि फलनियतानामेव साधनत्वौचित्यात्, समग्रतत्सामग्रीसमवधाने सति तैर्विषयैः सुखसम्पादकैरेव भवितव्यम्। न पुनरेवमियं नियतता दृश्यते। न हि चन्दनं घर्मकाले सुखावहमिव भवतीति दुःसहशीतजनितवेपथुमभ्राक्रान्तजनसन्दोहे हेमन्तेऽपि वदेव कस्यचित् सुखाय

प्रशान्त-सात्त्विक-चित्त की-एकाग्र वृत्ति में प्रतिबन्ध न होने से आनन्दस्वरूप-ब्रह्म के प्रतिबिम्ब का सम्भव हो जाता है। 'निरवयव-निरूप-ब्रह्मसुख का प्रतिबिम्ब न हो सकेगा' ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि—निरवयव-निरूप-शब्द का प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब देखा जाता है। यहाँ प्रतिबिम्बत्व यानी उसके धर्म का अनुविधान-अनुकरण करनारूप है, दर्पणादिगत-प्रतिबिम्ब के सदृशत्व नहीं है, ऐसा जानना चाहिए। 'विषय-इन्द्रिय के संयोग से ही चित्तोपशमन का एवं चित्तोपशमनप्रयुक्त सुखाभास के प्रादुर्भाव का दर्शन होने से उस-संयोग में ही उस प्रकार के सुख की साधनता हो' ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि—ऐसा होने पर योगाभ्यास से सम्पादित-चित्त की उपशान्ति वाले—वीतराग-महात्माओं को भी विषयसंयोग होने पर ही प्राकृत-पामर-मूढ मनुष्यों की भाँति सुख की परवशता का प्रसंग हो जायगा एवं राग वाले-प्राणियों को प्रिय-विषयों में भी द्वेषाभाव का प्रसंग हो जायगा। तिस प्रकार के भी विषय देखने में आते हैं—जो किसी समय में किसी के प्रति वे अत्यन्त प्रियतम थे, परन्तु वे ही विषय, अन्य समय में उसको ही द्वेष के विषय हो जाते हैं। यदि पुनः स्रक्-चन्दन-वनिता आदि विषय, नियम से सुख के ही साधन हों, तब नियम से फल के उत्पादक-पदार्थों में ही साधनत्व की योग्यता मानी जाती है, इसलिए समग्र-उसकी सामग्री के समवधान होने पर वे विषय, सुख के ही सम्पादक होने चाहिए। परन्तु उनमें ऐसी नियतता देखने में नहीं आती है। चन्दन ग्रीष्मसमय में सुख-प्रापक-सा प्रतीत होता है, इसलिए वह दुःसह—शीत से उत्पन्न कम्प से संयुक्त-प्राणियों का समुदाय है—जिसमें ऐसी हेमन्त-शीत-ऋतु में भी किसी के सुख के लिए

स्यात्? । न हि चन्दनः कदाचिदचन्दनः । तथा न वा वह्निसान्निध्यं हेमन्ते सुखाय भवतीति दुःसहतापपापच्यमानप्राणिनिवहे भीष्मे ग्रीष्मेऽपि तदेव कस्यचित् सुखावहं स्यात् ? । एवं कण्टकः क्रमेलकस्य सुखाय भवतीति, नहि मनुष्यादीनामपि तथैव भविष्यति । न ह्यसौ काँश्चित्प्रत्येव कण्टकः न सर्वानिति वक्तुं युक्तम् । तस्माद्विषयाणां क्वचित्सुखजनकत्वादर्शनादनैकान्तिकतया तेषामेकान्ततः सुखसाधनत्वमसिद्धम् । किञ्च यदि विषयेभ्य एवैकान्तिकी सुखप्राप्तिरेव स्यात्, तर्हि न कोऽपि विश्रान्तिलाभाय सुषुप्त्यवस्थामनुधावेत् । विविधविषयविभ्रान्तचेतसो हि मनुजास्तत्तादृशान् विषयानवधूय, विसृज्य च दूरतस्तदभिलाषं, मृदुलतरशय्यामधिशय्य, नयने च निमील्य, प्रसार्य च पाणिपादादीन्, निद्राभिमुखीं चित्तवृत्तिश्चाश्रित्य, विस्मृत्य च बाह्याभ्यन्तरसुखदुःखभेदान्, सौषुप्तसुखस्य सर्वोत्कृष्टतामभिमन्यमाना विश्रान्तिकामनया सुषुप्त्यवस्थामनुधावन्तीति सार्वजनीनम्, सौषुप्तसुखञ्च विषयानभिव्यञ्जतया देशकालादिपरिच्छेदरहिततया च परमानन्दरूपं ब्रह्मैव । तद्योगादेव च जीवस्य तदा

हो जाय ? ऐसा नहीं है । वह चन्दन कदाचित् अचन्दन नहीं हो जाता । तथा अग्नि की समीपता शीत-ऋतु में सुख के लिए होती है, इसलिए वह दुःसह ताप से अति-व्यथित हुआ है—प्राणियों का समुदाय जिसमें ऐसे—भयंकर-ग्रीष्म में किसी को सुख का प्रापक हो? ऐसा नहीं है। इस प्रकार उष्ट्र-उंट को काटा सुख के लिए होता है, इसलिए मनुष्य आदि को भी उसी प्रकार सुख के लिए ही वह होगा? ऐसा नहीं है । वह काटा किन्हीं-प्राणियों के प्रति ही उस रूप से है, सर्वों के प्रति नहीं है, ऐसा भी कहना युक्त नहीं है । इसलिए विषय, कहीं सुख के उत्पादक देखने में नहीं आते हैं, अतः अनैकान्तिक-व्यभिचारी होने के कारण उन विषयों में नियमतः सुख की साधनता सिद्ध नहीं है । और यदि विषयों से ही नियमपूर्वक-सुख की ही प्राप्ति हो, तब कोई भी प्राणी विश्रान्ति लाभ के लिए सुषुप्ति-अवस्था के प्रति धावन-गमन न करे। विविध-विषयों के सम्बन्ध से विभ्रान्त-व्याकुल हुए हैं—चित्त जिन्हों के ऐसे मनुष्य, उस प्रकार के विक्षेपजनक-सभी विषयों का परित्याग करके, उनकी अभिलाषा का भी दूर से परित्याग करके, अति कोमल-शय्या के ऊपर लेट कर, नयनों को मूँद कर, हाथ-पैर आदि को फैला कर, निद्रा के अभिमुखी चित्तवृत्ति का आश्रय करके, बाहर के एवं अन्तर के सब सुख-दुःखविशेषों का विस्मरण करके, 'सुषुप्ति का सुख ही सभी सुखों से उत्कृष्ट है' ऐसा अभिमान-दृढनिश्चय करते हुए—विश्रान्ति की कामना से सुषुप्ति-अवस्था के प्रति धावन गमन करते रहते हैं, यह सर्वजनप्रसिद्ध है । और वह सुषुप्ति का सर्वोत्तम-सुख विषयों से अभिव्यक्त न होने से एवं देशकाल आदि के परिच्छेद-अन्त से रहित होने के कारण-परमानन्दरूप ब्रह्म ही है। उस सत्यानन्दनिधि-ब्रह्म के योग-सम्बन्ध से ही उस समय जीव को सुख का

सुखाविर्भावः, तदर्थमेव च जीवस्य प्रत्यहं सुषुप्त्यवस्थानुधावनमित्यत्रार्थे उपनिषदाम-प्युद्घोषः। तस्माद्विषयाणां सुखसाधनत्वा-भिमानो भ्रान्तिनिबन्धन एव। प्राप्तेभ्यो विषयेभ्यस्तु प्राक्तनवासनाधीनस्वचित्तप-रिकल्पिततत्तद्दुःखानां किञ्चिदुपशमे सति चित्तोपशान्तिर्या भवति, तामेव सुखं सुख-मिति व्याहरन्ति भ्रान्ता इति पूर्वमप्य-भिहितम्। सर्वथाऽपि चित्तोपशान्त्यैव कश्चिदानन्दाभासः प्रादुर्भवतीति तु निर्वि-वादम्। स चानुभूयमानः शाश्वतात्मान-न्दस्यैव प्रतिबिम्बः। अनेन नित्यमात्म-भूतं सुखं केनापि नानुभूयत इति प्रत्युक्तम्। चित्तोपशान्तितारतम्यादेव हि प्राणिनामा-नन्दतारतम्यभानम्। अत एव भगवती तैत्तिरीयश्रुतिरानन्दवल्ल्यां—'स एको मानुष आनन्दः' इत्युपक्रम्य 'स एको ब्रह्मण आ-नन्दः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' (तै. २।८) इत्यन्तेन मानुषानन्दमारभ्य शतगुणोत्तरो-त्तरमुत्कर्षभाजां हैरण्यगर्भानन्दपर्यन्ताना-मानन्दमात्राणां तारतम्यस्य सुखसाधना-भावेऽपि निष्कामस्य विदुषः चित्तोपशान्ति-शुद्धितारतम्यनिमित्तस्यैवानुभवप्रतिपाद-नात्; यथा यथा धीः शाम्यति शुद्ध्यति च; तथा तथा स्वरूपभूतमेव सुखं सर्वत्र

आविर्भाव होता है। उसीके लिए ही जीव का प्रतिदिन सुषुप्ति-अवस्था के प्रति अनुधावन है, इस विषय के प्रतिपादन में उपनिषदों का भी उद्घोष-गर्जना है। इसलिए विषयों में सुख-साधनता का अभिमान, भ्रान्तिरूप कारण से ही है; अर्थात् वस्तुतः विषय सुख के साधन नहीं हैं। प्राप्त-विषयों से—पूर्व की वासनाओं के आधीन-अपने-चित्त से परिकल्पित-उन-उन दुःखों का कुछ उपशम होने पर चित्त की जो उपशान्ति होती है, उसीको ही 'सुख है, सुख है' ऐसा भ्रान्त-जन बोलने लगते हैं, यह हमने प्रथम भी कहा था। सर्वथा भी चित्त की उपशान्ति से ही कोई—आनन्द के आभास का प्रादुर्भाव होता है, यह सिद्धान्त विवादरहित है। वह अनुभूयमान-आनन्द का आभास, शाश्वत-आत्मानन्द का ही प्रति-बिम्ब है। इसके प्रतिपादन से 'नित्य-आत्मरूप-सुख किसी से भी अनुभूत नहीं होता है' ऐसा पूर्ववादी का कथन खण्डित हो गया। चित्त की उपशान्ति के तारतम्य-न्यूनाधिकत्व से ही प्राणि-यों को आनन्द के तारतम्य का भी भान होता है। इसलिए भगवती तैत्तिरीय-श्रुति आनन्दवल्ली में—'वह एक मनुष्य का आनन्द है।' ऐसा उपक्रम-प्रारम्भ करके 'वह एक ब्रह्मा का आनन्द है, वह सब आनन्द काम के प्रतिघात से रहित—निष्काम वीतराग श्रोत्रिय-विद्वान् महापुरुष को प्राप्त होता है' इस पर्यन्त के ग्रन्थ से—मानुष्यानन्द से आरम्भ करके शत-शत-गुणा उत्तर-उत्तर-आनन्द के उत्कर्ष-अभिवृद्धि को भजने वाली—हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा के आ-नन्द-पर्यन्त—जो आनन्द की मात्राएँ हैं, उनका तारतम्य—चित्त की उपशान्ति एवं शुद्धि का तार-तम्य है निमित्त जिसमें—ऐसे उसके—सुख के साधनों का अभाव होने पर भी—निष्काम-विद्वान्-ब्रह्म-निष्ठ में—अनुभव का प्रतिपादन किया है। जैसे जैसे बुद्धि उपशम को प्राप्त होती जाती है, तथा शुद्ध होती जाती है, तैसे तैसे स्वस्वरूपभूत ही

विभातीति स्फुटमुपदिदेश । यदुक्तं-आत्मभूतस्य सुखस्य सदा सिद्धत्वात् नित्यत्वाच्च, जगति केनापि दुःखं नानुभूयेत; सुखार्थं साधनान्वेषणा च विलुप्येत इति । अत्रोच्यते-सदासिद्धस्य नित्यस्याप्यात्मभूतस्य सुखस्यावरणशक्तिमत्याऽविद्ययाऽऽच्छादितत्वात्; विक्षेपशक्तिमत्या तया तद्विपरीतस्य दुःखस्योद्भासितत्वाच्च; तदनुभवो न विरुध्यते । अत एव साधनान्वेषणाऽपि सुखाभिव्यञ्जकत्वेनाऽर्थवत्येव; सुखस्य नित्यसिद्धत्वेऽप्याविद्यकचित्तोपाधिमलेनानभिव्यक्तत्वात्; ससाधनेन पुरुषप्रयत्नेनोपाधिनैर्मल्यापादने सति तदभिव्यक्तिसम्भवात् साधनान्वेषणा न लुप्ता स्यात् । तस्मान्मूढैः कल्पितं विषयसुखमपि वस्तुतः स्वरूपसुखमेव न ततोऽतिरिक्तमिति सिद्धम् । तथा च तदेवात्मभूतं सुखं स्वापे जागरे च समनुप्राप्य सर्वे जीवा अभिनन्दन्ति । ये च किल महाभागास्तद्यथावद्विज्ञाय तत्स्वस्वरूपेणास्वादयन्ति, ते हि शोकमोहरहिताः कृतकृत्या भवन्ति, ये हि मन्दमतयः तदजानन्तो विषयसुखमेव परमार्थसुखमिति निश्चित्य तत्रासज्जन्ते, ते खलु विषयेन्द्रियपरवशाः प्राप्ते चाप्राप्ते च विषये मोहशोकान्विताश्च सन्तः पुरुषार्थभ्रष्टा भवन्तीति विशदविस्तृताशयमभिव्यञ्जयन् संक्षेपेण तदाह—

सुख सर्वत्र विभासित होता है ऐसा स्पष्ट पूर्वोक्त तैत्तिरीय-श्रुति ने उपदेश दिया है । जो पूर्ववादी ने कहा था कि-आत्मरूप सुख सदा सिद्ध है, एवं नित्य है, इसलिए जगत् में किसी प्राणी से भी दुःख का अनुभव न होगा, और सुख के लिए साधनों की खोज भी विलुप्त हो जायगी । इति । इस शंका का समाधान के लिए कहते हैं-सदा सिद्ध-नित्य भी आत्मरूप सुख, आवरणशक्ति वाली अविद्या से आच्छादित है, और विक्षेपशक्ति-वाली-उस अविद्या से-सुख से विपरीत दुःख उद्भासित है, इसलिए दुःख का अनुभव विरुद्ध नहीं है । अत एव आच्छादित सुख की अभिव्यक्ति के लिए साधनों की अन्वेषणा भी सार्थक ही है । आत्मस्वरूप सुख नित्यसिद्ध होने पर भी आविद्यक चित्तरूप उपाधि के मल से अभिव्यक्त नहीं होता है, इसलिए साधन-सहित-पुरुष के प्रयत्न से उपाधि को निर्मल करने पर उस सुख की अभिव्यक्ति हो सकती है । एवं साधन की अन्वेषणा भी विलुप्त नहीं होती है । इसलिए मूढ़ों से कल्पना किया गया-विषयसुख भी वस्तुतः स्वरूपसुख ही है, उससे अतिरिक्त नहीं है, ऐसा सिद्ध हुआ । तथा च वही आत्मरूप-सुख स्वप्न में एवं जाग्रत् में सम्यक्-प्राप्त करके सब जीव आनन्दी हो जाते हैं । जो कोई महाभाग्यवान् उस सुख के स्वरूप को यथार्थ रूप से जान करके स्वस्वरूप से उसको प्राप्त करते हैं, वे विद्वान् निश्चय ही शोक-मोह से रहित हुए कृतकृत्य हो जाते हैं । जो मन्दमति-पामर मनुष्य हैं, वे स्वरूप-सुख को नहीं जानते हुए-'विषयों का तुच्छ-सुख ही परमार्थसुख है' ऐसा निश्चय करके उसमें आसक्त हो जाते हैं, वे निश्चय से विषय एवं इन्द्रियों के परवश हुए-प्राप्त एवं अप्राप्त-विषय में मोह-शोक से संयुक्त हुए-पुरुषार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं, ऐसे विशद एवं विस्तृत-आशय को प्रकट करता हुआ मन्त्र संक्षेप से उसका प्रतिपादन करता है—

ॐ सर्वे नन्दन्ति यशसाऽऽगतेन, सभासाहेन सख्या सखायः ।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषा–मरं हितो भवति वाजिनाय ॥

(ऋग्वेद, मण्ड. १० सूक्त. ७१ ऋक्. १०)

'अखण्ड-सत्य-आनन्द-निधि-परमात्मा की प्राप्ति होने पर ही सब जीव आनन्दी हो जाते हैं, जो परमात्मा सब जीवों का आनन्दप्रद-उपकारी सखा है, एवं जो विषय-प्रकाशक-चक्षुरादि-इन्द्रियों को सुषुप्ति में अपने में विलीन कर देता है। उसके सब जीव सखा हैं, सत्-चित् एवं आनन्दरूप से समान ही प्रतीत होते हैं। जो इन जीवों के मध्य में शिश्नोदरपरायण-विषयासक्त-पामर मनुष्य है, वह केवल किल्बिषरूप-दुःख का ही अनुभव करता है, क्योंकि–वह इन्द्रियों के विषयाभिमुखी-अपार-वेग की पूर्ति के लिए अहर्निश अतिशय करके तत्पर रहता है।'

यशसा=परमात्मना ब्रह्मणाऽऽनन्दनिधिना 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।' (श्वे. ४।१९) इति श्रुतेः। आगतेन=अधिगतेन–प्राप्तेन कृत्वा सर्वे=जीवाः प्राणधारिणो नन्दन्ति=परमानन्दिनो भवन्ति। यथा नृपशुपक्षिप्रभृतयः सर्वे जीवाः सुषुप्तौ विषयसम्बन्धं विनापि तमेव सत्यानन्दनिधिं प्राप्य परमसुखिनो भवन्ति, तथा जागरेऽपि विषयान् सम्पाद्य तदिच्छाञ्च परिहायान्तर्मुखमनोवृत्तिञ्च विधाय तत्र प्रतिबिम्बभूतं तमेव प्राप्य परमसुखिनो भवन्तीति तात्पर्यार्थः। यद्वा यथा सुषुप्तौ बाह्यविषयाकारवृत्त्युपशमे सति आत्मैकाकारवृत्तौ सत्यां सर्वे जीवाः परमं सुखं प्राप्यानन्दिनो भवन्ति, तथैव जागरेऽपि योगाभ्यासेनात्मैकाकारवृत्तौ सम्पादितायामपि तथैव भवन्तीति भावः। तदुक्तं

यश यानी आनन्दनिधि-ब्रह्म-परमात्मा। 'उसकी कोई प्रतिमा यानी सादृश्य-नहीं है, जिसका नाम महान् यश है।' इस श्वेताश्वतर श्रुति से भी परमात्मा का बोधक यश नाम है, ऐसा सिद्ध होता है। उसको अधिगत-प्राप्त करके सब प्राणधारी जीव परम आनन्दी हो जाते हैं। जिस प्रकार मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब जीव, सुषुप्ति में विषय-सम्बन्ध के बिना भी उसी ही सत्य-आनन्दनिधि को प्राप्त करके परम सुखी हो जाते हैं, तथा जाग्रत् में भी विषयों को सम्पादन करके विषयेच्छा का परित्याग करके एवं मन की वृत्तियों को अन्तर्मुख-एकाग्र बना करके, उनमें प्रतिबिम्बरूप से प्रतिभासमान हुए उसी ही परम आनन्द को प्राप्त करके परमसुखी हो जाते हैं, यह तात्पर्यरूप अर्थ है। यद्वा जैसे सुषुप्ति में बाह्य-विषयाकार-वृत्तियों का उपशम होने पर आत्मा के साथ एकाकारवृत्ति के होने पर सब जीव परमसुख को प्राप्त करके आनन्दी हो जाते हैं, तैसे ही जाग्रत् में भी योगाभ्यास द्वारा आत्मा के साथ एकाकार-वृत्ति का सम्पादन करने पर सब जीव सुषुप्ति की भाँति परमानन्दी हो जाते हैं, यह भाव है। यह भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में भी कहा है–'हे अर्जुन! जिस अवस्था में परमात्मा के

भगवता-'यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥' (गी. ६।२०।२१) 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥' (गी. ६।२५) इति। किंभूतेन यशसा ब्रह्मणा? सभासाहेन=समान्-भया-दीप्त्या सह वर्तन्ते इति सभाः-तान्-तेजोरूपान्-अर्थप्रकाशकान्-चक्षुरादीन्-सहते=आक्रमते-सुषुप्तौ अन्तर्गृह्णीते स तथा-चक्षुरादीनन्तर्गृह्णता-आक्रमता तेन। 'गृहीता वाक् गृहीतं चक्षुः' (बृ. २।१।१७) इति श्रुतेः। पुनः कथंभूतेन? सख्या=उपकारकेण, बहिरपि जागरे विषयेन्द्रियसंयोगद्वारा सुखाभासानुभवलक्षणभोगप्रदानेन सर्वत्रारादुपकर्त्रा इत्यर्थः। यद्वा सख्या=सच्चिदादिसमानलक्षणेन। किंभूताः जीवाः? सखायः=समानख्याना नान्यादृशख्याना विक्षेपाशुद्धिरूपप्रतिबन्धापगमे सति तत्समानज्ञानसुखानुभवाः इत्यर्थः। अथ एषां=

ध्यान से शुद्ध-हुई-सूक्ष्म-एकाग्र बुद्धि द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ यह साधक मुमुक्षु सच्चिदानन्दघन परमात्मा में ही संतुष्ट होता है। तथा एकाग्र-शुद्ध-बुद्धि द्वारा ग्रहण-अनुभव करने योग्य-जो इन्द्रियों से अतीत-अनन्त-आनन्द है, उसको जिस अवस्था में साधक अनुभव करता है, और जिस ब्राह्मी-निष्ठा में स्थित हुआ यह योगी परमात्म-स्वरूप से चलायमान नहीं होता है।' 'मन को सत्यानन्द-निधि अपने आत्मा में स्थिर करके उसके अतिरिक्त और कुछ भी चिन्तन न करे।' इति। किस प्रकार का यश-ब्रह्म है? सभासाह है; सभा यानी भा-दीप्ति-प्रकाश के सह जो वर्तमान हैं, वे तेजोरूप-अर्थप्रकाशक-चक्षुरादि-इन्द्रियाँ 'सभा' नामसे कही जाती हैं, उनको जो सुषुप्ति में सहन-आक्रमण-अन्तर्ग्रहण करता है, अर्थात् अपने में विलीन करता है, वह ब्रह्म सभासाह है। 'उस आत्मा से वाणी ग्रहण की गई, एवं चक्षु भी ग्रहण किया गया।' इस बृहदारण्यक श्रुति से भी पूर्वोक्त-अर्थसिद्ध होता है। पुनः वह यश-ब्रह्म कैसा है? सखा है-उपकारक है, बाहर जाग्रत् में भी विषय एवं इन्द्रियों के संयोग-सम्बन्ध द्वारा सुखाभास का अनुभवरूप-भोग के प्रदान द्वारा सर्वत्र आरात् यानी दूर एवं समीप में भी सभी जीवों का उपकारकर्ता-सखा है। यद्वा सखा यानी सत्-चित् आदि समान-एक प्रकार का-लक्षण वाला है। उस-सखा-सभासाह-यश ब्रह्म को प्राप्त करके सब जीव जाग्रत में एवं सुषुप्ति में आनन्दी हो जाते हैं, ऐसा पूर्व की साथ अन्वय है। उसके अखण्ड-आनन्द का अनुभव करने वाले जीव किस प्रकार के हैं? सखा हैं, समानरूप से सत्-चित्-आनन्द रूप से जिन्हों का ख्यान-भान है, अन्य प्रकार के विषम-ख्यान से रहित हैं वे, अर्थात् विक्षेप एवं अशुद्धिरूप-प्रतिबन्ध की निवृत्ति होने पर वे सब जीव उस परमात्मा के समान ही ज्ञान एवं आनन्द के अनुभव करने वाले हो जाते हैं। अब इन-जीवों के मध्य में जो मूढमति-

जीवानां मध्ये यो मूढमतिः, पितुपणिः=पितुरित्यन्ननाम, तं सनोति=गृह्णाति यः सः—केवलमुदरंभरः—जठरभृतिकृतेऽन्नादिविषयभोगार्थं बहिर्विवरात्ते—इन्द्रियाणि विषयसुखेन तर्पयितुं तदासक्तो भवति, सः किल्बिषस्पृत्=किल्बिषं-दुःखं स्पृशति-अनुभवति स तथा-दुःखभागी भवति। हि=बलात्कारणात्, अरं=अत्यर्थं, वाजिनाय=इन्द्रियवीर्याय हितः=तत्परो भवति; विषयेन्द्रियपरवशो भूत्वा विषयाप्राप्तौ शोकं तत्प्राप्तौ च मोहं किल्बिषं भजते इति यावत्। एतदुक्तं भवति-सुखशब्दव्यपदेश्यमात्मसुखमेव सुखम्। विषयेन्द्रियसुखन्तु यद्यपि वस्तुतो दुःखमेव तथापि मूढचेतसां भ्रान्त्या तदादौ सुखरूपेण प्रतीयमानं सदपि परिणामे दुःखमेव भवतीति। यदाहुः—एतस्य मन्त्रस्यानुवादं कुर्वन्तः श्रीमन्तो भगवत्पादा आचार्यश्रीशङ्करस्वामिनः शतश्लोक्यां—'सर्वे नन्दन्ति जीवा अधिगतयशसा गृह्णता चक्षुरादीन्, अन्तः सर्वोपकर्त्रा बहिरपि च सुषुप्तौ यथा तुल्यसंस्थाः। एतेषां किल्बिषस्पृग् जठरभृतिकृते यो बहिर्व्यवाप्ते, त्वक्चक्षुःश्रोत्रनासारसनवशमितो याति शोकञ्च मोहम् ॥ ६६ ॥' इति।

वाला पामर जीव है, जो पितुसनि है यानी केवल-उदरंभरी है। 'पितु' यह अन्न का वाचक नाम है, उसको जो सनोति यानी ग्रहण करता है वह पितुसनि है। अर्थात् जो उदर भरने के लिए—यानी अन्नादि—विषयों के भोग के लिए ही बहिर्मुख होता है, विषयसुख से इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए विषयों में आसक्त होता है, वह किल्बिष यानी दुःख का ही स्पर्श-अनुभव करता है, अर्थात् वह पामर दुःख का ही भागी होता है। क्योंकि—वह अर-अत्यन्त ही वाजिन यानी इन्द्रिय-वीर्य के लिए तत्पर हो जाता है, अर्थात् विषय एवं इन्द्रियों के आधीन हो कर वह मूढ-जीव विषय की अप्राप्ति में शोक एवं उसकी प्राप्ति में मोहरूप किल्बिष का सेवन करता है। यहाँ यह तात्पर्य कहा गया है—'सुख शब्द से कहने योग्य आत्म-सुख ही वस्तुतः सुख है। विषय-इन्द्रिय का सुख तो यद्यपि वस्तुतः दुःख ही है, तथापि मूढ-चित्त वाले—पामरों को वह भ्रान्ति से आदि में सुख-रूप से प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःख ही हो जाता है। इस मन्त्र का अनुवाद करते हुए—श्रीमान्-भगवत्पाद-आचार्य-श्रीशङ्करस्वामी शत-श्लोकी ग्रन्थ में यही कहते हैं—'अन्दर से चक्षु-रादि इन्द्रियों को ग्रहण करते हुए और बाहर से विषय-भोग दे कर सब का उपकार करने वाले—यश-आत्मा के प्राप्त हो जाने पर सभी जीव आनन्दित हो जाते हैं, जिस प्रकार कि—सुषुप्ति में सभी जीव उसमें समान भाव से स्थित हुए आनन्दित हो जाते हैं। जो जीव इस महान्-ब्रह्मानन्द को छोड़ कर पेट पालने के लिए बहिर्मुख-विषयासक्त होता है, वह इन विषयों के दुःख का भागी बनता है, और त्वचा, चक्षु, श्रोत्र, नासिका एवं रसना आदि इन्द्रियों के वशीभूत हो कर शोक एवं मोह को प्राप्त होता है।' इति।

अथाधिदैवरीत्या व्याख्यानं-सखायः= समानख्यानाः-समानज्ञानाः सर्वे सभ्या मनुष्याः, सभासाहेन=सभां सोढुं शक्नुवता सख्या=ऋत्विजां प्रतिनिधिभूतेन यज्ञं प्रत्यागतेन, यशसा=यशस्विना सोमेन हेतुना, नन्दन्ति=हृष्टा भवन्ति। स हि=स एव सोमः, एषां=जनानां किल्बिषस्पृक्=पापनाशकः-यः स्वस्मादन्यः पुरुषः श्रेष्ठतामश्नुते, स किल्बिषं भवति बाध्यत्वेन, यथा पापं सदाचारैर्बाधितव्यं भवति। तद्वत्पापरूपस्य शत्रोर्बाधकोऽयम्। यद्वा यज्ञे साध्वनुप्रवचनाकरणेन यत्किल्बिषमेषां ज्ञायते, तद्यो बाधते स किल्बिषस्पृक्। तथा पितुषणिः= पितुः-अन्नं दक्षिणा वा तमनेन सोमेन सनोति यजमानः संभजत इति। तादृशः तेषामन्नदक्षिणादातेत्यर्थः। किञ्च हितः= पात्रेषु निहितः सोमः, वाजिनाय=इन्द्रियवीर्याय, तत्कर्तुं, अरं=अलं-पर्याप्तः समर्थो भवति। 'यशो वै सोमो राजा' इत्यादिकं निरुक्तं (१।८) 'इन्द्रियं वै वीर्यं वाजिनम्' इत्यादिकं ब्राह्मणं (ऐ. ब्रा. १।१३) चात्रानुसन्धेयम्।

अब अधिदैव की रीति-प्रणाली से इस मन्त्र का व्याख्यान करते हैं-सखा-यानी समान-ख्यान-ज्ञान वाले सभी सभ्य-मनुष्य-सभासाह यानी सभा को सहन करने की शक्ति वाला-सखा जो ऋत्विजों का प्रतिनिधिरूप है, जो यज्ञ के प्रति आया हुआ यशस्वी सोम है, उसके निमित्त से-हर्षित हो जाते हैं। वही सोम इन जन-मनुष्यों के किल्बिषरूप-पाप का नाशक है। जो कोई अपने से भिन्न-पुरुष, श्रेष्ठत्व को प्राप्त होता है, वह बाध्य होने से किल्बिषरूप हो जाता है। जिस प्रकार सदाचरणों से पाप बाधने योग्य होता है, तद्वत् यह सोम पापरूप-शत्रु का बाधक-नाशक है। यद्वा यज्ञ में साधु-प्रवचन-वेदमन्त्रों का उच्चारण-अनुशासन आदि अच्छा न करने पर इन ऋत्विजों में किल्बिष जाना जाता है, उसका जो बाध-निवारण करता है, वह सोम किल्बिषस्पृक् है। तथा वह पितुषणि है, पितु यानी अन्न या दक्षिणा, उसका जो यजमान सोम के द्वारा सनोति-यानी सम्यक् सेवन करता है, अर्थात् उस प्रकार का वह उनको अन्न एवं दक्षिणा का दाता है। और यह हित यानी पात्रों में रक्खा हुआ रसरूप-सोम, वाजिन-यानी-इन्द्रियों के वीर्य का सम्पादन करने के लिए अरं-यानी अलं-पर्याप्त-समर्थ होता है। 'यश निश्चय से सोम राजा है।' इत्यादि निरुक्त का, 'इन्द्रिय ही वीर्य-वाजिन है' इत्यादि ऐतरेयब्राह्मण का यहाँ अनुसंधान करना चाहिए।

(८२)

(वेदस्य सदुपदेशो विनिवार्य विविधान् दोषान् सद्विज्ञानप्रदानेनात्मकल्याणं प्रयच्छति)

(वेद का सदुपदेश, विविध-दोषों का निवारण करके, सद्-विज्ञान के प्रदान द्वारा आत्मकल्याण का प्रदान करता है)

भूयांसि सन्ति भगवतो वेदस्य सन्माहात्म्यवर्णनपराणि–ऋगादिलक्षणानि–अनाद्यविच्छिन्नकालप्रवृत्तानि–सनातनानि–शोकहराणि–हितकराणि–सदुपदेशप्रदानि–वचांसि । तानि यथावदवगम्यमानानि पाषाणहृदयानां नास्तिकानामपि श्रोत्राणि नास्तिक्यलक्षणं बाधिर्यं विचूर्ण्याह्लादयन्ति । अपि च तेभ्यः संप्राप्तेन सद्विज्ञानप्लवेनातिदुस्तरं वृजिनार्णवं पुरातना बहवो महाभागाः समतारिषुः, इदानींतनाः पुण्यजनाश्च सन्तरन्ति; भाविनोऽपि सन्तरिष्यन्तीति शाश्वतोऽयं सद्विज्ञानप्लवो ध्रुवकल्याणप्रापको महामहिमशोभमानो मतिमद्भिरत्यादरेणावलम्बनीयः । किञ्च दृढनिष्ठया सच्छ्रद्धया च हृदये धार्यमाणं तत्सज्ज्ञानं जनं जनार्दनं, शवं शिवञ्च विधातुं क्षमते इत्यभिप्रायं सूचयन्नाह—

भगवान्-वेद के–सदुपदेशप्रद–शोक को हरने वाले–हित कल्याण करने वाले ऋक्-यजु आदि-मन्त्र-रूप बहुत-असंख्य वचन हैं । जो सद्वस्तु की महिमा का वर्णन करने में तत्पर हैं एवं अनादि-अविच्छिन्नकाल से प्रवृत्त-सनातन हैं । यथार्थरूप से जाने गये वे मन्त्ररूप-वचन-पाषाण के समान कठोर हृदय वाले–नास्तिकों के कानों को भी–नास्तिक्य-लक्षण वाली बधिरता का विध्वंस करके आह्लादयुक्त-प्रसन्न बना देते हैं । और उन वचनों से सम्यक् प्राप्त की गई सद्विज्ञानरूपी नौका के द्वारा अति-दुस्तर-पापरूप-संसारसमुद्र को प्राचीन बहुत-महाभाग्यशाली ऋषि-मुनि अच्छी रीति से तर गये हैं एवं इस वर्तमान समय के पुण्यशाली-सज्जन भी तर रहे हैं, तथा आगे के भविष्य में होने वाले भद्र मनुष्य भी सम्यक् तर जायेंगे, इस प्रकार का यह शाश्वत-सद्विज्ञानरूप प्लव (नौका) ध्रुव-कल्याण का प्रापक है, एवं जो महामहिमा से सुशोभित है, उसका विचारशील-मतिमानों को अति-आदर के साथ अवलम्बन करना चाहिए। और दृढनिष्ठा एवं सच्छ्रद्धा के द्वारा हृदय में धारण करने योग्य, वह सच्चा ज्ञान, जन-मनुष्य को जनार्दन-विष्णु, एवं शव-मुरदा-साढे तीन हाथ का शरीररूप बने हुए जीव को शिव-कल्याणरूप परमात्मा बनाने के लिए समर्थ होता है, ऐसे–अभिप्राय की सूचना देता हुआ वेदमन्त्र कहता है—

ॐ ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति । ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द, कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ४ सूक्त. २३ ऋक् ८) (नि. ६।१६+१०।४१)

'ऋत-त्रिकालाबाध्य-सत्य सनातन-वस्तु के प्रतिपादक-शोक के निवारक-वेदों के मन्त्ररूप-महामहिमाशाली-अनादि-परम्परा से प्राप्त हुए–सनातन वचन बहुत-असंख्य हैं । ऋत-सत्य को ही धारण करने वाली-ऋतंभरा-प्रज्ञा, वर्जन करने योग्य–अविद्यादि-पापों का विध्वंस कर देती है । ऋत-सत्य का वर्णन के द्वारा प्रकट होने वाला-यश-महिमा, यदि वह सम्यक्-जाना जाता है; तब वह बहिर्मुख-नास्तिक-मनुष्य के कानों को भी झन-झनाता है, अर्थात् उसके नास्तिक्य को दूर करके उसे सच्चा आस्तिक बना देता है ।'

ऋतस्य=सत्यस्य-त्रिकालाबाध्यस्य-कूटस्थनित्यस्य-सर्वदेवमयस्य-सर्वयज्ञमयस्य-परमात्मनः,प्रतिपादकानि, शुरुधः=श्रोतॄणां शोकनिवारकाणि-वैदिकमन्त्रलक्षणानि महामहिमशालीनि-वचनानि, शुचं=शोकं संरुन्धन्ति इति निर्वचनात्, पूर्वीः=अनादिपरम्पराप्राप्तानि-सनातनानि भूयाँसि-असंख्यानि हि=खलु सन्ति=विद्यन्ते । तथा ऋतस्य=सम्बन्धिनी धीतिः=धार्यमाणा प्रज्ञा-विज्ञानं, वृजिनानि=वर्जनीयानि-पापानि, अविद्यादिक्लेशलक्षणानि वा हन्ति=हिनस्ति-नाशयति । तथा ऋतस्य श्लोकः=यशः-विद्वद्भिराचार्यप्रवरैरत्यादरेणाजस्रमधिकारिभ्यो वर्ण्यमानस्तन्महत्त्वविशेष इत्यर्थः । स यदि बुधानः=बुध्यमानः, तपसा साधनेन यथावदवगम्यमानः स्यात् 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' (तै. ३।२) इति श्रुतेः । तच्च तपो बाह्यान्तःकरणसमाधानं, तद्द्वारकत्वात्सत्यब्रह्मप्रतिपत्तेः । 'मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः ।' (म. भा. शां. प. २५।४) इति स्मृतेः । तदा स खलु शुचमानः=दीप्यमानः-ध्याननिष्ठया हृदयेऽन्तः सततं प्रकाशमानः परमपुमर्थं

ऋत-यानी सत्य जो त्रिकालाबाध्य-कूटस्थ-नित्य-सर्वदेवमय-एवं सर्वयज्ञमय परमात्मा-भगवान् है, उसके प्रतिपादक-वैदिकमन्त्ररूप-महामहिमाशाली-वचन-जो शुरुध यानी अधिकारी-श्रोताओं के शोक के निवारक हैं,-शुच्-यानी शोक का जो सम्यक् रोधन-निवारण करते हैं, वे शुरुध कहे जाते हैं, ऐसा उसका निर्वचन है। वे वचन पूर्वी यानी अनादि-गुरु शिष्य की परम्परा से प्राप्त-सनातन भूयांसि यानी असंख्य हैं । तथा ऋत-सत्य से सम्बन्ध रखने वाली-सत्य को ही धारण करने वाली प्रज्ञा-विज्ञान-बुद्धि है, वह वृजिन यानी वर्जनीय पापों का या अविद्यादि क्लेशरूप-वर्जनीय-वृजिनों का हनन-नाश कर देती है। तथा ऋत-सत्य का श्लोक यानी यश, अर्थात् जो विद्वान्-आचार्य्य-प्रवरों के द्वारा अति आदर से निरन्तर अधिकारियों के लिए वर्णन किया जानेवाला-उसका महत्त्वविशेष है । वह यदि बुधान यानी बुध्यमान-तपरूप साधन के द्वारा यथावत् जाना जाता हो। 'तप से ब्रह्म को विशेषरूप से जानने की इच्छा कर।' 'इस तैत्तिरीय श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। वह तप बाहर एवं अन्तर की करण-इन्द्रियों का समाधान-एकाग्रतारूप है,क्योंकि-उसके द्वारा ही सत्य-पूर्णाद्वैत-ब्रह्म की प्रतिपत्ति यानी अपरोक्ष-अनुभव होता है। 'मन एवं इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप है।' इस महाभारत-शान्तिपर्व के स्मृतिरूप वचन से भी यही सिद्ध होता है। उस समय वह जाना गया ऋत सत्य का महत्त्वविशेष, निश्चय से शुचमान यानी दीप्यमान-ध्याननिष्ठा के द्वारा निर्मल हृदय के भीतर निरन्तर प्रकाशमान हुआ परमपुमर्थ-मोक्ष को सिद्ध करता है, इतना

साधयतीति शेषः। अपि च तस्य लोकदृष्टमपि फलमाह–स च श्लोकः तत्त्वदर्शिज्ञानिमहात्मसकाशात् श्रूयमाणः, आयोः=बहिर्गमनशीलस्य सत्यविमुखस्य पाषाणहृदयस्य नास्तिकस्यापि मनुष्यस्य, बधिरा=बधिरौ नास्तिक्यविचिकित्सादिदोषेण प्रतिरुद्धौ–अतिदुर्भेदौ कर्णा=कर्णौ, तत्र्द=तर्दति, नास्तिक्यसंशयादिलक्षणं बाधिर्यं हत्वा तस्य हृदयान्तः प्रविशतीत्यर्थः। वेदार्थावबोधो नास्तिकमप्यास्तिकं बहिर्मुखमप्यन्तर्मुखं मूढमपि प्राज्ञं करोतीति यावत्। अत एव तस्या महाभागाया वेदवाण्या एतादृशं महत्त्वमनुसंदधानास्तामेव प्रार्थयमानाः शिष्टा आहुः–'यामृषयो मन्त्रकृतो मनीषिणोऽन्वैच्छन् हि देवाः तपसा श्रमेण। तां देवीं वाचं हविषा यजामहे सा नो दधातु सुकृतस्य लोके॥' इति। हविषा=तत्प्राप्तिसाधनब्रह्मचर्यादिना यजामहे=सम्पादयाम इत्यर्थः। यद्वा–हविषा=तदाराधनद्रव्येण यजामहे=पूजयाम इत्यर्थः॥

शेष वाक्य है। और उसके लोकदृष्ट फल का भी प्रतिपादन करते हैं–वह श्लोक, यदि तत्त्वदर्शी-ज्ञानवान्-महात्मा के समीप से श्रूयमाण होवे तो आयु यानी बहिर्गमनशील-सत्य विमुख-पाषाण-हृदय-नास्तिक-मनुष्य के भी बधिर यानी नास्तिकता विचिकित्सा-आदि दोष से प्रतिरुद्ध-अतिदुर्भेद्य–कानों का तर्दन-ताडन करता है, अर्थात् नास्तिक्य-संशय आदिरूप–बाधिर्य का विध्वंस करके उसके हृदय के मध्य में प्रविष्ट हो जाता है। वेदार्थ का अवबोध, नास्तिक को भी आस्तिक, बहिर्मुख को भी अन्तर्मुख, मूढ को भी प्राज्ञ बना देता है। अत एव उस-महाभाग्य-शालिनी-वेदवाणी के इस प्रकार के महत्त्व का अनुसंधान करते हुए–उसीकी ही प्रार्थना करते हुए–शिष्ट विद्वान् कहते हैं–'मन्त्र-द्रष्टा-मनीषी-पवित्र बुद्धि वाले–ऋषि, तथा देवगण, तपरूप प्रयत्न से जिस वाणी की खोज करते रहे। उस-देवी भगवती-वाणी का हम हवि के द्वारा यजन करते हैं, वह हमें पुण्य के लोक-आनन्दधाम में स्थापन करे।' इति। हविषा यानी उसकी प्राप्ति के साधन-ब्रह्मचर्यादि के द्वारा हम यजन करते हैं अर्थात् उसका सम्पादन करते हैं। यद्वा हवि यानी उस वाणी के आराधन-द्रव्य से यजन-उसका पूजन करते हैं।' इति।

(८३)

(स्वयंज्योतिःस्वरूपा चितिशक्तिरेव स्वाश्रितं सर्वं विश्वमवभासयति)

(स्वयंज्योति स्वरूपा चितिशक्ति ही अपने आश्रित-सर्व विश्व का अवभासन करती है)

ॐ इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं, विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत्।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो अच्युतम्॥

(ऋग्वेद मण्ड १० सूक्त १७० मन्त्र ३) (साम १४५५)

'यह साक्षात्-अपरोक्ष-चैतन्य-ज्ञान ही प्रकाशक-सूर्यादि-ज्योतियों के मध्य में उत्तम-श्रेष्ठ-स्वयंप्रकाश-भर्ग-ज्योति है। यह बृहत्-महान्-पूर्ण है, समस्त विश्व का स्ववशस्थापनरूप-जय-अभिभव करता है, तथा मणि-माणिक्यादिरूप धन-का भी स्वकीय-मनोरम-कान्ति-प्रदान द्वारा जय-अभिभव करता है, ऐसा विद्वानों से कहा जाता है। यह विश्व का प्रकाशक, स्वत. स्वयंप्रकाशमान है, एवं महान् सूर्यरूप है। उसके दर्शन के लिए वह व्यापक, तमः-अज्ञानान्धकार का अभिभावक-अच्युत-सच्चिदानन्दरूप-तेज सर्वत्र विस्तृत हुआ है।'

इदं=साक्षादपरोक्षं, श्रेष्ठं=प्रशस्ततमं, ज्योतिषां=सर्वप्रकाशकानां भौतिकानामादित्यादीनामपि ज्योतिः=अवभासकमभौतिकं तद्विलक्षणं, आदित्यादीनामपि ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वं स्वान्तर्गतस्वाधिष्ठानब्रह्मात्मचैतन्यज्योतिर्निमित्तम्। तद्धि ज्योतिः उत्तमं=सर्वोत्कृष्टं—यदन्यानवभास्यं स्वयं सर्वावभासकम्। अत एव तत् विश्वजित्=विश्वस्य सर्वस्य चराचरलक्षणस्य, जेतृ=अभिभवितृ, यतस्तस्यैव सर्वस्य विश्वस्य स्ववशे स्थापकत्वात्। तथा तत्—धनजित्=मणिमाणिक्यादिलक्षणस्य प्रकृष्टमनोरमदीप्तिविशिष्टस्य धनस्य जेतृ=अभिभवितृ यतस्तस्यैव तत्कान्त्यवभासनिमित्तत्वात्। तथा तत् बृहत्=महत् व्यापकं निरवधिकमनन्तमपारं, उच्यते=एवंगुणविशिष्टं तदिति सर्वैः सूक्ष्मदर्शिभिर्विपश्चिद्वरैरभिधीयते। अपि च तदेव, विश्वभ्राट्=विश्वस्य प्रकाशयिता, भ्राजः=भ्राजमानः स्वतःप्रकाशमानः, महि=महान्, सूर्यः=प्रसविता—प्रेरयिता आत्माऽस्ति। तदेतद्भागवतेऽपि स्मृतं भवति—'एक एव हि लोकानां सूर्य आत्माऽऽदिकृद्धरिः। सर्ववेदक्रियामूलमृषिभिर्बहुधोदितः॥' (भा. १२।११।३०) इति। तस्य

इदं यानी साक्षात्-अपरोक्ष, श्रेष्ठ यानी अतिप्रशस्त, सर्वप्रकाशक-भौतिक-सूर्यादि-ज्योतियो के मध्य मे उनका अवभासक-उनसे विलक्षण-अभौतिक-भर्ग-ज्योति है। आदित्यादि-ज्योतियों में भी जो ज्योतिष्ट्व है, वह अपने-अन्तर्गत-अपना अधिष्ठान-रूप-ब्रह्मात्म-चैतन्यज्योति के निमित्त-कारण से ही है। वही ज्योति उत्तम-सर्व से उत्कृष्ट-प्रशस्त है, जो अन्य ज्योतियों से अनवभास्य-प्रकाश्य न हो कर स्वयं सर्व का अवभासक हो। अत एव वह ब्रह्म-ज्योति, विश्वजित् है, अर्थात् सर्व चराचररूप-विश्व की जेत्री-अभिभवित्री है, क्योंकि—वही परमात्म-ज्योति समग्र विश्व को अपने वश में स्थापन करके रखती है। तथा वह ज्योति धनजित् है, प्रकृष्ट-मनोरम-दीप्ति-कान्ति से सयुक्त—मणि-माणिक्यादि-रूप-धन की भी जेत्री-अभिभवित्री है। क्योंकि—वही उस धन की प्रकृष्ट-कान्ति के अवभास का निमित्त है। तथा वह भर्गज्योति बृहत् यानी महान्-व्यापक-अवधिरहित-अनन्त-अपार है, इस प्रकार के गुणो से वह विशिष्ट है, ऐसा सूक्ष्म-दर्शी-समी-श्रेष्ठ-विद्वानो से कहा जाता है। और वह विश्वभ्राट् है—समस्त-विश्व का प्रकाशक है, ओर स्वय भ्राज—भ्राजमान-स्वतः प्रकाशमान है, और वह महान्-विश्व का प्रसविता-उत्पादक-प्रेरक सूर्य-आत्मा है। वही यह श्रीमद्भागवत में भी स्मृत होता है—'आदि-कर्त्ता-हरि-एक ही आत्मारूप-सूर्य, समस्त-लोकों का प्रकाशक है और वही वेदो की समस्त-यज्ञादि-क्रिया-ओं का आदिम-मूल है, और वही ज्ञानवान्-ऋषियों के द्वारा बहु प्रकार से कहा जाता है।' इति।

दृशे=दर्शनाय–अनुभवाय, उरु=विस्तीर्णं–व्यापकं सर्वत्र विद्यमानं, सहः=तमसोऽभिभवितृ, अच्युतं=च्युतिरहितं–अप्रच्युतनिजस्वभावं–अविनाशं, ओजः=तेजः स्वतः प्रथमानं सच्चिदानन्दस्वरूपं, पप्रथे=विस्तृतमभूदित्यर्थः। अयं भावः—यथा सूर्येण प्रकाशितं सकलं जगत् सालोकं भवत्प्रवर्तते, तथा तस्मिन् जगन्नाथे सूर्यस्य सूर्ये सर्वावभासके स्वात्मज्योतिषि सत्येव सर्वं विश्वं लब्धसत्ताकं प्राप्तप्रकाशं च सत् प्रवर्तते इति। उक्तञ्च–'आत्मचैतन्यमाश्रित्य देहेन्द्रियमनोधियः। स्वकीयार्थेषु वर्तन्ते सूर्यालोकं जना इव॥' इति। अथवा–यथा वैणविकगीयमानराजाद्यात्मतया 'तद्य इमे वीणायां गायन्ति' (छां. १।७।६) इति श्रुतिप्रसिद्धं वीणागीतिविषयत्वं परमेश्वरस्याभ्युपगम्यते, तथैवानेन मन्त्रेण सर्वलोकदृश्यमानसूर्याद्यात्मतया तस्यैव परमेश्वरस्य लोकदृष्टिविषयत्वाभ्युपगमेऽपि नो नः किञ्चिद्विरुणद्धि। अत एवास्मिन् पक्षे भौतिकसूर्यविषयकमाधिदैवव्याख्यानमपि संगच्छत एवेति।

उसके दर्शन-अनुभव के लिए, उरु यानी विस्तीर्ण-व्यापक-सर्वत्र विद्यमान, सह यानी तमः-अन्धकार का अभिभविता भर्ग, अच्युत-च्युतिरहित-अपना-स्वभाव-असाधारण महत्त्व अप्रच्युत-अविनाशी है, ऐसा ओज-तेज जो स्वतः प्रथमान-प्रसिद्ध-सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह सर्वत्र सदा विस्तृत हुआ है। यह भाव है–जिस प्रकार भौतिक-सूर्य से प्रकाशित-सकल-जगत् सालोक-प्रकाशवान् हुआ प्रवृत्त होता है, तिस प्रकार उस-जगत् का नाथ-स्वामी-सूर्य का सूर्य-सर्व का अवभासक स्वात्म-ज्योतिरूप-भर्ग के होने पर ही समस्त विश्व, प्राप्त-सत्ता वाला एवं प्राप्त-प्रकाश वाला हुआ प्रवृत्त होता है। ऐसा कहा भी है–'जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश का आश्रय करके सब लोक अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं, तिस प्रकार आत्म-चैतन्य भर्ग-ज्योति का आश्रय करके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अपने-अर्थ-प्रयोजनों में प्रवृत्त होते हैं।' इति। अथवा जैसे वीणा बजाने वाले-गायकों के 'द्वारा-गाये जाने वाले-राजादिरूप से–'जो ये वीणा में गाते हैं, वे उसी-परमात्मा को ही गाते हैं।' इस छांदोग्य-श्रुति में प्रसिद्ध-वीणागीति का विषय परमेश्वर ही माना जाता है। तैसे ही इस मन्त्र से समस्त-लोकों से दृश्यमान-सूर्यादिरूप से उसी ही परमेश्वर में लोकदृष्टि की विषयता स्वीकार करने पर भी हमारे सिद्धान्त में कुछ विरुद्ध नहीं होता है। इसलिए इस पक्ष में भौतिक-सूर्य-विषयक-अधिदैव-व्याख्यान भी सम्यक्-उपपन्न हो जाता है। इति।

(८४)

(सर्वदेवमयः परमात्मा नः कल्याणं तनोतु)

(सर्वदेवमय-परमात्मा हमारे कल्याण का विस्तार करें)

परमात्मैव देवताः सर्वाः, यतस्तस्मिन्नेव सर्वस्य देवस्य व्यवस्थितत्वात्। ततः परमात्मभावनया सर्वदेवान् स्वस्तये प्रार्थयते—

परमात्मा ही सर्व देवता है, क्योंकि—उसमें ही समग्र देव विशेषरूप से अवस्थित हैं। इसलिए परमात्मा की भावना से सर्व देवों की स्वस्ति-कल्याण के लिए-प्रार्थना करते हैं—

ॐ स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः, स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः।
स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः, स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ५ सूक्त ५१ ऋक् ११)

'अश्विनीकुमार-देववैद्य हमारे लिए स्वस्ति-कल्याण का समर्पण करें, ऐश्वर्यनिधि भग-देव हमारा स्वस्ति करें। अखण्डिता-अदितिदेवी हमारा स्वस्ति करें। किसी से भी पराजित नहीं होने वाला—शत्रुओं का नाशक-प्राण-बल का दाता पूषादेव भी हमारे में कल्याण की स्थापना करें। तथा स्वर्ग एवं पृथिवी शोभन-प्रज्ञा के समर्पण द्वारा हमारे कल्याण का विस्तार करें।'

नः=अस्मभ्यं; अश्विना=अश्विनौ, देववैद्यौ स्वस्ति=क्षेमं—कल्याणं—स्वाभिप्रेतमभ्युदय-निःश्रेयसलक्षणं,मिमीतां=कुरुताम्। द्विवचनं कर्तृपदमनुरुध्य वचनव्यत्ययेन मिमातां-कुर्वातामित्यर्थः। भगः=ऐश्वर्यनिधिर्देवः स्वस्ति मिमीताम्। तथा देवी—अदितिः=अखण्डिता देवशक्तिः च स्वस्ति मिमीताम्। अनर्वणः=केनाप्यनुपद्रुतोऽनभिभूतो देवः, पुषा=पोषकः, असुरः=शत्रूणां निरसिता—प्राणानां बलानां दाता वा, नः=अस्मभ्यं-कल्याणकामेभ्यः स्वस्ति दधातु=समर्पयतु। तथाऽस्मभ्यं द्यावापृथिवी=द्यावापृथिव्यावपि सुचेतुना=शोभनेन प्रज्ञानेन कृत्वा स्वस्ति मिमीताम्। शोभनं विज्ञानं समर्प्य नः कल्याणं तनुतामिति यावत्।

नः—यानी हमारे लिए—अश्वी जो देवों के वैद्य-अश्विनीकुमार हैं, वे स्वस्ति यानी क्षेम-कल्याण—जो अपने से अभिप्रेत-अभ्युदय-निःश्रेयसरूप है, उसको करें। द्विवचन वाले 'अश्विनौ' इस कर्तृपद का अनुरोध करके 'मिमीता' इस वचन के व्यत्यय से 'मिमाता' का अर्थ कुर्वाताम् है। भग यानी ऐश्वर्यनिधि देव स्वस्ति करे। तथा देवी अदिति—जो अखण्डिता देवशक्ति है, वह स्वस्ति करे। अनर्वण यानी किसी से भी उपद्रुत-अभिभूत न होने वाला-पोषणकर्ता पूषादेव, जो शत्रुओं का निरास-कर्ता या प्राणों का—बलों का दाता—असुर है, वह हम-कल्याणकामियों के लिए स्वस्ति-कल्याण का समर्पण करें। तथा हमारे लिए, द्यौ-स्वर्ग एवं पृथिवी, सुचेतु यानी शोभन प्रज्ञान के द्वारा स्वस्ति करें, अर्थात् शोभन विज्ञान को समर्पण करके हमारे कल्याण का विस्तार करे।

इदमत्र प्रत्येतव्यम्—परमात्मसम्बन्धादेव देवताः स्तूयन्ते, अतो देवतास्तुतिभिः परमार्थतः परमात्मैव स्तूयतेऽस्माभिर्वेदमन्त्रैः। तदेतत्—दृष्टान्वितं निरुक्ते यास्कमहर्षिणा—'राजसंयोगाद्युद्धोपकर-

यहाँ यह रहस्य जानना चाहिए—परमात्मा के सम्बन्ध से ही देवता स्तुत होते हैं, इसलिए देवताओं की स्तुतियों से परमार्थतः परमात्मा ही हमारे द्वारा वेदमन्त्रों से स्तूयमान होता है। निरुक्त में यास्कमहर्षि ने इस विषय का दृष्टान्त के द्वारा वर्णन

णानि' (९।१२) यथा युद्धोपकरणानि राजसम्बन्धात् स्तुतिं लभन्ते, तस्य तान्यङ्गानीति मत्वा, युद्धोपकरणस्तुतिभिर्वस्तुतो राजा एव स्तूयते। तद्वत् देवता अप्यात्मसम्बन्धात्स्तूयन्ते, ताः सर्वाः तद्विभूतिशक्तिविशेषरूपा देवतास्तस्याङ्गप्रत्यङ्गभावेनावस्थिताः सन्तीति मत्वा। तस्मात् देवतास्तुतिभिः सोऽयमात्मैव महान् अङ्गप्रत्यङ्गभावेनावस्थितः सर्वावस्थाता स्तूयते, इत्यात्मस्तुतिरेवेयं सर्वा। तदुक्तं—'स्थाने स्थाने स्तुतिः सर्वा स्थानाधिपतिभागिनी। आत्मप्रतिष्ठा बोद्धव्या यथोपकरणस्तुतिः॥' इति।

किया है—'राजा के सम्बन्ध से जैसे युद्ध के उपकरण साधन-शस्त्रास्त्रादि।' जिस प्रकार युद्ध के उपकरण राजा के सम्बन्ध से स्तुति को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे उस-राजा के अंग-शेष हैं ऐसा मान कर। युद्ध के-उपकरणों की स्तुतियों से वस्तुतः राजा ही स्तुत होता है। तद्वत् देवता भी आत्मा के सम्बन्ध से स्तूयमान होते हैं, क्योंकि वे सब उसकी विभूति-शक्तिरूप-देवता, उस परमात्मा के-अंग-प्रत्यंगभाव से अवस्थित हैं ऐसा मान कर के। इसलिए देवताओं की स्तुतियों से वही यह आत्मा ही महान् अंग-प्रत्यंगभाव से अवस्थित, सर्व में अवस्थित-हुआ-स्तूयमान होता है, इस प्रकार यह सब आत्मा की ही स्तुति है। वह कहा है—'स्थान स्थान में होने वाली स्तुति स्थान के मुख्य-अधिपति की ही मानी जाती है, जिस प्रकार उपकरण स्तुति, राजा की मानी जाति है, तथा सब देवों की स्तुति, आत्मा में ही प्रतिष्ठित होती है, ऐसा जानना चाहिए।' इति।

(८५)

(सर्वदेवस्तुतयः परमात्मानमेकं सर्वत्रावस्थितमभिद्रवन्ति)

(समस्त-देवों की स्तुतियाँ—एक परमात्मा जो सर्वत्र अवस्थित है—उस के प्रति दौड़ कर पहुँचती है)

एक एव चिदात्मा समायागुणैस्तदवस्थाभेदभूतादिभिश्चानेकोऽनेकदेवादिविशेषोऽनेकविविधगुणक्रियादिप्रवर्तको बभूव; परन्तु तत्र न तत्त्वभेदः कदाचित् क्वाप्यस्ति। अत एव श्रुतिर्भगवती स्तोतॄणां कल्याणाय विविधदेवादिभावेनेममेव चिदात्मानं स्तोतुं बहुधरः प्रवर्तते। अतः परमतत्त्वविद्भिर्मन्त्रदृग्भिर्महर्षिभिर्निहिताः

एक ही चिदात्मा-अपनी माया-शक्ति के सत्त्वादि गुणों से एवं उनकी अवस्था विशेषरूप-भूतादियों से अनेक-अनेक देवादि विशेषरूप-एवं अनेक-विविध गुण-क्रिया-आदि का प्रवर्तक हो गया है। परन्तु उस चिदात्मा में कहीं भी कदाचित् स्वरूप का भेद नहीं है। इसलिए-श्रुति भगवती, स्तुति करने वाले-भक्तों के कल्याण के लिए विविध-देवादि के भाव से इसी ही चिदात्मा की स्तुति करने के लिए बहु धरके प्रवृत्त होती है। अतः परम-तत्त्व को जानने वाले-मन्त्रद्रष्टा-महर्षियों के द्वारा की हुई सर्व देवों की स्तुतियाँ, 'जलों का समुदाय महा-

सर्वदेवस्तुतयः 'पयांसि महोदधिमिव' तदधिष्ठानं परमकारणं परमात्मानमेवाभिगच्छन्तीत्यभिप्रेत्याह—

सागर की भाँति' उन देवों का अधिष्ठान-परमकारण-परमात्मा के अभिमुख ही जाती हैं, ऐसे अभिप्राय से वेद मन्त्र कहता है—

ॐ स्वस्तये वायुमुप ब्रवामहै, सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः।
बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये, स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ५ सूक्त. ५१ ऋक्. १२)

'स्वस्ति-कल्याण के लिए हम विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न-वायु देव की स्तुति-गान करते हैं। भुवन का पति-पालक-जो रसमय-सोम-देव है, उस की भी स्तुति हम कल्याण के लिए करते हैं। सर्व-देवगण का शिक्षक-बृहस्पति की भी स्तुति हम स्वस्ति के लिए करते हैं। द्वादश आदित्य भी हमारी स्वस्ति के लिए अनुकूल-सहायक हों।'

स्वस्तये=क्षेमाय-कल्याणाय, वायुं=पवनं विशिष्टशक्तिसम्पन्नं देवं, उपब्रवामहै=स्तुमः-तद्गुणान् चिन्तयामः-कथयामः-तत्र परमात्मभावनां विधाय मनःसमाहितं वा विदध्म इत्यर्थः। सोमं=रसात्मकं सर्वौषधिपोषकं चन्द्रमसं चोपब्रवामहै। कीदृशः सोमः? यो भुवनस्य=सर्वलोकस्य पतिः=पालकः, तम्; सर्वलोकजीवनस्य सोमायत्तत्वात्। तथा सर्वगणं=सर्वदेवगणोपेतं, बृहस्पतिं=बृहतः-कर्मणो मन्त्रस्य वा पालयितारं देवं स्वस्तये स्तुमः। आदित्यासः=आदित्याः-अदितेः-देवमातुः पुत्राः सर्वे देवा अरुणादयो द्वादश वा नः=अस्माकं, स्वस्तये भवन्तु इत्यर्थः। अनुकूलाः सहायकाश्चेति शेषः।

स्वस्ति-क्षेम-कल्याण के लिए, वायु पवन-जो विशिष्ट-शक्ति से सम्पन्न-देव है, उसकी हम स्तुति करते हैं, उसके गुणों का हम चिन्तन करते हैं-कथन करते हैं—या उसमें परमात्मा की भावना करके मन को समाहित-शान्त-प्रसन्न करते हैं। सोम यानी रसात्मक-समस्त-औषधियों का पोषक-चन्द्रमा का हम उपकथन-स्तुति-गान करते हैं। किस प्रकार का वह सोम है? जो भुवन यानी समस्त-लोक का पति-पालक है, क्योंकि-सर्व लोक का जीवन सोम के आधीन है। तथा सर्वगण यानी सर्व-देवगणों से सयुक्त-बृहस्पति यानी बृहत्-कर्म या मन्त्र का पालन करने वाले-देव की कल्याण के लिए हम स्तुति करते हैं। आदित्य जो-अदिति-देव-माता के पुत्र हैं, या अरुण आदि-द्वादश आदित्य देव हैं, वे हमारे कल्याण के लिए अनुकूल-एवं सहायक हों। इति।

(८६)

(विविधदेवादिरूपेण सर्वत्रावस्थितो भगवानस्मानभिरक्षतु सततम्)

(विविध-देवादिरूप से सर्वत्र अवस्थित-भगवान् निरन्तर हमारा अभिरक्षण करें)

यस्मात्परमात्मदेवात्-व्यतिरिक्तं देवजातं परमार्थतः किञ्चिदपि न विद्यते, त-

जिस कारण से परमात्म-देव से-देवों का समुदाय परमार्थ से कुछ भी व्यतिरिक्त नहीं है, इस-

सात्सर्वदेवात्मको महान्-भगवानेवास्माभिः समाराधनीयः, तदेतदाह भगवान् व्यासोऽपि–'भगवतो विष्णोः सर्वदेवतामयं रूपमहरहः सन्ध्यायां प्रयतो वाग्यतो निरीक्ष्यमाण उपतिष्ठेत ।' (भा. ५।२४।८) इति । 'सर्वदेवमयं देवं सर्ववेदमयं हरिम्।' (भा. ९।१९।४८) इति । अतः स एव क्षेमाय रक्षणाय पापप्रहाणाय च बहुधा अस्माभिः प्रार्थनीय इत्याह—

लिए-सर्व देवरूप-महान्-भगवान् ही हमारे से सम्यक्-आराधना करने योग्य है। वही यह भगवान्-व्यास भी श्रीमद्भागवत में कहते हैं–'भगवान् विष्णु के सर्व देवतामय रूप का–प्रतिदिन प्रातरादि-सन्ध्या के समय में मौन हो कर उपासक निरीक्षण करता हुआ उपस्थान करें।' इति। 'सर्वदेवमय-सर्ववेदमय हरि देव हैं।' इति। इस लिए वही क्षेम के लिए-रक्षण के लिए-पापों के निवारण के लिए-बहु प्रकार से हमारे से प्रार्थना करने योग्य है–यही वेदमन्त्र कहता है—

ॐ विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये, वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये ।
देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये, स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥

(ऋग्वेद. मण्ड ५ सूक्त ५१ ऋक्. १३)

'समस्त-देव, इस समय हमारी स्वस्ति के लिए अनुकूल हो, हमारा रक्षण करें। वैश्वानर वसु-अग्निदेव भी हमारी स्वस्ति के लिए प्रयत्नशील हो। ऋभु स्वर्गनिवासी देव, हमारे कल्याण के लिए हमारा रक्षण करे। रुद्रभगवान् भी हमारे कल्याण की सिद्धि के लिए पाप से हमारी रक्षा करें।'

विश्वे=सर्वे देवाः, नः=अस्मान्, अद्य=अस्मिन् समये, स्वस्तये अवन्तु=रक्षन्तु। वैश्वानरः=विश्वे-सर्वे एनं नरा नयन्तीति वैश्वानरः। वसुः=सर्वस्य वासयिता–आच्छादयिता, अग्निः-देवः। 'अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः' (७।२३) इति निरुक्ते यास्कः। सोऽपि स्वस्तये अवतु। अथवा परमात्माभिप्रायेणेमे वैश्वानरादयो योजनीयाः। तथा हि–'विश्वश्चायं नरो जीवश्च विश्वात्मत्वाद् वैश्वानरः प्रत्यगात्मा, विश्वेषां विकाराणां वा नरः=कर्ता वैश्वानरः तस्य सर्वकारणत्वात्, तद्विकारत्वाद् विश्वप्रपञ्चस्य। विश्वे=सर्वे, नराः=जीवात्मानोऽस्य तादात्म्येन नियम्यत्वेन वा

विश्व यानी सर्व देव, न. यानी हमारा इस समय में स्वस्ति के लिये रक्षण करें। वैश्वानर यानी विश्व-सर्व नर-मनुष्य इस को नयन-प्राप्त करते हैं, इसलिए वह अग्नि वैश्वानर है। वह वसु है यानी सर्व का वासन-आच्छादन करने वाला अग्नि-देव है। 'यही लोकप्रसिद्ध अग्नि वैश्वानर है' ऐसा शाकपूणि आचार्य कहते हैं।' ऐसा निरुक्त में यास्क ने कहा है। वह अग्नि भी स्वस्ति के लिए हमारी रक्षा करें। अथवा परमात्मा के अभिप्राय से ये वैश्वानर आदि पद जोडने चाहिए। तथाहि-योजना बतलाते हैं–विश्व-सर्वरूप एवं जो यह नर-जीवरूप है, वह समस्त-विश्व का आत्मा होने से वैश्वानर प्रत्यक्-आत्मा है। या समग्र-विकार-कार्य पदार्थों का नर-कर्ता वैश्वानर है, क्योंकि यह सर्व विश्व का कारण है, और समग्र-द्वैत-प्रपञ्च उसका विकार-कार्य है। विश्व-सर्व, नर-जीवात्मा हैं, इनके साथ

सन्तीति वैश्वानरः सर्वात्मत्वात् सर्वेश्वरत्वाच्च तस्य । ('रक्ष एव राक्षसः' इतिवत् स्वार्थे तद्धितप्रत्ययः, 'नरे संज्ञायां' इत्यनेन पूर्वपदस्य दीर्घता) अग्निः=विश्वोत्पादकः कर्मफलाध्यक्ष इत्यर्थः । वसुः=सर्वाणि भूतानि यत्र वसन्ति, वसति च यः सर्वभूतेष्विति-सर्वाधिष्ठानः सर्वसाक्षी परमात्मेत्यर्थः । सोऽपि स्वस्तयेऽवतु नः । देवाः ऋभवः=ऋशब्दवाच्ये स्वर्गे भवन्ति-वर्तन्ते इति स्वर्गिणः अपि स्वस्तये अवन्तु । उरु=बहु भान्ति-दीप्यन्ते, ऋतेन-यज्ञेन सत्येन भान्ति वा, ऋतेन-भूत्या देवत्वेन युज्यन्ते इति वा ऋभुपदानेकनिरुक्तेः । रुद्रः=दुःखानि-द्रावयिता देवोऽपि अंहसः=पापात्-स्वस्ति यथा स्यात्तथा पातु=रक्षतु नः=अस्मान् । इति ।

तादात्म्यापन्न, या जिससे ये सब नियम्य हैं, वह वैश्वानर है, क्योंकि-वह सर्वात्मा एवं सर्वेश्वर है । अग्नि यानी विश्व का उत्पादक एवं कर्म फल का अध्यक्ष-व्यवस्थापक वसु यानी सब भूत जिसमें निवास करते हैं, एवं जो सर्व भूतों में निवास करता है, वह सर्व का अधिष्ठान सर्व का साक्षी परमात्मा वसु है । वह भी स्वस्ति के लिए हमारा रक्षण करें । ऋभुदेव-जो 'ऋ' शब्द के वाच्य-स्वर्ग में होते हैं-रहते हैं, इसलिए वे स्वर्गी हैं, वे भी स्वस्ति के लिए हमारा रक्षण करें । या उरु-बहु-अनेक रूप से भासमान-दीप्त-होते हैं, या ऋत-यज्ञ एवं सत्य से भासित होते है, या ऋत यानी देवत्वरूप विभूति से जो युक्त होते हैं, वे ऋभु हैं, इस प्रकार ऋभुपद की अनेक प्रकार की निरुक्ति-व्युत्पत्ति है । रुद्र यानी दु:खों को भगाने वाला देव भी, अंह-पाप से स्वस्ति-जैसे हो वैसे हमारा रक्षण करें । इति ।

(८७)

(पूर्णस्य पुरुषस्यात्मनो विभूतयः सर्वा देवता अस्माकं सुखशान्तिकरा भवन्तु)

(पूर्ण-पुरुष-आत्मा की ही विभूतिरूप सब देवता हमारी शान्ति एवं सुख के करने वाले हों)

निखिलदेवतावृक्षस्य मूलं ब्रह्मैवैकात्म्यमात्मविदां मन्त्रद्रष्टॄणामृषीणां प्रत्यवभासते, अतस्ते तदङ्गप्रत्यङ्गभावेन वर्तमानेषु देवेषु तेष्वेकमात्मानं पश्यन्ति । वास्तवाभेदं विनिश्चिन्वन्तोऽप्यौपाधिकं भेदं प्रकल्प्य लोकसंग्रहार्थं तथैव[1] उपदिशन्ति । संग्रहोऽपि

समग्र देवता रूप वृक्ष का मूल-कारण ब्रह्म ही ऐकात्म्य है, ऐसा मन्त्रद्रष्टा-आत्मवित्-ऋषियों को प्रत्यक्ष अवभासित होता है । इसलिए वे उसके अंग-प्रत्यंग भाव से वर्तमान-उन-देवों में एक-आत्मा का ही दर्शन करते हैं । वास्तविक अभेद का विशेष रूप से निश्चय रखते हुए भी वे ऋषिगण उपाधि-प्रयुक्त भेद की कल्पना करके लोक-संग्रह के लिए-ये सब-देव परमात्मा के अंगभूत हैं, इसलिए परमात्मा की भावना से उनकी भी आराधना करनी चाहिए ऐसा उपदेश करते हैं । उनका ऐसा लोक-संग्रह भी

1 तथैव=परमात्माङ्गप्रत्यङ्गभूता तद्विभूतिशक्तिविशेषरूपा इन्द्रादयो देवा स्वाभ्युदयाय भवद्भिः समाराध्या इत्येवंप्रकारेणेत्यर्थः ।

तेषां सर्वस्य लोकस्य सुखशान्तिसम्पादनानुकूल एव भवति। तस्मात्ते लोकस्याध्यात्मिकादिसन्तापस्य शान्त्यै, ऐहलौकिकपारलौकिकपारमार्थिकसुखाय च विश्ववन्द्यान् सर्वसिद्धिविधायिनः परमात्मरूपान् देवान् पौनःपुन्येन प्रार्थयन्ते—

समस्त लोक-प्राणिसमुदाय के सुख-शान्ति के सम्पादन के अनुकूल ही होता है। इसलिए वे पूज्य-ऋषि, लोक के आध्यात्मिकादि-संतापों की शान्ति के लिए, इस लोक के परलोक के एवं पारमार्थिक-अखण्ड-सुख के लिए विश्व वन्दनीय-समग्र सिद्धियों का विधान करने वाले-परमात्मरूप-देवों की पुनः पुनः करके प्रार्थना करते हैं—

ॐ शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु, शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः, शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ७ सूक्त. ३५ ऋक् ६) (अथर्व. १९।१०।६)

'अष्ट-वसु-देवों के साथ देवेश्वर-इन्द्र हमारे शं-सुख-शान्ति के लिए अनुकूल हो। सम्यक्-स्तुति करने योग्य-वरुणदेव, द्वादश-आदित्यों के साथ हमारे-शं-सुख-शान्ति के लिए प्रसन्न हो। सुखकर-शंकर रुद्र-भगवान् अपने एकादश-रुद्रगणों के साथ हमारे शं-सुख-शान्ति के लिए सहायक हो। देवपत्नियों के साथ त्वष्टा-देव भी हमारे शं सुख-शान्ति के लिए यहाँ हमारी इन प्रार्थनामय-स्तुतियों का श्रवण करें।'

देवः=द्योतनादिगुणयुक्तः, इन्द्रः=देवेश्वरः, वसुभिः=अष्टभिर्देवैः सार्धं, नः=अस्माकं सर्वेषां शं=शान्त्यै सुखाय चानुकूलो भवतु। सुशंसः=शोभनस्तुतिः-संस्तुत्यः—वरुणः=सर्वजनवरणीयो देवः, आदित्येभिः=द्वादशभिरादित्यैः सार्धं, शं=शान्त्यै सुखाय च अस्तु=प्रसन्नो भवतु। जलाषः=लोकरक्षणाय पीतस्य हालाहलस्य विषस्य शान्त्यै शीतलतरं गाङ्गं जलमभिलषतीति जलाभिलाषी गङ्गाधरः। यद्वा जलाषः सुखनामैतत् जलाषः=सुखं वदस्यास्तीति (अर्शआदित्वादच् प्रत्ययः) सुखकरः शङ्कर इत्यर्थः। रुद्रः=दुःखद्रावकः—पार्वतीपतिर्महादेवः, रुद्रेभिः=एकादशभी रुद्रैः सार्धं शं=शान्त्यै, नः=अस्माकं सहायको भवतु। इह=अस्मिन् लोके, त्वष्टा—तु+अष्टा, तु=तूर्णं-क्षिप्रं अश्नुते व्याप्तव्यं

द्योतन-प्रकाशन आदिगुणों से युक्त-देव-देवेश्वर इन्द्र, अष्ट-वसु-देवों के साथ हमारे-सब के-शं-सुख के लिए एवं शान्ति के लिए अनुकूल हो। सुशंस यानी शोभन है स्तुति जिसकी, अर्थात् सम्यक्-स्तुत्य, सर्व जनों से वरण-स्वीकार करने योग्य—वरुणदेव, द्वादश-आदित्यों के साथ शं-शान्ति के लिए एवं सुख के लिए प्रसन्न हो। जलाष यानी समग्र-लोकों की रक्षा के लिए पीये हुए-हालाहल-विष की शान्ति के लिए-अति-शीतल-गंगाजल की जो अभिलाषा करता है, वह जल का अभिलाषी शम्भु-गंगाधर देव जलाष है। यद्वा जलाष यह सुख का नाम है, जलाष-सुख है जिस को, वह जलाष यानी सुखकर-शंकर है। रुद्र यानी दुःखों का द्रावक-निवारक पार्वतीपति-महादेव, एकादश-रुद्रों के साथ शं-शान्ति के लिए हमारा सहायक हो। इस लोक-जगत् में त्वष्टा यानी तु-तूर्ण-क्षिप्र-शीघ्र-व्याप्तव्य-जगत् को जो व्याप्त करता है, वह

जगत् व्याप्नोतीति त्वष्टा, क्षिप्रवाचिनः तूर्णशब्दात् व्याप्त्यर्थस्याश्नोतेर्धातोः रूपम्। यद्वा 'त्विष दीप्तौ' 'तक्षू तनूकरणे' इत्यनयोर्वा रूपं, अतः त्वष्टा=परमदीप्तिमान्-स्वोपासकक्लेशतनुकर्ता आदित्यो वेत्यर्थः। ग्नाभिः=देवपत्नीभिः साधं, नः=अस्माकं, शं=शान्त्यै भवतु। नः-प्रार्थनामयं स्तोत्रं शृणोतु इति।

त्वष्टा है। क्षिप्रवाची-तूर्ण शब्द से व्याप्ति-अर्थ वाले अश्नोति धातु का रूप त्वष्टा बनता है। यद्वा 'त्विष' दीप्ति-अर्थ में, 'तक्षू' तनु-सूक्ष्म करण अर्थ में, इन दो धातुओं का रूप त्वष्टा है। इसलिए त्वष्टा यानी परमदीप्ति वाला या अपने-उपासकों के महान्-क्लेशों को तनु-सूक्ष्म-स्वल्प करने वाला आदित्य त्वष्टा है। वह ग्ना यानी देवपत्नियों के साथ हमारी शान्ति के लिए हमारे इन प्रार्थना मय स्तोत्रों का श्रवण करे। इति।

(८८)

(सर्वजनप्रवृत्तिलक्ष्यं सकलचराचरपदार्थेभ्यः शान्ति-सुखसम्पादनमेव)

(समस्त-मनुष्यों की प्रवृत्तियों का लक्ष्य है-सकल-चराचर पदार्थों से शान्ति सुख का सम्पादन ही)

सर्वे जनाः सर्वेभ्यो जडचेतनपदार्थेभ्यः सर्वविधस्योपद्रवस्य शान्तिं शाश्वतं सुखञ्च कामयन्ते। तदर्थमेव विविधैः साधनैरहर्निशं प्रयतन्ते। दयालवश्च साधवो मन्त्रद्रष्टारो महर्षयः 'सर्वस्य सर्वस्माच्छान्तिरस्तु, सुखमस्त्विति, मा कश्चित्कस्माचिदुद्विग्नो दुःखभाक् च भवेदि'ति च सततमभिलपन्ति। तदर्थमेव पुष्कलाभिः स्तुतिभिर्विश्वायतनं विश्वाधिष्ठातारं परमेश्वरं बद्धाञ्जलयस्ते भक्तिभरेण प्रार्थयन्ते, इति सर्वलोकहितमुद्दिश्य सकलपदार्थेभ्यस्तदभ्यर्थनमाह—

समस्त मनुष्य, सर्व-जड चेतन पदार्थों से सर्व प्रकार के आध्यात्मिकादि-उपद्रवों की शान्ति की एवं शाश्वत-सुख की कामना करते हैं। उसी के लिए ही वे विविध-साधनो के द्वारा रात्रि-दिन प्रयत्न करते रहते हैं। दयालु-साधु-मन्त्रद्रष्टा महर्षिगण भी, सर्व की सर्व से शान्ति हो, सुख हो ऐसी, एवं किसी से कोई भी उद्विग्न एवं दुःखभागी न हो ऐसी, निरन्तर अभिलाषा रखते हैं। उसी के लिए ही पुष्कल-पावन-स्तुतियों के द्वारा विश्व का आधार-विश्व का अधिष्ठाता-परमेश्वर की-बद्धाञ्जलि हुए वे महर्षि-अतिशय-भक्ति से-प्रार्थना करते हैं। इस प्रकार सर्व लोक के हित का उद्देश कर के समस्त पदार्थों से उस सुख-शान्ति की अभ्यर्थना का प्रतिपादन करते हैं—

ॐ शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु, शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु, शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ७ सूक्त. ३५ मन्त्र. ८) (अथर्व. १९।१०।८)

'सर्ग से दृश्यमान एवं विस्तीर्णतेज से सम्पन्न हुआ सूर्य-नारायण हम सब के शं-सुख-शान्ति के लिए उदित हो। पूर्वादि-चार दिशाएँ या उन में निवास करने वाले-सभी प्राणी हम सब के शं-सुख-शान्ति के सम्पादक हों। ध्रुव-स्थिर समग्र पर्वत भी हमारे शं-सुख-शान्ति के लिए सहायक हों। सभी नदियाँ एवं समुद्रादि जल भी हमारे शं-सुख-शान्ति के लिए अनुकूल हों।'

नः=अस्माकं समेषां, शं=शान्त्यै सुखाय च सूर्यः-उरुचक्षाः=उरुभिः-बहुभिर्दृश्यमानः। यद्वा उरुचक्षाः=विस्तीर्णतेजाः सन् उदेतु=उदयं प्राप्नोतु। चतस्रः प्रदिशः-महादिशोऽपि तत्तद्दिग्वास्तव्याः समस्ता लोका अपि नः=अस्माकं शं भवन्तु। नः=अस्माकं ध्रुवयः=ध्रुवाः पर्वताः=गिरयः शं भवन्तु। सिन्धवः=स्यन्दमानाः सर्वा नद्यो गङ्गाद्याः शं भवन्तु। आपः=सामुद्रादीनि जलानि च नः शमु=शान्त्या एव सुखायैव च सन्तु। ते सर्वे पदार्था अस्माकं कदाचिदपि उपद्रवकरा दुःखप्रदाश्च मा भवन्तु, किन्तु सुखशान्तिकरा एव भवन्त्विति यावत्।

हम सब के शं-शान्ति के लिए एवं सुख के लिए सूर्य-उरुचक्षा यानी उरु-बहुतों से जो दृश्यमान है यद्वा उरुचक्षा यानी विस्तीर्ण तेजः-प्रकाश से सम्पन्न हुआ वह उदय को प्राप्त हो। चार प्रदिश यानी पूर्वादि-महादिशाएँ भी, एवं उस-उस दिशाओं के निवासी समस्त-लोक भी हमारे शं के लिए हो। ध्रुव-पर्वत गिरि हमारे शं के लिए हों। सिन्धु-स्यन्दमान-बहने वाली-सब गंगा-आदि-नदियाँ हमारे शं के लिए हों। आप-यानी समुद्रादि के जल हमारे शं-शान्ति के लिए एवं सुख के लिए हों। अर्थात् वे सब पदार्थ हमारेको कदाचित् भी उपद्रव-संताप के करने वाले एवं दुःखप्रद न हों; किन्तु सुख-शान्ति के ही करने वाले हों। इति।

(८९)

(अनाकारात्सर्वाकारात्परमेश्वराच्छान्तिसुखाभ्यर्थनम्)

(निराकार-सर्वाकार-परमेश्वर से शान्ति एवं सुख की अभ्यर्थना)

यतः सृष्टेः पूर्वं एक एव सन्मात्रश्चिन्मात्र उदस्तसर्वाकारः परमात्मा आसीत्। पश्चात्सर्गस्थित्योरात्ममाययोपात्तसर्वदेवाद्याकारो विश्वरूपो बभूव, प्रलये पुनरस्माननाकारो भविष्यति। तस्मादेवं सर्वात्मा भगवान् मायया सर्वाकारोऽपि वस्तुतोऽनाकारो वेदितव्यः।

जिस कारण से-सृष्टि से प्रथम एक ही सन्मात्र, चिन्मात्र, जिस में समस्त-विश्व के आकारों का विलय हो गया है-ऐसा-अद्वितीय परमात्मा था। पश्चात्-वह सृष्टि एवं स्थिति के समय में अपनी माया से ग्रहण किये हैं-समग्र देवादियों के आकार जिसने ऐसा अनेक-आकार वाला विश्वरूप हुआ। प्रलय में पुनः वह इन सब आकारों से रहित-विश्वातीत निराकार हो जायगा। इसलिए-सर्वात्मा भगवान् जो माया के द्वारा सर्वाकार-विश्वरूप हुआ है। उसको वस्तुतः

---

१ छन्दसा इत्यत्र 'अरानयो. प्रतिषेधो वक्तव्य' इति स्यामादेशाभाव, ध्रुवय-'ध्रु स्थैर्ये' औणादिकः किप्रत्यय, उपगदिश.।

तस्यैतस्यैकस्यैव परमात्मनः सकाशात् तन्महत्त्वमभिसन्धायास्माभिः सर्वेषां नः कृते शान्तिसुखाभ्यर्थनं कर्तव्यमित्याह—

अनाकार ही जानना चाहिए। उस-एक पूर्ण-ही परमात्मा से—उस के दिव्य-महत्त्व का अनुसंधान कर के हम-सब के लिए शान्ति-सुख की-हम सब के द्वारा—अभ्यर्थना करनी चाहिए, यह कहते हैं—

ॐ शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु, शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु, शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ७ सूक्त. ३५ ऋक् १३) (अथर्व. १९।११।३)

'अजन्मा-अविनाशी-एकपात्-स्वयंप्रकाश देव हमारे शं-शान्ति-सुख के लिए प्रसन्न हो । एवं अहिर्बुध्न्य भगवान् महादेव हमारे शं के लिए अनुकूल हो । समुद्र-परमात्मा भी हमारे शं के लिए सहायक हो । अपांनपात्-क्षीरसमुद्रशायी-नारायण देव, जो संसार के समस्त जन्ममरणादि—दुःखों से भक्तों को पार कर देता है—वह भगवान् भी हमारे शं के लिए प्रसन्न हो । एवं पृश्नि-देवी जो विश्व-जननी देवों का रक्षण करनेवाली-चितिशक्ति-भगवती है, वह भी हमारे शं के लिए तत्पर हो ।'

अजः=अजन्मा—अविनाशी, देवः=स्वयंप्रकाशः, एकपात्=एकः पादः—अंशः कृत्स्नस्य जगतो व्यापनाय पर्याप्तो वर्तते यस्य स एकपात् । यद्वा एकः पादः—स्थावरजंगमात्मको यस्य सः । तथा च श्रुतिस्मृती भवतः—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' (ऋ. १०।९०।३) (अथर्व. १९।६।३) (वा.यजुः. ३१।३। तै. आ. ३।१२।१) 'पादोऽस्येहाभवत्पुनः' (ऋ. १०।९०।४। अथर्व. १९। ६।२) (शु. य. १७।९२) (तै. आ. १०। १०।२) 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।' (गी. १०।४२) इति । यद्वा सर्वमिदं जगदेकांशेनानुप्रविश्य पाति—रक्षतीत्येकपात् । यद्वा एकः पादो वाय्वादिलक्षणो यस्य सः । आम्नायते हि—'अग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पादः ।' (छां. ३।१८।२) इत्यादि । यद्वा जीवोऽस्य ब्रह्मणः एकः=मुख्यः पादः=अंश इत्येकपात् । उक्तं हि भगवता गीतासु—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।'

अज—अजन्मा—अविनाशी, देव—स्वयंप्रकाश, एकपात् यानी जिसका एक-पाद-अंश समग्र-जगत् के व्यापन के लिए पर्याप्त-समर्थ है, वह एकपात् है । यद्वा एक स्थावर-जंगम-विश्वरूप पाद है, जिसका वह एकपात् है । तथा च इस अर्थ के प्रतिपादक श्रुति एवं स्मृति भी प्रमाण हैं—'इस का पाद समग्र भूत हैं' 'यहाँ पुनः इस का पाद ही विश्वरूप हुआ है ।' 'मैं इस सम्पूर्ण नामरूप-जगत् को अपनी योग-माया शक्ति के द्वारा एक-अंश मात्र से धारण कर के स्थित हूँ ।' इति । यद्वा जो इस सर्व जगत् में एक-अंश से अनुप्रविष्ट हो कर इसका रक्षण करता है-वह एकपात् है । यद्वा एक-वायु आदिरूप पाद है जिस को वह एकपात् है । ऐसा छांदोग्य में कहा गया है—'अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है, दिशाएँ पाद हैं ।, इत्यादि । यद्वा जीव इस ब्रह्म का एक-मुख्य, पाद-अंश है, इसलिए वह एकपात् है । गीता में ऐसा श्रीकृष्ण-भगवान् ने भी कहा है—'इस जीव-लोक में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश-पाद है ।' इति । इस प्रकार

(१५।७) इति। एवंभूतो भगवान् विश्वात्मा नः=अस्माकं सर्वेषां कृते शं=शान्त्यै सुखाय चास्तु=प्रसन्नो भवतु। अहिर्बुध्न्यः= अहिः=मेघः, अयनादहिः, एति ह्यसौ अन्तरिक्षे इति निरुक्तेः। बुध्नं=अन्तरिक्षं, बद्धाः-धृताः-अस्मिन्नाप इति निर्वचनात्। तयोः-अहिर्बुध्नयोः-मेघान्तरिक्षयोः योऽधिष्ठातृतया निवसति सोऽहिर्बुध्न्यः इत्युच्यते। यद्वा अहिः=प्राणः, अयनात्-गमनादहिः प्राण इत्युच्यते। बुध्नं शरीरं, बद्धा अस्मिन् प्राणा वर्तन्ते इति बुध्नं शरीरमित्युच्यते। तथा च प्राणेषु शरीरेषु च योऽन्तर्यामितया निवसति, सोऽहिर्बुध्न्यः=प्राणस्य प्राणः शारीरः परमात्मा इत्यर्थः। यद्वा अहिः=सर्पः प्रसिद्धो विधृतो बुध्ने शरीरे येनासौ अहिर्बुध्न्यो भुजगभूषणो भवानीपतिर्भूतनाथो महादेव इत्यर्थः। अत एव 'अहिर्बुध्न्योऽष्टमूर्तिश्च गजारिश्च महानटः।' इत्यमरकोशेऽपि तन्नामप्रसिद्धम्। यद्वा 'अहिः' इति पृथक्पदं, न हीयते -न पृथक् भवति कदाचिदपि स्वस्वरूपमहत्त्वादसौ अहिः=अखण्डैकरसः-पूर्णात्मा इत्यर्थः। बुध्नः=मूलकारणं तत्र भवो बुध्न्यः कार्यरूप इत्यर्थः। यद्वा बुध्नमादिरुच्यते, तत्र भवो बुध्न्यः कारणरूपः-आदिम इत्यर्थः। एतादृशः परमात्मा शं नोऽनुकूलो भवतु। समुद्रः=समुद्द्रवन्ति-समुद्भवन्त्यस्माद्भूतानि सर्वाणि जीवाश्च सर्वे सर्गसमये,

का वह एकपात् विश्वात्मा भगवान्, हम सब के उपर शं-शान्ति के लिए एवं सुख के लिए प्रसन्न हो। अहिर्बुध्न्य-अहि यानी मेघ, अयन से-गमन से वह अहि है, क्योंकि-यह मेघ अन्तरिक्ष में आता है, ऐसी 'अहि' पद की निरुक्ति है। बुध्न यानी अन्तरिक्ष, क्योंकि इस में आप-जल बद्ध हैं-धारित हैं, इस निर्वचन से बुध्न-अन्तरिक्ष कहाता है। उस-अहि-मेघ में तथा उस बुध्न-अन्तरिक्ष में जो भगवान्-अधिष्ठातृरूप से निवास करता है, वह अहिर्बुध्न्य कहा जाता है। यद्वा अहि यानी प्राण, क्योंकि-अयन से-गमन से अहि प्राण है, ऐसा कहा जाता है। बुध्न यानी शरीर, क्योंकि-इसमें बँधे हुए प्राण रहते हैं, इसलिए बुध्न-शरीर कहा जाता है। तथा च समग्र-प्राणों में एवं निखिल-शरीरों में जो परमात्मा अन्तर्यामिरूप से निवास करता है, वह अहिर्बुध्न्य-अर्थात्-प्राण का प्राण-शरीर का साक्षी परमात्मा है। यद्वा अहि यानी प्रसिद्ध सर्प, धारण किया गया है, बुध्न-शरीर में जिस से, वह अहिर्बुध्न्य अर्थात् भुजगभूषण-भवानीपति-भूतनाथ-महादेव है। इसलिए-'अहिर्बुध्न्य, अष्टमूर्ति, गजारि, महानट' ऐसा अमरकोश में अहिर्बुध्न्य महादेव का प्रसिद्ध नाम भी है। यद्वा 'अहि' यह पृथक् पद है। जो अपने स्वरूप के महत्त्व से कदाचित्-भी पृथक्-अलग नहीं होता है, वह 'अहि' अखण्ड-एकरस-पूर्णस्वरूप परमात्मा है। बुध्न यानी मूल-कारण, उस में होने वाला बुध्न्य-कार्य-विश्वरूप भगवान् है। यद्वा बुध्न-आदि कहा जाता है, उस में होने वाला बुध्न्य-आदिम-कारणरूप-अनादि परमेश्वर है। इस प्रकार का परमात्मा हमारे शं-शान्ति-सुख के लिए अनुकूल हो। समुद्र यानी चराचर-जगत् की सृष्टि-स्थिति एवं लयकर्ता-परम-कारण-रूप-परमेश्वर सृष्टि के समय में समुद्द्रवन्ति-सम्यक् उद्भूत-उत्पन्न होते हैं सर्व-भूत, एवं सर्व-जीव, जिससे, एवं स्थिति के

संमोदन्ते-संहृष्यन्ति तानि ते चास्मिन् स्थितिसमये चान्ते प्रलयसमये समभिद्रवन्त्यपियन्त्येनं, सः समुद्रः=सर्गस्थितिलयकर्ता-परमकारणमित्यर्थः। महाकारणस्यैव सतः कार्योत्पादकत्वतत्स्थितिस्थापकत्वतल्लयाधिष्ठानत्वदर्शनात्। एवंभूतो भगवान् शं सहायको भवतु। अपांनपात्=अपां-क्षीरसमुद्रजलानां मध्ये वर्तमानः, नपात्=नम्यतमः-सर्वैरतिशयेन नम्यः=प्रणम्यो यो भवति-अप्स्वन्तरवस्थितं तं नारायणाख्यं देवमभिलक्ष्य सर्वे भक्ता अतिशयेन नताः प्रणता भवन्तीति, अतः क्षीरसमुद्रशायी सर्वभक्तजननमस्कारविषयो नारायणो देवः 'अपांनपादि'त्युच्यते। 'यो रुद्रोऽग्नौ योऽप्स्वन्तः' (अथर्व. सं. ७।८७।१) इति श्रुतेः। यद्वा नपात्=अविद्यमानः पातः-पतनं च्युतिर्यस्य सोऽसौ अच्युतो देवो 'नपात्'इत्यनेनाभिधीयते। अस्यापांनपात्संज्ञकस्य नारायणमहादेवस्य साकारस्वरूपं ऋगन्तरेऽपि समाम्नायते-'हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् अपांनपात्सेदु हिरण्यवर्णः।' (ऋ.२।३५।१०) इति। अस्यायमर्थः-सः-अपांनपात्-परमेश्वरः, हिरण्यरूपः=हिरण्यं-हितरमणीयं, रूप्यते इति रूपं=शरीरं हितरमणीयं शरीरं विद्यते यस्य सः, हितरमणीयविग्रह इत्यर्थः। तथा हिरण्यसंदृक्=सम्यक् पश्यन्ति-जानन्तीति संदृशः-इन्द्रियाणि-चक्षुरादीनि हितरमणीयानि विद्यन्ते यस्य सः, हितरमणीयेन्द्रिय इत्यर्थः। सेदु=स एव, अपांनपात्-हिरण्यवर्णः-हिरण्यसदृशदिव्यकान्तियुक्तः सन्

समय में संमोदित-संहर्षित होते हैं सर्व-भूत एवं सर्व जीव जिसमें,तथा अन्त में-महाप्रलय में सम्यक्-अभिद्रवित-विलीन होते हैं जिस में वह-परमात्मा समुद्र है। विद्यमान-महाकारण में ही कार्योत्पादकत्व-कार्य-स्थिति-स्थापकत्व-एवं कार्यलयाधिष्ठानत्व देखा जाता है। ऐसा समुद्र भगवान् हमारे शं-सुखशान्ति के लिए सहायक हो। अपानपात् यानी जो अप्-क्षीर-समुद्र के जलों के मध्य में वर्तमान है, तथा जो नपात् यानी नम्यतम सभी से अतिशय कर के नम्य-प्रणम्य होता है, अर्थात् जल के भीतर अवस्थित-उस नारायण नाम के देव को अभिलक्षित कर के सर्व-भक्त-गण अतिशय कर के नत-प्रणत होते हैं, इसलिए क्षीरसमुद्रशायी-सर्व भक्त-जनों के नमस्कारों का विषय-नारायण देव 'अपानपात्' इस नाम से कहा जाता है। 'जो रुद्र महादेव, अग्नि में है, जलों में है।' इस अथर्ववेद की श्रुति से भी पूर्वोक्त-अर्थ ही सिद्ध होता है। यद्वा नपात् यानी न-अविद्यमान है पात-पतन-च्युति जिसका वह-वह अच्युत-अविनाशी-देव 'नपात्' इस नाम से कहा जाता है। इस 'अपानपात्' संज्ञावाले नारायण महादेव के साकार स्वरूप का अन्य-ऋक्-मन्त्र में भी प्रतिपादन किया जाता है—'वह हिरण्यरूप, हिरण्यसदृक् एवं हिरण्यवर्णयुक्त अपानपात् है।' इति। इसका यह अर्थ है—वह अपानपात् देव, हिरण्यरूप है, हिरण्य-यानी हित-रमणीय। रूपण किया जाता है जिसका, वह रूप-शरीर है, हितरमणीय है शरीर-विग्रह जिसका, वह हित-रमणीय-शरीर-वाला है। तथा हिरण्य-सदृक् यानी सम्यक् देखते हैं—जानते हैं, वे सदृश-चक्षुरादि-इन्द्रियाँ हैं हितरमणीय जिस के, वह हितरमणीय चक्षुरादि-इन्द्रियों वाला हिरण्यसदृक्-भगवान् है। सेदु यानी वही, अपानपात्-हिरण्यवर्ण है यानी हिरण्य-सुवर्ण के समान सुतप्त-दिव्य-कान्ति से युक्त हुआ

स्वधाम्नि सदा विराजते इति शेषः । यद्वा हिरण्यसंदृक्=हिरण्यमिव संदृश्यमानः—मनः प्रीतिजनकः, हिरण्यवर्णः=हिरण्यमिव वरणीयः प्रार्थनीयश्च भक्तानाम् । इति । स एव हितरमणीयोऽपांनपात्—नारायणोऽच्युतो देवो निराकारस्वरूपेणान्तरिक्षं, तत्र वर्तमाना अपः, तत्रावस्थितं विद्युतश्चाधिष्ठाय स्वसत्तयाऽन्तरिक्षादपाञ्च वर्षणं कृत्वा गङ्गाद्याः श्रद्धेया नदीः धराधाम्नि प्रकटयति। महत्या वृष्ट्या प्रकटीभूताः ताश्च तस्यैव भगवतो विपुलं महनीयं माहात्म्यं कृतज्ञतया सर्वत्र प्रकटयन्त्य इव मधुरध्वनिना च गायन्त्य इवाजस्रं प्रवहन्ति-इत्यपि समाम्नातं भवति-'अपांनपादा ह्यस्थादुपस्थं जिह्मानामूर्ध्वो विद्युतं वसानः। तस्य ज्येष्ठं महिमानं वहन्तीर्हिरण्यवर्णाः परियन्ति यह्वीः ॥' (ऋ. २।३५।९) इति । अयमर्थः—अपांनपात्संज्ञकः परमेश्वरः, उपस्थं=अपामुपस्थानमन्तरिक्षम्। आ हि अस्थात्=आस्थितवान्—अधिष्ठितवान्—स्वसत्तया स्फूर्त्या चारूढवान् खलु। ऊर्ध्वः=उत्कृष्टतरोऽसौ भगवान्, जिह्मानां—कुटिलगतीनामपां मध्येऽपि, आ हि अस्थात्। विद्युतं=विद्योतमानं वसानः=आच्छादयन्—व्याप्नुवन् जलवर्षणायावस्थितोऽभवत्। तस्य=अन्तरिक्षात्स्वशक्त्या जल-

अपने धाम में सदा विराजमान रहता है। यद्वा हिरण्यसंदृक् यानी हिरण्य के समान जो प्रीतिपूर्वक-सम्यक् देखा जाता है वह मन की प्रसन्नता का उत्पादक-हिरण्यसंदृक् है । हिरण्यवर्ण यानी हिरण्य के समान भक्तों को जो वरण-स्वीकार करने-एवं प्रार्थना करने योग्य है । वही हितरमणीय-अपांनपात्-नारायण-अच्युत-देव,निराकार रूप से अन्तरिक्ष का, उस में वर्तमान मेघ के जलों का एवं उन में अवस्थित-विद्युत् का अधिष्ठान-नियमन कर के अपनी सत्ता के द्वारा अन्तरिक्ष से प्रभूत-जलों का वर्षण कराके गंगा आदि-श्रद्धेय-नदियों को धराधाम में प्रकट करता है । महती-वृष्टि के द्वारा प्रकट हुईं वे नदियाँ, उसी ही भगवान् के विपुल-पूजनीय-माहात्म्य को कृतज्ञता के द्वारा सर्वत्र प्रकट-ज्ञापन करती हुईं-सी मधुरध्वनि से गान करती हुईं-सी निरन्तर बहती रहती हैं, ऐसा अन्य-ऋक् मन्त्र में भी कहा जाता है—'अपांनपात्' नामवाला-अति उत्कृष्ट-नारायण भगवान् अन्तरिक्ष में, तथा-टेढी गति-वाले-बादलों के-जलों में भी नियामकरूप से अवस्थित हुआ है एवं वह विद्युत् को व्याप्त करता हुआ जलवर्षण के लिए भी अवस्थित हुआ है । उस के अति प्रशस्त-महिमा को सर्वत्र प्रकट करती हुईं—हिरण्य के समान-उज्ज्वलवर्ण वाली-बड़ी-बड़ी-गंगा आदि नदियाँ दौड़ती रहती हैं ।' इति । इस-मन्त्र का यह अर्थ है—'अपांनपात्' नामवाला परमेश्वर, उपस्थ यानी जलों का स्थान-अन्तरिक्ष को अधिष्ठित कर के रहा हुआ है, अर्थात् अपनी सत्ता से एवं स्फूर्ति से अन्तरिक्ष में आरूढ हुआ है। ऊर्ध्व यानी अति-उत्कृष्ट वह भगवान्, जिह्म यानी कुटिल-टेढी गति-वाले मेघ के जलों के मध्य में भी अवस्थित हुआ है। विद्योतमान-विद्युत् का वसान-आच्छादन-व्यापन करता हुआ जलवर्षण के लिए भी अवस्थित हुआ है । अपनी शक्ति के द्वारा अन्तरिक्ष से जल को वर्षाने वाले

यर्षितुरपांनपातः, ज्येष्ठं=प्रशस्ततमं, महिमानं=माहात्म्यं वहन्तीः=वहन्त्यः सर्वत्र प्रापयन्त्यः प्रकटयन्त्य इवेति यावत्। यह्वीः=यह्व्यः–महत्यः, हिरण्यवर्णाः नदीनामैतत् हिरण्यवन्निर्मलरूपा गङ्गाद्या नद्यः परियन्ति=परिगच्छन्ति इत्यर्थः। स एव भगवान् पेरुः=भक्तानां निखिलेभ्य उपद्रवेभ्यः संसारसागराच्च पारयिता। 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।' (गी. १२।७) इति भगवदुक्तेः। नः शं सहायको भवतु भगवान्। प्रश्निः=प्राश्नुते–प्रकर्षेण व्याप्नोति या सर्वाणि भूतानि सा चितिशक्तिः, यो भगवान् बीजप्रदः पिता स एव सर्वेषां माता जननी भगवती प्रश्निः इत्युच्यते। कीदृशी सा? देवगोपा=देवी चासौ गोप्त्री चेति, यद्वा देवान्–दातॄन् यजमानान् गोपायति–रक्षति याऽसौ देवगोपा इत्यर्थः। तदुक्तं 'या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते। चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्॥' (दुर्गासप्त. ५।७८) इति। 'देवं देवीं समुद्दिश्य न कुर्यादन्तरं क्वचित्। तत्तद्भेदो न मन्तव्यः शिवशक्तिमयं जगत्॥' इति (शारदातिलके) 'न शिवेन विना देवी न च देव्या विना शिवः। नानयोरन्तरं किञ्चिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥' इति। सा देवी नः शं तत्परा भवतु इति।

उस अपानपात् भगवान् के ज्येष्ठ यानी श्रेष्ठ अतिप्रशस्त महिमा-माहात्म्य को वहन-सर्वत्र प्रापण-अर्थात्–प्रकट करती हुई सी, यह्वी यानी महती-बड़ी 'हिरण्यवर्णा' यह नदी का नाम है, हिरण्य-सुवर्ण के समान निर्मलरूपवाली गंगा आदि नदियाँ परिगमन-करती हैं अर्थात्-दौड़ती रहती हैं। वही भगवान् पेरु है अर्थात् निखिल-उपद्रवों से एव संसार सागर से भक्तों को पार करता है। 'अपने भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूप-संसार समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ।' ऐसा गीता में भगवान् का भी वचन है। वह भगवान् हमारे श के लिए सहायक हो। प्रश्नि यानी प्रकर्ष से-बाहर-भीतर जो सर्व-भूतों को व्याप्त करती है, वह चितिशक्ति-प्रश्नि है। जो भगवान् बीजप्रद पिता है, वही सर्व की माता जननी भगवती प्रश्नि है, ऐसा कहा जाता है। किस प्रकार की है वह माता? देवगोपा यानी देवी जो है वही गोप्त्री-रक्षित्री है। यद्वा देव यानी दान करने वाले यजमानों का जो गोपन-रक्षण करती है, वही यह देवगोपा है। यह कहा है–'जो देवी-भगवती सर्व भूतों में चेतनारूप से कही जाती है। वही चैतन्यरूप से समग्र-जगत् को व्याप्त करके अवस्थित है।' 'देव एव देवी को उद्देश्य करके कहीं भेद न करे, उसका एव उसीका भेद नहीं मानना चाहिए, क्योंकि–समग्र जगत् शिवशक्तिमय है।' 'शिव के विना देवी कुछ नहीं, एव देवी के विना शिव कुछ नहीं है, इन दोनों में 'चन्द्र एव चादनी की भाँति' कुछ भी अन्तर भेद नहीं है।' इति। वह शिवाभिन्ना देवी हमारे श के लिए तत्पर हो। इति।

(९०)

(पुनः पुनः सर्वेषां नः कृते शान्तिसुखाभ्यर्थनं देवेभ्यः क्रियते)

(पुन पुन हम सब के लिए देवों से शान्ति-सुख की अभ्यर्थना की जाती है)

ॐ शं नो देवः सविता त्रायमाणः, शं नो भवन्तूषसो विभातीः।
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः, शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः॥
(ऋग्वेद. मण्ड. ७ सूक्त. ३५ ऋक १०) (अथर्व. १९।१०।१०)

'भय-संतापों से-रक्षा करता हुआ सविता देव, हम सब के शं-शान्ति-सुख के लिए अनुकूल हो। सूर्य-प्रकाश के प्रथम अपना मधुर-प्रकाश फैलाने वाली एवं अन्धकार को भगाने वाली-उषा देवियाँ हम सब के शं के लिए प्रयत्नशील हों। पर्जन्य-मेघ हमारी सब प्रजा के लिए शं-सुखकारी हो। क्षेत्र का पति-शम्भु भगवान् हम सब के शं के लिए प्रसन्न हो।'

देवः=क्रीडनादिगुणयुक्तः, सविता=सर्जनकर्ता सूर्यः-प्रसुवति यद्यदेषामभिलषितं भद्रं तत्तज्जनयति-अभ्यनुजानाति य इति व्युत्पत्तेः। त्रायमाणः=भयेभ्यो-रक्षन्-पालनं कुर्वन् वा, नः=अस्माकं समेषां कृते, शं=शान्त्यै सुखाय चानुकूलो भवतु। उषसः=तमो विवासयन्त्यः सूर्यस्य प्रसृतदीप्तिलक्षणा देव्यः, ताः कीदृश्यः? याः किल भानुभासा स्वमात्मानं पूर्वं भासयन्ति-समभिव्यञ्जयन्ति एतास्ता विभाती इत्युच्यते। पर्जन्यः=सर्वजनपदतर्पयिता मेघोदकम्। 'तृप तृप्तौ' इत्यस्याद्यन्तवर्णविपर्ययादिना पर्जन्यशब्दो निष्पद्यते। नः=अस्माकं प्रजाभ्यः शं=सुखकरो भवतु। क्षेत्रस्य=शरीरस्य-'इदं शरीरं कौन्तेय! क्षेत्रमित्यभिधीयते।' (गी. १३।१) इति स्मर-

देव यानी क्रीडन-द्योतन-आदि गुणों से युक्त, सविता यानी सर्जनकर्ता सूर्य-भगवान्, जिन को जो जो भद्र-कल्याण कर पदार्थ अभिलषित हैं, उन सब का जो प्रसव-उत्पादन करता है, उस के लिए अनुज्ञा-देता है, वह सविता है ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। त्रायमाण यानी भयों से रक्षण-या पालन करता हुआ, हम सब के लिए शं-यानी शान्ति के लिए एवं सुख के लिए अनुकूल हो। उषसः यानी उषाएँ-तमः-अन्धकार को विवासन-विद्रावण करने वाली-सूर्य की फैली हुई-दीप्ति-रूपा देवियाँ, वे किस प्रकार की हैं? जो निश्चय से भानु-सूर्य के प्रकाश से प्रथम अपने आप को भासित-सम्यक् अभिव्यक्त करती हैं वे-उषाएँ विभाती हैं ऐसा कहा जाता है। पर्जन्य यानी समग्र जन-पद-देश को तृप्त-संतुष्ट करने वाला-मेघ का उदक। 'तृप तृप्तौ' इस धातु के आदि एवं अन्त वर्ण के विपर्यय आदि करने से पर्जन्य शब्द निष्पन्न होता है। वह हमारी सब-चराचर प्रजा के लिए शं-सुखकर हो। क्षेत्र-यानी शरीर। 'हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है, जैसे खेत में बोये हुए बीजों का उनके अनुरूप धान्यादिरूप-फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इस में बोये हुए-कर्मों के संस्कार रूप-बीजों का सुखदुःखादिरूप-फल समय पर प्रकट होता है, इसलिए यह शरीर 'क्षेत्र' ऐसा कहा जाता है।' ऐसा भगवान् ने गीता में भी स्मरण किया है।

णात्। पतिः=स्वसत्तास्फुरणप्रदानेन पालयिता, शम्भुः=सुखयिता-सुखस्य भावयिता-प्रापयिता क्षेत्रज्ञः प्रत्यगात्मा भगवान्। शं-सुखं भवति यस्मात्स शम्भुः इति व्युत्पत्तेः। ऋगन्तरमप्याह-'तत्सु नः सविता भगो वरुणो मित्रो अर्यमा। शर्म यच्छन्तु सप्रथो यदीमहे॥' (ऋ. ८।१८।३) इति। अयमर्थः-सवित्रादयः पञ्च देवा विभिन्ननामानोऽप्येकस्वरूपाः, सप्रथः=सर्वतः पृथु-विस्तीर्णं तत्-प्रसिद्धं शर्म=सुखं, नः=अस्मभ्यं, सु=सुष्ठु यच्छन्तु=ददतु, यत् शर्म, ईमहे=वयं सदा याचामहे इति। यद्वा क्षेत्रं तावत् क्षियतेर्निवासकर्मणो धातोर्निष्पद्यते, तथा च निवासस्थानं यस्य कस्यचित्किमप्यल्पं वा बृहद्वाऽस्तु तस्य सर्वस्य क्षेत्रस्य पतिः पाता शम्भुः शं भवतु। इति। लोके हि देशाधिपतिरुपद्रवेभ्यो देशवासिनो रक्षति, तेषु च स्वाश्रितान् सुखविशेषेण संयोजयति। तथा क्षेत्राधिपतिः शम्भुः परमेश्वरोऽपि क्षेत्रस्थितान् रक्षति। न ह्यन्यः परमेश्वराद्रक्षकोऽस्ति, 'येन जातानि जीवन्ति।' (तै. ३।१।१) इति श्रुतेः। क्षेत्रस्थितेष्वपि स्वाश्रितान् भक्तान् सुखविशेषेण योजयतीत्येतत् शम्भुपदेनोक्तम्। किञ्च क्षेत्रपदस्याविमुक्तादिपुण्यक्षेत्रपरत्वेऽप्यस्ति किमपि विशेषस्वारस्यम्। तस्य क्षेत्रस्य पतिः शम्भुः सेवितः शं भवत्येव। तत्राविमुक्तक्षेत्रं द्वि-

पति यानी अपनी सत्ता एवं स्फूर्ति के प्रदान-समर्पण द्वारा इस शरीररूप-क्षेत्र का पालन कर्ता। शम्भु यानी सर्व प्रकार के सुख को प्राप्त कराने वाला-क्षेत्रज्ञ-प्रत्यगात्मा भगवान्। शं-सुख होता है, जिससे वह शम्भु है, ऐसी व्युत्पत्ति है। अन्य ऋक्-मन्त्र भी कहता है-'सविता, भग, वरुण, मित्र, अर्यमा ये पांच शक्तिमान-देव, हम सब को-विस्तीर्ण-पूर्ण-शर्म-सुख का अच्छी प्रकार से प्रदान करें, जिस सुख को हम सब चाहते हैं।' इति। इस का यह अर्थ है-सविता-भग आदि पंच देव, विभिन्न नाम वाले हुए भी वस्तुतः एक-परमात्मा का स्वरूप वाले, सप्रथ यानी सर्व तरफ से पृथु-विस्तीर्ण-पूर्ण उस-शर्म-यानी सुख का हमारे लिए सु-सुष्ठु-अच्छी प्रकार से दान-समर्पण करें। जिस प्रसिद्ध शर्म की हम सदा याचना करते रहते हैं। यद्वा क्षेत्र शब्द 'क्षि' निवास कर्म वाली धातु से निष्पन्न होता है, तथा च निवासस्थान जिस किसी का जो भी कुछ छोटा या बड़ा हो, उस सब क्षेत्र का पति-रक्षक शम्भु है, वह हमारे लिए शं-सुखकर हो। लोक में देशाधिपति-राजा देशवासियों की उपद्रवों से रक्षा करता है, उनमें भी अपने आश्रित-बन्धुवर्ग को सुख-विशेष से संयुक्त बनाता है। तथा क्षेत्र का अधिपति-परमेश्वर भी क्षेत्रस्थित-जीवों की रक्षा करता है, क्योंकि परमेश्वर से अन्य कोई रक्षक नहीं है। 'जिस से उत्पन्न हुए सब भूत-प्राणी जीते हैं-रक्षित होते हैं।' इस तैत्तिरीय श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। क्षेत्र में स्थित जीवों में भी अपने-आश्रित-शरणापन्न-भक्तों को वह सुखविशेष से संयुक्त करता है, यह शम्भुपद से कहा गया है। और क्षेत्रपद को अविमुक्त-काशी आदि पुण्यक्षेत्र का बोधक मानने में भी कुछ विशेष स्वारस्य है। उस काशी आदि पुण्यक्षेत्र का पति-शम्भु सेवित हुआ शं के लिए होता ही है। उसमें अविमुक्त-क्षेत्र दो प्रकार

विधम्ः आध्यात्मिकमाधिभौतिकञ्च । तत्राद्यं–भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिस्तदाज्ञाचक्रलक्षणम् । द्वितीयं–काशीक्षेत्रं विश्वेश्वराधिष्ठितम् । तत्र समुपासितो भगवान् तारकब्रह्मविद्याख्यमात्मतत्त्वज्ञानमुपदिश्य मुमुक्षून् संसारभयाद्रक्षन् परमानन्दपदञ्च समर्पयन् 'पतिः शम्भुः'–इत्यन्वर्थनाम्नाऽभिगीतो भवतीति भावः । अत एव–ऋगन्तरमप्याह–'क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम ।' (ऋ. ४।५७। ३) इति । नः=अस्मभ्यं, क्षेत्रपतिर्भगवान् मधुमान्=मधुरतमः पूर्णः प्रसन्नः कल्याणसमर्पको भवतु । अरिष्यन्तः=दुःखदारिद्र्यादिभिः कामकोपादिभिः शत्रुभिश्चाहिंस्यन्तोऽपरिभवन्तो वयं एनं=क्षेत्रपतिं, अनु =अनुसृत्य तदाज्ञां, चरेम=सुखेन सञ्चरेम इत्यर्थः । कोऽयं क्षेत्रस्य पतिः ? इत्यस्मिन् नाममात्रविप्रतिपत्तिप्रयोजकं मतमवान्तरमाह–'रुद्रं क्षेत्रपतिं प्राहुः केचिदग्निमथापरे । स्वतन्त्र एव वा कश्चित् क्षेत्रस्य पतिरुच्यते ॥' इति । वस्तुतोऽग्निवरुणेन्द्रसवित्रादयस्तत्तद्देवतावाचकाः शब्दाः तत्तदुपाधिष्ववस्थितमेकमेव तत्त्वमवगमयन्तः परस्परमप्यभेदभावं द्रढयन्ति । अत एवाथर्वणे समाम्नायते–'स वरुणः सायमग्निर्भवति, स मित्रो भवति प्रातरुद्यन् । स सविता

का है । एक आध्यात्मिक एवं द्वितीय आधिभौतिक । उसमें आदि का क्षेत्र-भ्रू एवं नासिका की सन्धि-आज्ञाचक्ररूप है और द्वितीय विश्वेश्वर महादेव से अधिष्ठित-काशीक्षेत्र आधिभौतिक है । उन-दो क्षेत्रों में सम्यक्-उपासना किया गया भगवान्-शिव तारक-तारने वाला-ब्रह्मविद्या नामक-आत्मतत्त्वज्ञान का उपदेश करके मुमुक्षुओं की संसार के भय से रक्षा करता हुआ–एवं परमानन्द पद का समर्पण करता हुआ–वह भगवान् 'पति एवं शम्भु' इस अन्वर्थ नाम से प्रतिपादित होता है, यह भाव है । इसलिए अन्य ऋक् मन्त्र भी कहता है–'क्षेत्र का पति-शंकर भगवान् हमारे लिए अत्यन्त-मधुर-अद्वैतसुखरूप-कल्याण का समर्पक हो, काम-कोपादि शत्रुओं से परिभूत न होते हुए–इस क्षेत्रपति-भगवान् की आज्ञा का अनुसरण करते हुए–हम सुख-पूर्वक संचरण करें ।' इति । हमारे लिए क्षेत्रपति भगवान् मधुमान्-यानी अति-मधुर-पूर्ण-प्रसन्न-कल्याण का समर्पक हो । अरिष्यन्त यानी दुःख-दारिद्र्य-आदि से एवं काम-कोपादि शत्रुओं से हिंसित-परिभूत न होते हुए हम इस क्षेत्रपति की आज्ञा का अनुसरण करके सुख पूर्वक संचरण करें । यह क्षेत्र का पति कौन है ? इस विषय में नाम मात्र के संशय का प्रयोजक–मतमतान्तर कहते हैं–'कोई क्षेत्रपति को रुद्र कहते हैं, और अन्य कोई वादी अग्नि कहते हैं, एवं कोई स्वतन्त्र ही देव क्षेत्र का पति है, ऐसा अन्य से कहा जाता है ।' इति । वस्तुतः अग्नि, वरुण, इन्द्र, सविता आदि उस-उस देवताओं के वाचक-शब्द, उस-उस-उपाधियों में अवस्थित एक ही परमात्म-तत्त्व का बोधन करते हुए परस्पर भी अभेद भाव को दृढ करते हैं । अत एव आथर्वण-संहिता में भी सम्यक् कहा जाता है–'वह वरुणदेव सायं समय में अग्नि देव हो जाता है, वही प्रातःकाल में उदित हुआ मित्र-

भूत्वाऽन्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥' (अथर्व. १३।३।१३) इति।

देव बन जाता है। वही पुनः सविता-सूर्य हो कर अन्तरिक्ष से गमन करता है, एवं वही इन्द्र हो कर अन्तरिक्ष के मध्य में तपता है।' इति।

(९१)

(सर्वात्मभावनावतो ब्रह्मनिष्ठान् सर्वसिद्धयः सेवन्ते)

(सर्व सिद्धियाँ सर्वात्मभावना वाले-ब्रह्मनिष्ठ-सज्जनों का सेवन करती हैं)

अम्भृणस्य महर्षेः दुहिता वाग्देवीनाम्नी महाविदुषी सच्चित्सुखात्मकेन सर्वगतेन परमात्मना सह तादात्म्यमपरोक्षमनुभवन्ती सर्वजगद्रूपेण सर्वस्याधिष्ठानत्वेन चाहमेव, सर्वमस्मीति मन्त्रैः स्वात्मानं पूर्णाद्वैतं सर्वाभिन्नमस्तावीत्। अत एव सा ऋषिः मन्त्रार्थद्रष्टृत्वात्। कारुण्यात्सा मुमुक्षुनिवहेभ्यः सर्वात्मभावसाम्राज्यपदावस्थितये भेदभ्रान्तिविध्वस्तये च स्वानुभवमाविरकार्षीत्। यथा दुःखनिदानं परिच्छिन्नमहंभावं परित्यज्य सर्वत्रावस्थितं समं स्वात्मानं सततमनुसन्धाय निरतिशयसुखमूलपरिपूर्णाहम्भावलाभान्विता भूत्वा कृतकृत्या पूर्णानन्दं भजमानाऽहमभवम्। तथा यः कश्चित्कल्याणकामुको मदनुभवमिमं पुरस्कृत्य सर्वसिद्धिमूलां सर्वात्मभावनां सदा तीव्रसंवेगेन वितनिष्यति, नूनं सोऽसौ कल्याणभाग्भविष्यतीति हेतोः स्वानुभवमाह—

अम्भृण-महर्षि की पुत्री वाग्देवी नाम वाली महाविदुषी सच्चित्सुखरूप-सर्वगत-परमात्मा से अपने तादात्म्य का अपरोक्ष-अनुभव करती हुई-सर्वजगद्रूप से एवं सर्व का अधिष्ठानरूप से मैं ही सर्व हूँ इस प्रकार मंत्रों के द्वारा सर्व से अभिन्न-जो अपना पूर्ण-अद्वैत आत्मा है-उस की उसने स्तुति किया। इसलिए वह मन्त्रार्थ की द्रष्टा होने से ऋषि है। उसने करुणा से मुमुक्षुओं के समुदाय के प्रति सर्वात्मभाव के साम्राज्यपद में अवस्थिति के लिए एवं भेदभ्रान्ति के विध्वंस के लिए अपने अनुभव का आविष्कार किया। जिस प्रकार दुःख-हेतु-परिच्छिन्न-अहंभाव का परित्याग करके सर्वत्र-अवस्थित-समरूप-अपने आत्मा का निरन्तर अनुसंधान करके निरतिशय-सुख का कारण-परिपूर्ण-अहंभाव के लाभ से संयुक्त हो कर मैं पूर्णानन्द का सेवन करती हुई कृतकृत्य हो गयी हूँ। तिस प्रकार जो कोई कल्याण की कामना करने वाला मुमुक्षु मेरे इस अनुभव को आगे रख कर सर्व सिद्धियों के मूलरूप-सर्वात्मभावना का सदा तीव्र-संवेग से विस्तार करेगा, वह निश्चय ही कल्याण का भागी होगा। इस कारण से वह आम्भृणी वाग्देवी अपने सर्वात्मविषयक अनुभव को कहती है—

ॐ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि, अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्मि, अहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥

(ऋग्वेद, मण्ड. १० सूक्त. १२५ ऋक्. १। अथर्व. ४।३०।१)

'मैं ही एकादश-रुद्रों के द्वारा तथा अष्ट-वसुओं के द्वारा इस चराचर-समस्त-ब्रह्माण्ड में विचरण कर रही हूँ। तथा मैं ही द्वादश-आदित्यों के द्वारा तथा विश्व-देवों के द्वारा सर्वत्र विचरण कर रही हूँ। एवं मैं ही मित्रावरुण नाम के दो देवताओं का भरण-पोषण या धारण करती हूँ। तथा इन्द्र एवं अग्नि का एवं दोनों-अश्विनीकुमारों का भी मैं ही भरण कर रही हूँ।'

अहं=मन्त्रद्रष्ट्री वाग्देवी ब्रह्मवादिनी आम्भृणी 'वाग् आम्भृणी तुष्टावात्मानम्' (स. अ. ६३) इति। यत् परं ब्रह्म सर्वजगत्कल्पनास्पदं सर्वात्मभूतं तद्रूपा भवन्ती, यद्वा अहं=विशुद्धसत्त्वपरिणामरूपस्यान्तःकरणस्य वृत्तिविशेषोऽभिमानात्मकोऽहङ्कारः, तदुपलक्षितानवच्छिन्नब्रह्मात्मिकाऽहं, रुद्रेभिः=रुद्रैः—एकादशभिः, (इत्थंभावे तृतीया) तदात्मना चरामि=विचरामि, एवं अष्टभिर्वसुभिश्चरामि, आदित्यैश्चरामि। आदित्या द्वादशसंख्याका धात्रादयः। तथा विश्वदेवैश्चरामि। वसुरुद्रादित्यव्यतिरिक्ता गणशो वर्तमाना विश्वेदेवाख्या देवताः, तत्तद्देवात्मनाऽहमेव चरामीति योज्यम्। एवं मित्रावरुणा=मित्रावरुणौ, उभा=उभौ, अहमेव, ब्रह्मीभूता बिभर्मि=धारयामि, इन्द्राग्नी अप्यहमेव धारयामि। उभा=उभौ, अश्विना=अश्विनौ—अप्यहमेव धारयामि। ('मित्रावरुणा' इत्यादौ 'सुपां सुलुगि'ति द्वितीयाया आकारः) अयम्भावः—मयि सर्वाधिष्ठाने सच्चिद्रूपे सर्वं जगत् शुक्तौ रजतमिवाध्यस्तं सद् दृश्यते, यतः स्वतः सत्त्वप्रकाशरहितस्यास्य जगतः स्वाधिष्ठानभूतात्मसत्ताप्रकाशाभ्यामेव सत्ताप्रकाशवत्त्वात्। अत एवाखिलनामरूपात्मकजगदाकारेण परिणताया मायाया आधारभूतस्यासंगस्य प्रत्यगात्मनो ब्रह्मणः 'सर्पस्रग्दण्डादिकं सर्वे

मैं मन्त्रों की द्रष्टा वाग्देवी ब्रह्मवादिनी-अम्भृण-ऋषि की दुहिता-पुत्री 'वाग् आम्भृणी ने अपने ही आत्मा की स्तुति किया।' इति। जो परब्रह्म समस्त-जगत् की कल्पना का आश्रय एवं सर्वात्मरूप है—तद्रूप हुई मैं। यद्वा अहं यानी विशुद्ध-सत्त्वगुण का परिणामरूप-अन्तःकरण की वृत्ति-विशेष-अभिमानरूप-अहंकार, उस से उपलक्षित-अनवच्छिन्न-ब्रह्मरूपा मैं, एकादश-रुद्रों के द्वारा-उसरूप से-विचरण कर रही हूँ। एवं अष्ट-वसुओं के द्वारा एवं आदित्यों के द्वारा सर्वत्र विचरण कर रही हूँ। आदित्य-धातृ-आदि-नामक द्वादश संख्या वाले हैं। तथा मैं विश्वदेवों के द्वारा भी विचरण कर रही हूँ। वसु-रुद्र-एवं आदित्य से व्यतिरिक्त-गण से वर्तमान विश्वदेव नाम के देवता हैं। उस-उस देवरूप से मैं ही सर्वत्र विचरण करती हूँ, ऐसी योजना करनी चाहिए। इस प्रकार मित्रावरुण-नाम के दोनों देवताओं को मैं ही ब्रह्मरूपा धारण करती हूँ, तथा इन्द्र एवं अग्नि को भी मैं ही धारण करती हूँ। दोनों-अश्विनीकुमारों को भी मैं ही धारण करती हूँ। यह भाव है—सच्चिद्रूप-सर्वाधिष्ठान मुझ-आत्मा में समस्त-जगत् 'शुक्ति में रजत की भाँति' अध्यस्त हुआ प्रतीत हो रहा है। क्योंकि—यह चराचर जगत् स्वतःसत्ता एवं स्वतःप्रकाश से रहित है, इसके अधिष्ठानभूत-आत्मा की ही सत्ता से एवं प्रकाश से यह जगत् सत्तावान् एवं प्रकाशवान् हो रहा है। इसलिए समस्त-नामरूपात्मक-जगत् के आकार से परिणत-माया के आधाररूप-असंग-प्रत्यगात्मा-ब्रह्म का—'सर्प माला-दण्ड-आदि-आरोपित सब कुछ-यह

रज्जुरेवैपेतिवत्' बाधसामानाधिकरण्येन सर्वत्रमुपपद्यत एव; तथा चैकस्यैव हि ब्रह्मणो मायाकल्पिततत्तदुपाध्यवच्छेदेन वस्वादिदेवतारूपेण भेदावभासेऽपि वस्तुत ऐक्यमेवेति तदभेदेनात्मानमनुसंदधाना ब्रह्मवादिनी सा एवं ब्रूते। एवमाम्भृण्या वाग्देव्या इव साक्षात्कृतपरतत्त्वस्य कस्यचिन्महात्मनोऽपि महर्षेरिमावतिधन्यौ मन्त्रौ सर्वात्मत्वानुभवं प्रकटयतः—'अग्निरसि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्। अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरसि नाम ॥ त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्ध्यर्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन्। वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत् ॥' (ऋ. ३।२६।७+८)

रज्जु ही है' इस की भाँति बाधसामानाधिकरण्य से-सर्वत्व उपपन्न-युक्तियुक्त होता ही है। तथा एक ही ब्रह्म का-माया से कल्पित-उस-उस उपाधियों के अवच्छेद के द्वारा वसु-आदि देवताओं के रूप से भेद का अवभास होने पर भी वस्तुत. ऐक्य ही है, इस प्रकार उस सब देवता आदि-विश्व के साथ अभेद भाव से अपने आत्मा का अनुसंधान करती हुई-ब्रह्मवादिनी वह वाग्देवी ऐसा बोलती है। इस प्रकार 'आम्भृणी-वाग्देवी की भाँति' साक्षात् किया है पर ब्रह्म तत्त्व जिसने ऐसा किसी एक-महात्मा महर्षि के-सर्वात्मविषयक अनुभव को-ये दो-अतिधन्य मन्त्र-प्रकट करते हैं-'स्वभाव से ही मैं जातवेदा-ब्रह्मरूप सर्वात्मा अग्नि-देव हूँ, विश्व का अवभास करने के लिए मेरा चक्षु-प्रकाश सर्वत्र सदा घृत-प्रदीप्त रहता है, मेरे मुख में सदा कल्याणमय-अमृत रहता है। जगत्स्रष्टा-प्राण-सूत्रात्मारूप मैं-तीन प्रकार से अपने-आत्मा का विभाग करके-वायुरूप से अन्तरिक्ष का-मापने वाला-अधिष्ठाता-नियन्ता होता हूँ, निरन्तर-प्रकाश से युक्त-जो स्वर्ग लोक का अधिष्ठाता-आदित्य-सूर्य है, वह भी मैं हूँ। एव जो आज्य पुरोडाशादि-रूप हवि है-उससे उपलक्षित-समग्र प्रसिद्ध भोग्य जगत् है-वह भी मैं ही हूँ। शुद्ध-एकाग्र हृदय से मनन-चिन्तन करने योग्य स्वप्रकाश परब्रह्मरूप भर्गज्योति का आत्मरूप से साक्षात् अनुभव करते हुए-मैं ने-अग्नि-वायु एव सूर्यरूप-इन तीन-पवित्र-पदार्थों के रूप से-अर्चनीय-अपने पूर्ण-अद्वैत आत्मा का परिज्ञान प्राप्त किया। अग्नि आदि रूप-स्वधाओं के द्वारा मैं ने अपने आत्मा को सर्वोत्तम-एव परमरमणीय किया। और अति शीघ्र ही द्यावा

१ अध्यवस्यन्ति मन्त्रार्थानेव मन्त्रान्तरैरपि। शाखान्तरस्थैस्तु पठितैर्विस्पष्टार्थैर्मनीषिण ॥ इत्युक्त ऋग्वेदानुक्रमणिकाया माधवभट्टेन॥ मनीषी विद्वान् अन्यशाखाओं में पठित विस्पष्ट-अर्थवाले अन्यमन्त्रों से प्रकृतमन्त्रों के अर्थों का निर्णय करते हैं। ऐसा माधव भट्ट ने ऋग्वेदानुक्रमणिका नाम के ग्रन्थ में कहा है।

इति । अनयोरयमर्थः—भोक्तृभोग्यभावेन द्विविधं हीदं चराचरं सर्वं जगदस्माभिरवलोक्यते । 'एतावद्वा इदमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः ।' (बृ. १।४।६) इति श्रुतेः । तत्र सकलभोक्तृवर्गरूपेणान्नादोऽग्निः । स चाग्निवाय्वादित्यभेदेन त्रेधा भूत्वा पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकानधितिष्ठति । तदुक्तं वाजसनेयके—'स त्रेधात्मानं व्यभजत आदित्यं तृतीयं वायुं तृतीयम् ।' (बृ. १।२।३) इति । तत्रैवं सति साक्षात्कृतपरतत्त्वस्वरूपोऽहं सकलभोक्तृरूपेण वाय्वादिरूपेण चावस्थितो जातवेदाः=जातं सर्वं विश्वं स्वात्मरूपतया वेत्तीति जातवेदाः—सर्वात्मा—अग्निः=परं ब्रह्म जन्मना=स्वभावतः—परमार्थत एव साधननैरपेक्ष्येण अस्मि=भवामि । यद्वा जातवेदाः=सद्गुरुकृपाकटाक्षात्समुत्पन्नब्रह्मात्मप्रज्ञोऽहं जन्मना अग्निरस्मि, घृतं मे चक्षुः=मम सर्वात्मनो यदेतत् चक्षुः—विश्वावभासकं स्वभावभूतप्रकाशात्मकं तत् घृतं=इदानीं परतत्त्वानुभवकालेऽत्यन्तं सर्वभ्राजस्रं दीप्तमस्तीति शेषः । यदेतत् अमृतं=कर्मफलं दिव्यादिव्यविविधविषयोपभोगात्मकं तत् मे=मम, आसन्=आस्ये—मुखे

पृथिवी से उपलक्षित-समस्त-जगत् का स्वात्मरूप से अनुभव किया ।' इति । इन दो मन्त्रों का यह अर्थ है—भोक्ता-चेतन, एवं भोग्य-जड भाव से दो प्रकार का यह सर्व चराचर जगत्-हम से देखा जाता है—अनुभूत होता है । 'इतना ही यह अन्न है, तथा अन्नाद है, सोम ही अन्न है, एवं अग्नि अन्नाद—अन्नभक्षणकर्ता है ।' इस बृहदारण्यक-श्रुति से भी यही सिद्ध होता है । उस में सकल-भोक्ताओं के समुदायरूप से अन्नाद अग्नि है । वह अग्नि, वायु एवं आदित्य के भेद से तिन प्रकार का होकर पृथिवी-अन्तरिक्ष-एवं द्युलोक का अधिष्ठान करता है । यही वाजसनेयक-शतपथ ब्राह्मण के बृहदारण्यक-उपनिषत् में कहा है—'उस अग्नि ने अपने आत्मा को तीन प्रकार से विभक्त किया, आदित्य तीसरा है एवं वायु भी तीसरा है ।' इति । उस विषय में—ऐसा होने पर साक्षात्कार किया है-परतत्त्व स्वरूप जिसने ऐसा मैं, सकल-भोक्ताओं के रूप से एवं वायु-आदि के रूप से अवस्थित हुआ मैं जातवेदा अग्नि स्वभाव से हूँ । अर्थात्-उत्पन्न हुए-समग्र-विश्व को अपने आत्मरूप से जो जानता है, वह जातवेदा-सर्वात्मा अग्नि-परब्रह्म है, यह मैं—जन्म से यानी स्वभाव से-परमार्थ से ही—साधनों की अपेक्षा विना ही—हूँ । यद्वा जातवेदा यानी सद्गुरु के कृपाकटाक्ष से सम्यक्-उत्पन्न हुई है—ब्रह्मात्मविषयिणी-प्रज्ञा जिसको ऐसा मैं जन्म से अग्नि-परमात्मा हूँ । मेरा चक्षु घृत है, अर्थात् मुझ सर्वात्मा का जो यह—विश्व का अवभासक-स्वभावरूप-प्रकाशात्मक-चक्षु है, वह घृत है, अर्थात् इस समय यानी परतत्त्व के अनुभव काल में अत्यन्त ही सर्वत्र निरन्तर दीप्त है, 'अस्ति' ऐसा शेष है । जो यह अमृत यानी-दिव्य-अदिव्य-विविध विषयों का उपभोगरूप-कर्म फल है, वह मेरे आस्य-मुख में वर्तता है । अर्थात् सकल-भोक्ताओं

वर्तते। सकलभोक्तृवर्गात्मना स्वयमेव मेऽव-स्थानात् तदखिलममृतपदाभिधेयं कर्मफलमहमेव भुनज्मीति यावत्। यद्वा जातवेदाः=जाताः समुत्पन्नाः ऋगादयो वेदा यस्मादसौ सर्वज्ञोऽग्निः पृथिव्यधिष्ठाता देवानां हविष्प्रापणादङ्गनादिगुणयुक्तोऽहमस्मि। घृतं=यदेतद्घृतं प्रसिद्धमस्ति, तन्मे चक्षुः-चक्षुःस्थानीयम्। यथा लोके चक्षुर्भासकं एवं घृतं मयि प्रक्षिप्तं ज्वालामुत्पादयन्मम भासकम्। अमृतं=प्रभारूपं यदमृतमविनाशि ज्योतिर्मे=मम, आसन्=आस्ये-मुखे वर्तते। एवं स्वात्मनोऽग्निरूपेण पृथिव्यधिष्ठातृरूपतामभिधाय वाय्वात्मनाऽन्तरिक्षाधिष्ठातृतामाह—अर्कः=जगत्स्रष्टा प्राणः। 'सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम्।' (श. ब्रा. १०।६।५) इति बृहदारण्यकश्रुतेः। स प्राणोऽहं त्रिधातुः=त्रेधात्मानं विभज्य तत्र वाय्वात्मना रजसः=अन्तरिक्षस्य विमानः= विमाता—विशेषेण—मानकर्ता परिच्छेत्ता अधिष्ठाता अहमस्मि। यद्वा त्रिधातुः=प्राणापानव्यानात्मना त्रिधा वर्तमानोऽर्कः= अर्चनीयो यः प्राणोऽस्ति सोऽपि-अहमस्मि। तथाऽऽदित्यरूपेण द्युलोकाधिष्ठातृतामाह— अजस्रः=अनुपक्षीणः शाश्वतो घर्मः=प्रकाशात्मा; यद्वा-अजस्रो घर्मः=नैरन्तर्येण सन्तापकारी द्युलोकाधिष्ठाताऽऽदित्यः सू-

के समुदायरूप से स्वय मैं अवस्थित हूँ, इसलिए उस निखिल-अमृत-पद का वाच्य-कर्मफल का मैं ही भोग करता हूँ। यद्वा जातवेदा यानी जात-समुत्पन्न हुए हैं ऋगादि-वेद जिस से-वह जातवेदा-सर्वज्ञ-अग्नि-देव-पृथिवी का अधिष्ठाता, देवों को हवि का प्रापक होने से-अगनादि-गुणों से युक्त-मैं हूँ। जो यह प्रसिद्ध घृत-घी है, वह मेरा चक्षु है यानी चक्षु स्थानापन्न है। जिस प्रकार लोक में चक्षु भासक है, इस प्रकार घृत भी मुझ-अग्नि में डाला हुआ ज्वाला का उत्पादन करता हुआ—मेरा भासक-प्रकाशक है। अमृत यानी प्रभारूप जो अविनाशी-अमृत-ज्योति है, वह मेरे आस्य-मुख में रहता है। इस प्रकार अपने आत्मा की-अग्निरूप से पृथिवी की अधिष्ठातृ-रूपता का कथन कर के वायुरूप से अन्तरिक्ष की अधिष्ठातृता का कथन करते हैं—अर्क यानी जगत् का स्रष्टा-प्राण। 'अर्चन-पूजन करते हुए-उस हिरण्यगर्भरूप-प्राण ने-अपने को कृतार्थ किया, अर्चन करने वाले-उसको पूजा का अगभूत जल उत्पन्न हुआ। अर्चन करते हुए-मेरे लिए निश्चय से क-जल उत्पन्न हुआ-यही अर्क का अर्कत्व है।' इस बृहदारण्यक-श्रुति से भी यही-अर्थ सिद्ध होता है। वह मैं हिरण्यगर्भरूप-समष्टि-प्राण, त्रिधातु हूँ, अर्थात् अपने आत्मा का तिन प्रकार से विभाग करके उसमें वायुरूप से रज यानी अन्तरिक्ष लोक का विमान यानी विमाता विशेषरूप से-मान-मापन कर्ता-परिच्छेदकर्ता उसका अधिष्ठाता मैं हूँ। यद्वा त्रिधातु यानी प्राण-अपान-व्यानरूप से तिनप्रकार से वर्तमान-अर्क यानी जो अर्चनीय-प्राण है, वह भी मैं हूँ। तथा आदित्यरूप से द्यु-स्वर्गलोक की अधिष्ठातृता का कथन करते हैं—अजस्र यानी अनुपक्षीण-क्षय-रहित शाश्वत, घर्म यानी प्रकाश-रूप-द्युलोक का अधिष्ठाता-आदित्य-सूर्य मैं ही हूँ,

योऽहमस्मि। एवं भोक्तृरूपतामात्मनोऽनुसंधाय भोग्यरूपतामप्यनुसन्धत्ते–यत्–हविः=आज्यपुरोडाशादिरूपं यदेतद्धविरस्ति, तदुपलक्षितं सर्वमपि भोग्यजातमहमेवास्मि। 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ. १।४।१०) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छां. ३।१४।१) इत्यादिश्रुतेः। नामशब्दः प्रसिद्धौ। यदाहुर्नैरुक्तकारा अप्यस्य मन्त्रस्याध्यात्मपरत्वं–'महानात्माऽऽत्मजिज्ञासयाऽऽत्मानं प्रोवाच–'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।' (नि. १४।१) इति। सर्वात्माऽग्निरूपोऽसौ महात्मा ऋषिः–हृदा=शुद्धैकाग्रान्तःकरणवृत्त्या, मतिं=मननीयं–चिन्तनीयं ज्योतिः=स्वप्रकाशरूपं परब्रह्माख्यं तेजः, अनु प्रजानन्=श्रवणमननादिक्रमेण प्रकर्षेण संशयविपरीतभावनाबुद्धिनिरासेन स्वात्मरूपतया जानानः सन् पवित्रैः=पावनैः त्रिभिः=पूर्वोक्तैरग्निवायुसूर्यैः, अर्कं=अर्चनीयं स्वात्मानं, अपुपोत्=तेभ्योऽपि निर्मलतया परमपावनं परिचिच्छेद=परिज्ञातवान् हि=खलु, यथा दशापवित्रेण याज्ञिकः पावनं सोमं पावयति तद्वत्। एवं जानानोऽसौ वर्षिष्ठं=सर्वोत्तमं सनातनं स्वात्मानं स्वधाभिः=स्वेन लोकान् दधातीति स्वधा तैः=अग्निवायुसूर्यैः, रत्नं=रमणीयं, अकृत=अकार्षीत्। आदित्=अन-

यद्वा अजस्र घर्म यानी नैरन्तर्य से सन्तापकारी महान्-प्रकाश। इसप्रकार आत्मा की भोक्तृरूपता का अनुसंधान करके भोग्यरूपता का भी अनुसंधान करते हैं–जो हवि यानी आज्य-पुरोडाश-आदि-रूप जो यह हवि है, उससे उपलक्षित सर्व भी भोग्य समुदाय मैं ही हूँ। 'मैं ब्रह्म हूँ', 'यह सर्व विश्व निश्चय से ब्रह्म ही है' इत्यादि श्रुतियों से पूर्वोक्त-अर्थ सिद्ध होता है। नाम शब्द प्रसिद्धि-अर्थ में है। यह मन्त्र अध्यात्मतत्त्व का बोधक है, ऐसा निरुक्तकार भी कहते हैं–'महान्-आत्मा ने आत्मा की जिज्ञासा से आत्मा का कथन किया–'अग्निरस्मि जन्मना जातवेदाः।' इत्यादि मन्त्र से। सर्वात्मा अग्निरूप वह महात्मा-ऋषि–हृदा यानी शुद्ध एकाग्र-अन्तःकरण की प्रशान्त वृत्ति से मति यानी मननीय चिन्तनीय, ज्योति यानी स्वप्रकाशरूप-परब्रह्म नामक भर्ग-तेज को, अनुप्रजानन् यानी श्रवण मननादि के क्रम से प्रकर्ष करके यानी संशय एवं विपरीत भावना वाली बुद्धि के निरास द्वारा स्वात्मरूप से जानता हुआ–पवित्र यानी पावन-पूर्वोक्त-अग्नि वायु एवं सूर्य से भी अर्क यानी अर्चनीय-अपने आत्मा को अपुपोत् अर्थात् उन-अग्नि आदियों से भी निर्मलता करके परमपावन रूप-अपने आत्मा का उसने परिज्ञान प्राप्त किया। हि-खलु निश्चय से जैसे दशापवित्र से याज्ञिक-पावन सोम को पवित्र करता है, तद्वत्। इस प्रकार जानते हुए उसने-वर्षिष्ठ यानी सर्वोत्तम-सनातन अपने आत्मा को–स्वधा यानी अग्नि-वायु एवं सूर्य के द्वारा–अपने से लोकों को जो धारण करता है, वह स्वधा है–रत्न यानी रमणीय किया। आदित्

१ आसन्–आस्यशब्दस्य 'पद्दन्नोमास्' इत्यादिना असनादेशः, 'सुपां सुलुक्'–इति सप्तम्या लुक्। विमान–'मान् मने' कर्तरि ल्युट्। अजस्र=’जसु मोक्षणे' नञ्पूर्वः, 'जस उपक्षये वा, ताच्छीलिको रन्प्रत्ययः', नञ्पूर्वो जसिर्नैरन्तर्ये वर्तते। पवित्रैः–'पूञ् पवने' अस्मात् 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' इति देवतायामभिधेयायां कर्तरि इत्रप्रत्ययः पुनन्तीति पवित्रा अग्निवायुसूर्याः। अपुपोत्=’पूञ् पवने' इत्यस्य लङ्-उगन्तस्य रूपम्। अर्कम्–अर्च-पूजायां कप्रत्ययः। हृदा–हृदयशब्दस्य 'पद्दन्नोमास्' इत्यादिना हृदादेशः। मति–मन ज्ञाने कर्मणि क्तिन् प्रत्ययः। अकृत–करोतेर्लुङि सिचः तस्य लोपः।

न्तरमेव, आत्मनि पूर्णाद्वैते सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि विज्ञाते सति द्यावापृथिवी–तत्र परिकल्पिते द्यावापृथिव्यौ तदुपलक्षितं सर्वं जगत् पर्यपश्यत्–परितः–सर्वतः स्वात्मतयाऽपश्यत्–अनुभूतवान् 'आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ।' (बृ. २।४।६) इति श्रुतेः । तदनेन तस्य मन्त्रद्रष्टुर्महर्षेस्तत्त्वदर्शिनः सर्वात्मत्वप्रतिपादनेन परब्रह्मत्वमप्यभिहितं भवति । 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।' (मुं. ३।२।९) इति श्रुतेः ।

यानी अनन्तर ही आत्मा जो पूर्ण-अद्वैत-सर्वाधिष्ठान-ब्रह्मरूप है–उसका अपरोक्ष विज्ञान प्राप्त करने पर द्यावापृथिवी यानी उस ब्रह्म में परिकल्पित द्यावापृथिवी से उपलक्षित सर्व जगत् का परितः यानी सर्व तरफ से स्वात्मरूप से उसने अनुभव किया। 'आत्मा विज्ञात होने पर यह सर्व जगत् विज्ञात हो जाता है।' इस श्रुति से भी यही-अर्थ सिद्ध होता है। इस कथन से उस मन्त्रद्रष्टा-तत्त्वदर्शी-महर्षि के सर्वात्मत्व के प्रतिपादन द्वारा-परब्रह्मत्व का भी कथन किया गया। 'जो ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है।' इस मुण्डक श्रुति से भी यही सिद्ध होता है।

इदमत्र निगूढं रहस्यमप्यनुसन्धेयम्–प्रत्यगात्मा हि परं ब्रह्म, नास्ति तयोः कथमपि भेदः । तदेव कार्यदशायां मायया स्वरूपत्रैविध्यं बिभर्ति–अग्निः वायुः सूर्यश्चेति । त्रयोऽप्येते द्विविधा भवन्ति–जीवात्मानः, ईश्वरात्मानश्च । एकैकशरीराभिमानित्वे जीवात्मत्वम् । ब्रह्माण्डाभिमानित्वे तु ईश्वरात्मत्वम् । ईश्वरात्मन एवैते औपाधिका अंशाः प्रतिशरीरं भिन्ना जीवात्मान उच्यन्ते । ब्रह्माण्डाभिमानिन इमे ईश्वरात्मानोऽपि भूरादिस्थानविशेषोपाधिभेदेन त्रिसंज्ञका भवन्ति । भूस्थानो विराट्संज्ञो वैश्वानरोऽग्निः, अन्तरिक्षस्थानो हिरण्यगर्भसंज्ञः सूत्रात्मा वायुः, द्युस्थानो सर्वेश्वरसंज्ञश्च सूर्यः । इमे त्रयः सन्ति स्थूलसूक्ष्मादिसर्वाण्डपरिव्यापिनः । एतावदिदं भूर्भुवःस्वः समष्टिब्रह्माण्डं सर्वम् । ब्रह्माण्डेऽखिले वर्तमानाः त एवेमे अग्निवायुसूर्याः प्रतिशरीरमाविश्य तत्तत्स्थानविशे-

यहाँ इस अति-गूढ-रहस्य का भी अनुसंधान करना चाहिए–निश्चय से प्रत्यगात्मा ही पर ब्रह्म है, उन-दोनों का किसी भी प्रकार से भेद नहीं है। वही कार्यदशा में माया के द्वारा अग्नि-वायु एवं सूर्य ऐसे तीन प्रकार के स्वरूपों को धारण करता है। तीन भी ये दो प्रकार के होते हैं–जीवात्मा तथा ईश्वरात्मा। एक-एक-शरीर का अभिमानी होने से वह जीवात्मा होता है, एवं ब्रह्माण्ड का अभिमानी होने से ईश्वरात्मा होता है। ईश्वरात्मा के ही ये औपाधिक-अंशरूप-प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न जीवात्मा कहे जाते हैं। ब्रह्माण्ड के अभिमानी ये ईश्वरात्मा भी भूः आदिस्थान-विशेषरूप-उपाधि के भेद से तीन-संज्ञा-नाम वाले हो जाते हैं। भूस्थान वाला विराट् नाम का वैश्वानर अग्नि है, अन्तरिक्षस्थान वाला हिरण्यगर्भ नाम का सूत्रात्मा वायु है, एवं द्यु-स्वर्ग-स्थान वाला सर्वज्ञ-ईश्वर नाम का सूर्य है। ये तीन-ईश्वरात्मा स्थूल-सूक्ष्मादि समग्र-ब्रह्माण्ड में परिव्याप्त हो कर रहते हैं। इतना ही यह भूः भुवः एवं स्वः समग्र समष्टि–ब्रह्माण्ड है। समस्त-ब्रह्माण्ड में वर्तमान वे ही ये अग्नि वायु एवं सूर्य, प्रत्येक शरीर में

योपाधिभेदेन त्रिसंज्ञका भवन्ति । उदरस्थानो विश्वसंज्ञोऽग्निः, वक्षःस्थानः तैजससंज्ञो वायुः, शिरःस्थानः प्राज्ञसंज्ञश्च सूर्यः।

एवं ऋग्यजुःसामलक्षणोऽखिलोऽप्ययं त्रयीविद्यारूपो वेदः तेभ्य एवाग्निवायुसूर्येभ्यः प्रादुर्भवति । 'अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात् ।' (छां. ४।१७।२) इति श्रुतेः । यदिदं किञ्चिदिह शब्दजातमुपलभ्यते, तत्सर्वं वेद एव नातोऽतिरिच्यते किञ्चित् । त्रिविध एवाखिलः शब्दो लोके दृष्टः—पद्यभावेन गद्यभावेन गीतिभावेन च, तथा च पद्यशब्दजातस्य ऋक्त्वं, गद्यशब्दजातस्य यजुष्ट्वं, गीतिशब्दजातस्य सामत्वञ्चाख्यायते ।

सर्वमपि पिण्डब्रह्माण्डलक्षणं जगत् नामरूपात्मकमेवानुभूयतेऽस्माभिः । तत्र निखिलोऽर्थप्रपञ्चो रूपम्, शब्दप्रपञ्चोऽखिलो नाम एव । तस्य सर्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य जगच्छब्दाभिधेयस्य कारणीभूताः त एवेमे अग्निवायुसूर्या एव; श्रौतसिद्धान्ते खलु विवर्तवादस्यैवाभ्युपगमात्, न वस्तुतो भिद्यते कारणतः कार्यम् । पारमार्थिकाधिष्ठानस्वरूपमपरित्यज्य दोषवशादसत्यनानाकारप्रतिभासो हि विवर्त इत्युच्यते । अत एव—कार्यकारणयोर्भेदाभेदव्यवहारस्य सर्वलोकप्रत्ययसिद्धत्वात् लोके दृश्यमानो नानाविधभेदस्तु मिथ्यैव, सच्चि-

प्रविष्ट हो कर उस-उस-स्थान-विशेषरूप-उपाधि के भेद से तीन नाम वाले हो जाते हैं । उदरस्थानवाला-अग्नि विश्व-नाम वाला, वक्षःस्थान वाला-वायु तैजस नाम वाला, एवं शिरःस्थान वाला सूर्य प्राज्ञ नाम वाला हो जाता है।

इस प्रकार ऋक्-यजु एवं सामरूप समस्त भी यह त्रयी विद्यारूप वेद, उन-अग्नि, वायु, एवं सूर्य से ही प्रादुर्भूत होता है। 'अग्नि से ऋक्-मन्त्र, वायु से यजुर्मन्त्र, एवं आदित्य से साममन्त्र प्रादुर्भूत हुए' इस छान्दोग्य-श्रुति से भी यही सिद्ध होता है । जो कुछ यहाँ यह शब्दसमुदाय उपलब्ध होता है, वह सर्व वेद ही है, इस से अतिरिक्त कुछ नहीं है। लोक में तीन प्रकार का ही समस्त शब्द देखा गया है—पद्यभाव से गद्यभाव से एवं गीतिभाव से । तथा च पद्य-शब्दसमुदाय में-ऋक्त्व, गद्य-शब्द समुदाय में यजुष्ट्व, एवं गीति-शब्द समुदाय में सामत्व कहा जाता है।

समग्र भी पिण्ड-ब्रह्माण्डरूप विश्व-जगत् नाम रूपात्मक ही हमारे से अनुभूत होता है। उसमें निखिल-अर्थ प्रपञ्च का नाम रूप है, एवं निखिल-शब्द प्रपञ्च का नाम नाम ही है। यह सर्व नामरूप प्रपञ्च—जो जगत् शब्द से प्रतिपाद्य है—उसके कारणरूप ये ही वे अग्नि वायु एवं सूर्य हैं। श्रौत-वैदिक सिद्धान्त में निश्चय से विवर्तवाद ही माना गया है, इसलिए वस्तुतः कारण से कार्य भिन्न नहीं होता है। पारमार्थिक-अधिष्ठान-स्वरूप का परित्याग न करके ही अविद्यादि-दोषवश से असत्य-नाना-अनेक-आकारों का मिथ्या-प्रतिभास ही विवर्त है, ऐसा कहा जाता है । इसलिए कार्य-कारण का भेद-व्यवहार एवं अभेद-व्यवहार समग्र-लोगों की प्रतीति से सिद्ध है । लोक में दृश्यमान नाना प्रकार का भेद तो मिथ्या ही है। सच्चिद्-

दाद्यात्मना पारमार्थिकोऽभेद एव सत्यः। मृत्तिकातः संजातोऽयं घटो तत्रैवावस्थितो वस्तुतो मृत्तिकैवेत्युक्तौ भेदः काल्पनिकोऽभेदस्तु वास्तविक एवावगम्यते। तथा च सर्वमपि नामरूपात्मकमिदं जगत् अग्निवायुसूर्येभ्यो जातं तत्रैवावस्थितं तदात्मकमेव न ततोऽतिरिच्यते। ते एते त्रयो ब्रह्मस्वरूपा एव कार्योपाधिबाधे सति-एकरूपेणावभासन्ते। यदाहुर्निरुक्तव्याख्याकाराः-'अग्नीन्द्रसूर्याणां परस्परापेक्षमन्यत्वम्, अनन्यत्वन्तु एकेन देवतात्मना महता सह यथा घटादीनां मृदा। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। न ह्यङ्गिनमङ्गान्यतिरिच्यन्ते, भेदेनाग्रहणात्। तस्मादग्नीन्द्रसूर्यात्मकस्य देवात्मनोऽङ्गानि जातवेदोवायुभगप्रभृतीनि। स एव महात्मा अग्नीन्द्रसूर्यवाय्वाद्यङ्गप्रत्यङ्गभावेन व्यूहमनुभवन् एकोऽपि तद्बहुधा स्तूयते।' (७।४।९) इति। ते इमेऽग्निवायुसूर्या अहमेवास्मि इति स्वीयं सर्वात्मत्वं पूर्णाऽद्वैतलक्षणं वाग्देवीवत् विद्वद्वरीयानसौ महर्षिरुदाहृतमन्त्रद्वयेन प्रख्यापयतीत्यलम्।

आदि रूप से पारमार्थिक-अभेद ही सत्य है। मृत्तिका से उत्पन्न होने वाला यह घट उस मृत्तिका में ही अवस्थित हुआ वस्तुतः मृत्तिका ही है, ऐसा कथन करने पर मृत्तिका से घट का भेद काल्पनिक है एवं अभेद वास्तविक है, ऐसा जाना जाता है। तथा च सर्व भी यह नामरूपात्मक-जगत्, अग्निवायु एवं सूर्य से उत्पन्न हुआ, उसमें ही अवस्थित हुआ तदात्मक ही है, उस से अतिरिक्त नहीं है। वे भी ये तीन-अग्नि वायु एवं सूर्य, ब्रह्मस्वरूप ही हैं, कार्यरूप-उपाधि का बाध होने पर एकरूप से ही वे अवभासित होते हैं। यही निरुक्त की व्याख्या करने वाले दुर्गाचार्य कहते हैं-'अग्नि, इन्द्र एवं सूर्य का-परस्पर की अपेक्षा करके अन्यत्व-भेद है, परन्तु एक-महान्-देवतात्मा के साथ उन का अनन्यत्व-अभेद है, जिस प्रकार घटादिकों का परस्पर अन्यत्व होने पर भी मृत्तिका के साथ अनन्यत्व है, तद्वत्। एक ही आत्मा के अन्य देव प्रत्यङ्ग होते हैं। और अङ्ग, अङ्गी से अतिरिक्त नहीं होते हैं, क्योंकि-भेद से-पार्थक्य से उनका ग्रहण नहीं होता है। इसलिए अग्नि-इन्द्र एवं सूर्यरूप-देवात्मा के अंगरूप, जातवेदा-वायु-भग आदि अन्य देव हैं। वही महान्-आत्मा-अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वायु आदि जो उस के अंग-प्रत्यंग हैं-उस के भाव से-व्यूह-विस्तार का अनुभव करता हुआ एक भी वह बहुरूप से स्तुत होता है।' इति। वे ये अग्नि वायु एवं सूर्य मैं ही हूँ, ऐसा अपने सर्वात्मत्व का-जो पूर्ण-अद्वैतरूप है-वाग्देवी की भाँति-विद्वद्वरीयान्-यह महात्मा महर्षि-उदाहृत-इस दो मन्त्रों से-प्रख्यापन करता है। इत्यलम्।

(९२)

(स्वस्वरूपस्य यथावन्निश्चयेन दैन्यं विनिवर्तते)

(स्वस्वरूप के यथावत् निश्चय से ही दीनता की विनिवृत्ति होती है)

पुनर्वाग्देवी स्वात्मानं निरूपयति–यद्यप्यहं सर्वैः संसारधर्मैरनागन्धिता नामरूपाभ्यामर्थान्तरभूता निर्द्वन्द्वा नित्यशुद्धा निष्क्रिया अपि साक्षिमात्रत्वात् राजवत्सान्निध्यात् जगतः सर्वा व्यवस्था निर्वर्तयामि। अत एवाहमस्मि विश्वनियन्त्री परमेश्वरी। सर्वस्यात्मभूतत्वात् कर्तृकर्मफलविभागज्ञत्वाच्च मत्त एव यागादिकर्मसूपशान्तेष्वपि तत्तत्कर्मकर्तृभ्यः कालान्तरे देशान्तरेऽपि तत्तदनुरूपाणि फलानि समुपपद्यन्ते। स्वात्मानं यथावदवबुध्यैवाहमनन्तकल्याणगुणगणार्णवा वरेण्या शरण्या सुरासुराद्यर्चितपदा विश्वरूपा जगत्तारिणी साक्षाद्भगवती संवृत्ताऽसीत्यहो! स्वात्मज्ञानस्य स्तुत्यतरं माहात्म्यमिदमवगन्तव्यं सुधीभिर्भवद्भिः। अहमिवान्योऽपि यः कश्चित् स्वात्मानं मां विज्ञाय तथैव भवितुमर्हति। यद्यपि परमार्थतस्तु एक एवात्मा भेदवर्जितः सैन्धवघनवदेकरसः प्रज्ञानानन्दघनोऽहमस्मि, तथापि 'तिमिरदृष्ट्याऽनेकचन्द्रवद्' अविद्यामयीभिर्बुद्धिवृत्तिभिर-

पुनः वाग्देवी आम्भृणी अपने आत्मा का निरूपण करती है। यद्यपि मैं समस्त-संसार के कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि-धर्मों से अनागंधित–अनवलिप्त-हूँ, नाम एवं रूप से विलक्षण हूँ, निर्द्वन्द्व-नित्य-शुद्ध एवं निष्क्रिय हूँ, तथापि मैं साक्षिमात्र से राजा की भाँति अपने सान्निध्य से ही जगत् की समस्त व्यवस्थाओं का प्रसाधन करती हूँ। इसलिए मैं ही हूँ विश्व की नियन्त्री-परमेश्वरी। सर्व चराचर विश्व का मैं आत्मा-रूप हूँ, और कर्ता, कर्म एवं फल के विभागों को मैं जानती हूँ, इसलिए मेरे से ही–यागादि-कर्मों का उपशमन हो जाने पर भी–उन-उन कर्मों के करने वाले-प्राणधारियों के लिए अन्य-काल में एवं अन्यदेश में भी उन-उन कर्मों के अनुरूप-फल-सम्यक् उपपन्न-सिद्ध हो जाते हैं। अपने आत्मा को यथार्थरूप से जान करके ही मैं अनन्त-कल्याणमय-गुणों के समुदाय की समुद्र रूपा, अतिश्रेष्ठा-शरण ग्रहण करने योग्या-देव-असुर आदि से अर्चित-पूजित-पादवाली-विश्वरूपा जगत् की तारिणी साक्षात् भगवती ही हो गई हूँ। इस प्रकार अहो!–आश्चर्य-अर्थ में–स्वात्म-ज्ञान का अतिस्तुत्य-इस माहात्म्य को–आप अच्छी-पवित्र बुद्धि वाले-सज्जनों से जानना चाहिए। मेरी तरह अन्य भी जो कोई अधिकारी अपने-आत्मा-रूप-मुझ को विशेषरूप से जान करके वैसा ही होने के लिए योग्य हो जा सकता है। यद्यपि परमार्थ से तो एक ही आत्मा-भेद वर्जित 'सैन्धव-लवण के ठोस-डले की भाँति' अखण्ड-एकरस प्रज्ञान-आनन्दघन ही मैं हूँ। तथापि 'तिमिर-दृष्टि से अनेक चन्द्र की भाँति' अविद्या प्रचुर-बुद्धि वृत्तियों के द्वारा अनेक

नेकवदवभासमाना भवामि । याऽहं नामरूपविलक्षणाऽविकृताऽपि स्वात्ममायया नामरूपे व्याकृत्य सृष्ट्वेमानुच्चावचान् कार्यकरणसंघातान् जीवात्मना तेष्वन्तः प्रविश्यान्यैरदृष्टाऽपि स्वयं सर्वं पश्यन्ती देवोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारं कुर्वन्ती जागर्मि, इत्येतदाह—

की तरह मैं अवभासमाना होती हूँ। -जो मैं नाम एवं रूपों से विलक्षण-अविकृत-निर्लेप-असंग हूँ, वही मैं अपने आत्मा की माया से नाम एवं रूप का व्याकरण करके इन-उच्च-अवच-उत्तम-अधम-कार्य-करण संघातों का सर्जन करके जीवात्मरूप से उनके भीतर प्रविष्ट हो करके अन्य-मूढ़ों से यद्यपि मैं नहीं देखी जा सकती हूँ, तथापि स्वयं ही सर्व को देखती हुई-'मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि-व्यवहार को करती हुई-जाग्रत्-सावधान रहती हूँ, इसी अर्थ को वाग्देवी मन्त्रद्वारा कहती है—

ॐ अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां, चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा, भूरि स्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥

'मैं वाग्देवी ब्रह्मरूपा परमेश्वरी हूँ, समग्र-कर्म-फलों का-उनके कर्ताओं के प्रति यथायोग वितरण करती हूँ। अत एव मैं ने ज्ञातव्य-प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म का साक्षात् अनुभव किया है। इसलिए यज्ञिय-देवों के मध्य में मैं ही मुख्य-प्रधान-सर्वोपरि होगई हूँ। ऐसी वही मैं बहु-विविध-विश्व-प्रपञ्चरूप से अवस्थित हुई, बहु-भूत-समुदायों में जीवभाव से प्रविष्ट हुई हूँ। उस-एक-मुझ को देव-द्योतक-अविद्यामयी-बुद्धिवृत्तियाँ-अनेकरूप-विविधव्यवहार का आस्पदरूप बनाती हैं।'

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. १२५ ऋक् ३। अथर्व. ४।३०।२)

अहं=अद्वितीयब्रह्मात्मिका वाग्देवी राष्ट्री=ईश्वरनामैतत्, कृत्स्नस्य दृश्यप्रपञ्चस्य राज्ञी नियन्त्री परमेश्वरी अहमस्मीति शेषः। अत एव वसूनां=धनानां-कर्मफलानां संगमनी=संगमयित्री-प्रापयित्री-वितरणकर्त्री, येन येन कर्त्रा यद्यत्कृतं शुभमशुभं वा कर्म, सदुपासनमसदुपासनं वा तस्य तस्य कर्मिण उपासकस्य वा तत्तदनुरूपं फलमहमेव समर्पयामीति यावत्। किञ्चाहं चिकितुषी=परसाक्षात्कर्तव्यं प्रत्यगात्मभूतं परं ब्रह्म तद् ज्ञातवती-स्वात्माभेदेन साक्षात्कृतवती इत्यर्थः। ('कित ज्ञाने' इत्यस्माल्लिटः क्वसुः तदन्तात् 'उगितश्च' इति ङीप्) अत एवाहं

मैं अद्वितीय ब्रह्मरूपा वाग्देवी राष्ट्री हूँ, राष्ट्री यह ईश्वर का नाम है, अर्थात् मैं समग्र-दृश्य-द्वैत-प्रपञ्च की-राज्ञी-नियन्त्री-परमेश्वरी हूँ, 'अस्मि' यह क्रियापद शेष रूप से योजित है। अत एव वसु यानी धनरूप-कर्मफलों की संगमनी यानी उनका प्रापण-वितरण करती हूँ। जिस-जिस कर्ता ने जो जो शुभ या अशुभ कर्म किया है, या सदुपासन एवं असदुपासन किया है, उस उस कर्म-कर्ता को एवं उपासना-कर्ता को, उस-उस के अनुरूप-फल का समर्पण मैं ही करती हूँ। और मैं चिकितुषी हूँ यानी जो साक्षात् करने योग्य-प्रत्यगात्मरूप-पर ब्रह्म है उसको मैं जान गई हूँ, अपने आत्मा के अभेदरूप से उसका मैं ने साक्षात्कार कर लिया है। कित धातु ज्ञान अर्थ में है। अत एव मैं

यज्ञियानां यज्ञार्हाणां देवानां मध्ये प्रथमा=मुख्या, सकलकल्याणगुणगणैर्वरिष्ठा संजाता । ('यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' इत्यर्हार्थे घप्रत्ययः) येयं दिव्यगुणविशिष्टाऽहं तां तादृशीं मा=मां, भूरिस्थात्रां=बहुभावेन प्रपञ्चात्मनाऽवतिष्ठमानां—कृतावस्थानामित्यर्थः । भूरि=भूरीणि—बहूनि भूतजातानि—आवेशयन्ती=जीवभावेनात्मानं प्रवेशयन्ती ईदृशीं मां देवाः=देवनात्मिकाः—अविद्याकामादिविशिष्टाः बौद्धवृत्तयः, पुरुत्रा=पुरुषु—बहुषु—कार्यकरणसंघातेषु शरीरेषु व्यदधुः=विदधति—अनेकरूपं विविधव्यवहारास्पदं कुर्वन्ति, उक्तप्रकारेण वैश्वरूप्येणावस्थानात्, यद्यत् कुर्वन्ति देवास्तत्सर्वं मामेव कुर्वन्तीत्यर्थः । (पुरुत्रा 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः' इति सप्तम्यर्थे त्राप्रत्ययः)

यज्ञिय-यज्ञार्ह-देवों के मध्य में प्रथम-यानी मुख्य-सकल-कल्याणमय गुणों के समुदायो से अत्यन्त-श्रेष्ठ हो गई हूँ । इस प्रकार जो मैं दिव्य-गुणों से विशिष्ट हूँ, उस प्रकार की-उस मुझ को—जो मैं भूरिस्थात्रा यानी बहु-असख्य-भाव-पदार्थ वाले प्रपञ्चरूप से अवतिष्ठमान हूँ, अर्थात् विश्वरूप से मैंने अवस्थान किया है—एव मैं भूरि-बहु भूत-समुदायों में जीवभाव से आत्मा का प्रवेशन करती हूँ—इस प्रकार की मुझ को—देव यानी देवन-द्योतनरूप-अविद्या-कामादि से विशिष्ट-बुद्धि—वृत्तियाँ, पुरुत्रा यानी पुरु-बहु-कार्य-करण सघातरूप-शरीरों में अनेकरूप-यानी विविध-व्यवहारों का विषयरूप-करते हैं । अर्थात् उक्त प्रकार से विश्वरूप से मेरा अवस्थान होने के कारण देव जो जो करते हैं, उस सर्वरूप-मुझ को ही करते-बनाते हैं ।

(९३)

(आत्मज्ञानमेव संसारसागरोत्तरणहेतुभूतसेतुरस्ति तद्विना तत्र निमज्जनमेव भवति)

(आत्मज्ञान ही ससार-सागर से उत्तरण का हेतुरूप सेतु है, उसके विना उसमें निमज्जन ही होता है)

भूयोऽपि वाग्देवी सम्बोधनेनाभिमुखीभवन्तं बुभुत्सुं स्वात्मस्वरूपं गाहयति । भो कल्याणपथपथिक ! सखे ! विजानीहि मां स्वस्वरूपमानन्दात्मानं सर्वकरणवृत्तिसाक्षिणम् । यत आत्मज्ञानमेवास्ति दुश्चिकित्स्यस्य संसारव्याधेः सिद्धौषधम् । ततो महता यत्नेन तत्सम्पाद्य स्वस्य निश्चलं स्वास्थ्यं सम्पादनीयम् । यद्यपि 'अद्मयि, प्राणिमि, पश्यामि,

फिर भी वाग्देवी सम्बोधन के द्वारा अभिमुख होने वाले जिज्ञासु-मुमुक्षु को अपने आत्मस्वरूप का ग्रहण-करवाती है । भो कल्याणमार्ग का पथिक ! सखे मित्र ! मुझ को तू विशेषरूप से जान—जो मैं तेरा ही स्वस्वरूप-समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का साक्षी आनन्द-आत्मा हूँ । क्योंकि-आत्मज्ञान ही दुश्चिकित्स्य-ससार-व्याधि का सिद्धौषध है । इसलिए महा यत्न से उसको सम्पादन करके अपने आपके निश्चल-स्वास्थ्य का सम्पादन करना चाहिए । यद्यपि 'मैं खाता हूँ, मैं श्वास लेता हूँ, मैं देखता

शृणोमि' इत्यादिप्रत्ययात् लोकानां प्राणचक्षुःश्रोत्रादिकमेव चेतनमात्मभूतं प्रसिद्धमस्ति, तथापि तन्मिथ्याज्ञानमेव मन्तव्यं, नात्मज्ञानम् । यतः प्राणादेर्दृश्यत्वेनाचिद्रूपत्वात् । तस्य स्वविषयग्रहणसामर्थ्यं न स्वतः किन्तु तस्मात्संहतादनित्याद्विलक्षणे नित्येऽसंहते सर्वान्तरे चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि सत्येव भवति नासति, यथोदकस्य दग्धृत्वसामर्थ्यं अग्निसंयोगे सत्येव भवति नासति, तद्वत् चैतन्यज्योतिषा दीपितमेव तत्समर्थं भवति, नान्यथा। अतो मुख्यात्माधिष्ठितस्यैव प्राणस्यादनप्राणनादिसामर्थ्यं मन्तव्यं, तथैव चक्षुषः, श्रोत्रस्य, किं बहुना? मनआदिनिखिलकरणानामपि तदधिष्ठितानामेव स्वस्वव्यापारसामर्थ्यं नानधिष्ठितानाम् । अतः सर्वसाक्षिणमखिलकरणवर्गप्रेरकमक्रियं कूटस्थं मुख्यात्मानं यथावद्विज्ञायानात्मसु प्राणादिष्वात्मभावः परित्यक्तव्यः । भो मतिमन्! वत्स! यन्मयोपदिश्यते तत्त्वया सच्छ्रद्धया श्रोतव्यम् । श्रुत्वा चानन्यचेतसाऽवधारणीयम् । श्रद्धैकवेद्यमिदं न तु तार्किकबुद्धिगम्यम् । एवं यः कश्चित्तमखिला-

हूँ, सुनता हूँ, इत्यादि प्रतीति से लोकों को प्राण-चक्षु श्रोत्र-आदिक ही चेतन-आत्मरूप से प्रसिद्ध है, तथापि उनका वह मिथ्याज्ञान ही है, ऐसा मानना चाहिए, यथार्थ आत्मज्ञान नहीं है। क्योंकि-प्राणादि, दृश्य होने से अचिद्रूप-जड अनात्मा ही हैं। उन-प्राणादियों में अपने विषयों के ग्रहण का सामर्थ्य स्वत नहीं है, किन्तु उस संहत-यानी-देहेन्द्रियादिरूप-कार्यकरण संघात-जो अनित्य है, उससे विलक्षण-नित्य असंहत-सर्वान्तर चैतन्य-आत्मज्योति के होने पर ही होता है, न होने पर सामर्थ्य नहीं होता है। जिस प्रकार जल में जलाने का सामर्थ्य अग्नि का संयोग होने पर ही होता है, अग्नि का संयोग न होने पर नहीं होता है। तद्वत् चैतन्य ज्योति से दीपित-प्रकाशित ही यह प्राण-चक्षुरादि अपने कार्य करने के लिए समर्थ होता है, अन्यथा नहीं होता है। इसलिए मुख्य-आत्मा से अधिष्ठित ही प्राण में अदन-भक्षण, प्राणन आदि का सामर्थ्य मानना चाहिए, तिस प्रकार ही चक्षु का श्रोत्र का बहुत क्या? मन आदि निखिल-इन्द्रियाँ जो उस मुख्य-आत्मा से अधिष्ठित हैं-उन का ही अपने-अपने व्यापार करने का सामर्थ्य है, उस से अनधिष्ठित इन्द्रियों का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए सर्व का साक्षी-समस्त-इन्द्रिय-समुदाय का प्रेरक-अक्रिय-कूटस्थ-मुख्य-आत्मा को यथावत् विशेषरूप से जान करके अनात्मा प्राणादियो में आत्म-भाव का परित्याग कर देना चाहिए। भो मतिमन्! वत्स! प्रिय! जिस तत्त्व का मैं उपदेश करती हूँ, उसका तुझे सात्विकी श्रद्धा से श्रवण करना चाहिए। सुन कर के अनन्य चित्त के द्वारा उस का निश्चय करना चाहिए। यह तत्त्व एकमात्र श्रद्धा से ही गम्य है, तार्किकों की चचल बुद्धि से यह गम्य नहीं है। इस प्रकार जो कोई-उस अखिल जगत् के

न्तरात्मानमन्तर्यामिणं मां जानाति, स संसारसागरादुत्तीर्णः सन्नखण्डसुखभाग्भवति। ये च प्रमादिनस्तं न जानन्ति, ते संसारसागरे निमज्जन्ति दुःखिनो भवन्ति। इति तदेतदाह—

अन्तरात्मा अन्तर्यामीरूप मुझ को जानता है, वह संसार-सागर से उत्तीर्ण होकर अखण्ड सुख का भागी हो जाता है। जो प्रमादी मूढ लोग उसको नहीं जानते हैं, वे संसारसागर में निमग्न होते हैं एवं दुःखी हो जाते हैं। इति। इसी ही तत्त्व का वह वाग्देवी मन्त्र द्वारा कथन करती है—

ॐ मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति, यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति, श्रुधि श्रुत! श्रद्धिवं ते वदामि॥

(ऋग्वेद मण्ड. १० सूक्त. १२५ ऋक्. ४) (अथर्व. ४।३०।४)

'जो कोई प्राणधारी जीव, अन्न का भक्षण करता है, वह सब मुझ-अन्तरात्मा के सामर्थ्य से प्रयुक्त हुआ ही अन्न-भक्षण करता है, स्वतः नहीं। इस प्रकार जो कोई प्राणी घटपटादि पदार्थों का अवलोकन करता है, एवं जो कोई श्वास-प्रश्वासादि-व्यापार करता है, एवं जो कोई इस कथन किये हुए शब्द-समुदाय का श्रवण करता है। वे सब जीव, मुझ-प्रत्यगात्मा की चैतन्य-शक्ति के सामर्थ्य से ही अवलोकन-प्राणन-श्रवण आदि करते हैं। जो मूढमतिवाले जन, विश्वप्रेरक-कूटस्थ चितिशक्तिरूप-मुझ को नहीं जानते हैं, वे उपक्षीण-दीन हीन-अधोगामी हो जाते हैं। हे मतिमन्! तू मेरे इस उपदेश को सुन। तेरे प्रति मैं श्रद्धा करने योग्य-सत्यतत्त्व का ही प्रतिपादन करती हूँ।'

यः=कश्चित् प्राणभृद्भोक्तृजनः, अन्नं=अदनीयं व्रीहियवादिकं, अत्ति=खादति, सः=सर्वोऽपि प्राणी मया=आत्मचैतन्यज्योतिषा मयैव भोक्तृशक्तिरूपेण प्रयुक्तः सन् अत्ति, न स्वतः। एवं यः चक्षुषा विपश्यति=घटपटादिकं विविधं जगत् आलोकयति-साक्षात्करोति, सोऽपि मयैव प्रेरितः सन् पश्यति। अत एवेन्द्रस्यात्मनोऽन्यत्रापि चक्षुषोऽपि चक्षुष्ट्वमाम्नायते— 'त्वं विश्वस्य जगतश्चक्षुरिन्द्रासि चक्षुषः।' (ऋ. १०।१०२।१२) इति। अयमर्थः— हे इन्द्र! सर्वात्मन्! विश्वस्य=सर्वस्य, जगतः=देवदनुजमनुजपशुपक्ष्यादेः, चक्षुषः=चक्षुरिन्द्रियस्य, चक्षुस्त्वमसि, रूप-

जो कोई प्राणधारी भोक्ता जन, अन्न-अदनीय-खाने योग्य-व्रीहि-चावल-जव आदि को खाता है-भक्षण करता है, वह सर्व भी प्राणी आत्मचैतन्य-ज्योतिरूप-मुझ-भोक्तृ-शक्तिरूप से ही प्रयुक्त हुआ खाता है, स्वतः खा नहीं सकता है। एवं जो चक्षु से घटपटादि विविध जगत् का अवलोकन करता है-साक्षात्-देखता है, वह भी मुझ-अन्तरात्मा से प्रेरित हुआ ही देखता है। इसलिए इन्द्र-आत्मा का अन्य-ऋक्मन्त्र में-भी चक्षु के चक्षुष्ट्व का प्रतिपादन किया जाता है—'हे इन्द्र! तू समस्त जगत्-जंगम प्राणियों की चक्षु का भी चक्षु है।' इति। इस का यह अर्थ है—हे इन्द्र यानी हे सर्वात्मन्! विश्व यानी सर्व, जगत् यानी देव-दनुज-मनुज-पशु-पक्षि आदि जगम-प्राणियों की चक्षु-इन्द्रिय का तू चक्षु है। रूपप्रकाशक-चक्षु में जो

प्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदिन्द्रात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव न स्वतः, अतस्तवैव चक्षुषश्चक्षुष्ट्वम् । स्वतस्तदिन्द्रात्मचैतन्यज्योतिःशून्यं काष्ठलोष्टसमं जडमेव, अतो ब्रह्मेन्द्रज्ञानशक्त्यधिष्ठितमेव चक्षुः रूपदर्शनं कर्तुं शक्नोति नान्यथेति भावः । एवं यश्च प्राणिति=श्वासोच्छ्वासादिव्यापारं करोति सोऽपि मयैव=मम प्रत्यगात्मनश्चैतन्यशक्तिमादायैव स्वव्यापारं कर्तुं समर्थो भवति, अनादाय न समर्थो भवति । एवं यः कश्चित् प्राणी ईं=इदं, उक्तं=कथितं शब्दस्वरूपं, शृणोति=श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्णाति—शब्दश्रवणं करोतीति यावत् । सोऽपि मयैव—आत्मनो मम चैतन्यज्योतिषा दीपितेन श्रोत्रेण शब्दं ग्रहीतुं क्षमो भवति नान्यथा । ईदृशीं सर्वकार्यकरणसंघातप्रवर्तिकां सर्वधीवृत्तिसाक्षिभूतामन्तर्यामिरूपेणावस्थितां परिपूर्णां नित्यां कूटस्थां निर्विकारां चितिशक्तिं मां ये न जानन्ति ते अमन्तवः=अमन्यमानाः—अजानानाः—मद्विषयकज्ञानरहिताः मूढा उपक्षियन्ति=उपक्षीणाः दीनाः—हीनाः दुःखिनो भवन्ति, संसारसागरेऽधोगच्छन्ति । एवमात्मविज्ञानरहितस्याधोभावमर्थादात्मज्ञानिनः परमोर्ध्वब्रह्मभावञ्चाभिधाय सम्बोधनेनाभिमुखीभवन्तमधिकारिणमुपदेष्टुं प्रतिजानीते—हे श्रुत !=विश्रुत ! मतिमन् ! सखे ! त्वं श्रुधि=शृणु ममोपदेशमिति शेषः । कीदृशः

रूप-ग्रहण का सामर्थ्य है, वह एकमात्र इन्द्ररूप-आत्म चैतन्यसे अधिष्ठित-चक्षु में ही है, स्वतः उस से अनधिष्ठित-चक्षु में सामर्थ्य नहीं है। इसलिए तुझ-इन्द्र आत्मा में ही चक्षु का चक्षुष्ट्व है। स्वतः वह चक्षु-इन्द्रात्मा की चैतन्य-ज्योति से रहित काष्ठ लोष्ट के समान जड-अचेतन ही है। इसलिए ब्रह्मेन्द्र-आत्मा-की ज्ञान शक्ति से अधिष्ठित ही चक्षु रूपदर्शन करने के लिए शक्तिमान् होती है, अन्यथा नहीं होती है, यह भाव है। इसप्रकार जो कोई प्राणी प्राणन यानी श्वास-उच्छ्वासादि व्यापार करता है, वह भी मुझ-प्रत्यगात्मा की चैतन्य शक्ति को ग्रहण करके ही अपने व्यापार को करने के लिए समर्थ होता है। चैतन्यशक्ति को न ग्रहण करके समर्थ नहीं होता है। इस प्रकार जो कोई प्राणी इस उक्त यानी कथित-कहे हुए शब्दस्वरूप का श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्रहण करता है अर्थात् शब्द का श्रवण करता है। वह भी मुझ-आत्मा की चैतन्य-ज्योति से दीपित-प्रयोजित-श्रोत्र से ही शब्द ग्रहण करने के लिए समर्थ होता है, अन्यथा नहीं। ऐसी समस्त देहादिरूप-कार्य करण संघात की प्रवर्तिका-बुद्धि की समस्त-वृत्तियों की साक्षीरूप-अन्तर्यामी-रूप से सर्वत्र-अवस्थित-परिपूर्ण-नित्य-कूटस्थ-निर्विकार-मुझ चितिशक्ति को जो नहीं जानते हैं। वे अमन्तव यानी मुझ सर्वात्मा को नहीं मानने वाले-नहीं जानने वाले-मेरे ज्ञान से रहित-मूढ, उपक्षीण-दीन-हीन-दुःखी हो जाते हैं, संसार-सागर में अधोगति को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार आत्म-विज्ञान से रहित-मूढ-मनुष्य के अधोभाव का तथा अर्थात् आत्मज्ञानी के परम-ऊर्ध्व-पूर्ण-ब्रह्मभाव का कथन करके, सम्बोधन के द्वारा अभिमुख होने वाले-अधिकारी को उपदेश देने के लिए वह वाग्देवी प्रतिज्ञा करती है—हे श्रुत ! यानी विश्रुत ! मतिमान् ! सखे ! मित्र ! तू मेरे इस उपदेश को

सः श्रोतव्यः-उपदेशः ? इत्यतो विशिनष्टि-श्रद्धिवं=श्रद्धेयं-श्रद्धार्हं-श्रद्धातव्यमित्यर्थः । यद्वा श्रद्धिः=श्रद्धा-भक्तिः-तया-युक्तः श्रद्धायत्नेन लभ्यस्तमित्यर्थः । यद्वा श्रत्-इति सत्य नाम, तत्सत्यं धीयते यत्र सा श्रद्धा मिथ्याज्ञानरहिता ऋतम्भरा प्रज्ञा इत्यर्थः, तया लभ्यं तत्त्वं श्रद्धिवमित्यर्थः । ईदृशं ब्रह्मात्मसद्वस्तुविषयकमुपदेशं, ते=तुभ्यं योग्याय शिष्यगुणान्विताय श्रद्धालवे, वदामि=कथयामि, 'संघातविलक्षणः तत्साक्षी आत्मैव कूटस्थं ब्रह्म पूर्णज्ञानसुखघनः सर्वम्' इत्येकत्वविज्ञानमेव सर्वशास्त्रनिश्चितमखिलब्रह्मविरसंमतश्चाहं स्वानुभवेन प्रतिपादयामीति यावत् । न पुनस्तार्किकसमयवत्परस्परविगीतमतोऽस्मिन् दृढविश्वासः कर्तव्यः । अयम्भावः-उपदेष्टारो हि सद्गुरवः श्रद्धावन्तमेवोपदिशन्ति, नान्यं कुतार्किकं फलाभावात् । श्रद्धालवश्चोपदिष्टं तत्त्वं दृढविश्वासेन स्वहृदि धारयन्ति, अतः श्रद्धैवोपदेशप्राप्तितत्स्थितिद्वारं वेदितव्यमिति[1] ।

सुन । किस प्रकार का वह सुनने योग्य उपदेश है ? इसलिए उसमें विशेषण देते हैं-श्रद्धिव-यानी श्रद्धेय-श्रद्धा करने योग्य । यद्वा श्रद्धि यानी श्रद्धा-भक्ति-उससे युक्त, अर्थात् श्रद्धारूप प्रयत्न से लभ्य-प्राप्य है । यद्वा श्रत् यह सत्य का नाम है, वह सत्य धारण किया जाता है, जिसमें वह श्रद्धा मिथ्या-भ्रान्ति ज्ञान से रहित-ऋतम्भरा-प्रज्ञा है, उससे जो तत्त्व लभ्य है-वह श्रद्धिव है । इस प्रकार का उपदेश-जो ब्रह्मात्मारूप-परमार्थ-सद्वस्तु विषयक है-उसका-तुझ योग्य-गुणान्वित-श्रद्धालु-शिष्य के लिए-कथन करती हूँ । अर्थात् देहादिसंघात से विलक्षण-उसका साक्षी आत्मा ही कूटस्थ ब्रह्म है, वह पूर्ण ज्ञान-घन एवं पूर्ण सुख-घन है, वही सर्व विश्व है, इस प्रकार का एकत्वविज्ञान ही सर्व शास्त्र से निश्चित-अखिल-ब्रह्मवेत्ताओं की-सम्मति से युक्त-है, उसका ही मैं अपने यथार्थ-अनुभव से प्रतिपादन करती हूँ । 'तार्किक के सिद्धान्त की भाँति' परस्पर-विरुद्ध यह उपदेश नहीं है, इसलिए इसमें दृढविश्वास करना चाहिए । यह भाव है-उपदेष्टा-सद्गुरु श्रद्धा वाले-अधिकारी को ही ब्रह्मात्मतत्त्व का उपदेश देते हैं, अन्य-कुतार्किक को नहीं, क्योंकि-उसको दिया हुआ उपदेश फलरहित होता है । और श्रद्धालु-जन तो सद्गुरु-आचार्य से उपदिष्ट-तत्त्व का दृढविश्वास से अपने हृदय में धारण करते हैं । इसलिए श्रद्धा ही उपदेश प्राप्ति का एवं उपदेश स्थिति का द्वार है-साधन है, ऐसा जानना चाहिए । इति ।

(९४)

(सर्वाधिष्ठानस्य सर्वात्मन एव सर्वरूपेणावस्थानात् सर्वकार्यैकर्तृत्वम्)

(सर्वाधिष्ठान-सर्वात्मा का ही सर्व रूप से अवस्थान है, इसलिए वही सर्व कार्य का कर्ता है)

१ अमन्तव -मनेरौणादिकस्तुप्रत्यय , नञ् समास । यद्वा भावे तुप्रत्यय ततो बहुव्रीहि । श्रद्धिव-'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिरिष्यते' इति श्रच्छब्दस्योपसर्गवद्वर्तमानत्वात् 'उपसर्गे घो किरि'ति किप्रत्यय मत्वर्थीयो व इति ।

सर्वात्मनः सर्वाधिष्ठानस्य मम स्वरूपस्य सूक्ष्मतमत्वेन दुर्लक्ष्यत्वात्, 'बहुकृत्वोऽपि पथ्यं वक्तव्यं भवती'ति न्यायाच्च पौनःपुन्येन वाग्देवी तदेव बोधयति। यद्यप्यहमेव द्यावापृथिव्याद्युपलक्षितेऽस्मिन्-सचराचरे कृत्स्ने जगति सत्तया स्फूर्त्या च प्रविष्टाऽस्मीति विभाव्यते, तथापीदं सर्वं मय्येवावस्थितं, निराधारत्वात् नाहं तस्मिन्नवस्थिता भवामि। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः? इति स्वे महिम्नि।' (छां. ७।२४।१) इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणो मम निराधारत्वश्रवणात्। यद्यप्यापाततः कारणं कार्ये प्रविष्टमिति प्रतीयते, तथापि विचारेण कार्यमेव कारणे प्रविष्टमित्यवगम्यते। तर्हि कारणस्य कार्यप्रवेशः श्रुत्या कथ्यमानः किमर्थमिति चेत्? लोकबुद्धिमनुसृत्य तात्पर्यबोधनायेति गृहाण। किमत्र प्रवेशगम्यं तात्पर्यं? शृणु—व्यापकस्य निश्चलस्य तस्य मुख्यप्रवेशासम्भवात्, तस्य जगद्व्याप्तौ एव स्फुटं तात्पर्यं निश्चीयते। सा च जगद्व्याप्तिर्जगदधिष्ठानत्वरूपैवेति। अपि च वस्तुतो निष्क्रिया निर्लेपाऽप्यहमेव साधुविजयं दुष्टपराजयं तत्पराभवार्थं संग्राममित्यादि सर्वं कार्यं करोमि, 'राजसत्तया योधैः क्रियमाणं युद्धं राजकर्तृकमिव मत्सत्तया क्रियमाणं सर्वं मत्कृतमेव मन्तव्यमिति। किञ्चाचार्यमूर्तिस्थाऽहमेव ब्रह्मनिष्ठ-सद्गुरुरूपा

सर्वात्मा-सर्वाधिष्ठानरूप-जो मेरा स्वरूप है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए वह दुर्लक्ष्य है, इसलिए— एवं 'बहु करके भी पथ्य-हित का कथन करना होता है' इस न्याय से भी बार बार वाग्देवी उसी ही आत्मतत्त्व का बोधन करती है। यद्यपि मैं ही द्यावा पृथिव्यादि-से उपलक्षित-इस सचराचर-समग्र-जगत् में सत्ता से एवं स्फूर्ति से प्रविष्ट हूँ, ऐसा विभावित होता है तथापि यह सर्व जगत् मुझ पूर्णात्मा में ही अवस्थित है, क्योंकि—मैं निराधार हूँ, इसलिए मैं उस जगत् में आश्रितरूप से अवस्थित नहीं हूँ। 'हे भगवन्! वह भूमा-ब्रह्म किसमें प्रतिष्ठित है? वह अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है।' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा भी मुझ-ब्रह्म का निराधारत्व ही सुनने में आता है। यद्यपि आपाततः—अविचार से कारण कार्य में प्रविष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है, तथापि विचार से कार्य ही कारण में प्रविष्ट है, ऐसा जाना जाता है। तब कारण का कार्य में प्रवेश-जो श्रुति के द्वारा कहा जाता है—वह किस लिए है? ऐसे प्रश्न का—लोकों की बुद्धि का अनुसरण करके तात्पर्य-बोधन के लिए है—यह उत्तर ग्रहण कर। यहाँ प्रवेश से गम्य क्या तात्पर्य है? सुन, व्यापक निश्चल-उस ब्रह्म के मुख्य प्रवेश का असंभव है, इसलिए-प्रवेश का जगत् की व्याप्ति में ही स्फुट तात्पर्य निश्चित होता है। वह उसकी जगत्—व्याप्ति, अध्यस्त-जगत् की अधिष्ठानत्वरूपा ही है। इति। और वस्तुत. निष्क्रिया निर्लेपा भी मैं चितिशक्ति ही साधुविजय, दुष्टपराजय, उनके पराभव के लिए संग्राम इत्यादि सर्व कार्य करती हूँ। जिस प्रकार राजा की सत्ता से योद्धाओं के द्वारा किया जाने वाला युद्ध-राजकर्तृक ही माना जाता है, तिस प्रकार मेरी सत्ता से किया जाने वाला-सर्व कार्य मुझ से ही किया जाता है, ऐसा मानना चाहिए। और आचार्य-गुरु-मूर्ति में अवस्थित-मैं

निर्मलस्वान्ताय विनीताय शिष्याय ब्रह्मावरकाविद्यामुच्छेत्तुं विद्यालक्षणं धनुः प्रयच्छामि, शिष्यभूता चाहमेव शमदमादिदेवसहायं सम्पाद्य कल्याणपरिपन्थिनः सर्वान् रागद्वेषादिराक्षसान् निहन्मि, इति मेऽचिन्त्यं योगमैश्वरं विचार्यतामिति, तमेतमभिप्रायमाह—

ही ब्रह्मनिष्ठ-सद्गुरुरूपा-निर्मल-अन्तःकरण वाले-विनीत-नम्र-शिष्य के लिए ब्रह्मस्वरूप का आवरण करने वाली-अविद्या का उच्छेद करने के लिए-विद्यारूप-धनु का-प्रदान करती हूँ। शिष्यरूप हुई मैं ही शमदमादि-साधनरूप देवों की सहाय का सम्पादन करके कल्याण-मोक्षमार्ग के विरोधी-राग-द्वेषादिरूप-सर्व राक्षसों का हनन करती हूँ, इस प्रकार का मेरा अचिन्त्य-योग ऐश्वर्य का तू विचार कर। वही यह अभिप्राय मन्त्र द्वारा वाग्देवी कहती है—

ॐ अहं रुद्राय धनुरातनोमि, ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोमि, अहं द्यावापृथिवी आविवेश॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्. १२५ ऋक्. ६। अथर्व. ४।३०।५)

'ब्रह्मद्वेषी-हिंसक-पापी-त्रिपुरासुर के विध्वंस के लिए मैं ही रुद्र-महादेव को ज्या-पनछ-चढ़ा कर धनुष् समर्पण करती हूँ। यद्वा ब्रह्मस्वरूप का द्वेषी-हिंसक-अज्ञानरूप-महाशत्रु के विनाश के लिए रुद्र-यानी ज्ञानग्राहक-जिज्ञासु को आत्मज्ञानरूप धनुष्-विस्तृत-उपदेश द्वारा समर्पण करती हूँ। मैं ही देव-जन के लिए या भक्तजन के लिए अन्तर के एवं बाहर के सभी शत्रुओं के साथ युद्ध करती हूँ। एवं मैं ही द्यावापृथिवी से उपलक्षित-समस्तविश्व में आविष्ट होती हूँ।'

पुरा त्रिपुरविजयसमये रुद्राय=रुद्रस्य (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) महादेवस्य, धनुः=चापं, अहं परमेश्वरी वाग्देवी, आतनोमि=आततज्यं—ज्यया—मौर्व्या ततं करोमीत्यर्थः। किमर्थं? ब्रह्मद्विषे=ब्राह्मणानां वेदविदां शुचिचरितानां द्वेष्टारं, शरवे=शरुं—हिंसकं—त्रिपुरनिवासिनमसुरं, हन्तवै=हन्तुं—हिंसितुं (हन्तेस्तुमर्थे तवै प्रत्ययः) उशब्दः पादपूरकः। (शॄ हिंसायामित्यस्मात् 'शृस्वृस्निही' त्यादिना—उप्रत्ययः शरुं तस्मै) 'क्रियाग्रहणं कर्तव्यमि'ति कर्मणः सम्प्र-

प्रथम त्रिपुरविजय के समय में कैलासवासी रुद्र-महादेव के धनुष्-चाप को मैं परमेश्वरी वाग्देवी ज्या-मौर्वी के द्वारा तत-यानी विस्तृत करती हूँ। किस-लिए? ब्राह्मण-जो वेदवित्-एवं पवित्र चरित्र वाले हैं-उनका द्वेष करने वाला—शरु यानी हिंसक-त्रिपुर का निवासी असुर-राक्षस के हनन-विध्वंस के लिए। मन्त्र में 'उ' शब्द पादपूर्ति के लिए है। 'क्रिया ग्रहण करना चाहिए' इस व्याकरण के नियम से 'ब्रह्मद्विषे' आदि कर्म में भी सम्प्रदान मान कर चतुर्थी विभक्ति

१ 'सुपां सुपो भवन्ति' इति षष्ठीस्थाने चतुर्थी विभक्तिः। यथा—'स घा सत्रु शवसा' (ऋ. १।२७।२) इत्यत्र षष्ठीस्थाने 'मनसा सवितादरदात्' (ऋ. १०।८।५) इत्यत्र च चतुर्थीस्थाने तृतीया विभक्तिर्भवति, तद्वदत्रापि बोध्यम्।

दानत्वाच्चतुर्थी। तथा च धनुराततकर्तृत्वादिनाऽवगम्यमानो देवविजयोऽसुरपराभवो ब्रह्मकर्तृक एवावगन्तव्यः, 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' (१।३।१४) इति केनश्रुतिलिङ्गात्। यद्वा अहं=आचार्यमूर्तिस्था ब्रह्मज्ञानोपदेष्ट्री–सद्गुरुरूपा, रुद्राय=ज्ञानग्राहकाय जिज्ञासवे–मुमुक्षवे रवणं–रुत्–ज्ञानं ('रु गतौ' भावे क्विप् तुगागमः) राति–रलयोरभेदात्, लाति 'ला आदाने') आदत्ते–गृह्णातीति तद्व्युत्पत्तेः। धनुः=आत्मज्ञानलक्षणं 'धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रम्।' (२।२।३) इति मुण्डकश्रुतेः। उपनिषत्सु भवं प्रसिद्धमात्मज्ञानं तदेव धनुः अज्ञानशत्रुभेदकं महदस्त्रमिति तदर्थः। आतनोमि=तस्य हृदये तद्विस्तृतोपदेशेन आ=समन्ततः ततं=विस्तृतं करोमि। कस्मै प्रयोजनाय? ब्रह्मद्विषे=ब्रह्मणः परमात्मनः स्वरूपाच्छादकत्वेन संसारविक्षेपजनकत्वेन च द्वेष्टारं, अत एव शरवे=शरुं–हिंसकं –दुःखदं–स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरत्रयात्मकत्रिपुरनिवासिनमज्ञानाख्यमसुरं हिंसितुमिति पूर्ववत्। अहमेव समदं=समरं–समानं माद्यन्त्यस्मिन्निति समत्=संग्रामः तं, शत्रुभिः सह युद्धं, जनाय=मदीयस्तवादियुक्तदेवादिजनार्थं, जिज्ञासुभक्तजनार्थं वा कृणोमि=करोमि। तच्छरीरमाविश्य तज्जयं शत्रुपराजयञ्च युद्धेन सम्पादयामीति यावत्।

किया है। तथा च धनुष् के आतत-कर्तृत्व आदि से जाना गया-देव का विजय एवं असुर का पराजय ब्रह्मकर्तृक ही है, ऐसा जानना चाहिए। 'ब्रह्म-परमात्मा ने ही देवों के लिए राक्षसों का विजय किया।' इस केन श्रुति के ज्ञापक लिङ्ग से यह सिद्ध होता है। यद्वा आचार्य-मूर्ति में स्थित-ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने वाली-सद्गुरुरूपा मैं ही रुद्र यानी आत्मज्ञान के ग्राहक-जिज्ञासु-मुमुक्षु के लिए, रुत् यानी रवण-ज्ञान का जो आदान-ग्रहण करता है वह रुद्र है, ऐसी रुद्र शब्द की ज्ञान-ग्राहक-शिष्यबोधक व्युत्पत्ति है। राति यानी लाति, र एवं ल का अभेद माना गया है, ला धातु आदान-ग्रहण अर्थ में है—आत्मज्ञानरूप धनुष् को—'उपनिषत्-प्रतिपादित-आत्मज्ञानरूप महान्-धनुष्रूप-अस्त्र को ग्रहण करके' इस मुण्डक श्रुति ने आत्मज्ञान का धनुष्रूप से वर्णन किया है। औपनिषदं-यानी उपनिषदों में होने वाला-प्रसिद्ध आत्मज्ञान ही वह एक प्रकार का धनुष् है, जो अज्ञान-शत्रु का भेदक-महान् अस्त्र है, यह अर्थ है। उसको मैं रुद्ररूप जिज्ञासु के हृदय में उसके विस्तृत-उपदेश द्वारा आ-समन्ततः तत यानी विस्तृत करती हूँ। किस प्रयोजन के लिए? ब्रह्मद्विट्-यानी ब्रह्म-परमात्मा के स्वरूप का आच्छादक होने से एवं संसाररूप-विक्षेप का कारण होनेसे द्वेष्टा-द्वेष करने वाला अत एव शरु यानी हिंसक-दुःखप्रद स्थूल-सूक्ष्म एवं कारण शरीर त्रयरूप-त्रिपुर का निवासी-अज्ञान नामक-असुर-राक्षस का विध्वंस करने के लिए। मैं ही समद यानी समर-संग्राम, शत्रुओं के साथ युद्ध को—जन यानी मेरी स्तुति आदि से युक्त-देवादि जन के लिए—या जिज्ञासु भक्त जन के लिए—करती हूँ। समानरूप से जिसमें मद-युक्त-उन्मत्त हो जाते हैं, वह समत्-संग्राम है। अर्थात्—उन के शरीर में आविष्ट-प्रविष्ट होकर उनके जय को एवं शत्रुओं के पराजय को युद्ध के द्वारा

तथा द्यावापृथिवी=दिवञ्च पृथिवीञ्चान्तर्यामितयाऽहमेवाविवेश=प्रविष्टवती, द्यावापृथिव्युपलक्षितं सर्वं विश्वं व्याप्याहमेव तदधिष्ठानत्वेनावस्थिता भवामीति यावत्।

सम्पादन करती हूँ। तथा, द्यावापृथिवी में, अन्तर्यामीरूप से मैं ही प्रविष्ट हुई हूँ, अर्थात् द्यावापृथिवी से उपलक्षित समस्त विश्व को व्याप्त करके मैं ही उस अध्यस्त-विश्व के अधिष्ठानरूप से अवस्थित होती हूँ। इति।

(९५)

(विश्वविविक्तमद्वयमविकृतं ब्रह्मैवाहमस्मि सकलविश्वाभिन्न-निमित्तोपादानकारणम्)

(विश्व से-पृथक्-अद्वय-अविकृत-ब्रह्म ही मैं सकल विश्व का अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण हूँ)

अखिलस्य भूतभौतिकरूपस्य जगतो निर्माणे वस्त्वन्तरसम्पर्कशून्यं सर्वविभ्रमातीतमद्वयमविकृतं विशुद्धमहं ब्रह्मैकमेव हेतुरस्मि। नास्ति मत्तो ब्रह्मणो व्यतिरिक्तं स्वतन्त्रं हेत्वन्तरम्। हेतुश्च निमित्तमुपादानञ्च मन्तव्यः। अखिलाधिपतित्वान्निमित्तं, नानाजगदाकारेण परिणममानमायाधिष्ठानत्वेन ब्रह्मण एव नानाकारेण प्रतीयमानत्वात् 'एतावती सम्बभूव' इति कारणस्य कार्यसामानाधिकरण्यनिर्देशाच्चोपादानञ्च ब्रह्मैव भवतीति निश्चीयते। अनुपादानकारणस्य कार्यसामानाधिकरण्यासामञ्जस्यात्। तस्य निरवयवत्वविभुत्वाभ्यां तत्त्वतोऽन्यथाभावलक्षणपरिणामोपादानत्वासंभवेऽपि मायया तत्त्वतोऽन्यथाभावलक्षणविवर्तोपादानकारणत्वस-

भूतभौतिकरूप वाले-समग्र-जगत् के निर्माण में-अन्य-वस्तु के सम्बन्ध से शून्य-असंग-समस्त-विभ्रमों से अतीत-अद्वय-अविकृत-विशुद्ध-एक ब्रह्म ही मैं—कारण हूँ। मुझ-ब्रह्म से पृथक्-अन्य कोई स्वतन्त्र कारण नहीं है। कारण निमित्त एवं उपादान मानना चाहिये। अखिलविश्व का अधिपति-नियन्ता होने से निमित्त कारण भी ब्रह्म ही है। नाना-द्वैत-जगत् के आकार से परिणत होने वाली-माया का अधिष्ठान होने से ब्रह्म ही नाना-आकार से प्रतीयमान होता है इसलिए एवं 'एतावती संबभूव' अर्थात्, इतनी-द्वैत-प्रपञ्चरूप वाली मैं चितिशक्ति ही हो गयी हूँ, इस श्रुतिवचन में कारण का कार्य के साथ समानविभक्तिकत्वरूप-सामानाधिकरण्य का निर्देश होने से उपादान कारण भी ब्रह्म ही है, ऐसा निश्चय होता है। जो उपादान कारण नहीं है, उसके साथ कार्य के सामानाधिकरण्य का सामञ्जस्य नहीं होता, अर्थात् उपादान कारण के साथ ही कार्य का सामानाधिकरण्य होता है। यह ब्रह्म निरवयव एवं विभु-व्यापक है, इसलिए उसमें स्वरूप से अन्यथाभावरूप-परिणाम या उपादान कारणता का संभव नहीं है, किन्तु स्वरूप को छोड़ कर-विकृत न कर माया से अन्यथाभावरूप विवर्तोपादान कार-

म्भवात् । न च ब्रह्मणः सर्वकारणत्वे सर्वात्मत्वे च तस्याविकारत्वं निष्प्रपञ्चत्वञ्च व्याकुप्येतामिति वाच्यम् । तयोः सर्वकारणत्वसर्वात्मत्वयोर्निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रतिपत्तिप्रयोजनत्वात् । यतो निरस्तनिखिलविशेषं ब्रह्म न साक्षाद् विधिमुखेन प्रतिपादयितुं शक्यम् । अतः प्रतीयमानप्रपञ्चरूपतामारोप्य प्रपञ्चसाक्षितया तद्विलक्षणे ब्रह्मणि प्रपञ्चप्रतिषेधे सति निरस्तसमस्तद्वैतरूपब्रह्मप्रतिपत्तिरवकल्पते । अन्यथा ब्रह्मणः प्रपञ्चात्मत्वप्रतिपत्तेः प्रयोजनाभावात्तदुपदेशोऽनर्थकः स्यात् । शुक्त्यादेर्विक्रियां विनाऽपि रजताद्युपादानत्वदर्शनाच्च । न च ब्रह्मणो निष्प्रपञ्चत्वाभ्युपगमे सर्वकारणत्वश्रुतिविरोधः स्यादिति शङ्क्यम् । स्वप्नमायावदेव कल्पनामात्रेण कारणत्वव्यपदेशोपपत्तेः । तदेतद्वाग्देवी ब्रह्मणः स्वस्य काल्पनिकसप्रपञ्चत्वं वास्तविकनिष्प्रपञ्चत्वमाचष्टे—

णता का संभव है। ब्रह्म को सर्व विश्व का कारण एवं सर्व का आत्मा मानने पर उसके अविकारत्व का एवं निष्प्रपञ्चत्व का व्याकोप-विरोध होगा ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि—वह सर्वकारणत्व एवं सर्वात्मत्व, निष्प्रपञ्च-ब्रह्म की प्रतिपत्ति-निश्चयरूप प्रयोजन के लिए है। जिसमें जाति-गुण-क्रियादि रूप निखिल-भेदक-विशेषों का अभाव है, ऐसा ब्रह्म साक्षात् विधिमुख से—इदंरूप से प्रतिपादन करने के लिए शक्य नहीं है, इसलिए उसमें प्रतीयमान-द्वैतप्रपञ्चरूपता का आरोप करके प्रपञ्च के साक्षीरूप से प्रपञ्च विलक्षण-अद्वैत-ब्रह्म में प्रपञ्च का प्रतिषेध होने पर-निरस्त है समस्तद्वैतरूप जिसमें ऐसे निष्प्रपञ्च-पूर्ण ब्रह्म की प्रतिपत्ति सिद्ध हो जाती है। अन्यथा—ऐसा न मानने पर ब्रह्म की प्रपञ्चरूपता की प्रतिपत्ति का प्रयोजन न होने से उसका उपदेश अनर्थक हो जाता है। विकार के बिना भी अविकृत-शुक्ति आदि में रजतादि की उपादानता का दर्शन होता है। ब्रह्म को निष्प्रपञ्च-पूर्णाद्वैत मानने पर सर्वकारणत्व प्रतिपादक श्रुति का विरोध होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि-स्वप्नमाया की भाँति ही कल्पनामात्र से कारणत्व के व्यपदेश की उपपत्ति हो जाती है। वही यह—ब्रह्मरूप अपने में काल्पनिक सप्रपञ्चत्व है और वास्तविक निष्प्रपञ्चत्व है—वाग्देवी मन्त्र से कहती है—

ॐ अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव ॥

(ऋग्वेद, मण्ड. १० सूक. १२५ ऋक् ८) (अथर्व. ४।३०।८)

'मैं ही वायु की भाँति स्वतन्त्ररूप से अपनी इच्छारूप—माया-शक्ति द्वारा समस्त भूत-भौतिक विश्वरूप कार्यों का आरम्भ करती हुई-प्रवृत्त होती हूँ। वस्तुतः मैं आकाश से पर-अतीत हूँ एवं इस पृथिवी से भी पर हूँ, अर्थात् द्यावापृथिवी से उपलक्षित-समस्त—द्वैत-प्रपञ्च से अतीत-विशुद्ध-अनन्त-अपार हूँ। तथापि मैं ही—इतने बड़े इस-निखिल द्वैत विश्वरूप से-प्रकट हो गई हूँ।'

विश्वा=विश्वानि-सर्वाणि, भुवनानि=भूतभौतिकजातानि कार्याणि आरभमाणा=कारणरूपेण सत्त्वेन स्फुरणेनोत्पादयन्ती, अहमेव परेणानधिष्ठिता अनन्यसहाया स्वयमेव मायाऽपरपर्यायया स्वेच्छयैव प्रवामि=प्रवर्ते, वात इव=यथा वातः=वायुः परेणाप्रेरितः सन् स्वेच्छयैव प्रवाति तद्वत्। निरस्तसमस्तविशेषणविशेष्यजातिव्यक्तिगुणगुणिसम्बन्धसम्बन्धिभावादिभेदस्याखण्डैकरसस्य विश्वविविक्तस्य ब्रह्मणः काल्पनिकसप्रपञ्चत्वमुपपादयितुं पूर्वोक्तमेव निगमयति–परो दिवा=पर इति सकारान्तं परस्तादित्यर्थे वर्तते, यथा अध इति अधस्तादर्थे, तद्योगे च तृतीया सर्वत्र दृश्यते, दिवा–आकाशस्य, परस्तात्। एना पृथिव्या=('द्वितीया टौस्सेन' इति इदम एनादेशः–'सुपां सुलुक्' इति तृतीयाया आच् आदेशः) अस्याः पृथिव्याः, परः=परस्तादित्यर्थः। द्यावापृथिव्योरुपादानमुपलक्षणं, एतदुपलक्षितात्सर्वस्माद्विकारजातात्परस्तात्, वर्तमाना–असंगोदासीनकूटस्थशुद्धाद्वयब्रह्मचैतन्यरूपाऽहं, महिना=जगद्रूपमहिम्ना नानारूपेण, एतावती विश्वरूपा संबभूव=एतच्छब्देनोक्तं सर्वं जगत् परामृश्यते। एतत्परिमाणमस्याः ('यत्तदेतेभ्यः परिमाणे' इति वतुप् 'आ सर्वनाम्नः' इत्यात्वं,) सर्वजगदात्मना अहं सम्भूताऽस्मि। (महिना–महच्छब्दात् 'इमनिच्' टिलोपः, छान्दसो भलोपः। वाति='वा गतिगन्धनयोः' अदादित्वाच्छपो लुगिति) आथर्वणेऽप्येतदाम्नायते–'अस्ति वै तत्परो भूमेः,

विश्व-यानी सर्व, भुवन यानी भूतभौतिक समुदायरूप कार्यों का आरम्भ करती हुई अर्थात् कारणरूप-सत्त्व एवं स्फुरण द्वारा उत्पादन करती हुई–मैं ही अन्य से अधिष्ठित नहीं हुई–अन्य की सहायता न लेती हुई-स्वयं ही, माया है दूसरा नाम जिसका ऐसी अपनी इच्छा-शक्ति के द्वारा ही प्रवृत्त होती हूँ, वायु-पवन की भाँति, जिस प्रकार वायु अन्य से प्रेरित न हुआ अपनी इच्छा से ही वहन-कार्य में प्रवृत्त होता है, तद्वत्। निरस्त हो गये हैं समस्त-विशेषण-विशेष्यभाव, जाति-व्यक्तिभाव-गुणगुणि-भाव-सम्बन्ध-सम्बन्धिभावादि भेद जिसमें ऐसे अखण्ड-एकरस-विश्वविविक्त पूर्णाद्वैत ब्रह्म की काल्पनिक सप्रपञ्चता का उपपादन-सयुक्तिक समर्थन करने के लिए पूर्वोक्त का ही निगमन-उपसंहार करते हैं–परो दिवा। 'परस्' यह सकारान्त-पद 'परस्तात्' इस अर्थ में वर्तता है, जिस प्रकार 'अधः' ऐसा पद 'अधस्तात्' अर्थ में वर्तता है। उसके योग-सम्बन्ध में तृतीया विभक्ति सर्वत्र देखने में आती है। दिवा यानी आकाश से पर-अतीत-विलक्षण। तथा इस पृथिवी से भी पर-अतीत। द्यावापृथिवी का इस मन्त्र में ग्रहण उपलक्षण के अभिप्राय से है। इससे उपलक्षित-समस्त-द्वैत-विकार समुदाय से पर-असंग-उदासीन-कूटस्थ-शुद्ध-अद्वय-ब्रह्म-पूर्ण-चैतन्यरूप से वर्तमान हुई मैं, महि-यानी द्वैत-जगद्रूप महिमा से नाना-अनेकरूप से इतनी बड़ी विश्वरूपा हो गई हूँ। 'एतत्' शब्द से सर्व-चराचर-जगत् का परामर्श होता है। यह परिमाण है जिसका वह एतावती-इतनी है। अर्थात् सर्व जगत्-रूप से मैं ही संभूत-प्रकट हुई हूँ। आथर्वण-संहिता में भी यही कहा जाता है–'वह परमात्मा निश्चय से भूमि से-पर-अतीत-

'अस्ति वै तत्परो दिवः । लोका वै तस्मिन् संप्रोतास्तस्मिन् होताः प्रजा इमाः ॥' (पिप्पलादशाखा. १७।११।८) इति । तद्=प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मतत्त्वं, भूमेः=पृथिव्याः, परः=परस्तादस्ति, एवं दिवोऽपि, सर्वेभ्यो लोकेभ्यः परस्तात्तद्विद्यते, परन्तु तस्मिन्नेव सर्वे लोकाः तत्र निवसनशीलाः सर्वाः प्रजाश्च सं प्रोताः—ओताश्च ह=निश्चयेन वर्तन्ते, तन्तुषु पट इव इत्यर्थः ।

है । वह निश्चय ही दिव्-स्वर्ग से भी पर है । उसमें ही ये सब भूरादि लोक सम्यक्-प्रोत हैं, और उसमें ही ये सब मनुष्यादि प्रजा ओत हैं, अर्थात् समस्त चराचर विश्व उस विश्वातीत-परब्रह्म में ही ओत-प्रोत है ।' इति । वह प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्मतत्त्व, भूमि-पृथिवी से भी पर-अतीत है, एवं दिवः-स्वर्ग से भी पर है । समस्त-लोकों से भी वह पर है । परन्तु उसमें ही सब लोक एवं उनमें निवास करने वाली सब प्रजा, सम्यक् प्रोत हैं ओत हैं, जिस प्रकार तन्तुओं में पट ओत-प्रोत है, तिस प्रकार सब लोक एवं सब प्रजा उसमें ही ओत प्रोत हो कर अवस्थित हैं ।' इति ।

(९६)

(परमात्मस्वरूपश्रवणचिन्तनाद्यावृत्त्या प्रतिबन्धापायात्तत्साक्षात्कारः सम्पद्यते)

(परमात्मा के स्वरूप का श्रवण-चिन्तन आदि की आवृत्ति द्वारा प्रतिबन्धों की निवृत्ति होने से उसके स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है)

तत्कारणमकारणं वा, सगुणं विगुणं वा, सक्रियं निष्क्रियं वा, सप्रपञ्चं निष्प्रपञ्चं वा, सविग्रहमविग्रहं वा, महिष्ठमणिष्ठं वा, नेदिष्ठं दविष्ठं वा, सविशेषमविशेषं वा, समायममायं वेत्यादयो वादिभिः क्रियमाणा विकल्पा यत्तत्त्वं गोचरयन्ति, तत्किमपि वस्तु विद्यत एव, निर्विषयविकल्पायोगात् । यद्यप्यापाततं इमे विकल्पा विरुद्धत्वेन प्रतीयन्ते स्थूलदर्शां, तथापि समाहितमनसां विचारयतां तत्त्वदर्शां

वह परमात्मा जगत् का कारण है या अकारण है ?, वह सगुण है या निर्गुण है ?, वह सक्रिय है या निष्क्रिय है ?, वह सप्रपञ्च है या निष्प्रपञ्च है ?, वह सविग्रह-साकार है या अविग्रह-निराकार है ?, वह अतिमहान् है या अति अणु है ?, वह अत्यन्त दूर है ? या अत्यन्त समीप है ?, वह सविशेष है या निर्विशेष है ?, वह मायावाला है या मायारहित है ? इत्यादि-वादियों के द्वारा किये जाने वाले विकल्प जिस तत्त्व-पदार्थ को विषय करते हैं, वह कुछ भी वस्तु विद्यमान है ही । क्योंकि-विषयरहित विकल्प नहीं होते हैं । यद्यपि-आपात से-अविचार से ये सब-पूर्वोक्त विकल्प परस्पर-विरुद्धरूप से प्रतीत होते हैं—स्थूल-दृष्टिवालों को, तथापि समाहित-एकाग्र-शान्त-मन-वाले

पार्श्वे मिथ एकवाक्यतामापन्नाः सन्तः स्वीयं विरुद्धकल्पत्वं विजहति । यतो यदेवाविद्यकव्यवहारदशायां जगज्जन्मादिकारणं सर्वज्ञत्वादिगुणगणोपबृंहितं प्रभूतक्रियं वस्तु प्रतिभाति । तदेव परमार्थावस्थायामकारणमक्रियमगुणं सत्यज्ञानानन्दसान्द्रं त्रिविधपरिच्छेदशून्यं सद्विद्योतते । तस्यैतस्य वस्तुनः श्रवणस्मरणविचारध्यानाद्यावृत्त्या भ्रमप्रमादवासनादिरूपाः प्रतिबन्धा विनिवर्तन्ते, तत्साक्षात्कारश्च प्रादुर्भवति । यथा लोके वितुषीभावपर्यन्तं व्रीहीणामवघातावृत्तिः क्रियते, तथैव वस्तुसाक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणादीनां नैरन्तर्येणादरपूर्विका दीर्घकालिका आवृत्तिः कर्तव्या विद्यते । निर्गुणब्रह्मविद्यायामसंभावनादिनिवृत्त्यर्थमिव सगुणब्रह्मोपासनेष्वप्युपास्यप्रत्ययावृत्तिः प्रतिबन्धोच्छित्तयेऽपेक्षिता भवति, मलापगमे दर्पणस्वाच्छ्यमिव प्रतिबन्धापगमे स्वयमेव स्वतः सिद्धः साक्षात्कारः चकास्ति । अत एव प्रियतमविरहसंतप्तहृदयायाः—नायिकायास्तत्संमेलनात्युत्कटाभिलापयुक्ताया नायकानुसन्धानसन्ततिरिव यस्य साधकस्यात्मवस्तुतत्त्वानुसन्धा-

विचारशील-तत्त्वदर्शियों के समीप ये सब विकल्प, परस्पर एक वाक्यता को प्राप्त हुए—अपने विरुद्ध-कल्पत्व का परित्याग कर देते हैं । क्योंकि—जो परब्रह्म परमात्मा आविद्यक-व्यवहार-दशा में जगत् के जन्मादि का कारण, सर्वज्ञत्वादि गुण-गण से उपबृंहित-प्रभूत क्रिया वाला हो कर प्रतिभासित होता है, वही परमार्थ-अवस्था में अकारण-अक्रिय-अगुण-सत्य-ज्ञान-आनन्दघन-त्रिविध-परिच्छेद शून्य हुआ विद्योतमान होता है । उस इसी ही वस्तु के श्रवण-स्मरण-विचार-ध्यान आदि की आवृत्ति-अभ्यास के द्वारा भ्रम-प्रमाद-वासना आदिरूप-प्रतिबन्ध निवृत्त हो जाते हैं, और उस वस्तु के साक्षात्कार का प्रादुर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार लोक में तुष-छिल्कों की निवृत्ति पर्यन्त ही व्रीहियो की अवघात-कूटने की आवृत्ति की जाती है, तिस प्रकार वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार पर्यन्त ही श्रवण आदिकों की निरन्तर आदर पूर्वक-दीर्घकाल तक आवृत्ति करनी होती है । निर्गुण-ब्रह्मविद्या में असंभावनादि निवृत्ति के लिए जिस प्रकार श्रवणादि की आवृत्ति करनी पडती है, तिस प्रकार सगुण-ब्रह्म की उपासना में भी उपास्य-इष्टदेव विषयक-सजातीय प्रत्यय-वृत्तियों की अभ्यासरूपा-आवृत्ति प्रतिबन्धों के उच्छेद के लिए अपेक्षित होती है । मल की निवृत्ति होने पर दर्पण की स्वच्छता की भाँति प्रतिबन्धों की निवृत्ति होने पर स्वतःसिद्ध साक्षात्कार प्रकट हो जाता है । इसलिए प्रियतम के विरह से संतप्त हृदय वाली-नायिका-स्त्री-जो उस प्रियतम-प्राणवल्लभ-पति के संमिलन के लिए अति उत्कट-अभिलाषा से युक्त है—उसको जैसे नायक-अपने-प्रियतम के अनुसंधान-स्मरण की संतति-परम्परा प्रकट हो जाती है, तद्वत् जिस साधक को आत्म-वस्तु-तत्त्व के अनुसंधान की सतति या आविर्भाव-प्राकट्य हो जाता

नसन्ततिराविर्भवति, स खलु तत्स्वरूपानन्दसाक्षात्कारमासाद्य परितृप्तः सततसंतुष्टो जीवन्मुक्तो भवति । इत्यभिप्रयन्तः केचन मन्त्रदृशः परमात्मस्तवनमुखेन तत्प्रत्ययावृत्तिं कर्तव्यत्वेनावेदयन्ति—

है, वही निश्चय से उसके स्वरूपानन्द के साक्षात्कार को प्राप्त करके परितृप्त-निरन्तर संतुष्ट-कृतकृत्य जीवन्मुक्त हो जाता है। इस प्रकार के अभिप्राय को ध्यान में रखते हुए-कोई मन्त्रद्रष्टा-महर्षि-परमात्मा की स्तुति के द्वारा उसके स्वरूपाकार-सजातीय-वृत्तियों के प्रवाह का कर्तव्यरूप से आवेदन-बोधन करते हैं—

ॐ आ त्वा रथं यथोतये, सुम्नाय वर्तयामसि ।
तुविकूर्मिमृतीषहमिन्द्र ! शविष्ठ ! सत्पते ! ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्. ६८ ऋक्. १। साम. ३५४।१७७१। लि. ५।३)

'हे इन्द्र ! हे परमात्मन् ! हे शविष्ठ ! अनन्त-बलनिधे ! हे सत्पते ! सज्जनपालक ! जिस-प्रकार वीर-योद्धा, शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिए एवं विजय-सुख के लिए अपने रथ का इधर-उधर बड़े वेग के साथ आवर्तन करते रहते हैं। तद्वत् तेरे उपासक-हम भी प्रतिबन्धों से परित्राण पाने के लिए एवं अखण्डानन्द की प्राप्ति के लिए-विश्व की उत्पत्ति-स्थित्यादिरूप-प्रभूत कर्म वाले-हिंसक-दुष्ट-शत्रुओं का ध्वंस करने वाले-तुझ-परमात्मा के चिन्तन की हम सतत-आवृत्ति करते रहते हैं।'[१]

हे इन्द्र !=परमैश्वर्यसम्पन्न ! परमेश्वर ! हे शविष्ठ !=अतिशयेन बलवन् ! हे सत्पते !=सतां सज्जनानां पालक ! त्वा=त्वां परमात्मानं वयं आवर्तयामसि—आवर्तयामः—श्रवणस्मरणादिप्रत्ययावृत्त्या त्वामेव सततमनन्यभक्त्या भजाम इत्यर्थः । किमर्था तदावृत्तिर्विधीयते ? इत्यत आह—उतये=रक्षणाय—प्रतिबन्धेभ्यः परित्राणाय, आवृत्त्या हि प्रतिबन्धनिरासद्वारा साधकस्य साध्यसिद्ध्यनुकूलं रक्षणं भवति । पुनः किमर्था ? सुम्नाय=सुखाय—स्वस्वरूपसाक्षात्कारलक्षणाखण्डानन्दायेत्यर्थः । किमिव तद्बोधप्रत्ययावर्तनं ? इत्यतस्तत्रोपमान-

हे इन्द्र ! परम ऐश्वर्य से सम्पन्न ! परमेश्वर ! हे शविष्ठ ! यानी अतिशय करके—परिपूर्ण-बलनिधे ! हे सत्पते ! सत्-सज्जनों के पालक-रक्षक ! तुझ परमात्मा की हम आवृत्ति करते हैं, यानी तेरे ही चिन्तन का अभ्यास करते हैं, अर्थात् श्रवण-स्मरण आदि वृत्तियों की आवृत्ति के द्वारा निरन्तर तेरा ही हम अनन्यभक्ति से भजन करते हैं। किस प्रयोजन के लिए परमात्मा के चिन्तन की आवृत्ति की जाती है ? इस प्रश्न का समाधान कहते हैं—उति—रक्षण के लिए, अर्थात् प्रतिबन्धों से परित्राण-पाने के लिए। क्योंकि-आवृत्ति से निश्चय ही प्रतिबन्धों के निरास द्वारा साधक का साध्यसिद्धि के अनुकूल-रक्षण हो जाता है। पुनः किस प्रयोजन के लिए आवृत्ति की जाती है ? सुम्न यानी सुख के लिए अर्थात् स्वस्वरूप का साक्षात्काररूप-अखण्ड-आनन्द के लिए। किस की भाँति परमात्मविषयक-वृत्तियों की अभ्यासरूपा-आवृत्ति की जाती है ? ऐसी आकांक्षा होने पर उस में

माह–यथा रथं=यथा वीरा योद्धारः शत्रुभ्यः स्वरक्षणाय–स्वविजयसुखाय च रक्षणविजयानुकूलमितस्ततो रथमावर्तयन्ति, तद्वत्। कीदृशं त्वां ? तुविकूर्मिं=तुविः–प्रभूतं–विश्वोत्पत्तिस्थितिलयलक्षणं, कूर्मिः=कर्म, तद्विद्यते यस्य सः; प्रभूतप्रकृष्टकर्माणमित्यर्थः। पुनः कीदृशं ? ऋतीषहं=हिंसकानां दुःखभयसन्तापदानां बाह्याभ्यन्तरारातीनामभिभवितारं त्वामित्यन्वयः।

सादृश्यरूप-उपमान कहते हैं–जिस प्रकार वीर योद्धा-शत्रुओं से अपनी रक्षा के लिए तथा अपने विजय-सुख के लिए–रक्षण एवं विजय के अनुकूल-इधर-उधर रथ का आवर्तन-संचालन करते हैं, तद्वत्। किस प्रकार के तुझ-परमेश्वर की आवृत्ति है ? तुविकूर्मि यानी तुवि-अर्थात् प्रभूत-विश्व की उत्पत्ति-स्थिति एवं लयरूप, कूर्म यानी कर्म, वह है जिसको वह तुविकूर्मि है अर्थात्-प्रभूत-प्रकृष्ट-कर्म वाले–पुनः किस प्रकार के ? ऋतीषह यानी हिंसक-दुःख-भय एवं संताप को देने वाले-बाहर के एवं भीतर के अराति-शत्रुओं का अभिभव-पराजय करने वाले-तुझ परमेश्वर के चिन्तन की हम सतत-आवृत्ति करते रहते हैं। ऐसा अन्वय है।

(९७)

(मातापितृभूतस्यानन्दनिधेः परमात्मनोऽनवद्याखण्डानन्दाऽभ्यर्थनम्)

(माता-पितारूप-आनन्दनिधि-परमात्मा के अनवद्य-निर्दोष-अखण्ड-आनन्द की अभ्यर्थना)

आप्रकृष्टतमहिरण्यगर्भात्, आ च निकृष्टतमकीटात्, सर्वे प्राणिनः सदा सर्वत्र सर्वथा सुखमेव समीहन्ते इति निर्विवादम्। परं तदविद्यातत्कार्यविमोहितात्मनां विषयवाञ्छासहस्रसमाविष्टानां संसारिणां जीवानां विषयेभ्यः समीहितसुखप्राप्तिमाशासानानामपि तेभ्यः कदापि कथमपि समीहितं तत्सुलभं नाभूत्, न भवति न भविष्यतीत्यपि सुनिश्चितमेव। यतस्तद्वाञ्छाया अनन्तत्वात्, वाञ्छितानां कृत्स्नानां तेषां विषयाणां समग्रायुर्व्ययेनापि प्राप्तुमशक्यत्वात्। ततो यथा सूक्ष्मतमचन्दनविन्दूत्थं शैत्यं

अत्यन्त-उत्कृष्ट-हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा से लेकर अत्यन्त-निकृष्ट-कीट पर्यन्त के समस्त-चेतन प्राणी, सदा सर्वत्र सभी प्रकार से सुख की ही चाहना करते हैं, यह निर्विवाद है। परञ्च अविद्या एवं अविद्याकार्य से विमोहित मन वाले-विषयों की सहस्र-असंख्य वाञ्छा-इच्छाओं से संयुक्त रहने वाले-संसारी-जीवों को–विषयों से अभिलषित-उस सुख-प्राप्ति की आशा रखने वाले-उन लोगों को–उन विषयों से–किसी भी समय में किसी भी प्रकार से-वह अभीष्ट-सुख-सुलभ न था, न है, न होगा, यह भी सुनिश्चित ही है। क्योंकि-उन जीवों की विषयों की वाञ्छा-चाहना अनन्त-अन्तरहित है, और वाञ्छित-अभिलषित-उन समग्र-विषयों को–समग्र-आयु के व्यय से भी प्राप्त करने के लिए अशक्य है, इसलिए जिसप्रकार अतिसूक्ष्म-चन्दन के विन्दु

वह्निविदग्धाखिलाङ्गं देहं न कथमपि शीतलयितुं शक्नोति, तथा यत्किञ्चिद्वाञ्छितविषयानुभवजं स्वल्पतमं तुच्छं सुखमनन्तविषयालाभप्रयुक्तप्रभूतसंतापसमाक्रान्तं प्राणिनं न कथमपि सुखयितुं प्रभवति। अपि च स्वल्पस्यापि तस्य क्षणिकत्वात् तदनन्तरमापततो दुःखस्य प्रतीयमानत्वाच्च हेतोः दुःखमिश्रितत्वेन दुःखरूपत्वमेव विषसंपृक्तान्नस्य विषत्वमिवावगम्यते, न सुखरूपत्वम्। तथा च काठके—'श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।' 'अपि च सर्वं जीवितमल्पमेव' 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' (कठ. १।१।२१) इत्यादिवचनैः यमं प्रति मुमुक्षुः तत्त्वबुभुत्सुः ऋषिकुमारो विरागी नचिकेता विषयभोगस्य सर्वथैवानर्थहेतुत्वेन त्याज्यत्वं स्पष्टतरमुद्घोषयत्। तद्यदि—ऐहिकेभ्यः पारलौकिकेभ्यश्च विषयेभ्योऽभीष्टं सुखमुदभविष्यत्, तदा मतिमान् नचिकेताः कदापि न तत्प्रत्यषेधयिष्यत्, न वा किमपि स्थिरमनश्वरमेकरसं विमलं सुखं कामयमानस्तत्साधने परात्मज्ञाने 'नान्यं तस्मान्-

से उत्पन्न होने-वाली शीतलता, अग्नि से जिसके समस्त हस्त-पादादि अंग-जल गये हैं ऐसे देह को—किसी भी प्रकार से शीतल करने के लिए समर्थ नहीं होती है। तिसप्रकार जिस किसी-एक अभिलषित-विषय के अनुभव से जायमान अति-स्वल्प-तुच्छ-सुख, अनन्तविषयों के अलाभ-अप्राप्ति से होने वाले-प्रभूत-संतापों से सम्यक्-आक्रान्त-प्राणी को किसी भी प्रकार से सुखी करने के लिए समर्थ नहीं होता है। और स्वल्प भी वह विषयसुख क्षणिक है, उस क्षणिक सुख के अनन्तर-पीछे आने वाला भावी दुःख भी प्रतीत होता है, इस कारण से वह तुच्छ-क्षणिक विषयसुख भी दुःख से मिश्रित होने से दुःखरूप ही है,—विष से संयुक्त अन्न जिस प्रकार विष ही हो जाता है—तिस प्रकार—सुखरूप नहीं है, ऐसा जाना जाता है। तथा च कठोपनिषत् में—'मरण धर्म वाले-मनुष्य के ये जितने विषय-भोग के पदार्थ हैं, वे सब श्वोभावा हैं अर्थात् कलतक रहेंगे या नहीं ! ऐसा विश्वास के लिए अयोग्य हैं, क्षणभंगुर हैं। हे अन्तक!—हे यमदेव! ये विषय भोग, इन समस्त-इन्द्रियों की तेजः-बल-शक्ति का क्षय कर देते हैं।' 'और समस्त भोक्ताओं का जीवन अल्प-क्षणभंगुर ही है।' 'वित्त-धन से मनुष्य कदापि तृप्त नहीं होता।' इत्यादि वचनों से—यमराज के प्रति मुमुक्षु-तत्त्वज्ञान का इच्छुक-विरागी ऋषिकुमार नचिकेता ने—विषयभोग सर्वथा ही अनर्थ का हेतु होने से त्याग करने योग्य हैं—ऐसी अति स्पष्ट उद्घोषणा किया है। इसलिए यदि इस लोक के एवं परलोक के विषयों से अभीष्ट-अखण्ड-निरतिशय सुख का उद्भव-प्राकट्य होता, तब मतिमान् नचिकेता कदापि उसका प्रतिषेध न करता। तथा किसी-अवर्णनीय-स्थिर-अनश्वर-नित्य-एकरस-विमल-सुख की कामना-चाहना करता हुआ—उसके

चिकेता वृणीते' (कठ. १।१।२१) 'वरस्तु मे वरणीयः स एव' (क. १।१। २७) इति दृढतरं निजाग्रहमदर्शयिष्यत्। तस्माद्विनिश्चीयते विषयेभ्यः कथमपि समीहितं सुखं सुलभं न भवतीति। तर्हि तत्सुखं कस्माल्लभ्येत? इति चेत्, अखण्डानन्दनिधेः परात्मनः इति दृढमवेहि। यतस्तस्यैव सर्वत्र सदा धनपुत्रपिण्डेन्द्रियप्राणापेक्षया निरतिशयप्रेमास्पदत्वात्परमसुखरूपत्वमवगन्तव्यम्। सुखमेव ह्यभीष्टं नः सर्वेषां प्राणिनाम्। 'आत्मनस्तु कामाय सर्वमिदं प्रियं भवति' (बृ. ४।५।६) 'रसो वै सः' (तै. २।७) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।' (तै. ३।६) 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' (छां. ७।२३।१) इत्युपनिषच्छ्रुतिशतान्यपीममर्थं प्रतिपादयन्ति। किञ्च सुखरूपस्य तस्यैतस्य सर्वत्र परिपूर्णत्वाद्वसुत्वं, सर्वस्य चराचरस्य लोकस्य सुखपोषकत्वात् पितृत्वं, सुषुप्त्यादौ स्वस्मिन् अनन्त-सुखनिधौ विधारकत्वान्मातृत्वञ्च निरुपाधिकयाचनाविषयत्वलक्षणं परमप्रियत्वं द्योतयन्ति। तस्मादैहिकामुष्मिकविषयभोगानां नश्वरत्वप्रान्तविरसत्वेन्द्रियजर्जरत्वदुःखरूपत्वादिविविधदोषजातं दृढं पर्यालोच्य तेभ्यो दृढामुपरतिं संपाद्य

साधनरूप-परमात्मा के ज्ञान में—'इसलिए नचिकेता आत्मज्ञान को छोड़ कर अन्य वर का स्वीकार नहीं करता है' 'वर तो मुझसे वही आत्मज्ञान ही वरण करने योग्य है।' इस वचन से—अतिदृढ़ अपने आग्रह को न दिखाता। इसलिए—विषयों से किसी भी प्रकार से अभीष्ट-सुख-सुलभ-सुप्राप्य नहीं होता है, ऐसा विशेषरूप से निश्चय होता है। तब वह सुख किससे प्राप्त हो? ऐसा प्रश्न होने पर—अखण्ड-आनन्द का निधि-परात्मा से ही उस सुख का लाभ होता है, ऐसा तू निश्चय से जान। क्योंकि-वही परात्मा ही सर्वत्र सदा धन-पुत्र-पिण्ड-इन्द्रिय एवं प्राणों की अपेक्षा से निरतिशय प्रेम का आस्पद विषय है, इसलिए वह परमसुखरूप है, ऐसा जानना चाहिए। और सुख ही हम सब प्राणियों को अभीष्ट है—चाहने योग्य है। 'आत्मा की कामना के लिए ही सब-यह पदार्थ प्रिय होता है।' 'रस-आनन्द ही वह परमात्मा है।' 'आनन्द-ही ब्रह्म है, ऐसा उसने जाना।' आनन्द से ही निश्चय से ये चराचर-भूत प्राणी उत्पन्न होते हैं।' 'जो निश्चय से भूमा-ब्रह्म है, वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है।' इत्यादि-उपनिषदों की सैंकड़ो-श्रुतियाँ भी-इस अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। और सुखरूप-उस-इस-परमात्मा को सर्वत्र परिपूर्ण होने से उसका वसुत्व, सर्व-चराचरलोक का-सुख का पोषक होने से पितृत्व, एवं सुषुप्ति आदि में अपने अनन्त-सुखभण्डार स्वरूप में सबका विधारक होने से उसका मातृत्व, निरुपाधिक याचना-यामना का विषयत्वरूप-परमप्रियत्व का द्योतन करते हैं। इसलिए इसलोक के एवं परलोक के विषय भोगों में नश्वरत्व, अन्त में निरसत्व, इन्द्रिय-जर्जर शैथिल्यकर्तृत्व, दुःखरूपत्व आदि विविध दोषों के समुदाय की दृढ़ पर्यालोचना कर के, उन विषयों से दृढ़-उपरति का सम्पादन कर के

केवलं परमात्मनो विमलं निर्विषयं निर्विकल्पं निरतिशयं सुखमेव कामयितव्यमित्याशयेनाह—

केवल-परमात्मा का विमल-निर्विषय-निर्विकल्प-निरतिशय-सुख की ही कामना करनी चाहिए, इस आशय से वेदमन्त्र कहता है—

ॐ त्वं हि नः पिता वसो ! त्वं माता शतक्रतो ! बभूविथ । अधा ते सुम्नमीमहे ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्त. ९८ ऋक्. ११। साम ११७०। अथर्व. २०।१०८।२)

'हे वसो ! सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मन् ! हे शतक्रतो ! अनन्तविज्ञान-प्रकाश ! तू हम सब जीवात्माओं का सुख-पोषक-पिता है। तू हमारी सुखरूप में धारक माता है। तेरे हम, सत्यानन्द-निधि-सुम्न-परमात्मा के अखण्ड-सुख की सदा याचना—चाहना करते हैं।'

हे वसो !=सर्वत्र सदा वसतीति वसुः तत्सम्बुद्धौ वसो !—वसनशील ! परिपूर्ण-परात्मन् ! हे शतक्रतो !=अनन्तपूर्णचैतन्यप्रकाश ! त्वं नः=अस्माकं सर्वेषां जीवात्मनां पिता=पितृवत्सुखपोषकः, बभूविथ=असि। तथा त्वं माता=मातृवत्स्मिन् सुखस्वरूपे धारकश्च बभूविथ। अध=अथ च, वयं तावकाः, ते=तव सत्यज्ञानानन्ताद्वयानन्दपूर्णस्य परमात्मनः स्वस्वरूपभूतं सुम्नं=सुखं ईमहे=याचामहे—कामयामहे। सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेन यदेव तव निर्विषयमखण्डमविकारं समरसं पूर्णं सुखमस्ति तदेव वयं समीहामहे, नान्यं विषयेन्द्रियसंयोगजं विनश्वरं सविकारमल्पं तुच्छं सुखशब्दवाच्यमपि दुःखरूपं न कामयामहे इति भावः।

हे वसो ! सर्व में सब समय जो वास करता है, वह परमात्मा वसु है, उसके सम्बोधन में हे वसो ! यानी सर्वत्र वसनशील ! परिपूर्ण-परमात्मन् ! हे शतक्रतो ! यानी अनन्त-पूर्ण चैतन्य-प्रकाश ! तू हम सब जीवात्माओं का पिता यानी पिता की भाँति सुख से पुष्टकर्ता है, तथा तू माता की भाँति अपने सुखस्वरूप में धारण करने वाला हुआ है, या है। अध-अनन्तर, तेरे हम, सुम्न-सत्य-ज्ञान-अनन्त-अद्वय-आनन्द-पूर्ण-परमात्मा के अपने स्वरूपभूत-सुम्न-सुख की हम याचना-कामना करते हैं। सर्व वाक्य सावधारण होता है अर्थात् 'एव'-काररूप अवधारण से युक्त होता है, अवधारण अन्य योग सम्बन्ध का व्यावर्तक होता है—इस न्याय से जो तेरा निर्विषय-अखण्ड-अविकार-समरस-पूर्ण-सुख है, उसी की ही हम इच्छा-अभिलाषा रखते हैं—अन्य—विषय एवं इन्द्रिय के संयोग से जन्य—विनश्वर-सविकार-अल्प-तुच्छ सुख—जो सुख शब्द का वाच्य होने पर भी दुःखरूप है—उसकी हम कामना नहीं करते हैं, यह भाव है।

ऋगन्तराण्यप्यत्रानुसन्धेयानीमानि—कीदृशोऽयं सर्वात्मा भगवान् ? तदाह—'सखा पिता पितृतमः पितॄणाम् ।'
ऋ० सं० ६६

यहाँ ये अन्य ऋक् मन्त्र भी अनुसंधान-विचार करने योग्य हैं-किस प्रकार का यह सर्वात्मा भगवान् है ? यह कहते हैं—'यह परमात्मा सखा है, पिता है, एवं पिताओं का भी अतिशय करके महान् पिता

(ऋ. ४।१७।१७) इति । सखा=मित्रं-अतीवहितकारी, यद्वा सखा=समानख्यानः सर्वत्र समानस्वरूपप्रतीतिकः, पिता=पालकः, पितॄणां=पालकानां मध्येऽप्ययं पितृतमः=अतिशयेन पालनलालनपोषणकर्ता इत्यर्थः । पुनः कथंभूतः ? इत्याह–'अभिख्याता मर्डिता सोम्यानाम् ।' (ऋ. ४।१७।१७) इति । अभिख्याता=अभितः–सर्वतः सर्वस्य विश्वस्य द्रष्टा सोम्यानां=प्रियाणां शान्तानां–भक्तानां मर्डिता=सुखयिता इत्यर्थः । 'मातेव यद्भरसे पप्रथानो जनं जनं' (ऋ. ५।१६।४) इति । पप्रथानः=सर्वत्र सदाऽस्तिभातिप्रियरूपेण प्रथमानः=प्रसिद्धिं प्राप्तः परमेश्वरः, यत्=यस्त्वं मातेव=जननीव यथा जननी पुत्रादि धारयति स्वोदरे, तथा जनं जनं=वीप्सेयं सर्वजनान् भरसे=बिभर्षि स्वस्मिन्नेव सत्यानन्दनिधौ सदा धारयसीत्यर्थः । 'यस्य ते स्वादु सख्यं स्वाद्वी प्रणीतिः ।' (ऋ. ८।६८।११) इति । यस्य ते=तव परमात्मनः सत्यज्ञानानन्दस्य सख्यं=मैत्री, स्वादु=आह्लादकं आनन्दकरं, यस्य ते प्रणीतिः=प्रणयः परमप्रेम–अनन्यभक्तिः स्वाद्वी=मधुरतरा परमानन्दप्रदा इत्यर्थः । 'प्रेष्ठमु प्रियाणां स्तुहि' (ऋ. ८।१०३।१०) इति । ऋषिः ब्रूते–त्वं हे अङ्ग ! प्रियाणां=धनपुत्रादीनां मध्ये प्रेष्ठं=अतिशयेन प्रियं–प्रियतमं प्रत्यगात्मानमग्निं स्तुहीत्यर्थः । 'यच्छा नः शर्म सप्रथः' (ऋ. १।२२।१५) इति ।

है ।' सखा यानी मित्र, अत्यन्त हितकारी, यद्वा सखा यानी समान है ख्यान-भान जिसका अर्थात् सर्वत्र समान-एक प्रकार की सच्चिदादिरूप से जिसकी प्रतीति है, वह सखा है। पिता यानी पालक। पिता यानी पालकों के मध्य में भी यह अतिशय से पिता-पालन-लालन-पोषणकर्ता है। पुनः यह किस प्रकार का है? यह कहते हैं–'सर्व-विश्व का द्रष्टा एवं प्रिय-शान्त-भक्तों का सुखकारी ।' अभिख्याता यानी अभितः–सर्व तरफ से सर्व विश्व का द्रष्टा, सोम्य-यानी प्रिय-शान्त-भक्तों का मर्डिता यानी सुख करने हारा है । 'जो सर्वत्र सदा प्रसिद्ध है, एवं जो माता की भाँति समस्त जनों को अपने में धारण कर रखता है ।' इति । पप्रथान यानी सर्वत्र सदा अस्ति-भाति एवं प्रियरूप से प्रथमान यानी प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ परमेश्वर, जो तू माता-जननी की भाँति–जिस प्रकार जननी-अम्बा पुत्रादि को अपने उदर में धारण करती है, तिस प्रकार जन-जन को, यह वीप्सा-द्विरुच्चारण है अर्थात् सर्व जनों का तू भरण-करता है, अर्थात् अपने ही सत्यानन्दनिधि-स्वरूप में तू धारण करता है, इति । 'जिस तुझ परमात्मा का सख्य स्वादु-मधुर है, और तुझ परमात्मा की प्रणीति–भक्ति भी स्वाद्वी है ।' जिस तुझ सत्य ज्ञानानन्द-परमात्मा का सख्य यानी मैत्री, स्वादु यानी आह्लादक-आनन्दकरी मधुरी है । जिस तुझ परमात्मा की प्रणीति यानी प्रणय-परम प्रेम-अनन्यभक्ति, स्वाद्वी है अर्थात् अत्यन्त-मधुरा, परम-आनन्द को देनी वाली है । इति । 'प्रिय-पदार्थों के मध्य में अत्यन्त-परम प्रेमास्पद अन्तरात्मा की तू स्तुति कर ।' इति । ऋषि कहता है–तू हे अग ! प्रिय-शिष्य ! धनपुत्रादि-प्रियपदार्थों के मध्य में प्रेष्ठ यानी अतिशय करके प्रिय-प्रियतम-प्रत्यगात्मारूप-अग्नि-परमात्मा की स्तुति कर । 'अनन्त-विस्तार वाले-अखण्ड-पूर्ण-सुख का हमें प्रदान

हे आनन्दनिधे! भगवन्! त्वं सप्रथः=अनन्तविस्तारयुक्तमखण्डं पूर्णं, शर्म=सुखं, नः=अस्मभ्यं त्वामुपसन्नेभ्यो यच्छ=समर्पय। तदेव वयं कामयामहे । नान्यं तुच्छं क्षणिकं वैषयिकं सुखमिति । 'इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुपह्वये । अस्माकमस्तु केवलः ।' (ऋ. १।१४।१०) इति । इह=अस्मिन् यज्ञस्थानेऽस्मदीये हृदये वा, त्वष्टारं=त्वष्टा-देवो विश्वकर्मा तं, अग्रियं=श्रेष्ठं प्रशस्ततमं-विश्वरूपं सर्वात्मानं, उपह्वये=आह्वयामि। अस्माकं हृदये-सर्वत्र स्थाने वा स एव सत्यानन्दनिधिः परमात्मा केवलोऽस्तु=द्रष्टव्यतया एकमात्रः प्राप्तो भवतु । नान्यत्किमपि संसाररागादिदोषजातमस्मदीये हृदये वर्तताम् । जगत्यप्यस्मिन् तस्यैव सदा भावना भवतु । न कल्पितनामरूपभावनोदयः संभवतु इति भावः । 'सुम्नमस्मे ते अस्तु' (ऋ. १।११४।१०) इति । अस्मे=अस्मासु ते=त्वदीयं निरतिशयं सुम्नं=सुखं अस्तु=भवतु । न त्वन्यदीयं वैषयिकं तुच्छं सुखमित्यर्थः ।

कर।' हे आनन्दनिधे । भगवन् । तू सप्रथ यानी अनन्त-विस्तार से युक्त-अखण्ड-पूर्ण शर्म यानी सुख को हम तेरे शरणागत प्रेमी-भक्तों को समर्पण कर। उसी ही सुख की हम कामना-अभिलाषा करते हैं, अन्य-तुच्छ-क्षणिक-वैषयिक सुख की हम कामना नहीं करते हैं। 'यहाँ त्वष्टा-अग्रिय-विश्वरूप-परमात्मा का मैं आह्वान करता हूँ, वही केवल एकमात्र हमें प्राप्त हो।' इति । इह यानी इस यज्ञस्थान में या अपने हृदय में त्वष्टा यानी विश्वकर्मा-जगत्स्रष्टा देव, अग्रिय यानी अग्रेसर-श्रेष्ठ-अतिप्रशस्त-विश्वरूप-सर्वात्मा भगवान् का मैं आह्वान करता हूँ। हमारे हृदय में या सर्वत्र-स्थान में वही सत्यानन्दनिधि-परमात्मा केवल हो, वही एकमात्र द्रष्टव्यरूप से प्राप्त हो । अन्य कुछ भी संसार के रागादि दोषों का समुदाय हमारे हृदय में वर्तमान न हो । इस जगत् में भी उसी की ही सदा भावना हो, कल्पितनामरूप की मिथ्या-भावना का उदय मत हो, यह भाव है। 'हे परमात्मन्! हमारे में तेरा ही महान् सुख हो।' इति । अस्मे यानी हमारेमें तेरा निरतिशय सुख हो, अर्थात् अन्य-विषय का तुच्छ सुख न हो। इति।

(९८)

(आविद्यकनिखिलभेदभीत्यपनोदाय स्वात्मेन्द्रस्य विद्याभिमुखीभावात्मकमभ्यर्थनम्)

(अविद्याकल्पित-निखिल-भेद-जन्य भयों के निवारण के लिए अपने-आत्मारूप इन्द्र की विद्या के अभिमुखीभावरूप-अभ्यर्थन)

द्रष्टुरात्मनोऽन्यथादर्शनमेव निखिलानर्थस्य निदानम् । अत एवात्मैवायं स्वात्मतत्त्वमबुद्ध्वाऽन्यथाग्रहं वितन्वानः सदा सर्वतो विपुलानि भयानि बिभर्ति । स्वा-

द्रष्टा-आत्मा का अन्यथा-दर्शन विपरीत-अनुभव ही समस्त-अनर्थों का कारण है। इसलिए यह आत्मा ही अपने-आप के यथार्थ-स्वरूप को नहीं जान करके विपरीत-मिथ्या ज्ञान का विस्तार करता हुआ सदा सर्व तरफ से विपुल-विस्तृत-भयों को धारण

ज्ञानवशीभूतः स्वयमिन्द्रात्मा स्वस्मिन्नेवैकस्मिन् विजृम्भितानि नानारूपाणि भिन्नतया पश्यन्नत्यर्थं समुद्विजते । एषैवाज्ञानापरपर्यायाऽनाद्यनिर्वाच्या स्वात्मदेवस्य माया, यया स्वयमेव विमोहितो भूत्वा विविधाननर्थान् सम्भजते । यावदस्यात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारो नोदेति । तावदयं क्रियाहेतुफलाकारैर्विविधैर्भावैः तादात्म्यापन्नो भूत्वा भूयोभूयस्तद्वासनाविष्टः तानेवेक्षमाणः सन्नहो ! सिद्धानन्दसमुद्रोऽपि साध्यतुच्छक्षणिकानन्दकणाकाङ्क्षी भवन् प्रमादादतिदैन्यभाग्भवति । एतमेवार्थं कश्चिन्महात्मा स्वकीयं विवेकं प्रकटयन् वर्णयति–'आनन्ददुग्धोदधिमध्यवर्ती, कणाँस्तदीयान् विषयानलोत्थान् । आस्वादयन् कालमियन्तमेवं वृथाऽप्यनैषं हि विमूढचेताः ॥' इति । अत एव द्वैतात्मदर्शनलक्षणं विविधभयदैन्यादिसमर्पकमन्यथाग्रहणं 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' (बृ० उ० १।४।२) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।' (बृ० ४।४।१९) इत्यादिश्रुतिभिर्हेयत्वाय विनिन्द्यते । अद्वैतात्मदर्शनलक्षणं निर्भयत्वपरानन्दत्वादिप्रयोजकं यथार्थग्रहणं 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।'

करता है। अपने अज्ञान के वशीभूत हुआ स्वयं इन्द्र-आत्मा अपने ही एक-अद्वय में विकल्पित-नानारूपों को भिन्नरूप से देखता हुआ-अत्यन्त ही समुद्विग्न होता है। यही ही–अज्ञान है अन्य नाम जिसका ऐसी अनादि-अनिर्वाच्या-स्वात्मदेव की माया है, जिससे स्वयं ही विमोहित होकर विविध-अनर्थों का यह सेवन कर रहा है। जबतक इसको अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप के साक्षात्कार का उदय नहीं होता है, तबतक यह क्रिया-हेतु-फल के आकार वाले-विविध-पदार्थों के साथ तादात्म्यापन्न होकर वारंवार उन की वासनाओं से संयुक्त हुआ, उन्हीं-पदार्थों को देखता हुआ अहो ! यह सिद्ध-आनन्द का सागर हुआ भी साध्य तुच्छ-क्षणिक-अत्यल्प-आनन्द के कण की आकांक्षा रखता हुआ प्रमाद से अति दीनता का सेवन करता है। इसी ही अर्थ का-कोई महात्मा अपने विवेक को प्रकट करता हुआ-वर्णन करता है–'यद्यपि मैं आनन्द के क्षीरसमुद्र में ही वर्तमान हूँ, तथापि विमूढ-चित्त वाला मैं विषयरूप-अग्नि से उत्पन्न-उस आनन्द के तुच्छ क्षणिक-कणों का ही आस्वादन करता हुआ इस प्रकार इतने काल को वृथा ही मैंने व्यतीत किया।' इति। इसलिए-द्वैत-रूप से आत्मा का दर्शन-अनुभवरूप अन्यथा-मिथ्या-ज्ञान है, जो विविध-भय-दैन्य आदि अनर्थों का समर्पक है–उसकी–'द्वितीय से निश्चय ही भय होता है।' 'जो इस अद्वैत-ब्रह्म में नाना-भिन्न की तरह देखता है, वह मृत्यु से भी मृत्यु को प्राप्त होता है।' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा-परित्याग करने के लिए विशेषरूप से-निन्दा की जाती है। और अद्वैतरूप से आत्मा का दर्शन-रूप-यथार्थ-सत्य ज्ञान है-जो निर्भयत्व-परानन्दत्व आदि का प्रयोजक है–उसकी–'ब्रह्म के आनन्द को जानता हुआ योगी किसी से भी भयभीत

(तै. उ. २।९) 'अभयं प्रतिष्ठां विन्दते।' (तै. २।७।१) इत्यादिश्रुतिभिरुपादेयत्वाय संस्तूयते। यदा चायं पुण्यकर्मोपासनादिना निर्मलैकाग्रसान्तो विवेकविरागादिसाधनसम्पन्नो भूत्वा स्वात्मानमेव कामयमानस्तदेकाभिमुखीभवन्—श्रुत्याचार्येशप्रसादाचस्यैवासीमानं महिमानं समीक्षते। तदाऽस्य विदुषः सर्वस्मादविभक्तस्य प्राक् द्वितीयाभिनिवेशतः समुत्थाः सर्वा भीतयः स्वात्माद्वैतविज्ञानेन प्रध्वस्ताः भवन्ति। स्वयमयं प्रादुर्भूतपरानन्दोऽकुतोभीर्भवति। अद्वैतानन्दघनसाम्राज्ये स्वमहिम्न्येव सदा निषीदति। आत्मानं सर्वं सम्पश्यन्, तस्मात्स्वस्मात् परं किमप्यपश्यन् शिवं सत्यं सुन्दरं ध्रुवं स्वाराज्यं विन्दते। इत्येतत्तात्पर्यमभिसन्धाय भयतत्कारणतत्सहायकादिकमनर्थजातमपबाधितुमर्थादभयतत्कारणतत्सहायकादिकमर्थजातमुपादातुमात्मेन्द्रविद्याभिमुखीभावलक्षणं तदभ्यर्थनमाह—

नहीं होता है।' 'अभयरूप-अद्वैत प्रतिष्ठा को यह तत्त्ववेत्ता प्राप्त करता है।' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपादान-ग्रहण करने के लिए सम्यक् स्तुति की जाती है। जब यह मनुष्य पुण्यकर्म-उपासना आदि से निर्मल-एकाग्र अन्तःकरण वाला एवं विवेक विरागादि साधनों से सम्पन्न होकर अपने आत्मा की ही कामना करता हुआ-उसी एक के ही अभिमुख-तदाकार हुआ श्रुति-आचार्य एवं ईश्वर की प्रसन्नता से उसी अपने आत्मा की ही सीमा-रहित-महिमा का सम्यक् अनुभव करता है। तब इस विद्वान् के—जो समस्त-विश्व से अपने आत्मा को अविभक्त-अभिन्न समझता है—प्रथम-द्वैत के अभिनिवेश से समुत्पन्न हुए—सब भय, अपने आत्मा के अद्वैत-विज्ञान से प्रध्वस्त-विनष्ट हो जाते हैं। स्वयं यह—प्रादुर्भूत हुआ है परम-महान् आनन्द जिसको-किसी से भी भय नहीं है जिसको-ऐसा अकुतोभी हो जाता है। अद्वैतानन्द के घन-पूर्ण-ठोस साम्राज्य में अपनी महिमा में ही सदा अवस्थित हो जाता है। अपने आत्मा को ही सर्वरूप से सम्यक् देखता हुआ—उस अपने-आत्मा से अन्य कुछ भी पृथक् नहीं देखता हुआ—शिवरूप-सत्य-सुन्दर-ध्रुव-अचल स्वाराज्य को यह प्राप्त कर लेता है। इस तात्पर्य का अनुसंधान करके भय, भय का कारण-अज्ञान एवं उस के सहायक-आदिरूप अनर्थों के समुदाय का निवारण-विध्वंस करने के लिए अर्थात् अभय, अभय का कारण-विद्या एवं उसके सहायक आदि-अर्थ समुदाय का उपादान करने के लिए-आत्मेन्द्र की विद्या के अभिमुखीभाव-रूप उसके अभ्यर्थन का प्रतिपादन करता है—

ॐ त्वं नः पश्चादधरादुत्तरात् पुर इन्द्र ! निपाहि विश्वतः।
आरे अस्मत्कृणुहि दैव्यं भयमारे हेतीरदेवीः ॥
(ऋग्वेद. मण्ड. ८ सूक्त. ६१ ऋक्. १६)

'हे इन्द्र! सर्वात्मन्! तू, पीछे से, आगे से, नीचे से, ऊपर से, उत्तर से, दक्षिण से, एवं सर्व तरफ से आने वाले-विविध-भयों से—उनके निवारक-साधन-बल के समर्पण द्वारा—हमारा परिरक्षण कर। दैवी-त्रिगुणात्मक-माया के मिथ्याज्ञानरूप महाभय का—तू हमारे से—यथार्थ-अद्वैतात्मज्ञान के समर्पण द्वारा—दूर से ही निवारण कर। और उस मिथ्याज्ञान के सहायक-काम-कोपादि रूप-दुःख-भय प्रद-आयुध विशेषों का भी तू दूर से ही निवारण कर।'

हे इन्द्र!=सत्यज्ञानादिलक्षणानन्तैश्वर्यसंपन्न! परमात्मन्! त्वं, नः=अस्मान्, पश्चात्=पश्चाद्भागात्, पुरः—पूर्वभागात्, अधरात्—अधोभागात्, एतदुपरिभागस्योपलक्षणं, उत्तरात्=उत्तरभागात्, एतद्दक्षिणस्याप्युपलक्षणं, किं बहुना विश्वतः=सर्वस्मात्प्रदेशात्, निपाहि=सर्वेभ्यः प्रदेशेभ्यः समागतेभ्यो विविधेभ्यो भयदैन्यसन्तापादिभ्योऽनर्थेभ्यः परिपाहि। तन्निवारकसाधनबलं नः समर्प्य परिरक्षेति यावत्। किञ्च दैव्यं भयं=देवस्येयमाश्रिता दैवी त्रिगुणात्मिका माया—अविद्या, तया प्रयोजितमन्यथाग्रहलक्षणं महद्भयं सर्वभयादिकारणं, अस्मत्=अस्मत्तः, आरे=दूरे, कृणुहि=कुरु, अद्वैतात्मदर्शनलक्षणेन यथार्थग्रहेण तदपसारयेत्यर्थः। तथा अदेवीः=आसुराणि मलात्माज्ञानसहायानि कामक्रोधलोभशोकमोहासूयामदादीनि दुःखभयादिप्रदानि, हेतीः=आयुधविशेषाणि, आरे कृणुहि—विज्ञानशस्त्रेणाज्ञानमिथ्याज्ञानतदुत्थभयादिनिरसनपुरःसरं तत्कार्याण्यासुरसम्पद्रूपाण्यपि निराकुरु इति यावत्।

हे इन्द्र! सत्य-ज्ञानादिरूप-अनन्त-ऐश्वर्य से सम्पन्न! परमात्मन्! तू हमारी—पश्चात्—पीछे के भाग से, पुरः—पूर्व-आगे के भाग से अधर-अधोभाग से, यह उपरिभाग का भी उपलक्षण है—उत्तर भाग से, यह दक्षिण भाग का भी उपलक्षण है, बहु से क्या? विश्व-सर्व प्रदेश से नितरां-अच्छी प्रकार रक्षा कर। अर्थात् सर्व-प्रदेशों से समागत-विविध भय-दीनता-संताप आदि-अनर्थों से उनके निवारण करने वाले साधन-बल का समर्पण कर हमारा परिरक्षण कर। और दैव्य-भय यानी आत्म-देव के आश्रय में रहने वाली यह दैवी-त्रिगुणरूप माया अविद्या है, उससे प्रयोजित अन्यथाग्रह-विपरीत-मिथ्याज्ञानरूप महान् भय-जो निखिल-भय आदि का कारण है—उस दैव्य-भय को हमारे से दूर कर, अर्थात् अद्वैत-आत्मा का दर्शन-अनुभवरूप यथार्थ विज्ञान से उसका अपसारण-निवारण कर। तथा अदेवी यानी मलात्मा के अज्ञान के सहायक—आसुरी सम्पत्ति के—काम-क्रोध-लोभ-शोक-मोह-असूया-मद आदि-जो दुःख एवं भय आदि अनर्थों के देने वाले हैं, ऐसे उन—हेती यानी आयुध-विशेषों को भी हमारे से दूर कर। अर्थात् विज्ञान-शस्त्र के द्वारा अज्ञान-मिथ्याज्ञान एवं उससे समुत्पन्न-भयादि के निरास-विध्वंस पूर्वक उसके -कार्य-आसुरी सम्पत्तिरूपों का भी निराकरण कर।

(९९)

(सर्वाभ्युदयमूलपरस्परसंघट्टनसंवदनसद्भावनस्वभागैकपरितोषविधानाय मानवेभ्यो भगवदुपदेशः)

(समस्त-अभ्युदयों का मूल-कारण-परस्पर संघट्टन, परस्पर सवदन, परस्पर सद्भाव, एवं अपने भाग-हिस्से में ही एकमात्र परितोष है, उनको करने के लिए मानवों के प्रति भगवान् का उपदेश)

जगदीश्वरो भगवान् सर्वान् मानवान् समुपदिशति । यूयं सर्वे धर्मनीतिसंयुक्ता भवत । निखिलदुःखविपन्निदानं कौटिल्यं विरोधञ्च विहाय सर्वसौख्यसम्पन्मूलां संघशक्तिं समाश्रयत । भारतभूदेव्या यथाऽखण्डाभ्युदयो भवेत्तथा प्रयतध्वम् । परिपुष्टशरीरेन्द्रियबलबुद्धिविद्याशक्तिमन्तः सन्तः स्वदेशाभ्युदयं स्वदेशरक्षबन्धुसहायञ्च कुरुत । विश्वहितैषित्वं जगद्बन्धुत्वं परार्थेषु स्वार्थबुद्धिरञ्च विधत्त । मनसा वचसा कर्मणा च यथाशक्ति यावज्जीवं स्वपरहितमेव व्यतनुत । यद्यदात्मनः प्रतिकूलं तत्तत्परेषु कदापि कथमपि न समाचरत । यद्यदात्मनोऽनुकूलमिष्टं—यथा च—'सर्वे प्राणिन अस्माकमनुकूला उपकारका मित्राणि च भवेयुः, हितमेव चिन्तयेयुः, सुखमेव समर्पयेयुः, आपत्समये सहायकाः स्युः, न चास्मान् निन्देयुः, न निष्ठुरमनृतञ्च भाषेरन् । स्वकीयस्वसृदुहितृपत्न्यादिकं कुदृष्ट्या न केऽपि पश्येयुः, न चास्मान् वञ्चयेयुः, न च विश्वासघातं द्रोहञ्च कुर्युरित्यादि-

जगदीश्वर भगवान् सर्व-विश्व के मानवों के प्रति सम्यक्-हितकर उपदेश देता है। आप सब धर्म एव नीति से संयुक्त हों। निखिल-दुःख एव विपत्तियों का कारण कुटिलता एव विरोध का परित्याग करके समस्त-सुख एव समग्र-सम्पत्ति का मूल कारण—संघशक्ति का सम्यक् आश्रयण करें। भारत-भूदेवी का जिस प्रकार अखण्ड-अभ्युदय हो, तिस प्रकार ही आप सब प्रयत्न करें। परिपुष्ट-शरीर-इन्द्रिय-बल-बुद्धि-विद्या-शक्ति वाले हुए अपने देश का अभ्युदय करें एव अपने देश के रक्षक-बन्धुओं की सहायता करें। विश्व के हित-कल्याण की इच्छा को, जगत् के बन्धुत्व को एव परार्थों में स्वार्थबुद्धित्व को धारण करें। मन से वाणी से एव कर्म से शक्ति के अनुसार जीवनपर्यन्त अपने एव पराये हित का ही विस्तार करते रहें। जो जो अपने को प्रतिकूल है—नापसद है—उस-उसका अन्यों के प्रति कदापि किसी भी प्रकार से आचरण न करें। जो जो अपने को अनुकूल-पसद है—इष्ट है—जैसा कि—'सब प्राणी-मात्र हमारे अनुकूल, उपकारक एव मित्र हों, हमारे हित-भला का ही चिन्तन करें, हमें सुख को ही समर्पण करें, आपत्ति के समय में सब सहायक हों, हमारी निन्दा न करें, हमारे प्रति निष्ठुर-उद्वेग कर-एवं असत्-भाषण न करें, अपनी बहिन-बेटी-पत्नी आदि को खोटी दृष्टि से कोई भी न देखें, हमारी वञ्चना-ठगाई न करें, हमारा विश्वासघात एवं

लक्षणम्, तेभ्यो यथा युष्माभिरभिलष्यते, तत्तदखिलं–वयं सर्वेषामनुकूला उपकारका मित्राणि च भवेम इत्यादिकं, तथैव यूयमन्येभ्योऽप्यभिलषत। यदाह–भगवान् वेदपुरुषो गीतासु–'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन!। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥' (गी. ६।३२) इति। अत एव सत्यां हितां मितां प्रियामेव वाचं वदत। न कदापि–उच्छृङ्खलतामवलम्ब्य परोद्वेगकरं विरोधकरमनृतं परुषञ्च वचनं समुच्चारयत। परस्परं सद्भावयन्तः चेतसः ईर्ष्या-परापकारचिकीर्षाऽसूयाऽमर्षकालुष्यं परित्यजत। सुखितेषु दुःखितेषु पुण्यकृत्सु पापिष्ठेषु च क्रमशो मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षालक्षणां चेतःप्रसादिनीं भावनाचतुष्टयीं प्रणयमधुरां प्रेयसीं सुन्दरीमिव समाश्लिष्य सौजन्यामृतसिन्धवो भवत। परसुखसम्पद्भङ्गकरणं स्वसुखसम्पद्भङ्गायैव भवति; परदुःखविपत्प्रदानं स्वदुःखविपत्प्रदानायैव भवतीति च मनसि विनिश्चित्य परसुखसम्पद्भङ्गः परदुःखविपत्प्रदानञ्च न कदापि करणीयम्। निरुपमधैर्यं निसर्गसिद्धोत्साहं निःसीमशौर्यशक्तिं विपुलतमप्रज्ञाविभुतिञ्च समाश्रित्य सदा गभीरोदारशान्तविशदाशयाः प्रसन्नानना

द्रोह न करें'–इत्यादिरूप की–जिस प्रकार हम अपने लिए–अभिलाषा रखते हैं-उस-उस निखिल-इष्ट–'हम सब के अनुकूल-उपकारक, एवं मित्र हों' इत्यादिरूप की–तिस प्रकार ही आप-लोग अन्यों के लिए–अभिलाषा रक्खें। यही भगवान् वेदपुरुष गीता में कहता है–'हे अर्जुन! जो योगी, अपनी सादृश्यता से सम्पूर्ण-भूतों में सम-समानता देखता है, और सुख अथवा दुःख को भी सब में सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।' इति। इसलिए आप सब-लोग सत्य, हित-मित एवं प्रिय ही वाणी बोलें। उच्छृङ्खलता-मर्यादा-शून्यता का अवलम्बन करके कदापि अन्य को उद्विग्न-व्याकुल करने वाले-एवं विरोध करने वाले कठोर-कडवे वचन का समुच्चारण न करें। परस्पर सद्भावना रखते हुए–चित्त की–ईर्ष्या-अन्य की अपकार करने की इच्छा-असूया-अमर्ष-क्रोधरूप कालिमा का परित्याग करें। सुखियों में मैत्री, दुःखियों में करुणा, पुण्यवानों में मुदिता एवं पापियों में उपेक्षारूप, चित्त को प्रसन्न बनाने वाली-इन चार प्रकार की भावनाओं का–'प्रणय-प्रेम-मधुरा-प्रेयसी सुन्दरी की भाँति'–सम्यक् आश्रय-अवलम्बन करके सज्जनतारूपी अमृत के सागर बनें। अन्य के सुख का एवं सम्पत्ति का भंग-नाश करना, अपनी ही सुख-सम्पत्ति के भंग के लिए ही होता है। तथा अन्य को दुःख एवं विपत्ति का देना, अपने ही दुःख एवं विपत्ति के प्रदान के लिए ही होता है। ऐसा मन में विशेषरूप से निश्चय करके अन्य के सुख-सम्पत्ति का भङ्ग, एवं अन्य के दुःख-विपत्ति का प्रदान, कदापि नहीं करना चाहिए। उपमारहित धैर्य का, स्वभाव-सिद्ध-उत्साह का, सीमारहित-शौर्य-शक्ति का, एवं अतिविस्तृत-प्रज्ञा-प्रकाश का सम्यक् आश्रयण करके सदा गम्भीर-उदार-शान्त एवं विशद हृदय

विधृतवीरव्रताश्च भवत । अन्यभागहरणं स्वभागहरणायैव भवति, कृतानुकरणस्य लोकस्वभावसिद्धत्वादिति परिज्ञाय स्वभागरक्षणायान्यभागहरणं कदापि न कर्तव्यम् । स्वभागसन्तोषाभावादेव परभागलिप्सा प्रादुर्भवति, तया खलु विविधं कलहं कुर्वाणा मानवाः कुटिलप्रकृतयो भवन्ति । एतादृशानां तेषां कुतोऽभ्युदयः कुतस्तरां सौख्यञ्च सिद्ध्येताम् ? तस्माद्यथा देवाः परस्परमैकमत्यं प्राप्ता यज्ञे स्वकीयमेव हविर्भागमाददते । नान्यदीयं हविर्भागं लिप्सन्ते, तथा यूयं स्वभाग एव सन्तोषमास्थाय कदाप्यन्यायेन हेतुना मा परभागलिप्सां कुरुत इति । तदेतदुपदेशजातमाह भगवान् वेदः—

वाले, प्रसन्न शान्त मुख वाले, एवं वीरव्रत का धारण करने वाले बनें । अन्य के भाग-हिस्सा का हरण करना, अपने भाग के हरण के लिए ही होता है, क्योंकि-किये—हुए का अनुकरण करना लोकों के स्वभाव से सिद्ध है, ऐसा निश्चित समझ करके अपने अधिकृत भाग की रक्षा के लिए अन्य के अनधिकृत भाग का हरण-ग्रहण कदापि नहीं करना चाहिए । अपने भाग में सन्तोष न होने से ही अन्य के भाग की लिप्सा-प्राप्ति की इच्छा का प्रादुर्भाव होता है, उस लिप्सा से ही विविध प्रकार के कलह-लडाई झगडा को करते हुए मनुष्य कुटिल स्वभाव वाले दुर्जन हो जाते हैं । इस प्रकार के उन दुष्ट-मनुष्यों का कहाँ से अभ्युदय-उन्नति एवं कहाँ से सुख सिद्ध हो ? । इसलिए जिसप्रकार देवगण, यज्ञ में परस्पर एकमति को प्राप्त हुए-अपने ही हविर्भाग को ग्रहण करते हैं, अन्य के हविर्भाग को लेने की इच्छा नहीं रखते हैं । तिस प्रकार आप लोग, अपने भाग में ही सन्तोष को धारण करके कदापि अन्यायरूप-कारण से अन्य के भाग की लिप्सा प्राप्ति की इच्छा न करें । इति । इसी ही उपदेश समुदाय का भगवान् वेद प्रतिपादन करता है—

ॐ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋग्वेद मण्ड १० सूक्त. १९१ ऋक् २) (अथर्व ६।६४।१। तै ब्रा २।४।४।४)

'आप सब धर्म-नीति से संयुक्त हुए परस्पर सम्मिलित-संघटित बनें । सब मिल कर अभ्युदय कारक-अच्छे-सत्य हित-प्रिय-वाक्यों को ही बोलें । तथा आप सब के मन, सुखदु खादिरूप अर्थ को सबके लिए समानरूप से जानें । जिस प्रकार पुरातन-इन्द्र-वरुणादि देव, धर्म नीति की मर्यादा को जानते हुए अपने ही हविर्भाग का अङ्गीकार करते हैं, तिस प्रकार आप सब लोग भी अपने ही भाग का अङ्गीकार करें, अन्य के भाग को अन्याय से ग्रहण मत करें ।'

हे मानवाः ! यूयं संगच्छध्वं=धर्मनीतिभ्यां संगताः-संयुक्ताः भवत । यद्वा संगताः=कौटिल्यं विरोधञ्च परिहाय मिथः

हे मनुष्यो ! आप सब संगच्छध्व यानी धर्म एवं नीति से संगत-संयुक्त हों । यद्वा संगत यानी कुटिलता का एवं विरोध का परित्याग करके

संमिलिताः-संघट्टिता भवत । तथा संवदध्वं=सम्यक्-अविरोधकरं सत्यं हितं प्रियं स्नेहवर्धकं वाक्यं ब्रूत । यद्वा संवदध्वं=सह वदत-संघशक्तिसम्पादकं स्वदेशाभ्युदयकरमेकविधमेव वाक्यं परस्परं कथयत । एवमाथर्वणेऽप्येतत्समाम्नातं भवति—'सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया' (अथर्व. ३।३०।३) 'अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत, मा वियौष्ट' (अथर्व. ३।३०।५) इति । सम्यञ्चः=समञ्चनाः समानगतयः मिथोऽविरुद्धगतयः संमिलिताः समानमतयो वा, सव्रताः=सत्यपरोपकारादिव्रतविशिष्टाः एककर्मकरा वा सन्तो यूयं भद्रया=कल्याण्या वाण्या उत्तमरीत्या वा वाचं=सत्यत्वादिलक्षणोपेतं शब्दजातं वदत=कथयतेत्यर्थः । अन्योऽन्यस्मै=परस्परं, वल्गु=शोभनं सत्यप्रियवाक्यं वदन्तः=भाषमाणा एत=अग्रे गच्छत, यूयं मा वियौष्ट=कदाचिदपि वियुक्ता पृथग्भूता मिथो विरुद्धा वा मा भवत । किन्तु सदा संघट्टिता एव भवत इत्यर्थः । तथा वः=युष्माकं, मनांसि=चेतांसि, संजानतां=समानमेकरूपमेवार्थं अवगच्छन्तु, यद्यदस्माकमनुकूलं वा प्रतिकूलं वा तदन्येषामपि तथैव भवतीति स्वात्मदृष्टान्तेन सर्वत्र प्राणिजाते सुखदुःखादिकं सममेकरूपमेव विजानन्तु—यथा द्वेषशून्यत्वेन हेतुना कश्चिदपि स्वस्यानिष्टं दुःखादिकं न वाञ्छति न सम्पादयति च, किन्तु प्रेमवैशिष्ट्येन हेतुना

परस्पर संमिलित-संघट्टित हों। तथा संवदध्वं यानी सम्यक्-अच्छे-विरोध नहीं करने वाले-सत्य-हित-प्रिय-स्नेह बढाने वाले वाक्य को ही बोलें। यद्वा संवदध्वं यानी साथ साथ बोलें अर्थात् संघशक्ति का सम्पादन कराने वाले-अपने देश का अभ्युदय करने वाले एक प्रकार के ही-परस्पर की सम्मति सूचक-वाक्य का परस्पर कथन करें। इस प्रकार अथर्व संहिता में भी यह उपदेश सम्यक् कहा जाता है— 'एक मत वाले और एक कर्म करने वाले हो कर उत्तम रीति से निष्कपट-यथार्थ भाषण करो।' 'एक दूसरे से प्रेमपूर्वक सत्य-प्रिय भाषण करते हुए आगे बढो।' 'तुम लोग अलग मत होओ, परस्पर विरोध मत करो।' इति। सम्यञ्च यानी समान गति वाले—परस्पर विरोधरहित गति-क्रिया वाले-संमिलित या समान-विरोधरहित मति-बुद्धि वाले, सव्रता यानी सत्य-परोपकारादि-व्रतों से विशिष्ट या एक-अविरुद्ध कर्म करने वाले हुए आप लोग भद्रा-कल्याणी वाणी के द्वारा या उत्तमरीति से सत्यत्वादि लक्षणों से संयुक्त वाक् यानी शब्द समुदाय का वदन-कथन करें।' परस्पर वल्गु यानी शोभन-सत्य प्रिय हित वाक्य का भाषण करते हुए एत यानी आगे बढें-उन्नत बनें। आप लोग कदाचित् भी वियुक्त-पृथक्भूत-अलग या परस्पर विरुद्ध न हों। किन्तु सदा संघट्टित-मिले हुए ही हों। तथा आप लोगों के मनः-चित्त, समान-एक रूप-वाले ही अर्थ को जानें, अर्थात् जो जो बात या पदार्थ हम को अनुकूल या प्रतिकूल है, वह अन्यों को भी उसी प्रकार से ही होता है, ऐसा अपने दृष्टान्त से सब प्राणियों के समुदाय में सुख दुःखादिक-सम-एक-रूप ही आप सब जानें, जिस प्रकार द्वेष-शून्यत्वरूप कारण से कोई भी अपने अनिष्ट-प्रतिकूल दुःखादि की वाञ्छा नहीं करता है, एवं न सम्पादन करता है, किन्तु प्रेमवैशिष्ट्यरूप हेतु से इष्ट-सुखादिक की ही

इदं सुखादिकमेव वाञ्छति सम्पादयति च, तथा परस्यापि स्वस्येव द्वेषमकृत्वा प्रेम-वैशिष्ट्यञ्च विधायेष्टानिष्टवाञ्छनसम्पादनतदभावादिकमेकरूपमेवावगन्तव्यम्। अन्यथा तदनेकरूपं विषममवगतं स्यात्। यथा पूर्वे=पुरातनाः देवाः=रुद्रेन्द्रादयः, संजानानाः=सम्यक्प्रकारेण धर्मनीतिमर्यादां विजानन्तः-परस्परं वैमत्यं परित्यज्य-ऐकमत्यं प्राप्ताः, भागं=स्वं स्वमेव हविर्भागं, उपासते=स्वीकुर्वन्ति, नान्यदीयं भागमङ्गीकुर्वन्ति। तथा यूयमपि संजानानाः स्वं स्वमेव न्याय्यं धर्म्यं धनादिभागं स्वीकुरुत, नान्यदीयभागमङ्गीकुरुतेति यावत्। अयमेव लोकाभ्युदयस्य निष्कण्टकः पन्थाः सर्वैः समाश्रयणीय इति शम्[१]।

वाञ्छा करता है एवं सम्पादन करता है। तथा अन्य का भी-अपने की तरह द्वेष न करके उस अन्य में भी प्रेम वैशिष्ट्य की स्थापना करके इष्ट-अनुकूल का वाञ्छन एवं सम्पादन, एवं अनिष्ट प्रतिकूल वाञ्छन-सम्पादन का अभाव आदि एकरूप ही जानना चाहिए। अन्यथा-वह अनेकरूप से विषम अवगत होगा। जिस प्रकार पूर्व-यानी पुरातन, रुद्र-इन्द्रादि-देव, सजानाना यानी सम्यक्-प्रकार से धर्म नीति की मर्यादा को विशेष रूप से जानते हुए-परस्पर वैमत्य का परित्याग करके ऐकमत्य को प्राप्त हुए-भाग यानी यज्ञादि में अपने अपने ही हविर्भाग को स्वीकार करते हैं। अन्य-देव के भाग का अङ्गीकार नहीं करते हैं। तथा आप सब लोग भी, सजानाना धर्मनीति की मर्यादा को अच्छी रीति से जानते हुए-अपना-अपना ही न्याय एवं धर्म से संयुक्त धनादि का भाग स्वीकार करें, अन्य के भाग को अन्याय से अङ्गीकार न करें। यही लोकों के अभ्युदय का कण्टक रहित निर्मल-मार्ग है, उसी का ही सबको सम्यक् आश्रय करना चाहिए। इति शम्।

(१००)

(सरलं स्वभावं विधाय मानसं द्वन्द्वेषु समानं करणीयम्)

(सरल स्वभाव को धारण करके सुखदु खादि-द्वन्द्वों में मन को समान रखना चाहिए)

हे लोकाः! सर्वलोकहितोपदेष्टुर्मम भगवतो वेदस्येमं सदुपदेशं सावधानेन मनसा यूयं समाकर्णयत, तदनु विचार्य स्वहृदि च विधारयत। युष्माभिर्युष्मदीयाः सर्वे संकल्पा निश्चयाः प्रयत्ना व्यवहाराश्च सरलाः-अवक्राः-कापट्यविश्वासघातादिदोषरहिता भावसंशुद्धिसमुपेताः क्रिय-

हे लोगो! सर्व लोकों के हित-कल्याण का उपदेष्टा-मुझ-भगवान्-वेद के इस सदुपदेश को सावधान मन से आप सब सुनें, और सुन कर पश्चात् विचार करके उसको अपने हृदय में धारण करें। आप सब, अपने सब सकल्प, निश्चय, प्रयत्न, एवं व्यवहार सरल यानी-वक्रता-टेढापन उच्छृङ्खलता से रहित,-कापट्य विश्वासघात आदिदोषों से रहित-हृदय के भावों की सम्यक् शुद्धि से संयुक्त करें।

१ सगच्छध्व-'समो गम्यृच्छीत्या' दिना गमेरात्मनेपदम्। सवदध्व-'व्यक्त'वाचां समुच्चारणे इति वदेरात्मनेपदम्। सजानता-'सम्प्रतिभ्यामनाध्याने इति जानातेरात्मनेपदम्।

न्ताम् । तथा हृदयानि समानानि विधीयन्तां न विषमाणि, येन यूयं सौमनसं सुखं लभध्वम्। येषां खलु विवेकविचाररहितानां मूढानां हृदयानि वैषयिकं सुखमनुरज्यन्ति, दुःखमनुरुदन्ति, लाभे प्रसीदन्ति, अलाभे च विषीदन्ति, जयमाद्रियन्ते, पराजयमवमन्यन्ते, सम्मानस्तुत्यादौ हृष्यन्ति, अवमाननिन्दादौ म्लायन्ति । तेषां हृदयानि तानि रागद्वेषाभ्यां प्रवर्तमानानि द्वन्द्वमजस्रं भजमानानि विषमाणीत्युच्यन्ते । येषां किल विवेकविचारशीलानां महाधीराणां विज्ञानां हृदयानि न सुखं वैषयिकं क्षणिकं तुच्छं प्रेप्सन्ति, न दुःखं जिहासन्ति, किन्तु बलवत्प्रारब्धवशात् समागते सुखदुःखेऽनासक्तबुद्ध्याऽनुभवन्त्यपि तानि प्रियमिष्टं प्राप्य नानुरज्यन्ति, अप्रियमनिष्टं प्राप्य न द्विषन्ति । एवं लाभे न नन्दन्ति, नालाभे संतपन्ति, न विजयं प्रमोदकरं याचन्ते न पराजयं संतापकरं जुगुप्सन्ते, न मानापमाननिन्दास्तुत्यादौ हर्षशोकाभ्यामनुद्रवन्ति, एवं क्वचिदपि रागद्वेषाभ्यामप्रवर्तमानानि पयसा पाथोजवत्ताभ्यामसंस्पृष्टानि द्वन्द्वातीतानि तानि समानानीत्युच्यन्ते । तादृशेन समानेन हृदयेन

तथा हृदयों को भी समान-समभाव वाले करें, विषम-विरुद्ध-भाव वाले न रक्खें। जिससे आप लोग सुशोभन-पवित्र मन के दिव्य-सुख को प्राप्त करें। विवेक विचार से रहित-जिन मूढ़-मनुष्यों के हृदय विषयों के तुच्छ-सुख के पीछे अनुरक्त हो जाते हैं, दुःख के पीछे रोने लग जाते हैं, लाभ प्राप्त होने पर प्रसन्न बन जाते हैं, एवं लाभ न होने पर अर्थात् हानि होने पर विषाद को प्राप्त होते हैं, जय का बड़ा आदर करते हैं, और पराजय का तिरस्कार करते हैं। अपना सम्मान-स्तुति आदि के होने पर हर्षित हो जाते हैं, और अपना अपमान-निन्दा आदि के होने पर म्लान हो जाते हैं। उन्हीं के वे हृदय—जो रागद्वेष के द्वारा प्रवर्तमान होते हैं—एवं निरन्तर सुखदुःखादि-द्वन्द्व का ही सेवन करते रहते हैं—विषम कहे जाते हैं। विवेक विचारशील-महाधीर-जिन-विज्ञों के हृदय, निश्चय से, वैषयिक-क्षणिक-तुच्छ-सुख की प्राप्ति की इच्छा नहीं रखते हैं एवं न दुःख के त्याग की भी इच्छा रखते हैं, किन्तु बलवान्-प्रारब्ध के वश से समागत—आये हुए सुख एवं दुःख का अनासक्त-बुद्धि से अनुभव करते हुए भी वे हृदय, इष्ट-प्रिय पदार्थ को प्राप्त करके अनुरक्त नहीं होते हैं, अप्रिय-अनिष्ट को प्राप्त कर के भी द्वेष नहीं करते हैं, एवं लाभ में न हर्षित होते हैं, अलाभ-हानि होने पर न संतप्त-उद्विग्न होते हैं, प्रमोदकारी-विजय की याचना नहीं करते हैं, न संतापकारी-पराजय की घृणा करते हैं, मान अपमान निन्दा स्तुति आदि होने पर जो न हर्ष-शोक के पीछे-दौड़ते हैं, एवं कहीं भी राग द्वेष के द्वारा प्रवर्तमान न होने वाले—'जल से कमल की भाँति' उन-राग द्वेषादि द्वन्द्वों से संस्पृष्ट न होने वाले-द्वन्द्वों से अतीत-वे हृदय, समान-समभाव वाले कहे जाते हैं। उस प्रकार के समान

यत्किमपि घोरमपि युद्धादिकं कर्म कुर्वाणो जनः कथञ्चन न प्रत्यवायभाग्भवति। आह च भगवान् वेदपुरुषो गीतासु–'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥' (गी. १८।१७) इति। तस्माद्यूयं हृदयस्य गर्ह्यतमं वैषम्यं यत्नेन परित्यजध्वं, समानत्वापरपर्यायं स्तुत्यतमं साम्यं सादरेण भजध्वम्। समत्वयोगेनैव सर्वत्र सर्वविधं शोभनं धर्मार्थादिः साहित्यं सुलभं सिद्ध्यतीत्यभिप्रेत्य तदेवदाह—

हृदय से जो कुछ भी घोर-भयंकर-युद्ध आदि कर्म को करता हुआ भी मनुष्य किसी भी प्रकार से प्रत्यवाय-पापविशेष का भागी नहीं होता है। भगवान् वेदपुरुष-श्रीकृष्ण गीता में भी कहता है–'जिस को 'मैं करता हूँ' ऐसा अहंकार का भाव नहीं है, एवं जिस की बुद्धि कर्म के फलों में एवं द्वन्द्वों में लिप्त-आसक्त नहीं होती है, वह इन लोकों को मार करके भी न तो वह मारता है, न तो उस पाप से निबद्ध होता है।' इति। इसलिए आप लोग, हृदय के अति गर्ह्य-गर्ह्य-कुत्सा करने योग्य-वैषम्य का यत्न से परित्याग करें, और समानभाव है अन्य नाम जिसका ऐसा अतिस्तुत्य-साम्य का आदर पूर्वक सेवन करें। क्योंकि-समत्वयोग से ही सर्वत्र सर्व प्रकार का शोभन-धर्म-अर्थ-आदि पुरुषार्थों का साहित्य-समुच्चय सुलभरीति से सिद्ध हो जाता है, ऐसा अभिप्राय रख करके वही यह वेदमन्त्र कहता है—

ॐ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद. मण्ड. १० सूक्त. १९१ ऋक् ४। अथर्व. ६।६४।३। तै. ब्रा. २।४।४।५)

'आप सब लोगों की आकूति यानी संकल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार, समान-समभाव वाले-सरल-कापट्यादि दोष रहित-स्वच्छ रहे। एवं आप सब लोगों के हृदय भी समान-निर्द्वन्द्व-हर्षशोकरहित-सम भाव वाले रहें। तथा आप सब लोगों का मन भी समान-सुशील-एक प्रकार के ही सद्भाव वाला रहे। जिस प्रकार से आप सब का शोभन-साहित्य-समुच्चय धर्म-अर्थ आदि का सम्पादित हो, तिस प्रकार आपके आकूति, हृदय एवं मन हों।'

हे लोकाः! वः=युष्माकं, आकूतिः=संकल्पः–अध्यवसायः–प्रयत्नः–व्यवहारः इत्यनेकार्थः। समानी=सरला–अवक्रा–काषट्यादिदोषरहिता–भावसंशुद्धिसंयुक्ता–स्वच्छा एकविधा अस्तु=भवतु। तथा वः=युष्माकं, हृदयानि=अन्तःकरणानि,

हे लोगो! वः–यानी तुम लोगों के आकूति यानी संकल्प, अध्यवसाय-निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार, यह आकूति शब्द के अनेक अर्थ हैं। समानी यानी सरल-अवक्र-कापट्य विश्वासघात-द्रोह आदि-दोष रहित-भावों की सम्यक्-शुद्धि से संयुक्त, स्वच्छ, एक प्रकार की हो। तथा वः-तुम

समाना=समानानि-सुखदुःखसम्पद्विपन्मानापमानादिद्वन्द्वेषु समुपस्थितेषु सत्सु हर्षशोकरहितानि समत्वयोगयुक्तानि भवन्तु । तथा वः=युष्माकं मनः=चित्तं, प्रत्येकापेक्षयैकवचनम् । तदपि समानं सरलं सुशीलं-एकविधं अस्तु। कीदृशं तद्भवेदित्यत आह-यथा=येन प्रकारेण वः=युष्माकं सुसह=शोभनसाहित्यं, समुच्चयं धर्मार्थादेः असति=भवति-सम्पादितं भवेत्, तथा=तेन प्रकारेण संयुक्तं तत्समानं भवतु इत्यन्वयः। (असति-अस्तेर्लेटि बहुलं छन्दसीति शपो लुगभावः) यद्वा सति=सज्जने समदर्शिनि-ब्रह्मविदि-महापुरुषे यथा सुसहा=सुसहानि-सुलभानि-अवस्थितानि यादृशानि-आकृतिहृदयमनांसि भवन्ति । तथा वः= युष्माकं मध्ये तादृशानि-तानि सुलभानि भूयासुरिति भगवतोऽतिधन्यस्य वेदस्याशीर्वादोऽयमिति शम्।

लोगों के हृदय-अन्तःकरण, समान-समभाव वाले अर्थात् सुख दुःख, सम्पत्ति विपत्ति, मान अपमान आदि द्वन्द्वों के उपस्थित होने पर हर्ष शोक से रहित-समत्वयोग से युक्त हों। तथा तुम लोगों के मन-चित्त, प्रत्येक की अपेक्षा से एकवचन है, वह भी समान-सरल-सुशील-एक प्रकार का समभाव वाला हो। किस प्रकार का वह हो? ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं-जिस प्रकार से तुम लोगों का सुसह यानी शोभन-अच्छा साहित्य-समुच्चय धर्म अर्थ आदि पुरुषार्थों का सम्पादित हो, तिस प्रकार से वह संयुक्त-समान हो, ऐसा अन्वय है। यद्वा सत् यानी सज्जन-समदर्शी-ब्रह्मवित्-महापुरुष में जिस प्रकार के सुसह यानी सुलभ-शोभन-आकृति-हृदय-एवं मन अवस्थित रहते हैं। तिस प्रकार के तुम लोगों के मध्य में भी वे सब-आकृति-हृदय एवं मन सुलभ हों, ऐसा, अतिधन्य-भगवान्-वेद का यह शुभ आशीर्वाद है। इति शम्।

* * * *

मूलन्तु रम्यमखिलं शिवसत्ययुक्त-मानन्ददं श्रुतिवचः परमार्थबोधम् ।
भ्रान्त्यादिदोषरहितञ्च स्वतःप्रमाणं, श्रद्धाधनाय न कथं रुचिकारकं स्यात् ॥१॥

व्याख्यानमेतदसमञ्जसमित्यसूयामादाय चेद्वदति यस्तु नमोऽस्तु तस्मै ।
जागर्ति कोऽपि वसुधावलयेऽनसूयः, सन्मार्मिकः प्रयतनं हि तदर्थमेतत् ॥२॥

इस ऋग्वेद संहितोपनिषत्-शतक ग्रन्थ के मूल-वेद मन्त्र समस्त, रमणीय, शिव-कल्याणमय-सत्य से युक्त-आनन्दप्रद-श्रुति वचन रूप है, इससे परमार्थ तत्त्व का-विशुद्ध बोध प्राप्त होता है, और यह भ्रान्ति आदि दोषों से रहित-स्वतः प्रमाण है। इसलिए श्रद्धाधन वाले-आस्तिक को यह रुचिकर क्यों न होगा? अर्थात् अवश्य होगा ॥१॥

इसका यह अध्यात्मज्योत्स्नाविवृत्ति नाम का व्याख्यान समीचीन नहीं है, ऐसा यदि कोई दुर्जन-असूया-गुण में दोष बुद्धि-को ग्रहण करके-बोलता है, तो उसे नमस्कार है। इस पृथिवी-मण्डल में असूया से रहित-सत्य-मर्म को समझने वाला कोई सज्जन अवश्य ही जाग्रत् है-विद्यमान है-उस के लिए ही यह प्रयत्न है ॥२॥

सुभाषितं चार्वपि नाऽमहात्मनां, दिवाकरो नक्तदृशामिवामलः ।
प्रभाति भात्येव विशुद्धचेतसां, निधिर्यथाऽपास्ततृषां महाधनः ॥ ३ ॥
ऋग्वेदस्य वरेण्यस्य मन्त्राणां शतकस्य हि ।
अध्यात्मतत्त्वबोधिन्या ज्योत्स्नाऽऽख्यव्याख्ययाऽनया ॥४॥
वेदतत्त्वबुभुत्सूनां चात्मस्वान्तस्य तुष्टये । प्रबोधाय च विश्वात्मा भगवान् संप्रसीदतु ॥५॥
हरिद्वारस्य नेदिष्ठे बंगलाऽऽख्ये शुभे मठे । भागीरथ्याः प्रिये कूले व्याख्येयं रचिता मुदा ६
श्रीनन्दनन्दनन्देन्दु-मिते वैक्रमवत्सरे । ज्येष्ठमासेऽधिके पुण्ये पूर्णिमायां समाप्यगम् ॥७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य्य-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-पूज्यपाद-मण्डलेश्वर-स्वामिश्रीजयेन्द्रपुरीतिशुभाभिधेय-श्रीगुरुचरणकृपाकटाक्षावाप्तविद्येन श्रीमन्मह-त्पदाभिधेयपरमहंसपरिव्राजकाचार्य्यवर्य्य-श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ-पूज्यपादमण्डलेश्वरस्वामि-श्रीगिरीशानन्दगिरीतिशुभाभिधेय-श्रीगुरुचरणप्रसादासादितपारिव्राज्येन श्रीस्वामिमहेश्वरानन्दगिरिमण्डलेश्वरेण प्रणीता-ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकस्याध्यात्मज्योत्स्नाऽभिधा विवृत्तिः समाप्ता; शिवमस्तु शिवः सर्वम् । शिवोऽहमिति हरिः ॐ तत्सत् । शं भूयात्सर्वेषाम् ।

जिस प्रकार निर्मल-सूर्य, दिवान्ध-उल्लुओं को भासित नहीं होता है, तिस प्रकार अनुदार-तुच्छ-कुत्सित-बुद्धि वालों को यह अच्छा-शोभन-सुभाषित भी प्रतीत नहीं होता है। किन्तु जिस प्रकार तृष्णा-रहित-सन्तुष्ट योगियों को महाधन वाला-निधि-खजाना प्रतीत हो जाता है, तिस प्रकार-उदार-विशुद्ध-चित्तवाले-सज्जन-विचारशीलों को ही यह तात्पर्यनिधियुक्त-सुभाषित शोभन-अच्छा प्रतीत होता है॥३॥

सब वेदों में वरेण्य-ऋग्वेद के मन्त्रों के शतक की-अध्यात्मतत्त्व का बोधन करने वाली-ज्योत्स्ना नामकी इस व्याख्या के द्वारा-वेद के तात्पर्य को जानने की इच्छा रखने वाले सज्जन-जिज्ञासुओं को प्रबोध उत्पन्न करने के लिए एवं-अपने अन्तःकरण की सतुष्टि को उत्पन्न करने के लिए-विश्वात्मा भगवान् सम्यक्-प्रसन्न हों ॥४॥५॥

हरिद्वार के अत्यन्त समीप-कनखल में 'सुरतगिरि का बंगला' नाम का शुभ-पावन-मठ जो भगवती भागीरथी-गंगा के प्रिय-रमणीय तट में अवस्थित है-उसमें यह अध्यात्मज्योत्स्ना व्याख्या प्रसन्नता पूर्वक रची गई है ॥६॥

श्री युक्त-नन्द ९ — नन्द ९ — नन्द ९ — इन्दु-१ 'अङ्कानां वामतो गतिः' अंकों की उल्टी गति होती है, इस न्याय से १९९९ के विक्रम संवत्सर में पवित्र-अधिक-मास-ज्येष्ठ में पूर्णिमा में इस व्याख्या को लिख कर मैंने समाप्त किया ॥७॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

---

१ तुष्टये प्रबोधाय चेत्यत्र चतुर्थी तु 'क्रियार्थोपपदस्य कर्मणि स्थानिनः' इत्यनेन पाणिनीयसूत्रेण 'फला-न्याहर्तुं यातीत्यर्थे फलेभ्यो यातीतिवत् अनया व्याख्यया निमित्तभूतया तुष्टिं प्रबोधं च जनयितुं इत्यस्मिन्नर्थे वेदितव्या । संप्रसीदतु=तदर्थं भगवान् प्रसन्नो भवतु इत्यर्थः ।

हरिः ॐ तत्सत्

श्रीविश्वनाथो विजयतेतराम्

अथ सव्याख्य उपनिषच्छान्तिपाठः—

मन्त्रोपनिषदध्येतृ—मुमुक्षूनां सुशान्तये ।
दश शान्तिकरान् मन्त्रान् व्याकरोमीष्टसिद्धये ॥ १ ॥

अथ नानाविधविघ्ननिवृत्त्यर्थं, अभीप्सितफलावाप्त्यर्थञ्च प्रार्थनादिरूपान् शान्तिकरान् शान्तिमन्त्रान्–प्रतिपादयति—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः !, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिः,–व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

(वा. य. स. २५।२१) (ऋ. १।८९।८) (साम. १८७४) (तै. आ. १।१।१)

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(ऋ. १।८९।६) (साम. १८७५) (वा. य. २५।१९) (तै. आ. १।१।१+२।१।३+१०।१।१९)

हे देवाः !=व्यष्टिसमष्टिसकलदेहप्रविष्टाः परमात्मविभूतिशक्तिविशेषरूपाः तदङ्गप्रत्यङ्गभावेनावस्थिताः ! सर्वे दानादिगुणयुक्ताः देवाः !, वयं सर्वे मुमुक्षवः

हरिः ॐ नमः शिवाय

'मन्त्रोपनिषद् के अध्ययन करने वाले जिज्ञासुओं की सुशान्तिरूप-इष्टसिद्धि के लिए दश-शान्ति करने वाले-शान्ति मन्त्रों का मैं व्याख्यान करता हूँ ।'

अब नानाप्रकार के विघ्नों की निवृत्ति के लिए एवं अभीप्सित-फल की प्राप्ति के लिए प्रार्थनादिरूप शान्ति करने वाले-शान्ति-मन्त्रों का प्रतिपादन करते हैं—

'हे परमात्मस्वरूप देवो ! हम अपने कानों से सदा कल्याणकारी-भद्रवचनों का ही श्रवण करें। परमात्मा का यजन-ध्यानादि करते हुए हम अपने नेत्रों से कल्याणमय-भद्र-रूपों का ही दर्शन करें। स्थिर हस्त-पादादि-अङ्गो के द्वारा सूक्ष्मरहस्य-वाली-श्रुतियों से उस सर्वात्मा-पूर्ण-ब्रह्म की हम सदा स्तुति करें। हे देवो ! हम आयुभर कल्याणस्वरूप-परमात्मा शिव को ही धारण करें, या नीरोगत्व चिरजीवित्वादि-गुणविशिष्ट हितकारी प्रभुमय जीवन को धारण करें ।'

'महान्-विस्तीर्ण कीर्तिवाला इन्द्र-परमात्मा हमें अद्वैतानन्दपूर्ण-स्वस्ति-कल्याण का समर्पण करें। समस्त विश्व का जानने वाला-सूर्य-नारायण हम को स्वस्ति-कल्याण देवें। अप्रतिहतगति वाला-गरुड-भगवान् भी हम को स्वस्ति कल्याण का प्रदान करें। बृहस्पति परमेश्वर हम-सब को असम्बानन्दमय-स्वस्ति देवें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।'

हे देवाः ! यानी हे व्यष्टि-एवं समष्टिरूप-सकल पिण्ड-ब्रह्माण्डरूप-देहों में प्रविष्ट होने वालो ! परमात्मा की विभूति एवं शक्ति-विशेषरूप ! उसके अंग-प्रत्यंग भाव से रहने वालो ! दाना-

तत्त्वजिज्ञासवः, कर्णेभिः=अस्मदीयैः श्रोत्रैः, भद्रं=भजनीयं–आत्मकल्याणसम्पादकं निर्विशेषपूर्णाद्वैतप्रत्यगभिन्नब्रह्मप्रतिपादकवेदोपनिषद्वाक्यसमुदायलक्षणं, शृणुयाम= युष्मत्प्रसादात् श्रद्धैकाग्र्याभ्यां श्रोतुं समर्थाः स्याम। अस्माकं श्रोत्रयोः तच्छ्रवणेऽन- भिरुचिलक्षणं बाधिर्यं, प्रसिद्धं तद्वा कदाचिदपि माभूत्, अस्माकं श्रोत्रवृत्तिः सदैव भद्रश्रवणतत्परैव भूयादिति याचामहे इति भावः। यजत्राः=ब्रह्मविद्याश्रवणादिना प्रत्यगभिन्नब्रह्मध्यानादिशीलाः सन्तो वयं, अक्षभिः=अक्षिभिः–आत्मीयैश्चक्षुभिः, भद्रं=शोभनं–आह्लादकरं पूज्यानामुपदेष्टॄणां श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठानामाचार्य्याणां स्वरूप- मन्येषाञ्च वीतरागाणां महात्मनां श्रद्धेयं स्वरूपं, सगुणं परमेश्वरस्वरूपं वा, पश्येम= द्रष्टुं समर्था वयं स्याम। युष्माकं देवानां प्रसादादस्माकं चक्षुषोर्दृष्टिप्रतिघातः कदापि माभूत्। सा च दृष्टिः सदैव भद्रदर्शनतत्परैव भूयादिति च प्रार्थयामहे इति भावः।

यद्वा हे यजत्राः !=यागेषु चरुपुरोडाशादिभिर्यष्टव्याः देवाः! यद्वा यजन्तं यजमानं त्रायन्ते–रक्षन्तीति यजत्राः=यजमानपालका हे देवाः! इति देवानां सम्बोधनमिदम्। स्थिरैः=दृढैः–अविकलैः–तत्तदङ्गाभिमानीन्द्रादिदेवप्रसादेन स्वस्व- विषयव्यापृतिशून्यैरङ्गैः करचरणादिभिरवयवैः, तनूभिः=सूक्ष्माभिः–गभीराभिः–

दिगुणों से युक्त-समस्त देवो !, हम सब तत्त्वजिज्ञासु-मुमुक्षु, कर्ण यानी अपने श्रोत्र-कानों के द्वारा भद्र यानी भजन-सेवन करने योग्य-जो आत्मकल्याण का सम्पादन करने वाला–निर्विशेष-पूर्ण- अद्वैत-प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म का प्रतिपादक-वेदोपनिषत् के वाक्यों का समुदायरूप-भद्र है-उसका आपकी कृपा से श्रद्धा एवं एकाग्रता से श्रवण करने के लिए समर्थ होवे। हमारे कानों में उसके श्रवण में अनभिरुचिरूप-बधिरता, या प्रसिद्ध-बधिरतारूप रोग, कदापि प्राप्त न हो, हमारे श्रोत्र की वृत्ति, सदा ही भद्र-श्रवण के लिए ही तत्पर रहे, ऐसी हम याचना करते हैं, यह भाव है। यजत्रा यानी ब्रह्मविद्या के श्रवण आदि के द्वारा प्रत्यगात्मा से अभिन्न-ब्रह्म के ध्यानादि के स्वभाव वाले हुए हम-अपने अक्षि-चक्षुओं के द्वारा भद्र यानी शोभन-आह्लाद-प्रमोद करने वाले-पूज्य- उपदेशक-श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ-आचार्य्यों के स्वरूप का, एवं अन्य-वीतराग-महात्माओं के श्रद्धेय- स्वरूप का या सगुण परमेश्वर के स्वरूप का दर्शन करने के लिए समर्थ हों। आप-देवों की कृपा से हमारे-चक्षुओं की दृष्टियों का प्रतिघात कदापि न हो। वह दृष्टि सदा भद्रदर्शन के लिए ही तत्पर रहे, ऐसी हम प्रार्थना करते हैं, यह भाव है।

यद्वा हे यजत्राः! यानी यागों में चरु-पुरोडाशादि-हवियों के द्वारा यजन करने योग्य देवो! यद्वा जो यजन करने वाले-यजमान की त्राण-रक्षा करते हैं, वे यजमानों के पालक हे देवो! इस प्रकार 'यजत्राः!' यह पद देवों का सम्बोधन है। स्थिर यानी दृढ-विकलतारहित–उन- उन-अङ्गों के अभिमानी-इन्द्रादि देवो की कृपा से-अपने-अपने विषयाभिगामित्वरूप व्यापारों से रहित हुए-उन हस्त-पाद आदि अङ्ग-अवयवों के द्वारा, तनू यानी सूक्ष्म-गंभीर-सूक्ष्मतम-महात्म-

सूक्ष्मतमब्रह्मात्मतत्त्वगोचराभिः—श्रुतिभिः, यद्वा दृढैः—तनूभिः=शरीरैश्च संयुक्ताः सन्तः, तुष्टुवांसः=ब्रह्मानुसन्धानलक्षणां स्तुतिं कुर्वाणाः वयं, देवेत्येकवचनं जात्यभिप्रायतः, तथा च व्यक्त्यभिप्रायेण हे देवाः! युष्मत्प्रसादतः, हितं=नीरोगत्वादिगुणविशिष्टं यदायुः=चिरजीवित्वं, तद्व्यशेम=व्यश्नुयाम—प्राप्नुयामेत्यर्थः । यद्वा देवहितमिति समस्तं वाक्यं, देवेन प्रजापतिना व्यवस्थापितं यदायुः षोडशाधिकशतप्रमाणं तत् व्यशेम । यद्वा देवहितं=देवोपासनयोग्यं, देवप्रशस्ततमदीप्तिमयं वा आयुः=जीवनं व्यशेम इति । (कर्णेभिः—'बहुलं छन्दसि' इति भिसः ऐसभावः । अक्षभिः—'छन्दस्यपि दृश्यते' इत्यनङ् स चोदात्तः । यजत्राः—'अभिनक्षि' इत्यादिना यजेः अत्रन् प्रत्ययः । तुष्टुवांसः=ष्टुञ् स्तुतौ 'लिटः कसुः' । वि अशेम—अशू व्याप्तौ 'लिङ्याशिष्यङ् ।')

अथ मन्दबुद्धीननुग्रहीतुं प्रकारान्तरतः प्रार्थनामभिदधाति—स्वस्तीति । वृद्धश्रवाः=बृहत्कीर्तिः वृद्धं बृहत्—विस्तीर्णं प्रभूतं वा श्रवः—यशो यस्य स इति व्युत्पत्तेः । तादृशः इन्द्रः=देवपतिः परमात्मा, नः=अस्माकं, स्वस्ति=वेदोपनिषदध्ययनश्रवणमनननिदिध्यासनानुष्ठानार्थं क्षेमं शोभनं सामर्थ्यं, तत्फलं परिपूर्णब्रह्मानन्दञ्च दधातु=ददातु—समर्पयतु—स्थापयतु इत्यर्थः । तथा पूषा=विश्वपोषकः सूर्यः, स कीदृशः? विश्ववेदाः=विश्वं—सर्वं जगत् वेत्ति—जानातीति विश्ववेदाः—सर्वज्ञः सर्ववित् इत्यर्थः । यद्वा विश्वानि=सर्वाणि—सर्वत्रानुगतानि वेदांसि=ज्ञानानि विद्यन्ते यस्यानन्तज्ञान-

---

तत्त्व को विषय (निरूपण) करने वाली श्रुतियों के द्वारा, यद्वा दृढ तनु-शरीरों से संयुक्त हुए, ब्रह्म के अनुसन्धानरूप-स्तुति को करते हुए-हम 'देव!' ऐसा एकवचन जाति के अभिप्राय से है, तथा च व्यक्ति के अभिप्राय से बहुवचन 'हे देवो!' आप की प्रसन्नता से हित यानी नीरोगत्वादिगुणों से विशिष्ट जो आयु-चिरजीवन है, उसको हम प्राप्त करें। यद्वा 'देवहितं' यह समस्त वाक्य है, देव-प्रजापति ने जो आयु-एक सो सोलह वर्ष प्रमाण का जीवन-व्यवस्थापित किया है, उसको हम प्राप्त करें। यद्वा देवहित यानी देव-परमात्मा की उपासना के लिए योग्य, या देवों की प्रशस्त दीप्ति-कान्ति-प्रचुर आयु-जीवन को हम प्राप्त करें।

अब मन्द-बुद्धिवालों के ऊपर अनुग्रह करने के लिए प्रकारान्तर से प्रार्थना का प्रतिपादन करते हैं—'स्वस्ति' इति। वृद्धश्रवाः यानी बड़ी-विस्तीर्ण-कीर्ति वाला। वृद्ध यानी बृहत् विस्तीर्ण, या वृद्ध-बढ़ा हुआ-श्रवः यानी यशः-कीर्ति है जिसकी वह वृद्धश्रवा है, ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। उस प्रकार का इन्द्र-देवपति-परमात्मा, हमको स्वस्ति यानी वेदोपनिषद् का अध्ययन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के अनुष्ठान के लिए शोभन-सामर्थ्य, और उसका फल परिपूर्ण ब्रह्मानन्द देवें, समर्पण करें या हमारेमें स्थापित करे। तथा पूषा यानी विश्व का पोषण करने वाला सूर्य, वह किस प्रकार का है? विश्ववेदा यानी सर्व-जगत् को जो जानता है, वह विश्ववेदा अर्थात् सर्वज्ञ-सर्ववित्। यद्वा विश्व-सर्व में अनुगत हैं वेदस्-यानी ज्ञान जिस-अनन्त-

घनस्य परमात्मनः स तादृशः चराचरात्मा विश्ववेदाः। नः=अस्मभ्यं स्वस्ति=कल्याणं दधातु-विदधातु। तथा अरिष्टनेमिः=अरिष्टा-अकुण्ठिता-अप्रतिबद्धा नेमिर्गतिर्यस्य सोऽरिष्टनेमिः, तार्क्ष्यः=गरुडो भगवान्, कश्चन देवविशेषो वा, नः=अस्माकं स्वस्ति दधातु-करोतु। यद्वा अरिष्टनेमिः=नेमिरिति-आयुधनाम, अरिष्टः-अहिंसितोऽकुण्ठितो नेमिः आयुधं यस्य सः। यद्वा रथचक्रस्य सुदर्शनाख्यस्य धारा=नेमिर्न यस्य केनापि हिंस्यते-प्रतिबध्यते सोऽरिष्टनेमिः। एवंभूतः तार्क्ष्यः=गरुत्मान् गुरुभूत आत्मा विश्वरूपो विष्णुरित्यर्थः। यद्वा रिष्टा=प्रतिहतिः, न रिष्टा अरिष्टा-अप्रतिघातः तस्य नेमिस्थानीयः। यथा काष्ठमयस्य चक्रस्य लोहमयी नेमिः तद्भङ्गाभावं पालयत्येवमयं तार्क्ष्यः सर्वविधां दुःखदोषादिप्रयुक्तां रिष्टां प्रतिहतिं विनिवार्य स्वोपसन्नं भक्तं सर्वदा पालयतीति यावत्। तथा बृहस्पतिः=बृहतां वेदानां पालयिता वेदाचार्यः, नः=अस्माकं स्वस्ति दधातु (विश्ववेदाः-'विद ज्ञाने' 'विद्लृ लाभे' आभ्यामसुन् प्रत्ययान्तो वेदस् शब्दः। तार्क्ष्यः=तृक्षस्यापत्यं 'गर्गादिभ्यो यञ्।' बृहस्पतिः-'तद्बृहतोः करपत्योः' इति सुट्तलोपौ।)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। विघ्नाः सन्तापाश्च त्रिविधाः। तत्र ज्वरशिरोव्यथाकामक्रोधादय आध्यात्मिकाः, भूकम्पातिवृष्ट्यनावृष्ट्यादिरूपा देवाद्युपद्रवास्ते आधिदैविकाः, सर्पवृश्चिकराक्षसादिभूतकृता उपद्रवास्ते आधिभौतिकाः। एषां

ज्ञानघन-परमात्मा का, वह उस प्रकार का चराचर-विश्व का आत्मा भगवान् विश्ववेदा है। वह हमारे लिए स्वस्ति-कल्याण समर्पण करें। तथा अरिष्टनेमि अर्थात्—अरिष्ट-अकुण्ठित अप्रतिबद्ध-नेमि यानी गति है जिस की, वह अप्रतिरुद्धगति वाला गरुड़-भगवान् या कोई देवविशेषरूप गरुड, हमारेमें स्वस्ति की स्थापना करे। यद्वा नेमि यह आयुध का नाम है, अरिष्ट यानी अहिंसित-अकुण्ठित, नेमि—आयुध है जिसका वह अकुण्ठित-आयुध-वाला अरिष्टनेमि है। यद्वा सुदर्शन नामक-रथचक्र की धारा नेमि है, वह जिसकी किसीसे भी प्रतिरुद्ध नहीं होती है, वह अरिष्टनेमि-अप्रतिरुद्ध-सुदर्शन-चक्र-वाला भगवान् तार्क्ष्य यानी गरुत्मान-गुरुभूत आत्मा विश्वरूप विष्णु है। यद्वा रिष्टा यानी प्रतिहति है, अरिष्टा अर्थात् प्रतिघातरहित, उस की नेमि स्थानापन्न भगवान् है, जिस प्रकार काष्ठमय चक्र की लोहमयी नेमि, उस-चक्र के भंग-ध्वंस के अभाव का पालन-रक्षण करती है, इस प्रकार यह तार्क्ष्य भगवान्, सर्व प्रकार के-दुःख दोषादि से प्रयुक्त-रिष्टा-प्रतिहति-उपद्रवों का निवारण करके अपने शरणागत-भक्त का पालन सर्वदा करता है। तथा बृहस्पति यानी बृहत्-वेदों का पालन करने वाला वेदाचार्य, हमारे में स्वस्ति की स्थापना करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। विघ्न-एवं संताप तीन प्रकार के हैं। उनमें ज्वर-बुखार, शिर की पीडा, काम, क्रोध आदि आध्यात्मिक विघ्नसंताप हैं, भूकम्प, अतिवृष्टि-अनावृष्टि आदि-रूप-देवादियों के उपद्रव हैं, इसलिए वे आधिदैविक हैं, जो सर्प, विच्छु, राक्षस, शत्रु आदिभूतो से किये गए उपद्रव-विघ्नसंताप हैं, वे आधिभौतिक हैं। उन तीनों के उपशमन करने के लिए तीन-

त्रयाणामुपशमनाय त्रिः शान्तिशब्दः पठ्यते। प्रणवेन परमेश्वरानुसरणमपि निखिल-विघ्नसन्तापोपशमनार्थमत्र विधीयते।

ॐ ॐ ॐ ॐ

सन्ति अध्यात्मतत्त्वब्रह्मविद्यायां भूयांसः प्रतिबन्धका विघ्नाः। एतदेवाभिप्रेत्य कठवल्लीष्वाम्नातम्—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।' (१।२।७) इति। भगवता गीतास्वप्येतदेव वोक्तम्—'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥' (७।३) इति। तेषु विद्यायामनभिरुचिराद्यो विघ्नः। स च सञ्चितैर्महद्भिः पापैरापाद्यते। एतच्च पुराणेऽभिहितम्—'महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते। प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः॥' इति। तानि च महान्ति पापानि मलशब्दवाच्यानि यज्ञदानादिभिर्निवर्त्यन्ते, पापनिवृत्तिद्वारा ते ब्रह्मात्मविद्यायामभिरुचिमुत्पादयन्ति। सेयमभिरुचिर्विविदिषा—ब्रह्मजिज्ञासादिशब्दवाच्या। तदुत्पादकत्वं च यज्ञादीनामेवमाम्नायते—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ. ४।४।२२) इति। यज्ञादीनां च काम्यानां सांसारिकफलहेतुत्वेऽपि ईश्वरार्पितानां निष्कामानां विद्याविघ्नकारिमहापातकनिवर्तकत्वं वैराग्यविविदिषोत्पादकत्वञ्च युक्त-

वार शान्ति-शब्द पढ़ा जाता है। प्रणव ॐकार से परमेश्वर का अनुसरण भी निखिल-विघ्न-सन्तापों के उपशमन के लिए यहाँ किया जाता है।

ॐ ॐ ॐ ॐ

अध्यात्मतत्त्व—ब्रह्मविद्या में बहुत प्रतिबन्धक विघ्न हैं। इसका ही अभिप्राय रख करके कठ-वल्ली-उपनिषत् में कहा गया है—'बहुतों से वह परमात्मा श्रवण के लिए भी प्राप्त नहीं होता, एवं सुनने वाले बहुत भी जिसको नहीं जान सकते हैं, क्योंकि-इसमें अनेक प्रकार के विघ्न बने रहते हैं।' इति। भगवान् ने गीता में भी यही कहा है—'हजारों मनुष्यों में कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है, एवं यत्न करने वाले-सिद्धों के मध्य में भी कोई एक महाभाग्यवान् ही मुझको परमार्थ से जानता है।' इति। उन विघ्नों के मध्य में आदिम-प्रथम विघ्न ब्रह्मविद्या में अनभिरुचि-अभिरुचि नं होना-है। वह सञ्चित-महान्-पापों से प्राप्त होती है। यह पुराण में कहा गया है—'महापाप-वाले मनुष्यों को ज्ञानयज्ञ रुचिकर नहीं होता है, प्रत्युत ज्ञानयज्ञ तो उनको स्वतः ही प्रद्वेष्यरूप से प्रतीत होता है, अर्थात् ज्ञानयज्ञ से वे पापी लोग द्वेष करते हैं।' इति। वे महान् पाप, मल-शब्द से बोधित हैं, यज्ञ-दान आदि सत्कर्मों से उनकी निवृत्ति होती हैं। पापों की निवृत्ति के द्वारा वे सत्कर्म ब्रह्मविद्या में अभिरुचि को उत्पन्न करते हैं। वही यह अभिरुचि, विविदिषा—वेदनेच्छा, ब्रह्मजिज्ञासा आदिशब्दों से प्रतिपादित है। उस अभिरुचि की उत्पादकता यज्ञादि सत्कार्यों में ही है—ऐसा बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा है—'उस प्रत्यगभिन्न-ब्रह्म को—ब्राह्मण-यानी ब्रह्म होने की दृढ-कामना वाले-उत्तमाधिकारी, वेदों के अनुवचन से, यज्ञ से, दान से एवं अनाशकतप से जानने की इच्छा रखते हैं।' इति। काम्य-यज्ञादिकर्म यद्यपि, सांसारिक-सुख सम्पत्ति आदि फल के कारण हैं, परन्तु ईश्वर को समर्पित-निष्काम-यज्ञादि कर्म, विद्या में विघ्न

मेव। एतच्च सुरेश्वराचार्य्यैर्नैष्कर्म्यसिद्धावुक्तम्—'शोध्यमानं तु तच्चित्तमीश्वरार्पितकर्मभिः। वैराग्यं ब्रह्मलोकादौ व्यनक्त्यथ सुनिर्मलम् ॥' इति

विद्यायामरुचिकरे विघ्ने परिहृतेऽपि योगशब्दाभिधेयस्य चित्तैकाग्र्यहेतोरुपासनस्यान्तराया बहवः सम्भवन्ति। तान् पतञ्जलिमहर्षिः योगशास्त्रे सूत्रयामास—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपा योगान्तरायाः।' (१।३०) इति, व्याधिः प्रसिद्धः ज्वरादिः, स्त्यानं=चित्तस्याकर्मण्यता, चित्तं हि कदाचित्तमोगुणबाहुल्येन व्यापारायोग्यं सन्मूढं भवति। उपास्यनिश्चयराहित्यं उभयकोट्यालम्बनं ज्ञानं संशयो योगः साध्यो न वेति च। प्रमादः=तत्त्वविस्मृतिः, अनवधानता समाधिसाधनेष्वौदासीन्यम्। आलस्यं=कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्त्यभावहेतुः पश्चात् करिष्यामीत्युपेक्षा वा। अविरतिः=वैराग्यराहित्यं, चित्तस्य विषयसंप्रयोगात्मा गर्धः—तृष्णा। भ्रान्तिदर्शनं=शुक्तिकायां रजतवत् उपास्यादिवस्तुन्यन्यथानिश्चयः। अलब्धभूमिकत्वं=चित्तैकाग्र्यस्योत्तरोत्तराभिवृद्धिराहित्यम्। अनवस्थितत्वं=कदाचिदुपासने प्रवृत्तिः, कदाचिद्यागदानादौ कदा-

---

करने वाले-महापातकों के निवर्तक हैं, एवं वैराग्य तथा विविदिषा के उत्पादक हैं, यह समीचीन ही है। यह सुरेश्वराचार्य्य ने नैष्कर्म्यसिद्धि में कहा है—'ईश्वर को समर्पित निष्काम-कर्मों के द्वारा शुद्ध हुआ साधक का चित्त, ब्रह्मलोक आदि के समस्त-भोगों में अत्यन्त-निर्मल-वैराग्य को अभिव्यक्त-प्रकट करता है।' इति।

विद्या में अरुचि करने वाले-विघ्न का परिहार करने पर भी योग शब्द से प्रतिपादित—चित्त की एकाग्रता का कारण रूप-उपासना में भी बहुत-अन्तराय विघ्न उत्पन्न होते हैं। उन विघ्नों का महर्षि-पतञ्जलि ने योगशास्त्र में सूत्र के द्वारा प्रतिपादन किया है—'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व ये चित्त के विक्षेप हैं, और योग के अन्तराय-विघ्न हैं।' इति। व्याधि तो प्रसिद्ध ज्वरादि है। स्त्यान यानी चित्त की अकर्मण्यता। चित्त-अन्तःकरण कदाचित् तमोगुण की बहुलता से साधन-भजनादिरूप-व्यापार के लिए अयोग्य हुआ मूढ-मोहग्रस्त हो जाता है। उपास्यतत्त्व के निश्चय का अभाव, उभयकोटि का आलम्बन करने वाला-ज्ञान संशय है, योग साध्य है या नहीं है, ऐसा। प्रमाद यानी तत्त्व की विस्मृति—असावधानता समाधि के साधनों में उदासीनता। आलस्य यानी शरीर एवं चित्त का गुरुत्व-जो योगविषय में प्रवृत्ति के अभाव का हेतु है, या पश्चात् करूँगा? ऐसी उपेक्षा आलस्य है। अविरति यानी वैराग्य का अभाव, चित्त में विषय सम्बन्ध की प्रभूत-तृष्णा। भ्रान्तिदर्शन यानी शुक्तिका में रजत की भाँति उपास्य, साधन, आदि वस्तु में अन्यथा निश्चय। अलब्धभूमिकत्व यानी चित्त की एकाग्रता की उत्तरोत्तर-अभिवृद्धि का न होना। अनवस्थितत्व यानी कदाचित् उपासना में प्रवृत्ति, कदाचित् यज्ञदानादि में प्रवृत्ति, कदाचित् खेती व्यापार आदि में प्रवृत्ति, इस प्रकार का अनवस्थितत्व है। ये नव रजोगुण-तमोगुण के बल से प्रवर्तमान हुए

चित्क्वचिद्वाणिज्यादौ इत्येतादृगनवस्थितत्वम् । एते नवरजस्तमोबलात्प्रवर्तमानाश्चित्तस्यान्तराया विक्षेपा भवन्ति । तैरेकाग्रताविरोधिभिश्चित्तं विक्षिप्यते । तान् सर्वान् योगान्तरायभूतान् विक्षेपानुपशमयितुं चेतसः श्रद्धोत्साहैकाग्र्यादिकं वर्धयितुञ्च सद्यः शान्तिकल्याणकरं महामहिमोपेतं जप्यं मन्त्रमाहातिधन्यो भगवान् वेदः—

ॐ भद्रं नो अपिवातय मनः । (ऋ. १०।२०।१)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमेश्वर ! नः=अस्माकं त्वत्प्रसादात् भद्रं=अभ्युदयनिःश्रेयसलक्षणं कल्याणं अस्त्विति क्रियापदाध्याहारः । तथा तदर्थं, अस्माकं मनः त्वं कृपया, अपिवातय=भद्रविचारयुक्तं कृत्वा पावनं विघ्नविक्षेपरहितं प्रसन्नं शान्तमेकाग्रञ्च विधेहि इति प्रार्थना ।

* * * *

पौनःपुन्येन सर्वैः शान्तिरमीप्स्यते । अतः कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयारण्यकस्थं शान्तिकरं मन्त्रमाह—

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो

चित्त के अन्तराय-विक्षेप हैं । वे सब एकाग्रता के विरोधी हैं, उनसे चित्त सदा विक्षिप्त बना रहता है । उन सब योग के अन्तराय-विघ्नरूप-विक्षेपों का उपशमन करने के लिए-तथा चित्त में श्रद्धा-उत्साह-एकाग्रता आदि को बढाने के लिए शीघ्र ही शान्ति एवं कल्याण का करने वाला-महामहिमावाला-जप करने योग्य-मन्त्र का अति धन्य भगवान् वेद प्रतिपादन करता है—

हे भगवन् ! आप की कृपा से हमारा कल्याण हो, एवं उसके लिए आप हमारे मन को पवित्र-कीजिये, अर्थात् भद्रविचारवाला बनाइये । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हे परमेश्वर ! तेरे-प्रसाद-अनुग्रह से हमारा भद्र यानी अभ्युदय एवं निःश्रेयसरूप-कल्याण हो, 'अस्तु' ऐसा क्रियापद का अध्याहार करना चाहिए । तथा उस भद्र के लिए हमारे मन को तू कृपया अपिवातय यानी भद्र-कल्याणकारी-विचारों से युक्त करके पावन विघ्न-विक्षेपरहित, प्रसन्न शान्त एवं एकाग्र बना, यही प्रार्थना है ।

* * * *

पुनः पुनः सभी शान्ति-प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं, इसलिए कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय-आरण्यक में स्थित-शान्तिकारी मन्त्र का प्रतिपादन करते हैं—

मित्र यानी दिवस का एवं प्राणवृत्ति का अभिमानी सूर्य देवता, या मृत्युयुक्त संसार से रक्षा-उद्धार करने वाला भगवान्, हमारे को शं-सुख एवं शान्ति देने वाले होवें । वरुण यानी रात्रि का अपानवृत्ति का एवं जल का अभिमानी देवता या भक्तों से वरण करने योग्य भजनीय

विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते
वायो ! । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव
प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तार-
मवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः (तै. आ. १. १)

मित्रः=अह्नः–दिवसस्य प्राणवृत्तेश्चाधिष्ठाता–देवतात्मा–मृत्युयुक्तसंसारसाग-रात्समुद्धर्ता परमेश्वरो वा, नः=अस्माकं शं=सुखहेतुर्भवतु । यद्वा नः=अस्मभ्यं शं=सुखं भवतु–करोतु इत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । वरुणः=रात्रेः–अपानवृत्तेर्जलस्य चाधिष्ठाता देवः, भक्तजनवरणीयो भगवान् वा, अर्यमा=चक्षुषः–आदित्यमण्डलस्य चाधिष्ठाता देवः, धर्मशीलानुग्राहकः परमात्मा वा । इन्द्रः=बाह्वोर्बलस्य चाधिष्ठाता देवः, ऐश्वर्यनिधिः परमेश्वरो वा । बृहस्पतिः=वाचो बुद्धेश्चाधिष्ठाता देवः, वेदवाण्याः मायायाश्च पतिः परमेश्वरो वा । विष्णुः=पादयोरधिष्ठाता देवविशेषः, वैकुण्ठाधिपतिर्भग-

भगवान् हमारे को शं-शान्ति सुख के देने वाले होवें । अर्यमा यानी पितरों का अधिष्ठाता देवता या श्रेष्ठ-धार्मिक-भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने वाला-अन्तर्यामी परमेश्वर हमारे को शं-शान्ति-सुख के देने वाले होवें । इन्द्र यानी हाथ एवं बल का देवता, या सम्पूर्ण-ऐश्वर्यों के स्वामी परमेश्वर, हमारे को शं-शान्ति-सुख के देने वाले होवें । बृहस्पति यानी वाणी एवं बुद्धि का देवता या बृहती-वेद-वाणी का एवं माया का पति परब्रह्म, हमारे को शं-शान्ति सुख के देने वाले होवें । विस्तीर्णपाद-वाले विष्णु भगवान् हमारे को शं-शान्ति-सुख के देने वाले होवें । ब्रह्म को नमस्कार है । हे वायो ! तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, तुझ को ही मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । यथार्थ कहूँगा, सत्य कहूँगा । वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे । उपदेष्टा-आचार्य्य-गुरु की रक्षा करे । वह ब्रह्म पुनः मेरी रक्षा करे, पुनः वक्ता-आचार्य्य की रक्षा करे । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः, अर्थात् आध्यात्मिकादि तीन प्रकार के सर्व संतापों की निवृत्ति हो ।'

मित्र यानी दिवस का एवं प्राणवृत्ति का अधिष्ठाता देवतारूप या मृत्युयुक्त संसार-सागर से समुद्धार करने वाला परमेश्वर, हमारे को शं यानी सुख का हेतु हो, या हमारे लिए वह शं-सुख करे । इस प्रकार उत्तर-ग्रन्थ में भी योजना करनी चाहिए । वरुण यानी रात्रि का अपान-वृत्ति का एवं जल का अधिष्ठाता देव या भक्तजनवरणीय भगवान् । अर्यमा यानी चक्षु का एवं आदित्यमण्डल का अधिष्ठाता देव, या धर्मशीलों का अनुग्राहक परमात्मा । इन्द्र यानी बाहु का एवं बल का अधिष्ठाता देव या ऐश्वर्यनिधि परमेश्वर । बृहस्पति यानी वाणी का एवं बुद्धि का अधिष्ठाता देव, या वेद-वाणी का एवं माया का पति परमेश्वर । विष्णु यानी पादों का अधिष्ठाता

वान् वा स चोरुक्रमः—त्रिविक्रमावतारे विस्तीर्णपादोपेतत्वात्। अथवा प्राणाद्यवयवाधिष्ठातॄणां मित्रादीनामुक्तत्वादवयविनः कृत्स्नदेहस्याधिष्ठाता विराट् पुरुषः परिशिष्यते। स चात्रोरुक्रमशब्देनाभिधीयते। ब्रह्माण्डदेहोपेतत्वेन सर्वव्यापित्वमुरुक्रमत्वम्। उरुः=प्रचुरं क्रमणं यस्य स उरुक्रम इति व्युत्पत्तेः। तेषु हि शरीरस्थप्राणकरणाद्यधिष्ठातृषु देवेषु सुखकृत्सु सत्सु अध्यात्मब्रह्मविद्याश्रवणधारणोपयोगा[1] अप्रतिबन्धेन भवन्तीत्यभिसन्धायावयवानामवयविनश्चाधिष्ठातारः पूर्वोक्ता देवात्मानो विघ्नपरिहारेण सुखप्रयोजकतया प्रार्थिताः।

अथ तेषां देवानामन्तर्यामितया प्रेरकं यत्परं ब्रह्म तदेतन्नमस्क्रियते—ब्रह्मणे=सूत्रात्मकवायवे नमः=प्रह्वीभावं—तुच्छमभिमानं विहाय नम्रत्वं प्रकटीकरोमीति शेषः। यच्च ब्रह्म ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतसूत्रात्मना वायूपलक्षितसमस्तचराचरपदार्थानां विधारकं भवति, तस्य विश्वान्तर्यामिणः शास्त्रानुमानाभ्यामेवावगम्यत्वेन परोक्षत्वात् सम्बोधनाभावः। 'वायुर्वै गौतम! तत्सूत्रं वायुना वै गौतम! सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति।' (बृ० ३। ७।२)

देवविशेष या वैकुण्ठाधिपति भगवान् यह त्रिविक्रम-वामन के अवतार में विस्तीर्ण-पादों से संयुक्त होने से उरुक्रम है। अथवा प्राणादि-अवयवों के अधिष्ठाता-मित्रादियों का कथन होने के कारण अवयवी-समग्र शरीरों का अधिष्ठाता-विराट्-पुरुष परिशिष्ट रहता है, वह यहाँ उरुक्रम शब्द से कहा जाता है। ब्रह्माण्डरूप देह से संयुक्त होने के कारण उसका सर्वव्यापित्व ही उरुक्रमत्व है। उरु यानी प्रचुर है क्रमण जिसका वह उरुक्रम है, ऐसी व्युत्पत्ति है। उन शरीरस्थित प्राण-इन्द्रियादि के अधिष्ठाता-देवों के सुखकारी होने पर अध्यात्म-ब्रह्मविद्या का श्रवण-अवधारण एवं उपयोग अप्रतिबन्धपूर्वक होते हैं, ऐसा अभिप्राय रख करके अवयवों के एवं अवयवी के अधिष्ठाता पूर्वोक्त-देवात्मा—विघ्नपरिहार द्वारा सुख के प्रयोजकरूप से—प्रार्थित हुए।

अब उन देवों का—अन्तर्यामीरूप से-प्रेरक जो परब्रह्म है, उसको नमस्कार करते हैं—ब्रह्म यानी सूत्रात्मा-हिरण्यगर्भ-समष्टि-वायुरूप ब्रह्म को नमस्कार है, यानी उस ब्रह्म के समक्ष अपने प्रह्वीभाव को अर्थात् तुच्छ-अभिमान का परित्याग करके नम्रता को मैं प्रकट करता हूँ। 'प्रकटीकरोमि' इतना यहाँ शेष है। जो ब्रह्म, ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति से संयुक्त-सूत्रात्मारूप से, वायु से उपलक्षित-समस्त-चराचर-पदार्थों का विधारक होता है, वह विश्व का अन्तर्यामी ब्रह्म शास्त्र एवं अनुमान के द्वारा ही जाना जाता है, इसलिए वह परोक्ष है-प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उसके लिए सम्बोधन का अभाव है। 'हे गौतम! समष्टि वायु ही वह हिरण्यगर्भ-सूत्रात्मा है, हे गौतम! वायुरूप-सूत्र से यह लोक एवं परलोक एवं सर्वभूत संग्रथित व्याप्त हैं।' इस बृहदारण्यक की

१ श्रवणं=गुरुपादोपसर्पणपूर्वकमुपनिषदां—वेदान्तानां तात्पर्यावधारणम्। धारणं=श्रुतस्याविस्मरणम्; सततमनुसन्धानं वा। उपयोगः=शिष्येभ्यो निवेदनम्। गुरुचरण के समीप में बैठ कर वेदान्त-उपनिषदों के तात्पर्य का अवधारण-निश्चय करना श्रवण है। सुना हुआ का विस्मरण न होना, या उसका निरन्तर अनुसंधान करना अवधारण है। शिष्यों के प्रति निवेदन करना उपयोग है।

इति श्रुतेः । यतः प्राणवायूपाधिकं ब्रह्म प्रत्यक्षयोग्यमतस्तत्संबोध्यते—हे वायो ! ते=तुभ्यं नमः=नमस्करोमि । किञ्च त्वमेव=प्राणात्मको वायुरेव, प्रत्यक्षं= साक्षिप्रत्यक्षं—बाह्यं चक्षुराद्यपेक्ष्य संनिकृष्टमव्यवहितं ब्रह्मासि=ब्रह्म भवसि । बृंहण-हेतुत्वात्—परिणमयितृत्वात् ब्रह्म, प्राणकृतेनाशनादिना शरीरादेर्बृंहणस्य प्रसिद्ध-त्वात् प्राण एवात्र ब्रह्मरूपेणोक्त इत्यर्थः । यथा राज्ञो दौवारिकं कश्चिद्राजदिदृक्षुराह त्वमेव राजेति, तथा हार्दस्य ब्रह्मणो द्वारपं प्राणं हार्दं ब्रह्म दिदृक्षुर्मुमुक्षुराह—त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासीति । अत एव त्वामेव प्राणवायूपाधिकं सूत्रात्मलक्षणमुपासनया साक्षात्कारयोग्यं ब्रह्म वदिष्यामि=कथयिष्यामि, वदामि वा । सोपाधिकं ब्रह्म तु येन येन प्रकारेणोपास्यते तेन तेन प्रकारेण चिराभ्यासे सति साक्षात्कर्तुं शक्यते । अत एव तस्य प्रत्यक्षतया वदननिर्देशः ।

ऋतं=शास्त्रमनुसृत्य कर्तव्यतया बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थम् । तदपि त्वदधीन-त्वात् त्वामेव प्राणवायूपाधिकं ब्रह्मैवाहं वदिष्यामि । सत्यं=पूर्वनिश्चितमेव वाचा उच्चार्यमाणं कायेन च सम्पाद्यमानं सत्यशब्दितं भवति । तदपि त्वदधीनमे-वेति त्वामेव सत्यं वदिष्यामि । शास्त्रानुसारेण मनसा कर्तव्यार्थपर्यालोचनमेवात्र

श्रुति से भी पूर्वोक्त ही अर्थ सिद्ध होता है । जिस कारण से—प्राण-वायुरूप उपाधि वाला ब्रह्म प्रत्यक्ष के योग्य है, इसलिए उसका सम्बोधन किया जाता है—हे वायो ! तुझ को मैं नमस्कार-प्रणाम करता हूँ । और तू ही यानी प्राणात्मक-समष्टि वायु ही प्रत्यक्ष यानी साक्षिप्रत्यक्ष—बाहर के चक्षुरादि-इन्द्रि-यादि की अपेक्षा करके संनिकृष्ट-व्यवधानरहित ब्रह्म है । बृंहण-यानी वृद्ध्यादिरूप परिणाम का कारण होने से वह ब्रह्म है, क्योंकि—प्राणकृत-भोजन आदि से शरीरादि का बृंहण प्रसिद्ध है, इसलिए सूत्रात्मा-प्राण ही यहाँ ब्रह्मरूप से कहा गया है । जिस प्रकार राजा के द्वारपाल को—कोई जो राजा के दर्शन की इच्छा रखता है-वह कहता है—'तू ही राजा है' ऐसा, तिसप्रकार हृदयस्थित ब्रह्म का द्वारपाल-प्राण को—हृदय के साक्षी-ब्रह्म के दर्शन का इच्छुक-मुमुक्षु-कहता है—'कि हे प्राण ! तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है' ऐसा । इसलिए—प्राणवायु की उपाधि वाला-सूत्रात्मारूप-उपासना के द्वारा साक्षात्कार करने योग्य—तुझ ब्रह्म का ही मैं वदन-कथन करूँगा या कथन करता हूँ । सोपाधिक-विशिष्ट-ब्रह्म की जिस-जिस-प्रकार से उपासना की जाती है—तिस-तिस प्रकार से चिरकाल तक अभ्यास करने पर उस-ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकते है । इसलिए उसका प्रत्यक्षरूप से वदन-यानी कथन का निर्देश है ।

ऋत यानी शास्त्र का अनुसरण करके कर्तव्यरूप से जो अर्थ बुद्धि में सुपरिनिश्चित होता है, वह ऋत है । वह भी तेरे अधीन होने के कारण-प्राणवायु की उपाधि वाले-तुझ-ब्रह्म का ही मैं कथन करूँगा । सत्य यानी प्रथम जो बुद्धि द्वारा निश्चित किया गया है—वही वाणी-द्वारा उच्चरित हुआ-शरीर के द्वारा सम्पादित होता है, तब वह सत्य-शब्द से प्रतिपादन करने योग्य होता है । वह भी तेरे ही अधीन है, इसलिए-तुझ-सत्य का ही मैं कथन करूँगा । शास्त्र

ऋतवदनं, तस्यैव पर्यालोचितस्यार्थस्य वचसोच्चारणं कायेन च सम्पादनमेव सत्यवदनं विज्ञेयम्। यद्यपि ऋतसत्ययोरन्यत्र प्रायः पर्यायत्वमस्ति तथाप्यत्र तयोरेतादृशं वैलक्षण्यं वेदितव्यम्। तत्=सूत्रात्मकं समष्टिरूपं प्राणात्मकं व्यष्टिरूपं ब्रह्मशब्दितं मया स्तुतं सत् मां शिष्यं विद्यार्थिनं, अवतु=विद्याग्रहणशक्तिसमर्पणेन पालयतु, तदेवोक्तलक्षणं ब्रह्म वक्तारं=उपदेष्टारमाचार्यं अवतु=वक्तृत्वसामर्थ्यसमर्पणेन पालयतु। एवं साधनकाले शिष्याचार्ययोः श्रोतृत्ववक्तृत्वशक्तिसमर्पणविषयां प्रार्थनामभिधाय फलकाले फलसिद्ध्यर्थं पुनः प्रार्थयते–अवतु मां अवतु वक्तारम्। तत्र शिष्यस्याविद्यातत्कार्यनिवृत्तिफलं, आचार्यस्य तु तादृशशिष्यदर्शनेन विद्यासम्प्रदायप्रवृत्तिप्रयुक्तपरितोषः फलम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। वाक्कायमनसामन्येन्द्रियाणाञ्च त्रिविधमपि दुःखमुपशाम्यतु ब्रह्मविद्याधिकारिणो ममेत्यर्थः।

* * * *

अथ यः कश्चन मेधारहितः, तस्य श्रुतग्रन्थार्थविस्मृतौ सत्यां अध्यात्मब्रह्मतत्त्वज्ञानोदयासंभवात्, एवं यः कश्चन रोगादिसंयुक्तः तस्य शरीरादिपाटवरहितस्य ब्रह्मज्ञानहेतुभूतश्रवणादिप्रवृत्त्यसम्भवात् मेधादिसिद्ध्यर्थं जप्यं शान्तिकरं मन्त्रमाह—

के अनुसार मन से कर्तव्य-अर्थ का पर्यालोचन ही यहाँ ऋतवदन एवं उस-पर्यालोचित-अर्थ का वाणी के द्वारा उच्चारण एवं शरीर के द्वारा सम्पादन ही सत्यवदन-समझना चाहिए। यद्यपि ऋत एवं सत्य का अन्य स्थल में बहुत करके पर्यायत्व—एकार्थत्व का बोधकत्व है, तथापि-यहाँ उन दोनों का इस प्रकार का वैलक्षण्य भी जानना चाहिए। वह-समष्टिरूप-सूत्रात्मा-एवं व्यष्टिरूप-प्राणात्मा–जो ब्रह्मशब्द से प्रतिपादित है एवं मुझ से स्तुत हुआ है, वह मुझ विद्यार्थी का–विद्या-ग्रहण की शक्ति के समर्पण द्वारा-पालन करे। वही उक्त लक्षण वाला ब्रह्म, वक्ता यानी उपदेष्टा-आचार्य्य का वक्तृत्वसामर्थ्य के समर्पण द्वारा पालन करे। इस प्रकार साधन-काल में शिष्य एवं आचार्य्य की श्रोतृत्व एवं वक्तृत्व शक्ति के समर्पण-विषयिणी प्रार्थना का कथन करके फल समय में फल की सिद्धि के लिए पुनः प्रार्थना करते हैं—वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, वक्ता-आचार्य्य की रक्षा करे। उसमें शिष्य को अविद्या-एवं अविद्याकार्य संसार की निवृत्तिरूप फल का लाभ है, और आचार्य्य गुरु को उस प्रकार के शिष्य के दर्शन से विद्यासम्प्रदाय की प्रवृत्ति से प्रयुक्त-परितोषरूप फल का लाभ है। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः, ब्रह्मविद्या के अधिकारी मुझके-वाणी के शरीर के मन के एवं अन्य-इन्द्रियों के तीन प्रकार के दुःख का उपशमन हो, यह अर्थ है।

अथ-अब जो कोई ग्रन्थ एवं तदर्थ का अवधारण करने वाली प्रज्ञारूप मेधा से रहित है, उसको–श्रुत-ग्रन्थ-एवं तदर्थ की विस्मृति होने पर अध्यात्म-ब्रह्म तत्त्व ज्ञान के उदय का संभव नहीं होता है, इस प्रकार जो कोई रोगादि से संयुक्त है, उस-शरीरादि के पाटव-कुशलत्व से रहित-मनुष्य की-ब्रह्मज्ञान का हेतुरूप-श्रवणादि में प्रवृत्ति का होना असंभव है, इसलिए उन दोनों प्रकार के मनुष्य के मेधादि की सिद्धि के लिए–जप करने योग्य-शान्ति कर-मन्त्र का प्रतिपादन करते हैं—

ॐ यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव! धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि, मेधयाऽपिहितः । श्रुतं मे गोपाय ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(तैत्तिरीयारण्यक. ७।४)

यः=प्रणवः–ॐकारः, छन्दसां=गायत्र्यादिच्छन्दोयुक्तानां ऋगादिवेदानां मध्ये ऋषभः=श्रेष्ठः–ऋषभ इवर्षभः प्राधान्यात् । तस्य श्रेष्ठत्वं कठवल्लीष्वपि–'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्युपक्रम्य 'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।' (कठ. २।१५) इत्याम्नातम् । स च प्रणवो विश्वरूपः=सर्वजगदात्मकः । द्विविधो हि विश्वप्रपञ्चः । अर्थप्रपञ्चः शब्दप्रपञ्चश्च । अर्थप्रपञ्चस्य वाच्यस्य शब्दात्मकवाच्यन्तर्भावात्, वाचश्च कृत्स्नायाः प्रणवस्य प्रथमावयवेऽकारेऽन्तर्भावात् । अर्थप्रपञ्चस्य वाच्यान्तर्भावः

'जो ॐकार वैदिक-छन्दों में श्रेष्ठ-अतिप्रशस्त है । समस्त-विश्वरूप है, अमृतरूप-वेदों से भी अधिक-आराधनीय हुआ है । वह ॐकाररूप-ऐश्वर्यनिधि इन्द्र भगवान् मुझ जिज्ञासु को बुद्धि की सूक्ष्मता-एकाग्रता एवं निर्मलतारूप-सामर्थ्य का प्रदान करें । हे देव! मैं अमृत-अभयरूप-पूर्णाद्वैत-परब्रह्म का धारण करने वाला होऊँ । मेरा यह शरीर रोगरहित हुआ सदा स्वस्थ रहे । मेरी जिह्वा सदा मधुर-सत्यभाषिणी हो, कानों से मैं बहुत-भद्र-कल्याणकारी वचनों को सुनूँ । आप ॐकार ब्रह्म के कोश हैं अर्थात् आप की आराधना से ही ब्रह्म प्रकट होता है, इसलिए आप के भीतर वह अखण्डानन्दनिधि पूर्ण ब्रह्म छिपा बैठा है । लौकिक-विषयाभिनिविष्ट-प्राकृत बुद्धि से आप ढके हुए हैं । जो कुछ मैंने शास्त्र एवं सद्गुरु के द्वारा सुना है–उसकी अविस्मृति के द्वारा रक्षा कीजिये ।' ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

जो प्रणव ॐकार छन्दः यानी गायत्री आदि-छन्दों से युक्त–ऋगादि वेदों के मध्य में ऋषभ-यानी श्रेष्ठ है, ऋषभ-गवेन्द्र सांढ की तरह सब गौरूप-वेद के छन्दों में प्रधान है–मुख्य है । उसका श्रेष्ठत्व-कठवल्ली में भी–'समस्त वेद जिस-पद-स्वरूप का कथन करते हैं' ऐसा उपक्रम-प्रारम्भ करके–'उस पद का मैं तुझ को संक्षेप से कथन करता हूँ, वह पद ॐ यह मन्त्ररूप है।' इस वचन से–कहा गया है । वह प्रणव, सर्व जगत् का आत्मा विश्वरूप है । दो प्रकार का निश्चय से विश्वप्रपञ्च है, अर्थप्रपञ्च एवं शब्दप्रपञ्च । अर्थप्रपञ्च वाच्य है, उसका शब्दप्रपञ्च-रूप वाणी में अन्तर्भाव है, और समग्र वाणी का प्रणव ॐकार के प्रथम-अवयवरूप-अकार में अन्तर्भाव है । अर्थप्रपञ्च का वाणी में अन्तर्भाव ऐतरेयक में सम्यक् कहा गया है–'उसकी वाणी ही तन्ति-रज्जु

ऐतरेयके समाम्नातः—'तस्य वाक्तन्तिर्नामानि दामानि तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितं सर्वं हीदं नामनि।' इति। अयमर्थः—यथा वणिजः प्रसारितया दीर्घरज्ज्वा संलग्नैर्बहुभिः पाशैर्बहून् बलीवर्दान् बध्नन्ति। तथा तस्य प्रणवोपाधिकस्य परमेश्वरस्य वागेव दीर्घरज्जुः, देवदत्तादिनामानि पाशाः, तैः सर्वमर्थप्रपञ्चजातं बद्धम्। तस्मात् सर्वं नामनि वर्तते। सर्वो जनः स्वकीयं नाम श्रुत्वा पाशेन बद्धः समाकृष्ट इवाऽऽगच्छतीति। अन्तर्भावितकृत्स्नार्थप्रपञ्चाया वाचः प्रणवेऽन्तर्भावं छन्दोगाः समामनन्ति—'तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णानि, एवमोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा।' (२।२३।१) इति। अयमर्थः—यथा लोके वटाश्वत्थादिपर्णानि शङ्कुशब्दाभिधेयेन स्वान्तर्गतसूक्ष्मशलाकाविशेषेण व्याप्तानि भवन्ति, तद्वदोङ्कारेण सर्वाऽपि वाग्व्याप्ता भवतीति।

अकारद्वारेण प्रणवे वाचोऽन्तर्भावोऽप्यैतरेयके समाम्नातः—'अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिः व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति।' इति। अयमर्थः—कवर्गादिषु स्पर्शनामकेष्वक्षरेषु शषसहेषूष्मनामकेषु चाकारोऽनुगतः पठ्यते विभाव्यते च, तस्मादकारस्य सर्ववाग्रूपत्वं सिद्धमिति। तदेवं प्रणवस्य विश्वरूपत्वं सिद्धं, 'ॐकारः

है, और जितने नाम हैं वे सब दाम-पाश हैं, इसलिए उसकी वाणीरूप-रस्सी से एवं नामरूप पाशों से यह सब कुछ विश्वप्रपञ्च बँधा हुआ है, सब कुछ यह नाम में रहा है।' इति। इसका यह अर्थ है—जिस प्रकार वाणिज्य करने वाले बेपारी-फैलाई हुई-दीर्घ रस्सी के साथ संलग्न-हुए बहुत-पाशों से बहुत-बैलों को बाँधते हैं। तिस प्रकार उस प्रणव-उपाधि वाले-परमेश्वर की वाणी ही-दीर्घरज्जु है, और देवदत्त आदि नाम पाश हैं, उन-पाशों के द्वारा अखिल-अर्थप्रपञ्च का समुदाय बँधा हुआ है, इसलिए-सब अर्थप्रपञ्च नाम में रहता है। सभी मनुष्य अपने नाम को सुन करके पाश से बँधा हुआ एवं सम्यक् आकृष्ट हुआ की भाँति आ जाता है। इति। अन्तर्भूत-उपसंहृत-कर दिया गया है—समग्र-अर्थप्रपञ्च जिसमें, ऐसी वाणी का प्रणव में अन्तर्भाव का—छन्दोग-सामवेदी प्रतिपादन करते हैं—'जिस प्रकार शङ्कु से सब पत्ते व्याप्त होते हैं, इस प्रकार ॐकार से ही समस्त वाणी व्याप्त होती है।' इति। इसका यह अर्थ है—जैसे लोक में वट-पिप्पल आदि के पत्ते, शङ्कु शब्द से कथित-अपने भीतर में वर्तमान-सूक्ष्म शलाका विशेष के द्वारा व्याप्त होते हैं, तद्वत् ॐकार के द्वारा समस्त भी वाणी व्याप्त होती है। इति।

अकार के द्वारा वाणी का प्रणव में अन्तर्भाव भी ऐतरेयक में अच्छी प्रकार से कहा गया है—'अकार ही समस्त वाणी है, वही यह स्पर्श—क से ले कर म पर्यन्त रूप-२५ वर्णों के द्वारा एवं शल् प्रत्याहाररूप उष्म वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त हुई—बहु-नाना रूपों वाली होती है।' इति। इसका यह अर्थ है—कवर्गादि-स्पर्श नाम के अक्षरों में एवं श, ष, स, ह, ये उष्म नामक-अक्षरों में अकार अनुगत है, ऐसा पढ़ा जाता है एवं ऐसी भावना भी की जाती है, इसलिए अकार का सर्ववाग्-रूपत्व सिद्ध हो गया। इति। इस प्रकार प्रणव का यह विश्वरूपत्व भी सिद्ध हो गया।

एवेद१ँ सर्वम्' (छा. २।२३।१) इति श्रुत्यन्तरात्। तादृशः प्रणवश्छन्दोभ्यः=वेदेभ्यः, कीदृशेभ्यः? अमृतात्=अमृतेभ्यः अनादिनिधनेभ्यो नित्येभ्यः, एकवचनं छान्दसं वेदा ह्यमृता इति श्रुत्यन्तरात् अमृतादिति वेदविशेषणं विज्ञेयम्। वेदानां नित्यत्वं चावान्तरप्रलये नाशाभावरूपं विवक्षितम्। न त्वात्यन्तिकं नित्यत्वं, कल्पादौ सृष्टिश्रवणात् महाप्रलये नाशाभ्युपगमाच्च। तादृशेभ्यस्तेभ्यः, अधि=अधिकत्वेन सारिष्ठत्वेन संबभूव=सम्यक् प्रजापतेः प्रादुरभूत्। तथा च छन्दोगा आमनन्ति—'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत् तामभ्यतपत्, तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्।' (२।२३।१) इति। अभ्यतपत्=सारजिघृक्षया पर्यालोचितवान्। संप्रास्रवत्=सम्यक् सारत्वेन प्रत्यभादित्यर्थः। लोकदेववेदव्याहृतिभ्यः सारिष्ठं जिघृक्षोः प्रजापतेः तपस्यतः—विचारमयं तपः कुर्वत ओङ्कार एव सारिष्ठत्वेन प्रत्यभादिति यावत्।

केचन 'अमृतात्' इति वेदविशेषणं नाभ्युपगच्छन्ति—ते एवं व्याचक्षते—अमृतादित्यनया पञ्चमीश्रुत्या निमित्तमुच्यते, मरणरहितं मोक्षरूपं यदमृतं तदेवोङ्कारप्रादुर्भूतौ निमित्तम्। अत एव छान्दोग्ये च तस्योङ्कारप्रादुर्भाववाक्यस्योपक्रमे—'ब्रह्म-

'ॐकार ही यह सर्व-विश्व है।' इस अन्य-छान्दोग्य की श्रुति से भी यही सिद्ध होता है। उस प्रकार का प्रणव, छन्द यानी वेद, किस प्रकार के? अमृत यानी आदि-अन्तरहित-नित्य, 'अमृतात्' ऐसा एकवचन छान्दस है, 'वेद अमृत हैं' ऐसी अन्य श्रुति के अनुसार 'अमृतात्' यह वेदों का विशेषण है, ऐसा जानना चाहिए। वेदों का नित्यत्व-अवान्तर प्रलय में नाशाभावरूप से विवक्षित-कहने के लिए अभिप्रेत है। आत्यन्तिक-नित्यत्व वेदों का नहीं है, क्योंकि-कल्प के आदि में वेदों की सृष्टि का श्रवण होता है, एवं महाप्रलय में वेदों के नाश का स्वीकार किया गया है। उस प्रकार के वेदों से भी वह प्रणव-ॐकार अधिकरूप से—अति-साररूप से प्रजापति-परमेश्वर के द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है। तथा च छन्दोग-शाखा-वाले-सामवेदी कहते हैं—'प्रजापति ने लोकों को अभितप्त किया, अभितप्त-हुए उन लोकों से त्रयी विद्या सम्यक् प्रादुर्भूत हुई, उसको भी उसने अभितप्त किया। उस अभितप्त हुई त्रयी विद्या से भूः भुवः स्वः ये तीन अक्षर सम्यक् प्रादुर्भूत हुए, इन अक्षरों को भी उसने अभितप्त किये, उन-अभितप्त-अक्षरों से ॐकार सम्यक् प्रादुर्भूत हुआ।' इति। अभ्यतपत् यानी सारतत्त्व के ग्रहण करने की अभिलाषा से पर्यालोचन किया। संप्रास्रवत् यानी सम्यक्-साररूप से प्रतीत हुआ। अर्थात् लोक, देव, वेद, एवं व्याहृतियों से भी अत्यन्त साररूप पदार्थ के ग्रहण करने की इच्छा वाले—एवं विचारमय-तप करने वाले—प्रजापति को ॐकार ही अत्यन्त साररूप से प्रतीत हुआ।

कुछ विद्वान् 'अमृतात्' यह वेद का विशेषण है, ऐसा नहीं मानते हैं, वे इस प्रकार व्याख्यान करते हैं—'अमृतात्' इस में वर्तमान पञ्चमी विभक्तिरूप श्रुति से निमित्त-कारण कहा जाता है। मरणरहित-मोक्षरूप जो अमृत है, वही ॐकार के प्रादुर्भाव में निमित्त है। इसलिए

संस्थोऽमृतत्वमेति' (२।२३।१) इत्युपक्रान्तम्। प्रणवस्य ब्रह्मवाचकत्वेन प्रणवनिष्ठ एव ब्रह्मसंस्थः। इति। सः=ॐकारः, इन्द्रः=सर्वकामेश्वरः। यद्वा सः=प्रणववाच्यः, इन्द्रः=परमेश्वरः, मेधया=प्रज्ञया ग्रन्थतदर्थधारणशक्त्या अर्थात् तत्समर्पणेन माम् विद्यार्थिनं, स्पृणोतु=प्रीणयतु–प्रसादयतु–प्रसन्नं करोतु। यद्वा प्रीणयतु=बलयतु। अनेन प्रज्ञाबलं प्रार्थ्यते। स दयानिधिः भगवान् मां मेधाशक्तिसम्पन्नं करोत्विति यावत्। मेधाबलसम्पत्तेः फलभूतामाशिषमाह–हे देव! =दीप्तिमन् भगवन्! त्वत्प्रसादादहं, अमृतत्वस्य अमृतत्वाख्यमोक्षोपलक्षितस्य मुक्तिहेतोः ग्रन्थतदर्थज्ञानस्य धारणः=धारयिता–धारकः भूयासं=अहं भवेयम्। मेधाशक्तिप्राप्तिहेतुभूतप्रार्थनामन्त्रमुक्त्वा, अथ मेधाशक्तिप्राप्तेरपि शरीरारोग्यादिकमन्तरेणाभावादतो रोगादिराहित्यप्रयोजकप्रार्थनामन्त्रमाह–मम=विद्याधिकारिणः, शरीरं=अयं कार्यकरणसंघातो देहः, विचर्षणं=विचक्षणं रोगादिराहित्येन विद्याभ्यासयोग्यं भूयासमित्युत्तमपुरुषस्य भूयादिति प्रथमपुरुषविपरिणामः कर्तव्यः। मदीया जिह्वा=रसना–अपि मधुमत्तमा=अतिशयेन मधुमती माधुर्योपेता–मधुरभाषिणी, जिह्वाया मधुत्वं सत्यहितमितप्रियभाषित्वलक्षणं वेदितव्यम्। सा हि तादृशी भूत्वा ग्रन्थाभ्यासपटीयसी च भवतु। यद्वा मधु=ब्रह्म, मधुब्राह्मणेऽभिहितं 'रसो वै सः'

छान्दोग्योपनिषत् में उस-ॐकार के प्रादुर्भाव-बोधक वाक्य के प्रारम्भ में–'ब्रह्म में सम्यक् निष्ठा रखने वाला ही अमृतत्वरूप मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसा प्रारम्भ किया है।' इति। स यानी वह ॐकार इन्द्र है, सर्व कामों का ईश्वर अर्थात् समस्त कामनाओ के पूर्ण करने में समर्थ है। यद्वा वह प्रणव का वाच्य इन्द्र-परमेश्वर, मेधा-प्रज्ञा-जो ग्रन्थ एवं उसके अर्थों के अवधारण की शक्ति वाली है, उसके द्वारा अर्थात् उसके समर्पण द्वारा मुझ विद्यार्थी को प्रसन्न करें। यद्वा प्रीणयतु यानी प्रज्ञाबल से युक्त करे। इस से प्रज्ञाबल की प्रार्थना की जाती है। अर्थात् वह दयानिधि भगवान् मुझ को मेधाशक्ति से सम्पन्न करे। मेधा-बल की सम्यक्-प्राप्ति का फलरूप आशीर्वाद का कथन करते हैं–हे देव! यानी दीप्तिवाले भगवन्! तेरे प्रसाद से मैं अमृतत्व नामक मोक्ष से उपलक्षित-मुक्ति का हेतु-ग्रन्थ और उसके अर्थज्ञान का धारण करने वाला मैं होऊँ। मेधाशक्ति की प्राप्ति का हेतुभूत-प्रार्थना-मन्त्र को कह करके अब मेधाशक्ति की प्राप्ति भी शरीर के आरोग्यादि के बिना नहीं होती है, इसलिए–रोगादि के राहित्य का प्रयोजक-प्रार्थना मन्त्र का कथन करते हैं–मुझ-विद्याधिकारी का यह कार्यकरणसंघातरूप देह, विचर्षण यानी विचक्षण-रोगादि के राहित्य से विद्याभ्यास के योग्य हो। 'भूयासं' ऐसे उत्तम-पुरुष का 'भूयात्' ऐसे प्रथम पुरुषरूप से विपरिणाम करना चाहिए। मेरी जिह्वा-रसना भी अतिशय मधुमती-मधुरता से युक्त-मधुर भाषण करने वाली हो। जिह्वा में मधुत्व, सत्य-हित-मित-प्रिय-भाषित्वरूप समझना चाहिए। यह जिह्वा उस प्रकार की हो कर ग्रन्थों के अभ्यास करने में अत्यन्त-पटु-निपुण हो। यद्वा मधु यानी ब्रह्म, बृहदारण्यक के मधुब्राह्मण में मधुशब्द से ब्रह्म का प्रतिपादन किया है, 'वह निश्चय से रस है'

इति श्रुतेः। अतिशयेन ब्रह्मभाषिणी भूयादित्यर्थः। कर्णाभ्यां=श्रोत्राभ्यां विद्योत्पादकं भूरि=बहुविधग्रन्थजातं विश्रुवं=व्यश्रुवं-(अडभावश्छान्दसः) श्रूयासं=झटिति श्रोता भूयासमिति यावत्। कदाचिदपि बाधिर्यदोषो मा भूत्। आत्मज्ञानयोग्यः सकलोऽयं कार्यकरणसंघातोऽस्त्विति भावः।

ननु-ॐकारोऽचेतनो जडशब्दात्मक एव, तं प्रति प्रार्थना कथं घटते? कथञ्च तस्येन्द्रशब्देनाभिधानमित्याशङ्क्य तस्य प्रणवस्य चेतनब्रह्माभेदविवक्षया प्रार्थनादिकमभिप्रेत्य ब्रह्मसामीप्यमाह-हे प्रणव! त्वं ब्रह्मणः=सत्यज्ञानादिलक्षणस्य जगत्कारणस्य सर्वात्मनः पारमार्थिकवस्तुनः, ध्यानाय कोशः=आलम्बनभूतोऽसि। यथा चर्ममयः कोशः खड्गरक्षणायाऽऽलम्बनभूतस्तद्वद्ब्रह्मध्यानरक्षणाय प्रणव आलम्बनभूतः। अत एव कठवल्लीष्वोङ्कारं प्रकृत्याऽऽम्नायते 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।' इति। यद्वा असेरिवोपलब्ध्यधिष्ठानत्वात् कोशोऽसीत्यर्थः। त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं[1] त्वयि ब्रह्म-ध्यानेन ब्रह्मोपलभ्यते। ब्रह्माभेदभावनया प्रार्थितसमर्पणे समर्थ-

इस श्रुति से भी यही जाना जाता है। यह मेरी जिह्वा अतिशय करके मधुरूप ब्रह्म का ही भाषण करने वाली हो। कर्ण-श्रोत्रों के द्वारा ब्रह्मविद्या को उत्पन्न करने वाले-बहु प्रकार के ग्रन्थों के समुदाय का मैं श्रवण करूँ, अर्थात् अतिशीघ्र उन ग्रन्थों का मैं श्रोता बन जाऊँ। कभी भी बधिरता आदि दोष कानों में न हो। आत्मज्ञान की प्राप्ति करने के लिये सकल यह कार्यकरण-संघातयोग्य हो, यह भाव है।

शंका-ॐकार चेतनारहित-जड शब्दरूप ही है, उसके प्रति प्रार्थना कैसे युक्त हो सकती है? और उसका चेतन-वाचक इन्द्रशब्द से कथन भी कैसे हो सकता है?

समाधान-वह प्रणव ॐकार चेतनब्रह्म से अभिन्न है, ऐसा ही कथन करने की इच्छा से प्रार्थना आदि युक्त हो सकती है, ऐसा अभिप्राय रख करके ही उस ॐकार में ब्रह्म की समीपता का प्रतिपादन करते हैं-हे प्रणव! ॐकार! तू सत्यज्ञानादि लक्षण वाले-जगत् का कारण-सर्वात्मा-पारमार्थिक-वस्तुरूप-ब्रह्म का ध्यान के लिए अवलम्बनरूप कोश है। जिस प्रकार चर्म का बना हुआ कोश-म्यान, खड्ग-तलवार के रक्षण के लिए अवलम्बनरूप है, तद्वत् ब्रह्म ध्यान के रक्षण के लिए प्रणव आलम्बनरूप है। इसलिए कठवल्ली में ॐकार को प्रकृत करके कहा जाता है-'यह ॐकार ही श्रेष्ठ आलम्बन है, यही पर-अत्युत्तम-आलम्बन है।' इति। यद्वा असि-तलवार की भाँति, हे ॐकार! तू परब्रह्म की उपलब्धि का अधिष्ठान होने से कोश है। तू ॐकार निश्चय से ब्रह्म की प्रतीक है, तेरे में ब्रह्म का ध्यान करने से ब्रह्म उपलब्ध हो जाता है। यदि

---

[1] प्रमाणान्तरेणान्यथाभासमानत्वे सति शास्त्रेणोपास्यतयाऽन्यथाविधिविषयत्वं प्रतीकत्वम्। तस्यावान्तरभेदो द्विविध सम्पद्-अध्यासश्च, आरोप्यप्रधाना सम्पत्, आलम्बनप्रधानोऽध्यास। इति।

अन्यप्रमाण से प्रकारान्तर से भासमान होने पर भी जो शास्त्रद्वारा उपास्यरूप से अन्यथाविधि का विषय है वह प्रतीक है। उसका अवान्तर भेद दो प्रकार का है, सम्पत् एवं अध्यास। आरोप्य जिसमें प्रधान हो, वह सम्पत् है, आलम्बन जिसमें प्रधान हो, वह अध्यास है। इति।

श्चेत्प्रणवः किमिति सर्वैर्नोपास्यते इत्याशङ्क्याह—मेधया=लौकिकप्रज्ञया विषयाभिनिविष्टया—मूढया पिहितः=आच्छादितः सामान्यप्रज्ञैर्बहिर्मुखैरविदितोऽसीत्यर्थः। यद्वा तादृशः=प्रणवो मेधया=धारणशक्त्या शुद्धबुद्ध्याऽपिहितः=व्याप्तः। तथाविधप्रणवप्रतिपाद्य हे परमेश्वर! मदीयं श्रुतं=कर्णाभ्यामवगतं वेदार्थरहस्यविज्ञानादिकं मे गोपाय=विस्मृत्यादिदोषान्निवार्य तत्प्राप्तिलाभेन पालय। जपार्था एते मन्त्रा मेधाशक्तिकामस्य।

* * * *

यस्तु श्रद्धालुरपि प्रज्ञामान्द्यादिदोषेण स्वाध्यायः कर्तुं न शक्नोति। यतः स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानम्। अर्थज्ञानायत्तं च परं श्रेयः। अतस्तस्य स्वाध्यायादिसिद्धये दोषशान्तिकरं जप्यं मन्त्रं दर्शयति—

ॐ अहं वृक्षस्य रेरिवा, कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव, ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि, द्रविणꣳ सवर्चसम्, सुमेधा अमृतोक्षितः, इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(कृष्ण. यजु. तैत्तिरीयारण्यक. ७।१०। तै. उ. १।१०।१)

प्रार्थित-फल के समर्पण करने में प्रणव समर्थ है तो ब्रह्म के अभेद की भावना से क्यों सब ॐकार की उपासना नहीं करते हैं? ऐसी शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं—मेधा यानी विषयों में अभिनिविष्ट-मूढ-लौकिक-प्रज्ञा से वह ॐकार आच्छादित है। इसलिए सामान्य प्रज्ञा वाले-बहिर्मुखों से तू अविदित है। यद्वा उस प्रकार का प्रणव, मेधा यानी धारणशक्ति वाली-शुद्ध बुद्धि से अपिहित यानी व्याप्त है। उस प्रकार के प्रणव से प्रतिपाद्य! हे परमेश्वर! मेरा सुना गया-यानी कानो के द्वारा जाना गया-जो वेदार्थरहस्य-विज्ञान आदि है, उसकी तू रक्षा कर, विस्मृति-आदि दोषों को हटा कर उसकी प्राप्ति के लाभ से पालन कर। मेधाशक्ति-प्राप्ति की कामना वाले को ये मन्त्र जपने के लिए हैं।

जो कोई मनुष्य श्रद्धालु है, तथापि वह प्रज्ञा की मन्दता आदि दोष से स्वाध्याय करने के लिए समर्थ नहीं होता है। क्योंकि—स्वाध्याय के आधीन ही अर्थज्ञान है। और अर्थ-ज्ञान के आधीन ही परमकल्याण है। इसलिए उसको—स्वाध्याय आदि की सिद्धि के लिए दोषों की शान्ति को करने वाला-जप करने योग्य-मन्त्र को दिखाते हैं—

'मैं संसाररूप-अश्वत्थ वृक्ष का असंग शस्त्र से काटने वाला समर्थ वीर हूँ। इसलिए—मेरी कीर्ति-महिमा पर्वत के उच्चतम-शिखर के समान-अत्युन्नत है। मैं सूर्य के समान अत्यन्त-पवित्र-शुद्ध-एवं अमृत-अभय हूँ। पूर्णप्रकाशसहित-बल का भण्डार हूँ। सुन्दर-एकाग्र-विशुद्ध-बुद्धि वाला हूँ, अमृत-एवं नाशरहित हूँ। ये वचन वेद के जानने के पश्चात् त्रिशङ्कु-महर्षि के कहे हुए-हैं।' ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

अहं वृक्षस्येति मन्त्रस्य त्रिशङ्कुः ऋषिः, पंक्तिश्छन्दः, परमात्मा देवता, ब्रह्मविद्यार्थे जपे विनियोगः । वृक्षस्य=वृश्च्यते–तत्त्वज्ञानेनोच्छिद्यते इति वृक्षः–उच्छेदनीयः संसारः । स च कठवल्ल्यामपि समाम्नातः–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।' (क. २।६।१) इति । अयमर्थः–अनित्यतया श्वो न तिष्ठतीत्यश्वत्थः, अनादित्वादस्य संसारवृक्षस्याश्वत्थाख्यस्य सनातनत्वम् । ऊर्ध्वं=सर्वस्माज्जगत उत्कृष्टं परं ब्रह्म मूलं कारणं यस्य सोऽयमूर्ध्वमूलः । अवाञ्चः=अधोवर्तमानाः सुरनरतिर्यग्देहाः शाखा यस्य सोऽयमवाक्शाखः । भगवता कृष्णेनाऽप्यसौ वृक्षोऽभिहितः–'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥' (गी० १५।१) इति । मुमुक्षुरहं तस्य संसाररूपस्याश्वत्थवृक्षस्य रेरिवा=विषयवैराग्यरूपेणासङ्गशस्त्रेण छेत्ता भूयासमिति शेषः । 'री हिंसायां' इति धातोरयं शब्दो निष्पन्नः । वैराग्यप्रसूतासङ्गभावनालक्षणशस्त्रेण छेदो भगवताऽपि गीतास्वभिहितः 'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा । ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ॥' (गी० १५।३) इति ।

'अहं वृक्षस्य' इत्यादि इस मन्त्र का त्रिशंकु ऋषि है, पंक्ति छन्द है, परमात्मा देवता है, ब्रह्मविद्या के लिए जप-पाठ में इसका विनियोग है। वृक्ष यानी उच्छेद करने योग्य-संसार । वृश्चन-यानी तत्त्वज्ञान के द्वारा जिसका उच्छेद किया जाता है, वह वृक्ष है। वह वृक्ष कठवल्ली में सम्यक्-कहा गया है–'जिसका ऊर्ध्व मूल है, अवाक्-अधोवर्तमान शाखाएँ हैं, ऐसा यह अश्वत्थ नाम का संसारवृक्ष सनातन-अनादि है ।' इति । इसका यह अर्थ है–अनित्य होने के कारण जो कल तक भी नहीं रहता है, वह अश्वत्थ है। अनादि होने से इस अश्वत्थ नाम के संसारवृक्ष में सनातनत्व है । ऊर्ध्व यानी सर्व जगत् से उत्कृष्ट-पर-ब्रह्म है मूल कारण जिसका, वह यह संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूल है । अवाक् यानी अधः-नीचे वर्तमान हैं, देव, मनुष्य, तिर्यक्-पशु-पक्ष्यादियों के देहरूप शाखाएँ जिसकी वह यह संसारवृक्ष अवाक्शाख है । भगवान् कृष्ण ने भी यह वृक्ष गीता में कहा है–'ऊर्ध्व-उत्कृष्ट-आदिपुरुष-परब्रह्मरूप मूल वाले–और ब्रह्मादिरूप-अध -नीचे की शाखाओं वाले–संसाररूप अश्वत्थ-पीपल के वृक्ष को अव्यय-प्रवाहरूप से अनादि-अविनाशी कहते हैं । तथा जिसके वेदमन्त्र पत्ते कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्ष को जो पुरुष, मूलसहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य का ज्ञाता हो जाता है ।' इति । मैं मुमुक्षु उस संसाररूप-अश्वत्थ वृक्ष का रेरिवा यानी विषयवैराग्यरूप-असंग-शस्त्र के द्वारा छेदन करने वाला होऊँ । 'भूयास' यह क्रियापद शेष है । 'री' हिंसा अर्थ में है, इस धातु से यह रेरिवा शब्द सिद्ध हुआ है । वैराग्य से उत्पन्न-असंगभावनारूप-शस्त्र के द्वारा संसारवृक्ष का छेदन भगवान् ने गीता में भी कहा है–'इस अहंता-ममता और विषयवासनारूप-अति दृढ मूलों वाले संसारवृक्ष को दृढ वैराग्यरूप-असंग शस्त्र द्वारा काट करके उसके बाद उस परमपदरूप-परमात्मा को अच्छी प्रकार खोजना चाहिये कि–जिसमें गये हुए-पुरुष, फिर पीछे इस संसार में नहीं आते हैं ।' इति ।

यद्वाऽस्य संसारवृक्षस्य रेरिवा=अन्तर्याम्यात्मना प्रेरयिता परमात्माऽहमस्मीति विभावयामीति शेषः। संसारवृक्षे छिन्ने सति, प्रेरकान्तर्यामिरूपेण स्वात्मनोऽनुभवे च सति मदीया कीर्तिः=ख्यातिः-प्रसिद्धिः, गिरेः=पर्वतस्य पृष्ठमिव-भवति। यथा पर्वतस्योपरिभागः शिखरोऽत्यन्तमुन्नतः, तथैव मोक्षलाभविषया मदीया कीर्तिरत्यन्तमुच्छ्रिता-समुन्नता सती देवलोकेष्वपि प्रसरति। ततो देवा अपि मदीयं पुरुषार्थं विहन्तुं न क्षमन्ते। तथा च श्रूयते-'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते।' (बृ. १। ४।१०) इति। इव=यथा वाजिनि=वाजः-गतिः, तद्वान् आदित्यो वाजी, स हि सर्वदा वेगेनैव गच्छति। तथा चोक्तम्-'योजनानां सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने। एकेन निमिषार्धेन क्रममाण! नमोऽस्तु ते॥' इति। तस्मिन् वाजिनि-सूर्ये, स्वमृतं=सु-शोभनं-अमृतं विद्यते। अत एव छन्दोगा मधुविद्यायामादित्यमण्डलस्य मधुरूपत्वम्, 'तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्ती'त्यादिना तदीयप्रागादिभागेष्वृग्वेदादिप्रोक्तकर्मफलरूपाणि रोहितशुक्लादिवर्णयुक्तानि वस्वादिदेवोपजीव्यानि भूयांसि-अमृतानि चाऽऽमनन्ति। तदिदमादित्यमण्डलगतममृतं शोभनमत्यन्तं विशुद्धमस्ति, तद्वत्, अहमपि-ऊर्ध्वपवित्रः=ऊर्ध्व-उत्कृष्टा, पवित्रं-विशुद्धिर्यस्य मम सोऽहमूर्ध्वपवित्रोऽस्मि।

अथवा-ऊर्ध्वं=कारणं, पवित्रं=पावनं ज्ञानप्रकाश्यं, परमं ब्रह्म स्वस्वरूपं यस्य

यद्वा इस संसारवृक्ष का मैं रेरिवा यानी अन्तर्यामीरूप से प्रेरणा करने वाला-परमात्मा हूँ ऐसी मैं भावना करता हूँ। संसारवृक्ष का छेदन करने पर एवं प्रेरक-अन्तर्यामीरूप से अपने आत्मा का अनुभव होने पर मेरी कीर्ति-यानी ख्याति-प्रसिद्धि गिरि-पर्वत के पृष्ठ की भाँति हो जाती है। जिस प्रकार पर्वत का उपर का भाग शिखर अत्यन्त-उन्नत होता है, तिस प्रकार ही मोक्षलाभविषयिणी मेरी कीर्ति अत्यन्त-समुन्नत हुई देवलोकों में फैल जाती है। इसलिए देव भी मेरे पुरुषार्थ का विध्वंस करने के लिए समर्थ नहीं होते हैं। तथा च सुना जाता है-'देव भी उसका अमंगल करने के लिए समर्थ नहीं होते हैं।' इति। इव-जैसे वाजी यानी आदित्य। वाज गति का नाम है, वह गतिवाला आदित्य-सूर्य वाजी है। वह सर्वदा वेग से ही चलता है। तथा च कहा गया है-'एक अर्धनिमिष में दो हजार दो सौ दो (२२०२) योजनपर्यन्त वेग से गमन-गमन करने वाले तुझ-सूर्य को नमस्कार है।' इति। उस वाजी-सूर्य में शोभन-अमृत विद्यमान है। इसलिए-छन्दोग शाखा वाले-सामवेदी मधुविद्या में आदित्यमण्डल के मधुरूपत्व का एवं 'उस प्रथम-अमृत का वे वसु-देव उपभोग करते हैं।' इत्यादि ग्रन्थ से आदित्य के पूर्व आदि भागों में ऋग्वेदादि में कथित-कर्मफलरूप-लाल-शुक्ल आदि वर्णों से युक्त-वसु आदि देवों के उपभोग्य-अनेक-अमृतों का कथन करते हैं। वह यह आदित्यमण्डल में स्थित-शोभन अमृत अत्यन्त विशुद्ध है, तद्वत् मैं भी ऊर्ध्व पवित्र हूँ यानी उत्कृष्ट विशुद्धि से युक्त मैं हूँ।

अथवा ऊर्ध्व यानी कारणरूप-पवित्र यानी पावन-ज्ञान से प्रकाश्य परम ब्रह्मस्वरूप है

सर्वात्मनो मम सोऽहमूर्ध्वपवित्रोऽस्मि । वाजिनि-इव=वाजवति-इव, वाजं=अन्नं तद्वति सवितरीत्यर्थः । यथा सवितरि-सूर्ये 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये' (तै. उ. ३।१०।४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतप्रसिद्धं ब्रह्मात्मतत्त्वं विशुद्धमस्ति, तद्वदहं स्वमृतं=शोभनं विशुद्धं पूर्णानन्दघनमात्मतत्त्वमस्मि=भवामि । धनिकस्य रत्नादिधनमस्ति, ब्रह्मविदस्तु विज्ञातमात्मतत्त्वमेव धनमित्याह-द्रविणमिति द्रविणं=निरतिशयानन्दस्वरूपं ब्रह्मात्मतत्त्वम्, तत्कीदृशं ? इत्याह-सवर्चसं=सर्वसंदीप्तिमत्, तदेवाहमस्मीत्यनुषङ्गः । यद्वा सवर्चसं=ब्रह्मज्ञानं, आत्मतत्त्वप्रकाशकत्वात्, वर्चः=बलं वा तद्योगात्सवर्चसं-बलवत्त्वं दैववित्तस्य ब्रह्मज्ञानस्य सर्वसंसारनिवर्तकत्वादुपपन्नम् । तच्च द्रविणमिव द्रविणं मोक्षसुखहेतुत्वात् । अस्मिन् पक्षे प्राप्तं मयेत्यध्याहारः कर्तव्यः ।

सुमेधाः=शोभना मेधा सर्वज्ञलक्षणा यस्य मम सोऽहं सुमेधाः । संसारस्थित्युत्पत्त्युपसंहारकौशलयोगात्सुमेधस्त्वम् । अत एवाहं, अमृतः=अमरणधर्मा, अक्षितः=अक्षीणोऽव्ययः । यद्वा सुमेधाः=शोभना-मेधा-ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकग्रन्थतदर्थावधारणशक्तिर्यस्य मम सोऽहं सुमेधाः अत एवाहं, अमृतोक्षितः=अमृतेन-ब्रह्मानन्दरसेन, उक्षितः-सेचितः-सिक्तो व्याप्तो वा । इत्येवं त्रिशङ्कोः-तन्नामकस्य महर्षेर्ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मविदो वेदानुवचनं=वेदः-वेदनं-आत्मैकत्वविज्ञानं, तस्य प्राप्तिमनु=अनन्तरं,

जिस सर्वात्मारूप मुझ का वह मैं ऊर्ध्व पवित्र यानी कारणरूप-परब्रह्म हूँ । वाजी वाजवान् वाज-अन्न है, वाजरूप अन्न वाला-सविता है, इव-जैसे वाजी सविता-सूर्य में-'वही यह परमात्मा पुरुष में है एवं वही आदित्य में है' इत्यादि-सैकड़ों श्रुति स्मृतियों में प्रसिद्ध ब्रह्मात्मतत्त्व विशुद्ध है, तद्वत् मैं सु-अमृत यानी शोभन-विशुद्ध-पूर्णानन्दघन-आत्मतत्त्व हूँ । धनवान् को रत्न आदि धन है, परन्तु ब्रह्मवित् को विज्ञात-अपरोक्ष जाना गया-आत्मतत्त्व ही धन है, यह कहते हैं-द्रविणमिति । द्रविण यानी निरतिशय आनन्दस्वरूप ब्रह्मात्मतत्त्व, वह किस प्रकार का है ? यह कहते हैं-सवर्चस यानी सर्व में सम्यक् दीप्ति वाला वही मैं हूँ 'तदेवाहमस्मि' इतना शेषरूप से जोड़ना चाहिए । यद्वा सवर्चस यानी ब्रह्मज्ञान, आत्मतत्त्व का प्रकाशक होने से । या वर्च यानी बल, उसके योग से सवर्चस-बलवत्ता है । दैववित्त-ब्रह्मज्ञान में-समस्त-संसार का निवर्तक होने से-बलवत्त्व युक्तियुक्त है । वह द्रविण की भाँति मोक्षसुख का हेतु होने से द्रविण है । इस पक्ष में 'मुझ से प्राप्त हुआ' इतना अध्याहार करना चाहिए ।

सुमेधा यानी शोभन-सर्वज्ञरूपा मेधा है जिस मुझ को, वह मैं सुमेधा हूँ । संसार की स्थिति-उत्पत्ति एवं उपसंहार की कुशलता का योग होने से मुझ में सुमेधस्त्व है । इसलिए मैं अमृत यानी मरणधर्मरहित अक्षित यानी अक्षीण अव्यय हूँ । यद्वा सुमेधा यानी शोभन-मेधा जो ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादक-ग्रन्थ और उनके अर्थों के अवधारण की शक्ति है जिस मुझ को वह मैं सुमेधा हूँ । इसलिए मैं ब्रह्मानन्दरसरूप-अमृत से उक्षित यानी सिक्त-या व्याप्त हूँ । इस प्रकार त्रिशङ्कु नाम के-ब्रह्मरूप-ब्रह्मवित्-महर्षि का वेदानुवचन है । वेद यानी वेदन आत्मा के एकत्व

वचनं=कथनं वामदेवादिवत् स्वस्य कृतकृत्यत्वधन्यत्वादिख्यापनार्थं, त्रिशङ्कुनाऽऽर्षेण दर्शनेनानुभवेन दृष्टो मन्त्राम्नायोऽयं–ब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रकाशकोऽस्ति । अस्य शान्तिकरस्य मन्त्रस्य च जपः प्रज्ञामान्द्यादिदोषनिवारणद्वारा स्वाध्यायविद्यालाभाद्यर्थोऽस्तीत्यवगम्यते ।

* * * *

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो वलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्, माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽअस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(सामवेद, केन-छांदोग्य-उपनिषत् ११)

मम=मुमुक्षोरङ्गानि=करचरणादीनि निखिलानि, वागितीतरकर्मेन्द्रियाणामुपलक्षणम् । प्राण इत्यपानादीनामुपलक्षणम् । चक्षुः श्रोत्रमितीतरज्ञानेन्द्रियाणामुपलक्षणम् । तथा च मम सर्वाणीन्द्रियाणि प्राणपञ्चकं चाप्यायन्तु=ब्रह्मध्यानानुकूल-

---

का विज्ञान, उसकी प्राप्ति के अनु-अनन्तर, वचन—वामदेवादि की भाँति-कथन है, अपनी कृतकृत्यता-धन्यता आदि के ख्यापन के लिए । त्रिशङ्कु ऋषि के इस दर्शन-अनुभव से देखा गया यह मन्त्ररूप आम्नाय-वेद, ब्रह्म-आत्मा के एकत्वरूप विद्या का प्रकाशक है । इस शान्ति करने वाले मन्त्र का जप, प्रज्ञा की मन्दता आदि दोषों के निवारण द्वारा स्वाध्याय-विद्यालाभ आदि प्रयोजन के लिए है, ऐसा भी जाना जाता है ।

'मुझ मुमुक्षु के हस्तपादादि अंग, वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, बल और सर्व इन्द्रियाँ कल्याण के अनुकूल शुद्धि-शक्ति-वृद्धि को प्राप्त हों। उपनिषत् से जानने योग्य ब्रह्म ही सब कुछ है। मैं संशय-विपर्ययादि दोषों के द्वारा ब्रह्म का तिरस्कार न करूँ, यानी ब्रह्म से मैं विमुख न होऊँ । एवं ब्रह्म मेरा तिरस्कार न करे, अर्थात् अपने से अलग कर मुझे संसार में न गिरावे । हम दोनों का परस्पर अनिराकरण अपार्थक्य-अभेद हो, दोनों का परस्पर विशुद्ध प्रेम हो । ब्रह्मात्मा में निरन्तर प्रेम करने वाले-महापुरुष में एवं उपनिषदों में प्रख्यात जो शमदमादि धर्म हैं, वे सब मुझ में होवें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।'

मुझ-मुमुक्षु के-समस्त-कर-चरणादि अंग । 'वाणी' अन्य-कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण-बोधक है । 'प्राण' यह अपानादियों का उपलक्षण है । चक्षु एवं श्रोत्र ये अन्य-परिशिष्ट ज्ञानेन्द्रियों के उपलक्षक हैं । तथा मेरी समस्त इन्द्रियाँ, तथा पांच प्राण ब्रह्मध्यान के अनुकूलरूप से वृद्धि को

तथा वृद्धिं प्राप्नुवन्तु । 'ओप्यायी वृद्धौ' स्मरणात् । अथ बलमपि आप्यायतु-वृद्धिं गच्छतु, 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।' (मुं. ३।४) इति श्रुतेः । सर्वं=निखिलं विश्वं, उपनिषदं=औपनिषदं-उपनिषदेकवेद्यं ब्रह्म=ब्रह्मैव, ब्रह्मसत्ताऽतिरिक्तसत्ताशून्यं निखिलमिति यावत् । अहं, ब्रह्मातिरिक्तं वस्त्वस्तीति वा ब्रह्म नास्तीति वा मिथ्या-भावनया ब्रह्म मा निराकुर्यां=मा तिरस्कुर्यां, मा=मां ब्रह्म मा निराकरोत्=स्वस्मान्मा वियोजयतु-संसारे मा पातयत्विति यावत् । अनिराकरणमस्तु=आवयोः अपार्थक्यं अभेद एवास्तु, अनिराकरणमस्तु=आवयोः परस्परं प्रीतिरेवास्तु । तदात्मनि=ब्रह्मा-त्मनि निरते=निरन्तरं प्रेम कुर्वति महापुरुषे उपनिषत्सु=वेदान्तेषु च प्रकाशिता ये शमादयः धर्मास्सन्ति ते धर्मा मयि सन्तु । आवृत्तिरादरार्था । शान्तिशब्दस्य त्रिरुक्तिस्त्वाध्यात्मिकादित्रिविधविघ्नसंतापप्रशान्त्यर्थमिति बोध्यम् ।

* * * *

अध्यात्मब्रह्मविद्याप्रतिबन्धकविघ्नजातपरिहारकमन्यं शान्तिमन्त्रमाह—

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठि-तम्, आविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहासीः, अनेनाधीतेनाहोरात्रान् सन्दधामि,

---

प्राप्त हों । 'ओप्यायी' धातु का वृद्धि-अर्थ में स्मरण है । एवं बल भी वृद्धि को प्राप्त हो 'यह आत्मा बलहीन मनुष्य से प्राप्त करने योग्य नहीं है ।' इस मुण्डक श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है । उपनिषद यानी औपनिषद अर्थात् एकमात्र-उपनिषदों से जानने योग्य-ब्रह्म ही सर्व-निखिल विश्व है, अर्थात् समस्त विश्व ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता से शून्य है । 'मैं ब्रह्म से अतिरिक्त-पृथक् कोई वस्तु हूँ, या ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार की मिथ्या-भावना से मैं ब्रह्म का निराकरण-तिरस्कार न करूँ । ब्रह्म मेरा निराकरण-तिरस्कार न करे, अर्थात् अपने से मुझ को अलग न करे, अर्थात् मुझ को दुःखमय संसार में न गिरावे । दोनों का परस्पर अनिराकरण-अपार्थक्य-अभेद हो, दोनों की परस्पर प्रीति ही हो । ब्रह्मात्मा में निरन्तर प्रेम करने वाले महापुरुष में एवं उपनिषदों में जो प्रकाशित-प्रख्यात शमादि धर्म हैं, वे सब धर्म मुझ में हों । 'ते मयि सन्तु' की दो बार आवृत्ति आदर के लिए है । शान्ति शब्द का तीन बार कथन, आध्यात्मिकादि-त्रिविध-विघ्न-संतापों की प्रशान्ति के लिए है, ऐसा जानना चाहिए ।

अध्यात्मब्रह्मविद्या के प्रतिबन्धक-विघ्न-समुदायों का परिहार करने वाला-अन्य शान्ति मन्त्र का कथन करते हैं—

'मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो, एवं मेरा मन वाणी में प्रतिष्ठित हो । हे स्वप्रकाश ब्रह्म-चैतन्यात्मन् ! अविद्या दूर करने के लिए आप मुझ में प्रकट हो जाइये । हे वाणी एवं मन ! वेद का यथार्थ तत्त्व मेरे लिए लाइये । मेरा सुना हुआ मुझे न छोड़े । इस पढ़े हुए को मैं दिन-

ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु, तद्व-क्तारमवतु, अवतु मां, अवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(ऋग्वेद. ऐतरेयोपनिषत् ११।)

मे=मम, वाक्=यथोक्ततत्त्वविद्याप्रतिपादकग्रन्थपाठे प्रवृत्तं वागिन्द्रियं, मन-सि=अन्तःकरणे प्रतिष्ठिता भवतु । मनसा यद्यच्छब्दजातं विवक्षितं तदेव पठतु इति यावत् । मे=मम, मनः=अन्तःकरणं, वाचि प्रतिष्ठितं यद्यद्विद्याप्रतिपादकं वक्तव्यं शब्दजातमस्ति । तदेव मनसा विवक्ष्यतां इति यावत्, एवमन्योऽन्यानुगृहीते वाङ्म-नसी विद्यार्थं ग्रन्थं साकल्येनावधारयितुं शक्नुतः । मनसः सावधानत्वाभावे वागि-न्द्रियं सुप्तोन्मत्तप्रमत्तप्रलापादिवत्, यत्किञ्चिदसंगतं ब्रूयात् । तथा वाचः पाटवा-भावे सति गद्गदरूपया वाचा विवक्षितं यथावन्नोच्चार्येत । अतस्तयोः परस्परानुकू-ल्यमस्त्वित्येवं प्रार्थ्यते । आविःशब्देन स्वप्रकाशं ब्रह्मचैतन्यमुच्यते । हे आविः! =स्वप्रकाश! ब्रह्मचैतन्यात्मन् । मे=मम हृदये आविः—एधि=अविद्याऽऽवरणापनय-नार्थं प्रकटीभव । हे वाङ्मनसे! मे=मदर्थं वेदस्य=उक्ततत्त्वविद्याप्रतिपादकग्रन्थस्य, यथार्थतत्त्वं आणीस्थः=आनयनसमर्थे भवेताम् । मे=मया, श्रुतं=गुरुमुखादधीतं

रात धारण करूँ । परमार्थ में सत्य बोलूंगा एवं व्यवहार मे भी सत्य बोलूंगा । वह ब्रह्म मुझ शिष्य की रक्षा करे, वह उपदेष्टा-आचार्य्य की रक्षा करे, रक्षा करे मेरी, रक्षा करे आचार्य की, रक्षा करे आचार्य्य की । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।'

मेरी वाणी—जो यथोक्त-तत्त्वविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ के पाठ में प्रवृत्त-शब्दोच्चारण करने वाली इन्द्रिय है । वह मेरे अन्तःकरणरूप मन में प्रतिष्ठित हो । अर्थात् वह वाणी मन से जो-जो शब्दसमुदाय कहने के लिए—अभिप्रेत है, वही पढे । मेरा मन-अन्तःकरण वाणी में प्रतिष्ठित हो, अर्थात् जो जो विद्या के प्रतिपादक-वक्तव्य शब्दसमुदाय है, वही मन से कहने के लिए अभिप्रेत हो। इस प्रकार अन्योऽन्य से-अनुग्रहीत-वाणी एवं मन विद्या के लिए ग्रन्थ का सम्पूर्णरूप से अवधारण करने के लिए समर्थ होते हैं । मन की सावधानता के न होने पर वाणी-इन्द्रिय, सुप्त-उन्मत्त-प्रमत्तों के प्रलाप-बकवादादि की भाँति, जो भी कुछ असंगत-बोल देती है । तथा वाणी की पटुता के न होने पर गद्गदरूपा वाणी के द्वारा कहने के लिए—अभिप्रेत-शब्दों का यथावत्-उच्चारण नहीं किया जाता । इसलिए इन-वाणी एवं मन दोनों का परस्पर आनुकूल्य हो, इस प्रकार की प्रार्थना की जाती है । 'आविः' शब्द से स्वप्रकाश ब्रह्म चैतन्य कहा जाता है । हे आविः! अर्थात् स्वप्रकाश! ब्रह्मचैतन्यात्मन्! मेरे हृदय में अविद्यारूप-आवरण निवारण के लिए तू प्रकट हो जा । हे वाणी एवं मन! मेरे लिए उक्त तत्त्वविद्या के प्रतिपादक-ग्रन्थरूप वेद के यथार्थतत्त्व के आनयन-प्राप्त कराने के लिए तुम समर्थ हो । मुझ से सुना गया-गुरुमुख से पढा

ग्रन्थं तदर्थजातञ्च मा प्रहासीः=मा परित्यजतु, विस्मृतं मा भूदिति यावत्। अनेन–गुरुमुखात्–अधीतेन श्रुतेन विस्मरणरहितेन–ग्रन्थेन, अहोरात्रान्=अहनि रात्रौ च संदधामि=संयोजयामि, आलस्यं परित्यज्य अधीतं ग्रन्थं निरन्तरं पठामि–अनुसंदधामीत्यर्थः।

ऋतं=अस्मिन् पठिते ग्रन्थे वर्णितं परमार्थभूतं वस्तु वदिष्यामि–कथयिष्यामि। विपरीतार्थवदनं कदाचिदपि मा भूदित्यर्थः। तथैव सत्यं=व्यावहारिकं यथाभूतमर्थं वदिष्यामि, न तु विपरीतार्थवदनं कदाचिदपि। यद्वा ऋतं=मानसिकं, सत्यं=वाचिकं, मनसा वस्तुतत्त्वं विचार्य वाचा वदिष्यामीत्यर्थः। तत्–मया वक्ष्यमाणं ब्रह्मतत्त्वं मां शिष्यं अवतु सम्यग्बोधेन पालयतु। तथा तद् ब्रह्मतत्त्वं वक्तारमाचार्यं अवतु–बोधकत्वसामर्थ्यप्रदानेन पालयतु। एवं साधनकाले शिष्याचार्ययोः श्रोतृत्ववक्तृत्वशक्तिप्रदानविषयां प्रार्थनामुक्त्वा फलकाले फलसिद्धिः पुनरपि प्रार्थ्यते। अवतु मामवतु वक्तारं-तत्र शिष्यस्याविद्यातत्कार्यनिवृत्तिः फलम्। आचार्यस्य तु तादृशशिष्यदर्शनेन विद्यासम्प्रदायप्रवृत्तिप्रयुक्तपरितोषः फलम्। अनेन मन्त्रपाठेन विद्योत्पत्तेः पुरा विद्याप्रतिबन्धका विघ्नाः परिह्रियन्ते। विद्योत्पत्तेरूर्ध्वं तु असं-

---

गया-ग्रन्थ और उसका अर्थसमुदाय मेरा परित्याग न करे, अर्थात् वह मुझ से विस्मृत न हो। इस गुरुमुख से अधीत-श्रुत विस्मरणरहित-ग्रन्थ से दिन में एवं रात्रि में भी मैं संयुक्त बना रहूँ। अर्थात्-आलस्य का परित्याग करके पढे हुए ग्रन्थ का मैं निरन्तर पाठ करूँ, या उसके अर्थ का अनुसंधान करूँ।

ऋत यानी इस पढे हुए–ग्रन्थ मे वर्णन की गई परमार्थ वस्तु का ही मैं कथन करूँगा, अर्थात् विपरीत मिथ्या अर्थ का कथन कभी भी मुझ से मत हो। तथा सत्य यानी व्यवहार के भी यथार्थ अर्थ का मैं कथन करूँगा, कदाचित् भी विपरीत अर्थ का कथन नहीं करूँगा। यद्वा ऋत यानी मानसिक, सत्य यानी वाचिक, अर्थात् मन से वस्तुतत्त्व का विचार करके वाणी से कथन करूँगा। वह मेरे से कहे जाने वाला-ब्रह्मतत्त्व मुझ-शिष्य का सम्यक्-बोध के द्वारा पालन करे। तथा वह ब्रह्मतत्त्व, वक्ता-आचार्य का बोधकत्व-सामर्थ्य के प्रदान द्वारा पालन करे। इस प्रकार साधनकाल में शिष्य की श्रोतृत्वशक्ति की एवं आचार्य की वक्तृत्वशक्ति की प्रार्थना कह करके फल काल में फलसिद्धि की पुनः भी प्रार्थना करते हैं। मेरी रक्षा करे, वक्ता-आचार्य की रक्षा करे। उसमें शिष्य को अविद्या तत्कार्य की निवृत्ति फल है। आचार्य को उस प्रकार के शिष्य के दर्शन से विद्यासम्प्रदाय की प्रवृत्ति प्रयुक्त परितोष फल है। इस मन्त्र के पाठ से विद्या की-उत्पत्ति से प्रथम विद्या मे प्रतिबन्धक-विघ्नों का परिहार-निवारण किया जाता है। और विद्या की उत्पत्ति के अनन्तर असभावना एवं विपरीत भावनारूप विघ्नों का परिहार किया जाता है।

भावनाविपरीतभावनारूपा विघ्नाः परिह्रियन्ते । अवतु वक्तारमित्यभ्यास आदरार्थः । शान्तिशब्दस्य त्रिरुक्तिस्तु त्रिविधविघ्नसंतापपरिशान्त्यर्था ।

ॐ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः । (श्वे. उ. ६।१८)

यः=नारायणाख्यः-परमेश्वरः, पूर्वं=सृष्ट्यादौ, ब्रह्माणं=चतुर्मुखं पद्मभवं विदधाति=सृजति-निर्माति । च=तथा यः=भगवान्, वै=निश्चयेन, तस्मै=ब्रह्मणे, वेदान्=ऋगादिलक्षणान् सर्वान्, प्रहिणोति=समर्पयति, निखिललोकहितार्थं तस्मै वेदविद्याशिक्षां ददातीत्यर्थः । तं=प्रसिद्धं देवं=स्वयंप्रकाशमानं, आत्मबुद्धिप्रकाशं=स्वबुद्धिवृत्तिभासकं-प्रेरकमन्तर्यामिणं भगवन्तं नारायणमहादेवं, अहं मुमुक्षुः सन्, वै-इति निश्चयेन, शरणं प्रपद्ये=गच्छामि, तस्यैवाश्रयं सर्वतोभावेन गृह्णामीति यावत् । त्रिशान्तिशब्देनाविघ्नेनाऽऽत्मविद्याप्राप्तिराशास्यते, यतः तन्मूलं हि परं श्रेयः सम्पद्यते इति ॥

शिष्याचार्ययोः परस्परानुकूल्यसिद्ध्यै तत्प्रातिकूल्यशान्तिकरं जप्यं शान्तिमन्त्रं पठति—

'वक्ता की रक्षा करे' इसका अभ्यास आदर के लिए है । शान्ति शब्द का तीन बार कथन तीन प्रकार के विघ्नसंतापों की परिशान्ति के लिए है ।

'जो परमात्मा सृष्टि के आदि में ब्रह्मा-आद्यशरीरी का सर्जन करता है, और जो उसके लिए ऋगादि वेदों को समर्पण करता है । आत्मबुद्धि के प्रकाशक-उस प्रसिद्ध देव की शरण में मैं मुमुक्षु जाता हूँ । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।'

जो नारायण नाम का परमेश्वर, प्रथम-सृष्टि के आदि में कमल से प्रकट होने वाले—चतुर्मुख-ब्रह्मा का सर्जन-निर्माण करता है । तथा जो भगवान् निश्चय से उस ब्रह्मा के लिए ऋगादिरूप समस्त वेदों को समर्पण करता है । अर्थात् निखिल लोगों के हित-कल्याण के लिए उसको वेदविद्या की शिक्षा देता है । वह प्रसिद्ध स्वयंप्रकाशमान-देव-जो आत्मबुद्धि का प्रकाशक यानी अपनी बुद्धिवृत्तियों का भासक-प्रेरक अन्तर्यामी-भगवान्-नारायण-महादेव है, उसके शरण में—मैं मुमुक्षु हुआ—जाता हूँ, अर्थात् उस भगवान् का ही मैं सर्व प्रकार से आश्रय ग्रहण करता हूँ । तीन बार के शान्ति शब्द से निर्विघ्न-आत्मविद्या की प्राप्ति की आशा की जाती है, क्योंकि—आत्मविद्यारूप मूल से ही परमकल्याण की प्राप्ति होती है ।

शिष्य एवं आचार्य की परस्पर-अनुकूलता की सिद्धि के लिए—उनकी प्रतिकूलता की शान्ति को करने वाले जपनीय-शान्तिमन्त्र को पढ़ते हैं—

ॐ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

(कृष्णयजुः तैत्ति० २।१।१)

अत्र 'नौ' इति शब्देन शिष्याचार्यौ–श्रोतृवक्तारौ उच्येते । अस्मिञ्जन्मन्यतीतजन्मसु वाऽनुष्ठितैः यज्ञदानादिशुभकर्मभिरुत्पन्नविविदिषः, शास्त्रप्रोक्तैरुपासनैरन्तर्मुख एकाग्रचित्तः, काम्यकर्मादिभिः संपादितानां लोकानामसारत्वं परीक्ष्य ततो निर्विण्णः, कर्मणा मोक्षो नास्तीति निश्चित्य मुक्तिहेतुब्रह्मतत्त्वज्ञानार्थं गुरूपसत्तिं यः करोति तादृशोऽत्र शिष्यो विवक्षितः । गुरुश्च श्रोत्रियो वेदशास्त्रार्थपारंगततया बोधयितुं कुशलो ब्रह्मनिष्ठत्वेन कदाचिदपि बहिर्मुखत्वरहितो विवक्षितः । तथा चाथर्वणिका आमनन्ति–'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन[१] । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥' (मुं. १।२।१२+१३) इति । कठाश्चामनन्ति–'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो

'वह प्रसिद्ध परमेश्वर हम शिष्य और आचार्य दोनों की रक्षा करे । वह प्रसिद्ध परमेश्वर हम-दोनों को विद्या के फल का भोग करावे । हम दोनों मिल कर वीर्य यानी विद्या की प्राप्ति के लिए सामर्थ्य प्राप्त करें । हम दोनों का पढ़ा हुआ तेजस्वी होवे, हम दोनों परस्पर विद्वेष न करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।'

यहाँ 'नौ' इस शब्द से श्रोता-शिष्य एवं वक्ता-आचार्य्य कहा जाता है । इस जन्म में या अतीत जन्मों में अनुष्ठान किये हुए–यज्ञदानादि-शुभ कर्मों के द्वारा जिसको विविदिषा जिज्ञासा उत्पन्न हुई है, एवं जो शास्त्र में प्रतिपादित-उपासनाओं के द्वारा अन्तर्मुख एव एकाग्र चित्त वाला हुआ है, तथा जो काम्य-कर्म आदि के द्वारा सम्पादन किये गए लोकों की असारता की परीक्षा करके उन से निर्वेद को प्राप्त हुआ है, एवं जो कर्म से मोक्ष नहीं प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय करके मुक्ति का हेतु-ब्रह्मतत्त्वज्ञान के लिए–गुरु के समीप गमन करता है, उस प्रकार का शिष्य यहाँ विवक्षित है । गुरु श्रोत्रिय अर्थात् वेदशास्त्रार्थ का पारंगत होने से बोध देने में कुशल, ब्रह्मनिष्ठ होने के कारण कदाचित् भी जो बहिर्मुख नहीं है, ऐसा यहाँ विवक्षित है । तथा च अथर्ववेद के अध्ययन करने वाले–आथर्वणिक भी कहते हैं–'कर्मों से सम्पादित-स्वर्गादि लोकों की अनित्यत्व-असारत्वादिरूप से परीक्षा करके ब्राह्मण-ब्रह्म होने की कामना वाला-उत्तमाधिकारी निर्वेद-वैराग्य को प्राप्त हो । क्योंकि–अनुष्ठित-कर्म से अकृत-असाध्य मोक्ष प्राप्त नहीं होता है । उस परब्रह्म के विज्ञान के लिए वह समित्पाणि हो कर यानी हाथ में कुछ दातुन आदि उपहार ले कर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप में जावे ।' इति । कठ शाखा वाले भी कहते हैं–'आचार्य्य-उप-

१ कृतेन=कर्मणा, अकृत=मोक्ष । तस्य नित्यत्वात् ।

ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥' (क. २।७) इति । तत्र गुरोः कृतार्थतया प्रार्थनीयाभावेऽप्यनेन मन्त्रेण शिष्यस्तयोरुभययोः क्षेमं प्रार्थयते । यद्ब्रह्माऽऽचार्यप्रसादानन्तरं मया वेदिष्यते, तद् ब्रह्म नौ=गुरुशिष्यौ आवां—उभौ, सह अवतु=रक्षतु विद्यास्वरूपप्रकाशेन पालयतु । यथा गुरुर्निरालसः सन्नुपदिशेत्, यथा चाहमुपदिष्टमर्थमप्रतिपत्तिविप्रतिपत्तिरहितः सन् गृह्णीयाम् । तथा रक्षणमुपदेशसमये प्रार्थ्यते ।

तथा स नौ भुनक्तु=पालयतु—तत्फलप्रकाशनेन । उपदिष्टार्थग्रहणेन ममाविद्या यथा निवर्तेत, तन्निवृत्तिं पश्यन्नाचार्यो यथा परितुष्येत्, तथा पालनमुत्तरकालीनं प्रथमं प्रार्थ्यते । उक्तप्रयोजनसिद्ध्यर्थमावामुभौ परस्परं सह वीर्यं=विद्याकृतं तत्फलकृतञ्च सामर्थ्यं करवावहै=निष्पादयावहै । तस्मिंश्च सामर्थ्यप्राप्तकरणे य एष उपायः स प्रार्थ्यते । नौ=आवाभ्यां गुरुशिष्याभ्यां यदधीतं—पठितं ग्रन्थजातं तत्तेजस्वि—वीर्यवत्—स्वार्थप्रकाशकमस्तु । आवां च मा विद्विषावहै=परस्परं द्वेषं मा करवावहै । गुरुणा न सम्यग्व्याख्यातमिति शिष्यस्यापरितोषो द्वेषः, तथा शिष्येण शुश्रूषा न समीचीना कृतेति गुरोरपरितोषो द्वेषः, तदुभयं मा भूदित्यर्थः । मा एव-

देष्टा आश्चर्य-अद्भुत-दुर्लभ है, और इस ब्रह्मबोध को प्राप्त करने वाला—शिष्य भी कुशल-निपुण आश्चर्य-दुर्लभ है । कुशल-पक्षपातरहित-सद्गुरु-आचार्य से अनुशासन प्राप्त करके ही वह शिष्य ज्ञातज्ञेय होता है ।' इति । इसमें गुरु को कृतार्थ होने के कारण प्रार्थनीय का अभाव होने पर भी इस मन्त्र से शिष्य उन दोनों शिष्य-आचार्य्य के क्षेम-कल्याण की प्रार्थना करता है । जो ब्रह्म, आचार्य्य-सद्गुरु के प्रसाद-अनुग्रह के द्वारा मुझ से जाना जायगा, वह ब्रह्म हम दोनों गुरु-शिष्य की साथ-साथ रक्षा करे यानी विद्यास्वरूप के प्रकाश द्वारा पालना करे । जिस प्रकार गुरु आलस्यरहित हुआ उपदेश करे, और जिस प्रकार उपदिष्ट-अर्थ को मैं शिष्य अप्रतिपत्ति-अज्ञान एवं विप्रतिपत्ति-संशय से रहित हुआ—ग्रहण करूँ, तिस प्रकार के रक्षण की उपदेश के समय में प्रार्थना की जाती है ।

तथा वह परमेश्वर साथ ही दोनों का उस विद्या के फल के प्रकाशन द्वारा पालन करे । उपदिष्ट-अर्थ के ग्रहण से मेरी अविद्या जिस प्रकार निवृत्त हो, और अविद्या की निवृत्ति को देखता हुआ मेरा आचार्य्य गुरु जिस प्रकार परितुष्ट हो, तिस प्रकार के उत्तरकाल के पालन की प्रथम प्रार्थना की जाती है । उक्त-प्रयोजन की सिद्धि के लिए हम दोनों परस्पर साथ ही विद्या से सम्पादित-एवं उसके फल से सम्पादित-वीर्य-सामर्थ्य का निष्पादन करें । उस सामर्थ्य के प्राप्त करने में जो यह उपाय है, वह हम से प्रार्थित है । हम गुरु एवं शिष्य के द्वारा जो ग्रन्थों का समुदाय-पढ़ा गया है, वह सब तेजस्वी-वीर्यवान्-अर्थात् अपने अर्थों का प्रकाशक होओ । और हम दोनों परस्पर द्वेष न करें । गुरु ने इसका सम्यक् व्याख्यान नहीं किया, इस प्रकार शिष्य का अपरितोष-द्वेष है । तथा शिष्य ने अच्छी प्रकार से मेरी सेवा नहीं किया, इस प्रकार गुरु का अपरितोष द्वेष है, वह उभय प्रकार का द्वेष मत हो । इस प्रकार हम दोनों परस्पर विद्वेष को

मितरेतरं विद्वेषमापद्यावहै इति यावत् । प्रमादकृतादन्यायाद्वा विद्वेषः प्राप्तः, स च मनुनाप्युक्तः—'अन्यायेनाह यो विद्यां यश्चान्यायेन पृच्छति । तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं चापि गच्छति ॥' इति । तच्छमनायेयं प्रार्थना मा विद्विषावहै इति । प्रणव-शान्तिशब्दाः पूर्ववद्व्याख्येयाः ॥

उपनिषदुक्तमैक्यज्ञानं स्पष्टं वर्णयन्—'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।' (गी. ४।३९) इति भगवदुक्तां परां शान्तिं प्रदर्शयति—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः (बृ. उ. ५।१।१)

अदः—इति परोक्षाभिधायि सर्वनाम, 'अदसस्तु विप्रकृष्टे' स्मरणात् । अतः, अदः=परोक्षं तत्पदार्थलक्ष्यं परं ब्रह्मेत्यर्थः । तत् पूर्णं=सम्पूर्णं, न कुतश्चिद्व्यावृत्तं, आकाशवद्व्यापि निरन्तरं निरुपाधिकञ्च तदेव, इदं=यत्सन्निकृष्टं-प्रत्यक्षं नामरूपोपाधिविशिष्टं विविधव्यवहारापन्नं त्वंपदार्थजीवात्मरूपं, तदपि पूर्णं=निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणैव परमात्मना सम्पूर्णं व्याप्येव, न तु विशिष्टरूपेणोपाधिपरिच्छिन्नेन

मत प्राप्त हों । यद्वा प्रमाद से सम्पादित-अन्याय्य से भी विद्वेष प्राप्त हो जाता है । उसको मनु ने भी कहा है—'अन्याय से जो गुरु विद्या का कथन करता है, और जो शिष्य अन्याय के द्वारा प्रश्न करता है, इन दोनों के मध्य में एक-गुरु या शिष्य मर जाता है, या उनका परस्पर विद्वेष हो जाता है ।' इति । उसके शमन के लिए यह प्रार्थना है कि—हम परस्पर विद्वेष न करें । प्रणव एवं शान्ति शब्द पूर्व की भाँति व्याख्येय है ।

उपनिषदों में कहे गये—ऐक्यज्ञान का स्पष्ट वर्णन करता हुआ—'ज्ञान को प्राप्त करके साधक शीघ्र ही परा शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।' ऐसी भगवान् के द्वारा गीता में कही गई पर-सर्वोत्तम शान्ति का प्रदर्शन करते हैं—

'वह-परोक्ष तत्पदार्थ ईश्वर पूर्ण है, एवं यह-प्रत्यक्ष त्वंपदार्थ जीव भी पूर्ण है, पूर्ण परमात्मा से उसकी पूर्णता को ग्रहण करता हुआ ही यह जीव या जगत् पूर्ण हो कर ही निकलता है । पूर्ण से पूर्ण को ले कर पूर्ण ही एकमात्र परिशिष्ट रह जाता है ।' ॐ शान्ति शान्ति शान्ति ।

'अदः' यह परोक्ष-अर्थ का बोधक सर्वनाम है । 'अदस्-शब्द की विप्रकृष्ट-परोक्ष-अर्थ में वृत्ति है ।' ऐसा स्मरण हुआ है । इसलिए—अदः यानी परोक्ष-तत्पद का लक्ष्य परब्रह्म है । वह पूर्ण-सम्पूर्ण है, वह किसी भी पदार्थविशेष से व्यावृत्त नहीं है, किन्तु वह आकाश की भाँति व्यापक एवं निरन्तर वस्तुतः उपाधि से रहित ही है । इदं यानी जो सन्निकृष्ट-समीप वर्तमान-प्रत्यक्ष-नामरूपात्मक-उपाधि से विशिष्ट विविध व्यवहारों को जो प्राप्त हुआ है, वह त्वंपदार्थ जीवात्मरूप है, वह भी पूर्ण है, अर्थात् निरुपाधिक-अपने वास्तविक परमात्मस्वरूप से ही सम्पूर्ण है, व्यापी है, उपाधि परिच्छिन्न विशिष्टरूप से वह पूर्ण नहीं है । इस प्रकार तत्पद एवं त्वंपद के

पूर्णम्। एवं तत्त्वंपदयोः क्रमेण लक्ष्यांशमुक्त्वा तयोरेव वाच्यांशं कथयन् त्वंपदार्थस्य पूर्णत्वे हेतुमाह–यदिदं विशेषापन्नं सोपाधिकं कार्यात्मकं ब्रह्म, पूर्णात्=कारणात्मनः परमेश्वरात्–पूर्णमेव सत्–उदच्यते=उद्रिच्यते–उद्गच्छतीत्यर्थः। यद्यपि तत्कार्यात्मनोद्रिच्यते, परमार्थस्वरूपादन्यदिव प्रत्यवभासते; तथापि यत्स्वस्वरूपभूतं परमात्मभावलक्षणं पूर्णत्वं तत्कदापि न जहाति। पूर्णात्मस्वभावस्य त्यागायोगात्, अतः पूर्णमेवोद्रिच्यते इति कथ्यते।

अथैतज्ज्ञानफलं लक्ष्ययोरैक्यापत्तिरूपमाह–'पूर्णस्येति' पूर्णस्य=सोपाधिकस्य कार्यात्मनो ब्रह्मणः पूर्णं=पूर्णत्वं–अखण्डैकरसत्वलक्षणं, आदाय=गृहीत्वा, अनन्तानन्दघनाद्वैतभावमापाद्येत्यर्थः। विद्ययाऽविद्याकृतं भूतमात्रोपाधिसंसर्गजमन्यत्वाभासं परिच्छिन्नजीवभावं तिरस्कृत्य पूर्णमेव=अनन्तरमबाह्यं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तप्रज्ञानसुखघनैकरसस्वभावं केवलं ब्रह्म, अवशिष्यते–परिशिष्यते। शान्तिरिति त्रिवचनं विद्याप्राप्त्युपसर्गोपशमनार्थं पूर्वोक्तमेव विज्ञेयम्। इति शम्।

शान्तिः शान्तिकरी भूयात् सर्वेषां प्राणिनामिह।
सद्बुद्धिं प्राप्य नन्दन्तु त एवं प्रार्थ्यते मुदा॥
॥ हरिः ॐ तत्सदिति॥

क्रम से लक्ष्यांश का कथन करके उन दोनों के ही वाच्यांश का कथन करता हुआ–मन्त्र त्वंपदार्थ की पूर्णता में हेतु का कथन करता है–जो यह कल्पित-विशेषताओं को प्राप्त हुआ–सोपाधिक-कार्यात्मक ब्रह्म है, वह कारणरूप-पूर्ण परमेश्वर से पूर्ण ही हुआ निकलता है। यद्यपि वह कार्यरूप से ही निकलता है–प्रकट होता है, परमार्थस्वरूप से अन्य की भाँति प्रत्यवभासित होता है, तथापि जो स्वस्वरूपभूत-परमात्मभावरूप पूर्णत्व है, उसका वह कदापि परित्याग नहीं करता है। क्योंकि–पूर्ण-आत्मस्वभाव का त्याग हो ही नहीं सकता है, इसलिए पूर्ण ही निकलता है, ऐसा कहा जाता है।

अब इस ज्ञान का फल–जो लक्ष्यों के एकत्व की प्राप्तिरूप है–उसका कथन करता है–पूर्णस्येति। कार्यरूप-सोपाधिक-पूर्ण-ब्रह्म की अखण्ड-एकरसत्व लक्षण वाली-पूर्णता का ग्रहण करके यानी अनन्त-आनन्दघन-अद्वैतभाव का आपादन करके–अर्थात् विद्या से–अविद्या सम्पादित-भूतमात्रारूप-उपाधियों के सम्बन्ध से जन्य-अन्यत्व-भिन्नत्व का आभास-प्रतीति वाले–परिच्छिन्न-जीवभाव का तिरस्कार करके–पूर्ण ही जो–अनन्तर-अन्तर के भेद से रहित, अबाह्य-बाहर के भेद से रहित, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-प्रज्ञान-सुखघन-एकरस स्वभाव वाला केवल ब्रह्म है, वही परिशिष्ट रह जाता है। 'शान्तिः' ऐसा तीन बार का वचन विद्या की प्राप्ति में आने वाले-उपसर्ग-विघ्नों के उपशमन के लिए ही है, ऐसा पूर्वोक्त ही जानना चाहिये। इति शम्।

'यह शान्ति, यहाँ समस्त-प्राणधारी-जीवों की शान्ति करने वाली हो। वे सब जीव सद्बुद्धि को प्राप्त करके आनन्दी हों; इस प्रकार प्रसन्न मन से भगवान् की प्रार्थना की जाती है।'

हरिः ॐ तत्सत्। समाप्तोऽयं शान्तिपाठः सव्याख्यः।